बृहत् संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश

बृहत् संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश

प्रथम खण्ड

लेखक

पं० गोपालचन्द्र वेदान्तशास्त्री

प्रकाशक

कोश-भवन के अधिकारी

४३/१७ सदानन्द बाजार, वाराणसी

१९७८ ई०

मूल्य ३० रुपये

मुद्रक—कल्पना प्रेस, वाराणसी
एवं
देवज्योति प्रेस, वाराणसी।

दो बातें

संस्कृत भाषा भारत का प्राण हैं जिसके माध्यम से नानाभाषी देश की भाषाधमनियों को शक्ति, प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त होती है। यह ऐसी प्राचीन भाषा है जिसमें अनेक सहस्त्राब्दियों से भारतीय चिन्तन और विचारों की अभिव्यक्ति होती रही है। इसमें अनेक प्रकार के धार्मिक विश्वास, दार्शनिक मत, आध्यात्मिक विचार प्रकट हुए हैं। अनेक प्रकार के प्राकृतिक सौन्दर्य, अनेक प्रकार की मानवीय विशेषताए", अनेक जातियों के इतिहास, गाथाएँ तथा पौराणिक कथाएँ इसमें मुखरित हुई हैं। यह भाषा आरम्भ से ही उदार, सर्वग्राही और सर्वादृत रही है। बौद्धों, जैनों ने ही नहीं, ईसाइयों, मुसलमानों और सिक्खों ने भी इस भाषा के माध्यम से वाङ्मय की रचना बड़े आदर और उत्साह से की है। इसकी उदात्त भावना रही है—"माता भूमिः, पुत्रोऽहं पृथिव्याः।"

आज भी यह भाषा उपयोगी है और मानव-समाज को प्रान्तवाद, भाषावाद, जातिवाद आदि की संकीर्णताओं से ऊपर उठाने में सहायक हो सकती है।

संस्कृत भाषा व्यवहार के स्तर पर संस्कार की दीक्षा देती है, वह व्यवहार चाहे भाषा का हो, चाहे जीवन का हो या नैतिकता का हो।

संस्कृत के वाङ्मय में सर्वाधिक महत्त्व है शील का। वहाँ न जाति का महत्त्व है, न व्यक्ति के धन का या शीलहीन विद्या का। संस्कृत का लक्ष्य रहा है आचरण में मनुष्य को ऊँचा बनाना और विषम परिस्थितियों में भी नैतिक मूल्यों में आस्थावान बनाये रखना। शीलवान और विवेकवान पुरुष को वह महत्त्व देती रही है। रामायण, महाभारत और समस्त पौराणिक वाङ्मय की यह चरम शिक्षा है।

संस्कृत भाषा और इसका साहित्य समस्त देश को एक सूत्र में जोड़ने वाला है। संस्कृत के कवि, लेखक और विचारक अपने प्रदेश के सौन्दर्य से अभिभूत होकर भी भारत के सात कुल-पर्वतों और सात नदियों में निष्ठा रखते हुए समय राष्ट्र की सार्वभौमिक एक-सूत्रता का गान करते रहे है।

बहुत प्राचीन काल से ही जब जब आचार्यगण अपने मत, विचार या सिद्धान्त को सम्पूर्ण देश में शास्त्र की गरिमा देना चाहते थे तब तब उन्होंने संस्कृत को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। बौद्ध, जैन आचार्यों ने ही नहीं, कबीर के बीजक पर भी संस्कृत में भाष्य लिखा गया है। वैचारिक या सैद्धान्तिक मान्यता और प्रौढ़ता की दृष्टि से संस्कृत द्वारा प्रस्तुत चिन्तन सदा से ही प्रतिष्ठित माना जाता रहा है।

संस्कृत हमारी राष्ट्रीय गरिमा की, संस्कार की, श्रद्धा की, पूजा की और अनुष्ठान की आस्थाशील भाषा है। इसके साथ मन, संकल्प, बुद्धि, वाणी और आचरण की शुद्धता जुड़ी हुई है। इसके माध्यम से देवत्व के सोपान पर हम ऊपर उठते हैं, क्योंकि संस्कृत का व्यवहार करते समय ऐसा बोध होने लगता है जैसे हम मरणधर्मा न होकर अमरत्व के साधक हैं। कारण यह है कि संस्कृत ने नश्वर और मर्त्य मूल्यों की आराधना और उपासना को चरम प्रतिष्ठा कभी नहीं दी। वह शाश्वत और अमर मूल्यों की ही प्रतिष्ठा में प्रयत्नशील रही और मनुष्य को जागरण का संदेश सुनाती हुई नयी प्रेरणा देती रही।

हमारी राष्ट्रीय भाषा नित्य की दृष्टि से भी संस्कृत का अवदान कम नहीं है, योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। हिन्दी के सार्वदैशिक और अखिल भारतीय रूप की कल्पना में संस्कृत शब्द-राशि और शब्द-रचना-प्रक्रिया का कितना सहयोग है यह बताना आवश्यक नही है। राधनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान· इतिहास, विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में भी संस्कृत शब्द-राशि और संस्कृताशब्द–रचना–प्रक्रिया के विना आगे बढ़ना संभव नहीं है। इन सभीं विषयों में भारतीय अवधारणा के अनुकूल जिन शब्दों की आवश्यकता और अपेक्षा होती है और जिसके विना स्वतंत्र चिन्तन संभव नहीं है, वह संस्कृत की धारा से ही प्राप्य है। ऐसी शब्द-राशि और संस्कृत-मूलक नवनिर्मित शब्दों से ही मौलिक चिन्तन संभव है। हम सूर्य के प्रकाश से यदि शक्ति पाना चाहेंगे तो हमें उपनिषदों की मधुविद्या से संकेत मिलेगा और तब सौर ऊर्जा की वास्तविकता को समस्त चराचर जगत की आवश्यकता से हम जोड़ सकेंगे।

संस्कृत भाषा से, ऐसा जान पड़ता है जैसे, मानववाणी पवित्र हो रही है और मन शुद्ध होता जा रहा है, संकल्प दृढ बनते हैं तथा भावों को ऊपर उठने का सहारा मिलता है।

संस्कृत की महिमा और उसकी गरिमा का परिगणन करना यहाँ हमारा अभिप्राय नहीं है। जन्म और संस्कार से प्राप्त संस्कृत के प्रति जो श्रद्धा और आदर है उसी के कारण ऊपर मैंने कुछ आंशिक संकेत मात्र किया है।

पाश्चात्त्य देशों के जर्मन लोग हमारी ज्ञानगम्भीर संस्कृत का पता पाकर भारत में आये और यहाँ के विभिन्न राज्यों में घूम-घूम कर स्थानीय लोगों की सहायता से विपुल संस्कृत-ग्रन्थों का संग्रह करके अपने देश में ले गये। अब जर्मनी में इतने अधिक संस्कृत ग्रन्थ हैं उतने हमारे देश में नहीं है। उन ग्रन्थों का अध्ययन करके वहाँ के बड़े-बड़े विद्वान संस्कृत में पारंगत हुए और हो रहे हैं। उन लोगों ने एक विशाल संस्कृत-जर्मन कोश लिख कर पाश्चात्त्य देशों में प्रचारित किया है। उनकी देखा-देखी अंग्रेजों ने भी संस्कृत-अंगरेजी कोश बना लिया है।

उनके अनुसार अब अमेरिकन, रशियन आदि भी हमारी संस्कृत भाषा का अपरिसीम आदर कर रहे हैं।

हमारे यहाँ लगभग ७० संस्कृत से संस्कृत कोश मिलते हैं ; वे भी अक्षरानुक्रमिक नहीं, वर्गानुक्रमिक हैं तथा बहुत ही छोटे-छोटे। किन्तु जर्मनी में संस्कृत-जर्मन का विशाल कोश तैयार हो गया है। उसी के आधार पर इंगलंड में संस्कृत-अंग्रेजी कोश भी तैयार हुआ है। अंग्रेजी भाषा पृथ्वी भर के प्रायः सभी देशों में प्रचलित है; फलस्वरूप उन देशों में भी थोड़ी-बहुत संस्कृत की चर्चा चल रही है।

केवल संस्कृत के विभिन्न प्रकार के सहस्रों शब्दों का अर्थ जान लेने से ही मनुष्य को विशेष लाभ नहीं होता। इस कारण प्रस्तुत कोश में विशेष-विशेष पारिभाषिक शब्दों की विस्तारित व्याख्या दी गयी है।

जर्मन दार्शनिक शोपनहावर ने लिखा था कि उपनिषदें मेरे जीवन में तथा मरण तक शान्तिस्वरूप हैं (Solaee of my life and solace unto death)।

इस कोश में सहस्राधिक संस्कृत ग्रन्थों से प्रमाण उद्धृत कर शब्दार्थों की पुष्टि की गयी है।

संस्कृत भाषा से ही भारतीय भाषाएँ उत्पन्न हुई हैं। इस कारण उन भाषाओं में अनेकानेक संस्कृत शब्दों की भरमार है।

आदिम वैदिक संस्कृत बहुत क्लिष्ट है। उसके बाद दार्शनिक भाषा कुछ सहज है। आधुनिक संस्कृत पुराण, उपपुराण, रामायण, महाभारत आदि की भाषा बहुत दी सुगम है।

संस्कुत व्याकरण की भाषा, चाहे प्राचीन हो या नवीन, बहुत ही क्लिष्ट है। आधुनिक स्कूल-कालेजों के लिए जो संस्कृत व्याकरण लिखे जा रहे हैं वे बहुत ही सुगम है।

— * —

सम्मतियां

उत्तर-प्रदेश के भूतपूर्व शिक्षामन्त्री, बाद में मुख्यमन्त्री, केन्द्रीय रेलमन्त्री, अब राज्यसभा के प्रवोण सदस्य पं० कमलापति त्रिपाठी जी इस कोश के सम्बन्ध में लिखते हैं—

प्रिय शास्त्रीजी,

आपका २४ अप्रैल का कृपा-पत्र मिला। मेरी कृतज्ञता स्वीकार करें। बृहत् संस्कृत-हिन्दी-शब्दकोश का संक्षिप्त अंश भी प्राप्त हुआ। उसे देख गया। यह अनुपम ग्रन्थ हिन्दी साहित्य की महती समृद्धि का कारण तो होगा ही, साथ-साथ ज्ञान का अभूतपूर्व स्रोत भी होगा। हमारा वांगमय इसके लिए आपका चिरऋणी रहेगा। काशी आऊँ तो अवश्य दर्शन दें। अपने को धन्य समझूंगा।

आपका

कमलापति त्रिपाठी

MAHAMAHOPADHYAYA
Dr. UMESH MISHRA
Vice-Chancellor

KAMESHWARASINGH DARBHANGA
SANSCRIT UNIVERSITY
(Lakshmishwara-Vilasa Palace)
DARBHANGA

Dear Shri Gopalchandra Vedantashasrty,

I have great pleasure in going through the portions of your Brihat Sanscrit Hindi Shabdakosa. It is a huge task of all-India importance. It is pleasing that you have taken this difficult compilation of Dictionary singly. It is a service to the whole nation and everyone of us recognise it with great respect. I wish you every success in this project. I shall be very happy to have a copy of it when it is ready. I may also point out to you that I am always ready to give you any help that you may demand from me within my resources.

Yours sincerely

Sd/–UMESHA MISHRA

No. 187/7-Gen. **Jaipur,**

DEPARTMENT OF SANSCRIT UNIVERSITY OF RAJASTHAN

To, Shri Gopal Chandra Vedanta-Shastri,
17, Sadanand Bazar, Varanasi.

Dear Sir,

Your letter enclosing a specimen of the Brihat Sanscrit-Hindi Kosha was duly handed over to me by the Vice-Chancellor. I have gone through both the scheme of your work and the specimen sent by you. Please accept my hearty congratulations on your taking up a work of such a tremendous importance for both Sanscrit and Hindi and on the good start you have made. A dictionary like this was a desideratum and you will be rendering a real service to the nation by bringing it out. Please inform me as soon as the first volume is ready.

Yours truly

Sd/-P. L. Bhargava (Head of the Deptt)

Department of Hindi, Varanasi.

संस्तुति

प्रस्तुत संस्कृत-हिन्दी-शब्दकोश अत्यन्त उपयोगी है—विशेषरूप से संस्कृतप्रेमी छात्रों और संस्कृतवाङमय की व्यापक ज्ञानराशि से अनभिज्ञ हिन्दीवालों के लिए। नमूने के रूप में कोश के मावी रूप का जो प्रस्तावित अंश आपने भेजा है उससे लगता है कि प्रस्तुत कोश शब्दकोश के साथ-साथ विश्वकोशात्मक ज्ञानकोश भी होगा। ज्ञानकोश के रूप में जितना विषय बताया गया है वह अत्यन्त पांडित्यपूर्ण ढंग से उपस्थित किया गया जान पड़ता है। अतः निश्चय ही यह कोश अत्यन्त उपयोगी और ज्ञानवर्धक होगा।

'कोश' का निर्माण बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रयास है तथा युग की बहुत बड़ी मांग को पूरा करने वाला भी जान पड़ता है। इस अतिश्रमसाध्य कार्य के आपके प्रयास का स्वागत है।

भवदीय

ह० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

S. N. M. Tripathi,
Vice–Chancellor

Varanaseya Sanscrit Vishwavidyalaya
Varanasi

I have had an occasion to go through the sample copy of the "Brihat Sanscrit-Hindi Shabdakosha," and I have been greatly impressed by the comprehensive and authoritative way in which some of the words have been explained and commented upon. I have no doubt that this stupendus work when completed will be a real encyclopaedia of Sanscrit learning and a unique contribution to the development of Hindi Studies, which will fulfil a great want both of the Hindi and Sanscrit world. It is a colosal task, and, the author will earn the everlasting gratitude of the Hindi & Sanscrit students for putting into print a very valuable contribution to the Hindi and Sanscrit literature.

BANARAS HINDU UNIVERSITY
DEPARTMENT OF SANSCRIT AND PALI

I have had the pleasure to go through a few sample pages of the "Brihat Sanscrit-Hindi Shabda-Kosha" under the Editorship of Shri Gopal Chandra Shastri. Unique of this kind the work will break a new ground in the field of Hindi literature. Shri Shastri has not spared himself to make it commendable. We have had such works in Sanscrit. But to introduce their substance to Hindi-knowing world with necessary adaptations and improvements is indeed a laudable task. I am sure, it will go a long way to popularise Sanscrit as it will substantially enrich Hindi in thoughts and vocabulary.

I, therefore, congratulate Shri Shastri on this noble venture.

Sd./–Bhattacharya

M. A., Ph. D. (London), D. Litt. (Lille),
Bar-at-Law, Kavyatirtha, Nyaya-Vaisesika-Acharya
(Gold-Medallist), Mayurbhanj Professor of Sanscrit
and Head of the Department of Sanscrit and Pali.

बृहत् संस्कृत हिन्दी शब्दकोष

अ

अ संस्कृत वर्णमाला का प्रथम अक्षर तथा प्रथम स्वर। अंत में कार लगाकर इसका उच्चारण होता है, जैसे अक्षराणाम् अकारोऽस्मि (गीता १०।३३)। अकारो वासुदेवः स्यात् (एकाक्षरीकोश), । ककारादि व्यंजनों के उच्चारण में अ सहायक है, जैसे—क् + अ = क = , ख् + अ = ख, ह् + अ = ह ।

अ का प्रयोग जब उपसर्ग के रूप में होता है तो उसके अर्थ अभाव (अज्ञानम्, अपालनम्, अशक्तिः), विपरीत (अधर्मः, अन्यायः, अपरिग्रहः), सादृश्य (अब्राह्मणः), भिन्नता (अघटः—घट से भिन्न अन्य पदार्थ, अपार्थिव जो पार्थिव पदार्थों से भिन्न हो) आदि होते हैं।

अ का रूप स्वर से आरंभ होनेवाले शब्दों के पूर्व अन् हो जाता है, जैसे अ + अन्तः = अनन्तः, अ + एकः = अनेकः, अ + आदरः = अनादरः, अ + औपचारिकः + अनौपचारिकः ।

अ संबोधन-वाचक अव्यय भी है; जैसे अ वटुक अत्र आगच्छ ; दया-सूचक अव्यय ; जैसे अ अ (हाय हाय)—अष्टाध्यायी-सूत्र । धातु के लङ् भूत काल के तीनों वचनों में अ लगा कर क्रियापद बनाये जाते हैं, जैसे अपश्यत् अपश्यताम् अपश्यन् (एक ने देखा, दो ने देखा, बहुतों ने देखा), अजायत् अजायेताम् अजायन्य (एक जन्मा, दो जन्मे, अनेक जन्मे); अद् धातु भक्षणे—अ + अ = आदत् आत्ताम् आदन् (एक ने खाया, दो ने खाया, बहुतों ने खाया), इ धातु गतौ—अ + इ = ऐत् ऐताम् आयन् (एक आया, दो आये, यहुत से आये)।

अः (पुं०) विष्णु, ब्रह्म । ओंकार या प्रणव मंत्र के अ उ म् का प्रथम अक्षर। एकवचन, द्विवचन, बहुवचन इन तीनों वचनों में क्रमशः इसकी विभक्तियों के रूप इस प्रकार हैं--अः औ आः, अं औ आन्, एन आभ्याम् ऐः, आय, आभ्याम् एभ्यः, आत् आभ्याम् एभ्यः, अस्य अयोः आनाम्, ए अयोः एषु ।

अऋणिन् (वि०) अऋणी, ऋण-रहित, जो कभी किसी से उधार या ऋण नहीं लेता। दिन के अष्टम भाग में अर्थात् संन्ध्या से दो घंटे पहले जो मनुष्य शाकान्न पकाकर खाता है, जो ऋण नहीं लेता और परदेश भी नहीं जाता वही मनुष्य आनंद से जीवन बिता सकता है (दिवसस्याष्टमे भागे शाकं पचति यो नरः । अऋणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते--महाभारत वनपर्व)।

ऋण न लेने के लिए यह श्लोक अर्थवादमात्र है। नहीं तो प्रतिदिन शाकान्न खाने से, वह भी दिन भर उपवासी रहकर, शरीर रुग्ण हो जायगा। परदेश न जाने के पक्ष में नीतिका श्लोक है कि स्थानभ्रष्ट होने से दाँत, केश, नाखून और मनुष्य शोभा नहीं देते (स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः - हितोपदेश)। प्रबल पुरुषार्थी के लिए विपरीत नीति का उपदेश इस प्रकार है—सिंह, सत्पुरुष और हाथी अपना स्थान छोड़ कर नये स्थान में जाते हैं। किंतु काक, कापुरुष और हरिण वहीं मर जाते हैं (स्थानम् उत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषाः गजाः । तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः-- हितोपदेश)।

अंश् (पर०) (अंशयति, अंशापयति) (आत्म०) (अंशयते) बाँटना, अंश अलग-अलग कर देना, वितरित करना (अंशयति अंशापयति वा धनं वणिक्)।

अंशः (पुं०) विभाग, टुकड़ा, भाग, अवयव, अंग, खंड, चतुर्थांश । अनंत कोटि ब्रह्मांडों के अनंत कोटि जीवों को देख कर वे ईश्वर के अंश हैं, ऐसा कहा जाता है। वेद में भी नाना जीव देख कर वे ईश्वर के अंश हैं ऐसा बताया गया है (अंशो नानात्व-व्यापदेशात्—वेदांत सूत्र २।३।४३)। (अद्वैतवादः देखिए)। षोडशांश, कला ; गणित में भिन्न की रेखा के ऊपर वाली संख्या, वृत्त की परिधि का तीन-सौ-साठवाँ भाग; कंधा, दिन, उत्तराधिकार, ६० कलाओं में एक ।

निराकार ब्रह्म के सर्वव्यापक होने के कारण उनमें अंश नहीं हो सकता, अग्नि के स्फुलिंग की तरह स्फुलिंग भी नहीं, क्योंकि अग्नि से पृथक स्थान में स्फुलिंग दिखाई पड़ते हैं। ब्रह्म से बाहर कोई स्थान नहीं है, जहाँ जीव दिखाई पड़ सके।

यद्यपि अंश शब्द किसी विशेष भाग को नहीं बताता क्योंकि शतांश, सहस्रांश, आदि प्रयोग मिलते हैं तथापि कहीं इसकी परिभाषा भी मिलती है, जैसे—वृत्त-परिधि का ३६० वाँ भाग भी अंश कहलाता है। एक विंदु भी समुद्रांश है (सिन्धोरंशस्तु विन्दुः स्यात्); समुद्र एक सखंड वस्तु है, इसलिए उसमें अंश हो सकता है।

वेदांत में आत्मा या ब्रह्म अखंड माने गये हैं। अखंड में अंशाशिभाव नहीं रह सकता। तथापि व्यावहारिक रूप में जीव ईश्वरांश माना गया है (ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः—गीता १५।७)। सृष्टि भी ब्रह्म के एकांश में है (विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्—गीता १०।४२) अर्थात् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—मैं इस समस्त जगत को एकांश से धारण करके अवस्थित हूँ।

श्रोताओं का हित चाहनेवाली श्रुति निरंश आत्मा में अंश का आरोप करके उसी श्रोता की भाषा में उत्तर देती है (निरंशेऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नेंऽशे वेति पृच्छतः। तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतुर्हितैषिणी—पंचदशी २।५८)। ब्रह्म में अंश नहीं हो सकता, तथापि सृष्टि समस्त ब्रह्म में है या एकांश में, ऐसे पूछने वाले की हितैक्षिणी श्रृति (वेद) उसी की भाषा में उत्तर देती है कि सृष्टि ब्रह्म के एकांश में है।

अंश कश्यप के पुत्र का नाम था। अदिति के गर्भ से इसका जन्म हुआ था। ये द्वादश आदित्यों में से एक थे। आदित्य लोग चाक्षुष मन्वंतर में तुषित नाम से प्रसिद्ध थे; बाद में वैवस्वत मन्वंतर में आदित्य नाम से विख्यात हुए।

अंशक (वि०)—अंशी, साझेदार, हिस्सेदार, अंशभूत।

अंशकः (पुं०)—भाग, टुकड़ा, अंश, हिस्सा, दिन, सह-उत्तराधिकारी, दायाद, ज्ञाति, कला।

अंशकम् (नि०) दिन, दिवस (सूर्यांशत्वादह्नोऽशकम्)।

अंशकरणम् (न०) विभाजन, वंटन, विभाग-करण, बाँटना (तदंशकरणं प्रोक्तं यद्विभाजनमुच्यते)।

अंशकला (स्त्री०) अंशका अंश, बहुत अल्प अंश, (एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—भागवत)।

अंशकल्पना, अंशप्रकल्पना (स्त्री०), अंशप्रदानम् (न०) भाग-समर्पण, अंश-प्रदान (तदंशकल्पनादेव जीवानां पृथगात्मता)।

अंशकुण्डली (स्त्री०) जन्म-पत्री, जन्म-कुंडली।

अंशकूटः (पुं०) साँड़ का कूबड़, ककुद् (अयं भात्यंशकूटेन महोक्षः पर्वतोपमः)।

अंशगत (वि०) भाग-संबंधी, अंश के अंतर्गत, हिस्से में शामिल (समुद्रांशगतं सर्वं वारिजातं जगद्गतम्)।

अंशग्राहिन (वि०) भाग ग्रहण करनेवाला, साझेदार (सर्वेऽशग्राहिणः प्रोक्ता ये स्युः कर्माधिकारिणः)।

अंशतः (क्रि० वि०) अंश के अनुसार, थोड़े अंशों में (स्वभोज्यस्यांशतो देयं गोश्वादिभ्योऽपि नित्यशः)।

अंशनम् (न०) विभाजन, विभाग करना, बाँटना (धर्मार्थमप्यंशनं स्यादर्जितार्थस्य सर्वथा)।

अंशनीय (वि०) अंश करने योग्य, विभाजनीय, (अंशनीयाः स्वपोष्याश्च भोग्येषु सकलेष्वपि)।

अंशप्रार्थिन् (वि०) अंश चाहनेवाला (अंशप्रार्थी नयेन स्यान्नान्यायेन कदाचन)।

अंशभाक्, अंशभागिन्, अंशभाज् (वि०) अंशभागी, उत्तराधिकारी, सह-उत्तराधिकारी, अंश पाने योग्य (निरुद्धासु न कुर्वीरन् अंशभाक् तत्र सेतुकृत्—प्रायश्चित्ततत्त्व)।

अंशभूः (पु०) भागी, साझेदार, हिस्सेदार, साथी; अंश से उत्पन्न होनेवाला (रामोंऽशभूः स्वयं जातः साक्षादेव स्वयम्भुवः)।

अंशभूत (वि०) अंतर्भूत, अंतर्गत, अंशरूप में परिणत (अवतारास्त्वंशभूता अवतारिण एव ते)।

अंशयितव्य (वि०) अंश करने योग्य, बाँटने योग्य (पुत्रेष्वंशयितव्यं स्यात् पित्रा स्वोपार्जितं धनम्)।

अंशयितृ (वि०) बाँटने वाला, विभाजक (ईश्वरोंऽशयिता स्वयम्)।

अंशल (वि०) पुष्ट, बलवान्, दृढ़काय, सबल, मांसल कंधोंवाला, अंसल; अंशभागी; स्थायी, दृढ़ (कृशोऽप्यंशल एषोऽभूः पथ्याद्यंशविहारतः)।

अंशलः (पुं०) बलवान् पुरुष, अंसल (अंशलोऽपि किमर्थं त्वमसमर्थ इवेक्ष्यसे)।

अंशवत् (पुं०) एका प्रकार की सोमलता (अंशवान् सूयते यज्ञे)।

अंशविवर्तिन् (वि०) कंधे की ओर मोड़ दिये जानेवाला (मुखमंशविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः—अभिज्ञानशकुन्तलम् ३ । २४)

अंशसवर्णनम् (न०) भिन्न का अंशकरण (कृतं तेऽशसवर्णनम्)।

अंशस्वरः (पुं०) संगीत में एक विशिष्ट स्वर (रागेऽस्मिंस्तु विदुः प्राज्ञा नीचांशस्वररूपिणम्)।

अंशहर (वि०) अंशी, साझेदार, हिस्सेदार, हिस्सा लेनेवाला (पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः—याज्ञवल्क्य ८।१३२)।

अंशहार, अंशहारिन् (वि०) भागी, अंशी, अंशग्राही, उत्तराधिकारी (अधिकारोंऽशहारस्य वर्णितो दायवेदिभिः)।

अंशांशः (पुं०) देवता के अंश का अंश (विष्णोरंशाशसम्भूतः—विष्णुपुराण); गौण अवतार, अंशावतार।

अंशांशिन् (क्रि० वि०) अंशतः, अंश के अनुसार, विभागशः, हिस्सेवार। (पु०) अंश और अंशी (अंशांशिनां युक्ततरो विवेकः)।

अंशांशिसम्बन्धप्रतिपादिका (श्रुतिः) (स्त्री०) जीव को अंश एवं ब्रह्म को अंशी कह कर निर्देश करने वाली श्रुति।

जिस प्रकार अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ छिटक पड़ती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से समस्त प्राणी, समस्त लोक, समस्त देवता, समस्त भूत निकलते हैं (यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा व्युच्चरन्ति, एवमेतस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतानि—बृहदारण्यक उपनिषद २।१।१२०); जैसे धधकती हुई अग्नि से चिनगारियाँ हजारों की संख्या में उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार परमात्मा से अगणित जीवों की उत्पत्ति होती है (यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते स्वरूपा—मुण्डकोपनिषद २।१।१)।

इस प्रकार की श्रुतियाँ अधिकारि-विशेष अर्थात् भेदाभेदवादीः के लिए ही कथित हुई हैं, क्योंकि अद्वैतदृष्टि से अखंड एकरस ब्रह्म की अंशकल्पना तो हो ही नहीं सकती। क्योंकि स्फुलिंग ससीम अग्नि के बाहर जाकर गिरते हैं। अग्नि के भीतर स्फुलिंग नहीं हो सकते। यदि कोई वैसी कल्पना करे भी तो वे अग्नि से अभिन्न हैं। ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण और असीम है, उनके बाहर कोई स्थान ही नहीं है, जहाँ स्फुलिंग के समान जीव-रूप अंश दिखाई पड़ सके। स्वप्न में मनःकल्पित प्राणी जिस प्रकार मन से पृथक नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मशक्ति माया के द्वारा कल्पित जीव भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। अतएव मन-बुद्धि आदि जीवोपाधियों के साथ अखंड एकरस ब्रह्म का तुल्य संबंध होने से अद्वैतवादी बुद्धिगत या मनोगत सुख-दुःखादि के भावों को समान रूप से ग्रहण करते हैं। इस स्थल पर भोगव्यतिकर-दोष की सम्भावना नहीं है, क्योंकि निरुपाधिक ब्रह्म और जीव रूप सोपाधिक ब्रह्म का संबंध महाकाश और घटाकाश के समान अभिन्न समझना चाहिए।

किन्तु इस प्रकार के श्रुति-सिद्धांत को ही चरम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि इसे ही चरम मान लिया जाय तो अभेद-श्रुतियाँ परमार्थ-दृष्टि से व्यर्थ हो जायेंगी। अतः अभेदप्रतिपादिका श्रुति ही भेद-प्रतिपादिका श्रुति या भेदाभेद-प्रतिपादिका श्रुति की अपेक्षा बलीयसी है। इसीलिए वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने लिखा है-अंशांशित्वेऽपि नैव स्यात् पूर्वोक्तादेव कारणात्। क्षणभङ्गे च भावानां प्रत्यभिज्ञाद्यसम्भवात् (अद्वैतवादः देखिए)।

अंशाङ्कनम् (नं०) विभाग का चिह्न लगाना।

अंशाङ्कित (वि०) विभाग-चिह्न से चिह्नित।

अंशावतरणम् (न०) किसी देवता के अंश का अविर्भाव (युगेष्वंशावतरणं भवत्येव महाप्रभोः—यह महाभारत के आदि पर्व के ६४वें अध्याय का शीर्षक है)।

अंशावतारः (पुं०) विष्णु के कुछ अंशों का अवतार, विष्णु के मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, परशुराम, बुद्ध, और कल्कि अवतार; नृसिंह, राम, बलराम-कृष्ण पूर्णावतार माने जाते हैं।

अंशित (वि०) विभक्त, वितरित (अंशितं सकलमेव धनं नः)।

अंशिन् (वि०) भागी, अंशी, हिस्सेदार, समान भाग पाने वाला (ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः—याज्ञवल्क्य ८।११४)।

अंशीकृ (पर०) (अंशीकरोति)—अंश करना, विभाग करना (अंशीकुर्यादात्मनः स्वं समग्रां निजसम्पदम्)।

अंशुः (पुं०) सूत, कपड़ा, वस्त्र, किरण, रश्मि; द्युति, प्रभा, सूर्य, लेश (अंशवो भास्करस्यैते भास्वरस्य जगत्त्रये)।

अंशुकम् (न०) एक प्रकार का सफेद महीन कपड़ा, चादर, मसलिन, टसर, अग्नि की मन्द ज्योति; तेजपात, किरण (वेषवारगणे ज्ञेयमंशुकं च प्रधानतः)।

अंशुकायः (पुं०) किरण-मंडल (अंशुकायो महानेव भास्करस्य प्रचीयते)।

अंशुजालः (पुं०) रश्मि-समुदाय, किरण-मण्डल (नैदाघिकोंऽशुजालस्ते मध्याह्ने नैव सह्यते)।

अंशुजालम् (न०) रश्मियों का समूह, प्रकाशमंडल।

अंशुधरः (पुं०) सूर्य, तपन, रवि, भास्कर, ज्योतिष्क ; सूर्यवंशीय एक राजा का नाम (सौरोंऽशुधर-नामपि पुराणेषु निगद्यते)।

अंशुधारयः (पुं०) दीपक, प्रदीप, दीआ (ज्वलत्येषोंऽशुधारयः)।

अंशुनदी (स्त्री०) एक नदी का नाम (वहत्यंशु-नदी शनैः)।

अंशुपट्टम् (न०) एक प्रकार का रेशमी वस्त्र (परिधायांशुपट्टं त्वं क्रतावस्मिन्भवोन्मुखः)।

अंशुपतिः (पुं०) सूर्य, तपन, रवि, भास्कर, ज्योतिष्क (दीव्यत्यंशुपतिर्महामहिमभूः)।

अंशुवाणः (पुं०) अंशु ही जिसके बाण हैं, सूर्य।

अंशुभृत् (न०) सूर्य, तपन, ज्योतिष्क (अंशवोंऽशुभृतस्त्विमे)।

अंशुमत् (वि०) चमकीला, नुकीला, नोकदार (अंशुमांस्तेऽसिरेषः), अंशुयुक्त, रेशों वाला; किरणयुक्त।

अंशुमती (स्त्री०) पूर्णिमा, एक प्रकार का पौधा।

अंशुमत्फला (स्त्री०) केले का पेड़, कदली-वृक्ष (अत्रोद्यानेंऽशुमत्फलाः)।

अंशुमान् (पुं०) सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि ज्योतिष्मान पिंड। अयोध्या के सूर्यवंशी राजा जो सगर को पौत्र और असमंजस का पुत्र था। पुराणों की कथा के अनुसार सगर के अश्वमेध का जो घोड़ा चोरी हो गया था वह महर्षि कपिल के आश्रम में रखा गया था। राजा सगर के ६० हजार पुत्र उस घोड़े की खोज में कपिल-मुनि के आश्रम पर आये और कपिल को चोर समझकर धमकाने-फटकारने पर कपिल की योगाग्नि में वे भस्म हो गये। बहुत दिनों तक पुत्रों को न लौटते देखकर राजा सगर ने अंशुमान् को उनकी खोज के लिए भेजा। उसने पाताल में जाकर मुनिवर को स्तुति से प्रसन्न करके घोड़ा लौटा लाकर यज्ञ को सम्पूर्ण किया। उस समय वह जान गया कि गंगा को स्वर्ग से लाकर उस गंगा के जल से सगर-पुत्रों के भस्म का स्पर्श करा सकने से वे जी उठेंगे। सगर की मृत्यु के बाद यह ही राजा हुआ। गंगा को मर्त्यलोक में लाने के लिए यह तपस्या करने लगा। परंतु बीच में ही इसकी मृत्यु हो गयी। अंशुमान् का पुत्र दिलीप तथा दिलीप का पुत्र भगीरथ था (दिलीपोंऽशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः—रामायण बालकांड)।

अंशुमाला (स्त्री०) प्रकाश-मंडल, रश्मिजाल (एषांशुमालिन अहो प्रथतेंऽशुमाला।)

अंशुमालिन् (पुं०) अंशुमाली, सूर्य, तपन, रवि, दिनकर।

अंशुल (वि०) उज्ज्वल, प्रकाशमान, चमकदार (अंशुला भामिनी नित्यं प्रकाशयति वै गृहम्)।

अंशुलः (पुं०) चाणक्य ऋषि का नाम।

अंशुवर्मन् (पुं०) नेपाल के ठाकुरी राजकुल का प्रतिष्ठाता और प्रथम नृपति। अंशुवर्मन् पहले लिच्छवि-नरेश शिवदेव के मंत्री था। परंतु जिस प्रकार अभी हाल तक नेपाल में अधिकतर राजनीतिक अधिकार मंत्री के हाथ में रहा, फलस्वरूप अंशुमान ही राज्य का यथार्थ स्वामी था। शक्ति हाथ में आ जाने पर उसने राजमुकुट धारण कर लिया और पुराने राजकुल को दबा जर ठाकुरी कुल की प्रतिष्ठा की, किंतु अब इस कुल का शासन में कुछ भी प्रभाव नहीं है। राजा स्वयं ही राजदंड धारण करके शासन कर रहे हैं।

अंशुविमर्दः (पुं०) रश्मिरोध (कुर्युरंशुविमर्दं ते जलदाः वियदाश्रिताः)।

अंशुशिरा (स्त्री०) किरण-मण्डल, रश्मि-समुदाय (सर्वतोंऽशुशिरासृता)।

अंशुहस्तः (पुं०) सूर्य, तपन, ज्योतिष्क (अंशुहस्तः पुमान् रविः)।

अंशूदकम् (न०) सूर्य या चंद्रमा को किरणों में रखा हुआ जल, ओस वाला जल (स्वास्थ्यायांशूदकं मतम्)।

किसी पात्र में रखे हुए जल में यदि दिन में सूर्य की किरण पड़े अथवा रात्रि में चंद्र की किरण पड़ती रहे तो वह जल अंशूदक कहलाता है और वह सब रोगों का नाशक है (दिवा रविकरैर्जुष्टं निशि शीतकरांशुभिः। ज्ञेयमंशूदकं नाम सर्वरोगनिवर्हणम्—भावप्रकाश २।१६२)।

नदी, समुद्र आदि का जल स्थिर नहीं रहता, इस कारण उसमें स्थायी रूप से सूर्य या चंद्रमा की किरणें नहीं पड़तीं। अतः वह अंशूदक नहीं है, बल्कि जो स्थिर जल अनावृत रूप से किरणों द्वारा प्रभावित होता है, उसे ही अंशूदक कहते हैं। इस प्रकार के जल से स्वास्थ्य का विशेष उपकार होता है।

योगशास्त्र के अनुसार बायीं नाक से चलने वाला स्वर चंद्रस्वर तथा दाहिनी नाक से चलने वाला स्वर सूर्यस्वर माना जाता है। इन दोनों स्वरों की विषमता से ही शरीर में रोगों का प्रादुर्भाव होता है।

योगीजन सूर्य-भेदन आदि प्राणायाम की बड़ी कठोर प्रक्रिया से इन दोनों स्वरों की समता स्थापित कर पाते हैं, जिससे उनके शरीर में कभी रोग नहीं होता। यदि नियमित रूप से अंशूदक का सेवन किया जाय तो कुछ दिनों में उसी प्रकार का स्वर-साम्य स्थापित हो जाता है, जिससे अयोग, अतियोग और मिथ्यायोग से उत्पन्न होने वाले रोगों का अद्भुत रूप से निराकरण हो सकता है।

अंश्य (वि०) अंश करने योग्य, विभाग-योग्य, अंशनीय (अंश्यमेतद्धनं स्मृतम्)।

अंश्यमत् (वि०) जो विभाजित हो रहा है (अंश्यमद्वसुमात्रकम्)।

अंस् (पर) (अंसयति, अंसापयति) वितरित करना, अंश अलग करना, बाँटना (अंसयति अंसापयति वा धनं वणिक्—दुर्गादास)।

अंसः (पु०) टुकड़ा, अंश, हिस्सा, कंधा, कंधे की चौड़ी हड्डी, चतुष्कोण, वर्गाकार क्षेत्र (क्षेत्रांसं परिमापय)।

अंसकूटः (पु०) कंधा, स्कंध, साँड का कूबड़, ककुद् (अंसकूटो विभासते)।

अंसत्रम् (न०) कंधे की रक्षा करने वाला कवच, धनुष (वीरोंऽसत्रविभूषितः)।

अंसत्रम् (वेद) (न०) धनुष, कवच, वर्म (अंत्रकोशं सिंचता नृणाम्—ऋ० सं० ८।५।१६।१)।

अंसदघ्न (वि०) स्कन्ध पर्यंत, कंधे तक (नाव्यमेवांसदघ्नं वा)।

अंसपथम् (न०) कंधे पर बोझ लादे चलने वाले बैलों के आने-जाने का पथ।

अंसपृष्ठः (पु०) कंधे का पृष्ठभाग (अंसपृष्ठो महाभागः)।

अंसफलकः (पु०), अंसफलकम् (न०), अंशफलकास्थि (न०) कंधे की चौड़ी हड्डी।

अंसभारः (पु०), अंसेभारः (पु०) कंधे पर का बोझ, जुआ (अंसभारं वहेद्वृषः)।

अंसभारिक (वि०), अंसेभारिक (वि०) कंधे पर बोझ ढोने वाला, कहार (विसर्जय द्रुतं गेहाद्दस्नं दत्वांसभारिकम्)।

अंसमूलम् (न०) एक कंद (अंसमूलं मुदाश्नाति)।

अंसल (वि०) बलवान, दृढकाय, सबल, मांसल कंधोंवाला, दृढ़ स्थायी, कामुक (अंसलो योषिदन्वितः)।

अंसलः (पु०) बलवान् पुरुष, अंशल (न विभेत्यंसलः कृशात्)।

अंसविवर्तिन् (वि०) अंशविवर्तिन् देखिए।

अंसौ (पु०) वेदी के दो कोण।

अंस्य (वि०) स्कंध-संबंधी, कंधे का (अंस्यो भारः प्रबाधते)।

अंह् (आत्म.) (अंहते, अंहितुम्, अंहित) जाना (अंहिषातां रघुव्याघ्रौ); पास पहुँचना, आरम्भ करना, चमकना, भेजना, बोलना, दबाना।

अंहः (पु०) पाप, दुष्कर्म, क्लेश, चिंता (अंहो महत्तेऽभवत्)।

अंहतिः (स्त्री०) रोग, त्याग, दान, भेंट (अंहतिर्मे प्रदीयताम्); घबराहट, क्लेश।

अंहती (स्त्री०) दान, भेंट, उपहार (दत्त्वा नृपेणांहतीम्)।

अंहस् (न०) घबराहट, क्लेश, कष्ट, पाप, चिंता (अंहस्तरन्ति सुवृद्धैः)।

अंहस्पतिः [वेद] (पुं०) व्याकुलता के देवता (अंहस्पतिर्मयि कृपां सततं करोतु); मलमास, अधिक मास, पुरुषोत्तम महीना ।

अंहस्पत्यम् (न०) विपत्ति को दबाने की शक्ति (अंहस्पत्यं तव विजयते)।

अंहस्वत् (वि०) पाप-पूर्ण, पापी, अपराधी ।

अंहितिः (स्त्री०) भेंट, उपहार, चंदा, दान (अंहितिर्बहुशो लब्धा)।

अंहु (वि०) संकीर्ण, सँकरा, तंग (यदस्या अंहुभेद्याः–शुक्लयजुर्वेद ७।५।२३)।

अंहुः (न०) आकुलता, घबराहट, दुःख (अंहुर्नश्यतु लोकस्य)।

अंहुभेदः (वि०) लंबा चीर वाला ।

अंहुभेदिन् (वि०) संकीर्ण-मार्गयुक्त, तंग दर्रेवाला (अंहुभेदी महाशैलः)।

अंहुरः (पुं०) विपत्ति में पड़ा हुआ मनुष्य (अंहुभ्यो मुच्यतेऽहुरः)।

अंहुरः [वेद] (पुं०) पापी, अपराधी, धर्मनाशक (तासामेकामिदम्यंहुरोगात्—ऋ० सं० ७।५।२३।६)।

अंहूरणः (वि०) दुःखदायी, क्लेशदायक, पापपूर्ण (सर्वे तेंऽहुरणाः खलाः)।

अंहूरणम् (न०) दुःख, कष्ट, पाप, विपत्ति (दूरमंहुरणं जातम्)।

अंहोमुच् (वि०) विपत्ति से मुक्त करने वाला (अंहोमुचः सन्तु ममाद्य देवताः)।

अंहोयु (वि०) दुःखदायी, क्लेशदायक (अंहोपुरत्यन्तविषाददायी)।

अंह्रिः (पुं०) वृक्षमूल; पैर, पद, चरण (अंह्रिभ्यामेव गम्यते); चार की संख्या, ४ ।

अंह्रियः (पु०) पेड़, पादप, वृक्ष, तरु (उच्चैस्तरामंह्रियः)।

अंह्रिशिरसः (न०) टखने और एड़ी का मध्य-भाग, गुल्फ ।

अंह्रिस्कन्धः (पु०) पैर के तलवे का ऊपरी भाग, गुल्फ (अंह्रिस्कन्धः कूर्मपृष्ठानुकारः)।

अः (पुं०) विष्णु, ओंकार के अ, उ, म का प्रथम अक्षर ।

अक् (उभय०) (अकति, अकयति, अक्यते) वक्र-गमन करना, टेढ़ा चलना (अकयति अकति सर्पः–दुर्गादास); चिह्नित करना (अङ्कयति वस्त्रं रजकः । अङ्क्यते पुण्यतीर्थेषु वृषयुग्मान्यशङ्कितः)।

अकच (वि०) गंजे सिर वाला, खल्वाट (अकचेऽलंकृतं मोघम्)।

अकचः (पु०) केतु का एक नाम जिसके संचार से कच (मेघ) नहीं रहता ।

अकटुक (वि०) अतीक्ष्ण, मंद, जो कड़ुआ न हो, मधुर स्वाद वाला, स्वादिष्ट, मीठा (तदेव वाक्यं वक्तव्यं यत् स्यादकटुकं परम्)।

अकटुफलः (पुं०) एक पौधा, मीठे फलवाला वृक्ष (आम्रादयोऽकटुफलाः)।

अकठोरः (वि०) कोमल, मृदु, दुर्बल, सहज में समझने योग्य (अकठोरेन्दुविलासलोलितः)।

अकठोरताः (स्त्री०) कोमलता, मृदुता, दुर्बलता (तवाचारे विचारेऽपि सर्वत्रैवाकठोरता)।

अकडमम्, अकडमचक्रम् (न०) एक तांत्रिक रेखा-चित्र (शुद्धाकडमचक्रेण निर्णीतो मम मन्त्रराट्)।

अकण्टक (वि०) काँटा-रहित, दुःख-रहित, विपत्ति-रहित, शत्रु-रहित, निर्विघ्न (यात्रा तवाकण्टका भवतु)।

अकण्ठ (वि०) गला-रहित; स्वर रहित, कर्कश, जिसे स्वरभंग हुआ है (गायत्यकण्ठो कथमेष मूकः)।

अकत्थन (वि०) अहंकार-रहित, गर्वोक्ति-हीन (अकत्थनः शान्तियुतो मनीषी)।

अकथनीय (वि०) अवक्तव्य, कहने के अयोग्य, अनुल्लेखनीय (अकथनीयमिदं तव चापलम्)।

अकथित (वि०) न कहा हुआ, अनुल्लिखित (अकथितमपि धीमान् तत्त्वतो वेत्ति वेद्यम्)।

अकथ्य (वि०) न कहने लायक, अवक्तव्य, अनुल्लेखनीय (अकथ्यमेतत्तव दुर्वचो मे)।

अकनिष्ठ (वि०) ज्येष्ठ, जो छोटा न हो (अकनिष्ठोऽस्म्यहं त्वत्तः)।

अकनिष्ठः (पुं०) गौतम बुद्ध, जो किसी मनुष्य से कनिष्ठ नहीं है ।

अकनिष्ठगः (पुं०) गौतम बुद्ध ।

अकनिष्ठपः (पुं०) एक बौद्ध राजा ।

अकन्या (स्त्री०) वह जो कुमारी न हो, जिस कन्या का विवाह या पुंयोग हो चुका हो (अकन्येति तु यः कन्यां ब्रूयाद्द्वेषेण मानवः । स शतं प्राप्नुयाद्दण्डं तस्या दोषमदर्शयन्)—मनु० ८।२२५)।

अकपट (वि०) कपट-रहित, सरल, सीधा, भोला (अकपटकुशलो ऋजुर्वदान्यः)।

अकम् (न०) असुख, निरानंद, अशांति, दुःख, कष्ट, क्लेश, पाप । कम् शब्द का अर्थ सुख भी है, जिसमें सुख नहीं है वही अक है । न+अक=नाक, दुःख-रहित स्थान, स्वर्ग (नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतोऽनुभूय ततः परं मृत्युलोके विशन्ति—मुक्तिकोपनिषद् ३।११)।

अकम्पन (वि०) न काँपने वाला, स्थिर, निश्चल, अटल (प्रतीच्यामुद्याने पलाशाः कपित्था अकम्पनभूताः)।

अकम्पनः (पुं०) यह रावण का सेनापति और उसका मामा भी था । इसके पिता का नाम सुमाली और माता का नाम केतुमाली था । दंडकारण्य में रामचंद्र के हाथ से खर, दूषण, त्रिशिरा और १४ हजार राक्षस मारे गये, यह दुःसंवाद इसी ने रावण को दिया था । इस संवाद को सुनकर रावण बहुत कुपित हुआ । तब इसी ने रावण से कहा था कि यहाँ दैवी या आसुरी कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो राम को युद्ध में पराजित कर सके । राम को मोहित कर सीता हरण करने का उपाय इसी ने बतलाया था ।

राम-रावण-युद्ध में अकंपन हनुमान् के द्वारा वृक्ष के आघात से मारा गया था । इसकी भगिनी कुंभीनसी और रावण की माता कैकसी या निकषा थी । धूम्राक्ष और प्रहस्त इसके भाई थे ।

अकम्पित (वि०) स्थिर, दृढ़, अविचलित (अकम्पितः शश्वदगाधधैर्यः)।

अकम्पितः (पुं०) एक जैन गणाधिप का नाम, अंतिम तीर्थंकर, महावीर का शिष्य ।

अकम्प्य (वि०) कम्पित होने के अयोग्य, स्थिर, (ज्ञानकर्म्मणोर्विरोधः पर्वतवद् अकम्प्यः—गीताशांकरभाष्य)।

अकर (वि०) हस्त-रहित, लुंजा; अकर्मण्य, अकारक. जो काम नहीं करता, सुस्त, अलस; कर या चुंगी (टैक्स) से रहित (त्वं सर्वतः करग्राही स्वयं त्वकरतां गतः)।

अकरणम् (न०) क्रिया का अभाव, कर्तव्य का अपालन (अकरणमभावः कथं तस्माद् भावरूपस्य प्रत्यवायस्योत्पत्तिः—गीता-३।१, शांकरभाष्य); जिसे देहेंद्रियादि करण नहीं है अर्थात् परमात्मा ।

अकरणिः (स्त्री०) अपालन, अकरण, विफलता, नैराश्य, आक्रोश, क्रोधप्रकाश, शाप (तस्याकरणिरेवास्तु—अमरकोश)

अकरणीय (वि०) करने के अयोग्य, जो पूरा न किया जा सके, अकर्तव्य, अननुष्ठेय अनाचरणीय, विवाहादि संबंध के अयोग्य ।

अकरा (स्त्री०) आमलकी, आँवला ।

अकरुण (वि०) निष्ठुर, निर्दयी, दयाविहीन ।

अकर्कश (वि०) अकठोर, कोमल, नरम, चिक्कना ।

अकर्ण (वि०) कर्ण-रहित (स श्रृणोत्यकर्णः); बधिर, बहरा, पतवार-रहित, अखंडित ।

अकर्णः (पुं०) साँप, ब्रह्म (अकर्णोऽपि स शुश्रूषुः । अपणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः—श्वेताश्वतर ३।१९)।

अकर्ण्य (वि०) कान में पहनने के अयोग्य; सुनने योग्य ।

अकर्तः (पुं०) भेदाभाव, समानता (सध्यङ् नियम्य यतयो यमकर्तहेतिम्—भागवत २।७।४८)।

अकर्तन (वि०) खर्व, बौना, छोटा, नाटा; कर्तन-शक्ति-रहित ।

अकर्तव्य (वि०) अकरणीय, गर्हित, करने के अयोग्य, अनुचित (अकर्तव्यो विरोधश्च दारुणैः क्षत्रियैः सह—ब्रह्मवैवर्तपुराण ७।२८)।

अकर्तृ (पुं०) अकर्ता, जो कर्म न करे, सांख्यदर्शन का पुरुष (तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्—गीता ४।१३); कर्ताभिन्न कर्मकरणादि कारक ।

अकर्तृक (वि०) स्वयं-निर्मित, जो किया न गया हो (इदं जगदकर्तृकं कथमथ भवेन्निर्मितम् !)।

अकर्तृत्वम् (न०) कर्तृत्व का अभाव, कर्तृत्व का अभिमानराहित्य (अकर्तृत्वं न जीवानां जगत्प्रति समर्थ्यते)।

अकर्तृभावः (पुं०) कर्तृत्व का अभाव, अकर्तृत्व की स्थिति ।

अकर्दमम् (वि०) पंक-रहित, पवित्र, निर्मल (अकर्दमं सरस्तोयम्) ।

अकर्मक (वि०) जिसका कर्म न हो, कर्म-रहित, व्यापार-शून्य; कर्म में अयोग्य (अकर्मकः सदिति सर्वभावैः) ।

अकर्मकः (पु०) व्याकरण में क्रिया का एक भेद जिसका कर्म न हो ।

अकर्मकृत् (वि०) कर्म न करनेवाला, सर्व-कर्म-विमुक्त (न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्—गीता ३।५), कुकर्मकारी, पापी ।

अकर्मण्य (वि०) न करने योग्य, अनुचित; निकम्मा, कार्य में अशक्त; शास्त्रीय कार्य में अविहित (अकर्मण्यं तिथिमलं विद्यादेकादर्शी विना—तिथितत्त्व) ।

अकर्मन् (वि०) अकर्मा, कुछ न करनेवाला, निकम्मा, आलसी, अयोग्य । (न०) व्याकरण में अकर्मक क्रिया, कर्म का अभाव, अनुचित कार्य, पाप, अकर्म, कुकर्म (कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः । सः बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्—गीता ४।१८) ।

अकर्मभोगः (पु०) कर्मफल से मुक्त होने का आनंद, कर्म-फल-त्याग-जनित सुख-भोग; पाप का फलभोग (कर्मफलम् देखिए) ।

अकर्मान्वित (वि०) वेकार, कर्महीन, अयोग्य, किसी काम में न लगा हुआ; पापी, दुराचारी !

अकर्मिका स्त्री०) कर्म-रहित क्रिया (व्याकरण में) ।

अकल (वि०) अविभक्त, साबूत, पूरा, सम्पूर्ण, कला-ज्ञान-रहित ।

अकलः (पु०) बुद्धि, समझ, ज्ञान, परमात्मा, शिव ।

अकलङ्क (वि०) कलंक-रहित, शुद्ध, पाप-रहित ।

अकलङ्कः (पु०) एक जैनाचार्य । आचार्य अकलंक का समय ई० ७२०-७८० है । ये जैन न्याय के अनेक मौलिक ग्रंथों के रचयिता हैं । इन्होंने भर्तृहरि, कुमारिल, धर्मकीर्ति और उनके अनेक टीकाकारों के मतों की आलोचना करके जैन न्यायशास्त्र को सुप्रतिष्ठित किया था । इनके लिखे ग्रंथ—(१) उमास्वाति-तत्त्वार्थ-सूत्र की टीका, (२) आप्तमीमांसा की टीका अष्टशती, (३) प्रमाण-प्रवेश, (४) न्याय-विनिश्चय और उसकी वृत्ति, (५) सिद्धि-विनिश्चय और उसकी वृत्ति, (६) प्रमाण-संग्रह आदि हैं ।

अकलङ्कित (वि०) जिसे कलंक न लगा हो, धब्बा-रहित, स्वच्छ (चरित्रमकलङ्कितं सदसि गीयते कोविदैः) ।

अकलुष (वि०) पाप-रहित, पवित्र, शुद्ध, निर्दोष (अकलुषरमणीयता तवास्ति लोके) ।

अकलुषित (वि०) जो कलुषित न किया गया हो, पवित्र ।

अकल्क (वि०) पवित्र, विशुद्ध, पाप-रहित, निष्कपट, उदार; झाग-रहित ।

अकल्कता (स्त्री०) साधुता, सतीत्व, ईमानदारी (यथा बहिरकल्कता न तु तथैव तेऽभ्यन्तरा) ।

अकल्का (स्त्री०) चाँदनी, चन्द्रकिरण, ज्योत्स्ना (अकल्का चन्द्रज्योत्स्ना स्यात्) ।

अकल्प (वि०) जो नियम के अधीन न हो, असंयत, अतुलनीय; रोगी, समीपस्थ, असमर्थ, अधीर (अकल्पो वैधेयो विधिमविधिमप्युज्झति समम्) ।

अकल्पनम् (न०) इच्छा-शून्यता, कल्पना-राहित्य (बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः । मात्रार्थञ्च भवार्थञ्च आत्मनेऽकल्पनाय च—भागवत १०।८७।२) ।

अकल्पित (वि०) स्वाभाविक, शुद्ध, अकृत्रिम, जो कल्पित न हो ।

अकल्पितः (पु०) ऐसी वस्तु जिसकी कल्पना, परिणति या उत्पत्ति न हुई हो; आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, सांख्यदर्शन का पुरुष, गीता का परम पुरुष, अक्षर पुरुष नित्य वस्तु ।

न्यायमत में आत्मा, मन, आकाश, काल, दिक् तथा वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन चार भूतों के अगणित परमाणु नित्य हैं । यह आरम्भवादी दर्शन है, यथार्थतः एकाधिक वस्तुएँ नित्य नहीं हो सकतीं (अद्वैतवादः देखिए) ।

सांख्यमत में प्रकृति तथा असंख्य पुरुष नित्य हैं । यह परिणामवादी दर्शन है अर्थात् जड़ प्रकृति के परिणाम से, वाष्प से जल और जल से बर्फ होने की तरह, यह स्थूल सृष्टि आर्विभूत हुई है । परन्तु परिणामी वस्तु नित्य नहीं हो सकती । मनुष्य का शरीर आदि सांसारिक सभी पदार्थ उसके उदाहरण हैं । परिणामी होकर भी कोई वस्तु नित्य है ऐसा एक भी दृष्टांत इस ब्रह्माण्ड में नहीं मिलेगा । दृष्टान्त-रहित अनुमान प्रमाण रूप से नहीं माना जा

सकता। इस कारण प्रकृति की नित्यता का अनुमान तो असिद्ध ही है। प्रकृति और पुरुष 'भिन्न' होने के कारण भी अनित्य हैं। इस मत में पुरुष (आत्मा) ब्रह्म के समान है तथा वे व्यापक सूक्ष्म, चेतन, निर्गुण तथा प्रत्येक शरीर में पृथक-पृथक हैं। परन्तु एक ही स्थान में एकाधिक 'निर्गुण' वस्तुएँ हों भी तो उनमें भेद नहीं रह सकता, क्योंकि भेद गुण के द्वारा ही होता है।

द्वैत मानने वालों का कहना है कि 'निरवयव वस्तुओं में स्थिति-विरोधिता दोष नहीं रहता अर्थात् एक स्थान में रहने से भी उनमें विरोध नहीं होता, जैसे एक कमरे में एक बत्ती जलाने से प्रकाश भर जाता है, अब वहाँ दूसरी बत्ती या सैकड़ों बत्तियाँ भी जलायी जायँ तो उनका प्रकाश उसी कमरे में फैलेगा। परन्तु प्रकाश में तो कुछ अधिकता होती ही है।

इस संसार में अगणित आत्मा (पुरुष) की चेतनता का अधिक प्रकाश कहाँ प्रतीत होता है ? इस कारण आत्मा में भेद मानना युक्ति-विरुद्ध है। सांख्य मत में पुरुष की भिन्नता के पक्ष में यह युक्ति दी जाती है कि जैसे लाल फूल की लाली की छाया स्वच्छ स्फटिक पर पड़ जाती है, उसी प्रकार बुद्धितत्त्व के सुख-दुःख, भूख-प्यास आदि की छाया भी पुरुष (आत्मा) पर पड़ जाती है। यदि सब जीवों में एक ही पुरुष होता तो सुख-दुःखादि में सांकर्य (मिश्रण) हो जाता अर्थात् एक व्यक्ति में सुख और दूसरे में दुःख हो और दोनों की छाया एक ही पुरुष पर पड़े तब तो वह व्यक्ति एक ही समय सुखी और दुःखी बन जाय। परन्तु ऐसा नहीं होता। संसार में दिखाई पड़ता है कि एक व्यक्ति सुख से हँसता है तो दूसरा दुःख से रोता है। यथार्थ में आत्मा पर सुख-दुःख की छाया नहीं पड़ती। क्योंकि आत्मा 'निष्कल' है, उसमें कला या अंश नहीं है। दर्पण जल, स्फटिक आदि वस्तुएँ सकल हैं, इस कारण उनमें प्रतिबिम्ब या छाया पड़ सकती है। आकाश निष्कल निरवयव है। उसमें छाया नहीं पड़ती। कदाचित् सहारा मरुस्थल के ऊपर से वायुयान के उड़ जाते समय आकाश में थोड़ी दूर पर दूसरे वायुयान की छाया-सी दीख पड़ती है। परन्तु वह छाया आकाश पर नहीं पड़ती, बल्कि आकाशमें जो बालू-कण उड़ते रहते हैं, उन्हीं पर सूर्य-किरण के वक्रविकिरणों के प्रभाव से विमान की छाया दिखाई पड़ती है।

वेदान्तःमत में ब्रह्म (आत्मा) ही नित्य है। ब्रह्म-शक्ति माया के द्वारा यह सारा प्रपंञ्च कल्पित है। संसार में युक्ति (अनुमान) के द्वारा एक ही वस्तु अकल्पित (नित्य) हो सकती है। एकाधिक होने से इतर-व्यावर्तकत्व (भिन्नता) के हेतु वे अनित्य हो जाते हैं। घट, पट, मनुष्य आदि सभी इस अनुमान के ही दृष्टांत हैं और संसार की कल्पना करने के लिए एक अकल्पित अनादि वस्तु का रहना नितांत आवश्यक है। क्योंकि उस कल्पनाकारी को कल्पित या उत्पन्न माना जाय तो प्रश्न होगा कि वह किससे कल्पित है। उस कारण को भी कल्पित कहने पर उसका कारण, फिर उसका भी कारण— इस प्रकार अनवस्थादोष आ जाता है (अन्योन्याश्रयः देखिए)। युक्ति-विचार में दोष-युक्त मत माना नहीं जा सकता। अतः संसार-प्रपञ्च के मूल में एक ब्रह्म वस्तु को ही वेदान्त ने सत्य स्वीकार कर लिया है। अन्य सभी माया की कल्पना मात्र है (माया देखिए) (इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते—बृहदारण्यक उपनिषद २।५।१९)। विश्वं दर्पणदृश्यमान नगरीतुल्यं निजान्तर्गतं, पश्यन् आत्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया—दक्षिणामूर्तिस्तोत्र। मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्—श्वेताश्वतर उपनिषद ४।१०।)।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब ब्रह्म अकल्पित हैं तो उनमें अकल्पिततत्व-धर्म या गुण आ जाना स्वाभाविक है। संसार के सभी पदार्थ गुणवान् होने से अनित्य हैं। इन दृष्टान्तों से ब्रह्म भी गुणवान होकर अनित्य हो जाते हैं। इसके उत्तर में यही कहा जाता है कि सृष्टि-कल्पना देखकर ही कल्पितत्व, अकल्पित्व गुणों की कल्पना होती है। स्वरूपतः ब्रह्म में न सृष्टि-कल्पना है और न अकल्पितत्वादि गुण ही है। (विकल्पतदभावाभ्याम-संस्पृष्टात्मवस्तुनि। विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसम्बन्धाद्यास्तु कल्पिताः —(पञ्चदशी १।५२।)

इस द्वैतलेशहीन अद्वय अवस्था के प्रति लक्ष्य करके ही छांदोग्य श्रुति ने कहा है—एकमेवद्वितीयम्–६।२।१। अर्थात् ब्रह्म एक ही हैं और अद्वितीय भी हैं। एकम् कहने से ब्रह्म में स्वगत भेद का निवारण किया गया है, एव कहने से उनमें सजातीय भेद का निषेध किया गया है तथा अद्वितीयम् कहने से उनमें विजातीय भेद भी रहित किया

गया है (अद्वैतवादः देखिए)। अन्यान्य उपनिषद्-मंत्रोंने भी इस विषय का समर्थन किया है; जैसे--इस सृष्टि के पहले एकमात्र सत् ही था (सदेव सोम्य इदम् अग्रे आसीत् —छांदोग्य ६।२।१)। ब्रह्म सत्य-ज्ञान-आनंत-स्वरूप है —(सत्यं ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म --तैत्तिरीय उपनिषद् २।१)। मैं ब्रह्म ही हूँ (अहं ब्रह्मास्मि--बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१०)। तुम ब्रह्म हो (तत् त्वम् असि—छांदोग्य ६।८।७)।

अमावस्या के दिन जब चंद्र पृथ्वी और सूर्य के मध्य-स्थान में तथा एक सीध में आकर सूर्यको मानो आच्छन्न कर डालता है या मेघ आकर सूर्य को मानो ढक लेता है अथवा पूर्णिमा की रात को जब सूर्य और चंद्र पृथ्वी की विपरीत किशा में आ जाते हैं तो सूर्य के तीव्र प्रकाश से पृथ्वी की छाया चंद्र पर गिरती है तब लोग समझते हैं कि सूर्य या चंद्र पर कालिमा लिप्त हुई है, उसी प्रकार जो मूढ़ व्यक्ति इस आत्मा को बद्ध की तरह समझता है, वह सदा-उपलब्धि-स्वरूप आत्मा ही मैं हूँ (घनच्छन्न-दृष्टिर्घन-च्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढ़ः। तथा बद्धवद्माति यो मूढ़दृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहम् आत्मा —हस्तामलक १२)।

आशय यह है कि चंद्र या मेघ स्वयंप्रकाश सूर्य को आच्छादित नहीं कर सकता, उसी प्रकार स्वयं-प्रकाश सच्चिदानंद आत्मा को कोई चिंता या विषय आवृत नहीं रख सकता। इसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म में मायाकल्पित विश्व की कोई भी छाया नहीं पड़ सकती।

लक्ष्य होने पर भी लक्ष्यत्व गुण या धर्म अकल्पितत्व के समान ब्रह्म में नहीं लगता।

अकल्मष (वि०) पाप-रहित, दोष-शून्य, बेदाग (उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्--गीता ६।२७)।

अकल्माष (वि०) पाप-रहित, वेदाग।

अकल्माषः (पुं०) चतुर्थ मनु के पुत्र।

अकल्य (वि०) अस्वस्थ, रुग्ण (अकल्यो न रतिं गतः; अचतुर, सत्य)।

अकल्याण (वि०) असुंदर, अशुभ (अकल्याणमिदं-सर्वं तव शीलं विलोकये)।

अकल्याणम् (न०) विपत्ति, संकट, दुर्भाग्य।

अकव (वि०) अवर्णनीय; घृणा के अयोग्य, अकृपण।

अकवि (वि०) निर्बुद्धि, नासमझ, मूर्ख, जो कवि नहीं है (नाकविः काव्यकर्ता स्यात्)।

अकस्मात् (अव्य) संयोगवश, दैवयोग से, सहसा, एकाएक (अकस्मादेव तन्वङ्गी जहास यदिमं पुरः)।

अकाट्य (वि०) न खंडन करने योग्य, उत्तर देने के अयोग्य, निश्चित (अकाट्या ह तब सन्ति यैः सिद्धयति जगत्प्रभुः)।

अकाण्ड (वि०) कांण्ड-रहित, तना-रहित, डंठल-विहीन, अनवसर (अकाण्डे तत्कस्माद्विहितमदुयेक्षार्पयसि माम्)।

अकाण्डजात (वि०) सहसा उत्पन्न अथवा उत्पन्न किया हुआ (अकाण्डजातस्तव दोषसञ्चयः)।

अकाण्डताण्डवम् (न०) विद्या का असंगत प्रकाश, गर्व, घमंण्ड।

अकाण्डपातः (पुं०) अभावनीय घटना, (अकाण्ड-पातोपनता कं न लक्ष्मी विमोहेत्—कथासरित ५।२)।

अकाण्डपातजात (वि०) जन्म लेते ही मर जानेवाला।

अकाण्डशूलम् (न०) एकाएक तीव्र वेदना, वायु-गोले का सहसा उत्पन्न होनेवाला दर्द (पीड़ितोऽकाण्ड-शूलेन रतिं नाप्नोति कुत्रचित्)।

अकाण्डे (अव्य०) विना-कारण, अकस्मात्, अभावनीय रूप से, अस्थान में।

अकातर (वि०) जो कातर या खिन्न न हो, उत्साह-शील (अकातरः क्वापि विभेति नायम्)।

अकाम (वि०) कामना-रहित, इच्छा-शून्य (अकामस्य क्रिया कच्चिद् दृश्यते नैव कुत्रचित्—मनु० २।४); अबोध, अतर्कित।

अकामककर्शनः [वेद] (वि०) इच्छा व्यर्थ न करनेवाला (शिक्षानर प्रदीवो अकामकर्शनः—ऋ० सं० १।५३।२)।

अकामतः (क्रि० वि०) विना इच्छा के, विना प्रयोजन के, विवश होकर, अज्ञानवश।

अकामता (स्त्री०) कामना-राहित्य, इच्छा-शून्यता, मन में काम भाव का न होना (कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता—मनु० २।२)।

काम का चिह्न है मछली। इसी कारण कामदेव "मीनकेतन" कहे गये हैं। मछली चिह्न का तात्पर्य है कि काम या इच्छाएँ मछलितों के समान हैं। बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। इसी तरह बड़ी इच्छा छोटी इच्छाओं को दबा लेती है।

छोटे काम मदन को महाकामेश्वर शिवजी ने भस्म कर डाला अर्थात् दबा लिया था। अकाम का अर्थ यह

नहीं कि जिसमें कोई काम ही न हो। उत्तम कामना तो अच्छी ही है, कुत्सित क्षुद्र काम ही त्याज्य हैं, सर्वथा अकाम होना सम्भव नहीं है।

संसार में कामना-रहित व्यक्ति में कोई भी क्रिया नहीं दिखाई पड़ती, क्योंकि किसी व्यक्ति में जो भी क्रिया होती है उसके मूल में कामना की प्रेरणा अवश्य रहती है।

काम के दो वर्ग हैं—सत्काम और असत्काम। असत्काम के वर्जन में शास्त्र का जैसा आग्रह है, उसी प्रकार सत् काम के संग्रह में भी है। गीता में भगवान् ने कहा है कि धर्म से अविरुद्ध काम मेरा ही स्वरूप है (धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ—७।११)। शुद्ध संकल्प से उत्पन्न कामना धर्म का मूल है।

काम के विहित, अविहित और निषिद्ध ये तीन वर्ग हैं। उनमें प्रथम तो अत्यंत ही आवश्यक है, बल्कि इसका त्याग ही दूषणीय है। दूसरा ऐच्छिक है, फिर भी धर्म में इसका विलय हो सकता है। तीसरा तो सर्वथा वर्जनीय ही है। यदि निषिद्ध कामनाओं का पूर्ण परित्याग हो, तभी शास्त्र-प्रतिपादित अकामता सिद्ध होती है।

वेदांतमत में आत्मा ही कामना-रहित है। इस कारण यथार्थ अकामता आत्मा का ही स्वरूप है। मन कामनाओं का स्वरूप है। जब तक उसका स्वरूप है तब तक कामना नहीं छूटती (कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव—बृहदारण्यक ११५।३)।

इस कारण मन में पूर्णतया अकायता नहीं रह सकती। अतः शुभ कामना ही ग्राह्य है।

अकामहत (वि०) जो कामना द्वारा हत या व्यथित न हो, इच्छा-मुक्त, इच्छा में असंलग्न (श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य)।

अकामिन् (वि०) अकामी, इच्छा-रहित, काम न करनेवाला (नाकामी कुरुते किञ्चित्)।

अकाय (वि०) शरीर-रहित, विना शरीर का (स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्—ईशोप ७)।

अकायः (पुं०) राहु, ईश्वर की एक उपाधि (अकायमव्रणम्—ईशोप ७)

अकार (वि०) कार्य न करनेवाला, क्रिया-रहित।

अकारः (पुं०) अ यह अक्षर (अक्षराणामकारोऽस्मि—गीता १०।३३)।

अकारण (वि०) हेतु-रहित, स्वतः उत्पन्न (न कार्यं स्यादकारणम्)।

अकारणम् (न) कारण का अभाव। (क्रि० वि०) विना कारण के (अकारणात्पृच्छति नैव बुद्धिमान्—भारद्वाज नीति ३।१०८)।

अकारणात्, अकारणम्, अकारणे (क्रि० वि०)–बिना कारण, निरर्थक (किमकारणैव दर्शनं विलपन्त्यैरतये न दीयते —कुमार ४।७। अकारण-परित्यक्ता माता पित्रोर्गुरोस्तथा-मनु० ३।१५७। किमकारणे कुप्यसि, अकारणे आत्मानमायासयसि-रत्नावली २)।

अकारणोत्पन्न (वि०) विना कारण उत्पन्न या विना कारण आ पड़ने या होनेवाला (अकारणोत्पन्नमिदं भयं तव)।

अकारिन् (वि०) अक्रिय, न करनेवाला।

अकार्णवेष्टकिक (वि०) कर्णफूल के अयोग्य, कर्णफूल होते हुए भी सुन्दर न दिखाई पड़ने वाला।

अकार्पण्य (वि०) कृपणता-रहित, उदार, हिंसा-स्वीकार न करके प्राप्त (अकार्पण्यमशनम्—भर्तृहरि ३।५१)।

अकार्य (वि०) अकृत, अनुचित (अकार्यं नैव कुर्वीत कार्यं नैव परित्यजेत्)।

अकार्यकारिन् (वि०) निकृष्ट कार्य करने वाला, कर्तव्य-विमुख (प्रायश्चित्तेन शुद्ध्येयुस्ते सर्वेऽकार्यकारिणः)।

अकार्यम् (न०) अनुचित कर्म, अपराध (अकार्यं कुरुते कस्मात् कस्मात्त्वं सेतुदूषकम्)।

अकार्ष्ण्यम् (न०) श्यामता का अभाव (अकार्ष्ण्यमेव सर्वेषामृतूनां श्रुतिचोदनात्)।

अकालः (पुं०) अशुभ समय, अनुपयुक्त समय (वृथा वादस्य नो वाञ्छा तस्या कालोन साम्प्रतम्)।

अकालकुसुमम् (न०) अकालपुष्पम् (न०)—असमय में फूलनेवाला पुष्प (रम्यश्चाकालकुसुमं भयायैव प्रजायते)।

अकालकूष्माण्डः (पुं०) विना मौसम का उत्पन्न होने वाला कुम्हड़ा (अकालकूष्माण्ड इवास्ति तेऽयं समागमो दुःखसमष्टिहेतुः)।

असमय में उत्पन्न कूष्मांड या पेठा (जो हानिकारक है)। धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी ने अकाल में कूष्मांड के आकार के एक मांसपिण्ड का प्रसव किया था। उससे दुर्योधनादि शत पुत्रों का जन्म हुआ।

कालान्तर में उन पुत्रों से कुरुकुल का ध्वंस हुआ। इस कारण वर्तमान समय में कोई किसी प्रकार का कुल-नाशक कार्य करे तो लोग उसे अकालकूष्मांड कहते हैं।

अकालज (वि०), अकालजात (वि०)—कुसमय में उत्पन्न (अकालजानां दन्तानां शान्तिं कुर्याद् विचक्षणः); कालज्ञान-रहित, शुभाशुभ-काल पर ध्यान न देनेवाला (अत्यारूढ़ो हि नारीणामकालजो मनोभवः—रघुवंश—१२।३३)।

अकालजलदः (पुं०) असमय का मेघ। कवि राज-शेखर के प्रपितामह।

अकालजलदोदयः (पुं०), अकालमेघोदयः (पुं०)—असमय में बादलों का उभड़ना, पाला, कुहासा, कुहरा (अकालजलदोदयेऽध्ययनरोध एवेष्यते)। एकाएक कोई लाभ मिल जाय या प्रियजन का आगमन हो तो इस शब्द का प्रयोग होता है।

अकालतः (अव्य०) – बिना मौसम के (अकालतोऽपि जायन्ते भावाः सर्वैर्निमित्ततः)।

अकालप्रौढ (वि०) अल्प वय में वृद्ध-सा बर्ताव करने-वाला (अकालप्रौढ आभाति बालोऽयं सुविचक्षणः)।

अकालमृत्युः (पु०)—असामयिक मृत्यु, समय से पहले ही मरने का भाव (अकालमृत्युग्रस्तानां बुद्धिश्च परिहीयते)। मनुष्य की स्वाभाविक आयु शत वर्ष है। (शतायुर्वै पुरुषः—यजुर्वेद, माध्यन्दिन शाखा); उत्त-मोत्तम कार्य करते हुए शतवर्ष जीवित रहने की इच्छा करो (कुर्वन्नेव हि कार्याणि जिजीविषेत् शतं समाः—ईशो-पनिषद १।२)।

नचिकेता से यमराज ने कहा था—शतायु-युक्त पुत्र-पौत्र मुझसे माँग लो (शतायुषः पुत्र-पौत्रान् वृणीष्व—कठो-पनिषद १।१।२३)। ऋषि प्रार्थना करते थे कि हम लोग शत शरत्काल देखें, शत शरत्काल जीयें (पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम्—यजुर्वेद, माध्यन्दिन शाखा)।

विद्वान लोग दीर्घायु-प्राप्ति के अनेक उपाय बताया करते हैं। किंतु शास्त्रानुसार ब्रह्मचर्य की रक्षा ही पूर्णायु-प्राप्ति का प्रधान उपाय है। शरीर के जीवनदायक धातु शुक्र के एक विंदु के पतन से मृत्यु तथा उसके एक विंदु की रक्षा से जीवन की रक्षा होती है। शुक्र के क्षय से जितना सुख मिलता है उसकी रक्षा से उसकी अपेक्षा शत-गुण आनन्द मिल सकता है।

प्राचीनों का उपदेश है कि, वेदाभ्यास न करने से, आचार का वर्जन करने से, आलस्य-परायण होने से तथा अन्नदोष से मृत्यु ब्राह्मणों की हत्या कर डालती है (अनभ्यासेन वेदानां आचारस्य च वर्जनात्। आलस्याद् अन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति—मनुस्मृति ५।४)।

वेदाभ्यास करने के लिए ब्राह्ममुहूर्त में उठ कर नदी, तालाब, झरने या कुएँ में स्नान करना होता है, जिससे स्वास्थ्य ठीक रहता है। दीर्घ स्वर से वेदमंत्रों का घण्टों तक उच्चारण करते रहने से प्राणायाम का फल मिलता है। प्राण का आयाम या विस्तार होते रहने से दीर्घायु प्राप्त होतो है (ऋषयोदीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुयुः—संध्याविधि)। आजकल वेदाभ्यास कदाचित् ही कोई करता है। अल्पायु होने का यह भी एक कारण है। प्रायः लोग बिछौने से देर में उठते हैं। बिछौने में रहते ही चाय पी लेते हैं। उससे उत्तेजना तो मिलती है, किन्तु उसमें कुछ निकोटिन विष दिया जाता है, जिससे थोड़ा नशा होता है। नशा उतर जाने से शरीर और मन में अवसाद आ जाता है। प्रतिदिन इस प्रकार का अवसाद मृत्यु को निकट बुला लेता है। आचार-विचार तो आजकल प्रायः उठ ही गये हैं। अखाद्य भोजन, होटलों में खाना, मदिरा-सेवन, परायी स्त्रियों को कारण दृष्टि से देखना आदि भी अकालमृत्यु के कारण हैं। स्त्रियों के प्रति कुदृष्टिपात करने से मन में कामभाव उत्पन्न होता है, जिससे भीतर ही भीतर शुक्रक्षरण हो जाता है, जो रात्रि में स्वप्न के साथ शरीर से निकल जाता है, जिससे रोग होता है। तथा असमय में जीवननाश हो जाता है।

महर्षि मनु का उपदेश है—पति केवल निज पत्नी के ऋतुकाल में ही गर्भाधान करे, तथा अपनी पत्नी में निरत रहे तो वह किसी भी आश्रम में क्यों न रहे ब्रह्मचारी ही है (ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा। ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्—मनुसंहिता ३।४५—५०)। मनु का और भी उपदेश है कि व्यर्थ शुक्रक्षय करने से ब्रह्महत्या का पाप लगता है (व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्या-मवाप्नुयात्)। निरर्थक शरीर के जीवन-दायक मूल धातु का क्षय करने से शरीर रुग्ण होता है और थोड़े समय के अनंतर मृत्यु आ जाती है। ऐसे व्यक्तियों को आत्मघातक कहना चाहिये।

ब्राह्मण आदि उच्च वर्ग के लोग शारीरिक परिश्रम करना नहीं चाहते। उनकी धारणा है कि परिश्रम तो निम्न वर्ग के लोगों का काम है। रूस देश के किसान १२८ वर्ष की उमर में भी दिन भर खेतों में काम करते हैं। भगवान ने सूर्य दिया है—काम करो, सूर्य हटा लिया तो विश्राम लो, सो जाओ—यही प्रकृति का इशारा है, किंतु आजकल लोग बिजली बत्ती जला कर, रातभर मशीन चलाकर, स्वास्थ्य खोकर आधी उमर होते न होते यमराज के मेहमान बन जाते हैं। परिश्रमी संयमी व्यक्ति पूर्ण १०० वर्षों की आयु प्राप्त कर सकते हैं। आलसी व्यक्ति का शरीर परिपाक-शक्ति की कमी से थोड़े ही दिनों में नष्ट हो जाता है। अन्नदोष का कुपरिणाम ऊपर बताया गया है।

मनु का और भी एक उपदेश है कि वृद्धों को प्रतिदिन प्रणाम तथा सेवा करने से आयु, विद्या, यश तथा बल इन चारों की अत्यन्त वृद्धि होती है (अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि संप्रवर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम्—२।१२१)।

वृद्ध लोग जीवन-दर्शन तथा प्रकृति-पर्यवेक्षण से जो ज्ञान प्राप्त करते हैं उसकी तुलना आजकल की विद्या से नहीं हो सकती। युवक और प्रौढ़ वृद्धों को प्रतिदिन प्रणाम करें, उनके पास बैठें, उनकी थोड़ी-बहुत सेवा करें और उनके उपदेश से जीवन संयत कर लें तो शत वर्ष नीरोग रह कर जी सकते हैं। उससे और भी लाभ होगा—ज्ञान, यश, बल आदि भी बढ़ेंगे, जीवन सुखी होगा।

हमारे यहाँ प्राचीन नियम था कि उमर पचास वर्ष होने पर वन चले जायँ (पञ्चाशोर्ध्वं वनं व्रजेत्—हारीत-संहिता)। इसी का नाम वानप्रस्थ आश्रम है। पुत्रों पर भार्या को सौंप कर वन चले जायँ या उसे साथ लेते जायँ (पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा—हारीत संहिता)। पत्नी को साथ ले जाने से आराम रहता है, किन्तु रहे भाई-बहन के समान। इससे सौ वर्षों तक ऋषि लोग जीवित रहते थे।

उन दिनों गाँवों में भिक्षा मिलती थी किन्तु आजकल वैसा वनवास सम्भव नहीं है। पचास वर्ष उमर हो जाने पर मनुष्य अपने को सम्हाल लेवें। शरीर का स्वाभाविक क्षय आरम्भ हो गया है इसे जान कर भोग से निवृत्त हो जायँ। पचास वर्षों के बाद भी यदि कोई मनुष्य समझे कि मैं अभी युवक हूँ, समर्थ हूँ और शरीर के क्षय को न रोके तो थोड़े दिनों तक ही वह जीवित रह सकता है। इसी उमर से वह संयत हो जाय तो उसका शरीर सौ वर्षों तक रह सकता है।

ऐसी अवस्था में मृत्यु होने पर उसे असामयिक मृत्यु या अकालमृत्यु कहते हैं।

आचार्य शंकर लिख गये हैं कि—सुख के लिए मनुष्य रामाभोग करता है, बाद में शरीर में रोग उत्पन्न होता है; यद्यपि संसार में मरण ही शरण है तथापि वह पापाचरण नहीं छोड़ता। (सुखतः क्रियते रामाभोगः पश्चाद्धन्तःशरीरे रोगः। यद्यपि लोके मरणं शरणं तदपि न मुञ्चति पापाचरणम्—चर्पटपंजरिकास्तोत्रम् १५)।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है कि "दिन की मोहिनी, रात की बाघिनी झलक झलक लोहू चोसे। दुनिया लोग सब बौरा होके घर घर बा घनी पोसे।"

एक भावुक कवि ने लिखा है कि 'स्त्रीयन्त्रं केन लोके विषममृतमयं धर्मनाशाय सृष्टम्?' हृद्यंत्र जैसे हृदय है वैसे ही यहाँ स्त्रीयंत्र का अर्थ स्त्री का शरीर है। उसका आशय है कि इस संसार में स्त्री को किसने बनाया, जो है विष, किन्तु लगती है अमृत के समान और वह धर्म का नाश करने वाली है। वह केवल धर्म का ही नाश नहीं करती बल्कि मनुष्यों के शरीरों का भी, जिससे वे अल्पायु हो जाते हैं।

भोगसुख की कामना से जब मन में कुभाव उत्पन्न होता है तो उसी समय स्तोत्रपाठ करके या भजन गाकर उस कुवासना को भगा देना चाहिए। विद्यारण्य मुनि ने पञ्चदशी-ग्रन्थ में लिखा है—दीर्घप्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते। कुछ लोग ऊँचे स्वर से रामनाम या हरिनाम का कीर्तन करते हैं। किसी बड़े वृक्ष पर अनेक छोटी-बड़ी चिड़ियाँ चहचहाती रहती हैं। उस समय यदि कोई नीचे से एक बन्दूक की आवाज करता है तो सारी चिड़ियाँ उड़ जाती हैं। उसी प्रकार मन की काम वासना को उड़ा देने के लिए प्रणव मंत्र ओंकार का दीर्घ उच्चारण करके उस मनोराज्य पर विजय प्राप्त कर लेना चाहिए।

अपनी या परायी नारियों की भोगचिंता मन में न लायी जाय। यदि वैसी चिन्ता मन में उत्पन्न हो तो उस समय ऊँचे स्वर से संस्कृत स्तोत्र पढ़े जायँ या संगीत का

एक पद गाया जाय या रामचरितमानस से कोई दोहा या चौपाई दीर्घ स्वर से या सुरिली रागिणी से गायी जाय तो वह कुचिन्ता उड़ जायगी।

वैद्यक शास्त्र में १०१ प्रकार की मृत्युओं का विवरण दिया गया है। एक को काल-मृत्यु माना गया है, बाकी सौ को अकाल-मृत्यु बतायी गयी है (एकोत्तरं-मृत्युशतं अर्थवाणः प्रचक्षते। एकः कालेन संयुक्तः शेषास्त्वागन्तवः स्मृताः--चरकसंहिता)। इसका तात्पर्य यह है कि यदि काल में ही मृत्यु हो सकती है बिना काल के नहीं, यह सिद्धांत मान लिया जावे तो चिकित्सा इत्यादि आत्मरक्षण के सभी उपाय व्यर्थ हो जायेंगे। ऐसी दशा में आत्मानं सततं रक्षेत् इत्यादि शास्त्र असंगत हो जायेंगे। इसलिए यह निश्चित किया गया कि जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः -(गीता २।२७) इस सिद्धांत से एक कालमृत्यु तो निश्चित रूप से अनिवार्य माननी पड़ेगी। जिसका कोई प्रतिकार नहीं हो सकता। शेष सौ प्रकार की अकाल मृत्युओं का परिहार पुरुषार्थ के बल से किया जा सकता है।

दूसरी ओर विना काल के मृत्यु हो ही नहीं सकती और काल आ जाने पर किसी तरह प्राणी बच भी नहीं सकता (नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि। कुशाग्रेणापि सन्दष्टः प्राप्तकालो न जीवति--नीतिसंदर्भः)। इस विचारधारा के अनुसार सभी मृत्युएँ कालमृत्यु ही हैं, वस्तुतः कोई अकालमृत्यु नहीं है। इस पक्ष में अकाल मृत्युओं को पारिभाषिक रूप देना पड़ेगा अर्थात् यदि अमुक-अमुक कारणों से मृत्यु हो तो उसे अकाल-मृत्यु कहा जायेगा। जैसे—आँखवाले व्यक्ति भी बुद्धिहीन होने के कारण पारिभाषिक रूप में अन्धा कहा जाता है। इसी प्रकार अल्प अवस्था में आकस्मिक घटना से हुई मृत्यु को "अकाल-मृत्यु" कहा जाता है। वस्तुतः वह मृत्यु भी कालजनित ही होती है। प्रबल पुरुषार्थ से प्रारब्ध-जनित मृत्यु भी टाली जा सकती है। ५० वर्ष वयस पूर्ण होने पर मनुष्य यदि दृढ़ संकल्प करे कि 'मैं शरीर का एक बिन्दु शुक्र भी नष्ट नहीं करूँगा, क्षण भर के लिए भी मन में भोगचिंता नहीं लाऊँगा स्वल्प भोजन करूँगा, स्त्रियों को माता के समान समझूँगा, शक्ति के अनुसार शारीरिक परिश्रम करके शरीर को सबल और समर्थ रखूँगा और इन्हीं उपायों से नीरोग रहकर शत वर्ष जीवित रहूँगा'—तो यही प्रबल पुरुषार्थ होगा। ऐसे व्यक्ति की कभी अकालमृत्यु नहीं होगी।

शिवसंहिता में लिखा है कि एक बिन्दु शुक्र गिर जाने से मृत्यु और उसे शरीर में धारण करने से जीवन है (मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्)। मन में भोग की चिन्ता आते ही शरीर के भीतर शुक्रक्षरण होता है। कालांतर में वह स्वप्नदोष के साथ या मूत्र के साथ बाहर निकल जाता है। वृद्धावस्था में परिपाकशक्ति घट जाती है। इस कारण भोजन का परिमाण भी क्रमशः घटा देना चाहिए। उससे शरीर स्वस्थ रहता है। वृद्धावस्था में अधिक भोजन करने से वह पूर्णतया हजम नहीं होता, फलस्वरूप अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं तथा रोगों के आक्रमण से थोड़े दिनों में ही शरीर नष्ट हो जाता है (वार्धक्ये भ्रमणं पथ्यं रात्रौ तु लघुभोजनम्)। केवल विवाहित पत्नी ही स्त्री है, उससे भिन्न सभी स्त्रियाँ जगदम्बा के अंश मानी जाती हैं। हमारे समाज में कुमारी कन्या की दुर्गा रूप से तथा सधवा स्त्रियों को जगदम्बा रूप से पूजा करने की विधि है। दुर्गासप्तसती में लिखा है—संसार की सभी स्त्रियाँ माँ भगवती दुर्गा की मूर्तियाँ हैं (स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु--उत्तम चरित्र ११।६) विधवा संन्यासिनी हैं, वे त्याग की मूर्तियाँ हैं। उनको देखकर सत्पुरुषों का सिर अपने आप झुक जाता है। प्रतिदिन नियमित परिश्रम स्वास्थ्य-रक्षा का उत्तम उपाय है। ये सभी प्रबल पुरुषार्थ हैं।

अकालवेला (स्त्री०) असमय, अनुचित समय (अकालवेलासु वृथा तवोद्यमः)।

अकालसह (वि०) विलम्ब सहन करने में असहिष्णु, अधीर (अकालसह एवायमधीरो दुष्टचेष्टितः)।

अकालहीनम् (अव्य०) समय नष्ट किये विना, तुरंत, शीघ्रता से (अकालहीनं कर्त्तव्यं स्वं धियायाग्र्यया)।

अकालिकम् (अव्य०) शीघ्रता से, तुरंत (अकालिकं तवाह्वानं श्वश्रुवान्स समागतः)।

अकालोत्पन्न (वि०) कुसमय में उत्पन्न, अकालज (अकालोत्पन्नशस्यानां रहस्यं वेद कर्षकः)।

अकाल्य (वि०) बिना ऋतु का, असमय का (अकाल्या अपि दृश्यन्ते पदार्थाः क्वापि सङ्गताः)।

अकासारः (पुं०) एक प्राचीन अध्यापक का नाम।

अकिञ्चन (वि०)-- (न + किञ्चन) जिसके पास कुछ भी न हो, दरिद्र, निर्धन, गरीब (अकिञ्चनोऽहं भगवन् सर्वस्वं तु त्वमेव मे)। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि—"हम लोग अकिंचन हैं, हे प्रभु, आप अकिंचनों से ही प्रेम रखते हैं और अकिंचन ही आपसे प्रेम रखते हैं" इससे सूचित होता है कि—अकिंचन भाव एक बहुत ऊँची भूमिका है। इसका तात्पर्य यह है कि अनुभविता एममात्र अखंड आत्मा ही है, उसके अनुभव में अनुभूयमान विश्व-प्रपच्च उन्हीं का स्वरूप है, उससे अलग नहीं है (अद्वैतवादः देखिए)। जिसको इस प्रकार की आत्मानुभूति हो, वह अपने से अतिरिक्त किसी भी तत्त्वांतर को पृथक् न देखने के कारण अखंड आत्मरति-सम्पन्न हो जाता है। ऐसे व्यक्ति ही "अकिंचन" भूमिका को प्राप्त करते हैं। श्रुति में लिखा है कि यदि आत्मा को कोई व्यक्ति 'यह आत्मा ही मैं हूँ' इस प्रकार जान सके तो वह किस चीज की आकांक्षा करके किसके लिए शरीर के पीछे दौड़कर दुःखी होगा ? (आत्मानं चेद् विजानीयाद् अयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कश्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत्-) बृहदारण्यक ४।४।१२)।

अकिञ्चनता (स्त्री०), अकिञ्चनत्वम् (न०)--दरिद्रता, धनहीनता, निर्धनता (अकिञ्चनतया नैव दूयतेऽसौ महाशयः)।

अकिञ्चनिमन् (पुं०) अत्यंत दरिद्रता, अतिनिर्धनता)।

अकिञ्चिज्ज्ञ (वि०)--कुछ भी न जानने वाला, बिलकुल अबोध, मूर्ख (अकिञ्चिज्ज्ञोऽभिमनुते सर्वज्ञमिव सः स्वयम्)।

अकिञ्चित्कर (वि०)--जो कुछ भी न कर सके, असमर्थ, अशक्त, तुच्छ, व्यर्थ, निरपराध (अकिञ्चित्कारासङ्गोऽसौ निम्नगः परिहीयते)।

अकितवः (पुं०)—वह व्यक्ति जो जूआ न खेलता हो (दण्डितः साहचर्य्येण स्वयं त्वकितवो ह्यसौ , ।

अकिल्विष (वि०)--पाप-रहित, दोष-रहित (अकिल्विषमिदं कर्म कुर्वतां दुःखनाशनम्)।

अकीर्ति (स्त्री०)कीर्ति का अभाव, निंदा, कुख्याति, बदनामी (अकीर्तिर्महती जाता जनेषु तव तापस)। निंदा करने से अपनी हानि होती है, क्योंकि निंदा की गंदी बातों का स्मरण किये बिना उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उनका स्मरण करते ही अपने मन में वे गंदे भाव छा जाते हैं। इससे निंदा करने वाला पापी बन जाता है। इसके विपरीत प्रशंसा करने वाले के मन में उत्तम गुण भर जाते हैं और वह पुण्यात्मा बन जाता है। इस कारण निंदा करने वाले की अकीर्ति और प्रशंसा करने वाले की कीर्ति फैलती है। फलस्वरूप निंदक दुःख भोगता है और प्रशंसक सुख प्राप्त करता है (सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः-पंच.)। सात्त्विक पुण्य कर्म प्रशंसा से सुख तथा राजसिक पाप कर्म से दुःख होता है। दुःख कोई नहीं चाहता, परंतु बुद्धि के दोष से अल्प बुद्धि वाले निंदा आदि अपकर्म करके दुःख भोगते हैं। उसके विपरीत उत्तम बुद्धि वाले प्रशंसा आदि पुण्य कर्म करके सुख पाते हैं (निंदा, प्रशंसा देखिए)।

अकीर्तिकर (वि०) निंदाजनक, अकीर्ति फैलाने वाला। महाभारत युद्ध के आरंभ में कृष्ण को सारथि बनाकर अर्जुन रणक्षेत्र में आ खड़े हुए। दोनों पक्षों के अनेक स्वजन-बांधवों को देखकर उनके ऊपर अस्त्रक्षेप करने में अनिच्छुक होकर अर्जुन ने कहा—"स्वजन-बांधवों को मारकर राज्य पाने की अपेक्षा भिक्षा-भोजन करने को मैं अच्छा समझता हूँ।" इसके उत्तर में कृष्ण ने सोचा कि यदि अर्जुन युद्ध न करे तो अधर्म का क्षय तथा धर्म की जय नहीं होगी। इस कारण उन्होंने अर्जुन से कहा—"हे अर्जुन, इस विषम संकट के समय तुम में ऐसी अनार्यजन-जैसी पाप-बुद्धि कहाँ से उत्पन्न हुई ? (कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमें समुपस्थितम्। अनार्यु ष्टम् अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरम् अर्जुन-२।२)।

अकुण्ठ (वि०) तीक्ष्ण, नुकीला, जो भोथरा न हो, जो तीव्र, अवाधित निःशंक (अकुण्ठं सर्वकार्येषु धर्मकार्यार्यम् उद्यतम्—धर्मकल्पद्रुम, अर्थात् धार्मिक कार्य में निःशंक भाव से उद्यम करना चाहिए।

अकुण्ठधिष्ण्यः (पुं०) स्वर्ग (अकुण्ठधिष्ण्यं संगतो- महात्मा)।

अकुण्ठित (वि०) अकुंठ (अकुण्ठितोऽसौ तपसि प्रवर्त्तते)।

अकुतः (अव्य०) जो कहीं से न हो सके (अकुतोऽपि धनागमः)।

अकुतश्चलः (पुं०) शिव जी का एक नाम।

अकुतम् (अ०) कहीं से नहीं।

अकुत्रम् (अव्य०) [वेद] कहीं-कहीं (अकुत्रं साम्प्रतं वर्षम्)।

अकुतोभय (वि०) जिसे किसी का भय न हो, सुरक्षित, किसी से भय न पानेवाला, विपद से न डरनेवाला, किसी दिशा से भय प्राप्त न होनेवाला (मादृशानमपि अकुतोभयः संचारो जातः—उत्तररामचरित २।

अकुत्सित (वि०) जो कुत्सित या भद्दा न हो (अकुत्सितं कर्मणि यः प्रवर्तते)।

अकुध्र्यञ्च (वि०) उद्देश्यहीन, लक्ष्यविहीन (अकुध्र्यञ्चतो भ्रमत्ययम्)।

अकुप्यकम् (न०) स्वर्ण, रजत, चाँदी (अकुप्यकं धनमस्ति तव कर)।

अकुप्यम् (न०) स्वर्ण, सोना, चाँदी (कुरूनकुप्यं वसुवासवोपमः—किरातः २ सर्ग)।

अकुमार (वि०) जो कुमार या बालक न हो (अकुमारः कुमाराणां चेष्टा वृद्धः करोत्यसौ)।

अकुल (वि०) जो उत्तम वंश का न हो, निम्न श्रेणी का (अकुलानामयं वेषः कुलीनेन त्वया धृतः)।

अकुलः (पुं०) शिव (अकुलो भगवान् शिवः)। तंत्रशास्त्र में "सुषुम्नामार्गः कुलम्, अकुलं तदुपरिस्थ" कहा गया है। शरीर में ७२ हजार नाड़ियों का समूह है। उनमें इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना प्रधान हैं। बायीं नासिका से चलनेवाली श्वासगति को इड़ा (चंद्रनाड़ी) कहते हैं। इसी तरह दाहिनी श्वास-गति पिंगला से चलती है। जब दोनों ओर से समान गति हो तो उसे 'सुषुम्ना'-स्वर जानना चाहिये।

नाक से आरम्भ करके पीठ के मेरुदण्ड के मूलस्थान तक जाकर इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियाँ सुषुम्ना में बिलीन हो जाती हैं। अन्य नाड़ियों में और इड़ा पिंगला में जो भी प्राणस्वर चलता है, उसी से बाह्य अनुभव होता है। जब साधना द्वारा मन और प्राण अन्य नाड़ियों से संयत होकर सुषुम्ना-मार्ग में अग्रसर होते हैं, तब दिव्य शक्तियों का साक्षात्कार होता है।

सुषुम्ना के मूल में एक चतुर्दल कमल है, उसका नाम मूलाधार या कामपीठ है, उसके ऊपर योनिस्थान में षड्दल स्वाधिष्ठान चक्र है। नाभि की सीध पर मणिपूर चक्र, हृदय में अनाहत चक्र एवं कण्ठ में विशुद्ध चक्र, भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र है। इन छहों चक्रों तक सुषुम्ना है। उसे ही कुलमार्ग कहते हैं। इसी का नाम शक्ति है। इसके बाद सहस्रदल सहस्रार ब्रह्मरंध्र में है। इसे अकुल कहते हैं। यह शिव है (न कुलं कुलमित्याहुः कुलं ब्रह्म सनातनम्)।

इन षट्चक्रों में स्थित कमलों का ध्यान करना होता है। उससे चित्त स्थिर होता है। प्रथम मूलाधार से क्रमशः ऊपर उठना चाहिए। नाभि से ऊपर चित्त स्थिर हो जाय और ऊपर सहस्रार में जाकर ठहर जाय तो चित्त नीचे कामस्थान में नहीं उतरेगा। फलस्वरूप मन में कामभाव आ ही नहीं सकेगा। षट्चक्रों की कल्पना और उनमें चित्त स्थिर करने का एक उद्देश्य यही कामनिवृत्ति है।

अकुलता (स्त्री०) कुल की निम्नता, वंश की तुच्छता (गोपयत्यकुलतां स जनानाम्)।

अकुलम् (पुं०) शिव का एक नाम (अकुलं शिव इत्युक्तः कुलं शक्तिः प्रकीर्तिता)।

अकुला (स्त्री०) पार्वती का एक नाम।

अकुलीन (वि०) जो अच्छे कुल या वंश का न हो (अकुलीनो न पूज्यः स्यात् कुलकार्ये समुद्यते)।

अकुशल (वि०) अनिपुण, अशुभ, निकृष्ट, भाग्यहीन (अकुशलोऽसि न वेत्सि निजं जनम्)।

अकुशलम् (न०) बुराई, निकृष्ट शब्द, अमंगल, पाप। बौद्ध धर्मग्रंथों में १० प्रकार के पापों का वर्णन मिलता है। जैसे—प्राणातिपात (हत्या), अदत्तादान (चोरी), काम, मिथ्याचार, मृषावाद, पैशुन्य, पारुष्य, संभिन्न-प्रलाप, अभिध्या, व्यापाद (मिथ्या दृष्टि)।

अकुशलमूलम् (न०) [बौद्ध] पाप के ३ कारण जैसे—लोभ, दोष (क्रोध) और मोह।

अकुसीद (वि०) व्याज न लेने वाला, विना लाभ का (अकुसीदधनं दद्यात् को वणिक् त्वां विना प्रभो)।

अकुसुम (वि०) पुष्प-रहित, जिसमें फूल न हो (अकुसुमास्तरवः तव गेहे)।

अकुह (वि०) धोखा न देनेवाला, अप्रवञ्चक (अकुहः साधुरसावनाहृतः)।

अकूज (वि०) मौन (तमकूजमभिज्ञाय जनौघं सर्वशस्तदा—महाभारत १।१२६।२०)।

अकूट (वि०) छलरहित, कपटहीन, जो असत्य न हो (अकूटं तव चेष्टितं मम ल्लशाले)।

अकूपार, अकूवार (वि०) असीम, सीमारहित (अकूपारे निमग्नोऽसौ सङ्कटे न समुद्धृतः सन्)।

अकूपारः (पुं०) समुद्र, कच्छप, सूर्य, वह बड़ा कच्छप जिसकी पीठ पर पृथ्वी स्थित मानी जाती हैं (अकूपारं गिरिं कृत्वा कूपारं मथितुं स्थिराः)।

अकूपारः [वेद०] (पुं०) आदित्य, समुद्र, कच्छप (अकूपारस्य रावने—ऋ० सं० ४।२।१०।२)।

अकूर्च (वि०) कपट-रहित, चातुर्य-विहीन; दाढ़ी-मूँछ-रहित (अकूर्चं एव बालोऽयम्): एक बुद्ध का नाम।

अकृच्छ्र (वि०) कष्ट-रहित, कठिनता-रहित, सरल (अकृच्छ्रमेतन्मत्कार्यम्)।

अकृच्छ्रम् (न०) कठिनाई का अभाव, सरलता (अकृच्छ्रमनुभूतवान्)।

अकृत (वि०) जो किया न गया हो, अनुत्पन्न, जो तैयार न किया गया हो, गलत ढंग से किया हुआ, अपूर्ण, अरचित, अपरिपक्व।

आकृतः (पुं०)—मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण (परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन—मण्डूक्य० १।२।१२)। संसार में सभी पदार्थ कृत यानी उत्पन्न हैं। एकमात्र ब्रह्मस्वरूप मुक्ति ही अकृत है, जिसे किसी भी कर्म, उपासना, योग या तप से प्राप्त नहीं किया जा सकता। केवल आत्मज्ञान से स्वतः सिद्ध उस स्वरूप को जान लिया जाता है।

अकृतक्षेत्रम् नं०—कृषि के अयोग्य क्षेत्र या भूमि।

अकृतज्ञ (वि०)—जो किये उपकार को न माने, जो कृतज्ञ न हो। (अकृतज्ञोपकारेण सज्जनोऽप्यवसीदति)।

अकृतज्ञता (स्त्री०)—उपकार न मानना, कृतघ्नता (तवेयमकृतज्ञता सदसि नैव संशोभते)।

अकृतबुद्धि (वि०) असंस्कृत बुद्धिवाला, जिसकी बुद्धि शास्त्राध्ययन तथा गुरूपदेश श्रवण से परिशुद्ध न हुई हो। स्वभाव से ही मनुष्य की बुद्धि अशुद्ध रहती है। काम, क्रोध, मिथ्या, चोरी आदि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं। ये आसुरी सम्पद् है। इनसे मनुष्यों को दुःख ही होता है। बड़ों के उपदेश से जो अपनी बुद्धि को सुसंस्कृत अर्थात् शुद्ध कर लेते हैं, संसार में उन्हीं का मान होता है, यथेष्ट धन जन प्राप्त कर वे सुखी हो सकते हैं।

अकृतबुद्धि थी—रावण की, दुर्योधन की, कंस की तथा नेपोलियन, हिटलर की। उनकी दुर्गति का इतिहास सबके सामने है। आज एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के विरुद्ध अपनी अकृतबुद्धि का जो उद्‌गार करते जा रहे हैं उससे सारा संसार भयभीत हो रहा है। इसका परिणाम महा भयंकर हो सकता है। राष्ट्रनायक लोग दूसरों को हानि पहुँचाने की इच्छा को त्याग दें, अपने में संतुष्ट रहें तो संसार की शांति बनी रहेगी।

इस शरीर में आत्मा अकर्ता है। अशुद्ध बुद्धि वाले इसे नहीं जानते। इसी कारण उनकी दुर्गति होती है।

अकृतबुद्धित्वम् (न०) अज्ञानता, मूर्खता (पश्यत्कृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः—गीता १८।१६)।

अकृतम् (न०) किसी काम को न करने का भाव (अकृतं कृतमाप्याहुः)।

अकृतव्रणः (पुं०) पुराणों के एक टीकाकार का नाम।

अकृता (स्त्री०) पुत्री होने पर भी जो पुत्रवत् मानी जाय (अकृतामुद्वहनः प्राज्ञो न कथञ्चन शोचति)।

अकृतात्मन् (वि०) अकृतबुद्धि, अज्ञानी, आत्मज्ञान-रहित, अबोध, परब्रह्म से अपने को भिन्न मानने वाला (अकृतात्मा न सिद्धयति), अशुद्ध चित्त वाला, जिसने चित्तशुद्धि न की हो। चित्त अंतःकरण का एक नाम है। अंतःकरण की ४ वृत्तियाँ हैं—संकल्पात्मक मन, निश्चयात्मिका बुद्धि, स्मरणात्मक चित्त तथा अभिमानात्मक अहंकार। चित्त अंतःकरण की एक वृत्ति होने पर भी मन, बुद्धि या चित्त शब्द से समूचा अंतःकरण ही समझा जाता है।

अंतःकरण ज्ञान-स्वरूप है। इसमें केवल ज्ञान ही होता है (कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा ह्रीः धीः भीः इत्येतत् सर्वं मन एव—बृहदारण्यक १।५।३)। ज्ञान-स्वरूप अंतःकरण में मलिनता अज्ञान की है। उस मलिनता को दूर कर उसे शुद्ध बनाने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। वह ज्ञान भी व्यावहारिक विषयों का नहीं। आत्मज्ञान ही चित्तशुद्धि के लिए एकमात्र साधन है। सभी विषयों

का ज्ञान मलिन है। मिट्टी के बर्तन में सौ बार मिट्टी का लेप चढ़ाने पर भी वह अपने मृत्तिका का स्वरूप नहीं छोड़ता, उसी प्रकार चित्त में सहस्रों प्रकार के विषयों का ज्ञान चढ़ाने पर भी वह मन अपना स्वरूप नहीं बदलेगा।

सर्वव्यापक सच्चिदानंद आत्मा का प्रतिबिंब पड़ने से अंतःकरण चेतन की तरह हो जाता है, जिससे वह सारे विषयों को जानता है। विषय जड़ हैं, उनका ज्ञान भी जड़ात्मक ही है, उससे अंतःकरण की मलिनता नहीं हट सकती। दर्पण में सूर्य का प्रकाश लेकर उसे अँधेरे कमरे में छोड़ने से कुछ अँधेरा स्थान प्रकाशित हो जाता है। इसी प्रकार अंतःकरण चेतन आत्मा का प्रतिबिंब पाकर विषयों को प्रकाशित कर सकता है। जिस प्रकार दर्पणस्थ सूर्य-प्रतिबिंब सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता, बल्कि स्वयं-प्रकाश सूर्य की ओर देखते ही वह उस महाप्रकाश में अभिभूत यानी लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार अंतःकरण भीतर की ओर आत्मा को देखने की चेष्टा करते ही स्वयं-प्रकाश आत्मा में वह लुप्त हो जाता है। माया-कल्पित सारे विषय अंतःकरण से हट जाने पर वही अवस्था चित्त की शुद्धि मानी जाती है। जो इस प्रकार के आत्मज्ञान से चित्त को विषय-रहित निर्मल नहीं बनाता वही अकृतात्मा है। वह कभी आत्मज्ञान के द्वारा परमानंद नहीं प्राप्त कर सकता (यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः—गीता १५।११)।

अकृताभ्यागमः (पुं०)—अकृत कर्म की फलप्राप्ति। दार्शनिक विचार में यह एक दोष है। अकृत कर्म का भोग हो जाय तो उसे 'अकृताभ्यागम' दोष कहते हैं। सृष्टि-प्रवाह अनादि होने के कारण परमेश्वर पर इस दोष का आरोपण नहीं किया जा सकता, अन्यथा—जीव के प्रथम निष्कारण फलभोग के लिए कौन प्रष्टव्य है?

कृतनाश वा कृतप्रणाश के सहित इसकी पारिभाषिक प्रतिद्वंद्विता है (पूर्वजन्मन्यसत्येतत् जन्म सम्पद्यते कथम्। भाविजन्मन्यसत् कर्म न भुञ्जीतेह सञ्चितम्—पंचदशी० ३।४)।

अकृतकर्मों का आगमन अर्थात् जो कर्म किये नहीं गये हैं, उनका फल-भोग होना असम्भव है। मनुष्य जो कर्म करता है चित्त में उसकी छाप पड़ जाती है। इसी को कर्मसंस्कार कहते हैं। इन कर्म-संस्कारों के अनुसार जीव सुख-दुःख भोगता है। क्योंकि कर्म समाप्त होते ही नष्ट हो जाता है, परंतु चित्त में संस्कार रह जाते हैं और उन्हीं कर्म-संस्कारों से फलभोग होता है। प्रत्यक्ष संसार में प्रायः देखा जाता है कि बड़े आदमी के घर में कोई लड़का उत्पन्न हुआ और वह बहुत ही यत्न से पाला जाने तथा आराम से जीवन बिताने लगा। दूसरी ओर किसी दरिद्र के घर में कोई लड़का पैदा हुआ और बहुत ही कष्ट से पाला जाने तथा अत्यंत दुःख से जीवन बिताने लगा। कुछ लोगों की धारणा है, यदि जीवात्मा का यही प्रथम जन्म माना जाय और पूर्व जन्म न हो तो उन दोनों बालकों के सुख और दुःख भोग के कारण रूप अकृत शुभ और अशुभ कर्मों का अभ्यागम रूप दोष आ जाता है (सांशस्य घटवन्नाशो भवत्येव तथा सति। कृतनाशाकृताभ्यागमयोः को वारको भवेत्—पञ्चदशी ६।८५)। पूर्व-जन्मकृत शुभाशुभ कर्मों को कारण मानने से उस दोष का परिहार यानी निरसन हो सकता है। किंतु कुछ वैदांतिक मायाकल्पित संसार में पूर्व जन्म नहीं मानते (जन्मान्तरम् देखिए)। जहाँ प्रसंगवश जन्मांतर की बात कही गयी है वहाँ लोगों को असत् मार्ग से सत् मार्ग में लाने के लिए वह अर्थवाद मात्र है (अज्ञजनप्रबोधाय प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः—अपरोक्षानुभूति ७२)

अकृतार्थ (वि०) कृतार्थ न होने वाला, असफल (मामदृष्ट्वा गतः स्वर्गमकृतार्थः पतञ्जलिः—वाक्यप्रदीप)।

अकृतास्त्र (वि०) जिसे हथियार चलाने का अभ्यास न हो (अकृतास्त्रः न योधितः)।

अकृतिन् (वि०) कार्य के लिए अयोग्य, अनिपुण (अकृती न नियुज्यते)।

अकृतैनस् (वि०) पाप-रहित, अपराध-शून्य, निर्दोष, साधु।

अकृतोद्वाह (वि०) जिसका विवाह न हुआ हो, अविवाहित, कुँवारा (अहमप्यकृतोद्वाहस्तवयोग्योऽस्मि कन्यके)।

अकृत्त (वि०) न कटा हुआ, ह्रास अप्राप्त, अकलुषित।

अकृत्तरुच् (वि०) जिसकी ज्योति न घटी हो।

अकृत्य (वि०) करने के अयोग्य, अपराधी, (अकृत्येन न सम्भवेत्)।

अकृत्यः (पुं०) गुप्तचर के द्वारा प्रलोभित करने पर भी जो व्यक्ति शत्रुपक्ष में योगदान नहीं करता।

अकृत्यकारिन् (वि०) निकृष्ट कर्म करनेवाला (अकृत्यकारी सततं विनिन्द्यते)।

अकृत्यम् (न०) अपराध, पाप (अकृत्यं कृतवान्मूढः)।

अकृत्रिम (वि०) जो बनावटी न हो (अकृत्रिमं ते सौन्दर्यम्)।

अकृत्वा (अव्य०) न करके (अकृत्वा परसतापमगत्वा खलसंगतिम्—उद्धव ६७)।

अकृत्स्न (वि०) अपूर्ण, अधूरा (अकृत्स्नं पीतवान् पयः)। जो सर्वत्र व्याप्त न हो, ब्रह्मशक्ति माया ब्रह्म के एक देश में प्रकट होती है (एकदेशता देखिए), (चैतन्ये विमले पूर्णे कस्मिन् देशेऽणुमात्रकमज्ञानमुदितं सत्त्वं चैतन्यस्फूर्तिमाश्रितम्—शान्तिगीता ७।१५)। न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा किंन्त्वेकदेशभाक्। घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्तते–पञ्चदशी २।५४)।

अकृत्स्नवित् (वि०) समस्त न जाननेवाला, थोड़ा जानने वाला, अल्पज्ञ।

प्रायः सभी मनुष्य अपने आसपास की थोड़ी सी वस्तुओं का ही ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। केवल आत्मज्ञ ही कृत्स्नवित् हैं। जिस प्रकार एक मिट्टी के ढेले का तत्त्व जानने वाला मृत्तिका-निर्मित अनेक प्रकार के बर्तनों का तत्त्व जान जाता है, जिस प्रकार एक स्वर्ण-कुंडल का तत्त्व जानने वाला अगणित स्वर्णालंकारों का स्वरूप जान जाता है, जिस प्रकार एक नखकृंतन (नहरनी) का तत्त्व जानने से करोड़ों प्रकार के लौहास्त्रों का तत्त्व जाना जाता है उसी प्रकार एक आत्मा का तत्त्व जाननेवाला संसार के सारे पदार्थों के स्वरूप से अवगत हो जाता है (यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। यथा सोम्यैकेन लौहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्। यथा सौम्यैकेन नखकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्याद्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवं, सौम्य स आदेशो भवतीति—छांदोग्य० ६।१।४-५-६)।

सब प्रकार के बर्तनों, अलंकारों और अस्त्र-शस्त्रों का तत्त्व जान लेने पर भी उनके लिए किस देश में क्या क्या नाम और रूप हैं उनका ज्ञान बाकी ही रह जाता है। परंतु नाम और रूप का तो त्रिकाल में ही अभाव है (नामन् तथा रूपम् देखिए)। घट के टूट जाने पर उसके नाम और रूप का लोप हो जाता है। यदि नाम या रूप कोई भी वस्तु होती तो घट के टूट जाने पर भी वे अनुभूत होते। वैसे ही वस्त्र से सूत निकाल लेने पर अथवा वस्त्र के जल जाने पर उसके नाम और रूप भी लुप्त हो जाते हैं। अतः मिथ्या नामों तथा रूपों का ज्ञान न होने पर भी तत्त्ववित् या कृत्स्नवित् होने में कोई बाधा नहीं है।

एक दूसरे प्रकार से भी इस विषय को समझा जा सकता है संसार को ५ भागों में बाँटा गया है—सत्, चित्, आनंद, नाम और रूप (अस्ति भाति प्रियं नाम रूपं पंचात्मकं जगत्। आद्यत्रयं ब्रह्म नाम जगद्रूपमतो द्वयम् शिवगीता १५।३५)। इनमें प्रथम ३ तो ब्रह्म या आत्मा का स्वरूप है और बाकी दोनों जगत् का रूप है।

संसार में सभी वस्तुओं की सत्ता स्वीकार की गयी है। चित् अर्थात् प्रकाश भी सब में है ही। सूर्य, अग्नि आदि स्वयं-प्रकाश-स्वरूप हैं, मिट्टी, पत्थर आदि भी प्रकाश द्वारा प्रकाशित होते हैं, इनमें स्वरूपतः प्रकाश न होने पर भी प्रकाश्य होने की योग्यता है। आनंद भी सर्वत्र व्याप्त है। मनुष्य की इंद्रियों की शक्ति अल्प होने के कारण हर वस्तु से वह आनंद नहीं ग्रहण कर सकता। विष्ठा मूत्र आदि शरीर से त्यक्त वस्तुओं से मनुष्य आनंद का ग्रहण नहीं कर सकता। परंतु कुकुर, सूअर आदि पशु-योनियाँ उन्हीं से आनंद की प्राप्ति कर लेती हैं। लुटेरे को देखकर पथिक के प्राण उड़ने लग जाते हैं। परंतु वह जब पथिक को लूटकर घर पहुँचता है तो बहुत से सामान देखकर उसके कुटुंबी बहुत ही आनंदित हो जाते हैं।

अतः निष्कर्ष यह निकला कि सब स्थानों से आनंद की उपलब्धि न होने पर भी आनंद तो सर्वत्र ही व्यापक रूप से बिराजमान है। ये तीनों भाव आत्मा के स्वरूप हैं। बाकी रह गये नाम और रूप, जिनका त्रिकाल में अभाव है। इसी भाव को लक्ष्य कर श्रुति कहती है—(सर्वं खल्विदं ब्रह्म—छान्दोग्य० ३।१४।१) अर्थात् सभी ब्रह्ममय हैं। इस प्रमाण से आत्मज्ञ कृत्स्नवित् हैं। उनसे अन्य अकृत्स्नवित् ही हैं।

विभिन्न प्रकार के उपासक भी अकृत्स्नवित् हैं, क्योंकि एक इष्ट का उपासक दूसरे का सारा रहस्य नहीं समझ पाता, किंतु ब्रह्मवित् सारे प्रपंच को माया-कल्पित मिथ्या समझते हैं। मिथ्या वस्तुओं का भेद जानना अनावश्यक है। इस कारण ऐसे पुरुष कृत्स्नवित् कहलाते हैं। गीता का उपदेश है—कृत्स्नवित् ज्ञानी मन्दबुद्धि अकृत्स्नवितों को विचलित न करें—प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु। तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्। गीता० ३।२६)।

इस श्लोक का आशय यह है कि, जो अज्ञजन प्रकृति के गुणत्रय के परिणाम रूप देह-इंद्रियादि तथा उनके कर्म-भोगादि में आसक्त है, उसे एकाएक ज्ञानोपदेश द्वारा मुक्त करना संभव नहीं है। जब वह भोग के परिणाम-भंग स्वरूप को जान कर उससे वैराग्य प्राप्त कर लेता है, तभी आत्मज्ञान का उपदेश देने से उसका उपकार हो सकता है (संसारानलसन्तप्तो दीप्तशिरा जलराशिमिव श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसृत्य तमनुसरति। स गुरुः परमकृपया अध्यारोपापवादन्यायेनैनम् उपदिशति—वेदान्तसार ३१।३२)। परंतु कर्मासक्त व्यक्ति को तत्त्वज्ञान का उपदेश न दिया जाय तो वह जीवन भर अज्ञान-पंक में ही निमज्जित रह जायगा। यदि धीरे-धीरे उपदेश देकर उसकी बुद्धि को परिमार्जित किया जाय तो इस जीवन में ही वह ज्ञानालोक प्राप्त करके सारे शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्त होकर जीवन्मुक्त बन सकेगा (बुद्धिभेदः देखिए)।

अकृप (वि०) दया-विहीन, कृपा न करने वाला (अकृपोऽतिनृशंसः सः)।

अकृपण (वि०) जो कृपण न हो, दानशील, उदार, खर्चीला (प्राप्याप्यकृपणां मतिम्)।

अकृश (वि०) जो क्षीण या दुर्बल न हो (अकृशा सबला नारी)।

अकृशलक्ष्मी (वि०) सम्पूर्ण समृद्धि का आनंद लेनेवाला (सततमकृशलक्ष्मीर्मोदते साधुसङ्गे)।

अकृशलक्ष्मीः (स्त्री०) विपुल समृद्धि।

अकृशाश्वः (पुं०) अयोध्या के एक राजा का नाम।

अकृषीवल (वि०) जो कृषि संबंधी न हो, या जो कृषि न करता हो (अकालेऽपि न दूयन्ते ये जनास्त्वकृषीवलाः)।

अकृष्ट (वि०) जो जोती न गयी हो (भूमि), जो कर्षित न की गयी हो (अकृष्टं सर्वतः क्षेत्रम्)।

अकृष्टपच्य (वि०) जो अनजुती भूमि में उत्पन्न हुआ है या जंगल या बंजर में उत्पन्न है।

अकृष्टपच्या (स्त्री०) कर्षण बिना किये उत्पन्न अन्न; जल आदि उत्पन्न करनेवाली मृत्तिका; अत्यंत उर्वर भूमि।

अकृष्टरोहिन् (वि०) बिना जुती भूमि में उत्पन्न, अकृष्टपच्य (बीजं च बालेयमकृष्टरोही—रघु० १४।७७)।

अकृष्ण (वि०) श्वेत, जो काला न हो; पवित्र।

अकृष्णः (पुं०) निष्कलंक चंद्र (चन्द्रमा वै ब्रह्माऽकृष्णम्—श्रुति); कपूर।

अकृष्णकर्मन् (वि०) अपराधरहित, दोषमुक्त (अकृष्णकर्मा जन एव सेव्यः)।

अकेतन (वि०) निकेतन-रहित, गृह-विहीन (अकेतनोऽयमवधूतवर्यः)।

अकेतु (वि०) आकार-रहित, रूप-हीन, ध्वजा-हीन (अकेतु नैवाद्य रथेन जातः)।

अकेन्द्रित (वि०) जो केन्द्रस्थ न हो, केन्द्र से हटा हुआ।

अकेश (वि०) केश-रहित, गंजा (अकेशोमुण्डनाजातः)।

अकोटः (पुं०) सुपारी का वृक्ष (अकोटा परिदृष्टवान्)।

अकोपन (वि०) जो क्रोधी न हो, अनुत्तेजक, अक्रोधित (सचिवाः स्युरकोपनाः)।

अकोविद (वि०) अपंडित, अज्ञानी, मूर्ख।

अकौशलम् (न०) अनिपुणता (अकौशलं ते परिलक्षितं मया)।

अक्कः (पुं०) मकान का कोना (अक्के चेत् मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्!)।

अक्का (स्त्री०) माँ, जननी (अक्कोत्सङ्गे संचरन्नेष बालः)।

अक्त (वि०) मालिश किया हुआ; जोड़ा हुआ, संलग्न, बाहर तक विस्तृत, पोता हुआ, लिपा हुआ, कर्दमाक्त (हिक्का श्वासातुरे पूर्वं तैलाक्ते स्वेद इष्यते—चक्रदत)।

अक्तम् (न०) तैल, मलहम (अक्तं निदध्याद् व्रणिते स्वगात्रे)।

अक्ता (स्त्री०) रात्रि, निशि (अक्ताधुनापि न क्षीणा)।

अक्तुः (पुं०) रश्मि, प्रकाश, श्यामता, रात्रि, रात (अक्तूनां वर्धनं ऋतुम्)।

अक्नोपन (न०) जो आर्द्र न हो, शुष्क (अक्नोपननिभं मार्गम्)।

अक्र (वि०) अक्रिय, अचेष्ट (अक्रा एतेऽलसाः खलाः)।

अक्रः (पुं०) किला, दुर्ग, प्राकार।

अक्रः [वेद] (पुं०) आक्रामक, आक्रमण करने वाला (अक्रो न बभ्रिः समिथे महीनाम् –(ऋ० २।८।१५।२)।

अक्रतु (वि०) शक्तिरहित, इच्छारहित, कामनारहित, यज्ञरहित (तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादात्महिमानमात्मनः––कठोपनि १।२।२०)।

अक्रम (वि०) गड़बड़, अव्यवस्थित (अक्रमं स समाधत्ते)।

अक्रविहस्त (वि०) जिसकी मुटठी बंधी न हो (विहस्तोऽक्रविहस्तोऽयम्)।

अक्रव्याद् (वि०) जो कच्चा मांस न खाता हो (अक्रव्यादस्ति मानुषः)।

अक्रान्त (वि०) जो जीता न गया हो; जो द्विगुण न हो (अक्रान्तो धूतासिद्धोऽसौ)।

अक्रान्तता (स्त्री०) बैगन का पौधा, बृहती।

अक्रिय (वि०) निश्चेष्ट, क्रिया न करने वाला, शास्त्रीय कर्म न करने वाला, अपुण्यवान।

अक्रिया (स्त्री०) निश्चेष्टता, कर्तव्य-विमुखता।

अक्रियावादः (पुं०) एक बुद्धपूर्व दार्शनिक मत। बुद्ध के पूर्व इस मत का भारत में खूब प्रचार था। इसके अनुसार कोई कर्म, क्रिया या प्रयत्न आवश्यक नहीं है। बौद्धाचार्यों ने इस मत का खंडन किया है। इस मत के मानने वाले आलसी होते थे, जिससे समाज का कोई उपकार नहीं होता था। भाग्य पर भरोसा करके बैठे रहने से बहुतों को भोजन ही नहीं मिलता था। इसी प्रकार से बहुतों की मृत्यु भी हो जाती थी।

हाथ से पकड़कर खाद्य वस्तु मुँह में डालना तथा चबाकर गले के नीचे उतारना भी तो प्रयत्न ही है। सोये हुए सिंह के मुख में हरिण स्वेच्छा से नहीं प्रविष्ट होते (न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः–हितोपदेश)। उद्योगी पुरुष ही धन और सुख प्राप्त करते हैं। कायर लोग ही कहते हैं कि भाग्य ही सब कुछ देता है (उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः। दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति–हितोपदेश)।

इस कारण अक्रियावाद का खंडन बुद्धिमान मनुष्यों ने कर दिया है। जो साधक भगवद्-भजन में सलग्न रहते हैं और जो ज्ञानी पुरुष पुस्तकादि के लिखने या वैज्ञानिक आविष्कार करने में निरंतर प्रयत्न करते हैं उनके योगक्षेम का प्रबंध अंतःशक्ति की प्रेरणा से मनुष्यों के द्वारा हो जाता है (तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्—गीता ९।२२)। यहाँ अहं शब्द से अंतर्यामी अंतःशक्ति ही ग्रहणीय है।

अक्रीडत् (वि०) न खेलने वाला।

अक्रुः [वेद] (स्त्री०) रात्रि (विशामक्रोरुषसः पर्वहूतौ–ऋग्वेद ५।४।६।२)।

अक्रूर (वि०) जो क्रूर न हो, जो निर्दयी न हो, दयालु (अक्रूरः पुरुषो धन्यः)।

अक्रूरः (पुं०) एक यादव का नाम जो श्रीकृष्ण के चाचा थे।

यदुवंश में श्वफल्क के द्वारा काशीराज की कन्या गांदिनी के गर्भ से इसका जन्म हुआ था। इसके पिता श्वफल्क अत्यंत पुण्यात्मा व्यक्ति थे। किसी समय काशीराज के राज्य में सूखा और अकाल पड़ा था। श्वफल्क के वहाँ पहुँचते ही सुवृष्टि हुई तथा अकाल दूर हुआ। उसके पश्चात् काशीराज ने प्रसन्न होकर अपनी कन्या गांदिनी का श्वफल्क के साथ विवाह कर दिया। इसी दम्पति से अक्रूर का जन्म हुआ था।

इसी कारण अक्रूर को श्वाफल्कि और गांदिनी-नंदन भी कहते हैं। बचपन में अक्रूर कंस के यहाँ रहता था, वहीं रहकर उसने अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर ब्रह्मविद्या प्राप्त की। कंस ने श्रीकृष्ण और बलराम का वध करने के लिए धनुर्यज्ञ का अनुष्ठान किया। अक्रूर कृष्ण-बलराम को लाने के लिए कंस के द्वारा वृन्दावन भेजा गया। इसने सारी घटना का वर्णन करके कंस के अत्याचारों से यादवों की रक्षा करने के लिए श्रीकृष्ण से प्रार्थना की। इसके अनंतर श्रीकृष्ण के द्वारा कंस मारा गया।

एक समय पांडवों के प्रति धृतराष्ट्र का मनोभाव कैसा है, इसे जानने के लिए श्रीकृष्ण ने अक्रूर को

हस्तिनापुर भेजा। कृष्ण की पत्नी सत्यभामा के पिता सत्रजित के पास स्यमंतक नामक एक बहुमूल्य रत्न था। शतधन्वा नामक एक बलवान व्यक्ति ने सत्रजित को मारकर उस रत्न को हस्तगत कर लिया। श्रीकृष्ण के द्वारा उत्पीड़ित होकर शतधन्वा उस रत्न को अक्रूर के हाथ में देकर भाग गया। अक्रूर ने वह रत्न अपने वस्त्रों में छिपा रखा था। प्रसिद्धि है कि उस स्यमंतक रत्न से प्रतिदिन बहुत सा सोना निकलता था।

गांदिनी-पुत्र अक्रूर उस सोने से अनेक प्रकार के यज्ञ, दान, आदि करके बहुत यशस्वी हुआ था। स्यमंतक मणि अक्रूर के पास है ऐसा संदेह होने पर श्रीकृष्ण ने कौशल से प्रश्न किया। धार्मिक अक्रूर ने सत्य घटना बता दी। तब अक्रूर ने उस रत्न को लेने के लिए श्रीकृष्ण से आग्रह किया। परन्तु श्रीकृष्ण ने उसे न लेकर उन्हीं को उसका अधिकारी बनाया। वृद्धावस्था में यदुवंश के साथ अक्रूर का भी विनाश हो गया।

अक्रूरता (स्त्री०) निष्ठुरता का विपरीत भाव, प्रेम का व्यवहार।

अक्रोध वि०—क्रोध से मुक्त, अकोपन, शांतचित्त।

अक्रोधः (पुं०) क्रोधाभाव, मन का सदा शांत भाव। क्रोध क्रोध को खींचता है। उससे विरोध बढ़ता है, जिसका परिणाम बहुत भयंकर हो सकता है। जो क्रोध पर क्रोध नहीं करता जीत उसी की रहती है। तमो गुण को दबाने के लिए रजोगुण की आवश्यकता हो सकती है, परंतु रजोगुणी क्रोध को दबाने के लिए सत्त्वगुणी शांत वृत्ति ही समर्थ है (अक्रोधेन जयेत् क्रोधं, असाधुं साधुना जयेत्। जयेत् कदर्यं दानेन, जयेत् सत्येन चानृतम्—महाभारत उद्योगपर्व ३६।७३)।

बौद्ध धम्मपद में इसी का ठीक अनुवाद मिलता है, जैसे—अक्रोधेन जिने क्रोधं असाधुं साधुना जिने। जिने कदरियं दानेन सच्चेनालोकवादिनं—२२३।

क्रोध रजोगुण का धर्म है (काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः—गीता ३।३७)। यह आसुरी सम्पद् है, (दंभोदर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च। अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्— गीता १६।४)। काम, क्रोध, लोभ आदि आसुरी सम्पद् दुःख अर्थात् नरक के द्वार हैं (त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत् त्रयं त्यजेत्--गीता १६।२१)। अतः क्रोध का परित्याग करके बुद्धिमान् मनुष्य को अक्रोधी हो जाना चाहिए। सत्त्व गुण के धर्म हैं—ज्ञान, प्रकाश, शांति, क्षमा, सुखच्छा आदि दैवीसम्पत्। शास्त्रों का उपदेश है कि रजोगुणी क्रोध को शांत करने के लिए सत्त्वगुणी शांति, क्षमा, उदारता आदि गुण अत्यंत आवश्यक हैं। क्रोधित व्यक्ति के सामने क्रोध करने पर मार-पीट, नालिश-मुकद्दमा, धननाश आदि की अशांति उत्पन्न होती है। इस कारण ज्ञानी व्यक्ति क्रोधित व्यक्ति के सामने अक्रोध का अवलम्बन करे।

दुर्योधन आदि कौरवों के अनेक अत्याचारों को सहने पर भी युधिष्ठिर ने कभी क्रोध नहीं किया। फलस्वरूप कौरवों का विनाश हुआ और युधिष्ठिर आदि पाण्डवों को पुनः अपना साम्राज्य मिल गया। अधर्म के द्वारा आरंभ में कुछ उन्नति दिखाई पड़ने पर भी परिणाम में विनाश अवश्यम्भावी है (अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नान् जयति समूलन्तु विनश्यति—मनु० ४।१७४)। अधर्म से प्रारंभ में मनुष्य की उन्नति होती है, उसके अनंतर उसे मंगल और सुख मिलता है, इसके पश्चात् वह शत्रुओं पर भी विजय प्राप्त कर लेता है किन्तु अंत में उसका समूल विनाश हो जाता है। दृष्टांत हैं—दशानन, कंस, शिशुपाल, दुर्योधन, औरंगजेब, नेपोलियन, हिटलर आदि।

अतः सुख चाहने वाले विचारवान् पुरुष क्रोधित व्यक्ति के सामने निंदित, तिरस्कृत, प्रहृत होने पर भी अक्रोध के द्वारा मन की शांति बनाये रखें। (क्रोधः देखिए)।

अक्रोधन (वि०) क्रोध से मुक्त, अकोपन, अक्रोधी।

अक्रोधनः (पुं०) अयुतायु का पुत्र, इस नाम का एक राजा।

अक्रोधमय (वि०) क्रोध से मुक्त, जिसे कभी क्रोध न हो (अक्रोधमयमानसोऽयमार्यः-सूतसांहता) जिसका मन अक्रोधमय है वही आर्य है।

अक्लान्तः (पुं०) क्लान्ति से मुक्त व्यक्ति, न थकने वाला मनुष्य।

अक्लिका (स्त्री०) नील का पौधा।

अक्लिन्न (वि०) न भींगा हुआ, सूखा।

अक्लिन्नवर्त्मन् (न०) चक्षु का एक रोग; जो मार्ग भींगा न हो।

अक्लिष्ट (वि०) अक्लेशित, क्लेश-रहित, न घबराया हुआ, अचञ्चल, स्थिरचित्तवाला।

अक्लिष्टकर्मन्, अक्लिष्टकारिन् (वि०) काम से न थकने वाला, क्लेशजनक कर्म न करने वाला (अक्लिष्टकर्मा परिपूज्यते जनैः); तत्त्वज्ञ होते हुए भी लोकसंग्रहमात्र के लिए शास्त्रोक्त कर्मों में पूर्ण तत्पर रहनेवाला। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं। अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा मानना अविद्या है। द्रष्टा एवं दृष्टि-शक्ति का अविवेक अस्मिता है। सुख के प्रति झुकाव राग है। दुःख से भागना द्वेष है। दोषज्ञान होते हुए भी अनुचित की ओर आग्रह ही अभिनिवेश है। इन पाँचों के प्रभाव से अप्रभावित होते हुए स्वकर्मनिष्ठ रहने वाला व्यक्ति अक्लिष्टकर्मा कहा जाता है।

अक्लिष्टवर्ण (वि०) न घबराया हुआ, स्पष्ट (अक्लिष्टवर्णा गमनाम्यनुज्ञां—कादम्बरी २६३); स्पष्ट शर्त युक्त, जिसका रंग उड़ न जाता हो।

अक्लिष्टवृत्तिः (स्त्री०) साधु चिंता, सद्विचार, शुभ इच्छा, कल्याण-भावना, उत्तम संकल्प आत्मचिंता, जिस मनोवृत्ति से कभी क्लेश नहीं होता, दैवी सम्पद्।

चित्त नदी के समान सदा प्रवाहित होता रहता है—कल्याण (पुण्य) की ओर तथा अकल्याण (पाप) की ओर (चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी—बहति कल्याणाय, वहति पापाय च—योगसूत्र व्यासभाष्य १।१२)। सुखजनक अक्लिष्ट वृत्तियाँ ये हैं—अक्रोध, अचापल्य (चंचलताराहित्य, स्थैर्य, धैर्य), अदंभित्व (घमंड न करना), अद्रोह (किसी पर भी शत्रुभाव का न होना) अध्यात्मज्ञान (शरीर, इंद्रिय, मन, प्राण आदि के अतिरिक्त केवल आत्मा को 'मैं हूँ' इस प्रकार ज्ञान), अनभिष्वंग (ममता का न होना), अनहंकार (अभिमान न करना), अपैशुन्य (किसी का भी दोष न देखना और निंदादि न करना), अभय (भयशून्यता), अमानित्व, (अपनी श्रेष्ठता के अभिमान का अभाव), अरति (विषयासक्त मनुष्यों के समुदाय में प्रेम का न रहना), अलोलुप्त्व (लोभ का अभाव), असक्ति (आसक्ति का न रहना, रागराहित्य), अहिंसा (शरीर मन वचन से किसी को दुःख न देना), आत्मविनिग्रह (इन्द्रिय-संयम, अपने को संयत रखना). उदारता (चित्त की महानता, उच्च विचार), उपेक्षा (दूसरे के द्वारा कृत अपकार का स्मरण न करना), करुणा (दुःखी के प्रति समवेदना या सहानुभूति), क्षमा (बदला न लेना), क्षांति (दूसरे से कष्ट पाकर चुपचाप सहन करना, सहनशीलता, तितिक्षा, सहिष्णुता), गुणग्रहण (दूसरे का केवल गुण ही देखना), जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख-दोषानुदर्शन (अपने जन्म, मृत्यु, जरा, रोग आदि में दुःख रूप दोषों का बार-बार विचार करना), तत्त्वज्ञानार्थदर्शन (तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को सर्वत्र देखना), तेज (पराक्रम, इन्द्रियों को वशीभूत रखने की शक्ति), त्याग (उत्सर्ग, स्वार्थपरता का अभाव, अपनी वस्तु पर से अधिकार हटा लेना, सांसारिक विषयों को छोड़ना), दम (इंद्रिय-संयम), दया (दुःखितों का दुःख दूर करने की प्रवृत्ति), दान, धृति (धैर्य, सन्तोष), प्रशंसा (दूसरे के गुणों का कथन), प्रफुल्लता (सदा आनंदमय भाव, प्रसन्नता), मार्दव (मृदुता, कोमलता), मैत्री (मित्रता, सुखी के साथ प्रेमभाव), मुदिता (हर्ष, पुण्यवान को देखकर प्रसन्नता), विविक्तदेशसेवित्व (एकांत-निवास), वैराग्य (भोग में अनासक्ति), शम (मन का संयम), शांति, शौच (अंतर-बाहर की पवित्रता), श्रद्धा (पूजनीयों, शास्त्रों, उपदेशों आदि पर आदर-भाव), सत्त्वसंशुद्धि (चित्तशुद्धि, मन की पवित्रता), सत्य (प्राणियों का हितकर वचन), संतोष (अदृष्टानुसार प्राप्त वस्तुओं में ही तृप्त रहने का भाव), समचित्तत्व (सुख-दुःख, मानापमान, निंदास्तुति, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों में मन का समभाव, सुख में उत्फुल्ल न होना और दुःख में उद्विग्न न होना), सरलता (निष्कपट व्यवहार), स्थैर्य (धीरता), हर्ष (आनंद), ह्री (लज्जा), आदि (उन उन शब्दों को देखिए), ये दैवी सम्पदें हैं। दैवी सम्पद् मोक्ष, दुःखों से मुक्ति अर्थात् आनंद-प्राप्ति का कारण है (दैवी सम्पद् विमोक्षाय—गीता १६।५), अतः सुख चाहने वाले बुद्धिमान् मनुष्यों को सदा इन दैवी सम्पदों को अपनाना चाहिए। इनके विपरीत क्लिष्ट वृत्तियाँ दुःख-जनक आसुरी

संपद् हैं (निबन्धायासुरी मता—गीता १६।५)। क्लिष्टवृत्तिः देखिए।

अक्लिष्टव्रत (वि०) धार्मिक प्रतिज्ञा से न डिगने वाला, धार्मिक कार्य करते हुए क्लांत न होने वाला।

अक्लीब (वि०) यथार्थ, प्रकृत, सच्चा, दीनताविहीन वचन कहने वाला (इदं वचन-मक्लीबंरामायण ७।८३।१८)।

अक्लीबम् (अव्यं निर्भयता से, न डर कर (पितुर्वचन-मक्लीबं करिष्यामि पितुर्हितम्—रामायण २।२१।३४)।

अक्लेद्य (वि०) भींगने के अयोग्य (अच्छेद्योऽय-मदाह्योऽमक्लेद्योऽशोष्य एव च—गीता २।२४)।

अक्लेश (वि०) बिना कष्ट का, सहज, सुगम।

अक्लेशः (पुं०) कष्ट से मुक्ति (अक्लेशेनैव मुच्यते)।

अक्लेशम् (न०) क्लेश-राहित्य, दुःख शून्यता।

अक्ष् (पर०) (अक्षति, अक्ष्णोति, अक्षित) पहुँचना, प्रविष्ट होना, व्याप्त होना, एकत्र होना (अक्ष्णुवन्ति जनाः सर्वे)।

अक्षः (पुं०) इन्द्रिय, धुरी, पहिया, गाड़ी, तराजू की डाँड़ी, एक कल्पित स्थिर रेखा जो पृथ्वी के भीतरी केन्द्र से होकर उसके आर-पार दोनों ध्रवों पर निकलती है और जिस पर पृथ्वी घूमती हुई मानी जाती है; चौसर का पाँसा; १६ माशे की एक तौल; रुद्राक्ष, सर्प, गरुड़ बहेड़ा, आत्मा, ज्ञान, व्यवहार, जन्मांध (अक्षो न रुपस्य विवेचकः स्यात्)।

अक्ष शब्द से प्राय श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों का बोध होता है। ये प्रायः बाहरी विषयों का ही ग्रहण करती हैं, जैसे—श्रोत्र शब्द, त्वचा स्पर्श, चक्षु रूप, जिह्वा स्वाद तथा घ्राण गन्ध ग्रहण करते हैं। ये इन्द्रियाँ कभी-कभी भीतरी विषयों का भी ग्रहण करती हैं, जैसे—कभी दोनों कान बन्द कर लेने से शरीर के आभ्यांतरिक शब्द भी कानों में सुनाई पड़ते हैं; बहुत ठंढा या बहुत गर्म जल पीते समय शरीर के भीतर ही स्पर्शानुभव होता है; आँखें मूँद लेने से भीतरी अन्धकार दिखाई पड़ता है; डकार आने पर भीतर के रस और गन्ध का अनुभव होता है (कदाचित् पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आंतरः। जलपानेऽन्नभक्षणे व्यज्यन्ते ह्यान्तरस्पर्शाः। मीलने चान्तरं तमः उद्गारे रसगन्धौ चेत्यक्षाणामान्तरग्रहः—पंचदशी (२।८।६)।

उपनिषद की वर्णना के अनुसार इन्द्रियों को बहिर्मुखी बनाकर स्वयंभु ब्रह्मा ने मानो उनकी हिंसा की है अर्थात् उनका अनिष्टसाधन किया है, इस कारण वे बाहरी विषयों को ही देखती या अनुभव करती हैं, अन्तरात्मा को नहीं देख सकतीं। किन्तु यदि कोई धीर पुरुष अमृतत्व अर्थात् परमानन्द रूप मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा से इन्द्रियों को भीतर की ओर मोड़कर मन से आत्म-चिंतन करते हैं तो वह अपने आनन्द-स्वरूप आत्मा को देख सकते हैं (पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्यात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत् आवृत्यचक्षुर-मृतत्वम् इच्छन्—कठोपनिषद २।१)।

अक्षकः (पुं०) एक वृक्ष का नाम।

अक्षकर्णः (पुं०) सर्प, समकोण त्रिभुज के सामने की भुजा।

अक्षकुशल (वि०) जूआ खेलने में निपुण (नैवाक्ष-कुशलः श्रेयान्)।

अक्षकूटः (पुं०) आँखों की पुतली, आँखों का गड्ढा।

अक्षकोविद (वि०) जूआ खेलने में प्रवीण, अक्षकुशल, एक दाव।

अक्षक्रीड़ा (स्त्री०) जुए का खेल, दाँव का खेल। संसार के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में भी इस अक्षक्रीड़ा का वर्णन पाया जाता है। एक कितब (जुआड़ी) अपनी दुर्दशा का दुःखद वर्णन करता है। जुए में हार जाने के कारण उसकी पत्नी तक धिक्कारती है (अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व—ऋग्वेद १०।३४।१३), पौराणिक युग में भी महाभारत का युद्ध अक्षक्रीड़ा का ही परिणाम था। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा काशिका में अक्षक्रीड़ा का विवरण है। पाणिनि के मत में अक्षक्रीड़ा का नाम आक्षिक है (अष्टाध्यायी ४।४।२)। भाष्यकार पतंजलि ने निपुण जुआड़ी के लिए अक्षकितब या अक्षधूर्त नाम दिया है। पाणिनि के समय अक्ष और शलाका (सलाई) से ये खेल खेले जाते थे। अर्थशास्त्र के अनुसार राजकीय द्यूताध्यक्ष जुआड़ियों को राज्य की ओर से अक्ष और शलाका दिये जाते। किसी प्राचीन काल में अक्ष शब्द बहेड़ा या विभीतक के बीज के अर्थ में प्रयुक्त होता था। परन्तु ५८ पृष्ठ

पाणिनी के अनुसार अक्ष का अर्थ चौकोनी गोटी है। इन गोटियों की संख्या तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।७।१०) और अष्टाध्यायी के कई स्थानों में पाँच बतायी गयी हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में पाँच नाम ये पाये जाते हैं—अक्षराज, कृत, त्रेता, द्वापर और कलि। काशिका-वृत्ति में इस खेल को पाञ्चिका द्यूत कहा गया है (अष्टाध्यायी २।१।१०)। अक्ष का अर्थ पाँचकी संख्या भी है।

बाजी लगा कर अक्षक्रीड़ा खेलने का नियम प्राचीन समय से ही चला आ रहा है। महाभारत के निपुण जुआड़ी शकुनि का ऐसा विचार था कि बाजी लगाने के कारण ही जुए का खेल कुख्यात हो गया। महाभारत काल में यह खेल सभा के भीतर दर्शकों के सामने खेला जाता था। अर्थशास्त्र के अनुसार जुआड़ी को अपने खेल के लिए राज्य में लाभ का अंश जमा करना पड़ता था। कहीं पाँच प्रतिशत राज्य कर दिया जाता था। मृच्छकटिक नाटक में लिखा है कि उज्जयिनी नगर में बहुत बड़े पैमाने पर द्यूत खेला जाता था।

अक्षग्लहः (पुं०) जुए या पासे का दाव।

अक्षजः (पुं०) विष्णु, विद्युत्पात, वज्र।

अक्षजम् (न०) वज्र, हीरा।

अक्षण (वि०) असामयिक, अशुभ क्षण का।

अक्षणिक (वि०) स्थिर, दृढ़, अचंचल, जो क्षणिक न हो।

अक्षण्वत् (वि०) नेत्रों वाला (अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः ऋ० १०।७१।७)।

अक्षत (वि०) जो टूटा न हो, समूचा, समस्त, साबुत।

अक्षतः (पुं०) शिव, जल से धोया हुआ चावल जो पूजन के समय देवता पर चढ़ाया जाता है, यव।

अक्षतत्त्वम् (न०) जुआ खेलने का रहस्य।

अक्षतम् (न०) अन्न, सस्य, हानि या नाश का अभाव, मंगल, कुशल (अक्षतं चारिष्टं चास्तु—श्राद्धमन्त्र); नपुंसक, क्लीव।

अक्षतयोनि (वि०) जिस कन्या का पुरुष-संसर्ग न हुआ हो। प्राचीन किन्हीं-किन्हीं धर्मशास्त्रों में अक्षतयोनि विवाहित कन्या के पुनर्विवाह का विधान है। आठ-दस वर्ष की छोटी कन्या का विवाह हुआ। द्विरागमन न होने से वह पति-गृह जा न सकी। ऐसी स्थिति में (ईश्वर न करे कि उसका पति यमपुरी सिधार बैठे) तो किसी पुनर्भव पति के साथ उसका पुनः विवाह-संस्कार हो सकता है (सा चेदक्षतयोनिः स्याद्गतप्रत्यागतापि वा। पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनःसंस्कारमर्हति—मनु० ९।१७६)। विधवा के पुनर्विवाह से उत्पन्न पुत्र पौनर्भव कहलाता है।

आजकल डाक्टरी जाँच से क्षत-योनि और अक्षत-योनि का पता लग जाता है। कुमारी कन्याओं के योनि के भीतर एक पतला परदा रहता है, उसे सतीच्छद कहते हैं। पुरुष-संसर्ग होते ही सतीच्छद फट जाता है। इसी से डाक्टर निर्णय कर लेते हैं कि कन्या का पुरुष-संबंध हुआ है या नहीं।

अक्षता (स्त्री०) कुमारी (अक्षता वा क्षतावपि); एक पौधे का नाम, कर्कटश्रृङ्गी।

अक्षत्र (वि०) क्षत्रिय-रहित (नाब्रह्मक्षत्रमृध्नोति न क्षत्रं ब्रह्म वर्धते—मनुस्मृति ९।३२२)।

अक्षदण्डः (पुं०) धुरा, चक्रदण्ड।

अक्षदर्शकः (पुं०) जुए का निरीक्षण करने वाला व्यक्ति।

अक्षदृक्कर्मन् (न०) अक्षांश की गणना।

अक्षदृश् (पुं०) विचारक, न्यायकर्ता, जुए का परिदर्शक।

अक्षदेवनम् (न०) द्यूत, जुआ।

अक्षदेविन् (वि०) जुआड़ी, द्यूतकीड़क।

अक्षद्यूतम् (न०) जुआ, जुए का खेल।

अक्षद्यूतिकम् (न०) खेल में कलह।

अक्षद्रुग्घ (वि०) जुए के खेल में हारने वाला।

अक्षधरः (पुं०) विष्णु का एक नाम, एक पौधे का नाम; चक्र, पहिया; चक्र ढोकर ले जाने वाला व्यक्ति, जुआ या पाशा रखने वाला।

अक्षधूः (पुं०) पहिये का जुआ।

अक्षधूर्त (पुं०) जुआड़ी, द्यूतक्रीड़क।

अक्षधूर्तिलः (पुं०) जुए में बँधा हुआ बैल।

अक्षन् (पुं०) अक्ष, चक्षु (भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः—ऋ० सं० १।८९।८); स्रोत्र, त्वक, जिह्वा, चक्षु, और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी अक्ष-शब्द-वाच्य हैं

(अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद्गुणदोषविचारकम्—पञ्च २।१३)। इन्द्रियों में अर्थों (विषयों) का सम्बन्ध होने पर मन भीतर से उन विषयों के गुण-दोष का विचार करता है। यही प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण है (विषयेन्द्रियसन्निकर्षजनितज्ञानं प्रत्यक्षम्—तर्कसंग्रह)।

अक्षनैपुण्यम् (न०) द्यूत विद्या में प्रवीणता।

अक्षपटलम् (न०) विचारालय, न्यायालय; गिनने वालों के उपवेशन का स्थान।

अक्षपटलाऽधिकृतः (पुं०) न्यायालय, कानूनी कागजपत्रों के रखने का भण्डार, सरकारी कागज-पत्र रखने का घर, हिसाब का कार्यालय।

अक्षपरि (अव्य०) जुए में हार जाने के ढङ्ग से दुर्भाग्यपूर्ण गुटिकापात के द्वारा (पाशकक्रीडायां यथा गुटिकापाते जयोभवति, तद्विपरीतपातः—तारानाथवाचस्पत्यम्)।

अक्षपाटः (पुं०) अखाड़ा।

अक्षपाटकः (पुं०) विचारपति, न्यायाधीश।

अक्षपातः (पुं०) पाँसा फेंकने की क्रिया या भाव।

अक्षपादः (पुं०) न्यायशास्त्रकार महर्षि गौतम। गौतम के शिष्य वेदव्यासजी ने गुरु-लिखित न्यायदर्शन-मत का खंडन कर वेदांतदर्शन लिखा। उस पर गुरु ने क्रोधित होकर 'ऐसे शिष्य का मुख नहीं देखूँगा'—इस प्रकार प्रतिज्ञा की। इसे सुनकर वेदव्यासजी ने गुरु के सामने आकर प्रणाम करते हुए कहा—"यदि मेरी गुरुभक्ति का विंदुमात्र भी प्रभाव हो तो गुरु के पदों (चरणों) में अक्ष (चक्षु) उत्पन्न हों और उन्हीं अक्षों से वह मुझे देखें।" वही हुआ। पद या चरण में अक्ष (चक्षु) उत्पन्न होने के कारण गौतम का नाम 'अक्षपाद' या 'अक्षचरण' हुआ।

महर्षि गौतम के तपःप्रभाव से उनके चरणों में अक्ष उत्पन्न हुए थे—ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं। परन्तु वह समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उससे गौतम की ही श्रेष्ठता प्रतिपादित होती है, फलस्वरूप उनका लिखा न्यायशास्त्र, वेदव्यास-लिखित वेदान्त-दर्शन से श्रेष्ठ हो जाता। परन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि वेदव्यास ने वेदांत-दर्शन के तर्कपाद में 'प्रधानमल्लनिर्वहणन्याय' से अति प्रबल सांख्य दर्शन के स्वतन्त्र प्रकृति-पुरुषवाद का खंडन करके अवहेलना के साथ कहा कि "एतेन योगः प्रत्युक्तः (२।१।३) (खण्डितः)" अर्थात् इससे योगशास्त्र का द्वैतवाद भी खण्डित हो गया (किन्तु योगशास्त्र के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूप अष्टांग योग का साधनांश खण्डित नहीं हुआ)। इसके अनन्तर अति तुच्छता के साथ गौतम-प्रणीत न्यायदर्शन और कणाद-प्रणीत वैशेषिक दर्शन के अनेकत्ववाद का उन्होंने खण्डन कर दिया। लिखा भी है कि—"कणभक्षाक्षचरणमतमवशिष्यते अर्थात् सांख्य और योग के प्रबल द्वैतवाद का खण्डन करने के बाद अब कण खानेवाले और पैर में आँख होने वाले के मत बाकी हैं। अर्थात् उनका भी खण्डन किया जाता है। यहाँ कण खाने वाले 'कणाद' अपने शिष्य से हार जाने वाले 'अक्षचरण' शब्द अति तुच्छता के द्योतक हैं। इसी से प्रमाणित होता है कि शिष्य वेदव्यास के ही प्रभाव से गुरु गौतम के पैरों में अक्ष उत्पन्न हुए थे। अर्थात् वेदव्यास की ही श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई।

यथार्थ में किसी भी मनुष्य के द्वारा अलौकिक नेत्र नहीं उत्पन्न हो सकते। यह रूपक वर्णना है। आशय यह है कि वेदांतदर्शन के विचार के द्वारा न्यायदर्शन का सिद्धान्त खण्डित हो गया (अद्वैतवादः, अर्थवादः देखिए)।

महाकवि भास के अनुसार न्यायशास्त्र के प्रणेता का नाम मेधातिथि था (प्रतिमा-नाटक पंचम अंक)। न्यायशास्त्र को गौतम-सूत्र भी कहते हैं। महाभारत (शान्ति पर्व अध्याय २६५) के अनुसार 'गौतम मेधातिथि' एक ही व्यक्ति थे (मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः)। मेधातिथि उनका नाम था। गौतम गोत्र के होने के कारण गौतम या गोतम उनकी उपाधि थी। अक्षवाद शब्द भी एक निकृष्ट उपाधि थी। न्याय-शास्त्र का दूसरा नाम आन्विक्षिकी है। ऋषि प्रणीत होने के कारण अक्षवाद-दर्शन प्राचीन समय में एक अध्यात्म विद्या थी। अर्थात् आत्मा का स्वरूप निर्णय करना ही उसका उद्देश्य था। उस युग का सिद्धान्त यह था कि जिस प्रक्रिया या साधन से आत्मज्ञान की प्राप्ति हो वही उत्तम विद्या है (यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि। सा सैव प्रक्रिया साध्वी विपरीता ततोऽन्यथा)—[पञ्चदशी ६।६०६]। परन्तु आधुनिककाल के पण्डितों ने इसे तर्कशास्त्र बना डाला है।

अक्षपीडा (स्त्री०) चक्षुपीड़ा, नेत्र की वेदना, जिह्वा की स्वाद-सिकृति (अक्षम् इन्द्रियं रसानां रूपं पीड्यति आस्वादनात्)। एक पौधे का नाम (यवतिक्ता)।

अक्षप्रिय (वि०) जुआ खेलने का शौकीन।

अक्षभागः (पुं०) वे रेखायें जो किसी मानचित्र में उत्तर से दक्षिण की ओर खींची गयी हों। उन रेखाओं का कुछ अंश।

अक्षभार (पुं०) गाड़ी का बोझ (अक्षभारोमहाज्ञातः)।

अक्षभूमिः (स्त्री०) जुआ खेलने का स्थान।

अक्षम (वि०) अशक्त, असमर्थ, अयोग्य (त्वं सर्वथैवाक्षमः कर्ता)।

अक्षमता (स्त्री०) अशक्ति, असामर्थ्य, अयोग्यता, दुर्बलता (त्वदीयाक्षमतैवास्य कार्यस्य चिरकारिणी)।

अक्षमदः (पुं०) जुआ खेलने का मद अर्थात् अत्यन्त आग्रह।

अक्षमा (स्त्री०) क्षमा का अभाव (अक्षमा भवतः केयं साधत्व-प्रकल्पने --वेदान्त परिभाषा ८७)।

अक्षमात्रम् (नं०) पाशे की गोटी की तरह कोई वस्तु, निमिष, क्षण, पल।

अक्षमाला (स्त्री०) रुद्राक्ष की माला (जपत्येषोऽक्षमालाम्)

अकार से लेकर हकारान्त पाटी वर्णमाला। (अक्षमाला वसिष्ठ जी की पत्नी थीं। कहते हैं --जन्म से ये शूद्रा थीं; परन्तु महर्षि के संसर्ग के कारण ये परम गुणवती रमणी हो गयी थीं (अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताधमयोनिजा, शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम्। मनु० ६। २३)।

अक्षम्य (वि०) क्षमा के अयोग्य (अक्षम्येऽयमनुपस्थितिस्तव)।

अक्षय (वि०) जिसका क्षय न हो, अविनश्वर, नित्य (अक्षयाः सन्ति ते केशाः)।

अक्षयः (पुं०) परमात्मा, परब्रह्म, ईश्वर।

अक्षय रावण का पुत्र जो मन्दोदरी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। हनुमान ने सीता का अन्वेषण करने के लिए लंका में प्रवेश करके सीता से परिचय किया। इसके बाद सीता के पास से अभिज्ञान प्राप्त करके लौटते समय उसने अशोक-वाटिका को नष्ट किया। तब रावण ने हनुमान का दमन करने के लिये अपने पाँच सेनापतियों का भेजा। हनुमान ने उन सबों को मार डाला। इसके बाद रावण ने अपने पुत्र अक्षय को हनुमान के साथ युद्ध करने चे लिए भेजा। अक्षय भी हनुमान के हाथ से मारा गया।

अक्षयकुमारः (पुं०) देवसेनानी स्कन्द अथवा कार्तिकेय का नाम। कृत्तिका ने उनका पालन किया था। वे महोदय के पुत्र थे। कालिदास ने "कुमारसम्भव" में पार्वती-परिणय तथा कुमारोत्पत्ति का विशद वर्णन किया है। इन्हीं के पराक्रम से देवताओं ने असुरों को पराजित किया था। मयूर इनका वाहन था। बङ्गाल में दुर्गापूजा की मूर्तियों में कार्तिकेय भी पूजे जाते हैं। कार्तिकी पूर्णिमा को कार्तिकेय की स्वतन्त्र रूप से भी पूजा होती है।

अक्षयगुणः (पुं०), अक्षयपुरुहूतः (पुं०) अक्षय-गुण-सम्पन्न शिवजी।

अक्षयतृतीया (स्त्री०) वैशाख शुक्ल तृतीया। पुराणों के अनुसार इसी तिथि से सत्ययुग का आरम्भ हुआ था। इस तिथि में स्नान दान आदि का बड़ा माहात्म्य है।

उत्तर भारत के कृषक इसी दिन विधि-पूर्वक बीज रोपन करते हैं। अक्षय तृतीया परशुरामजी का जन्मदिवस भी है।

अक्षयनवमी (स्त्री०) कार्तिक शुक्ल की नवमी; यों तो सारे कार्तिक महीने में स्नान का माहात्म्य है किन्तु नवमी को स्नान करने से अक्षय-पुण्य लाभ होता है। इसी दिन व्रत भी रहा जाता है और कथा-वार्ता के साथ दिन बिताया जाता है।

अक्षयनीवी (स्त्री०) [बौद्ध] स्थायीरूप से स्त्रीधन प्रदान।

अक्षयमतिः (पुं०) [बौद्ध] एक बोधिसत्त्व का नाम। इनका रंग प्रायः पीला है। यह बायाँ हाथ मुट्ठी बाँध कर हृदय पर धारण करते हैं और दाहिना हाथ वरद-मुद्रा में स्थित है। कभी दाहिने हाथ में खड्ग और बायें हाथ में उत्पल सहित अभय-मुद्रा दिखाते हैं। यह रत्न-सम्भव ध्यानी बुद्ध कुल के अंतर्गत हैं।

अक्षयलोकः (पुं०) स्वर्ग, देवलोक, जिनका नाश न हो (पुण्यैर्निजैरक्षयलोकमासः)।

अक्षयवटः (पुं०) गया और प्रयाग का पवित्र वट वृक्ष।

पुराणों के मतानुसार प्रलय में जब सारी पृथ्वी जल में डूब जाती है उस समय भी यह बरगद का पेड़ बचा रहता

है। उसके पत्ते पर ईश्वर बालरूप में विद्यमान रह कर सृष्टि के अनादि रहस्य का अवलोकन करते हैं। यह वट प्रयाग में आज भी त्रिवेणी के तट पर है। अक्षय वट का वर्णन कालिदास के 'रघुवंश' में भी मिलता है।

अक्षया (स्त्री०) सोमवार की सप्तमी तिथि, बुधवार की चतुर्थी।

अक्षयाललिता (स्त्री०) भाद्रकृष्ण सप्तमी को स्त्रियों के द्वारा मनाया जाने वाला उत्सव।

अक्षयिणी (स्त्री०) पार्वती।

अक्षय्य (वि०) विनष्ट न होने वाला, अविनाशी, नित्य।

अक्षय्यभुज् (पुं०) अग्नि (प्रदुहेच्च हितं राजन् कक्षमक्षय्यभुग् यथा—महाभारत १३।६।२१)।

अक्षय्योदकम् (नं०) श्राद्ध में तिल-मधु-युक्त जल से तर्पण।

अक्षर (वि०) क्षर या क्षय न होने वाला, अपरिवर्तनीय, नित्य, अविनाशी, स्थिर (अक्षरं परमं ब्रह्म--गीता ८।३)।

अक्षरः (पुं०) अक्षर, वर्ण, सार्थक ध्वनि; ब्रह्म, ईश्वर। अक्षर शब्द ब्रह्म-वाचक हैं। क्योंकि वेदांत के अनुसार वही एक वस्तु है जिसमें कभी भी परिवर्तन नहीं होता। जिस प्रकार स्वप्न में कूटस्थ आत्मा पर कल्पित अणुवत् मन अगणित नदी पर्वत वन मनुष्य पशु पक्षी आदि की कल्पना करता है, उसी प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्म (आत्मा) के बिंदु मात्र स्थान में उनकी माया-शक्ति अनंत कोटि ब्रह्मांडों की कल्पना करती है। कल्पना करने से कल्पनाकारी में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह ज्यों का त्यों बना रहता है।

सांख्य-मत में पुरुष को अक्षर कहा गया है। परंतु जीव की बुद्धि के सुख-दुःख, क्षुधा-पिपासा आदि की छाया स्फटिक में लाल फूल की लाली की तरह पुरुष पर पड़ती है। इस कारण पुरुष को अक्षर कहना उचित नहीं है। इस मत में प्रकृति क्षर है, क्योंकि उसी के परिणाम से सृष्टि का आविर्भाव होता है।

मनुष्यों की ध्वनि को प्रकाशित करने के लिए चिह्न को अक्षर या वर्ण कहते हैं। वह विभिन्न देशों की विभिन्न भाषाओं में विभिन्न प्रकार के हैं। मुख से उच्चारित ध्वनि और लिखित चिह्न इन दोनों अर्थों में अक्षर शब्द व्यवहृत होता है। परंतु वर्ण शब्द केवल लिखित चिह्न में ही प्रयुक्त होता है (रंग अर्थ में भी)।

ध्वनि एक सांकेतिक शब्द मात्र है। यथार्थ में उसका कोई अर्थ नहीं है। परंतु विभिन्न देशवासियों ने अपने अपने मुख से निकलने वाली उन ध्वनियों के कुछ अर्थ मान लिये हैं। पशु, पक्षी तथा असभ्य मनुष्य भी अपनी विभिन्न ध्वनियों का कुछ अर्थ मान कर अपना व्यवहार चलाते हैं। सभ्य मनुष्यों ने अपनी ध्वनियों को श्रृंखलाबद्ध करके भाषा का रूप दिया है। इसी के लिए विभिन्न ध्वनियों के प्रकाशक अनेक अक्षर बना लिये गये हैं। ईश्वर के बनाये मिट्टी, जल, वायु, अग्नि आदि पदार्थों का व्यवहार जीव मात्र के लिए समान है। इसी प्रकार यदि अक्षर, वर्ण या भाषा स्वाभाविक होते तो एक देश की ध्वनि, वर्ण और भाषा का अर्थ सभी समझ लेते। अतः ये मनुष्यों की कृतियाँ हैं, जो बिलकुल कल्पित हैं।

वर्तमान नागरी अक्षर आदिम ब्राह्मी लिपि से अनेक परिवर्तन होते-होते बन गये हैं। अतः भाषा के अक्षर भी कल्पित हैं। वर्तमान संस्कृत आजकल इसी नागरी अक्षरों में ही छापें और लिखे जाते हैं।

मनुष्य के मुख में अक्षरों के उच्चारण स्थान आठ हैं—दो होंठ, दो दंत-पंक्तियाँ, जिह्वा, तालु, मूर्धा और कंठ। भारतीय आर्यों के इन आठों स्थानों से शब्द उच्चारित होते हैं। उन सभी के लिए भिन्न-भिन्न चिह्न बनाये गये हैं। इस कारण संस्कृत पूर्ण भाषा है। अन्य देशों की भाषाएँ अपूर्ण हैं। भारत में पूर्व, पश्चिम, दक्षिण आदि कुछ प्रांतों के निवासी पूरे आठ स्थानों से उच्चारण नहीं कर सकते। कुछ लोग श ष स के स्थान में केवल श का ही उच्चारण करते हैं तथा न ण का काम न से चलाते हैं। नागरी के क ख ब व बंगला में तिकोनिये बन गये हैं। ओड़िया में छोटी-छोटी पतीलियाँ उलट कर बिठा दी गयी हैं। अरबी, फारसी, उर्दू में कुछ तिरछी लकीरें ही अक्षर हैं। चीनी भाषा में कुछ रेखाचित्र एक-एक वाक्य का भाव प्रकट करते हैं। अंग्रेजी भाषा में कुल २६ अक्षर हैं, वे खड़े और तिरछे दोनों प्रकार से लिखे जाते हैं। उनके कुछ शब्दों में कुछ अक्षरों का उच्चारण ही नहीं होता। इन्हीं अंग्रेजी अक्षरों से यूरोप, अमेरिका अफ्रिका, आस्ट्रेलिया आदि देशों

की कुछ भाषाएँ लिखी जाती हैं। अंग्रेजी वर्णमाला में स्वर और व्यंजन मिले हुए रहते हैं। एक-एक स्वर का ३, ४, या ५ प्रकार का उच्चारण होता है। घड़ी की कल्पित रेखाओं से लोग समय जान जाते हैं।

आजकल कुछ संक्षिप्त लिपियाँ चल रही हैं। वे केवल चिह्न मात्र हैं। एक-एक चिह्न से एक-एक वाक्य प्रकट होता है। इन चिह्नों को देखकर जाना जाता है कि पृथ्वी भर की सारी भाषाओं के सारे अक्षर कल्पित हैं।

चोर को जानकर रात भर के लिए स्थान देने से वह चोरी नहीं कर सकता, बल्कि मित्र की तरह वह गृहस्थ को उपदेश देकर जाता है कि, "आप बड़े सावधान हैं, अनजान मनुष्य को जगह देकर अपने घर में भीतर से ताला लगा दिया था, बत्ती जला रखी थी, स्वयं भी रात भर जागते ही रहे। ऐसा करना ही चाहिए।" इसी प्रकार अक्षर, शब्द, वाक्य और भाषा को मिथ्या जानकर उत्तम रूप से उनकी सेवा अर्थात् शिक्षा करने से गाली निंदा, धमकी आदि सुनकर चित्त विकृत नहीं होगा, बल्कि मन कहेगा कि वह दाँत किटकिटा रहा है, निरर्थक शब्द कर रहा है। इस विचार से चित्त की समता बनी रहेगी।

इस प्रकार के कटुभाषण से अज्ञानांध और क्रोधांध होकर मनुष्य क्या-क्या अनर्थ नहीं कर डालते, खून करके फाँसी पर लटक कर जीवन गँवा देते हैं। सभी देशों के राजनैतिक जगत् में इन्हीं कटु भाषणों के कारण ही विभिन्न दलों और जातियों में झगड़े, लड़ाई, वैमनस्य आदि बढ़ते जा रहे हैं और अशांति फैलती जा रही है। भाषातत्त्वज्ञ व्यक्ति इन्हें मिथ्या जानकर सदा शांत रहते हैं।

अक्षर और भाषायें मिथ्या होने पर भी उनका जीवन में कुछ उपयोग है।

व्यवहार की सुगमता के लिए अक्षरों की रचना हुई, उनसे शब्द बने और शब्दों को क्रमबद्ध करके भाषा बनायी गयी। अब धीरे-धीरे वह भाषा ज्ञान-भंडार बन गयी। विद्वान लोग अपना ज्ञान उस भाषा में संचारित कर देते हैं और साधारण मनुष्य उससे ज्ञान प्राप्त करके जीवन को सार्थक बनाते हैं।

अनेक उपनिषदों में एव गीता के अनेक स्थलों में अक्षर शब्द परब्रह्म के पर्याय रूप में व्यवहृत किया गया है।

परमात्मा ब्रह्म हैं, जिनका क्षरण अर्थात् क्षय नहीं है। वे ही सृष्टि के मूल कारण हैं।

प्रधान कारण दो हैं—निमित्त और उपादान। जो बनाता है वह निमित्त कारण और जिस वस्तु से बनता है वह उपादान कारण है। जैसे घट रूप कार्य वस्तु के लिए कुम्भकार निमित्त और मिट्टी उपादान है। निमित्त कारण के न रहने पर भी कार्य वस्तु रह सकती है। परंतु उपादान, कार्य के साथ ही सदा विद्यमान रहता है।

न्याय मतानुसार ईश्वर सृष्टि के निमित्त और परमाणु उपादान कारण हैं। दोनों ही अक्षर हैं।

सांख्य-मत में सृष्टि का उपादान कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। प्रकृति जड़ होने पर भी चेतन पुरुष के सन्निधान से उसमें क्रिया-शक्ति उत्पन्न होती और सृष्टि का आविर्भाव होता है। यहाँ केवल पुरुष ही अक्षर है।

वेदांत में ब्रह्म जगत् के निमित्त और उपादान दोनों कारण हैं (जन्माद्यस्य यतः—ब्रह्मसूत्र १।१।२)। मृत्तिका अपरिमित है। बहुत से बर्तनों का निर्माण हो जाने पर उसमें न्यूनता आ जाती है। इसी प्रकार यदि ब्रह्म से जगत् बन जाय तो ब्रह्म क्षर हो जायेंगे, परन्तु सृष्टि का क्रम इस प्रकार का नहीं है। जिस प्रकार स्वप्न में मनुष्य का मन कल्पना से जड़ चेतन आदि अनेक प्रकार के रूपों का निर्माण हो जाता है, उसमें मन का कुछ भी क्षय नहीं होता। स्वाप्निक दृश्य वस्तुओं की केवल प्रतीति मात्र ही होती है। उसी प्रकार ब्रह्माश्रित माया की कल्पना से इस सृष्टि की प्रतीति मात्र होती है; यथार्थतः कुछ भी सत्य न होने के कारण ब्रह्म अक्षर ही बने रहते हैं। इस अक्षर पुरुष को कूटस्थ भी कहते हैं (क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते—गीता १५।१६)।

अक्षरकम् (नं०) एक अक्षर, एक स्वर।

अक्षरचञ्चः, अक्षरणः, अक्षरनः, अक्षरचुञ्चुः (पुं०) सुलेखक, खुशखत, चतुर लेखक, नकल करने वाला।

अक्षरच्युतकम् (नं०) एक अक्षर के च्युत होने से शब्द का पृथक् अर्थ, जैसे संहार शब्द से सं का लोप हो जाने पर 'हार' शब्द का माला अर्थ होता है।

अक्षरछन्दस् (नं०) अक्षरों की संख्या के अनुसार नियमबद्ध छंद (छंदस्तु द्विविधं प्रोक्तं वृत्तं जातिरिति द्विधा। वृत्तमक्षरसंख्यातं जातिर्मात्राकृता भवेत्।); छंदोमंजरी ६; दृढ़ निश्चय।

अक्षरजननी, अक्षरतुलिका (स्त्री०) कलम, लेखनी।

जक्षरजीविन्, अक्षरजीवकः, अक्षरजीविकः (पुं०) लेखन कार्य द्वारा जीवन निर्वाह करने वाला मनुष्य, वेतनभुक् लेखक, करणिक।

अक्षरनिबद्ध (वि०) लिखित, लिखा हुआ।

अक्षरन्यासः (पुं०) लेखन, अकारादि वर्ण, धर्मग्रन्थ।

अक्षरपङ्क्तिः (पुं०) चार पङ्क्तियों का छंद (सुमत वग दे इत्येष वै यज्ञोऽक्षरपङ्क्तिः--ऐतरेय ब्राह्मण ७२)।

अक्षरपरिचयः (पुं०) वर्णपरिचय।

अक्षरभाज् (वि०) पदांश में अंश रखने वाला।

अक्षरभूमिका (स्त्री०) लिखने की पट्टी या तख्ती।

अक्षरम् (नं०) वर्ण, ओंकार, ब्रह्म (अक्षरं ब्रह्मपरमम्—गीता ८।३), आकाश।

अक्षरम् [वेद] (नं०) वाक्, वाक्य, वचन, कथन; उदक, जल (अक्षरेण प्रतिमिम एताम्—ऋ० सं० ७।६। १३।३। ततः क्षरत्यक्षरम्—ऋ० सं० २।३।२२।२)।

अक्षरमाला (स्त्री०) वर्णमाला।

अक्षरमुखः (पुं०) छात्र, विद्यार्थी, विद्वान्।

अक्षरमुखम् (न०) वर्णमाला का आरम्भ।

अक्षरमुष्टिका (स्त्री०) अँगुली-संकेत, अँगुलियों के इशारे से बोलने की कला।

अक्षरयोजकः (पुं०) पुस्तकादि मुद्रणार्थ सीसे के अक्षर जोड़ने वाला, कम्पोजिटर।

अक्षरयोजनम् (न०) पुस्तकादि छापने के लिये मुद्रणालय में अक्षरों का सजाना, कम्पोजिंग।

अक्षरवर्जित (वि०) अपढ़, अशिक्षित, मूर्ख।

अक्षरविन्यासः (पुं०) लेखन, हिज्जे।

अक्षरवृत्तम् (न०) अक्षर और छन्दस देखिये।

अक्षरव्यक्तिः (स्त्री०) अक्षरों का स्पष्ट उच्चारण या प्रकाश।

अक्षरशः (क्रि० वि०) अक्षर-अक्षर करके, ठीक-ठीक, ज्यों का त्यों।

अक्षरशिक्षा (स्त्री०) अक्षर-परिचय, तांत्रिक अक्षरों की शिक्षा।

अक्षरसंस्थानम् (न०) लेख, वर्णमाला।

अक्षराक्षरः (पुं०) एक प्रकार का यौगिक ध्यान।

अक्षराङ्गम् (न०) पदांश का एक अंश अनुस्वार।

अक्षराजः (पुं०) वह जिसे जुआ खेलने का न हो।

अक्षरार्थः (पुं०) शब्द का अर्थ, माने, आशय (किं तावत् गीत्या अवगतोऽक्षरार्थः—शकुंतलम् ५)।

अक्षरी (स्त्री०) वर्षाऋतु।

अक्षरेखा (स्त्री०) विषुवत्-रेखान्तर।

अक्षर्य (वि०) अक्षर या पदांश संबंधी।

अक्षवती (स्त्री०) जुआ खेलने वाली, जुए का खेल।

अक्षवाटः (पुं०) जुआ खेलने का अड्डा या घर, जुआ खेलते की मेज, कुश्ती का अखाड़ा।

अक्षवामः (पुं०) बेईमान, जुआड़ी।

अक्षवित् (वि०) द्यूत विद्या में निपुण (अक्षविन्नार्थतश्चुतः)।

अक्षविद्या (स्त्री०) जुआ खेलने की कला या विद्या (अक्षविद्यासु कुशलः कथमत्र पराजितः)।

यह एक विद्या है जिसके द्वारा आने वाले पासों का स्पष्ट ज्ञान होता है। इसे प्राप्त होने से कलिबाधा नहीं रहती। राजा नल कलि के कोप से अपने भाई पुष्कर से जुए में हार कर वनवास चले गये ये। उसके बाद ऋतुपर्ण से अक्षविद्या पाकर उन्होंने पुनः पुष्कर को हरा दिया और अपना राज्य प्राप्त किया। युधिष्ठिर भी जुए में पराजित होकर वन चले गये। वहाँ उन्होंने किसी ऋषि से यथार्थ अक्ष-विद्या पायी थी। किंतु उन्होंने पुनः जुए का प्रयोग नहीं किया। बल्कि युद्ध के द्वारा अपना राज्य प्राप्त कर लिया था।

अक्षवृत्त (वि०) जुआ खेलने में व्यापृत या आसक्त, जुआ खेलने में संघठित होने वाली (घटना)।

अक्षवृत्तम् (नं०) राशि वक्ररूप वृत्तक्षेत्र।

अक्षशाला (स्त्री०) जुआ खेलने का स्थान; सोना आदि के शोधन करने या गणना करने वालों के पोथी-पत्रा आदि रखने का स्थान।

अक्षशालिन् (पुं०) जुआ खेलने का अड्डा रखनेवाला।

अक्षशौण्ड (वि०) जुआ खेलने में निपुण, अक्षवित्।

अक्षसूत्रः (पुं०) रुद्राक्ष की माला, अक्षमाला।

अक्षसूत्रम् (नं०) रुद्राक्षमाला, माला गूथने का सूत (अकारादिक्षकारान्तः अक्षाः तत्कृता तत्प्रतिनिधिभूता वा माला। कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तथाकरः—कुमारसंभव ५।११।६६)।

अक्षहृदयम् (वि०) द्यूत-विद्या में पूर्ण रूप से निपुण।

अक्षहृदयम् (नं०) जुए में पूर्ण दक्षता (वशीकृताक्षहृदायाम्—कादम्बरी १३१)।

अक्षांशः (पुं०) विषुवत् रेखांतर, द्राधिमांतर।

अक्षाः [वेद] (स्त्री०) भूस्थान-देवता, पृथ्वी की दैवी शक्ति (अक्षैर्मा दीव्यः क्वषिमित् कृषस्व—ऋ० सं० ७।८।५।३)।

अक्षाग्रकीलः, अक्षाग्रलकः (पुं०) जो कील बैलगाड़ी के जुए को आगे के डण्डे से जोड़ता है; अक्षदण्ड या धुरे के सिरे पर की कील, जिससे पहिये घूमते हैं।

अक्षाग्रम् (न०) धुरा, धुरे का सिरा, बैलगाड़ी के जुए का पिछला सिरा।

अक्षान्तिः (स्त्री०) असहिष्णुता, अधीरता, ईर्ष्या (अक्षान्त्याक्रान्त एषः)।

अक्षार (वि०) जिसमें क्षार न हो, विना नमक का (अक्षारं भोज्यमश्नीयात्)।

अक्षारः (पुं०) असली नमक (आनीतोऽस्माभिरक्षारः); जुआ रखनेवाला।

अक्षारलवणम् (न०) सेंधा नमक, सैन्धव (मुन्यन्नानि पयः सोमो मांसं यच्चानुपस्कृतम्। अक्षारलवणं चैव प्रकृत्या हविरुच्यते–मनु० ३।२५७)।

अक्षावपनम् (न०) जुए का पटरा, जुआ खेलने की मेज (अक्षा उप्यन्तेऽस्मिन्निति अक्षायनम् अक्षस्थानावपनपात्रम्—सायण)।

अक्षावलिः (स्त्री०) रुद्राक्षमाला।

अक्षवापः (पुं०) द्यूत-क्रीडक, जुआरी (अक्षावापेऽस्मि पण्डितः)।

अक्षि (न०) (अक्षिणी, अक्षीणि, अक्ष्णा, अक्ष्णः) नेत्र, चक्षु, नयन, तीन की संख्या (तवाक्षिविदधाम्यहम्)।

आक्षिकः (पुं०) एक वृक्ष का नाम, रंजनद्रुम।

अक्षिकम्पः (पुं०) आँख झपकने की क्रिया, पलक का काँपना (अक्षिकम्पेन संज्ञां स प्रददाति क्वचिद्गुरुः)।

अक्षिकूटः, अक्षिकूटकः (पुं०) आँख की पुतली (अक्षिकूटः प्रविष्टस्ते)।

अक्षिकूटम्, अक्षिकूटकम् (न०) नेत्र के ऊपर का ऊंचा स्थान।

अक्षिकोटरः (पुं०) आँख का गढ़ा (निम्नं तस्याक्षिकोटरम्)।

अक्षिगत (वि०) देखने योग्य, दर्शनीय, दृष्ट (सुन्दर्याक्षिगतासि मे), घृणित।

अक्षिगोलः (पुं०) आँख का गोलक (अक्षिगोलो महांस्ते)।

अक्षिजाहः (पुं०) चक्षु का मूल।

अक्षित् (वि०) अविनष्ट, स्थायी, अविनाशी।

अक्षित (वि०) अक्षय, अविनाशी, अक्षत।

अक्षितम् [वेद] (न०) उदक, जल (समानमर्थमक्षितम्—ऋग्वेद २।१।१८।५); १० हजार करोड़ की संख्या।

अक्षितरम् (न०) जल, वारि, अम्बु (निर्मलत्वान्नेत्रतुल्यत्वम्)।

अक्षितारा, अक्षितारिका (स्त्री०) आँख की पुतली; अतिप्रिय (त्वं ममास्याक्षितारिकाः)।

अक्षितावसु (पुं०) इन्द्र का एक नाम, अक्षय धन भण्डार का अधिकारी, कुबेर।

अक्षिति (वि०) अविनाशी, ध्वंस न होने वाला।

अक्षितिः (पुं०) अक्षयता, नित्यता।

अक्षिनिमेषः (पुं०) क्षण, पल (कथमक्षिनिमेषेण दूरं गन्तुं स शक्नुयात् ?)।

अक्षिपक्ष्मन् (न०) पलकों के किनारे वाले बाल (तवाक्षिपक्ष्मणां पङ्क्तिः)।

अक्षिपटलम् (न०) आँख की झिल्ली (आश्रित्यैवाक्षिपटलं रोगोऽयं वृद्धिमागतः)।

अक्षिपाकः (पुं०) नेत्रशोथ, आँख आना, आँखों की सूजन और जलन (अक्षिपाकः प्रशाम्येत वटदुग्धादिसिञ्चनैः)।

अक्षिपुरुषः (पुं०) नेत्र के भीतर दिखाई पड़ने वाली पुरुष की छाया। वेदांत की उपासना में एक प्रकरण है, जिसमें इस अक्षिपुरुष का ध्यान करने का विधान है। चित्त को एकाग्र करने के लिए यह एक उत्तम साधन है। आधुनिक फोटोग्राफी का आविष्कार इसी अक्षिपुरुष को देखकर ही किया गया है।

दक्षिण अक्षिस्थान का अधिष्ठात्री पुरुष देवता का नाम ऊद् है और वाम अक्षिस्थान की अधिष्ठातृनारी देवता का नाम विराट् है। हृदय इनका निवासस्थान है। उपनिषदों में इनका वर्णन सुवर्णमय रूप से किया गया है।

अक्षिभिषक् (पुं०) नेत्रचिकित्सक (अयमक्षिभिषक्कृती)।

अक्षिभू (वि०) दर्शनीय, प्रकटित, प्रकाशित (एतेत्वाक्षिभुवो मेर्थोः)।

अक्षिभेषजः (पुं०) एक वृक्ष, लोध्र वृक्ष; नेत्रों की औषधि (अव्यर्थं तेऽक्षिभेषजम्)।

अक्षिभेषजम् (न०) अञ्जन, सुरमा, चक्षु में लगाने योग्य मलहम; आँख की दवा।

अक्षिभ्रुवम् (न०) आँख की भौं, आँख और भौं दोनों।

अक्षिमत् (वि०) नेत्रों वाला (नैवायमक्षिमतां विवादविषयः)।

अक्षियत [वेद] (वि०) जिसका धन क्षय प्राप्त नहीं होता, गृहहीन (क्षियन्तं त्वमक्षियन्तं कृणोति-रघुवंश ४।१७।१३)।

अक्षिलोमन् (न०) आँख का लोम (अक्षिलोम्नां निपातः)।

अक्षिविकूणितम् (न०) कनखियों से देखने की क्रिया, तिरछी दृष्टि, कटाक्ष (रम्यं तेऽक्षिविकूणितम्)।

अक्षिश्रवस् (न०) साँप, सर्प (वसुराक्षिश्रवसो मुखे विशालाः-शिशुपालवधः २०।४४)।

अक्षिसंवित् (स्त्री०) चाक्षुष ज्ञान, नेत्र का प्रत्यक्ष ज्ञान, रूप का अनुभव।

अक्षिसूत्रम् (न०) चक्षुओं की रेखा (अक्षिसूत्रावसानं च तस्याधरस्तात् पदान्तकम्---मानसरामायण ६।२।६२)।

अक्षिस्पन्दनम् (न०) आँख का स्पन्दन या कम्पन।

अक्षिहीन (वि०) नेत्रविहीन, अंधा (अक्षिहीना न पश्यन्ति)।

अक्षीण (वि०) जो क्षीण न हुआ हो, अक्षय (अक्षीणः स्याः शरच्छतम्)।

अक्षीय (वि०) अक्ष संबंधी (अक्षीया जागतास्त्वर्थाः)।

अक्षीव (वि०) अमत्त, जो मतवाला न हुआ हो, शान्त।

अक्षीवः पुं०) एक वृक्ष का नाम (शोभाञ्जन)।

अक्षु [वेद] (वि०) शीघ्र, आशु।

अक्षुण्ण (वि०) अभग्न, समूचा, अक्षय, अकुशल जो जीता न गया हो, स्वस्थ (अव्यवहृतः अक्षुण्णोऽयन्तु मार्गः)।

अक्षुण्णता (स्त्री०) अभग्नता, सम्पूर्णता, अकुशलता, स्वस्थता (अक्षुण्णता ते सततं प्रकाशते)।

अक्षुद्र (वि०) जो तुच्छ या छोटा न हो (अक्षुद्रास्ते महात्मनः), बृहत् , महान्।

अक्षुधा (स्त्री०) भूख का अभाव, मंदाग्नि (अक्षुधां स चिजित्सते)।

अक्षुब्ध (वि०) जो आंदोलित न हुआ हो, स्थिर, अकंपित (अक्षुब्धः सततं भूयाः)।

अक्षेत्र (वि०) क्षेत्रहीन, जो जोता बोया न गया हो (अक्षेत्रमेतन्मासीत्)।

अक्षेत्रज्ञ, अक्षेत्रवित् (वि०) अध्यात्म-ज्ञान-रहित (अक्षेत्रज्ञो विमुह्यति)।

अक्षेत्रम् (न०) खराब जमीन, ऊसर भूमि (अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति—मनुस्मृति १०।७१)।

अक्षेत्रविद् (वि०) खेत या शरीर की प्रकृति न जानने वाला; आध्यात्मिक ज्ञान रहित (क्षेत्रतत्त्वानभिज्ञः आत्मत्वेन देहाभिमानी जीवः)।

अक्षेत्रिन् (वि०) जिसके पास क्षेत्र न हो, क्षेत्रहीन अक्षेत्रिगोऽवक्षीदन्ति विषीदन्ति च नित्यशः)।

अक्षेम (वि०) सौभाग्य-रहित, दुर्भाग्य (अक्षेमा न प्रसीदति)।

अक्षेमः (पुं०) सौभाग्य का अभाव, ऐश्वर्य-हीनता, कष्ट (प्रजानामक्षेमे कथमपि न राजा विजयते)।

अक्षोटः (पुं०) अखरोट (अक्षोटान्पौष्टिकान् विद्यात्)।

अक्षोपकरणम् (न०) पाशा या शतरंज खेलने का तख्ता।

अक्षोभः (पुं०) अचंचलता, क्षुब्ध न होने की स्थिति; हाथी बाँधने का खूँटा।

अक्षोभ्य (वि०) अचल, न हिलने वाला, जिसका चित्त चंचल नहीं होता, धीर।

अक्षोभ्यः (पुं०) एक विशिष्ट ऋषि (तन्त्रोक्तो द्वितीयविध्योपासकः तद्देवतायाः शिरसि मगरूपेण स्थितः ऋषिभेदः, अक्षोभ्योयं ऋषिः प्रोक्तः—तारानाथ-वाचस्पत्यम्)।

(बौद्ध) पंचध्यानी बुद्धों के एक का नाम अक्षोभ्य था, सर्वव्यापी सर्वकारण आदि बुद्ध से इनका आविर्भाव हुआ था। पंचध्यानी बुद्ध एक-एक स्कंध के अधिष्ठात्री देवता हैं। इन ध्यानी बुद्धों से बुद्धशक्ति और उससे बोधिसत्त्वों

की उत्पत्ति होती है। विज्ञान-स्कंध से उनकी उत्पत्ति है। "वज्रधृक्" ही उनका मंत्र है। उनका रंग नीला है और दक्षिण हस्त भूमि को स्पर्श करता है, उनके वाहन दो हाथी और प्रतीक-चिह्न वज्र है।

अक्षोभ्यकवचम् (न०) तंत्रों में उल्लिखित एक प्रकार का कवच या वर्म।

अक्षौरिमम् (न०) एक नक्षत्र जिसमें क्षौर कार्य अशुभ माना जाता है।

अक्षौहिणी (स्त्री०) चतुरंगिणी सेना, सेना की एक गणना, जिसमें २१,८७० हाथी, २१,८७० रथ, ६५,६१० घोड़े तथा १,०६,३५० पैदल सिपाही होते हैं। महाभारत युद्ध में १८ अक्षौहिणी सेनाएँ सम्मिलित हुई थीं—कौरव पक्ष में ११ और पांडव पक्ष में ७। प्राचीन समय में सेना के ४ अंग माने जाते थे, जैसे रथ, हाथी, घोड़ा और पैदल। इस चतुरंगिणी सेना की सबसे छोटी इकाई का नाम है पत्ति, जिसमें एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े तथा पाँच पैदल सैनिक सम्मिलित रहते हैं। पत्ति, सेनामुख, गुल्म, वाहिनी, पृतना, चमू, अनीकिनी, अक्षौहिणी सेना के ये ही क्रमशः बढ़नेवाले स्कन्ध हैं जिनमें तीन को छोड़कर शेष अपने पहले की संख्या के तिगुने होते हैं, इस प्रकार अक्षौहिणी की पूरी संख्या दो लाख अठारह हजार सात सौ की होती है। इस गणना का निर्देश महाभारत के आदि पर्व में है।

अक्ष्णम् (न०) समय, काल।

अक्ष्णया [वेद] (अ०) कुटिल रीति से, टेढ़े ढंग से।

अक्ष्णयारज : (स्त्री०) कर्ण रेखा, एक कोने से दूसरे कोने तक को मिलाने वाली रेखा।

अक्ष्णयास्तोमीया (स्त्री०) एक यज्ञ का नाम, एक देवता का नाम (अक्ष्णयाध्रुक्—रघुवंश० १।१२२।६)।

अक्ष्णयावन् (वि०) भीतर घुसनेवाला, भीतर जानेवाला।

अक्ष्णा (स्त्री०) अंश, भाग, टुकड़ा (स यद्यनेन किञ्चिदक्षणयावृतं भवति--बृहदारण्यक १।५।१७)।

अक्ष्यामयः (पुं०) चक्षुरोग।

अखट्टिः (पुं०) बच्चों का ख्याल या कल्पना।

अखण्ड (वि०) अभग्न, अविच्छिन्न, जो टूटा न हो, सम्पूर्ण, सर्वव्यापक। संसार में एकमात्र आत्मा (ब्रह्म) ही अखंड है, वह सत्-चित्-आनन्दमय है, वह वाक्य और मन के अगोचर है, वही समस्त जीवों का आत्मा अर्थात् स्वरूप है, वह समस्त ब्रह्माण्डों का आधार है, उसी का मैं सांसारिक दुःखशोकों से मुक्त होने के लिए आश्रय (शरण) लेता हूँ (अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसोगोचरम्। आत्मानम् अखिलाधारम् आश्रयेऽभीष्टसिद्धये – सर्ववेदांत-सिद्धांतसारसंग्रह २)।

संसार में सभी खंड-खंड हैं। खंड, छोटा, सीमाबद्ध पदार्थ नाशवान हैं। केवल आत्मा ही असीम और नित्य है। अपने चारों ओर अगणित पदार्थों तथा प्राणियों को नष्ट होते देखकर मनुष्यों के मन में अपने विनाश की शंका बनी रहती है। यदि हम अखण्ड, अविनश्वर, सर्व व्यापक आत्मा को अपना स्वरूप समझ कर आश्रय लेते हैं तो समस्त दुःखों से मुक्त हो सकते हैं (अद्वैतवादः देखिए)।

अखण्डन (वि०) अखण्डित, अनटूटा, टूटने या विभक्त होने के अयोग्य। एकमात्र आत्म-स्वरूप ब्रह्म ही अखण्डित है।

अखण्डनीय (वि०) विभाजन के अयोग्य, खण्डन या-प्रतिवाद के अयोग्य (खण्डनीयास्तव वाच एताः)। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग आदि दर्शन-शास्त्रों के सभी सिद्धांत खण्डनीय हैं, केवल वेदांत-दर्शन का सिद्धांत ही अखण्डनीय है। क्योंकि इसमें एक ही आत्मसत्ता को नित्य माना गया है।

अखण्डम् (क्रि० वि०) निर्विवादरूप से (अखंडमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूभृतिमिः स्ववंशजैः—किरातार्जुनीयम् १।२६)।

अखण्डमण्डलाकार (वि०) सर्वव्यापक (ब्रह्म का विशेषण); सर्वत्रपूर्ण (अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्। तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः—गुरुगीता २८)।

अखण्डित (वि०) जिसके विभाग न हुए हो, अविभक्त, अविच्छिन्न (अखण्डितं ते मतमद्वितीयम्)।

अखण्डितऋतुः (पुं०) सामयिक फूल फल देने वाली ऋतु (आखंडितऋतावस्मि प्रजानां सुखमीक्ष्यते)।

अखण्डितोत्सव (वि०) सदा उत्सव मनाने वाला, आनन्दमय।

अखण्डैकरसः (पुं०) निरंतर एकरस ब्रह्म। ब्रह्म में सत्ता, चैतन्य और आनन्द निरन्तर एक भाव में रहते हैं। माया-कल्पित सांसारिक वस्तुओं में सत्ता उसके नष्ट हो जाने पर लुप्त हो जाती है। इसी प्रकार जीव में चेतनता जाग्रत अवस्था में ही प्रतीत होती है। सुषुप्ति काल में या मर जाने पर उस व्यवहारिक चेतनता का अभाव हो जाता है। आनन्द भाव भी कभी रहता है और कभी उसका लोप हो जाता है। परन्तु संसार के कारण माया के अधिष्ठाता ब्रह्म में सत्, चित् और आनन्दभाव का कभी विनाश नहीं होता। जल में डूबे हुए मनुष्य की तरह द्वैतवादी इस प्रकार निष्प्रचार अवस्था सुनकर भयप्राप्त होते हैं (मग्नास्याब्धौ यथाऽक्षाणि विह्वलानि तथाऽस्य धीः। अखण्डैकरसं श्रुत्वा निष्प्रचारा विभेत्यतः—पंच २।१७)।

अखनत् (वि०) न खोदने वाला (खनित्रमखनद्व्यर्थम्)।

अखर्व (वि०) जो छोटा न हो, महत्त्वपूर्ण (भ्रमन्ति ते व्यर्थमखर्वखर्वाः)।

अखात (वि०) जो खोदा न गया हो, प्राकृतिक (अखातोऽयं ह्रदोमहान्)।

अखातः (पुं०) झील, ह्रद।

अखातम् (न०), अखातः (पुं०)—स्वाभाविक ह्रद या झील, उपसागर, सरोवर, मंदिर के सामनेवाला पोखरा।

अखातह्रदः (पुं०) प्राकृतिक तालाब, झील (स्वातोऽसयखातह्रदे)।

अखाद्य (वि०) खाने के अयोग्य, अभक्षणीय, अविहित खाद्य (अखाद्यमेतद्विकृतं न भोज्यम्)।

अखिन्न (वि०) अक्लांत, न थकनेवाला (मखेष्वखिन्नोऽनुमतः—किरातार्जुनीयम् १।२२)।

अखिल (वि०) संपूर्ण, समूचा, समस्त (अखिलं ते पुरतो भविष्यति। नश्वरं चाखिलं जगत्)।

अखिलात्मन् (पुं०) सर्वात्मक ब्रह्म (अखिलात्मैष भगवान्भाति मायावपुर्धरः)।

अखिलेन (क्रि० वि०) पूर्ण रूप से (अखिलेन तवैव भानुना)।

अखेटिकः (पुं०) वृक्ष, वह कुत्ता जिसे शिकार करना सिखलाया गया हो, शिकारी कुत्ता (आखेटिकः श्वा पुरतः प्रधावितः)।

अखेदित्वम् [जैन] (न०) भाषण का निरंतर प्रवाह (जैन-शास्त्रानुसार अनेक वाग् गुणों में से एक)।

अखेदिन् (वि०) न थकने वाला, जो क्लान्त न हुआ हो।

अख्खल (अ०) हर्ष प्रकाशक शब्द।

अख्यात (वि०) न जाना हुआ, अप्रसिद्ध, अप्रचलित (अख्यातानां समुल्लेखो भ्रमः स्यान्महतामपि)।

अख्यातिः (स्त्री०) कर्ममीमांसा दर्शन का वह मत जिसमें बाहरी वस्तुएँ केवल ख्याति अर्थात् ज्ञान मात्र ही नहीं, बल्कि वे सत् हैं, क्योंकि ज्ञान सद्वस्तु को ही ग्रहण करता है। आत्मख्याति और असत्ख्याति की तरह बाहरी वस्तुएँ असत् नहीं है. इसी कारण यह अख्याति है। ख्याति का अर्थ उनके मत में भ्रमज्ञान है (आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा। तथा-निर्वचनख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम्। विज्ञानशून्यमीमांसातर्काद्वैतवि॰ां क्रमात्—वेदांतसंज्ञावली १७०–७१)।

ख्याति यश, अख्याति निंदा। मनुष्य यश या प्रशंसा चाहते हैं, निंदा कोई नहीं चाहता। यश से उन्नति, प्रसन्नता तथा सुख मिलते हैं और निंदा से अवनति, दुःख, विमर्ष भाव आदि होते हैं।

गुरु वसिष्ठदेव ने श्रीरामचंद्र से कहा था—"हे रामचंद्र, सभी लोग तुम्हारी प्रशंसा करते हैं। निंदित व्यक्ति का जीवन निरर्थक है।" (निरर्थकं हि जीवितं निन्दितानाम्—रामायण)।

एक काला कलूटा डाकूसा मनुष्य अपने जाति-भाइयों से चिल्ला कर कहता था—"तुम लोग मुझे बेईमान समझते हो?" उसका चेहरा कहता था कि उसने-जीवन में अनेक अकर्म-कुकर्म किये हैं। तिस पर भी वह अपने परिचित वर्ग में ईमानदार बना रहना चाहता है।

एक साधारण व्यक्ति के परिचित वर्ग हैं दो-चार सौ मनुष्य। सभी लोग चाहते हैं कि मेरी उनमें प्रशंसा हो, निंदा न हो। गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है कि "यदि संसार को जीतना चाहो तो किसी की निंदा न करो।" निंदा करने से उसके किये निंदित कुकर्म का अपने मन में स्मरण करना पड़ता है, जिससे निंदक स्वयं ही कुकर्मपूर्ण हो जाता है। वृद्ध लोग कहते हैं—'निंदक निंदित का दोष खींच लेता है, जिससे निंदित उस दोष से मुक्त हो

जाता है।' यथार्थ में निंदित व्यक्ति पूर्णतया दोष से मुक्त नहीं होता। पाप का फल उसे भोगना ही पड़ता है। ख्याति, सुयश तथा प्रशंसा पाना ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिए (उद्देश्यम् देखिए)।

सात्त्विक या उत्तम कर्म करने से पुण्य होता है, राजसिक या नीच कर्म करने से पाप होता है (सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः—पंचदशी ७।९३)। १८ पुराणों में वेदव्यास जी के दो ही उत्तम वचन हैं—परोपकार पुण्य है और परापकार पाप है (पुण्यं परोपकारश्च पापञ्च परपीड़नम्)।

आजकल शिक्षा के दोष से सर्वत्र नालिश, मुकदमा, झगड़ा, दलबंदी, मारपीट, हत्या आदि फैले हुए हैं। प्राथमिक शिक्षा में सुधार होना चाहिए। प्राचीन समय में बालक वेद-वेदांत ही पढ़ते थे। उनमें एकात्मवाद की शिक्षा मिलती है अर्थात् सभी प्राणियों में एक ही आत्मा है। ऐसी शिक्षा मिलने से विरोध समाप्त हो जायगा (एकात्मवादः देखिए)।

अख्यातिकर (वि॰) निंदाजनक, अपमानजनक (नैवाख्यातिकरं कर्म प्रकुर्वीत मतिं दधत्)।

अख्यातिवादः (पुं॰) रज्जु में सर्पभ्रम का मत। रज्जु में सर्प, मरुस्थल में जल, सीप में रजत आदि भ्रमों के विषय में शास्त्रकारों में मतभेद है। एक मत यह है कि रज्जु (रस्सी) के सभी धर्मों की ख्याति (ज्ञान) न होने से उनमें सर्प-भ्रम होता है। यदि रज्जु के सभी अंश प्रत्यक्ष हों, तो वहाँ सर्प-भ्रम नहीं हो सकता। इस मत को ही अख्यातिवाद कहते हैं।

दूसरा मत यह है कि, अख्याति का अर्थ है—ख्याति का अभाव। यदि रज्जु के सभी धर्मों की ख्याति न हुई हो तो सर्प-ख्याति का कोई अवसर ही नहीं हो सकता। इस लिए रज्जु में सर्प-धर्मों की ख्याति रूप विपरीत ख्याति से ही सर्प-भ्रम होता है। इसे विपरीत-ख्यातिवाद कहते हैं।

तीसरा मत है—अनिर्वचनीयता-ख्यातिवाद। इसकी युक्ति यह है कि अख्याति अभावात्मक होने से किसी भी भावरूप कार्य का कारण नहीं बन सकती और रज्जु में सर्प-सत्ता न होने से सर्प-धर्मों की ख्याति का कोई अवसर ही नहीं है, तथापि रज्जु में सर्पभ्रम होता है। इसलिए इसका अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। अतः जिसका प्रतिपादन और अस्वीकार सम्भव न हो, उसे अनिर्वचनीयता-ख्याति कहना ही उचित है।

चौथा सत्ख्याति-वाद है। इसमें बताया गया है कि असत्, विपरीत और अनिर्वचनीय वस्तु की ख्याति नहीं हो सकती। सत् वस्तु ही ख्यात (ज्ञात) हो सकती है। रज्जु में रज्जु ही ख्यात होता है, सर्प नहीं। सर्पभ्रम का मतलब रज्जुगत सादृश्य-ज्ञान मात्र है।

आलोकाभाव के कारण अंधकार रूपी आवरण के द्वारा द्रष्टा की दृष्टि धूमिल हो जाने से ही वैसी भ्रम-प्रतीति होती है। इन ख्यातियों का विशेष विवरण ब्रह्मसूत्र के अध्यास-भाष्य की "भामती" आदि टीकाओं में मिलता है।

अग् (पर॰) (अगति, अगिता, अगिष्यति, अगित)। साँप की तरह वक्राकार चलना या जाना (भुजगेनागितं मार्गं नारोहेत्तु जनः सुधीः)।

अग् (वि॰) न चलनेवाला, चलने में असमर्थ, (अगा एते पर्वता इन्द्ररोषात्)।

अगः (पुं॰) वृक्ष, पर्वत, सूर्य, साँप, सात की संख्या।

अगच्छ (वि॰) न जाने या चलने वाला, अचल, स्थिर।

अगच्छः (पुं॰) वृक्ष, पेड़, पादप।

अगजम् (न॰) शिलाजित।

अगज (वि॰) पर्वत में उत्पन्न (अगजा धातवः सर्वे)।

अगजा (स्त्री॰) पर्वत से उत्पन्न होनेवाली, पार्वती (अगजाननपद्मार्कं गजाननमहर्निशम्। अनेकदंत-भक्तानामेकदन्तमुपास्महे—सुभाषित)।

अगजानिः (पुं॰) शिव, महादेव।

अगणनीय (वि॰) गणना के अयोग्य, असंख्य, अगणित। गिनने की संख्या का आविष्कार सबसे पहले ऋषियों ने ही किया था (अङ्कः देखिए)। व्यवहार की सुविधा के लिए संख्यायों की कल्पना की गयी है। १ से परार्ध तक ही संख्या की सीमा नहीं है। संख्या की सीमा निर्धारित करना मनुष्य-बुद्धि से संभव नहीं है। उपनिषद में कहा गया कि, हमारे इस ब्रह्माण्ड के दशों दिशाओं में अनंत कोटि ब्रह्मांड प्रज्वलित हो रहे हैं (अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितानि एतादृशानि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डानि ज्वलन्ति—महानारायणोपनिषद् १३)। विष्णुपुराण में लिखा है—यदि धूल-कणों को गिनकर संख्या निश्चित कर

ली भी जा सकती हो तथापि ब्रह्मांडों की संख्या कभी निर्धारित नहीं की जा सकती (संख्या चेद् रजसामस्ति ब्रह्माण्डानां न तु क्वचित् २५।६०)।

शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता में लिखा गया है कि--जिन विष्णु ने पृथ्वी के अगणित धूलि-कणों का निर्माण किया है, उनकी महिमाओं को कौन गिनकर बता सकता है ? (विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचयः पार्थिवानि विर्ममे रजांसि-शुक्ल० यजु०)। आशय यह है कि विष्णु के द्वारा निर्मित धूलि-कण अगणित हैं, तो उनके कारण रूप ईश्वर की महिमाओं की गणना कैसे हो सकती है ?

आधुनिक वैज्ञानिकों ने निश्चय किया है कि प्रकाश की गति प्रति-क्षण १,८७,००० मील है। इसी तरह मिनट घण्टा, दिन, वर्ष की भी संख्या कर ली गयी है, जिससे लगभग ६ लाख करोड़ मील तक प्रकाश के पहुँचने के समय को एक प्रकाश वर्ष मानते हैं। इसी प्रकार के ३६ करोड़ प्रकाश वर्षों की दूरी तक के नक्षत्र भी २०० इञ्च व्यास वाले दूरवीन से देखे गये हैं।

मास, वर्ष, युग आदि की गणना होने से व्यवहार में बड़ी सुगमता हुई है। परंतु सभी गणनाएँ सीमित हैं। उनसे परे सभी अगणनीय है।

अगणित (वि०) गणना-रहित, असंख्य (अगणित-पृतना समूहनेता)।

अगण्डः (पुं०) विना हाथों और पैरों का धड़ (अगण्डभूतो विवृतो दावदग्ध इव द्रुमः-रामायण ६।६८।५)।

अगण्यः (वि०) जो गणना के योग्य न हो, तुच्छ, नगण्य, मूल्य-रहित (अगण्याः किं प्रकुर्वीरन्)।

अगतासु (वि०) न + गत = अगत + असु (प्राण) जिसका प्राण न निकला हो अर्थात् जीवित। (गतासून-गतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः-गीता २।११), आत्म-ज्ञान-संपन्न व्यक्ति, जीवित या मृत किसी के लिए शोक नहीं करते (अशोच्य देखिए)।

अगति (वि०) आश्रय-विहीन, निराश्रय।

अगतिः (स्त्री०) गति या सहायता का अभाव; निकृष्ट मार्ग (अगतिश्च गतिश्चैव लोकस्य विदिता तव—महाभारत १२।१६।६)।

अगतिक (वि०) जिसकी कहीं गति न हो, अशरण, निःसहाय, निराश्रय (इयन्त्वगतिका गतिः)।

अगद (वि०) रोग-रहित, स्वस्थ, नीरोग (अगदः किं न पीयते)।

अगदः (पुं०) स्वास्थ्य, औषधि।

अगदङ्कारः (पुं०) चिकित्सक (अगदङ्कारमाक्रुश्य कथं रोगी निरामयः)।

अगदतन्त्रम् (न०) आयुर्वेद का एक अङ्ग (निष्णातोऽगदतन्त्रेऽस्मिन्)।

अगदराजः (पुं०) अच्छी दवा, उत्तम औषधि (श्रेयस्तनेऽत्यगदराज इवोपयुक्तः-भागवत १०।४७।५६)।

अगदवेदः (पुं०) आयुर्वेद शास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, (अगदवेदमिमं परिशीलयन्)।

अगदित (वि०) अकथित, न कहा हुआ (अगदित-मपि वेत्ति विज्ञवर्यः)।

अगन् [वेद] (क्रि) गया था (यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्य—ऋ० स० २।३।२१।२)।

अगन्तव्य (वि०) जाने के अयोग्य, अगमनीय (अगन्तव्यो मार्गः)।

अगभीर (वि०) जो गहरा न हो, छिछला (अगभीरस्तडागोऽयम्)।

अगम (वि०) गमन न करनेवाला (अगमस्त्वं कथमत्र जायसे)।

अगमः (पुं०) वृक्ष, पर्वत, पहाड़।

अगम्य (वि०) गमन के अयोग्य, अज्ञेय, विकट, कठिन, अथाह, अत्यंत (अगम्यः सरितां पतिः); सहवास के अयोग्य।

अगम्यरूप (वि०) अकल्पनीय प्रकृति युक्त, रूप-आदि का (अयम्यरूपां पदवीं प्रतिपत्सुना—किरात० १।६)।

अगम्या (स्त्री०) गमन या संभोग करने के अयोग्य स्त्री (अगम्या ही गुरोः पत्नी)।

अगम्यागमनम् (न०) अगम्या स्त्री के साथ सम्भोग या मैथुन करना जो महापाप है।

अगम्यागमनीयं (वि०) अगम्यागमन संबंधी (अगम्यागमनीय तु (पापम्) व्रतैरेभिरयानुदेत्—मनु० ११।१६६)।

अगम्यागामिन् (वि०) अगम्या स्त्री के साथ संभोग करनेवाला (अगम्यागामिनो मूढाः) ।

अगरी (स्त्री०) एक प्रकार की घास, एक प्रकार का पौधा ; देवताड़ वृक्ष, वह तत्त्व या पदार्थ जिससे विष का निवारण होता हो ; विषहारि द्रव्य ।

अगरु (न०) अगर नामक लकड़ी (अगरोर्गन्ध इवावभासते) ।

अगर्दभः (पुं०) खच्चर (अलकजण्डरचम्वामगर्दभाः) ।

अगव्यूति (वि०) विना उत्तम गोचर भूमि का, अनुपजाऊ (अगव्यूति क्षेत्रमागन्मदेवाः—ऋग्वेद० ६।४७।२०) ।

अगस्तिः (पुं०) एक प्रसिद्ध ऋषि जिनकी उत्पत्ति घड़े से मानी गई है, अगस्त्य नामक तारा, वकवृक्ष ।

अगस्ती (स्त्री०) अगस्त्य मुनि की स्त्री, संतान या वंशज ।

अगस्त्यः (पुं०) एक ऋषि (सौस्नतिकी यस्य भवत्यगस्त्यः—रघु०) ।

वैदिककाल के एक मंत्रद्रष्टा ऋषि । ऋग्वेद में लिखा है कि ये तेजोमय सूर्य और वरुण के पुत्र थे । आदित्य यज्ञ में मित्र और वरुण ने उर्वशी को देखकर यज्ञकुण्ड में वीर्यपात कर दिया था । यज्ञकुण्ड में पड़े उसी वीर्य से वसिष्ठ और अगस्त्य का जन्म हुआ था ।

भागवत में एक अगस्त्य को पुलस्त्य ऋषि का पुत्र लिखा हैं । इनके कई नाम है । घड़े से उत्पन्न होने के कारण इन्हें 'कलशीसुत' या 'कुम्भज' कहते हैं । मित्रवरुण का पुत्र होने के नाते मैत्रावरुणी हैं । समुद्रपान करने के कारण 'पीताब्धिः' । उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण 'उर्वशीय' । महातेजस्वो होने के कारण 'आग्नेय', विंध्य को आसन बनाने के कारण 'विंध्यकूट', उनकी क्षुद्र आकृति होने के कारण 'मान' कहा जाता है । अगस्त्य की प्रतिज्ञा थी कि वे आजन्म अविवाहित रहेंगे, किंतु एक दिन भ्रमण करते समय उन्होंने देखा—'उनके पुरखे एक गुफा के भीतर सिर के बल लटके हुए महान कष्ट पा रहे हैं, उनसे पूछने पर अगस्त्य को पता चला कि विवाह करके वंशरक्षा न करने से उनकी सद्गति की आशा नहीं है । अगस्त्य ने उनको विश्वास दिलाया कि अपने पुरखों के लिए वंश-रक्षा की व्यवस्था वे अवश्य करेंगे । तभी उन्होंने अपने तपोबल से पृथ्वी के समस्त प्राणियों के सौन्दर्य के श्रेष्ठ अंशों को लेकर एक परम सुंदरी नारी को उत्पन्न किया और उसके पालन पोषण का भार विदर्भराज को सौंप दिया । वही कन्या 'लोपामुद्रा' के नाम से प्रसिद्ध हुई । जब यह यौवना हुई तब अगस्त्य ने उससे अपने विवाह का प्रस्ताव किया । इच्छा न होने पर भी विदर्भराज ने उस कन्या का विवाह अगस्त्य के साथ कर दिया । इनका ब्राह्मणत्व असाधारण था ।

इन्होंने इल्वल और वातापि नामक दो राक्षसों का संहार किया था । इनके दृढस्यु और दृढास्य नामक दो पुत्र थे । अगस्त्य विंध्यपर्वत के गुरु थे । विंध्यपर्वत ने एक दिन सूर्य से कहा— जैसे वह सुमेरु की प्रदक्षिणा करता है, उसी प्रकार उसकी भी प्रदक्षिणा करे, सूर्य ने इसे इनकार कर दिया । इस पर क्रोधित होकर वह सूर्य के रथ को रोकने के लिए बढ़ने लगा । इससे भयभीत होकर देवगण अगस्त्य ऋषि के पास पहुँचे । अगस्त्य भक्त शिष्य विंध्य के पास गये । विंध्य पर्वत ने शीश झुकाकर गुरु को प्रणाम किया । गुरु ने कहा—"जब तक मैं वापस लौट कर न आ जाऊँ तुम तबतक इसी प्रकार सिर नीचा किये रहना ।" इस प्रकार विंध्यपर्वत का मस्तक नीचा कराकर वह दक्षिण की ओर चले गये, फिर वापस लौटकर नहीं आये ।

कालकेय नामक राक्षसों ने वृत्रासुर के निधन के बाद देवताओं से भयभीत होकर समुद्र के गर्भ में छिपकर प्राणरक्षा की । ये लोग रात को समुद्र से निकलकर देवताओं के ऊपर अत्याचार करने लगे । उनके अत्याचारों से त्रस्त होकर देवगण अगस्त्य के पास पहुँचे और सारी बात कह सुनायी । देवताओं के अनुरोध पर अगस्त्य समुद्र को ही पान कर गये । इस प्रकार समुद्र के सूख जाने से वे राक्षस पुनः निराश्रय हो गये और देवताओं के द्वारा मार डाले गये (आतापि भक्षितो येन वातापिश्च महाबलः । समुद्रः शोषितो येन सोमेऽगस्त्यः प्रसीदतुः—मार्कण्डेय पुराण १०४।७३) ।

इंद्र एकबार ब्रह्महत्या के पाप से समुद्र में वास कर रहे थे । उस समय धार्मिक राजा नहुष इंद्र के न रहने पर स्वर्ग में राज्य करने लगा । राज्याधिकारी होने पर नहुष ने

इंद्र की स्त्री शची को हस्तगत करने का विचार किया। बृहस्पति के उपदेश के अनुसार शची ने कहा—"हे राजा नहुष ! यदि आप सप्तर्षि द्वारा चालित रथ पर सवार होकर मेरे पास आवें तो मैं आपको वरण करूँगी।" इतना सुनकर राजा नहुष ऋषियों द्वारा चलाये जानेवाले रथ पर सवार हो गया। रथ के सारथियों में एक अगस्त्य ऋषि भी थे। अकस्मात् राजा के पैर का स्पर्श अगस्त्य की देह से हो गया, इससे क्रोधित होकर अगस्त्य ने श्राप दिया कि 'तुम सर्प हो जाओ'। उसी समय राजा नहुष रथ से गिरकर सर्प की योनि प्राप्त हुआ। शापित होकर नहुष ने अगस्त्य से क्षमाप्रार्थना की। नहुष की इस प्रार्थना पर ऋषि ने उस कठोर अभिशाप में थोड़ा परिवर्तन कर दिया इसके बाद युधिष्ठिर की सहायता से वह निज स्वरूप में आ गया और पुनः स्वर्ग चले गया।

दक्षिण देश में व्याकरणकार अगस्त्य का नाम मिलता है। इनका लिखा व्याकरण दक्षिण देश में 'अगस्त्य-व्याकरण' नाम से प्रसिद्ध है और पाणिनी के अष्टाध्यायी के समान ही यह उधर मान्य, प्राचीन तथा स्वतंत्र कृति है।

अगस्त्य नाम से एक नक्षत्र; वक पुष्प का एक नाम; एक वृक्ष का नाम है।

अगस्त्यगीता (स्त्री०) महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लिखित एक प्रकार की विद्या।

अगस्त्यतीर्थम् (न०) भारत के दक्षिण का एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान।

अगस्त्यवटः (पुं०) हिमालय पर्वत का एक पवित्र स्थान।

अगस्त्यसंहिता (स्त्री०) महर्षि अगस्त्य की बनाई हुई संहिता या धर्मशास्त्र।

अगस्त्योदयः (पुं०) अगस्त्य नक्षत्र का उदय, भाद्र-कृष्ण सप्तमी (सलिलानि प्रसन्नानि यदगस्त्योदये भृशम्।

अगा (वि०) जो न जा रहा हो, न जाने वाला।

अगाध (वि०) असीम, दुर्बोध, अथाह।

अगाधः (पुं०) छिद्र, दरार, गड्ढा (अगाधस्त्व-म्भोधिः)

अगाधजलः (पुं०) गहरा तालाब, गहरी झील।

अगाधजलसञ्चारिन् (वि०) गहरे जल में रहनेवाला, गंभीर स्वभाव वाला (अगाधजलसञ्चारी विकारी नैव रोहितः। गण्डूषजलमात्रेण शफरी फरफरायते)। जिस प्रकार शफरी नाम की छोटी-छोटी मछलियाँ जल के ऊपर तैरती-उछलती रहती हैं, उसी प्रकार हल्के चित्तवाले अल्प-पठित चंचल व्यक्ति निरंतर बक बक किया करते हैं और गहरे जल में रहनेवाली 'रोहू' आदि भारी-भारी मछलियाँ शांत रहती हैं, उसी प्रकार विशिष्ट विद्वान जहाँ-तहाँ अपनी विद्या का परिचय न देकर प्रायः शांत रहते हैं।

अगाधम् (न०) गहरा छेद, गहरा समुद्र।

अगारम् (न०) वासस्थान, गृह, मकान (परिचित-मगारं मम तु ते)।

अगारिन् (वि०) गृही, गृहस्थ, मकानवाला हृष्टोऽ-गारी मया साक्षात्)।

अगिरः (पुं०) स्वर्ग, आकाश (अगिरोऽयं कथं पतेत्)।

अगिरौकस् (वि०) स्वर्ग में निवास करनेवाला (साक्षादेवागिरौकसः)।

अगु (वि०) जिसमें या जहाँ गौओं का अभाव हो; निर्धन, गरीब (उक्थं चन शस्यमानमगोः—ऋग्वेद ८।२।१४), दुष्ट, दुर्जन।

अगुण (वि०) जिसमें गुण न हो, गुणरहित (अगुणं ब्रह्म शाश्वतम्), निकृष्ट गुणवाला, दोषयुक्त।

अगुणः (पुं०) अपराध, दोष, गुणाभाव (अगुणोऽपि भवान् सर्वैर्गुणैर्वृत इवेक्ष्यते)।

अगुणम् (न०) मोक्ष, निर्वाण, कैवल्यपद (धर्मोदयः किमगुणेन च काङ्क्षितेन—भावव्रत ७।६।२५); परब्रह्म, परमात्मा।

अगुणवादिन् (वि०) जो दूसरों के गुणों को न देखकर केवल उसका दोष ही ढूँढ़ता रहता हो, निन्दक, असूयापरायण।

अगुणशील (वि०) जिसका आचरण किसी काम का न हो, निकम्मे आचरण का।

अगुरु (वि०) जो गुरु या भारी न हो, हल्का (अगुरुः प्लवते जले परसते वाप्याम्)।

अगुरुः (पुं०) अगर की लकड़ी (अगुरुधूम इवैष विभाव्यते)।

अगुरुशिंशपा (पुं०) शीशम नामक वृक्ष।

अगुरुसारः (पुं०) एक प्रकार का सुगन्धित द्रव्य या पदार्थ।

अगुल्मकम् (न०) असंवद्ध, न मिली हुई (सेना) (गुल्मीभूतमगुल्मकम्--शुक्र० ८।८७०)।

अगुह्य (वि०) जो रहस्यमय न हो, स्पष्ट (अगुह्यं चेत् सर्वं प्रकटय निजं भावमयि ! मे)।

अगूढ़ (वि०) न छिपा हुआ, स्पष्ट, प्रकाशित (अगूढान्येव तिष्ठ रात्रौ ऋक्षाणि चाम्बरे)।

अगूढगन्ध (वि०) जिसकी गंध छिपी हुई न हो।

अगूढगन्धः (पु०) हींग (अगूढगन्धोऽस्ति तवात्र भेषजे)।

अगूढभाव (वि०) मुक्त स्वभाववाला, जिसका अर्थ या आशय स्पष्ट हो।

अगृभीत (वि०) न पकड़ा हुआ, न लिया हुआ (यावदेवागृभीताः स्युस्तावच्चौराः प्रभाविनः)।

अगृह (वि०) गृहरहित (अगृहस्य न चिन्ता स्यात्)।

अगृहः (पुं०) गृहहीन, भिक्षु, वानप्रस्थ।

अगोकस (वि०) पर्वतों पर घूमने या बसने वाला (अगोकसां कथं बुद्धिर्नागराणामिव प्रिये)।

अगोचर (वि०) अदृश्य, अज्ञात, अप्रकट, अप्रत्यक्ष, इंद्रियातीत (अपवादयस्तु ये भावा सर्वे तेऽगोचरं परम्।

अगोचरम् (न०) ब्रह्म (अगोचरं परं ब्रह्म)।

अगोचरेण (अव्य०) अगोचर या अलक्षित रूप से।

अगोता (स्त्री०) स्तुति या प्रशंसा का अभाव।

अगोत्र (वि०) विना कारण या हेतु का (यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रम् मुण्डक० १।१।६)।

अगोपन (वि०) खुला हुआ, स्पष्ट (अगोपनस्तु मे भावः सर्वेषां हितकारकः)।

अगोपनीय (वि०) गोपन करने के अयोग्य, न छिपाने योग्य (अगोपनीयं कस्मात्त्वं गोपयस्वात्मनिश्चयम्)।

अगोपा (वि०) बिना ग्वाले का (पशुनैंति स्वपुरगोपाः--ऋग्वेद २।४।७)।

अगोरुध (वि०) जिसकी प्रशंसा में तिरस्कार या अवहेलना का भाव न हो (अगोरुधाय गाविषे—ऋग्वेद ८।२४।२०)।

अगोह्य (वि०) छिपाने के अयोग्य, आच्छादित करने के अयोग्य, चमकीला (अगोह्यः प्रज्वलन्नग्निः)।

अगौण (वि०) जो गौण न हो, प्रधान, मुख्य (सर्वेषामेव देवानामगौणः शम्भुरिष्यते)।

अगौरवः (पुं०) असम्मान, महत्त्व का अभाव (अगौरवं यथा न स्यादेवं चेष्टस्व सन्ततम्)।

अग्नायी (स्त्री०) अग्निदेव की पत्नी, स्वाहा (अग्नाय्यासहितः साक्षादग्निरेव विभासि भोः)।

अग्निः (पुं०) आग; पचाने की शक्ति, अग्निदेव (अग्निर्देवानां प्रथमो विष्णुरवमः—श्रुति। पञ्चानयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः। पिता मातागिनरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ--महाभारत)।

अग्निः [वेद] (पुं०) भूस्थान-देवता, पृथ्वी की देवी शक्ति; मध्यस्थान के देवता (अग्निमीलें पुरोहितम्—ऋ० १।१।१।१)।

अग्नि आर्यों के एक प्रधान देवता हैं। ये स्वर्ग में सूर्य रूप में, अंतरिक्ष में विद्युत रूप में और पृथ्वी पर अग्नि रूप में भासमान हैं। वैदिक याग-यज्ञ में अग्नि का प्रथम स्थान है। ऋग्वेद में इंद्र को छोड़कर अन्य किसी देवता के लिए इतने सूक्त नहीं लिखे गये हैं। विवाह और अन्यान्य सामाजिक और धार्मिक उत्सवों में इनका अधिक से अधिक आमत्रण होता है। कारण, ये समस्त धार्मिक और सामाजिक कर्मों के साक्षी हैं। अग्नि के विना किसी भी यज्ञ का अनुष्ठान सिद्ध नहीं होता। अग्नि के ७ जिह्वाएँ हैं। होम के समय प्रत्येक जिह्वा से वे होम के घी को चाटते हैं। इन सातों जिह्वाओं का भिन्न-भिन्न नाम हैं—मुंडकोपनिषद् के अनुसार इनके नाम इस प्रकार हैं—काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिङ्गिनी विश्वरुचि च देवी लोलायमाना इति सप्तजिह्वाः १।२।४।

पूर्व और दक्षिण के मध्यवर्ती कोण को 'अगिकोर्ण कहते हैं। इस कोण के दिक्पाल अग्नि देवता हैं। अग्नि का ज्वालामय केश है, स्वर्णमय दन्त और लम्बी दाढ़ी है। तेज-पुंज-परिपूर्ण मुख से वे चारों दिशाओं का निरीक्षण करते हैं। वे रात में तेज फैलाकर अन्धकार दूर करते हैं। वे द्यौ और पृथ्वी के पुत्र हैं।

महाभारत के आदि पर्व में कहा गया है कि, एक राक्षस महर्षि भृगु की स्त्री 'पुलोमा' के साथ विवाह करना चाहता था। किंतु पुलोमा के पिता ने कन्या को भृगु के हाथ में सौंप दिया। यह कन्या जब गर्भवती हुई, तब राक्षस ने अग्नि से पूछा--यह किसकी स्त्री है?

अग्नि ने कहा—"जिस कारण अग्नि को साक्षी करके पुलोमा का विवाह भृगु से हुआ है, उस कारण वह भृगु की धर्मपत्नी है।" किंतु उस राक्षस ने इस कन्या को मन के द्वारा पहले ही वरण कर लिया था। तब राक्षस ने बराह का रूप धारण कर पुलोमा का हरण किया। हरणकाल में वह गर्भवती थी और उससे 'च्यवन' ऋषि का जन्म हुआ तथा उस बालक के तेज से वह राक्षस भस्म हो गया।

अग्नि ने पुलोमा का परिचय राक्षस को दिया है ऐसा जानकर महर्षि भृगु ने अग्नि को शाप दिया कि 'सर्वभुक्' हो जाओ। तभी से अग्नि आहुति ग्रहण करते हैं, किन्तु बोल नहीं सकते, अग्निहोत्र और यज्ञ में छिपे रहते हैं। तब ब्रह्मा ने अग्नि से कहा—"तुम सदा पवित्र रहोगे, सारे शरीर से भक्षण करोगे, मुख में जो आहुति दी जायेगी वह देवताओं के भाग रूप में ग्रहण होगा।

महाभारत में कहा गया है कि श्वेतकी राजा के यज्ञ की अवशिष्ट हवि के भक्षण से अग्नि अग्निमांद्य रोग से पीड़ित हो गये। तब ब्रह्मा के उपदेश के अनुसार रोग से मुक्ति पाने और शक्ति संचय करने के लिए उन्होंने खांडव वन के समस्त जीव, जंतु, दैत्य-दानव और सर्प इत्यादि के भक्षण की इच्छा की, किंतु खांडव वन देवताओं से रक्षित है, ऐसा कहा जाता है, इसलिए इन्द्र ने इन्हें रोका।

अग्नि ने कृष्ण और अर्जुन से सहायता माँगी। वे लोग अग्नि की सहायता करने के लिए राजी हो गये। किंतु उन लोगों के पास देवताओं से युद्ध करने के लिए कोई अस्त्र नहीं था। तब अग्नि ने वरुण देवता के पास से कपिध्वज रथ, गांडीव धनुष और दो अक्षय तूणीर अर्जुन के लिए और सुदर्शन चक्र और कौमुदकी गदा कृष्ण के लिए लिया। तब कृष्ण और अर्जुन को सहायता से खांडव वन का दहन हुआ और अग्निदेवता रोग से मुक्त हुए।

हमारे धर्मग्रंथों में नाना भावों में अग्नि का उल्लेख देखा जाता है, जिनमें अंगिरा के पुत्र संघिला के प्रपौत्र सप्तर्षियों में एक हैं जो ब्रह्मा के जेठे लड़के और दक्ष-कन्या स्वाहा के पति हैं। वेद में कहीं कहीं अग्नि की स्त्री अग्नायी का उल्लेख देखा जाता है। वसु की स्त्री के गर्भ से अग्नि का जन्म हुआ था। ये धर्म के अंश-पुत्र थे।

दक्ष की कन्या स्वाहा से इन्होंने विवाह किया, जिससे तीन पुत्र उत्पन्न हुए—पावक, पवमान और शुचि। इस प्रकार उनके ४५ पुत्र हैं।

हरिवंश-पुराण में अग्नि का वर्णन इस प्रकार है—कृष्णवस्त्रावृत, धूम्रपताका, संग में जलता भाला, अग्नि की सवारी बकरा, इनके ४ हाथ, लोहितवर्ण घोड़ों से खींचे जाने वाले रथ पर ये भ्रमण करते हैं और सातों वसु इस रथ के चक्र हैं। विभिन्न नामों से उनका परिचय है--अनल, पावक, हुताशन, वैश्वानर, अजहस्त, धूमकेतु, तोमरधर, हुताश, हुतभुज्, वह्नि, रोहिताश्व, छागरथ, सप्तजिह्वा।

कठ उपनिषद में लिखा है कि सूक्ष्म तेजतत्त्व रूप अग्नि जिस प्रकार समस्त भुवन में व्याप्त होकर भी काष्ठ में, कोयले में, विद्युत में विभिन्न रूपों से व्यक्त है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा व्याप्त रहने पर भी च्युटी में पशु में, मनुष्य में भिन्न भिन्न रूपों से व्यक्त होकर बाहर भी विराजमान है (अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभुव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १।५।६)। सभी मनुष्यों में मन भिन्न-भिन्न होने पर भी आत्मा एक है। इस सत्य तत्त्व की शिक्षा बचपन से दी जाय तो संसार में विरोध नहीं रह सकता (एकात्मवादः देखिए)।

अग्निकः (पुं०) एक प्रकार का कीड़ा जिसके शरीर में प्रकाश होता है।

अग्निकणः (पुं०) चिनगारी, स्फुलिंग।

अग्निकर्मन् (न०) अग्नि का काम, दाहसंस्कार, हवन।

अग्निकला (स्त्री०) अग्नि का एक भाग या अंश, आतशबाजी।

अग्निकारिका (स्त्री०) यज्ञीय अग्नि के संस्कार का उपाय या साधन।

अग्निकाष्ठम् (न०) अगरु नामक लकड़ी।

अग्निकुक्कुटः (पुं०) लुआठी।

अग्निकुण्डम् (न०) चारों ओर से घिरा हुआ वह स्थान जिसमें अग्नि स्थापित की जाती है। हवन करने के लिए बनाया हुआ एक प्रकार का कुण्ड (अग्निकुण्डेऽग्निवद्राज्ये राजा तिष्ठति शोभितः)।

अग्निकुमारः (पुं०) कार्तिकेय, षडानन, एक आयुर्वेदीय रस।

एक बार अग्निदेव वसिष्ठ, अत्रि, अंगरिश आदि सप्तर्षियों की स्त्री अरुन्धती आदि पर आसक्त हो गये। अग्नि की स्त्री स्वाहा ने स्वामी के मनोविकार को जानकर छः ऋषिपत्नियों के छः रूप धारण करके उनके साथ छः बार बिहार किया। इसके बाद एक स्वर्णकुण्ड में उनके वीर्य को रक्षित रखा। इसी तेजोमय वीर्य से कार्तिकेय का जन्म हुआ। इसी से वे अग्निकुमार के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। मतांतर में भगवान शंकर ने ताड़कासुर का वध करने के लिए अग्नि में वीर्यपात किया था जिससे अग्निकुमार का जन्म हुआ।

अग्निकृतः (पुं०) एक प्रकार का पौधा।

अग्निकेतुः (पुं०) धूम, धुँआ; एक राक्षस।

अग्निकोणः (पुं०) दक्षिण और पूर्व दिशा का कोना, विदिशा। इस दिशा का देवता अग्नि है। इस कारण इसका नाम अग्निकोण है।

अग्निक्रिया (स्त्री०) अन्त्येष्टिक्रिया, अग्निसंस्कार, शवदाह।

अग्निक्रीडा (स्त्री०) आतिशबाजी, प्रकाश।

अग्निगर्भ (वि०) अग्निसंबंधी, जिंसके अन्दर आग हो।

अग्निगर्भः (पुं०) सूर्यकान्त मणि।

अग्निघृतम् (न०) आयुर्वेद में औषधियों के योग से निर्मित एक प्रकार का घृत, जो पाचन-शक्ति को बढ़ाने वाला माना ग ा है।

अग्निचय (पुं०), अग्निचयनम् (न०) पवित्र अग्नि की स्थापना, अग्न्याधान, अग्नि का ढेर या राशि।

अग्निचित् (पुं०) वह जो पवित्र अग्नि रखता हो, अग्निहोत्री (अध्वरेष्वग्निचित्वत्सु—भट्टिकाव्यम् ५।११)।

अग्निचूड (पुं०) वह पक्षी जिसकी चोटी लाल रंग की हो, मुरगा।

अग्निचूर्णः, अग्निचूर्णकः (पुं०) बारूद।

अग्निज (वि०) अग्नि से उत्पन्न।

अग्निजः (पुं०) अग्निजार नाम का पौधा; कार्तिकेय, स्कंद (पराभिनत्क्रौञ्चमिवाद्रिमग्निजः-महाभा० ८।६०)।

अग्निजनक (वि०) अग्निवर्धक, जठराग्नि प्रज्वलित करने वाला (एतदग्निजनकं न मयोक्तं भेषजं गुणकरं दुरितघ्नम्)।

अग्निजम्, अग्निजातम् (न०) सोना, स्वर्ण।

अग्निजित् (पुं०) परब्रह्म, परमेश्वर।

अग्निजिह्व (वि०) जिसकी जिह्वा आग जैसी हो।

अग्निजिह्वः (पुं०) (१) जो अग्नि रूप जिह्वा द्वारा द्रव्य का आस्वादन या भोजन करे, देवता। (२) वराह रूप धारण करने के समय विष्णु अग्निजिह्व हो गये थे इसी से उन्हें भी अग्निजिह्व कहते हैं।

अग्निजिह्वा (स्त्री०) आग की लपटें।

अग्नि की सात प्रकार की शिखाएँ हैं—कराली, धामिनी, श्वेता, लोहिता, नीललोहिता, पद्मरागा और सुवर्णा। इन्हीं सात प्रकार की शिखाओं को अग्नि की सात जिह्वा कहते हैं।

अग्निजीविन् (पुं०) अग्नि द्वारा जीविका चलाने वाला, लुहार आदि।

अग्निज्वाला (स्त्री०) आग की लपट या लौ, एक प्रकार का पौधा जिसमें लाल रंग के फूल खिलते हैं और जो रँगाई के काम आता है, धाय का फूल।

अग्नितप् (वि०) अग्नि के द्वारा प्रायश्चित्त करने वाला।

अग्नितपस् (वि०) जलता हुआ, चमकता हुआ।

अग्नितेजस् (वि०) जिसमें अग्नि की-सी कांति या चमक हो।

अग्नितेजस् (पुं०) ग्यारहवें मन्वंतर के सप्तर्षियों में से एक ऋषि।

अग्नितेजस् (न०) अग्नि की चमक या द्युति।

अग्नित्रयम् (न०) तीन प्रकार के अग्नि।

अग्निद (वि०) जठराग्नि प्रज्वलित करने वाला, अग्नि-जनक, घर में आग लगाने वाला (अग्निदो गरद-

श्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहरश्च षडेन ह्यात-तायिनः—महाभारत)।

अग्निदग्ध (वि०) जला हुआ (भूमौ दन्तेन तृप्यन्तु तृप्तायान्तु परां गतिम्—श्राद्धविवेक)।

अग्निदग्धः (पुं०) जिसका शरीर शास्त्रविधि से अग्नि द्वारा जलाया गया है अर्थात् पितर लोग।

अग्निदण्डः (पुं०) निसिद्ध समय में आग जलाने वाले को दिया जाने वाला दण्ड।

अग्निदातृ (वि०) दाह संस्कार करने वाला।

अग्निदाहः (पुं०) जलाना, दाह-संस्कार, अन्त्येष्टि कर्म।

अग्निदाह्य (वि०) जलाये जाने योग्य, आग से जलाने लायक।

अग्निदीपन (वि०) जठराग्नि उत्तेजित करने वाला।

अग्निदीप्त (वि०) आग लगाने वाला।

अग्निदीप्ता (स्त्री०) ज्योतिष्मती नाम की लता।

अग्निदीप्तिः (स्त्री०) बढ़ी हुई पाचन शक्ति।

अग्निदूतः (पुं०) यज्ञ अथवा यज्ञ में आमंत्रित देवता (यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः—ऋग्वेद १०।१४।१३)।

अग्निदूषित (वि०) झुलसा हुआ।

अग्निदेवः (पुं०) अग्नि की दैवी शक्ति, अग्नि का अधिष्ठाता देवता।

अग्निदेवा (स्त्री०) ज्योतिष में कृत्तिका नक्षत्र।

अग्निद्वारम् (न०) मकान के दक्षिण-पूर्व अर्थात् अग्नि-कोण का दरवाजा (पूर्वद्वारमथैशाने चाग्निद्वारं तु दक्षिणे—मानवीय सं० ६।२६४-२६५)।

अग्निधानम् (न०) वह स्थान या पात्र जिसमें पवित्र अग्नि रखी जाय।

अग्निधारणम् (नं०) घर में सदैव अग्नि जलाये रखना।

अग्निनिर्यासः (पुं०) अग्निजार नामक पौधा।

अग्निनेत्र (वि०) जिसका नेता या अगुआ अग्नि हो।

अग्निपदम् (न०) अग्नि शब्द, वह स्थान जहाँ अग्नि जलाई या रखी जाती हो; एक प्रकार का पौधा।

अग्निपरिक्रिया, अग्निपरिष्क्रिया (स्त्री०) अग्नि का पूजन।

अग्निपरिच्छदः (पुं०) हवन करने के लिए स्रुव आदि सामग्री।

अग्निपरिधानम् (नं०) यज्ञीय अग्नि को एक प्रकार के आवरण या परदे से घेरना।

अग्निपरीक्षा (स्त्री०) किसी के दोषी अथवा निर्दोष होने की सत्यता जानने के लिए होने वाली अग्नि द्वारा जाँच, सतीत्व की परीक्षा।

अग्नि के द्वारा स्त्रियों के सतीत्व की परीक्षा भारत में प्राचीन काल से की जाती थी। प्राचीन लोगों का कुछ ऐसा खयाल था कि किसी स्त्री के असती होने का संदेह होने पर एक लोहा तपा कर उसे चाटने के लिए दिया जाता था। यदि उससे उसकी जीभ में छाले पड़ जायँ तो वह असती मान ली जाती थी और यदि छाले न पड़ें तो उसे सतीत्व-गौरव प्राप्त होता था।

(१) रामायण की कथा है—रावण के मारे जाने के बाद सीता देवी पालकी में बैठ कर विभीषण के साथ रामचन्द्र के पास आयीं। परन्तु अधिक समय तक राक्षस रावण के घर में रहने के कारण प्रजाओं में सीता के चरित्र पर संदेह होगा, इसका अनुमान कर रामचन्द्र ने सीता को ग्रहण नहीं किया। इस अपमान को धोने के लिए सीतादेवी ने अग्नि में प्रवेश किया। अग्निदेव ने सीता को चिता से सकुशल निकाल कर रामचन्द्र के हाथ में सौंप दिया। इस अग्नि-परीक्षा से सीता देवी का सतीत्व प्रमाणित हुआ और सब लोगों के मन का संदेह दूर हो गया।

अग्निपर्वतः (पुं०) ज्वाला-मुखी पर्वत।

अग्निपुच्छः (पुं०) यज्ञीय स्थान का पिछला या पृष्ठ भाग।

अग्निपुराणम् (नं०) १८ पुराणों में से एक पुराण।

अग्नि देवता के मुख से सर्व प्रथम निकलने के कारण इसे अग्निपुराण कहते हैं। महामुनि वसिष्ठ को ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देने के लिए अग्निदेव के मुख से निकले हुए अठारह महापुराणों में से यह एक है। मुख्यतः इसमें प्रलय, सृष्टिप्रकरण और अग्निकार्य, देवप्रतिष्ठा, नरक-वर्णन, प्रायश्चित-विधि, तीर्थादि का माहात्म्य, ज्योतिष; आश्रम-विधि, दीक्षा, नीति, पूजापद्धति, संध्या-विधि, धनुर्वेद, आयुर्वेद, छन्द, शब्दानुशासन, ब्रह्मज्ञान इत्यादि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इसमें १५,४०० श्लोक हैं।

अग्निप्रणयनम् (न०) यज्ञीय अग्नि लाना और शास्त्रोक्त विधि से उसका संस्कार करना।

अग्निप्रणिधिः (पुं०) वह जो आग लगाता हो, आग लगाने वाला व्यक्ति।

अग्निप्रतिष्ठा (स्त्री०) वेदी या कुण्ड में विधानपूर्वक अग्नि की स्थापना।

अग्निप्रवेशः (पुं०), अग्निप्रवेशनम् (न०) पतिव्रता स्त्री के पति की मृत्यु के उपरांत उसके साथ सती होना।

अग्निप्रस्तरः (पुं०) चकमक पत्थर, जिससे आग जलायी जाती है।

अग्निबाहुः (पुं०) धूम, धुआँ। एक राजा का नाम जो प्रियव्रत का पुत्र था। ये ब्रह्मचारी रह कर तपस्या करते रहे।

अग्निबीजम् (न०) सोना, स्वर्ण।

अग्निभम् (न०) कृत्तिका नक्षत्र, स्वर्ण, सोना।

अग्निभु (न०) जल, पानी, सोना, स्वर्ण।

अग्निभू (वि०) अग्नि से उत्पन्न।

अग्निभूः (पुं०) कार्त्तिकेय।

अग्निभूति (वि०) अग्नि से उत्पन्न।

अग्निभूतिः (पुं०) जैनों के अंतिम तीर्थंकर के एक शिष्य।

अग्निभूतिः (स्त्री०) अग्नि की कांति या चमक।

अग्निभ्राजस् (वि०) अग्नि के समान चमकने वाला (अग्निभ्राजसो विद्युतः—ऋग्वेद, ५।५४।११)।

अग्निमणिः (पुं०) सूर्यकांत मणि, चकमक पत्थर।

अग्निमथ् (पुं०) यज्ञकर्ता जो अरणि काष्ठ को रगड़ कर अग्नि उत्पन्न करता हो; वह मंत्र जो उक्त कार्य करने के समय पढ़ा जाता हो।

अग्निमन्थः (पुं०) गणिकारिका नामक वृक्ष या पेड़।

अग्निमन्थनम् (न०) काष्ठ-संघर्षण से अग्नि उत्पन्न करना।

अग्निमान्द्यम् (न०) कोष्ठबद्धता, कब्जियत, मलावरोध, अपच, अजीर्ण।

अग्निमारुतिः (पुं०) अगस्त्य मुनि, कुम्भज ऋषि।

अग्निमित्रः (पुं०) एक राजा का नाम जो विदिशा के नरपति तथा पुष्पमित्र के मित्र थे। यह प्राचीन शुङ्ग वंश का दूसरा सम्राट् था। यह पहले सेनापति पुष्पमित्र का पुत्र था। पिता के समय यह विदिशा प्रदेश के रक्षक पद पर नियुक्त किया गया। अंत में यह ई० पूर्व १५५ में अग्निमित्र राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। कुछ ताम्रमुद्राएँ अभी प्राप्त हुई हैं जिनसे इसके राज्यकाल का विवरण मिलता है। महाकवि-कालिदास-विरचित 'मालविकाग्निमित्र' नाटक के अनुसार विदर्भ की राजकुमारी मालविका से अग्निमित्र का विवाह हुआ था। यह उसकी तीसरी रानी थी। पहली और दूसरी पत्नियों के नाम धारिणी और इरावती थे। इस पुस्तक से पता चलता है कि उसके साथ यवन राजाओं का जो युद्ध हुआ था उसमें उसका पुत्र वसुमित्र सेनापति था। इसका राज्यकाल ८ वर्ष बताया जाता है।

अग्निमित्र ने विदिशा को अपनी राजधानी बनाया था। यह सम्राट् साहित्य-प्रेमी तथा कला-विलासी था। उसने अपने समय में बहुत अधिक ललित-कलाओं का निर्माण कराया था।

अग्निमुख (वि०) जिसके सिर पर अग्नि हो।

अग्निमुखः (पुं०) देवता, ब्राह्मण, खटमल।

अग्निमुखी (स्त्री०) पाकशाला, रसोई घर।

अग्निमूढ (वि०) जो विद्युत् या अग्नि द्वारा बेहोश या अचेत हुआ हो।

अग्निमूर्ति (वि०) अग्नि के समान दीखने वाला, अत्यंत क्रोधी।

अग्निमूल्य (वि०) बहुमूल्य, दुर्लभ।

अग्नियन्त्रम् (न०) बंदूक, जिससे गोली चलाई जाती है (अग्नियन्त्रधरैश्चक्रधरैश्च पुरुषैर्वृतः—शिवभारत १२।१७)।

अग्नियानम् (न०) वायुयान, विमान, हवाई जहाज (व्योमयानं विमानं स्याद् अग्नियानं तदेव हि—अगस्त्य-संहिता)।

अग्नियुगः (पुं०) ज्योतिष शास्त्र के पाँच पाँच वर्ष के बारह युगों में से एक युग।

अग्नियोगः (पुं०) पंचाग्नि-साधन (अग्नियोगवहो ग्रीष्मे विधिदृष्टेन कर्मणा। चीर्त्वा द्वादशवर्षाणि राजा भवति पार्थिवः—महाभा, १३।१४।२।४३)।

अग्नियोजनम् (न०) यज्ञीय अग्नि को प्रज्वलित करने का कारण या हेतु)।

अग्निरक्षणम् (न०) सदैव अग्नि को बनाये रखना, पाचक अग्नि को बढ़ाते रहना।

अग्निरजः, अग्निरजस् (पुं०) इन्द्रगोप या बीरबहूटी नामक कीड़ा, अग्नि की शक्ति, सोना, स्वर्ण।

अग्निरहस्यम् (न०) अग्नि-पूजा का रहस्य या भेद।

अग्निराशिः (पुं०) अग्नि का ढेर।

अग्निरुहा (स्त्री०) मांसादनी या मांसरोहिणी नाम का पौधा।

अग्निरूप (वि०) अग्नि के आकार का, अग्नि के स्वभाव या प्रकृति का।

अग्निरूपम् (न०) अग्नि की प्रकृति या स्वभाव।

अग्निरेतस् (न०) सोना, स्वर्ण।

अग्निरोधिनिर्माणम् (न०) अग्नि की दाहिका शक्ति को रोक सकने वाला भवनादि।

अग्निरोहिणी (स्त्री०) एक प्रकार का रोग जिसमें शरीर पर फफोले पड़ते हैं।

अग्निलिङ्गम् (न०) आग की लपट देखकर उसके अनुसार शुभाशुभ फल निर्धारित करने की एक विद्या।

अग्निलोकः (पुं०) वह देवलोक जहाँ अग्निदेव निवास करते हैं।

अग्निवधूः (स्त्री०) अग्नि की स्त्री, स्वाहा।

अग्निवर्चस् (वि०) अग्नि की तरह चमकने वाला अथवा चमकीला।

अग्निवर्चस् (न०) अग्नि की कान्ति या चमक।

अग्निवर्ण (वि०) अग्नि या आग के रंग का, गरम, उष्ण (सुरां पीत्वा द्विजो मोहादग्निवर्णां सुरां पिबेत्—मनु० ११।९०)।

अग्निवर्णः (पुं०) आग का रंग; रघुवंश का अंतिम राजा, जो सुदर्शन का पुत्र था। सिंहासन पर बैठने के बाद यह सुशासन करने लगा। कुछ दिनों के बाद यह मदिरासक्त हो गया। फलस्वरूप यक्ष्मा रोग का शिकार हो गया। अंत में मंत्रियों के परामर्श से यह एक निर्जन स्थान में जाकर प्रज्वलित अग्नि में कूद पड़ा। उसके बाद उसकी रानी सिंहासन पर बैठ कर शासन करने लगी।

अग्निवर्णा (स्त्री०) बहुत तेज शराब या मदिरा।

अग्निवर्धक (वि०) अग्नि को बढ़ाने वाला, जठराग्नि को बढ़ाने वाला।

अग्निवर्धकः (पुं०) बलकारक औषधि, पथ्याहार।

अग्निवल्लभः (पुं०) चीड़ का वृक्ष, गोंद, राल।

अग्निवासस् (वि०) जिसका वस्त्र (अग्नि की तरह विशुद्ध) लाल रंग का हो।

अग्निवासस् (न०) विशुद्ध वस्त्र या पोशाक।

अग्निवाहः (पुं०) धूम्र, धुआँ, बकरा, अज, मेढ़ा।

अग्निवाहनम् (न०) बकरा, अजमेढ़ा, छाग,।

अग्निविद् (पुं०) अग्निहोत्री।

अग्निविद्या (स्त्री०) अग्निहोत्र, अग्नि की उपासना की विधि।

अग्निविसर्पः (पुं०) फूली हुई गिलटी में होने वाली पीड़ा, सूजन, शोथ।

अग्निविहरणम् (न०), अग्निविहारः (पुं०) अग्नीध्र से उत्तर वेदि तक यज्ञीया अग्नि का ग्रहण अग्नि के लिए हवन का किया जाने वाला अर्पण।

अग्निवीर्यम् (न०) अग्नि की शक्ति, सुवर्ण, सोना (हिरण्यमग्निवीर्यं तु प्रवदन्ति मनीषिणः)।

अग्निवेतालः (पुं०) एक वेताल (विक्रमादित्य की कहानी से संबंधित)।

अग्निवेशः (पुं०) चरक-संहिता के प्रथम रचयिता, जो आयुर्वेद का प्राचीन ग्रंथकार माना गया है।

महर्षि आत्रेय के शिष्य अग्निवेश ने आयुर्वेद का श्रेष्ठ ग्रन्थ लिखा है, जिसे आजकल चरक-संहिता कहते हैं। इस ग्रन्थ का नाम अग्निवेश संहिता भी है, प्रमाण-स्वरूप प्रत्येक अध्याय के अन्त में इति अग्निवेशकृत तंत्र चरक द्वारा संस्थापित हुआ, लिखा है, महर्षि चरक ने इसका संशोधन किया है, इसी से इस ग्रन्थ का नाम चरक-संहिता पड़ा।

मतांतर में अग्निवेश अग्नि के पुत्र थे। धनुर्विद्या में ये अद्वितीय थे। कौरवों और पांडवों के अस्त्रगुरु द्रोणाचार्य इनके मंत्र-शिष्य थे। द्रोणाचार्य को इन्होंने ही आग्नेयास्त्र की शिक्षा दी थी।

अग्निवेशमम् (पुं०) कर्म-मास का चौदहवाँ दिन।

अग्निवेश्यः (पुं०) बाईसवाँ मुहूर्त (ज्योतिष)।

अग्निव्रतः (पुं०) वेद की एक ऋचा।

अग्निशरणम् (नं०) अग्निशालम् नं०, अग्निशाला (स्त्री०) वह स्थान जहाँ पवित्र अग्नि रखी जाय।

अग्निशर्मन् (पुं०) अग्निशर्मा, अत्यन्त क्रोधी व्यक्ति, एक ऋषि।

अग्निशिखः (पुं०) दीपक, अग्निवाण, कुसुम का फूल।

अग्निशिखम् (नं०) केसर, स्वर्ण, सोना।

अग्निशिखा (स्त्री०) आग की लपट।

अग्निशुश्रूषा (स्त्री०) सावधानी से की जाने वाली अग्नि की पूजा।

अग्निशेखर (वि०) जिसकी चोटी पर अग्नि हो।

अग्निशेखरम् (नं०) सोना, स्वर्ण।

अग्निशौच (वि०) अग्नि के समान चमकीला; अग्नि द्वारा विशुद्ध या पवित्र किया हुआ।

अग्निश्री (वि०) आग की तरह दमकने वाला; अग्नि द्वारा प्रकाशित।

अग्निष्टुत् (पुं०)=अग्निष्टोमः।

अग्निष्टोमः (पुं०) एक प्रसिद्ध यज्ञ जिसमें १६ ब्राह्मण ५ दिनों तक हवन करते हैं।

अग्निष्टम् (नं०) रसोईघर, पाकशाला (अग्निष्ठेष्वग्निशालासु—रामायण, ६।१०।१६); अग्निकुण्ड।

अग्निष्वात्ताः (पुं०), अग्निस्वात्ताः।

अग्निष्वात्त नामक सप्तसंख्यक पितृविशेष। यह मरीचि के पुत्र थे। चातुर्मास्यगत-पितृयज्ञब्राह्मण में लिखा है—"ये वा अयज्वानो गृहमेधिनस्ते पितरोऽग्निष्वात्ता इति"।

माधावाचार्य ने इसके भाष्य में लिखा है कि मनुष्य-जन्म में अग्निष्टोमादि यज्ञ न करके केवल स्मार्त कर्म में रत रहने के कारण मरणोपरान्त ये अग्निष्वात्त रूप से प्रसिद्ध हुए। भाष्यकार का आशय यह है कि जीवतकाल में श्रौताग्नि-सेवा न करके मरणोपरान्त जो उत्तर पुरुषों द्वारा अग्नि में दी गयी आहुतियों को ग्रहण करता है वह अग्निष्वात्त वा अग्निस्वात्त है। अग्निस्वात्त शब्द की व्युत्पत्ति करने से भाष्यकार का अभिप्राय समर्पित हो जाता है। विष्णुधर्मोत्तर-पुराण के मार्कण्डेय-वज्र-संवाद में मार्कण्डेय ने कहा है—"पितृणां तु गणाः सप्त नामतस्तान्निबोध मे। योऽमूर्तिमताश्चैषां चत्वारश्च समूर्तयः॥ सभासदा बर्हिषदोऽग्निष्वात्तास्तथैव च। त्रयोऽमूर्तिमताश्चैते चत्वारस्तु समूर्तयः॥ क्रव्यादाश्चापहूताश्च आज्यपाश्च सुकालिनः। मूर्तिमन्तः पितृगणाश्चत्वारस्ते प्रकीर्तिताः॥"

अग्निसंयोगाः (पुं०) वह जो शीघ्र ही जल उठता हो।

अग्निसंस्कारः (पुं०) तपाना, शुद्धि के निमित्त अग्नि-स्पर्श करना, दाहकर्म।

अग्निसखः (पुं०) वायु, पवन, धुम, जंगली कबूतर।

अग्निसम्भव (वि०) जो आग से उत्पन्न हुआ हो, अग्निद्वारा प्रादुर्भूत।

अग्निसम्भवः (पुं०) जंगली कुसुम का फूल, शरीर में से निकलने वाला पंछा।

अग्निसम्भवम् (नं०) सोना, स्वर्ण।

अग्निसह (वि०) अदाह्य, अग्नि से न जलने वाला, अग्नि की ज्वाला सह सकने वाला।

अग्निसाक्षिक (वि०) अग्निदेव के समक्ष सम्पादित।

अग्निसात् (वि०) आग में जलाया हुआ, भस्मसात्।

अग्निसारः (पुं०) अग्नि की शक्ति, अग्नि का तत्त्व।

अग्निसारम् (नं०) रसाञ्जन।

अग्निसुतः (पुं०) कार्त्तिकेय (त्वामद्य निहनिष्यामि क्रौञ्चमग्निसुतो यथा। महाभा० ५।१५६।६३)

अग्निसूत्रम् (नं०) अग्नि का सूत या सूत्र, यज्ञीय घास की बनी हुई मेखला, मूँज की बनी हुई मेखला।

अग्निसूनुः (पुं०)=अग्निसुतः।

अग्निस्तम्भः (पुं०) अग्नि की दाहक शक्ति का रुकना, आग का जलना बंद होना, उक्त क्रिया में प्रयुक्त होने वाला एक प्रकार का मन्त्र।

अग्निस्तुत् (पुं०)=अग्निष्टोमः।

अग्निस्तोमः (पुं०)=अग्निष्टोमः।

अग्निस्थ (वि०) अग्नि में स्थापित, आग के समीप स्थापित।

अग्निस्फुलिङ्गः (पुं०) आग की चिनगारी।

अग्निस्वात्तः (पुं०) पितरों का एक वर्ग।

अग्निहोत्र (वि०) अग्नि का यज्ञ करने वाला।

अग्निहोत्रम् (न०) नित्य प्रातः सायं किया जानेवाला एक वैदिक हवन कर्म।

गृहस्थों का नित्य अनुष्ठेय एक यज्ञ। इसमें घर में सदा अग्नि की रक्षा की जाती है और प्रतिदिन नया ईन्धन देकर प्रज्वलित अग्नि में हवन किया जाता है। अग्निहोत्र दो प्रकार के हैं – माससाध्य और यावज्जीवन-साध्य। माससाध्य में विवाह के अनन्तर विहित मन्त्रों के

द्वारा अग्नि स्थापन पूर्वक होम करना होता है। यावज्जीवन-साध्य होम के लिए रक्षित अग्नि के द्वारा साग्निक ब्राह्मण के मरणनान्तर यह कार्य सम्पादित होता है। शतपथ ब्राह्मण-ग्रन्थ में इसका विशेष विवरण है। उपनिषदों में भी इस अग्निहोत्र की प्रशंसा की गयी है, जैसे – जिस प्रकार क्षुधित बालक माता को पकड़ लेते हैं उसी प्रकार सारे प्राणी अग्निहोत्र की उपासना करते हैं (यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते, एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते— छान्दोग्य ५।२४।५)।

अग्निहोत्रिन् (वि०) अग्निहोत्र करने वाला।

अग्निहोत्री (स्त्री०) यज्ञीय गाय (तामग्निहोत्रीं मृषयो जगृहुर्ब्रह्मवादिनः—भागवत ८।८।२)।

अग्नीध्रः (पुं०) यज्ञीय कर्म, यज्ञ; एक ऋत्विक् जो यज्ञाग्नि की रक्षा करते हैं (अग्नीध्रव्रत एव सम्प्रति भवान्)।

जम्बुद्वीप के राजा प्रियव्रत का यह ज्येष्ठ पुत्र था। सप्तद्वीप के राजा प्रियव्रत ने अपने सात पुत्रों को सात द्वीप दिये थे। अग्नीध्र को जम्बुद्वीप मिला था। अग्नीध्र के नौ पुत्रों में से नाभि नामक एक पुत्र था। इसी नाभि के पुत्र का नाम ऋषभ था।

अग्नीषोमः (पुं०) अग्नि और सोम।

अग्नीषोमीय (वि०) अग्नि और सोम संबंधी।

अग्निषोमीयम् (न०) अग्निसोम याग की हवि; एक यज्ञ (अग्निषोमीयं पशुमालभेत—ऋग्वेद)।

अग्न्यस्त्रम् (न०) आग की वर्षा करने वाला एक यंत्र, बन्दूक, तोप।

अग्न्या (पुं०) तीतर नामक पक्षी।

अग्न्यागारम् (न०) वह स्थान जहाँ पवित्र अग्नि की स्थापना की जाती हो (वसनश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे—रघुवंश ५।२५)।

अग्न्याधानम् (न०) होमकुण्ड में अग्निप्रदान।

अग्न्याधेयः (पुं०) वह ब्राह्मण जो पवित्र अग्नि की स्थापना करता या रखता हो, अग्निहोत्री, आहवनीय आदि तीन अग्निकुण्डों में अग्नि प्रदान का उत्सव।

अग्न्यालयः (पुं०) अग्न्यागारम् देखिए।

अग्न्याशयः (पुं०) पाकाशय। यह शरीर में एक बड़े आकार की ग्रंथि है। इसका स्थान उदर में आमाशय के निम्न भाग के पीछे की ओर है। साधारणतया यह आमाशय और बसा से ढँका रहता है। इसका दाहिना भाग कुछ बड़ा है। इसे अग्न्याशय का सिर कहते हैं। यह पाकाशय की मोड़ के भीतर रहती है। इस ग्रंथि का दूसरा लम्बा भाग सिर से आरम्भ होकर रीढ़ के सामने से होता हुआ दाहिनी ओर से बायीं ओर चला गया है। इसे अग्न्याशय का गात्र (शरीर) कहते हैं। वहाँ वह क्रमशः पतला हो जाता है इस कारण इस भाग को पुच्छ (पूँछ) कहते हैं। बायीं ओर यह प्लीहा तक पहुँच जाता है, इस पर कुछ छोटे-छोटे दाने दिखाई पड़ते हैं। इस ग्रंथि में रक्तसंचार अधिक होता है। प्लीहा की धमनी की बहुत सी शाखायें इसमें रस-संचार करती हैं। यदि इसको चीरा जाय तो इसमें एक सफेद नाली दिखाई देगी। जो सिर के दाहिने किनारे से पुच्छ तक जाती है। ग्रंथि के भिन्न-भिन्न भागों से अनेक सूक्ष्म नालियाँ आकर इस बड़ी नाली में मिलती हैं और अग्न्याशय में जो पाचक रस उत्पन्न होता है उसे नाली में पहुँचाती हैं। फिर यह नाली सारी ग्रंथियों में होती हुई दाहिने किनारे की नाली में जा मिलती है और वहाँ की नाली से मिल कर एक पित्तनलिका बनती है। यह नाली पाकाशय में एक छिद्र द्वारा खुलती है और अग्न्याशय का रस इस पाकाशय में पहुँच जाता है तथा आमाशय से आये हुए आहार के साथ यह रस मिल कर प्रबल पाचन क्रिया उत्पन्न करता है।

इस ग्रंथि में दो भाग हैं। प्रथम में पाचक रस बनता है जो नाली द्वारा पाकाशय में जाता है और दूसरा इसका सूक्ष्म भाग प्रथम ग्रंथियों के ही बीच में रहता है। ये एक प्रकार के रासायनिक पदार्थ हैं जो सीधे रक्त में चला जाता है। यह किसी नाली द्वारा बाहर नहीं निकलता।

अग्न्याशय में दो प्रकार के रोग होते हैं। एक तो जीवाणुओं के प्रवेश या संक्रमण से होता है और दूसरा बिना किसी कारण से ही अपने आप ग्रंथियों में हो जाता है। प्रथम प्रकार के रोग में ग्रंथि के भीतर के कुछ भागों में गलन होने लगती है। यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में ही अधिक होता है। एकाएक उदर के ऊपरी भाग में तेज दर्द, सुस्ती, नाड़ी का धीमा हो जाना, ताप का बहुत बढ़ जाना या कम हो जाना आदि इसके लक्षण हैं। उदर

फूल जाता है। रोगी निर्बल हो जाता है। क्षय रोग के लक्षण भी प्रकट होने लगते हैं। अपच्च बढ़ जाती है।

दूसरे प्रकार के रोग में अश्मरी (पथरी), अर्बुद, नाड़ीव्रण आदि उत्पन्न होते हैं। अर्बुद में कैंसर अधिक होता है।

आहार-विहार के असंयम से हृदय दुर्बल हो जाने पर रक्त-संचालन का कार्य धीमा हो जाता है। फलस्वरूप अग्न्याशय में रक्त का प्रवाह कम पहुँचता है। परिणाम यह होता है कि पाचक रस भी कम बनता है। खाद्य की परि-पाक-क्रिया मंद हो जाती है। इससे अजीर्ण, अफरा और रक्तहीनता आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

अग्न्यास्त्रम् (न०) हवाई बान, तोप बन्दूक आदि।

अग्न्युत्पातः (पुं०) अग्नि संबंधी उपद्रव, उल्कापात।

अग्न्युपस्थानम् (न०) अग्नि की पूजा या अर्चना; वह मंत्र जिससे अग्नि की पूजा या उपासना की जाती हो अग्निस्त्रिष्टुम् उपस्थाने विनियोगः--सन्ध्यापद्धति)।

अग्न्येद्यः (पुं०) वह जो आग लगाता हो।

अग्नमन् (न०) युद्ध, लड़ाई, समर।

अग्र (वि०) प्रथम, प्रारम्भिक, प्रधान, मुख्य।

अग्रः (पुं०) सम्मुख भाग, सामने का स्थान (अग्रे वह्निः पृष्ठे भानुः रात्रौ चुबुकसमर्पितजानुः। करतलभिक्षा तरुतलवासस्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः--मोहमुद्गर ३)।

अग्रकरः (पुं०) हाथ का अगला भाग, दाहिना हाथ, हाथ की उँगलियाँ।

अग्रकायः (पुं०) शरीर के सामने का भाग, शरीर का अग्रभाग।

अग्रकेशः (पुं०) बालों की सीधी रेखा।

अग्रगः (पुं०) नेता, मुखिया।

अग्रगण्य (वि०) प्रथम श्रेणी का, श्रेष्ठ, प्रधान।

अग्रगामिन् (वि०) पूर्वगामी, सामने जाने वाला।

अग्रज (वि०) प्रथम उत्पन्न।

अग्रजः (पुं०) ज्येष्ठ भ्राता, बड़ा भाई, ब्राह्मण।

अग्रजङ्घा (स्त्री०) पैर का अगला भाग।

अग्रजन्मन् (पुं०) ब्राह्मण, ज्येष्ठभ्राता।

अग्रजा (स्त्री०) ज्येष्ठ भगिनी, बड़ी बहन।

अग्रजात (वि०) प्रथम उत्पन्न, अग्रज, पहले जन्मा हुआ।

अग्रजिह्वा (स्त्री०) जीभ की नोक।

अग्रणी (वि०) नेता, अगुआ।

अग्रतः (क्रि० वि०) सामने, आगे, उपस्थिति में।

किसी दल के अगुआ होकर नहीं जाना चाहिए। क्योंकि यदि कार्य सफल हो तो सभी समान लाभवान होते हैं और कार्य में विपत्ति आ पड़े तो जो अगुआ हुआ था उसी पर मार पड़ती है (न गणस्थाग्रतो गच्छेत् सिद्धे कार्ये समं फलम्। यदि कार्ये विपत्ति स्यात् मुखरस्तत्र हन्यते--मित्रलाभ)।

अग्रतःसर (वि०) सामने जाने वाला।

अग्रतःसरः (पुं०) नेता, अगुआ।

अग्रदानिन् (पुं०) मृतक कर्म का दान लेनेवाला ब्राह्मण।

अग्रदूतः (पुं०) आगे जानेवाला दूत।

अग्रदेवी (स्त्री०) राजा की प्रधान रानी, राजमहिषी।

अग्रधर्षकः (पुं०) पहले आक्रमण करनेवाला।

अग्रधान्यम् (न०) खाने योग्य अन्न।

अग्रनिरूपणः (पुं०) भविष्य-कथन, भविष्य वाणी।

अग्रपाणिः (पुं०) दक्षिण हस्त, दाहिना हाथ, हाथ-का अगला भाग।

अग्रपार्तिन् (वि०) पहले घटितहोनेवाला।

अग्रपादः (पुं०) पैर का अगला भाग, पैर का अँगूठा। (नवकिसलय-रागेभाग्रपादेन--महावीर, ३।१२)।

अग्रपूजा (स्त्री० सर्वोपरि सम्मान।

अग्रपेयम् (न०) पीने या पान करने में प्रथमता।

अग्रप्रदायिन् (वि०) आगे या पहले देनेवाला, पेशगी देनेवाला (तेषामग्रप्रदायी स्याः कल्पोत्थायी प्रियं वदः--महाभा० ५।१३५।३५)।

अग्रबीज (वि०) डण्ठल पर उगनेवाला, दूसरे पेड़ पर उगनेवाला।

अग्रबीजः (पुं०) पेड़ की कलम।

अग्रभागः (पुं०) किसी वस्तु के सामने का भाग, अवशिष्ट भाग या अंश।

अग्रभागिन् (वि०) सबसे पहले पानेवाला (अग्र-भागो महाराजः)।

अग्रभावः (पुं॰) आगे होने का भाव, अवशिष्ट भाग, प्रथमता, अग्रगमन।

अग्रभुज् (वि॰) जो सबसे पहले खाता हो (स तानग्रभुजस्तात धान्येन च धनेन च—महाभा॰, १।१७८।१२), पेटू, मुक्खड़, औदारिक।

अग्रभूमिः (स्त्री॰) लक्ष्य, उद्देश्य, ऊपरी मंजिल।

अग्रम् (न॰) सर्वोच्च बिन्दु, नोक, सिरा, (धर्मस्य ब्राह्मणो मूलमग्रं राजन्य उच्यते—मनु॰ ११।८३); सामने का भाग, श्रेष्ठता, उत्तमता, उद्देश्य, ध्येय, लक्ष्य, प्रारम्भ, समूह, बढ़ती (साग्रं स्त्रीसहस्त्रम्—रामायण), तौल, खाद्यवस्तु या भोजन की वह माप जो दान में दी जाय (प्रयतो ब्राह्मणाग्रे यः श्रद्धया परया युतः—महाभारत १३।६५।१३), समय का अग्रभाग, पूर्व (नैवेह किंचनाग्रे आसीत्—बृहदारण्यक उप॰ १।२।१)।

अग्रमहिषी (स्त्री॰) प्रधान रानी, पटरानी।

अग्रमांसम् (न॰) हृत्पिण्ड, हृदय का मांस।

अग्रयणम् (न॰) एक प्रकार का यज्ञीय कृत्य।

अग्रयान (वि॰) सबसे आगे या पहले का।

अग्रयानम् (न॰) वह सेना जो शत्रु के सामने या मुकाबले में हो (मनोऽग्रयानं वचसाऽनिरुक्तं नमामहेदेववरं वरेण्यम्—भागवत ८।५।२६)।

अग्रयादिन् (वि॰) आगे चलनेवाला, आगे जानेवाला।

अग्रयोधिन् (पुं॰) प्रधान योद्धा, सेनापति, शूरवीर।

अग्ररन्ध्रम् (न॰) सामने या आगे का भाग खोलना (भासान्ना साग्ररन्ध्रं विशति—मालविका, १।१)।

अग्रलोहिता (स्त्री॰) एक वनस्पति।

अग्रवक्त्रम् (न॰) शल्य चिकित्सा में काम आनेवाला एक उपकरण।

अग्रवर्तिन् (वि॰) सामने स्थित, प्रथम। (अग्रवर्ती पुनः पुनः)

अग्रवातः (पुं॰) ताजी हवा, विशुद्ध वायु।

अग्रशोभा (स्त्री॰) पर्वत-शिखर का सौन्दर्य (कैलासशैलस्य यदग्रशोभाम्)

अग्रसन्धानी (स्त्री॰) यमराज का वह खाता जिसमें प्राणियों के पाप-पुण्य कर्म लिखे जाते हैं।

अग्रसन्ध्या (स्त्री॰) प्रातःसंध्या।

अग्रसर (वि॰) आगे चलने वाला।

अग्रसारा (स्त्री॰) अधिक संख्याओं की गणना करने की पद्धति।

अग्रसूची (स्त्री॰) सूई की नोक।

अग्रहः (पुं॰) अविवाहित व्यक्ति, कुआँरा।

अग्रहणम् (न॰) अपरिग्रहः देखिए।

अग्रहणीय (वि॰) ग्रहण करने के अयोग्य, स्वीकृत करने के अयोग्य।

अग्रहर (वि॰) जिसे प्रथम या पहले दिया जाय।

अग्रहस्तः (पुं॰) हाथ का अगला भाग, हाथी के सूड़ का अगला भाग (अतिसाध्वसेन वेयते मे अग्रहस्तः—रत्नावली १)।

अग्रहायणः (पुं॰) वर्ष के आरंभ का मास, मार्गशीर्ष या अगहन मास।

प्राचीन समय में अग्रहायण से वर्षारम्भ माना जाता था। महाभारत के अनुशासन पर्व के १०६ और १०६ वें अध्यायों में इस का विवरण मिलता है। वाल्मीकि रामायण के तृतीय अध्याय के १६ वें श्लोक में तथा भागवत के एकादश स्कन्ध के १६ वें अध्याय के २७ वें श्लोक में भी इस विषय का प्रमाण मिलता है।

अग्रहारः (पुं॰) राजा के द्वारा ब्राह्मणों को दी हुई भूमि या ग्राम।

अग्रानीकः (पुं॰) सेना का अग्रभाग, सेनामुख।

अग्राम्य (वि॰) जो देहाती या ग्रामीण न हो (अग्राम्यशब्दाभिधानमौदार्यम्—कौटिलीय अर्थ २।१०), जो पालतू न हो, जंगली, वनैला।

अग्रावलेहितम् (न॰) श्राद्धकर्म का अन्न या भोजन।

अग्रासनम् (न॰) सम्मान का प्रथम आसन।

अग्राह्य (वि॰) अग्रहणीय, घृणित।

अग्राह्या (स्त्री॰) एक प्रकार की मृत्तिका जिसे विशुद्धता के लिए ग्रहण नहीं करना चाहिए।

अग्रिम (वि॰) आगे होने वाला, मुख्य, उत्तम, प्रथम, ज्येष्ठ।

आग्रीमः (पुं॰) ज्येष्ठ भ्राता, बड़ा भाई।

अग्रिमा (स्त्री॰) एक प्रकार का फल, रामफल।

अग्रिय, अग्रीय (वि॰) मुख्य, आगे होने वाला।

अग्रियः, अग्रीयः (पुं०) बड़ा भाई, ज्येष्ठ भ्राता।

अग्रियम् (न०) सर्वप्रथम होने वाला फल, सर्वोत्तम भाग या अंश।

अग्रिया [वेद] वि०—अग्रभाग पाने योग्य, अग्राह्य। अग्रभूत (विंश्वे अग्रियोत वाजाः-ऋ० सं० ३।७।-३।३)।

अग्रु (वि०) अविवाहित।

अग्रु (पुं०) अविवाहित पुरुष, कुमार; अंगुली।

अग्रुवः [वेड] (स्त्री०) नदियाँ, अंगुलियाँ (अग्रुवो गमनात् नद्यः-माघ। समग्रुवो समनेष्वञ्जन् ऋ० सं० ५।२।१५)।

अग्रूः (स्त्री०) कुमारी कन्या।

अग्रे (क्रि० वि०) सामने, आगे, उपस्थिति में।

अग्रेगः (पुं०) नेता, अगुआ, (सेनाग्रगः—रामायण ७।३५।६)।

अग्रेगा (स्त्री०) सामने जाना, पहले जाना, पूर्वगमन।

अग्रेगूः (पुं०) सामने या सीधे जाना।

अग्रेदधिषुः (–षूः) (पुं०) विवाहित स्त्री से विवाह करने वाला मनुष्य।

अग्रेदिधिषूः (स्त्री०) वह विवाहिता स्त्री जिसकी बड़ी बहन अविवाहिता हो।

अग्रेयूः (पुं०) पीने में अग्राधिकार।

अग्रेवनम् (–णम्) (न०) वन का प्रांत, वन की सीमा (अहमग्रेवनं ग :)।

अग्रेसर (वि०) अग्रगामी, आगे चलने वाला, पूर्ववर्ती, (अग्रेसरः सज्जनानामुपकारी जनो भवेत्)।

अग्रेसरिकः (पुं०) नौकर, सेवन; नेता, अगुआ।

अग्रोपहरणम् (न०) सबसे पहले कोई चीज भोजन।

अग्रोपहरणीय (वि०) जिसे सबसे पहले अर्पित किया जाय।

अग्र्य (वि०) सर्वप्रथम, सर्वोत्कृष्ट।

अग्र्याः (पुं०) बड़ा भाई, ज्येष्ठ भ्राता।

अग्र्यतपस (पुं०) एक मुनि।

अग्र्यम् (न०) घर या मकान की छत।

अग्र्या (स्त्री०) त्रिफला।

७

अघ् (पर०) (अघपति) भूल करना, अनुचित कार्य करना, पाप करना।

अघ (वि०) निकृष्ट, भयावह, पापपूर्ण, अपवित्र, अशुद्ध।

अघः (पु०) एक असुर जो कंस की सेना का प्रधान सेनापति था।

अघकृत् (वि०) पापी, अधर्मी, दुष्ट, दुर्जन।

अघघ्नः (पुं०) अघ राक्षस का वध करने वाले अर्थात् श्रीकृष्ण।

अघटन (वि०) जिसका होना संभव नहीं है, असंगत, असंलग्न, बेमेल, अयोग्य, अनुचित।

अघटनघटनापटीयसी (स्त्री०) ब्रह्मशक्ति माया। शक्ति और शक्तिमान अभिन्न है (शक्तिशक्तिमतोरभेदः—भाषा-परिच्छेद)। संसार में चैत्र नामक व्यक्ति और उसकी शक्ति को पृथक् नहीं माना जाता (न लोके चैत्रतच्छक्त्योर्न पृथक् गणना क्वचित् –पञ्चदशी)।

जीव का अणु-परिमाण मन स्वप्नकाल में विशाल कुम्भ मेले की कल्पना कर लेता है इसी प्रकार ब्रह्मशक्ति माया कल्पना से अनंतकोटि ब्रह्मांड रच लेती है। (अचिन्त्यरचनारूपम् देखिए)।

अघन (वि०) जो ठोस न हो।

अघनः (पुं०) श्रीकृष्ण।

अघनमानम् (न०) भवन के भीतर की माप (एवं तद् घनमानमुक्तमघनमानं वक्ष्यतेऽधुना—मानवीम संहिता ३३।३३१-३५)।

अघनाश (वि०) पाप नाश करने वाला।

अघनाशनः (पुं०) श्रीकृष्ण।

अघभोजिन् (वि०) अघभोजी, पापभोजी, जो केवल अपने लिए भोजन पकाता और खाता हो तथा देवताओं पितरों, अतिथियों आदि को अर्पित न करता हो।

अघम् (न०) पाप, कुकर्म, बुरा काम, दुष्कर्म, अपराध। जो मनुष्य केवल अपने लिए या अपने परिवार के लोगों के लिए अन्न पकाता है वह पाप भोजन करता है (भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्–गीता ३।१३)। भारतीय नियम यह है कि परिवार में एक व्यक्ति कमाता है तो वह परिवार के लोगों, सम्बन्धियों और पड़ोसियों को भी कुछ देकर खाता है। त्याग की शिक्षा घर से ही होती है।

अघमर्षण (वि०) पाप को दूर करने या हटाने वाला (यथाश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापापनोदनः । तथाघमर्षणं सूक्तं सर्वपापप्रणाशनम् संध्यापद्धति ।

अघमर्षणः (पुं०) मधुच्छंदा ऋषि का पुत्र और विश्वामित्र का पौत्र । (विश्वामित्रश्च गाधेयो देवराजस्तथा बलः । तथा विद्वान् मधुच्छन्दा ऋषभश्चाघमर्षणः ॥ 'ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' इत्यादि संध्या-मंत्र के द्रष्टा अघमर्षण ऋषि ही हैं । ऋग्वेद के अघमर्षण द्वारा दृष्ट कतिपय मंत्रों को मनु, वसिष्ठ, गौतम, बौधायन एवं याज्ञवल्क्य आदि धर्मशास्त्रकारों ने पापनाशक बताया है ।

अघमर्षण कालवादी थे । उनके मतानुसार कारण जल के साथ महाकाल का संस्रव होने से जगत् की सृष्टि हुई है । अघमर्षण के अभिप्राय का अनुसरण कर मैत्रेय्युपनिषद के शाकायन्य मुनि ने सृष्टि के पूर्ववर्ती महाकाल को अकाल एवं सृष्ट पदार्थों को गतिकम्पनादिसंवलित अवस्था को काल माना है । ऋग्वेद ८।८।४८ में अघमर्षण का मतवाद द्रष्टव्य है ।

अघमर्षणम् (न०) पापनाशक मंत्र ।

अघमार (वि०) पाप का नाश करने वाला, पापनाशक ।

अघसद् (वि०) जो केवल संकट या विपत्ति के समय में ही विलाप करता हो और उसे दूर करने का प्रयत्न न करता हो ।

अघरुद् (न०) एक प्रकार का मन्त्र जिससे पाप का निवारण होता है ।

अघर्म (वि०) ठंढा, शीतल (अघर्म शशिनो ज्योतिः)

अघर्मधामन् (पुं०) चन्द्रमा जिसकी किरणें शीतल होती हैं ।

अघल (वि०) जो पाप का नाश करता हो, पापनाशक ।

अघविषः (पुं०) सर्प, साँप ।

अघशंसः (पुं०) दुष्ट व्यक्ति (मा वस्तेन ईशत माघशंसः—शु० य० वेद) । चोर, तस्कर अघशंसस्य कस्यचित्—ऋ० वेद १।३।२।४) ।

अघशासिन् (वि०) दूसरे के पाप की सूचना देने वाला ।

अघाहारः (पुं०) प्रसिद्ध या मशहूर डाकू ।

अघा (स्त्री०) पाप की देवी, ज्योतिष में मघा नक्षत्र ।

अघायु (वि०) मूर्ख, मूढ़, अज्ञानी, हानि चाहने वाला, डाही, ईर्ष्यालु, पापी ।

अघायुस् (वि०) पापी, पापमय जीवन वाला । दूसरों को कुछ न देकर जो मनुष्य केवल अपना पेट भरता है वह अघायुः अर्थात् पापी है । हमारे यहाँ प्राचीन समय में गृहस्थ अपने खेत में उत्पन्न अन्न में से साल भर तक खाने योग्य अंश रख कर बाकी अन्न ग्राम के दरिद्रों को बाँट देता था । जो ऐसा नहीं करता था उसे चोर मान कर राजा सजा देते थे । साम्यवाद का यही प्राचीन आदर्श था ।

वैसे अघायुः व्यक्ति का जीवन धारण करना व्यर्थ है (अघायुरिन्द्रियारामोमोघं पार्थ स जीवति—गीता ३।१६) ।

अघारिन् (वि०) संकटग्रस्त, विपादापन्न ।

अघासुरः (पुं०) यह वकासुर और पूतना का छोटा भाई तथा कंस का सेनापति था । बाल्यकाल में श्रीकृष्ण जब नन्द के घर रहते थे, तब कंस ने उनका वध करने के लिए बकासुर और पूतना को भेजा था किन्तु श्रीकृष्ण ने दोनों का वध कर डाला । वकासुर श्रीकृष्ण के ऊपर प्रतिहिंसा की भावना से प्रेरित होकर उनकी हत्या करने के लिए अजगर के रूप में चार योजन का मुँह फैलाकर रास्ते में पड़ गया, श्रीकृष्ण के सखा ग्वाल बालक घर जाते समय अजगर के उस मुख को पहाड़ की गुफा समझ कर उसमें घुस गये । श्रीकृष्ण अजागर के उस छद्मवेष को जान गये और स्वयं भी उसके मुख के भीतर जाकर विराट रूप धारण करके उसका वध कर डाला ।

अघाह (पुं०) अपवित्रता का दिन, अशौच का दिन (अस्मिन्नघाहे न किमप्यहं दधे) ।

अघोर (वि०) जो भीषण न हो ।

अघोरः (पुं०) शिव, महादेव, शिव का दूसरा नाम । अघोरपंथी नामक शिव का एक उपासक-संप्रदाय है । यह अत्यन्त गन्दा होता है । गलित दुर्गन्धमय शव और मलमूत्र तक का भी वे भक्षण करते हैं । मदिरा-पान करने के लिए हर एक के हाथ में एक मनुष्य की खोपड़ी रहती है । नरबलि के द्वारा भी ये लोग पूजा करते हैं । निर्विकार और घृणारहित हो यही इन लोगों की नीति का मूलमंत्र

है। यह संप्रदाय बहुत प्राचीन है। इसका आदि स्थान बरोदा राज्य है। रुद्र के पाँच मुखों में से एक का नाम।

अघोरपथः (मार्गः) (पुं०) एक शैव संप्रदाय, शिव-पंथी, कापालिक, अघोरी।

अघोरप्रमाणम् (नं०) भीषण शपथ।

अघोररूपः (पुं०) शिव, महादेव।

अघोरा (स्त्री०) भाद्र कृष्ण चतुर्दशी।

अघोष (वि०) शब्दरहित।

अघोषः (पुं०) व्यंजन अक्षरों में से किसी का प्लुत स्वर।

अघ्नत् (वि०) न मारने वाला।

अघ्न्य (वि०) जो मारा न जा सके, जिसका वध न हो सके, अवध्य।

अघ्न्यः (पुं०) ब्रह्म।

अघ्न्य [वेद (स्त्री०) गाभी, गाय, गौ (न हि मे अस्त्यघ्न्या ऋ० ६।७।१२।४)।

अघ्रात (वि०) अनसूँघा, जो सूँघा न गया हो, अछूता।

अघ्रेयम् (नि०) जो सूँघने के योग्य न हो, मद्य, शराब; (अघ्रीयं लशुनादिकम्)

अङ्क् (आ०) (अङ्कयति, अङ्कयते, अङ्कयितुं, अङ्कित) वक्र गति से चलना, चिह्नित करना, गणन करना, कलंकित करना।

अङ्कः (पुं०) क्रोड़, गोदी, चिह्न, संख्या, पार्श्व,पहुँच, नाटक का एक भाग, काँटेदार औजार, टेढ़ी रेखा, दस प्रकार के रूपकों ने में एक, शरीर, देह, अपकर्म, पाप (ख्यातः शक्रो भगाङ्को विधुरपि मलिनः)।

अङ्क या संख्या संसार के आदि ग्रंथ ऋग्वेद में ही प्रथम दृष्ट होता है (एका च मे, तिस्रश्च मे ... चतस्रश्च मे, अष्टौ च मे—ऋग्वेद, पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम्—यजु० माध्यकिन शाखा—३६।३४। शरदो वधमानः, शतं हेमन्तान् शतं उ वसन्तान्—ऋग्वेद। अयी मे सप्त रश्मयः—ऋग्वेद मण्डल १ अनु० १५ सूक्त १०५ मंत्र ६। चतुस्त्रिंशद् वाजिनो देवबन्धो—ऋग्वेद मं. १ अनु० २२ सूक्त १६२ मंत्र १८। एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता द्वायन्तारौ भवतस्तथ रितुः—ऋग्वेद मण्डल १ अनु० २२ सूक्त १६२ मन्त्र १६)।

इससे प्रमाणित होता है कि १,२,३,४ ... शत सहस्र आदि संख्याओं (अङ्कों) का आविष्कार सबसे पहेंले हमारे ऋषियों ने ही किया था।

अङ्ककरणम् (न०) चिह्न लगाने की क्रिया।

अङ्कगत (वि०) चंगुल में आया हुआ (श्रियं युवाप्यङ्कगतामभोक्ता—रघुवंश १३।६७)।

अङ्कतन्त्रम् (न०) अंकगणित या बीजगणित।

अङ्कतिः (पुं०) पवन, वायु, अग्नि, ब्रह्मा, अग्निहोत्री, ब्राह्मण।

अङ्कधारणा (स्त्री०), अङ्कधारणम् (न०) किसी पुरुष को पकड़ कर रखने की रीति।

अङ्कनम् (न०) चिह्न, चिह्नित करने की क्रिया।

अङ्कपरिवर्तः (पुं०) दूसरी ओर घूमना या मुड़ना; गोद में लुढ़कना (अपि कर्णजाहविनिवेशिताननः प्रियया तदङ्कपरिवर्तमाप्मानुयाम्—मालविका ५।८)।

अङ्कपादव्रतम् (न०) एक प्रकार का व्रत।

अङ्कपालिः, अङ्कपालिका (स्त्री०)—गोद, आलिंगन, धात्री, धाय।

अङ्कपाली (स्त्री०) अंकप्रदेश, गोद, क्रोडप्रान्त।

अङ्कपाशः (पुं०) अंकगणित की एक विशेष विधि।

अङ्कभाज् (वि०) गोद में बैठा हुआ।

अङ्कम् (न०) जल, पानी।

अङ्कमुखम् (न०) नाटक का प्रस्तावित अंक।

अङ्कलक्ष्मो (स्त्री०) पत्नी, स्त्री, भार्या, अर्धांगिणी।

अङ्कलोड्यः (पुं०) एक प्रकार का वृक्ष, अदरख, आदी।

अङ्कलोपः (पुं०) संख्याओं का घटाव।

अङ्कविद्या (स्त्री०) गणित शास्त्र।

अङ्कशास्त्रम् (न०) अंकविद्या, गणित शास्त्र।

अङ्कागत (वि०) अङ्कगत।

अङ्कावतारः (पुं०) नाटक में किसी एक अंक के अंत में दूसरे अंक के अभिनय की दी जानेवाली सूचना।

अङ्कास्यम् (न०) अंकमुखम्।

अङ्कित (वि०) चिह्नित किया हुआ, निशान लगाया हुआ, गिना या गणना किया हुआ।

अङ्किन् (न०) एक प्रकार का ढोल या तंबूरा।

अङ्किनी (स्त्री०) चिह्नों की संख्या, चिह्नों या निशानों वाली स्त्री।

अङ्कुटः (पुं०) ताली, चाबी ।

अङ्कुरः (पुं०) नया कल्ला, अँखुआ (दर्भाङ्कुरपाचरणः क्षतः—शकुन्तलम् २।१०), केश, रक्त, शोथ, सूजन, गाँठ, गिल्टी, जल ।

अङ्कुरकः (पुं०) घोंसला, नीड़ ।

अङ्कुरणम (न०) अंकुर उत्पन्न होना, कल्ला फूटना ।

अङ्कुरित (वि०) अंकुर या अँखुआ निकला हुआ, उगा हुआ (अङ्कुरितं मनसिजेनैव—विक्रमोर्वशी १।१२— मानो प्रेम अंकुरित हुआ । क्षेत्रमङ्कुरभूतं सर्वं दृष्ट्वा चेतः प्रमोदते) ।

अङ्कुशः (पुं०) हाथी चलाने का काँटा, रोक-टोक ।

अङ्कुशक्रमिः (पुं) मनुष्य के पेट में उत्पन्न होने वाले कृमि । इनका आकार बेलन के समान होता है । इसका स्थान मनुष्य के क्षुद्र अंत्र के पहले भाग में ही हैं । मुँह के पास कँटियादार अवयव होने के कारण इनको अंकुशक्रमि कहते हैं । ये सब जगह पाये जाते हैं । मादा कृमि कुछ लम्बा होता है । परंतु नर कृमि थोड़ा छोटा और पतला होता है ।

मनुष्य के पेट में जो मादा कृमि होते हैं वे उसी में अंडे देते हैं और वे विष्ठा के साथ बाहर निकलते हैं । विष्ठा में पड़े हुए अंडे भूमि पर आकर ढोलों के रूप में परिणत हो जाते हैं, जो केंचुल बदल कर छोटे छोटे कीड़े बन जाते हैं । किसी व्यक्ति के पैर पड़ते ही अंगुलियों के बीच की नरम त्वचा या बाल के सूक्ष्म छिद्र को छेदकर ये कीड़े उसके शरीर में प्रवेश कर जाते हैं । वहाँ रुधिर या लसिका की धारा में पड़कर वे हृदय, फेफड़े और वायु-नली में जा पहुँचते हैं, फिर अन्ननली तथा आमाशय से होकर ये अँतड़ियों में पहुँच जाते हैं ।

अंकुशक्रमि गंदा जल पीने अथवा संक्रमित भोजन करने से भी अंत्र में पहुँच जाते हैं । पेट में पहुँच कर ३ या ४ सप्ताह बाद मादा कृमि अंडे देने लगते हैं ।

बच्चों के पेट में ही बहुधा कृमि होते हैं जिससे इनके काटने से वे रोते-चिल्लाते रहते हैं । उपयोगी औषध सेवन के अतिरिक्त नमक-जल की पिचकारी मलद्वार से देने पर भी उपकार होता है ।

अंकुशग्रहः (पुं०) हाथी चलाने वाला व्यक्ति, महावत ।

अंकुशदुर्धरः (पुं०) मतवाला हाथी ।

अंकुशधारिन् (पुं०) वह जिसके पास हाथी हो ।

अङ्कोटः, अङ्कोठः, अङ्कोलः (पुं०) पिस्ते का पेड़ ।

अङ्कोलिका (स्त्री०) आलिंगन ।

अंक्य (वि०) दागने योग्य ।

अंक्यः (पुं०) एक प्रकार का ढोल ।

अङ्ख् (धा० प०) (अङ्खयति, अङ्खित) रेंगना, घुटनों के बल चलना, चिपटना, रोकना ।

अंङ्ग (धा० प०) (अगति, अंगति, अंगितुं, अंगित) जाना, चारों ओर घूमना, चिह्नित करना, गिनना दागना ।

अङ्गः (पुं०) शरीर का अंश (अंगं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम् । वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्—मोहमुद्गर २) बुढ़ापे के कारण अंग गल रहे हैं, सिरके केश पक गये हैं, मुख के दाँत गिर चुके हैं, ऐसे अतिवृद्ध लाठी लेकर चलते जा रहे हैं, परंतु आशा रूप पिंड को नहीं छोड़ते; भाग, अंश, पक्ष, गौण अंश (अंगांगिभावः देखिए) ।

भागलपुर के आस-पास का एक प्राचीन देशका नाम अंग था (अंग-वंग-कलिंगेषु सौराष्ट्र-मगधेषु च । तीर्थयात्रां विना गच्छन् प्रायश्चित्तीवते नरः—व्यास सं.) ।

(१) अंग-देश की राजधानी चंपा थी । आज भी भागलपुर के एक मुहल्ले का नाम चंपानगर है । महाभारत की परंपरा के अनुसार अंग देश के बृहद्रथ और अन्य राजाओं ने मगध को जीता था । बाद में बिंबिसार और मगध की बढ़ती हुई साम्राज्यलिप्सा का वह स्वयं शिकार हुआ । राजा दशरथ के मित्र लोमपाद तथा महाभारत के अंग-राज कर्ण ने वहाँ राज किया था । बौद्ध अंगुत्तरनिकाय नामक ग्रंथ में भारत के भूतपूर्व १६ जनपदों में अंग की गणना हुई है ।

(२) राजा अंग राजा बलि का क्षेत्रज पुत्र था । इसका राज्य भी इसके नामानुसार ही प्रसिद्ध था । भागलपुर से उत्तर में स्थित प्रदेश में अंग देश था, जिसकी राजधानी चंपा थी, जो आजकल चंपारन के नाम से प्रसिद्ध है । जन्मांध महर्षि दीर्घतमा के द्वारा बलिराज की

पत्नी सुदेष्णा के गर्भ से अंग, वंग, कलिंग, पुंड्र और सुह्म नामक ५ पुत्र हुए। महाभारत में भी अंग-देश का नाम मिलता है। दुर्योधन ने कर्ण को अंगदेश का राजा बनाया था। अंग के जन्म के संबंध में महाभारत में लिखा है—जन्मांध महर्षि दीर्घतमा ने प्रद्वेषी नामक एक सुंदरी कन्या से विवाह किया था। उसके गर्भ से गौतम आदि कुछ पुत्रों के जन्म के अनंतर यह पति के विरुद्ध हो गयी। पत्नी के इस दुराचरण को देखकर दीर्घतमा ने नियम बना दिया कि, जीवित या मृत पति की अवज्ञा करके यदि कोई नारी अन्य पति ग्रहण करती है तो उसे पतित मानना होगा। पति की बात सुनकर क्रोधित होकर उसने पुत्रों को आदेश दिया कि वे अपने पिता को गंगा में फेंक दें। पुत्रों के द्वारा पिता को गंगा में फेंक देने के बाद वे तैरते हुए पाताल में बलिराज के पास आये। बलिराज ने सारा वृत्तांत सुनकर दीर्घतमा को आश्रय दिया। बलिराज की पत्नी सुदेष्णा उस समय तक भी संतान-रहित थी। बाद में बलिराज ने दीर्घतमा को अपनी स्त्री के गर्भ में संतान उत्पन्न करने के लिए अनुरोध किया है। अंध और अति वृद्ध महर्षि के पास स्वयं न जाकर सुदेष्णा ने अपनी धात्री की कन्या को भेज दिया। इस शूद्र-कन्या के गर्भ से दीर्घतमा के ११ ऋषि उत्पन्न हुए। इसके बाद राजा के आग्रह से सुदेष्णा स्वयं बूढ़े ऋषि के पास गयी। उन्होंने सुदेष्णा को छूकर कहा—"तुम्हारे गर्भ से ५ तेजस्वी पुत्र होंगे।" उनके नाम इस प्रकार हैं—अंग, बंग, कलिंग, पुंड्र और सुह्म और उनके देश भी उन नामों से प्रसिद्ध हुए।

अंगकर्मन् (न०) अंगक्रिया (स्त्री०) यज्ञ सम्बन्धी अनुपूरक क्रिया।

अंगकषायः (पुं०) शरीर का सार या तत्त्व।

अंगग्रहः (पुं०) ऐंठन, अकड़न।

अंगच्छेदकः (पुं०) चीर-फाड़ करने वाला डाक्टर, अस्त्र—चिकित्सक।

अंगज (वि०) शरीर से उत्पन्न।

अंगजः (पुं०) पुत्र, बेटा, सिर के बाल, केश, कामदेव, नशे का व्यसन, एक रोग।

अंगजम् (न०) रक्त, रुधिर।

अंगजात (वि०) शरीर से उत्पन्न।

अंगणम् (न०) अंगनम् देखिए।

अंगतिः (पुं०) सवारी, अग्नि, ब्रह्म, अग्निहोत्री ब्राह्मण।

अंगदः (पुं०) किष्किंध्या के बानर-राज बालि का यह पुत्र था। माता का नाम तारा था। रामचंद्र के द्वारा बालि के मारे जाने पर सुग्रीव राजा हुआ और अंगद को युवराज बनाया। बाद में बानर सेना का अधिनायक होकर यह रामचंद्र के पक्ष से लंका में युद्ध करने गया था और यही संपाति से सीता का पता लाया था। सुग्रीव के मर जाने पर यही किष्किंधा का राजा हुआ था (रामायण)। (२) लक्ष्मण का पुत्र तथा हिमालय के निकट अंगदि का राजा भी अंगद था। (३) गद और वृहती के पुत्र का नाम भी अंगद था।

अंगद्वीपः (पुं०) छः द्वीपों में से एक।

अंगनम् (न०) आंगन, सवारी, चलना, घूमना।

अंगना (स्त्री०) अच्छे अंगोंवाली स्त्री, ज्योतिष में कन्या राशि; उत्तर दिग्हस्तिनी।

अंगनाप्रियः (पुं०) अशोक वृक्ष।

अंगन्यासः (पुं०) मंत्रोच्चारण पूर्वक शरीर के भिन्न भिन्न अंगों में का स्पर्श।

अंगपालि, अंगपालिका (स्त्री०) आलिंगन, धात्री, दाई।

अंगप्रत्यंगम् (न०) शरीर के छोटे बड़े सब अंग।

अङ्गभङ्गः (पु०) शरीर के किसी अंग का नाश, पक्षाघात, लकवा।

अंगभूः (पुं०) पुत्र, बेटा, कामदेव।

अंगभू (न०) शरीर, देह, उपाय, मन, छः की संख्या का वाचक शब्द।

अंगमन्त्रः (पुं०) एक प्रकार का मंत्र।

अंगमर्दः (पुं०) शरीर दबाने की क्रिया, शरीर दबाने वाला व्यक्ति। अगडाई।

अंगमर्षः (पुं०) गठिया का रोग।

अंगयागः (पुं०) किसी प्रधान यज्ञ के अन्तर्गत कोई गौण यज्ञीय कर्म।

अंगरक्षकः (पुं०) शरीर की रक्षा करने वाला व्यक्ति।

अंगरक्षणम् (न०) किसी की रक्षा करने की क्रिया, कवच।

अंगरक्षणी (स्त्री०) अंगा, कवच, वर्म, उरच्छद ।

अंगरागः (पुं०) चंदनादि का लेपन, उबटन करने की क्रिया, उबटन ।

शरीर के विविध अंगों का सौंदर्य अथवा मोहकता बढ़ाने तथा शरीर को स्वच्छ रखने के लिए लगाई जानेवाली सामग्री। परन्तु साबुन की गणना अंगराग में नहीं की जाती।

सभ्यता के प्रादुर्भाव से ही मनुष्य स्वभावतः अपने शरीर के अंगों को शुद्ध, स्वस्थ, सुडौल और सुन्दर तथा त्वचा को सुकोमल, मृदु, दीप्तिमान्, और कान्तियुक्त रखने के लिए सतत प्रयत्नशील रहा है। यह निर्विवाद सत्य है कि शारीरिक स्वास्थ्य और सौन्दर्य प्रायः मनुष्य के आन्तरिक स्वास्थ्य और मानसिक शुद्धि पर निर्भर है तथापि इसे भी स्वीकार करना होगा कि किसी के व्यक्तित्व को आकर्षक और सर्वप्रिय बनाने में अंगराग और सुगंध विशेष रूप से सहायक होते हैं। प्राचीन युग में भी अंगराग और गंधशास्त्र सम्बन्धी कलाओं का उपयोग शारीरिक स्वास्थ्य और त्वचा की सौंदर्यवृद्धि के लिए किया जाता था।

अधुना वैज्ञानिक प्रगति से अंगरागों की रचना और प्रयोग में आने वाले संसाधनों की संख्या का विस्तार इतना बढ़ गया है कि अन्य वैज्ञानिक विषयों की तरह इस विषय का ज्ञानार्जन भी विशेष प्रयत्न द्वारा ही संभव है। विशेष प्रकार के साबुनों तथा अंगरागों का विस्तार और प्रचार शारीरिक सौंदर्य वृद्धि के लिए ही नहीं अपितु शारीरिक दोषों के निवारण के लिए भी बढ़ रहा है।

अंगविकल (वि०) अंगभंग, पक्षाघात से पीड़ित।

अंगविकृतिः (स्त्री०) रूप-परिवर्तन, मूर्छा, मृगी, अपस्मार ।

अंगविक्षेपः (पुं०) अंगों और भुजाओं की गति या चेष्टा ।

अंगविद्या (स्त्री०) शरीर के चिह्नों को देखकर शुभाशुभ फल बतलाने की विद्या ।

अंगवीरः (पुं०) प्रधान शूर ।

अंगवैकृतम् (न०) अंग-चेष्टा द्वारा मन की बात बतलाने की क्रिया, सिर हिलाकर स्वीकृति देने की क्रिया, शरीर का परिवर्तित रूप ।

अंगशोभा (स्त्री०) शरीर का शोभा या साजसज्जा । जो लोग अंगशोभा नहीं खोलते, जिनकी इन्द्रियाँ सुसंयत हैं, भोजन की मात्रा जो समझते हैं और जो श्रद्धावान् तथा सदा कर्मठ हैं, मार (काम) उन्हें आँधी से पर्वत की तरह मार नहीं सकता (असुभानुपस्सिं बिहरन्तं इन्द्रियेषु सुसंवुतं भोजनम् हि च मत्तञ्ञुं सन्धं आरद्धबिरियं । तं वे नप्पसहति मारो बातो सेलं ब पब्बतं--धम्मपद यमकवग्गो, ८)।

अंगस् (पुं०) पक्षी, चिड़िया ।

अंगसंस्कारः (पुं०), अंगसंक्रिया (स्त्री०) अंगों की शोभा बढ़ाने वाले कार्य ।

अंगसंहतिः (स्त्री०) अंगसौष्ठव, शरीर की दृढ़ता ।

अंगसेवकः (पुं०) शरीर की सेवा करनेवाला नृत्य ।

अंगहार (पुं०) अंगों का हाव-भाव, एक प्रकार का नृत्य ।

अंगहारिः (स्त्री०) हाव-भाव, रंगभूमि, नृत्यशाला, नाचघर ।

अंगहीन (वि०) अवयवरहित, अशारीरिक, बिकलांग ।

अङ्गाङ्गिभावः (पुं०) गौण-मुख्य-भाव, अवयवावयवीभाव, उपकार्योपकारकभाव, अनुग्राह्यनुग्राहकभाव, गुणप्रधानभाव । अंग--हाथ, पैर, शिर आदि और अंगी सम्पूर्ण शरीर । इसी प्रकार शाखा, पत्र, पुष्प, फलादि अवयव और संपूर्ण वृक्ष अवयवी है । संध्यावंदन में प्राणायाम गौण ब्रह्मज्योति का ध्यान मुख्य है । भृत्य अनुग्राह्य और प्रभु अनुग्राहक है । प्रजा उपकार्य है और राजा उपकारक ।

अंगानुकूल (वि०) शरीर के अनुकूल ।

अंगानुलेपनम् (न०) शरीर पर उबटन करने की क्रिया, उबटन ।

अंगारः (पुं०) जलता हुआ कोयला, मंगल-ग्रह, लाल रंग ।

लकड़ी का कोयला । नारी का शरीर घी का घड़ा-सा है और पुरुष का शरीर जलते कोयले के समान है । इस कारण बुद्धिमान मनुष्य इन दोनों को एक स्थान में कभी न रखें (घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान् । तस्मात् घृतञ्च वह्निञ्च नैकत्र स्थापयेत् बुधः --नीतिसन्दर्भ ७२)। अंगार को सैकड़ों बार धोने पर भी उसकी मलिनता नहीं छूटती (अंगारः शतधौतेन मलिनत्वं न मुञ्चति--हितोपदेश ८६)। यह इसलिए कहा गया है कि दुष्ट लोग अपनी दुष्टता कभी नहीं छोड़ते, अतः उनसे अलग रहना चाहिए ।

अंगारकः (पुं०) कोयला; मंगलग्रह; भौमवार; चिनगारी, स्फुलिंग।

अंगारकमणिः (पुं०) मूंगा, प्रवाल।

अंगारकृष्ण (वि०) कोयला सा काला।

अंगारधनिका (स्त्री०), अंगारपात्री (स्त्री)० अंगीठी, बोरसी।

अंगारपर्णः (पुं०) कुवेरसखा गंधर्वराज, अपरनाम चित्ररथ। द्रौपदी के स्वयंवर के लिए जाते हुए पांडव रात में गंगा-नदी के किनारे पहुँचे। वे जल में स्नान, संध्या-वंदनादि करने लगे। इतने में गंधर्वराज चित्ररथ वहाँ आ पहुँचा और पांडवों को साधारण मनुष्य समझ कर उनके ऊपर अस्त्र प्रहार करने लगा। इससे अर्जुन ने क्रोधित होकर उस पर आक्रमण कर दिया।

युद्ध में अर्जुन के आग्नेय अस्त्र के प्रयोग से उसका रथ भस्म हो गया और वह मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। उसकी स्त्री कुम्भीनसी के अनुनय और युधिष्ठिर के अनुरोध से अर्जुन ने उस गंधर्वराज को प्राणदान दे दिया। उसी समय से गंधर्वराज 'दग्धरथ' के नाम से पुकारा जाने लगा। अर्जुन से मैत्री करके गंधर्वराज ने अर्जुन को चाक्षुषी विद्या और एक सौ गंधर्व देशीय अस्त्र दिये और बदले में आग्नेयास्त्र प्राप्त किया।

अंगारम् (न०) अंगार।

अंगारवल्लरी (स्त्री०) गुंजा या घुंघची का पौधा।

अंगाराम्लः (पुं०) कार्बनिक एसिड।

अंगारिका (स्त्री०) अंगीठी; गन्ने का डंठल; पलास की कली।

अंगारिणी (स्त्री०) छोटी अँगीठी, लता, बेल।

अंगारित (वि०) जलाया हुआ, भूना हुआ, अधजला ; अंगार में परिणत।

अंगारी (स्त्री०) अँगीठी, बोरसी।

अंगारीय (वि०) कोयला बनाने के योग्य।

अंगिका (स्त्री०) चोली, अँगिया।

अंगिन् (वि०) शारीरिक, दैहिक, मूर्तिमान् , प्रधान, मुख्य।

अंगिरः, अंगिरस् (पुं०) एक वैदिक ऋषि, बृहस्पति, साठ संवत्सरो में से छठा संवत्सर, एक प्रकार का गोंद।

अंगिरसः [वेद] (पुं०) मध्यस्थानदेवता, भूस्थानदेवता, पृथ्वी की दैवी शक्ति।

अङ्गिरसाः (पुं०) वेदों में ये देवता, मनुष्यों में दैवी पुरुष तथा अग्नि के अनुचर कहे जाते हैं। भागवत पुराण के अनुसार अंगिरा और पुत्रहीन क्षत्रियराज रथीतर की कन्या के ये पुत्र थे। विभिन्न पुराणों में ब्राह्मण और क्षत्रिय अंगीरसों का उल्लेख मिलता है।

अंगिरा (पुं०) ब्रह्मा के यह मानस पुत्र थे, उनके मुख से निकले थे। इन्होंने कर्दम ऋषि की कन्या श्रद्धा से विवाह कर लिया था। इनके दो पुत्र उतथ्य और बृहस्पति ने दक्ष की दो कन्याओं स्वधा और सती से विवाह किया था। सप्तर्षियों और १० प्रजापतियों में यह एक थे। ये ऋग्वेद के अनेक मंत्रों के रचयिता थे। अथर्ववेद के आरम्भकर्ता होने के कारण इन्हें अथर्वा भी कहते हैं।

अङ्गीकार (पुं०), अंगीकृतिः (स्त्री), अंगीकरणम् (नं०) स्वीकार करने की क्रिया, स्वीकृति, प्रतिज्ञा।

अङ्गीकृत (वि०) स्वीकृत, अंगीकार किया हुआ।

अंगीभूत (वि०) अंग के अंतर्गत, अध्याय या प्रकरण के भीतर वाला।

अंगीय (वि०) अंग-संबंधी, शारीरिक।

अंगुः (पुं०) हाथ, हस्त।

अंगुत्तरनिकाय (पुं०) [बौद्ध] पालित्रिपिटक के अंतर्गत सुत्त-पिटक का यह चौथा ग्रन्थ है। इसमें ११ निपात हैं, जैसे एकक निपात, दुकनिपात इत्यादि। एक-एक बात के विषय में उपदेश दिये गये सुत्तों का संग्रह दुकनिपात में है। इसी प्रकार ११-११ बातों के विषय में उपदेश दिये गये सुत्तों का संग्रह एकादशनिपात में है।

अङ्गुरिः, अङ्गुरी (स्त्री०) उँगली।

अंगुलः (पुं०) उँगली, अँगूठा, अंगुल भर की नाप।

अंगुलिः (स्त्री०) हाथ की उँगलियों, हाथी की सूँड़ की नोक, एक नाप।

अंगुलितोरणम् (नं०) मस्तक पर लगाया जानेवाला चंदन का अर्धचंद्राकार तिलक, त्रिपुण्ड्र।

अंगुलित्रम्, अंगुलित्राणम् (न०)--धनुष चलाने के समय ऊँगुलियों में पहना जानेवाला दस्ताना।

अंगुलिमालः (पुं०) एक दस्यु का नाम। बौद्धकाल में एक ब्राह्मण कुल का दस्यु जिसका व्रत १०० व्यक्तियों की मौत के मुँह में झोंक कर उनकी अंगुलियों की माला पहनना था। इस कठोरकर्मी का पूर्व नाम अहिंसक था।

भगवान गौतम बुद्ध के धर्मोपदेश का प्रभाव उसके जीवन पर पड़ा और धर्मचक्षु खुल गये।

एकदिन महात्मा बुद्ध एक सघन वृक्ष के नीचे शान्त चित्त से बैठे हुए थे। उनके वस्त्र पीले थे। इतने में उनके शिष्य भदंत ने आकर समाचार सुनाया कि अंगुलिमाल डाकू के अत्याचारों से श्रावस्ती नगर की प्रजाएँ त्रस्त हैं। सुनते ही भगवान बुद्ध उठ खड़े हुए और जंगल में जहाँ उस डाकू का अड्डा था, वहाँ जा पहुँचे। एक साधु को अपनी ओर आते देख अंगुलिमाल उन्हें मारने के लिए दौड़ पड़ा और उनके सामने जाकर गाली बकने लगा।

गौतमबुद्ध ने शान्तभाव से कहा—"अंगुलिमाल मैंने सुना कि तुम बड़े बहादुर हो, मैं तुम्हारे साहस की प्रशंसा सुनकर तुमसे मिलने आया हूँ। अब तुम ही आगे बढ़ो, मैं जहाँ हूँ वहीं खड़ा रहता हूँ।"

परन्तु अंगुलिमाल हिल न सका। उसके हाथ में अस्त्र उठाने की शक्ति भी न रही, गौतमबुद्ध ने कहा—"तुम्हारी हिंसा के पाप से तुम्हारी शक्ति जाती रही। अब तुम हिंसा छोड़ दो, साधु हो जाओ, फिर तुम्हारे शरीर में शक्ति आ जायगी। जीवों की हिंसा करना पाप है। पाप का फल नरक का अनन्त दुःख तुम्हें भोगना ही पड़ेगा। आज से तुम संत और शान्त हो जाओ। संसार का तुम कल्याण करो।" अंगुलिमाल महात्मा बुद्ध के उत्तम बचनों से प्रभावित हो गया। उसने अस्त्र फेंक कर हाथ जोड़ कर गौतमबुद्ध से कहा—"भगवन्! मैं आप की शरण में आया हूँ। मेरी रक्षा कीजिए। आज आपने अपने अमूल्य बचनों से मेरे चित्त का अन्धकार दूर कर दिया है। मैंने बड़े-बड़े पाप किये हैं। मैं बड़ा दुःखी हूँ। मेरा उद्धार कीजिए।"

गौतमबुद्ध ने अंगुलिमाल, को आशीर्वाद देते हुए कहा—"अंगुलिमाल अपने पापों को शुद्ध चित्त से स्वीकार कर लेना ही आत्मशुद्धि का सबसे उत्तम उपाय है। तुम मेरे साथ चलो और भिक्षु बनकर जीव-सेवा में अपने जीवन को लगा दो।"

अङ्गुलिमुद्रा अङ्गुलिमुद्रिका (स्त्री०) मुहर-सहित अँगूठी।

अङ्गुलिमोटनम्, अङ्गुलिस्फोटनम् (न०) उँगली चटकाने की क्रिया।

अंगुलिसङ्ज्ञा (स्त्री०) उँगली का संकेत।

अंगुली (न०) अँगुली, उँगली।

अंगुलीपञ्चक (न०) पाँचों उँगलियाँ, पाँच उँगलियों का समूह।

अंगुलिपर्वन् (न०) उँगली का जोड़।

अंगुलिसम्भूतः (पुं०) उँगलियों का नाखून।

अंगुष्ठः (पुं०) अंगूठा।

अंगुष्ठमात्र (वि०) अंगूठे के बराबर, अंगूठे के परिमाण वाला। हृदय अंगुष्ठपरिमाण होने से उसमें रहने वाले सूक्ष्म शरीर को अंगुष्ठमात्र कहा गया है (अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्ये आत्मनि तिष्ठति—कठोपनिषद २।१।१२) अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्—ब्रह्मवैवर्तपुराण)।

अंगूठे के आकार का देह-मध्यस्थ पुरुष, बेदांत के मत से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि इन १७ अंगों वाला सूक्ष्म शरीर है। सबसे भीतर रहने के कारण इसी को अन्तरात्मा कहते हैं। इस लिंग-शरीर के अधिष्ठान रूप से कूटस्थ आत्मा विराजमान है। वही ईश्वर, पूजनीय तथा संसार के कल्पनाकारी आदि पुरुष हैं। इस प्रकार के देदीप्यमान आत्मा को अज्ञानी नहीं देखते, किन्तु योगी लोग उस सनातन परमात्मा को अपने भीतर अनुभव करते हैं (अंगुगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा लिंगस्य योगेन संयाति नित्यम्। तमीशमीड्यमनुकल्पमाद्यं पश्यन्ति मूढा न विराजमानम्। योगिनस्तं प्रपश्यन्ति, भगवन्तं सनातनम्—महाभारत सनत्कुमारोपदेश ४।१३)।

अंगुष्ठ्यः (पुं०) अंगूठे का नाखून।

अंगूषः (पुं०) नेवला; तीर, वाण।

अंगोषिन् (वि०) स्तुति करने योग्य, स्तुत्य।

अङ्घ् (आ०) (अङ्घते, अङ्घति) चलना; आरम्भ करना; डाँटना; शीघ्रता करना; शीघ्रता से बोलना; कलङ्क लगाना।

अङ्घस् (न०) पाप, दुष्कर्म।

अङ्घ्रिः (पुं०) पैर, बृक्षमूल; श्लोक का चरण।

अङ्घ्रिकवारि (न०) क्षेपदण्ड।

अङ्घ्रिपः (पुं०) बृक्ष, पेड़।

अङ्घ्रिपान (वि०) पैर या पैर की उँगली चूसने वाला।

अङ्घ्रिस्कन्धः (पुं०) टखना, गुल्फ ।

अच् (उ०) अचित, अचितते, अञ्चति, आनञ्च, अञ्चित) जाना, हिलना-डुलना, सम्मान करना; माँगना; प्रार्थना करना ।

अच् (पु०) व्याकरण में 'अच्' स्वर की संज्ञा है ।

अचक्र (वि०) बिना पहिए का ।

अचक्षुस् (वि०) नेत्र-विहीन, अन्धा ।

अचक्षुस् (न०) निकृष्ट नेत्र ।

अचञ्चल (वि०) जिसका चित्त चञ्चलता-रहित है, वासनाशून्य तथा पापपूण्य से पृथक् है, वह जितने दिनों तक जीवित रहेगा उतने दिनों तक उसे कोई भय नहीं सतायेगा (अनवस् सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो। पुञ्ञपापापहीनस्स नत्थि जागरतो भयं—धम्मपद, चित्त-वग्गो ७) ।

अचण्ड (वि०) जो उग्र स्वभाव का न हो, शांत ।

अचण्डी (स्त्री०) सीधी गौ, शांत स्वभाव की स्त्री ।

अचतुर (वि०) अनिपुण, चार संख्या से रहित ।

अचन्द्र (वि०) चन्द्रमारहित (अचन्द्रा तिथिरेधते) ।

अचपल (वि०) जो चञ्चल न हो, स्थिर, गतिहीन, न भूलने वाला ।

अचर (वि०) अचल, जो चलायमान न होता हो, अविरत ।

अचरम (वि०) जो अन्तिम न हो ।

अचर्मक (वि०) जो चमड़े का न हो, बिना चमड़े का ।

अचल (वि०) गतिहीन, स्थिर ।

अचलः (पु०) पहाड़, पर्वत, काँटा, सात की सूचक संख्या; आत्मा, ब्रह्म (नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः गीता २।२३) ।

अचलकन्यका (स्त्री०) पर्वतराज हिमालय की पुत्री, पार्वती ।

अचलकीला (स्त्री०) पृथ्वी, भूमि ।

अचलज (वि०) पर्वत से उत्पन्न ।

अचलजा (स्त्री०) पार्वती; नदी, सोता ।

अचलजात (वि०) जो पहाड़ से पैदा हो, पर्वत से उत्पन्न ।

अचलत्विष् (पु०) कोयल, पिक ।

अचलद्विष् (पु०) देवताओं के राजा इन्द्र जो पर्वतों के शत्रु थे ।

अचलधृतिः (स्त्री०) चार चरणों का एक प्रकार का छंद, जिसके प्रत्येक चरण में १६ वर्ण होते हैं ।

अचलपतिः (पुं०) हिमालय पर्वत ।

अचलम् (न०) ब्रह्म ।

अचलसप्तमी (स्त्री०) आश्विन शुक्ला सप्तमी ।

अचलसम्पत्तिः (स्त्री०) भूमि भवन आदि स्थिर संपत्ति ।

अचला (स्त्री०) पृथ्वी, भूमि ।

अचापलम् (न०) चित्त की चंचलता का अभाव । यह एक दैवी संपद है (दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् । भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत—१६।२-३) ।

अचापल्य (वि०) चपलता-रहित, स्थिर, शांत ।

अचापल्यम् (न०) स्थिरता, चंचलता-राहित्य ।

अचारु (वि०) जो सुंदर न हो, शोभा-रहित ।

अचित् (वि०) ज्ञानहीन, बुद्धि-रहित, धर्म-विचार-हीन । (न०) चेतना-रहित, जड़ ।

अचित (वि०) गया हुआ, अविचारित, बिखरा हुआ ।

अचित्त (वि०) ज्ञान-रहित जो समझ में न आवे ।

अचित्तिः (स्त्री०) भाव का अभाव, मूर्खता, अज्ञानता (सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः—ऋग्वेद, ७।८६।६) ।

अचित्वस् (वि०) न जानने वाला, अज्ञ (अचिकित्वान् चिकितुषश्चिदत्र—ऋग्वेद १।१६४।६) ।

अचिद्रूप (वि०) अचेतन-स्वरूप, जड़ । न्याय और वैशेषिक दर्शनों में आत्मा व्यापक होने पर भी स्वभावतः अचेतनही माना गया है । उसमें बुद्धि(चितिशक्ति) रूप गुण है । उस बुद्धि का कभी-कभी प्रकाश होता है और तभी आत्मा चेतन की तरह प्रतीत होता है । व्यापक आकाश में जिस प्रकार शब्द गुण है, उसी प्रकार आत्मा एक द्रव्य मात्र है, चेतनता उसका गुण है (प्राभाकरास्तार्किकाश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम् । आकाशवद्द्रव्यमात्मा शब्दवत्तद्गुणश्चितिः—पञ्चदशी ६।८८) ।

यथार्थ में वेदान्तमतानुसार आत्मा चिद्रूप (ज्ञान-स्वरूप) है । दर्पण में सूर्य का प्रकाश लेकर यदि उसे अंधेरे कमरे में छोड़ा जाय, तो वह प्रतिबिम्बित सूर्य-प्रकाश उस अंधेरे स्थान को कुछ प्रकाशित कर सकता है, उसी

प्रकारस्वयं प्रकाश आत्मा का प्रतिबिम्ब स्वच्छ अन्तःकरण में पड़ने से जीव-भाव आ जाता है और वह चेतन का प्रतिबिम्बित प्रकाश संसार को कुछ अंशों में प्रकाशित करता है (शुद्धचैतन्यरूपोऽइम् आत्मारामोऽहमेव च—ब्रह्मनामा-बलोमाला तस्य मासा सर्वमिदं विभाति कठोपनिषद् २।५।७५) ।

अचिन्तनीय, अचिन्त्य (वि०) अबोधगम्य, अज्ञेय, कल्पनातीत, (इन्द्रियेभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्) ।

अचिन्तित (वि०) जिसका चिंतन न किया गया हो, आकस्मिक ।

अचिन्तितपूर्व (वि०) जिसके विषय में पहले मनन या विचार नहीं किया गया हो (अचिन्तितपूर्वोयं दुर्घटना) ।

अचिन्त्यः (पुं०) ब्रह्म, शिव ।

अचिन्त्यरचनारूपम् (न०) संसार की रचना का स्वरूप चिन्ता से परे है (अचिन्त्यरचनारूपं मनसापि जगत् खलु—पञ्च ६।१५०) । जिस प्रकार इंद्रजाल या जादू का रूप किसी की समझ में नहीं आता, उसी प्रकार संसार के किसी पदार्थ की रचना कैसे हुई, इसका निर्णय करना मनुष्यबुद्धि के परे हैं। एक छोटे बीज से महान वट-वृक्ष कैसे निकल आता है, वृक्ष में फूल कैसे खिलते हैं, उनमें से फल कैसे निकल आते हैं, सूर्य और नक्षत्र में ऐसा अपार उत्ताप कहाँ से और कैसे आता है, स्त्री-गर्भाशय में वीर्य-विंदु कैसे भ्रूण के रुप में परिणत हो जाता है, समय पाकर उसमें हाथ, पैर, मुख, मस्तक आदि अंग निकल आते हैं, कैसे उसमें चेतनता आती है। भूमिष्ठ होने पर कैसे पर्याय क्रम से शिशुत्व, यौवन, जरा, रोग आदि अवस्थाएँ होती हैं। वह देखता है, सुनता है, सूँघता है, जाता है और आता है ! (एतस्मात् किमिवेन्द्रजालमपरं यद्गर्भवासस्थितं रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदं प्रोद्भूतनानाङ्कुरम् । पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरारोगैरनेकैर्वृतम् । पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यतथागच्छति—पंच, ६।१४७) ।

वेदांत-मतानुसार यह सृष्टि मायाकल्पित है। माया अघटनघटनापटीयसी है, अर्थात् मनुष्य जिसकी रचना का स्वरुप समझ भी नहीं सकते, उसकी भी वह रचना कर देती है। माया कामधेनु की तरह अपनी कल्पना से ईश्वर तथा अगणित जीवों को प्रसव करती है ! वह द्वैत पान किया करें किंतु यथार्थ तत्त्व अद्वैत ही है त्मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ । यथेच्छं पिवतां द्वैतं तत्त्वत्वद्वैतमेव हि—पंचदशी। (६।२३६) ।

ब्रह्म की माया ब्रह्म से अभिन्न है (शक्तिशक्तिमतोरभेदः) । अनादि काल से ब्रह्म में माया लुप्त रहती है, उसमें सृष्टिकल्पना का आवेश होते ही "एक मैं हूँ, अनेक हो जाऊँ" ऐसी इच्छा उत्पन्न होती है। उस सर्वव्यापिनी माया में निष्क्रिय परमात्मा का आवेश होता है, यही ईश्वर भाव है और वह ईश्वर संसार की रचना करते है, इसी कारण ईश्वर को माया का वत्स कहा गया है। सृष्टि-रचना होते-होते जब जीवों के अन्तःकरणों का विकास होता है, तब सत्त्वगुण की प्रधानता के कारण मानो उसमें परमात्मा का प्रतिबिंब पड़ता है, यही जीवभाव है। ये भी माया के ही वत्स हुए। प्रलय में जब माया शक्ति अपनी कल्पना को समेट लेती है और परमात्मा की तरह निष्क्रिय हो जाती है तब ईश्वर और जीवादिकों का एकदम अंत हो जाता है।

अचिर (वि०) अल्प, थोड़ी देर रहनेवाला, संक्षिप्त ।

अचिरद्युतिः, अचिरप्रभा (स्त्री०) विद्युत् , बिजली,

अचिरप्रसूता (स्त्री०) जो अभी हाल में ही ब्याई हो या जन्मी या जन्माई हो। (अव्य.)

अचिरम् (अव्य०) हाल का, जल्दी से, तेजी या फुरती से ।

अचिरांशुः (पुं०) बिजली, विद्युत ।

अचिरात् (क्रि० वि०) तुरन्त, शीघ्रता से ।

अचिष्णु (वि०) सर्वत्र गमन करने या जानेवाला, सब में व्याप्त होने वाला ।

अचेतन (वि०) चेतनारहित, संज्ञाविहीन, निर्जिव, मूर्छित ।

प्राणियों की अपेक्षा लोहा पत्थर आदि अचेतन माने जाते हैं। परन्तु वेदांत के मत से सभी चेतन हैं। चेतन ब्रह्म की शक्ति माया की कल्पना से सृष्टि का विकास हुआ है। मूल कारण में जड़ नाम की कोई वस्तु थी ही नहीं। ब्रह्म ही जीव-जगत के निमित्त और उपादान दोनों कारण हैं। उपादान चेतन होने के कारण यह कल्पित तथा प्रतीयमान संसार-प्रपंच भी चेतन ही है। अतः पंडित लोग निरर्थक आत्मा और अनात्मा का पृथक विचार करते हैं (यथैव मृण्मयः कुम्भस्तद्वद्देहोऽपि चिन्मयः । आत्मानात्म-

विवेकोऽयं मुधैव क्रियते बुधैः—अपरोक्षानुभूति ६६ । सर्वं खल्विदं ब्रह्म–छन्दोग्य ३।१४।१।) । अन्तश्चेतना देखिए) ।

ब्रह्मातिरिक्त अचेतन एक परमाणु का भी पृथक अस्तित्व माना जाय तो भिन्न होने से दोनों ही 'वस्तु-जनित' सीमा के कारण अनित्य हो जायेंगे (अद्वैतवादः देखिए) । 'वस्तुजानित' सीमा प्रमाणित होने से काल के द्वारा भी सीमा माननी पड़ती है । काल की सीमा का अर्थ ही है जन्म और मृत्यु के बीच की स्थिति । यदि कारण ब्रह्म का जन्म माना जाय तो वह किससे उत्पन्न हुए, ऐसा प्रश्न उठ खड़ा होगा । यदि एक महाब्रह्म की कल्पना की जाय तो उसका कारण, फिर उसका भी कारण, इस प्रकार अनवस्था दोष आ जाता है (अन्योन्याश्रयः देखिए) । अतः जगत्कारण को अनादि स्वीकार करना होगा और उन्हें अनादि मानने से अनंत भी मानना पड़ेगा । इस कारण उस परमाणु को ब्रह्मातिरिक्त पृथक वस्तु नहीं माना जा सकता । वह भी ब्रह्माश्रित माया-शक्ति द्वारा कल्पित है । जैसे स्वप्न में मनकल्पित स्वाप्निक जगत् का पृथक् अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार माया-कल्पित जगत का भी ब्रह्मातिरिक्त पृथक् सत्ता नहीं है । पृथक् सत्तावान पदार्थ न रहने के कारण ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' हैं । अतः यह निष्कर्ष हुआ कि यथार्थ में अचेतन कुछ भी नहीं है ।

अचेतस् (वि०) चेतनता रहित, अचेत, चित्त-रहित, संज्ञाविहीन, निर्जीव, बेजान ।

साधारण जीव संसार को सत्य समझकर अनुकूल और प्रतिकूल विषयों में राग-द्वेष करके भ्रमित और क्लेशित होते रहते हैं । उनकी बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती और न वे नित्य सुख का स्वाद ही पाते हैं । ऐसे व्यक्तियों को ही 'अचेता' अर्थात् ज्ञानहीन कहते हैं । अध्यात्मशास्त्रों में लौकिक ज्ञान को अपरा विद्या या अज्ञान कहा गया है । परा विद्या या 'ज्ञान' केवल आत्मनिष्ठ है (द्वे विद्ये वेदितव्ये……परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते — मुण्डकोपनिषद १।४,५) । ऋग्वेदादि संसार की सारी विद्याएं अपरा विद्या यानी अज्ञान है, केवल आत्मा को जानने वाला ज्ञान ही परा विद्या है । इस प्रकार के आत्मज्ञानी ही माया-कल्पित संसार को मिथ्या वस्तु जानकर मनसे त्याग देते हैं । लौकिक दृष्टि से जो मनुष्य सांसारिक विषयों में उलझे रहते हैं उन्हीं को सर्वज्ञानविमूढ़नष्टबुद्धि और अचेता कहते हैं (सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः– गीता ३।३२) ।

अचेतान (वि०) चेतनता से रहित, अज्ञ, मूर्ख, (अचेतानस्य मा पथो वि दक्षः । –ऋग्वेद. ७।४।७) ।

अचेष्ट (वि०) चेष्टारहित, उद्योगविहीन, गतिहीन ।

अचैतन्यम् (न०) चेतना का अभाव, ज्ञानशून्यता ।

अचोदत् (वि०) न चलाने वाला, प्रेरित न करने वाला, मेलमिलाप का न होना (कर्तृदेशकालानामचोदनं प्रयोगे नित्यसमवायात्—कर्ममीमांसादर्शन ४।२।२३) ।

अचोदस् (वि०) बाह्य उत्तेजना से मुक्त, इच्छानुरूप ।

अच्छ [वेद] (अव्य०) प्राप्त करने के लिए ।

अच्छ (वि०) पवित्र, विशुद्ध (अच्छं जलं भाति मुनेर्मनो यथा) ।

अच्छः (पुं०) स्फटिक, बिल्लौर; रीछ, भालू ।

अच्छन्दस् (वि०) जो वेद का अध्ययन न करता हो, बिना कल्पना या भावना के ।

अच्छभल्लः (पुं०) भालू, रीछ ।

अच्छा (अव्य०) ओर, तरफ ।

अच्छावाकः (पुं०) आह्वान-कर्ता; सोमयज्ञ कराने वालों में से एक ऋत्विज ।

अच्छावाकीयम् (न०) अच्छावाक का कार्य या पद ।

अच्छिद्र (वि०) अभग्न, जो टूटा न हो, निर्दोष ।

अच्छिद्रम् (न०) अभग्नता ।

अच्छिद्रोहनी (वि०) जिसका थन दोषरहित हो । (अच्छिद्रोहनीपापयद्यथा न सहस्रधारा पयसा मदी गौः— ऋग्वेद १०।१३३।७) ।

अच्छिन्न (वि०) अखण्डित, अविभक्त, समूचा ।

अच्छिन्नपर्णः, अच्छिन्नपत्रः (पुं०) शाखोटक वृक्ष ।

अच्छुप्ता (स्त्री०) जैनों की सोलह विद्यादेवियों में से एक देवी ।

अच्छूरिका (स्त्री०) चक्र, पहिया ।

अच्छेदिक (वि०) जो काटने के लिए ठीक या उपयुक्त न हो ।

अच्छेद्य (वि०) जिसका खंड या विभाग न हो सके, अविभाज्य ।

अच्छोदनम् (न०) मृगया, आखेट, शिकार ।

अच्छोदम् (न०) निर्मल जल वाला सरोवर ।

अच्छोदा (स्त्री०) एक नदी ।

अच्युत (वि०) च्युत न होने वाला, न गिरने वाला, स्थिर, अविचलित, अविनाशी ।

अच्युतः (पुं०) विष्णु, कृष्ण, बलराम, आत्मा ।

अपने स्थान से जिनकी च्युति या क्षरण नहीं है । जो अपने स्वभाव में सदा स्थित हैं । सृष्ट वस्तुओं के प्रलय हो जाने पर भी इनका विनाश नहीं होता ।

अच्युतजः (पुं०) जैन देवताओं का एक वर्ग जिनकी उत्पत्ति विष्णु से कही गयी है ।

अच्युतवासः (पुं०) अश्वत्थ वृक्ष, पीपल का पेड़ ।

अच्युतस्थलम् (न०) पंजाब प्रदेश का एक स्थान ।

अच्युताग्रजः (पुं) बलराम, इन्द्र ।

अच्युतांगजः (पुं०) कामदेव, श्रीकृष्ण का एक पुत्र ।

अज् (पर०) (अजति, अजितवीत) चलना, जाना, नेतृत्व करना, फेंकना, छिटकाना ।

अजः (पुं०) (१) ब्रह्मा, विष्णु, शिव; बकरा, मेष राशि, चंद्रमा, कामदेव; एक प्रकार का अन्न ।

(२) राजा रघु के पुत्र और रामचंद्र के पितामह तथा दशरथ के पिता का नाम अज था । शापभ्रष्ट अप्सरा विदर्भराज की कन्या इंदुमती के स्वयंवर-सभा में उपस्थित होने के लिए जब अज चल पड़े तब रास्ते में एक हाथी ने उन पर आक्रमण कर दिया । तब उन्होंने उस हाथी को मार डालने के लिए आज्ञा दो । घायल होकर गिर पड़ने के बाद उसके शरीर से एक सुंदर गंदर्व निकल आया । उसने अपना समाचार बताया कि एक ऋषि को उपहास करने के कारण उनके शाप से वह हाथी वन गया था । आज अज के द्वारा वह मुक्त हुआ । इस कारण गंधर्व ने अज को संमोहन नामक एक अमोघ वाण दिया । इस वाण की सहायता से अज ने स्वयंवर सभा के सभी राजाओं को पराजित करके इन्दुमती से विवाह कर लिया था । इन्दुमती के गर्भ से दशरथ का जन्म हुआ । उसके बाद दशरथ को राज्य सौंप कर वह स्वर्ग चले गये ।

अजएकपाद्र [वेद] (स्त्री०) द्युस्थान-देवता ।

अजकर्णः (पुं०) बकरे का कान ।

अजकवः (पुं०), अजकवम् (न०) शिव का धनुष ।

अजकावः (पुं), अजकावम् (न०) शिव का धनुष; ववंरी नामक वृक्ष जिसे बकरे बहुत चाव से खाते हैं; काष्ठ का बना हुआ यज्ञीय पात्र ।

अजक्षीरः (पुं०) बकरी का दूध ।

अजजन् [वेद] (क्रि०) गया था ।

अजगन्घा (स्त्री०) एक प्रकार का पौधा जिसमें से बकरे की-सी गंध निकलती है, वनयामानी ।

अजगन्धिनी (स्त्री०) अजश्रृङ्गी ।

अजगरः (पुं०) अजदहा । यह एक बहुत बड़ा निर्विष साँप है । गति भी इसकी बहुत धीमी है । यह प्रायः १५ या २० हाथ तक लम्बा होता है । कहीं-कहीं ३० हाथ तक का अजगर भी दिखाई पड़ा है । यह दौड़कर शिकार नहीं पकड़ सकता । हरिण, खरगोश आदि छोटे जंतुओं के पास आने पर यह साँस से खींच कर निगल लेता है । कदाचित् यह पेड़ पर से मुँह लटकाये चुपचाप पड़ा रहता है और नीचे कोई शिकार आते ही उस पर कूद पड़ता है और उसे खा लेता है । यदि शिकार बड़ा हुआ तो उसे अपनी कुण्डली से जकड़ कर पीस डालता है और फिर उसे धीरे-धीरे निगल जाता है ।

मादा अजगर एक साथ १०० या उससे अधिक अंडे देती है । वह बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा करती है । वह उनके चारों ओर कुंडली मार कर पड़ी रहती है और उन्हें सेती रहती है । लगभग चार महीने के बाद अण्डे फूट कर बच्चे निकल आते हैं । बहुत छोटे बच्चों के योग्य खाद्य न मिलने के कारण अधिकांश मर जाते हैं । एक अजगर का जीवन २० से २५ वर्षों का होता है (अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम । दास मलूका कह गये सबके दाता राम)।

अजगरवृत्तिः (स्त्री०) न माँगने की जीविका । कुछ साधु अनायास प्राप्त वस्तु पर जीवन चलाते हैं । उनमें से कुछ ऐसे हैं जो प्राप्त खाद्य को हाथ से उठा कर मुँह में भी नहीं देते, खिला देने पर ही खाते हैं, जैसे—काशी के तैलंग स्वामी, बिहारी साधु आदि थे ।

अजगरी (स्त्री०) एक प्रकार का पौधा ।

अजगवम् (नं०)—शिव के धनुष का नाम, पिनाक ।

अजगवः (पुं०) शिव का धनुष, सूर्य, चन्द्र और ग्रहों के मार्ग का दक्षिणी अंश, साँपों का एक पुरोहित।

अजजीवकः (पुं०) बकरी पालने वाला व्यक्ति, गँड़ेरिया।

अजटा (स्त्री०) एक प्रकार का पौधा, भूम्यामलकी।

अजड़ (वि०) जो जड़ या मूर्ख न हो।

अजडा (स्त्री०) एक प्रकार का पौधा, कपिकच्छु नामक पौधा।

अजथ्या (स्त्री०) पीत चमेली, यूथिका, बकरों का झुण्ड या गिरोह।

अजदण्डी (स्त्री०) एक प्रकार का पौधा, ब्रह्मदण्डी।

अजदेवता (स्त्री०) ज्योतिष का पचीसवाँ अर्थात् पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्र, अग्नि।

अजन (वि०) निर्जन, एकांत।

अजनः (पुं०) तुच्छ या निकृष्ट व्यक्ति।

अजनयोनिजः (पुं०) दक्ष प्रजापति।

अजनाभः (पुं०) भारत का एक प्राचीन नाम।

अजनामकः (पुं०) खनिज द्रव्य।

अजनाशनः (पुं०) भेड़िया।

अजनिः (स्त्री०) रास्ता, मार्ग, पथ।

अजन्मन् (वि०) जन जन्मा हुआ न हो, अनुत्पन्न।

अजन्मन् (न०) मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण।

अजन्य (वि०) उत्पन्न किये जाने या होने के अयोग्य, मनुष्य जाति के विरुद्ध।

अजन्यम् (न०) दैवी उत्पात।

अजपः (पुं०) संध्योपासन न करने वाला ब्राह्मण, गँडेरिया; श्वासप्रश्वास के साथ स्वभावतः उच्चारित होने वाला हंस मन्त्र।

अजपतिः (पुं०) बकरों का स्वामी; मंगल ग्रह।

अजपात् (पुं) पूर्वा भाद्रपद नक्षत्र, ग्यारह रुद्रों में से एक।

अजमक्षः (पुं०) बबूल।

अजमायु (वि०) बकरे की तरह मिमियाने अर्थात् शब्द करने वाला (मेढक) (प्रेमायुरेक अजमायुरेकः— ऋग्वेद ७।१०३।६)।

अजमारः (पुं०) कसाई, एक प्राचीन प्रदेश।

अजमीढः (पुं०) अजमेर प्रदेश का पुराना नाम; युधिष्ठिर के एक पूर्वज।

अजमुखः [पुं०] दक्षप्रजापति का दूसरा नाम। जामाता शिवजी को अपमानित करने के लिए दक्ष ने एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। इस यज्ञ में शिव और सती को छोड़कर सभी देवी-देवता निमंत्रित हुए थे। सती बिना निमंत्रण पाये पिता के यज्ञ में जाने के लिए तैयार हुईं। शिवजी के उनके सामने आकर रास्ता रोकने पर सती काली, तारा आदि १० मूर्तियाँ धारण कर खड़ी हो गयीं। इससे शिव भयभीत होकर भाग गये। दक्ष-यज्ञ आरंभ होने पर पिता दक्ष शिव निंदा करने लगे। पति-निंदा सहन न कर सकने के कारण सती ने यज्ञस्थल में शरीर छोड़ दिया। देहत्याग के पूर्व उन्होंने पिता से कहा, जिस मुख से पिता ने उनके पति की निंदा की है, वह बकरे का मुख होगा। सती के शरीर छोड़ने का समाचार पाकर शिवजी अनुचरों के साथ आकर यज्ञ को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और दक्ष का सिर काट डाला। उसके अनंतर दक्ष-पत्नी की स्तुतियों से प्रसन्न होकर भोलानाथ शिवजी ने दक्ष का प्राणदान दिया। किंतु उनके कंधों पर एक बकरे का मुँह लगा दिया। उस समय से प्रजापति दक्ष का नाम अजमुख हुआ।

अजमोदा (स्त्री०) एक पौधा जो औषधि के काम आता है, अजवायन।

अजम्भ (वि०) जिसे दाँत न हो, दाँत-रहित।

अजम्भः (पुं० (बच्चे का) दाँत-रहित होने की अवस्था, सूर्य, मेढक।

अजय (वि०) जो जीता न जा सके।

अजयः (पुं०) पराजय, हार (सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ—गीता २।३८); अग्नि, विष्णु; एक कोशकार।

अजयदः (पुं०) रुद्र, शिव।

अजयराजन् (पुं०) यह राजपुताने का एक राजा था। इसने अपने नाम पर अजयमेरु नाम का विशाल नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया ; जो पर-वर्ती काल में अजमेर नाम से प्रख्यात हुआ। वह नगर अनेक सुंदर महलों और मंदिरों से सुशोभित था। एक समय इसने दिल्ली के हिंदू राजाओं को हराकर उस पर अधिकार कर लिया था।

अजया (स्त्री०) पटसन, पटुआ, भाँग, भ्रम, माया, दुर्गा की एक सखी।

अजव्य (वि०) जीतने के अशक्य ।

अजर (वि०) जरा या क्षय से रहित, अविनाशी, अक्षय, नित्य (अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् । गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्—मित्रलाभ ३) ।

अजरः (पुं०) देवता जो कभी जराग्रस्त नहीं होते ।

विद्या और धन का उपार्जन करते समय मनुष्य अपने को अजर और अमर समझे अर्थात् लगन से इन दोनों का उपार्जन करना चाहिए, ताकि जीवन आनंद से बीते । किंतु धर्म का आचरण करते समय प्रतिक्षण यह समझना चाहिए कि मृत्यु ने आकर मेरे सिर के केशों को पकड़ लिया है, वह अभी मुझे यमलोक में खींच ले जायगी ।

बचपन और प्रथम यौवन में अध्ययन में लवलीन रहना चाहिए, ताकि सफलता के साथ सर्वोच्च परीक्षा में उत्तीर्ण होकर उच्च पद में समासीन होकर स्वच्छन्दता से जीवन बिताया जा सके । किंतु आजकल प्रायः दिखाई पड़ता है कि राजनैतिक दल वाले छात्रों को उसका कर उपद्रव मचाते हैं । फलस्वरूप पढ़ाई में हानि होती है, बहुतों का तो जीवन ही व्यर्थ हो जाता है । छात्रों का अध्ययन ही तपस्या है (छात्राणाम् अध्ययनं तपः) । दूसरी ओर ध्यान बट जाने से अध्ययन में विघ्न होना स्वाभाविक है, इससे परिवार में भी अशांति फैलती है ।

यथेष्ट धन न कमा सकने से स्वजन-बंधु उस परिवार को दरिद्र समझते हैं । अपने परिचित वर्ग में निर्धन रहना बहुत ही दुःखदायक होता है (न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्) ।

किंतु धर्मोपार्जन करते समय सदा ही सोचना चाहिए कि मृत्यु सामने आ गयी है । पूजा-पाठ की अपेक्षा श्रेष्ठ धर्म यह है कि अपने शरीर-मन-वाणी से किसी को दुःख न हो; हो सके तो दूसरों की भलाई करता रहूँ । अट्ठारह पुराणों में व्यास जी के दो ही वचन हैं—परोपकार पुण्य है और पर-पीड़न पाप है (अष्टादश-पुराणेषु व्यासस्य वचन-द्वयम् । पुण्यं परोपकारश्च पापश्च परपीड़नम्) ।

अजरकः (पुं०) अपच, अजीर्ण ।

अजरत् (वि०) क्षय न होने वाला ।

अजरद्रुमः (पुं०) कल्पवृक्ष ।

अजरम् (न०) परब्रह्म ।

अजरा (स्त्री०) घृतकुमारी या घीकुवार का पौधा, ग्वारपाठा, छिपकली, बिस्तुइया ।

अजर्यम् (न०) मैत्री, दोस्ती ।

अजलम्बनम् (न०) सुरमा ।

अजवस् (वि०) जो तेज न हो, अक्रिय, निष्क्रिय ।

अजवस्तिः (पुं०) एक ऋषि ।

अजवीथिः, अजवीथी (स्त्री०) दक्षिणी मार्ग के तीन विभागोंमें एक जिसमें मूल, पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्र होते हैं; बकरे का मार्ग ।

अजशृङ्गी (स्त्री०) एक प्रकार का पौधा, मेढ़ासिंगी, मेषशृंगी ।

अजस्र (वि०) निरन्तर होनेवाला, असीम, अगणित ।

अजस्रम् (अव्य०) सदा, सतत, निरन्तर ।

अजहत्स्वार्था (स्त्री०) एक लक्षण, जिसमें लक्षण शब्द अपने वाच्यार्थ को न छोड़कर कुछ भिन्न अर्थ प्रकट करता है ।

अजहल्लक्षणा (स्त्री०) निज अर्थ का त्याग न कर उससे सम्बन्धित वस्तु में लक्षणा (शोणो धावति—यहाँ लाल रंग का घोड़ा दौड़ता है—अर्थात् शोण शब्द की घोड़े में लक्षणा है) ।

शब्द की शक्ति से अर्थबोध न होने पर लक्षणा-वृत्ति द्वारा अर्थ जानना होता है (लक्षणा शक्यसम्बन्धतात्पर्या-नुपपत्तितः—भाषापरि० ६१) । लक्षणा तीन प्रकार की है—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदहल्लक्षणा । जहत् माने त्यजत् (त्याग करके) अर्थात् शब्द की शक्ति से प्राप्त अर्थ को छोड़कर तत्सम्बन्धी वस्तु में लक्षणा; जैसे—गंगायां घोषः प्रतिवसति—इस वाक्य से गंगाप्रवाह में किसी मनुष्य का निवास करना सम्भव न होने के कारण गंगा शब्द का अर्थ पूर्णतया परित्याग करके गंगातीर में लक्षणा करनी होती है—यह जहल्लक्षणा का उदाहरण है । अजहल्लक्षणा का उदाहरण ऊपर दिया गया है । सोऽयं देवदत्तः, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि आदि वाक्यों में तद्देश और तत्काल विशिष्ट देवदत्त तथा एतद्देश और एतत्काल विशिष्ट देवदत्त एक ही व्यक्ति है, ऐसी अर्थप्रतीति नहीं हो रही थी; इस कारण तद्देश, तत्काल तथा एतद्देश, एतत्काल अंश छोड़कर केवल शरीर ग्रहण करने से दोनों एक ही व्यक्ति हैं ऐसा बोध होता है । अहं शब्द का अर्थ है जीव, जो क्षुद्र, अल्पज्ञ, अल्पशक्तिविशिष्ट है और ब्रह्म अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान हैं, अस्मि (हूँ) क्रियापद से दोनों

की एकता सिद्ध नहीं होती थी; इस कारण अहं शब्द के क्षुद्रत्व, अल्पज्ञत्व, अल्पशक्तिमत्त्वादि विशेषणों तथा ब्रह्म शब्द के अनन्तत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्वादि विशेषणों को छोड़कर दोनों के चैतन्यांश में लक्षणा करने से अस्मि क्रियापद द्वारा एकत्व सिद्ध होता है। क्योंकि चैतन्य एक ही है। इसे भागत्यागलक्षणा भी कहते हैं वह इसलिए कि इसमें कुछ भाग का त्याग और कुछ भाग का ग्रहण करना होता है। ऐसे ही तत् (ब्रह्म) और त्वं (जीव) इन दोनों शब्दों का भी भागत्यागलक्षणा द्वारा असि (हो) क्रियापद से एकत्व सिद्ध होता है। मूल ब्रह्मचैतन्य की छाया अंतःकरण पर पड़ने से 'जीवसंज्ञा' होती है। जिस प्रकार दर्पण में मुख की छाया मूल मुख से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार जीव का छाया-चैतन्य मूल चेतन ब्रह्म से भिन्न नहीं है (कूटस्थे कल्पिता बुद्धिः तत्र चित्प्रतिबिम्बकः। प्रणानां धारणाज्जीवः ससारेण स युज्यते--पञ्च ६।२३)।

अजहल्लिङ्ग (वि०) विशेषण की तरह व्यवहृत होने पर भी अपना लिंग न छोड़ने वाला, अपना चिह्न न बदलने वाला, नित्य लिंग।

जैसे—"वेदः श्रुतिर्वा प्रमाणम्"—इस वाक्य में वेदः पुल्लिंग, श्रुतिः स्त्रीलिंग और प्रमाणम् नपुंसक लिंग है। परंतु प्रमाणम् शब्द वेद और श्रुति के विशेषण रूप से प्रयुक्त होने पर भी उसने स्वलिंग का त्याग नहीं किया है, इस कारण वह अजहल्लिंग है। न+जहत् (त्यजत् त्याग नहीं किया है अपना लिंग जिसने, वह अजहल्लिंग है)।

अजा (स्त्री०) बकरी; सांख्य-दर्शन के अनुसार प्रकृति (अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां वह्वी प्रजा सृजमानां स्वरूपा--सांख्यकारिका १)।

अजा [वेद] (पुं०) सर्वत्र जाने वाला; तम को दूर करने वाला [अहेलमानो राखी अजाश्वश्रवस्य नामजा ऋ० सं० २।२।२।४]।

अजाकृपाणीयन्यायः (पुं०) किसी स्थान के ऊपर एक तलवार लटक रही थी। दैवसंयोग से उसके नीचे एक बकरा आ पहुँचा और वह तलवार उसके गले पर गिर पड़ी, जिससे वह कट गया। जहाँ दैवसंयोग से कोई विपत्ति आ पहुँचती है, वहाँ इस न्याय का प्रयोग किया जाता है।

अजागरः (पुं०) एक प्रकार का पौधा, भृंङ्गराज या मँगरौदा का पौधा।

अजागलस्तनः (पुं०) बकरी के गले में लटकता हुआ सलोम चर्मखंड। मनुष्य के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में एक भी जिसमें नहीं है उसका जन्म अजागलस्तन की तरह निरर्थक है (धर्मार्थकाम-मोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते। अजागलस्तनस्यैव तस्य जन्म निरर्थकम्--हितोपदेश)।

अजाजिः, अजाजी (स्त्री०) श्वेतजिरक, सफेद जीरा, (कृष्णाजाजी विडश्चैव शीतपाकी तथैव च-महाभारत १३।६१।४०)।

अजाजीवः, अजापालकः (पुं०) गँडेरिया, बकरी द्वारा जीविका निर्वाह करने वाला।

अजात (वि०) जो अभी तक उत्पन्न न हुआ हो, अनुत्पन्न।

अजातककुद् (पुं०) वह बैल जिसके कूबड़ न निकले हों।

अजातदन्त (वि०) बिना दाँत, का (अवस्था) जिसमें अभी दाँत न निकले हों।

अजातपक्ष (वि०) अविकसित पंखों या परों वाला।

अजातपुत्रनामकीर्तनन्यायः (पुं०) पुत्र न रहते हुए उसका नाम रख देना। जहाँ कोई बात न हो और केवल आशा के भरोसे कुछ आयोजन किया जाय, वहाँ लोग इस न्याय का प्रयोग करते हैं।

अजातवादः (पुं०) सृष्टि की उत्पत्ति ही नहीं हुई है ऐसा मत, वेदान्त के मत से स्वप्न की तरह सृष्टि माया की कल्पना मात्र है। सृष्टिकल्पना के पूर्व एक मात्र सत् वस्तु थी। उस समय ज्ञात ही नहीं था कि उसमें कुछ शक्ति है या नहीं। इस कल्पित सृष्टि को देखकर ऋषियों ने अनुमान किया है कि उस व्यापक सत्ता के किसी एक स्थान में शक्ति का विकास हुआ था और उसने 'मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ'-इस प्रकार की भावना की। उसी भावना का परिणाम यह दृश्यमान प्रपंच है (तद् ऐक्षत बहु स्याम् प्रजायेय-छान्दोग्य ६।२।३)।

न्यायदर्शन में परमाणुओं से संसार की उत्पत्ति बतायी गयी है। परंतु उत्पन्न वस्तु का नाश अवश्यम्भावी है (जातस्य हि ध्रुवोमृत्युः--गीता२।२७। उत्पत्ति के पूर्व और

नाश के अनंतर जो वस्तु नहीं रहती वर्तमान में प्रतीयमान होने पर भी उसकी स्थिति नहीं मानी जा सकती है (आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा — माण्डूक्यकारिका--२ । ३५) । स्वप्न में हस्ती, पर्वत आदि दिखाई पड़ने पर भी आदि और अंत में न होने के कारण वह नहीं है । क्योंकि स्वप्न में जो पदार्थ दिखाई पड़ते हैं वे सभी अंतःकरण में हैं और वहाँ इतना स्थान नहीं है कि हस्ती पर्वत आदि रह सके (वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहूर्मनीषिणः । अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना—माण्डूक्यकारिका ३०) । दूसरी बात यह है कि क्षण भर के स्वप्न में वर्षों की घटनाएँ क्रमशः प्रतीयमान होती हैं और जिन जिन देशों में स्वप्नद्रष्टा का मन स्वप्न में जाता हुआ सा प्रतीत होता है जाग्रत होने पर उन-उन स्थानों में उसकी स्थिति नहीं रहती (अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देहान्न पश्यति । प्रतिबुद्धस्य वै सर्वस्तस्मिन् देशे न विद्यते—-माण्डूक्यकारिका ३१) । इस प्रकार गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् की व्याख्या करते हुए वैतथ्य-प्रकरण में अजातवाद का प्रतिपादन किया है ।

यदि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति सत्य मानी जाय तो उससे जगत-कारण ब्रह्म की हानि होती है जैसे मिट्टी से लाखों-करोड़ों बर्तन उत्पन्न होने पर मिट्टी में कुछ कमी पड़ जाती है । ब्रह्म अक्षर और अक्षय हैं, उनमें से कुछ अंश का जगत बन जाना प्रमाणित होने पर उनकी अनित्यता सिद्ध होती है । (अद्वैतवादः देखिए) ।

यदि उत्पन्न वस्तु अपनी उत्पत्ति के पूर्व नहीं थी तो उस अभाव रूप वस्तु की किसी प्रकार उत्पत्ति सम्भव नहीं है । क्योंकि अभाव से किसी की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती । यदि उत्पत्ति के पहले वह वस्तु विद्यमान थी तो उसकी उत्पत्ति का कोई प्रयोजन ही नहीं रहता ।

सांख्य-मतानुसार असत् की उत्पत्ति नहीं होती और सत् का विनाश भी नहीं होता (नासदुत्पद्यते न च सद्विनश्यति—सांख्यसार ४।२२) । सृष्टि के विषय में यही यथार्थ अजातवाद है ।

अजातव्यञ्जन (वि०) जिसके स्पष्ट चिह्न (दाढ़ी, मूंछ आदि) न हों ।

अजातव्यवहारः (पुं०) अवयस्क व्यक्ति ।

अजातशत्रुः (पुं०) जिसका शत्रु जन्मा ही नहीं है, जिसका कोई शत्रु नहीं है । महाराजा युधिष्ठिर को अजातशत्रु कहते हैं, क्योंकि वे किसी को शत्रु नहीं समझते थे । वे दुर्योधन को सुयोधन कहते थे । जो धार्मिक मनुष्य किसी प्राणी को अपने शरीर से या कटुवचन से दुःख नहीं देता उसे दुःख देने वाला संसार में कोई नहीं रहता । ऐसा मनुष्य अजातशत्रु है । गीता में वचन है—जिससे कोई उद्वेग प्राप्त नहीं होता, लोगों के दुराचारण से जो उद्विग्न नहीं होता, सुख, दुःख, भय, उद्वेग आदि से जो मुक्त है, वह भगवान के प्रिय अर्थात् श्रेष्ठ सुखी मनुष्य है (यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः । हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः–१२।१५) । किसी को दुःख नहीं देते ऐसे महात्मा हमारे देश में अनेक थे और अब भी कुछ लोग वैसे हैं । किंतु दूसरों के दुराचरणों से विचलित नहीं होते ऐसे व्यक्ति आजकल दुर्लभ हैं । विकार का कारण उपस्थित होने पर जिनका चित्त विकृत नहीं होता वे ही धीर कहलाते हैं (विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः—उपदेशरत्नमालिका ७३) । दूसरे के बुरे बर्ताव से जो असंतुष्ट होता है वह स्वयं अपना शत्रु बन जाता है । क्योंकि अपराध किया उसने, सजा उसे ही भोगनी चाहिए, परंतु उसके बदले मैं असंतुष्ट हो गया ! असंतोष का अर्थ है—संतोष का अभाव अर्थात् दुःख । उसके दुराचरण से मैं दुःख भोगने लगा तो मुझसे बढ़ कर मूर्ख कौन हो सकता है ? संसार में सर्वत्र ऐसी ही मूर्खता फैली हुई है ।

आत्मनिष्ठ ज्ञानी के सामने संसार मायाकल्पित मिथ्या है । इस कारण वे किसी को सत्य नहीं समझते । फलस्वरूप किसी भी व्यवहार से वे असंतुष्ट नहीं होते । ऐसे ही व्यक्ति यथार्थ अजातशत्रु हैं । इसी विषय को गीता में "निर्वैरः सर्वभूतेषु" (११।५५) कह कर स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है ।

उपनिषद् में इसी नाम का एक राजा था, जिसकी राजधानी वाराणसी थी । महर्षि गर्ग इन्हें ब्रह्मज्ञान के विषय का उपदेश देने आये किंतु राजा का ब्रह्मज्ञान देख कर विस्मित हुए । उस युग में जितने ब्रह्मज्ञानी क्षत्रिय राजा थे उनमें ये एक थे ।

मगध के राजा अजातशत्रु पृथक् व्यक्ति हैं । इनका राज्यकाल ई० पूर्व षष्ठ शताब्दी है । इन्हीं के राज्यकाल में

महात्मा बुद्धदेव उत्पन्न हुए। पहले ये हिन्दू थे, बाद में बौद्ध हो गये थे।

अजाति (वि०) जिसकी कोई जाति न हो, जो उत्पन्न न होता हो, नित्य, शाश्वत।

अजादिः (पुं०) पाणिनी के गण।

अजानत् (वि०) न जानने वाला।

अजानिः (पुं०) जिसकी स्त्री न हो विधुर, व्यक्ति।

अजानिकः (पुं०) बकरों का झुण्ड।

अजानेयः (पुं०) उच्च जाति या नस्ल का घोड़ा।

अजानेय (वि०) उत्तम या उच्च कुल का, कुलीन, निर्भय, निडर।

अजापक्वम् (न०) आयुर्वेद में एक प्रकार का घृत जिसका प्रयोग खाँसी, दमा, क्षय आदि रोगों में होता है।

अजामि (वि०) जो रिश्ते का न हो (यत्र जामयः कृणवन्नजामि—ऋग्वेद १०।१०।१०) जो ठीक या समानान्तर न हो।

अजामिलः (पुं०) ये कान्यकुब्ज के एक सदाचारी ब्राह्मण थे। इनका अधिक समय शास्त्रपाठ, पूजा-अर्चना, अतिथि और वृद्ध की सेवा में ही व्यतीत होता था। एक दिन कुशा-संग्रह के लिए गये हुए अजामिल एक शुद्र वेश्या को भोगासक्त अवस्था में देककर उसके प्रेम में फँस गये। इसके बाद अपनी विवाहिता स्त्री को त्यागकर इन्होंने उसी शूद्राणी से विवाह कर लिया। इस दासी के गर्भ से उनके दस पुत्र उत्पन्न हुए। सबसे छोटे लड़के का नाम नारायण था। इसको वे सबसे अधिक मानते थे। उनकी मृत्यु के समय जब यमराज के दूत उन्हें नरक में ले जाने के लिए आये तब उन सबों को देखकर भयभीत होकर उन्होंने अपने लड़के नारायण को पुकारा। इसका यह परिणाम हुआ कि उस स्थान पर विष्णु के दूतगण उपस्थित हो गये और उनको छोड़ देने के लिए यमदूतों को विवश किया। मृत्यु के समय नारायण अर्थात् विष्णु के नाम के उच्चारण के साथ विष्णु के दूतों के मुख से हरि-कीर्तन सुनकर वे पाप से मुक्त हुए। मृत्यु के हाथ से परित्राण पाकर अजामिल तपस्या में लीन हुए और अन्त में उन्होंने विष्णुलोक को प्रस्थान किया।

अजायमान (वि०) ओ उत्पन्न न हुआ हो।

अजायुद्धः (पुं०) बकरियों का सींघ लड़ाकर युद्ध (अजायुद्धे ऋषिश्राद्धे प्रभाते मेघाडम्बरे। दम्पत्योः कलहे चैव बह्वारम्भे लघु क्रिया)।

अजाविकम् (न०) बकरा और भेड़ा (अजाविके तु संरुद्धो—मनु० ८।२३५)।

अजाश्वम् (न०) बकरा और घोड़ा।

अजि (वि०) जाने या गमन करने वाला, चलनेवाला।

अजिः (स्त्री०) गति, चाल, गमन, निक्षेप।

अजिज्ञासित (वि०) जिज्ञासा या प्रश्न न किया हुआ। महर्षि कणाद-प्रणीत वैशेषिक दर्शन का प्रथम सूत्र है—अध्ययन के अनन्तर धर्म-सम्बन्धी जिज्ञासा होनी चाहिये (अयातो धर्मजिज्ञासा)। पूछे बिना कोई बात नहीं बतानी चाहिये; बताने पर भी कुछ फल नहीं होता। वेदव्यास-प्रणीत वेदान्तदर्शन का भी प्रथम सूत्र है—समग्र वेद पढ़ने के बाद ब्रह्म क्या है ऐसी जिज्ञासा होती है (अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मसूत्र १।१)। बिना पूछे कुछ भी न बताना चाहिये, अनुचित रीति से पूछने पर भी नहीं (नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात् न चान्यायेन पृच्छतः—विष्णु-पुराण)।

अजित (वि०) जो जीता न जा सके, अजेय।

अजितः (पुं०) विष्णु, शिव।

अजितकेशकम्बली (पुं०) एक बौद्ध सन्त। इनका नाम अजित था और ये केश का कम्बल धारण करते थे, इस कारण इनका नाम अजितकेशकम्बली पड़ा। कठोर भौतिकवादी होने के कारण ये उच्छेदवादी थे। उनके मत का सिद्धान्त था कि कोई कर्म न तो पुण्य है और न पाप। मृत्यूपरान्त चारों तत्त्व अपने में मिल जाते है, शेष कुछ भी नहीं बचता।

अजितबला (पुं०) एक जैन देवता।

अजितापीडः (पुं०) एक राजा।

अजितेन्द्रिय (वि०) जो जितेन्द्रिय न हो, जो इन्द्रियों को बश में न रख सके।

अजिनः (पुं०) पृथुवंशीय राजा हर्षवर्धन तथा उनकी रानी धिषाणा का पुत्र।

अजिनपत्री (स्त्री०) चमगादड़।

अजिनम् (न०) काले मृग का रोमयुक्त चर्म एक प्रकार का चमड़े का थैला, शेर, चीता (ब्रह्मचार्य-जिनं धत्ते)।

अजिनयोनिः (पुं०) हिरन, बारहसिंगा।

अजिनवासिन् (वि०) मृगचर्म धारण करने वाला।

अजिनसन्धः (पुं०) ऊनी वस्त्र विक्रेता।

अजिर (वि०) तेज, फुरतीला।

अजिरः (पुं०) एक नाग-पुरोहित, एक प्रकार का चूहा, एक प्रकार का कृत्य।

अजिरम् [वेद] क्रि० वि०—क्षिप्र, शीघ्र (त्वा मीलते अजिरंदत्याय ऋ० सं० ५।३।१४।२)।

अजिरम् (न०) आँगन, अखाड़ा, शरीर, पवन, मेंढक, इन्द्रियगम्य कोई वस्तु।

अजिरशोत्रिस् (वि०) चमकने या प्रकाशित होने वाला।

अजिरा (स्त्री०) दुर्गा, एक नदी।

अजिराः [वेद] (स्त्री०) नदियाँ।

अजिह्म (वि०) सीधा, सरल, निष्कपट।

अजिह्मः (पुं०) मेंढक।

अजिह्मग (वि०) अपनी सीध में जाने वाला।

अजह्मिगः (पुं०) तीर, वाण।

अजिह्व (वि०) जिह्वारहित।

अजिह्वः (पुं०) उच्च कोटि का साधक जो स्वादु-अस्वादु का विचार न करके भोजन करता है और उसमें आसक्त नहीं रहता तथा जो हितकट, सत्य, परिमित वाक्य बोलता है।

अजीकवम् (न०) शिव का धनुष।

अजीगर्तः (पुं०) सर्प, साँप, शुनःशेप के पिता का नाम जो एक ऋषि थे। इन्होंने अपने द्वितीय पुत्र शुनःशेप को यज्ञ में बलि के लिए दे दिया था। यज्ञस्थल में उपस्थित होकर शुनःशेप ने विश्वामित्र के बतलाए हुए कुछ मंत्र सुनाये जिससे वहाँ उपस्थित इन्द्र और वरुण प्रसन्न हुए और शुनःशेप को इन्होंने मुक्त कर दिया। इनकी कथा ब्राह्मण ग्रंथों तथा रामायण में पायी जाती है।

अजीत (वि०) जो मुरझाया हुआ न हो, जो मूर्छित न हो।

अजीतिः (स्त्री०) क्षय या ह्रास से मिलने वाला छुटकारा, समृद्धि, ऐश्वर्य।

अजीर्यत् (वि०) 'जीर्ण न होने वाला,' अजर, अमर (अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्जन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्। अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत—कठोपनिषद् १।१।२८)।

अजीर्ण (वि०) न पचा हुआ।

अजीर्णम् (न०) अपच, मन्दाग्नि; अध्ययन; शक्ति, पराक्रम, ओजस्विता। विद्या पढ़कर अभ्यास न करने से आधी भूल जाने के कारण, शेष विद्या विषवत् हानिकर होती है। वृद्ध वयस में युवती भार्या भी विष के समान होती है। आरोग्य अवस्था में वैद्य या चिकित्सक का परामर्श विष के समान हानिकारक होता है और भुक्त वस्तु जीर्ण होने के पहले यदि पुनः खाद्य खाया जाय तो वह विष के समान हानिकारक होता है (अनभ्यस्ते विषं विद्या वृद्धस्य तरुणी विषम्। अरोगे तु विषं वैद्यः, अजीर्णे भोजनं विषम्—चाणक्यनीति ७५)।

अजीर्णिन् (वि०) अजीर्ण रोग से पीड़ित (अजीर्णी व्यथते शूलैः)।

अजीर्यत् (वि०) जीर्ण या नष्ट न होने वाला, अजर, अमर (अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधस्थः प्रजनान् अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोनानतिदीर्घे जीविते को रमेत—कठोपनिषद १।१।२८)।

अजीव (वि०) मृत, मरा हुआ, अवसन्न, श्रान्त, क्लान्त।

अजीवन (वि०) जो जीविका से रहित हो।

अजीवनम् (न०) सत्ता या अस्तित्व का न होना, मृत्यु, मौत।

अजीवनिः (स्त्री०) मृत्यु, मरण, मौत, (अभावे भावतां योऽस्मिन् जीवन्तोस्यास्त्वजीवनिः—भट्टिकाव्य ७।७७)।

अजीवितम् (पुं०) वह जिसकी सत्ता न हो, मृत्यु।

अजुगुप्सित (वि०) अनिंदित, अघृणित।

अजुष्ट (वि०) अव्यवहृत, असेवित।

अजेतव्य (वि०) जीतने के अयोग्य।

अजेय (वि०) जो जीता न जा सके।

अजैकपाद् (पुं०) पूर्वाभाद्रपद नक्षत्र, रुद्र की एक उपाधि।

अजोष (वि०) जो कृतज्ञ न हो।

अज्जुका, अज्जुका (स्त्री०) बड़ी बहिन, ज्येष्ठ भगिनी (नाटक में) वेश्या।

अजुल्लम् (न०) दहकता हुआ अंगारा, ढाल।

अज्ञ (वि०) न + ज्ञ = अज्ञ, ज्ञान-रहित, अज्ञानी, मूर्ख, अपढ़, अशिक्षित, जाहिल।

साधारण दृष्टि में पत्थर, लोहा, काठ, मिट्टी आदि ज्ञानरहित अर्थात् अचेतन हैं। वृक्ष, लता आदि को भी कुछ लोग ज्ञानहीन ही समझते हैं। अशिक्षित, अपढ़ या जाहिल व्यक्ति अज्ञ अर्थात् अल्पज्ञानयुक्त हैं। वैषयिक वस्तुओं का ज्ञान रखने वाला बुद्धिमान कहलाता है। शास्त्रज्ञ पण्डित भी ज्ञानी कहलाते हैं। परन्तु वेदान्त की दृष्टि से ये सभी अज्ञ हैं। केवल आत्मज्ञ व्यक्ति को ही ज्ञ (ज्ञानी) कहा जाता है।

ज्ञान दो प्रकार के होते हैं। एक अन्तःकरण-वृत्ति रूप ज्ञान जो प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है, दूसरा सच्चिदानन्द आत्मा का नित्य चित्-स्वरूप ज्ञान। वृत्तिज्ञान भी दो प्रकार के हैं—विषय-ज्ञान से लेकर समस्त शास्त्रों का ज्ञान अपरा विद्या है और जिस ज्ञान से अक्षर पुरुष आत्मा का बोध होता है वही परा विद्या है (द्वे विद्ये वेदितव्ये....... परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तम् छन्दो ज्योतिषमिति॥ अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते—मुण्डकोपनिषद् १।१।४-५)।

आत्मा का स्वरूप-ज्ञान सर्वत्र व्याप्त है। जिस प्रकार सभी प्रकार के बर्तनों में मृत्तिका व्याप्त है, सारे लौहास्त्रों में लोहा व्याप्त है, किरीट-कुण्डलादि अलंकारों में सुवर्ण व्याप्त है अथवा स्वाप्निक जीव-जगत् में स्वप्निद्रष्टा का मन व्याप्त है, उसी प्रकार चित्स्वरूप आत्मा सारे प्रपञ्च में व्याप्त है (अद्वैतवादः देखिए)। अतः संसार की कोई वस्तु ज्ञान से रहित नहीं है। वृक्षादि उद्भिज्जों में ज्ञान है, यह बात आधुनिक विज्ञान से भी प्रमाणित हो गयी है (लता व्येष्टयते वृक्षं तस्मात् पश्यन्ति पादपाः—महाभारत)। लता जब इधर उधर टटोलकर कोई आश्रय नहीं पाती तो वृक्ष को लपेटते हुए ऊपर चढ़ जाती है। इससे प्रमाणित होता है कि लता वृक्षादि भी अस्पष्ट होने पर भी कुछ अनुभव-शक्ति-युक्त हैं। बल्कि पादपों में जीवनी शक्ति मनुष्य, पशु आदि जीवों से भी अधिक हैं। मनुष्य का कोई अंग काटकर अलग कर देने से वह दूसरा मनुष्य नहीं बन सकता। परन्तु एक वृक्ष की शाखा काटकर मिट्टी में गाड़ देने पर प्रायः दूसरा वृक्ष बन जाता है। यह वृक्षों में अधिक चेतनता का ही विकास है। लोहा, ताँबा आदि भी चेतन हैं। सौ बार जलाने पर भी इनकी चेतनता नष्ट नहीं होती। आधुनिक विज्ञान ने इसे प्रमाणित कर दिया है, इस कारण ये सभी अन्तःसंज्ञाविशिष्ट हैं (अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः—महाभारत शान्तिपर्व)।

वेदान्तमत में संसार के कुछ भी अज्ञ या अचेतन नहीं है, सभी चेतन अर्थात् ज्ञानयुक्त हैं (सर्वं खल्विदं ब्रह्म—छान्दोग्य ३।१४।१। यथैव मृण्मयः कुम्भः तद्वद्देहोऽपि चिन्मयः। आत्मानात्मविवेकोऽयं मुधैव क्रियते बुधैः—अपरोक्षानुभूति ६६)। अतः पत्थर, काठ, मिट्टी आदि भी चेतन हैं। इस प्रमाण से संसार में कोई भी अज्ञ नहीं है।

अज्ञता (स्त्री०) ज्ञानहीनता, मूर्खता, जड़ता।

अज्ञात (वि०) न जाना हुआ, अविदित, अपरिचित।

अज्ञातकुलशील (वि०) जिसके वंश और चरित्र के संबंध में कुछ भी ज्ञात न हो (अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्—हितो)

अज्ञातयक्ष्मत् (नं०) न जाना हुआ रोग। (वि०)—जिसके रोग का पता न चले।

अज्ञातवास (वि०) जिसके वास स्थान का किसी को पता न हो।

अज्ञातवासः (पुं०) छिपकर रहना। किसी को पता न चले। ऐसे किसी निर्जन स्थान में निवास। जूए में हारने के कारण पांडवों को १२ वर्ष जंगल में तथा तेरहवे वर्ष अज्ञातवास में रहना पड़ा था। अपने वेश में रहने पर पांडवों को पहचाने जाने की आशंका थी, इसलिए वे अपना नाम बदलकर विराटनरेश की सेवा में जा लगे। युधिष्ठिर ने कंक नामक ब्राह्मण का भेष बनाया और जूए आदि का खेल दिखाने का काम लिया। भीम बल्लव नामधारी रसोइया बने, अर्जुन बृहन्नला नामधारी संगीत-शिक्षक बने, नकुल ग्रन्थिक संज्ञाधारी अश्वाध्यक्ष बने तथा सहदेव ने तंतिपाल नाम से गोरक्षण का भार सम्हाल लिया। द्रौपदी भी सैरन्ध्री बनकर रानी सुदेष्णा के केशप्रशाधन में जा लगीं। पांडवों का यह अज्ञातवास बड़ी ही सफलता से बीत गया।

अज्ञातकुलशील (वि०) जिसका चरित्र जाना हुआ न हो (अज्ञातकुलशीलस्य वासो देयो न कस्यचित्--हितोपदेश)।

अज्ञान (वि०) ज्ञानहीन, मूर्ख, आत्मज्ञान-रहित।

मकान नामक कोई वस्तु नहीं है। परन्तु अज्ञान के कारण लोग उसे सत्य समझते हैं ईंट, काठ, पत्थर, लोहा, आदि उपादानों को खोल दिया जाय तो मकान दिखाई नहीं पड़ेगा। उन उपादानों के अतिरिक्त मकान नामक कोई पृथक वस्तु नहीं है।

एक सुन्दर वस्त्र दिखाई पड़ता है, परन्तु वह भी नहीं है। एक एक करके सूतों को निकाल लिया जाय तो वह वस्त्र दिखाई नही पड़ेगा।

सूत दिखाई पड़ता है। इस कारण वह भी नही हैं। उस सूत से नोच नोच कर रुई निकाल ली जाय तो वह सूत हवा होकर उड़ जायगा।

रुई दिखाई पड़ती है अतः वह भी नहीं है। रुई में पाँच भूत हैं। उसके स्थूल परमाणु पृथ्वी है, अग्नि संयोग से धूम निकलने से जाना जाता है कि रुई में जल भी था, रुई गरम है इस कारण उसमें तेज भी है, रुई के भीतर छोटे छोटे कीट साँस लेते हुए जीवित रहते हैं, अतः उसमें वायु अवश्य है। सर्वव्यापी सूक्ष्म आकाश रुई में भी है। अतः दिखाई पड़ने पर भी वस्त्र सूक्ष्म पंचभूत मात्र है।

इस प्रकार सूक्ष्म विचार करने पर इस संसार के सारे पदार्थ पंच भूत मात्र हैं ऐसा प्रमाणित होगा।

हमारे नेत्र ऐसे बने हैं कि जो पदार्थ नहीं हैं उन्हें ही देखते हैं।

शंकराचार्य जी के दादागुरु गौड़पादाचार्य जी ने मांडुक्य उपनिषद की व्याख्या में लिखा है कि, जो वस्तु आदि तथा अंत में नहीं रहती वर्तमान में दिखाई पड़ने पर भी वह नहीं है (आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा--२।६)। अतः यह संसार अज्ञान से ही दिखाई पड़ता है। अज्ञान के कारण ही संसार में झगड़े, विरोध, संग्राम, मनुष्यवध आदि के द्वारा संसार अशांतिपूर्ण हो रहा है।

इस पृथ्वी पर २५ हजार भाषाएँ हैं, केवल अफ्रीका में ही १३ हजार। एक-भाषा-भाषी दूसरी भाषा का अर्थ नहीं समझते। अतः भाषाएँ कल्पित हैं। इस कारण भाषा के शब्दों के अर्थ को सत्य मानना अज्ञान है। एक पशु को कुत्ता, कुकुर, सारमेय, डाग आदि नामों से लोग पुकारते हैं, उस पशु के शरीर पर हाथ फेर कर देखने से एक भी नाम नहीं मिलेगा। वे नाम मनुष्यों के मुख के भीतर के आठ स्थानों के संघात से उत्पन्न निरर्थक ध्वनि मात्र है (अक्षरः देखिए)।

आदिम युग में मनुष्य ने अपने व्यवहार के सुभीते के लिए बच्चों से कहा—'यह तुम्हारा बाप है, वह माँ है, यह भाई है, वह बहिन है। किसी जाति के लोगों ने कहा-यह पिता, माता, भ्राता, भगिनी है। किसी दूसरे देश के वृद्धों ने कहा--दिस इज योर फादर, मादर, ब्रदर, सिस्टर आदि।

ईश्वर-सृष्ट मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि का व्यवहार सभी जीवों के लिए समान है। भाषाएँ यदि ईश्वर-सृष्ट होतीं तो पृथ्वी भरके सभी मनुष्य तथा इतर जीव उन भाषाओं के शब्दों और वाक्यों का अर्थ समझते। अतः भाषाओं के शब्दों और वाक्यों का अर्थ कल्पित है।

माया-कल्पित इस सृष्टि में भाषाएँ भी कल्पित ही होनी चाहिए। केवल सृजन करने वाले ब्रह्म ही सत्य हैं। यही यथार्थ ज्ञान है।

इस माया-कल्पित संसार में कल्पित धन की तरह कल्पित भाषाओं का भी व्यवहार होता है। विद्वान लोग पुस्तकों में अपना ज्ञान भर देते हैं और उसी को प्राप्त करके साधारण मनुष्य अपने जीवन को सुखी बना सकते हैं।

अज्ञानता (स्त्री०) ज्ञानहीनता, मूर्खता।

अज्ञानतिमिरान्ध (वि०) अज्ञानरूप तिमिर (अंधकार) से अन्ध, ज्ञानहीन (अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः--गुरुगीता २७)।

अज्ञाननाशः (पुं०) अज्ञान के नाशक, गणेश, ईश्वर, गुरु (यतो बुद्धिरज्ञाननाशो मुमुक्षो ... क्षदा तं गणेशं नमामो भजामः--गणेशाष्टक ५)।

अज्ञानप्रभव (पुं०) वह जो अज्ञान के द्वारा उत्पन्न हुआ हो।

अज्ञानप्रभवी (वि०) मूर्ख, ज्ञानरहित, अपंडित।

अज्ञानबन्धनम् (न०) अज्ञान रूप बन्धन। जीव के अंतःकरण में मोह या विपरीत ज्ञान का आवरण ही अज्ञान है। इस अज्ञान से सृष्टि को सत्य समझना, धन, पत्नी,

पुत्र आदि को अपना मानना, जड़ शरीर पर 'अहं' अभिमान करना आदि रूप विपरीत ज्ञान होता है (अद्वैतवादः देखिए)। शुद्ध स्वयंप्रकाश आत्मा में अज्ञान का बंधन नहीं रह सकता (अज्ञानबन्धनमिदं न च मे कदाचित् — अवधूतगीता ३।१३)।

अज्ञानम् (न०) माया, अविद्या, ज्ञान से मिट जाने वाला अनादि अनिर्वचनीय त्रिगुणात्मक भावरूप पदार्थ (वेदान्त); अविद्या, ब्रह्मशक्ति माया (चैतन्ये विमले पूर्णे कस्मिन् देशेऽणुमात्रकम् अज्ञानमुदितं सत्त्वं चैतन्यस्फूर्तिमाश्रितम्—शान्तिगीता ७।१५। अज्ञानन्तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं भावरूपं ज्ञानविरोधि यत्किञ्चित्—वेदान्तसार (३३)। अज्ञान पाँच प्रकार के हैं—तमः मोहः, महामोहः, तामिश्रम् और अन्धतामिश्रम् (उन उन शब्दों को देखिए); ज्ञानाभाव, मूर्खता, जड़ता, अज्ञान। (वि०) ज्ञानरहित, अज्ञानी, मूर्ख, गंवार। अविवेक, मिथ्याज्ञान, कर्तव्याकर्तव्यादि का विवेचन राहित्य। सत्-असत्, सत्य-मिथ्या, हित-अहित, पुण्य-पाप आदि का पृथक् ज्ञान विवेक है (ब्रह्मैव सत्यं वस्तु, तदन्यत् सर्वम् अनित्यमिति विवेचनं विवेकः— वेदान्तसार ३८)। सत् वस्तु सत्य और नित्य है। एक ब्रह्म ही सत्य है और उसके अतिरिक्त समस्त पदार्थ अनित्य और असत् या मिथ्या हैं।

किसमें अपना हित है और किसमें अहित, इसे अज्ञान नहीं जानने देता। सात्त्विक कार्यों से पुण्य की उत्पत्ति होती है, जिससे सुख मिलता है। राजसिक कार्यों से पाप की उत्पत्ति होती है, जिससे दुःख भोगना पड़ता है (सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः, तामसैर्नोभयं किन्तु वृथायुःक्षपनं भवेत्—पंचदशी ७।२६२)। सात्त्विक कार्य हैं—दया, क्षमा, उदारता, दान, त्याग, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, दान या उपहार न लेना, शौच, संतोष, तपस्या, धर्म-शास्त्रों का अध्ययन, भगवद्-भजन, सदाचार आदि। राजसिक कार्य हैं—निष्ठुरता, बदला, अनुदारता, कृपणता, ग्रहण, हिंसा, झूठ, चोरी, व्याभिचार, दान और उपकार लेना, अपवित्रता, चंचलता, विलासिता, असत् ग्रन्थों का अध्ययन, नास्तिकता, दुराचार आदि।

जो लोग सुख चाहते हैं उन्हें सात्त्विक कार्य करना चाहिये, यह तो बहुत ही सीधी बात है। परंतु सुख चाहने पर भी लोग अज्ञान के कारण अकर्म-कुकर्म करते हैं तो सुख कैसे मिलेगा ? जिसमें विवेक-ज्ञान है, वह दुःख के हेतुभूत राजसिक कार्य नही कर सकता। अपने शरीर से किसी को दुःख न हो, दूसरे मनुष्य के व्यवहार से भी जो अपने को दुःखी नहीं बनावे ऐसा पुरुष श्रेष्ठ है (यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रिय :—गीता १२।१५)। जिसके व्यवहार से किसी प्राणी को दुःख न हो उसे कभी कोई दुःख नहीं देता, यह प्रकृति का अमोघ नियम है। दूसरे के बर्ताव से जो अपने को दुःखी नहीं बनाता, उसे भी दुःख से रहित ही मानना चाहिए। दूसरों के बुरे बर्ताव से जो असन्तुष्ट होता है, क्रोधित होता है, दुःखी होता है, उससे बढ़कर अज्ञानी और कौन है—"अन्याय किया उसने, दु ख भोगना चाहिए उसीको। परंतु उससे मैं अपने को दुःखी क्यों बनाऊँ, ऐसा मूर्ख मैं नहीं हूँ।" ऐसा विचार रखने से असंतोष या क्रोध कभी उत्पन्न ही नहीं हो सकता।

ज्ञान का अभाव भी अज्ञान कहलाता है। ज्ञान का अर्थ यहाँ आत्मज्ञान है (आत्मन् देखिए)। आत्मा का स्वरूप-ज्ञान परा विद्या है, उससे भिन्न सभी विषयों का ज्ञान अपरा विद्या अर्थात् अज्ञान है।

व्यष्टि माया को भी अज्ञान कहते हैं। स्वप्नावस्था में स्वप्नद्रष्टा का मन ही स्वाप्निक जीवों का रूप धारण कर लेता है, फलस्वरूप स्वप्नद्रष्टा के मन की तरह स्वाप्निक जीव भी चलते-फिरते, सोचते-विचारते हैं। यहां स्वप्नद्रष्टा का मन समष्टि और स्वाप्निक जीवों के मन व्यष्टि हैं। दार्ष्टांत में माया समष्टि है और उससे कल्पित सांसारिक जीवों की माया व्यष्टि है। इसी व्यष्टि माया को वेदांत में अज्ञान कहते हैं और यही आनंदमय कोष है। यहाँ यह एक भावरूप व्यावहारिक वस्तु है। इस अज्ञान रूप माया से सारा संसार मोहित है। विश्व इसी पर आधृत है (महामाया-प्रभावेण संसारस्थितिकारिणः—दुर्गासप्तशती)। अज्ञान एक आसुरी सम्पद् अर्थात् महान दोष है (दम्भो-

दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च (अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्--गीता १६।४)।

अज्ञानमूर्तिः (स्त्री॰) अज्ञान की ७ अवस्थायें उसकी मूर्तियाँ हैं। ज्ञान की तरह अज्ञान की भी ७ अवस्थायें हैं। जैसे, बीजजाग्रत्, जाग्रत्, महाजाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न-जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति (बीजजाग्रत् तथा जाग्रन्महा-जाग्रत्तथैव च। जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत् सुषुप्तिकम्--महोपनिषद ५।८-६।

बीजजाग्रत् के सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस प्रकार बीजकोश में सम्पूर्ण वृक्ष बीजरूप में स्थित है, उसी प्रकार प्रलयकाल में माया के भीतर समग्र विश्व बीज रूप में स्थित रहता है और वही समय पाकर व्यक्त होता है। जाग्रद्दशा माया में बीजरूप में स्थित रहने के कारण उसे बीजजाग्रत कहते हैं। संसार की यह प्रथमावस्था महामोह है और इसी को अज्ञान भी कहते हैं, जो आत्मज्ञान से लयप्राप्त होता है (कुसूले संस्थितं बीजं तत्र सर्वो यथा द्रुमः। यथा यत्र स्थितं) विश्वं न तु व्यक्ति-मुपागतम्। बीजरूपं स्थितं जाग्रद बीजजाग्रत्तदुच्यते। संसारप्रथमावस्था महामोहः स एव हि। तदेवाज्ञानमित्युक्तं यत् स्वबोधेन लीयते—बोधसार)। इसे कोई-कोई प्रधान या मायोपहित ईश्वरभाव कहते हैं।

जाग्रत् के संबन्ध में कहा गया है कि बीजकोश में संस्थित बीज को खेत में डाल देने पर उसके अंकुरोद्गम की जो अवस्था है उसी की तुलना जाग्रत् के साथ की गयी है। सांख्य-दर्शन में इसी को महत्तत्त्व कहते हैं (कुसूले संस्थितं बीजं क्षेत्रे निक्षिप्यते यदा। अंकुरोन्मुखतां याति सावस्था जाग्रदुच्यते—बोधसार)।

महाजाग्रत् के संबंध में कहा गया है-सांख्यमतानुसार बीज के सूक्ष्म अंकुर की तरह अहंकार-तत्त्व को पंडित लोग महाजाग्रत् कहते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं की समष्टि को महाजाग्रत् कहते हैं (विशेषाहङ्कृतिः सूक्ष्माङ्कुरवद् व्यवहारिकी। महाजाग्रद बुधैः प्रोक्ता व्यष्ट्यवस्था त्रये तु ता। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्या-ख्येऽवस्था जाग्रदिति स्मृता—बोधसार)।

जाग्रतस्वप्न के संबंध में कहा गया है कि जिस समय जीव मन में अनेक कल्पनायें करता रहता है और जिस समय जागते हुए स्वप्न-सा प्रतीत होता है उसी को जाग्रत्-स्वप्न कहते हैं (जाग्रदेव यदा जीवो मनोराज्यं करोति हि। जाग्रतः स्वप्न इव यत् स जाग्रत्स्वप्न उच्यते-बोधसार)।

स्वप्न के विषय में कहा गया है कि, लोक-प्रसिद्ध स्वप्न को स्वप्नावस्था कहते हैं (लोकप्रसिद्धो यः स्वप्नः स स्वप्न इति कथ्यते--बोधसार)।

स्वप्नजाग्रत के संबंध में कहा गया है कि, जागरण-काल उपस्थित होने पर जब स्वप्न-दृष्ट विषयों के प्रत्यक्ष की तरह भान होने लगता है उसी को स्वप्नजाग्रत् कहते हैं (जातेऽपि जागरे जन्तोः स्वप्नदृष्टार्थभासनम्, प्रत्यक्ष-मिव संस्कारात् स्वप्नजाग्रत्तदुच्यते--बोधसार)।

सुषुप्ति के विषय में कथित है कि, उक्त छः अवस्थाओं का परित्याग होने पर सप्तमी सुषुप्ति अवस्था होती है (षडवस्थापरित्यागे षुप्तिः सप्तमी मता--बोधसार)। यह भी अज्ञान का फल है, नहीं तो जीव निद्रा में ब्रह्म के साथ मिलित होकर पुनः संस्कार के कारण अपनी-अपनी भूमिका में लौट न आते।

बीजजाग्रत आदि का विशेष विवरण महोपनिषद् के पंचम अध्याय तथा योगवाशिष्ठ में दिया गया है।

अज्ञानविमोहित (वि॰) अज्ञान के द्वारा जिसकी बुद्धि विशेष रूप से नष्ट हो गयी है। यहाँ अज्ञान शब्द का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है, बल्कि विपरीत ज्ञान है। ज्ञान बताता है कि मैं शुद्ध आत्मा हूँ जो चेतन और नित्य-मुक्त है और अज्ञान जड़-देह में अहं अभिमान कराता है, फिर शरीर संबंधी व्यक्तियों और वस्तुओं के साथ ममत्वाभि-मान जोड़कर मनुष्य को सुख-दुःख तथा शोक-मोह से पूर्ण संसार में फँसा देता है।

वेदान्त के अनुसार सर्वव्यापक परम सूक्ष्म सच्चिदानंद आत्मा से माया शक्ति के द्वारा आकाशादि पंचभूतों तथा कारण-सूक्ष्म स्थूल-शरीरों और सारे ब्रह्माण्डों का विकास हुआ है। पाँच भूतों के सात्त्विक अंशों की समष्टि से जब अन्तःकरण का विकास हुआ, तो सत्त्वगुण के कारण स्वच्छ अन्तःकरण में मूल आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ा, यही जीव-भाव है (आभास एव च--ब्रह्मसूत्र २।३।५०)। जिस प्रकार दर्पण में मुख का आभास पड़ता है, उसी प्रकार अन्तःकरण में चेतन आत्मा का प्रतिबिम्बरूप चिदा-भास ही जीव है। आभास तो मिथ्या वस्तु है। चिदाभास को समझना चाहिये कि मेरा कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं

है। मैं तो स्वयंप्रकाश आत्मा की छाया मात्र हूँ, परन्तु प्रायः देखा जाता है कि वह आत्मा को भूलकर अहंकार के कारण अपने को स्वतन्त्र जीव मानने लगता है और अज्ञान से शरीरों के साथ तादात्म्य (एकत्व) सम्बन्ध स्थापित करके सांसारिक अनुकूल-प्रतिकूल विषयों तथा व्यक्तियों के साथ संबंध स्थापित कर अनेक प्रकार के शोकदुःखों के बंधनों में फँस जाता है। यही अज्ञान-विमोहित भाव है।

अज्ञान से विमोहित होने के कारण चिदाभास रूप जीव अहंकार करता है कि मैं बड़ा धनवान तथा बड़े कुटुम्ब वाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है ? मैं यज्ञ करूंगा, दान दूँगा और इसी से आनंद प्राप्त करूँगा। वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया, दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूँगा। मैं ईश्वर हूँ। सारे ऐश्वर्यों का भोगने वाला, सारी सिद्धियों से युक्त बलवान और सुखी हूँ। मैं अपनी अभिलषित वस्तु पा गया और मनोरथ को भी पा जाऊँगा। मेरे पास बहुत धन है और भी अधिक धन प्राप्त करूँगा। इस प्रकार आशा रूप सैकड़ों बंधनों में फँसकर वह काम-क्रोध के वशीभूत रहते हुए अन्यायपूर्वक धनादि बहुत से पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करता है। इस प्रकार अज्ञान से भ्रमित होकर अज्ञानी मोह रूप जाल में फँसकर विषय-भोगों में अत्यंत आसक्त होता है (आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया। यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये इत्यज्ञानविमोहिताः—गीता १६।१५-१६।

संसार की कल्पना करनेवाली ब्रह्मशक्ति माया की व्यष्टि अंश को अज्ञान कहते हैं, वही मूल अज्ञान जीव को विमोहित कर डालता है और उसी कारण जीव में विपरीत ज्ञान उत्पन्न होता है। फलस्वरूप वह अपने आत्मस्वरूप को भूलकर संसार के शोक-दुःख में बद्ध होता है।

अज्ञानसम्भूत (वि०) अज्ञान से उत्पन्न। काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार आदि अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। चेतन होकर भी जीव जड़ शरीर को अज्ञान के कारण ही अपना स्वरूप समझते हैं। अतः देहात्म-ज्ञान भी अज्ञानसंभूत है। यहाँ ज्ञान शब्द का अर्थ अभाव-रूप अज्ञान नहीं, विपरीत ज्ञान है।

वेदांत मत में अज्ञान एक आत्माश्रित वस्तु है। इसे माया कहते हैं। यह अज्ञान भावरूप है या अभाव रूप, यह भी नहीं बताया जा सकता। भावरूप न होता, तो यह संसार-प्रपंच उससे कैसे प्रगट होता और अभावरूप होने से सृष्टि की कल्पना ही नहीं होती। इस कारण इसे 'सद्सद्भ्याम् अनिर्वचनीयम्' कहा है।

निद्रा में मनुष्य का मन अज्ञान में डूब जाता है, फिर वह जब धीरे-धीरे जाग्रत अवस्था की ओर आने लगता है तो बीच की अर्धजाग्रत अवस्था में स्वप्न की कल्पना होती है। अतः स्वप्न भी अज्ञानसंभूत है। इसी प्रकार सृष्टि के आरंभ में सर्वव्यापक ब्रह्म के भीतर विंदुमात्र स्थान में अज्ञान का आवेश हुआ था जिससे 'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ' इस प्रकार की कल्पना उत्पन्न हुई और इसी कल्पना से सारे विश्व-प्रपंच की रचना हुई हैं। अतः यह ब्रह्मांड भी अज्ञानसंभूत है।

लोग मन के संशय को भी अज्ञानसंभूत मानते हैं। क्योंकि ज्ञान एक पक्ष को निश्चय कर देता है और संशय से लोगों का चित्त विभ्रांत हो जाता है। यह विभ्रांति ही सारे अनर्थों का कारण है (अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः—गीता ४।४०)। इस कारण सब प्रकार के दुःखों का कारण इस संशय को ज्ञान रूप अस्त्र के द्वारा छिन्न कर डालना आवश्यक है (तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत—गीता ४।४२)।

अज्ञानिन् (वि०) अज्ञानी, मूर्ख, आत्मज्ञानरहित (अज्ञानिजनबोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः—अपरोक्षानुभूति ७)।

अज्ञेय (वि०) जो जाना न जा सके, अबोधगम्य, ज्ञानातीत (अज्ञेयमेव जानाति तत्त्वं यस्तु परावरम्)।

अज्ञेयवादः (पुं०) प्रत्यक्ष जगत् के अतिरिक्त ईश्वर या ऐसी ही सूक्ष्म वस्तुओं के विषय में कुछ जाना नहीं जा सकता--ऐसा मत, प्रत्यक्षवाद।

यह एक दार्शनिक सिद्धांत है, जिसके अनुसार संसार का कारण अज्ञेय माना जाता है। ज्ञान के विषय को ज्ञेय कहते हैं। ज्ञान चित्त की एक वृत्ति है। भौतिक होने के कारण चित्त जड़ है (अन्तःकरणम् देखिए)। मिट्टी के बर्तन के ऊपर अनेक बार मिट्टी का लेप चढ़ाने पर भी वह प्रत्यक्ष-योग्य नहीं होता, जब तक चक्षु और प्रकाश सामने न आ जायँ। इसी कारण वेदांत के सिद्धांतानुसार चित्त में

चेतन आत्मा का प्रतिबिम्ब होने से वह कुछ चेतनता पा जाता है, जिससे वह ज्ञेय को प्रकाशित करता है। दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्य का प्रकाश सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकता, उसी प्रकार चित्तगत चित्प्रतिबिम्ब स्वयंप्रकाश आत्मा को नहीं प्रकाशित कर सकता। वह मनुष्य के ज्ञान का अविषय ही बना हुआ है (विज्ञातारमरे केन विजानीयात्—बृहदारण्यक: २।४।१४। यन्मनसा न मनुते—केनोपनिषद १।१।५)।

अज्मन् (न०) युद्ध, घुड़दौड़, जीवनवृत्ति।

अज्यानि (स्त्री०) क्षतिग्रस्त न होने की स्थिति।

अज्येष्ठवृत्ति (वि०) ज्येष्ठ के योग्य व्यवहार न करने वाला, छोटे भाइयों के प्रति बड़े भाई-सा बर्ताव न करने वाला (यो ज्येष्ठो ज्येष्ठवृत्तिः स्यात् मातेव स पितेव सः। अज्येष्ठवृत्तिर्यस्तु स्यात् स सम्पूज्यस्तु बन्धुवत्—मनु ६।११०)।

आज्विन् (वि०) सक्रिय, क्रियाशील।

अञ्च् (उभ०) (अञ्चति–ते, आनञ्च, अञ्चितुं, अञ्च्यात् अञ्च्यात्, अक्त, अञ्चित) मोड़ना, झुकाना, उमेठना, जाना, टहलना (स्वतन्त्रा कथमञ्चसि ? भट्टी ४।२२), हिलना-डुलना, मिलना, भूषित करना, सम्मान करना, प्रार्थना करना, पूजा करना (भीमेऽयं शिरसायञ्चति—वेणी ५।२७)। माँगना, अभिलाषा करना, अस्पष्ट शब्द कहना, प्रकाशित करना, प्रकट करना, बढ़ाना (मुदमञ्चाय—गीतगोविन्द १०।७१)।

अञ्चतिः (पुं०) वायु, पवन।

अञ्चलः (पुं०), अञ्चलम् (न०) किनारा, छोर, सिरा।

अञ्चित (वि०) झुका हुआ, वक्र, गया हुआ, गत। सम्मानित, सुन्दर, मिला हुआ।

अञ्चितपत्रम् (न०) एक प्रकार का कमल जिसकी पक्तियाँ मुड़ी हुई होती हैं।

अञ्चितपत्राक्ष (वि०) कमलपत्रों जैसे नेत्रों वाला।

अञ्चितभ्रू (स्त्री०) वह स्त्री जिसकी भौंहे सुंदर हों।

अञ्जनः (पुं०) एक प्रकार की घरेलू छिपकली, एक प्रकार का वृक्ष, दक्षिण और पश्चिम कोण के दिग्गज का नाम।

अञ्जनकेशी (स्त्री०) वह स्त्री जिसके बाल कालेवर्ण के हों, बालों में लगाने का एक सुगन्धित द्रव्य।

नेत्रों को सुन्दर श्यामल करने के लिए चूर्णद्रव्य, रोगों से उनकी रक्षा करने तथा नारियों के विविध प्रसाधनों में से एक। प्रोषितपतिका विरहिणियों के लिए इसका उपयोग वर्जित है। महाकवि कालिदास ने इन्हीं रमणियों को अंजन से शून्य नेत्रों वाली कहा है। संप्रति नारियों में इसका वही स्थान है जैसा कि प्राचीन युग में रहा।

अञ्जनम् (पुं०) कज्जल, स्याही, अग्नि, रात्रि, रात।

अञ्जनवत् (अव्य०) काजल की तरह।

अञ्जना (स्त्री०) उत्तर दिग्हस्तिनी, अंजना हनुमान की माता का नाम।

एक शापभ्रष्टा अप्सरा। यह वानरों में श्रेष्ठ कुंजर की लड़की और वानरों के सेनापति केशरी की स्त्री थी। वायु के द्वारा इसके गर्भ से हनुमान का जन्म हुआ था। हनुमान केशरी का क्षेत्रज पुत्र था। अंजना पूर्व जन्म में पुंजिकस्थला नामक अप्सरा थी।

(२) पश्चिमी दिशा की हस्तिनी का नाम भी अंजना है।

अञ्जनाधिका (स्त्री०) काजल के समान काले रंग का एक कीड़ा।

अञ्जनावती (स्त्री०) अंजना नामक दिग्गज की पत्नी, ईशान कोण की हस्तिनी।

अञ्जनिका (स्त्री०) एक प्रकार की छिपकली, छोटा चूहा, प्रतीक नामक दिग्गज की पत्नी।

अञ्जनी (स्त्री०) सुगंधित द्रव्यों को लेपन करने योग्य स्त्री, कटुक वृक्ष।

अञ्जलिः (पुं०) दोनों हथेलियों के आपस में मिलने से बननेवाला गड्ढा, एक परिमाण।

अञ्जलिकर्मन् (न०) प्रणाम, नमस्कार।

अञ्जलिका (स्त्री०) छोटा चूहा, मूषिका, अर्जुन का एक वाण।

अञ्जलिकारिका (स्त्री०) मिट्टी की गुड़िया।

अञ्जलिपुटः (पुं०), अञ्जलिपुटम् (न०)–दोनों हथेलियों को मिलाने से बना हुआ संपुट।

अञ्जस् (वि०) जो टेढ़ा न हो, सीधा, सरल, ईमानदार।

अञ्जस् (अव्य०) तुरन्त, शीघ्रता से, तेजी से।

अञ्जसा (अव्य०) सिधाई से, सत्यता से, उचित रीति से।

अञ्जतायन (वि०) सीधा जाने वाला।

अञ्जि (वि०) मलहम प्रयोग करने वाला, उबटन लगाने वाला।

अञ्जिमत् (वि०) रंगीन, चमकीला, सुसज्जित।

अञ्जिव (वि०) चिकना, फिसलने योग्य।

अञ्जिष्ठः (पुं०) सूर्य, भास्कर।

अञ्जीरः (पुं०), अञ्जीरम् (न०) एक प्रसिद्ध वृक्ष और उसका फल।

अट् (धा० प०) (अटति, अटित) घूमना-फिरना।

अटक (वि०) घूमने वाला।

अटन (वि०) इधर-उधर घूमने वाला।

अटनम् (न०) इधर-उधर घूमने की क्रिया अथवा आदत।

अटनिः, अटनी (स्त्री०) धनुष का अग्र भाग।

अटरूषः (पुं०) अडूसा।

अटल (वि०) न हिलने वाला, दृढ़।

अटविः, अटवी (स्त्री०) वन, जंगल।

अटविकः (पुं०) वन में काम करने वाला व्यक्ति।

अटवीबलः (पुं०) जंगलों में रहने वाले भील आदि का सेन्यबल।

अटा (स्त्री०) इधर-उधर घूमने का अभ्यास।

अट्ट् (आत्म०) (अट्टते, अट्टितं) मारना, लाँघना, कम करना, घटाना, अनादर करना।

अट्ट (वि०) उच्च, सतत, शुष्क।

अट्टकः (पुं०) अटारी, कोठा।

अट्टम् (न०) अटारी, छोटा बुर्ज, आश्रय, गुम्बज, हाट, मंडी, प्रासाद, महल, भोज्य पदार्थ।

अट्टहासितः (पुं०) उच्च हास्य, ऊँची या जोर की हँसी।

अट्टहासिन् (पुं०) शिव, महादेव।

अट्टहास्यः (पुं०) जोर की हँसी, उच्च स्वर से हँसने की क्रिया।

अट्टालः, अट्टालकः (पुं०) अटारी, महल, प्रासाद।

अट्टालकः (पुं०) बहुत ऊँची मीनार, ऊँचा मंदिर-द्वार जिसकी ऊँचाई उसकी लम्बाई और चौड़ाई के अनुपात से कई गुनी अधिक हो। प्राचीन समय में अट्टालकों का निर्माण वास्तुकला की श्रेष्ठता दिखाने के लिए किया जाता था। इसका निर्माण प्रायः नगर आदि की सुरक्षा के लिए ही किया जाता था। जहाँ से पहरे के सैनिक दूर से आते हुए शत्रु को देख सकते थे। वे अट्टालक मंदिरों या महलों के मुख-द्वार पर बनाये जाते थे। ऐसे अट्टालक को गोपुर कहते हैं। गुप्त-कालीन मंदिरों के ऊँचे-ऊँचे शिखर एक प्रकार के अट्टालक ही थे। देवगढ़ के दशावतार मंदिर का शिखर ४० फीट ऊँचा है। नरसिंह गुप्त बालादित्य ने नालंदा में एक बहुत बड़ा मंदिर बनवाया था जिसकी चूड़ा २०० हाथ ऊँची थी। दिल्ली का चाँदनी चौक स्थित घंटा-घर भी अट्टालक ही था जो हाल ही में एकाएक गिर गया है।

दिल्ली का कुतुबमीनार, आगरे का ताजमहल, चित्तौड़ का विजयस्तम्भ भी अट्टालक ही है। किसी महान व्यक्ति या घटना की स्मृति में अट्टालक बनाने की प्रथा भी पुराने समय से चली आ रही है। वाराणसी के वेणीमाधव की ध्वजा उसका निदर्शन है। हरिद्वार का राजा बिड़ला टावर आधुनिक अट्टालक है।

अट्टलिका (स्त्री०) ऊँचा भवन, अटारी, प्रसाद, महल।

अट्टालिकाकारः (पुं०) राज, मकान बनाने वाला कारीगर।

अठ् (परः०) (अठति, अठते) जाना।

अड् (पर०) (अडति) उद्यम करना, प्रयास करना।

अड्ड् (प०) (अडति, अड्डित) मिलाना, युक्त करना, तर्क करना, चिंतन करना, आक्रमण करना।

अड्डनम् (न०) ढाल।

अण् (पर०) (अणति, अणित) शब्द करना, रव करना, श्वास लेना।

अणक (वि०) तुच्छ, हीन, तिरस्करणीय।

अणिः (पुं०), अणी (स्त्री०) सूई की नोक, पहिये की चाबी, घर का कोना, सीमा।

अणिमन् (पुं०), अणुता (स्त्री०), अणुत्वम् (न०) सूक्ष्मता, शिव की अष्ट सिद्धियों में से एक।

अणिमा (पुं०) लघुता, योगदर्शनोक्त अष्ट सिद्धियों में से एक जिसमें कहा जाता है कि शरीर को अणुवत् बनाया जा सकता है।

अणीमाण्डव्यः (पुं०) एक मौन धार्मिक ब्राह्मण। एक दिन अपने आश्रम के द्वार के पास वे योगाभ्यास कर रहे थे। इतने में कुछ चोर उनके आश्रम के भीतर घुस कर छिप गये। नगरपाल चोर पकड़ने के लिए उस आश्रम में आया। मुनि योगाभ्यास में मौन हो गये थे। नगरपाल के चोरों की बात पूछने पर उन्होंने कोई उत्तर न दिया। मौका पाकर चोर सारा सामान छोड़ कर भाग गये। नगरपाल उनके आश्रम में चोरी का माल पाकर चोरों को आश्रय देने का अपराध लगाकर उन्हें विंचार के लिए राजा के पास ले गया। राजा ने प्राण-दंड का आदेश दिया। माण्डव्य को शूल में चढ़ा दिया गया। मौन ध्यान-मग्न ऋषि जान न सके कि किस अपराध के लिए उन्हें इस प्रकार की सजा दी गयी, किंतु शूल विद्ध अवस्था में भी वे बहुत दिनों तक जीवित रहे। राजा के पास ऐसा समाचार जाने पर वह स्वयं उपस्थित होकर ऋषि से क्षमा-प्रार्थना करने लगा। राजा ऋषि को शूल से उतार कर उनके मलद्वार से शूल नहीं निकाल सका। लाचार होकर उस शूल का बाहरी अंश ही कटवा दिया। माण्डव्य उस शूल को लेकर तीर्थों में भ्रमण करते थे। उस दिन से उनका नाम अणीमाण्डव्य पड़ा। (अणी = शूल का अग्रभाग)।

एक दिन उन्होंने यम के पास जाकर पूछा—किस पाप से उन्हें ऐसी सजा मिली? यमराज ने उत्तर दिया "बचपन में आपने एक फतिंगे के मलद्वार में एक तिनका घुसा दिया था। उस पाप के फलस्वरूप आपको इतना कष्टभोग करना पड़ रहा है।" ऋषि ने कहा—"आपने लघु पाप का गुरु दंड दिया है। अन्य प्राणियों के वध की अपेक्षा ब्राह्मण-वध गुरुतर पाप है। आपको शूद्रयोनि में जन्मग्रहण करना पड़ेगा।" इसके बाद उन्होंने नियम कर दिया कि १४ वर्ष वयस के पहले अज्ञानकृत पाप के लिए किसी को दंड भोग नहीं करना पड़ेगा। उनके शाप के फलस्वरूप यमराज ने दासी के गर्भ से विदुर रूप में जन्म-ग्रहण किया था।

अणीयस् (वि०) अत्यन्त अल्प, बहुत छोटा।

अणु (वि०) परमाणु संबंधी, सूक्ष्म।

अणुः (पुं०) पदार्थों का मूल कारण, विष्णु, शिव। द्रव्य का सूक्ष्मतम कण। न्याय दर्शन और वैशेषिक दर्शन का सिद्धान्त है कि पदार्थ मात्र ही अणुओं की समष्टि है। एक मिट्टी के ढेके को तोड़ा जाय और उसके खण्डों को भी तोड़ा जाय, इस प्रकार तोड़ते-तोड़ते जो न टूटने वाला कण अवशिष्ट रह जाय वही अणु है। एकाधिक अणुओं के भीतर आकाश या अवकाश रहने के कारण ही वे अलग-अलग हो सकते हैं। अणु इतना सूक्ष्म है कि उसके भीतर कोई अंश या अवयव नहीं है। इस कारण अणु निरवयव है। वह रेखागणित के बिन्दु की तरह है। बिन्दु का स्थान तो माना गया है, परन्तु उसमें सूक्ष्मतम विस्तार भी नहीं है।

वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन चार भूतों के परमाणु माने जाते हैं। परमाणु जितने ही अधिक घने होंगे वस्तु उतनी ही भारी होगी। वायु और अग्नि में परमाणु अल्प हैं, जल में कुछ अधिक और मिट्टी पत्थर लोहा, सीसा पारा आदि में परमाणु बहुत अधिक घने हैं।

एक परमाणु के साथ दूसरा परमाणु मिल जाय तो उसे द्व्यणुक और तीन अणु मिल जायँ तो उसे त्रसरेणु कहते हैं।

सावयव वस्तु के एक ओर दूसरी सावयव वस्तु का एक अवयव मिल जाय तो वह आयतन में बढ़ता है, परन्तु परमाणु निरवयव होने के कारण दूसरे परमाणु में भी अवयव न होने से यह संयुक्त न हो सकेगा, बल्कि उसमें समा जायगा। इस प्रकार करोड़ों परमाणु आकर अवयव न पाने के कारण उसमें मिल जायेंगे। इसलिए परमाणुओं से सृष्टि नहीं बन सकती। इसी युक्ति पर वेदान्त ने परमाणु से सृष्टि हुई है, इस मत का खण्डन कर दिया है।

श्रुति में जहाँ कहा गया है कि आत्मा अणु से भी अणु और महान से भी महान है, वहाँ अणु शब्द का अर्थ सूक्ष्म है, क्षुद्र नहीं। क्योंकि एक वस्तु क्षुद्र और महान नहीं हो सकती (अणोरणियान् महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितं गुहायाम्—कठोपनिषद् १।२।२०)।

परमाणुवादी दर्शन न्याय और वैशेषिक में आत्मा माना गया है सही, परन्तु वह स्वभाव से जड़ द्रव्य मात्र है। वह आकाश के समान सूक्ष्म और व्यापक है, जीव के अन्तःकरण के संयोग से उसमें चैतन्य का विकास होता है (आकाशवद् द्रव्यम् आत्मा शब्दवत् तद्गुणश्रितिः)। अर्थात् चैतन्य जड़वत् आत्मा का एक गुण मात्र है, जो

क्षणिक या नाशवान है। इस मत में आकाश, काल, दिशा, अगणित परमाणु और आत्मा जड़ है। जड़ में गति और ज्ञान नहीं है। गति न रहने से एक परमाणु से दूसरे परमाणु आकर मिल नहीं सकते। ज्ञान न रहने से पार्थिव परमाणु अन्य पार्थिव परमाणु से ही मिल कैसे सकेगा? जलीय, आग्नेय या वायवीय परमाणुओं से वह मिल सकता है। फलस्वरूप आधुनिक स्थूल मृत्तिका नहीं बन सकती। इसी नियम से अन्य तीन भूत भी नहीं बन सकते। इस युक्ति के सामने उन दोनों दर्शनों के अनुसार सृष्टि नहीं बन सकती।

पाश्चात्त्य वैज्ञानिक पहले ९२ मौलिक तत्त्व मानते थे। बाद में वे ७ मौलिक तत्त्व मानने लगे। परन्तु अब वे इलेक्ट्रन और प्रोटन ये दो मौलिक तत्त्व मान रहे हैं। समय आयेगा जब वे वेदांतदर्शन का एक-कारणवाद, तथा चेतन कारणवाद मानेंगे। क्योंकि उस समय वे समझेंगे कि छोटे शिशु के प्रति माता के हृदय का स्नेह, पति-पत्नी का प्रेम, वैष्णवों की भगवदनुरक्ति, आत्मतत्त्वज्ञ संसार को मायामय जानकर अंतर के अंतस्तल में आत्मानन्द की अनुभूति जड़ अणुओं से नहीं उत्पन्न हो सकती।

वेदांत का ब्रह्मस्वरूप आत्मा सच्चिदानन्दमय है—समस्त ब्रह्माण्ड की सत्ता, समस्त चैतन्य और प्रकाश तथा समस्त प्राणियों का आनन्द ही ब्रह्म का स्वरूप है (अद्वैतवादः, एकात्मवादः, आनन्दवादः देखिए)।

अणुक (वि०) बहुत छोटा, अत्यन्त सूक्ष्म, तीक्ष्ण, तेज।

अणुकलनम् (न०) गणित की एक प्रक्रिया।

अणुजीवः (पुं०) जीवाणु, बीजाणु, अति सूक्ष्म कीट।

अणुतर (वि०) अत्यन्त सूक्ष्म।

अणुभा (स्त्री०) विद्युत्, बिजली।

अणुमात्रिक (वि०) अति क्षुद्र, अत्यन्त छोटा।

अणुरेणुः (पुं०) धूल-कण (अणुरेणुः प्रसार्यते)।

अणुवादः (पुं०) परमाणु से जगत् की सृष्टि हुई है, ऐसा सिद्धान्त, न्यायमत और वैशेषिक दर्शन का मत।

अणुवीक्षणम् (न०) सूक्ष्म दर्शन; सूक्ष्म-दर्शक यंत्र, जिससे आँखों से अदृश्य बहुत छोटी वस्तु बड़ी दिखाई पड़े। अतिवर्धकाणुवीक्षणम् (न०) बहुत अधिक शक्ति का सूक्ष्मदर्शक यन्त्र। दूराणुवीक्षणम् (न०) बहुत दूर की नक्षत्रादि वस्तु देखने का यंत्र, दूरदर्शक यंत्र। निम्नवर्धकाणुवीक्षणम् (न०) अल्प शक्ति का सूक्ष्मदर्शक यंत्र। यौगिकाणुवीक्षणम् (न०) अनेक वस्तुओं को देख सकनेवाला सूक्ष्मदर्शक यंत्र। सरलाणुवीक्षणम् (न०) साधारण सूक्ष्मदर्शक यंत्र।

अणुव्रतः (पुं०) लघुव्रत। जैन धर्म के अनुसार श्रावक लोग अणुव्रत का पालन करते हैं। उसके विपरीत महाव्रत विरक्त साधुओं के लिए विहित है। महाव्रत की अपेक्षा लघु होने के कारण इस व्रत को अणुव्रत कहते हैं। अणुव्रत पाँच प्रकार के हैं—अहिंसा, किसी प्राणी का वध न करना शारीरिक अहिंसा है। कटुबचन से किसी का दिल न दुखाना वाचनिक अहिंसा है। मन में भी किसी की बुराई न सोचना मानसिक अहिंसा है। (२) सत्य—दूसरों के हित के लिए बात कहना सत्य है, केवल यथार्थ घटना का वर्णन करना सत्य नहीं है (सत्यंभूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्)। (३) अस्तेय—चोरी न करना। चोरी स्थूल वस्तुओं की होती है। बात बोलते समय भी लोग कुछ चुराकर रख लेते हैं अथवा दूसरे विषय से कुछ अंश चुरा कर अपने भाषण में जोड़ देते हैं, यह वाचनिक चोरी है। मन में भी चोरी का संकल्प किया जाता है, यह मानसिक चोरी है। इन तीनों प्रकार की चोरियों का वर्जन शुद्ध अस्तेय है। (४) ब्रह्मचर्य—सब प्रकार के स्त्री-संसर्ग का त्याग ब्रह्मचर्य है, परंतु गृहस्थों के लिए पर-स्त्री का त्याग कर अपनी स्त्री में संतोष भाव रखना ही ब्रह्मचर्य है। (५) अपरिग्रह—किसी से कुछ ग्रहण न करना तथा उपकार न लेना अपरिग्रह है (उन-उन शब्दों को देखिए)।

अणुव्रीहिः (पुं०) एक प्रकार का महीन चावल।

अण्ठ् (आ०) (अण्ठते, अण्ठितं) जाना, चलना।

अण्डः (पुं०) अण्डकोश, अण्डा, कस्तूरी, शिव।

पक्षी, सरीसृप और जलचर प्रणियों के बच्चे जो अंडे से फूट कर निकलते हैं। पक्षियों में चमगादड़ तथा मछलियों में तिमिंगल (ह्वेल) अंडे नहीं देते, बच्चे पैदा करते हैं।

पुराणों में ब्रह्मांड को ब्रह्मा का अंडा बताया गया

है, वह अंडा जब फूटा तो अनेक ग्रह-नक्षत्रों से भरे इस ब्रह्मांड का विकास हुआ। अंडे के भीतर का जीव अंडे के भीतर ही घूमता-फिरता तथा खाता-पिता रहता है। उसकी बुद्धि में उस अंडे के भीतर ही सारा संसार विराजमान है और इसके बाहर कुछ भी नहीं है। ब्रह्मांड के जीव भी समझते हैं कि पंचेन्द्रिय-ग्राह्य इस परिदृश्यमान जगत् के अतिरिक्त अर्थात् ब्रह्मांड के बाहर कोई चीज नहीं है। किंतु विद्वान जानते हैं कि इस ब्रह्मांड के बाहर भी कुछ सत्ता विद्यमान है, जिसे कोई भी स्थूल या सूक्ष्म वस्तु सीमाबद्ध नहीं रख सकती (पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि—छान्दोग्य ३।१२।६)। स भूमिं सर्वतो स्पृत्वा अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्—पुरुषसूक्त। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नं एकांशेन स्थितो जगत्—गीता १०।४२)। पाद शब्द से केवल चतुर्थांश ही नहीं, एकांश है और त्रिपाद कहने से दसों दिशाओं में अनंत ऐसा भाव प्रकट किया गया है। सारी सृष्टि का अतिक्रमण करके बाहर दस अंगुठ तक शुद्ध परमात्मा हैं। यहाँ दस अंगुलियों से बाहर का तात्पर्य दसों दिशाओं में अनंत हैं। सभी जगत एकांश में व्याप्त करके परमात्मा ब्रह्म बाहर भी विराजमान हैं। क्योंकि उनके दसों दिशाओं में सीमित करने योग्य कोई वस्तु नहीं है। इसी कारण वे अनंत हैं। ब्रह्मशक्ति माया एक बिन्दु मात्र स्थान में अवस्थित है। शक्ति और शक्तिमान में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म की सत्ता ही माया-शक्ति की भी सत्ता है। माया की कल्पना से यह अनंतकोटि जीव-जगत-पूर्ण ब्रह्मांड प्रतीयमान हो रहा है। इसे विवर्त कहते हैं। इस विवर्त के बाहर भी दसों दिशाओं में ब्रह्मसत्ता विराजमान है (विकारावर्ति च —ब्रह्मसूत्र ४।४।१९)।

अण्डकः (पुं०) अण्डकोश की थैली।

अण्डकटाहः (पुं०) अंडे का छिलका।

अण्डजः (पुं०) अंडे से उत्पन्न होनेवाले जीव, ब्रह्मा।

अण्डजा (स्त्री०) मुश्क, कस्तूरी। (एषामहर्षाण्डजा)।

अण्डधरः (पुं०) शिव।

अण्डवर्धनम् (न०) अण्डवृद्धिः (स्त्री०) अण्डकोश की सूजन।

अण्डसञ्चरणम् (नं०) अण्डों की गति, बहुत-सी चींटियाँ अण्डे मुँह में लेकर दौड़ते हुए दूसरे बिल में जाती हैं इससे वृष्टि होने की सूचना मिलती है (पीपिलिकाण्डसञ्चरणाद्भविष्यति वृष्टिरिति)।

अण्डाकार (वि०) अण्डे की तरह का।

अण्डालुः (पुं०) मछली, मत्स्य।

अण्डीरः (पुं०) पुरुष, बलशाली व्यक्ति।

अत् (धा० पर० अ०) (अतति, अत्त, अतित) जाना, चलना, भ्रमण करना, टहलना, प्राप्त होना, आबद्ध होना।

अत-ऊर्ध्वम् (अव्य०) इसके आगे या ऊपर।

अत-एव (अव्य०) इसलिए, इस कारण।

अतःपरम् (अव्य०) उसके बाद, अनंतर।

अतट (वि०) जिसका तट या किनारा न हो, असीम।

अतटः (पुं०) पर्वत का खड़ा किनारा, प्रपात।

अतति [वेद] (क्रि०) गच्छति, जाता है, जाती है।

अतत्त्ववित् (वि०) तत्त्वज्ञान-रहित (तत्त्ववित् देखिए)।

अतत्त्ववेदनम् (नं०) मिथ्याज्ञान, यथार्थज्ञान का अभाव (परोक्षत्वापराधेन भवेन्नातत्त्ववेदनम्—पंचदशी ६।१७)।

अतथा (अव्य०) वैसा नहीं।

अतथ्य (वि०) असत्य, मिथ्या, कल्पित, सार-रहित।

अतद्गुणः (पुं०) एक अलंकार (अलङ्कारः देखिए)।

अतद्व्यावृत्तिः (स्त्री०) (न + तत् = अतत्, तस्य व्यावृत्तिः निषेधः)। घट से भिन्न सभी पदार्थ अघट है। उन पदार्थों का निषेध होने से घट मात्र ही रह जाता है। इसी प्रकार आत्मा से भिन्न सभी मायाकल्पित पदार्थ अनात्मा है। उन अनात्मा-वस्तुओं की व्यावृत्ति अर्थात् निषेध होने से केवल आत्म-वस्तु ही रह जाती है। यही अतद्व्यावृत्ति है। इसी को उपनिषदों में नेति-नेति विचार भी कहते हैं। न + इति = नेति अर्थात् न इदं, न इदं, यह नहीं है, यह नहीं है, इस प्रकार विचार-योग्य विषयों का निषेध करने से केवल निषेध करने वाला आत्मा ही बाकी बचता है (स एष नेति नेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरूपतः—पंच ३।३२)।

वेदान्त अतद्व्यावृत्ति रूप से तथा विधिमुख से आत्मा का प्रतिपादन करता है। 'सच्चिदानन्दं ब्रह्म, नित्यशुद्धबुद्ध-

स्वभावोऽयं आत्मा' इस प्रकार आत्मा का प्रतिपादन साक्षात् विधि द्वारा किया जाता है (अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च, वेदान्तानां प्रवृत्तिः स्याद्द्विधेत्याचार्यभाषितम्—पंच ७।८७)।

अतनः (पुं०) भ्रमणकारी, पर्यटन करने वाला व्यक्ति।

अतनम् (न०) जाना, घूमना।

अतनु (वि०) वृहत्, बड़ा, शरीररहित।

अतनुः (पुं०) कामदेव, मदन।

अतन्त्र (वि०) बिना डोरी का, बिना तारों का, असंयत, अराजक।

अतन्द्र, अतन्द्रित, अतन्द्रिन् (वि०) सतर्क, सावधान, सचेत।

अतपस् (वि०) अपने धार्मिक कृत्यों से विमुख रहने वाला।

अतप्त (वि०) जो गरम न हो, शीतल।

अतप्यमान (वि०) जो बीमार न हो।

अतमस् (वि०) अंधकाररहित, जिसमें अँधेरा न हो।

अतमाविष्ट (वि०) जो अंधकार से आच्छादित न हो।

अतर्क (वि०) तर्करहित, युक्तिशून्य।

अतर्कः (पुं०) जो तर्क के नियमों से अनभिज्ञ हो।

अतर्कित (वि०) आकस्मिक, जो सोचा-विचारा न गया हो, जो विचार में न आया हो।

अतर्कितम् (अव्य०) आकस्मिक रूप से, हठात्।

अतर्क्य (वि०) तर्क का अविषय, युक्ति-विचार से जानने के अयोग्य (अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्—कठोपनिषद् १।२।८)। तर्काप्रतिष्ठानात्—ब्रह्मसूत्र २।१।११। अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केयु योजयेत्। इन्द्रियेभ्यः परं यत्तु तदचिन्तस्य लक्षणम्)। जिसके संबंध में किसी प्रकार की विवेचना न की जा सके, अनिर्वचनीय, अचिन्त्य।

अतल (वि०) तलरहित जिसमें पेंदा न हो, बिना पेंदे का।

अतलः (पुं०) शिव, महादेव।

अतलम् (न०) सात पातालों में से पहला पाताल।

अतलस्पर्श (वि०) तल-रहित, अत्यधिक गहरा, जिसकी थाह न मिले, अथाह।

अतलान्तिक (वि०) अतलान्तक महासागर संबंधी।

अतव्यस् (वि०) जो अत्यधिक बलवान न हो।

अतस् (अव्य.) इसकी अपेक्षा, इस कारण से, इसलिए, ऐसा, इस स्थान से, इसके आगे (अतः गच्छ)।

अतसः (पुं०) वायु, हवा, आत्मा, जीव, पटसन या पटुए का बना हुआ वस्त्र।

अतसाय्य (वि०) भिक्षा द्वारा प्राप्त होने योग्य।

अतसिः (पुं०) इधर-उधर घूमने वाला भिक्षुक या भिखारी।

अतसी (स्त्री०) अलसी, तीसी, पटसन।

अतसीतैलम् (न०) अलसी का तेल।

अतस्क (वि०) जो अपनी इन्द्रियों को वश में न रख सके।

अतस्थान (वि०) जो (स्थान) उपयुक्त न हो।

अतायस (वि०) जो तपस्वी न हो।

अति (अव्य०) विशेषण और क्रियाविशेषण से पूर्व लगने वाला एक उपसर्ग, जिसका अर्थ होता है—बहुत अधिक, उत्कर्ष, प्रशंसा आदि। अति प्रशंसा, अति निंदा, अत्यधिक परिश्रम नहीं करना चाहिए। (अति सर्वत्र वर्जियेत्)। क्रिया के साथ संयुक्त होने पर इसका अर्थ होता है—ऊपर, परे आदि। संज्ञा और सर्वनाम के साथ प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ होता है—श्रेष्ठतर, परे, ऊपर, प्रसिद्ध आदि।

अति अश् (प०) (अश्नाति) भोजन करना, खाना (अश्नात्ययं बुभुक्षितः)। नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः—गीता ६।१६)।

अतिकठोर (वि०) अत्यन्त कड़ा।

अतिकथा (स्त्री०) व्यर्थ की बात, निरर्थक वाक्य, कल्पित कहानी, अतिशयोक्ति। अतिकथित (वि०) अतिरंजित, बढ़ा-चढ़ाकर कहा हुआ।

अतिकर्षणम् (न०) अत्याधिक चेष्टा या उद्योग।

अतिकल्यम् (अव्य०) बहुत तड़के, बहुत सबेरे।

अतिकल्याण (वि०) जो सुन्दर न हो, असुन्दर।

अतिकश (वि०) चाबुक को न मानने वाला (घोड़ा), प्रबन्ध के अयोग्य।

अतिकाय (वि०) बृहत् शरीर वाला, दीर्घकाय।

अतिकायः (पुं०) यह एक राक्षस था। यह रावण के द्वारा धान्यमालिनी के गर्भ से पैदा हुआ था। इसका विशाल शरीर था, इसलिए यह अतिकाय के नाम से पुकारा जाता था। यह अस्त्र-चालन और हाथी-घोड़ों के संचालन में अत्यंत निपुण था। एक समय इसने इंद्र के वज्र को स्तंभित और वरुण के पाश को प्रतिहत कर दिया था। ब्रह्मा के वरदान के कारण इसे देवता और राक्षस कोई भी नहीं मार सकता था। राम-रावण के युद्ध में राक्षसों के वंश के ध्वंस के समय यह लक्ष्मण के हाथ से मारा गया था।

अतिकिरीट (वि०) बहुत छोटे दाँतों वाला।

अतिकृच्छ्र (वि०) बहुत कठिन।

अतिकृच्छ्रः (पुं०) अतिकृच्छ्रम् (न०) असाधारण कठिनता, १२ दिनों में पूर्ण होने वाला व्रत।

अतिक्रमः (पुं०) नियम का उल्लंघन, अप्रतिष्ठा, विपरीत व्यवहार, चोट, आघात, व्यतीत होना, दमन करना, पराजित करना, उपेक्षा करना, छोड़ जाना, जोर से आक्रमण करना, निर्धारण, आदेश।

अतिक्रमणम् (न०) उल्लंघन, सीमा से बाहर होने की क्रिया, कालक्षेपण, दोष, अपराध, आधिक्य, बहुलता।

अतिक्रमणीय (वि०) अतिक्रमण करने योग्य, जिसका अतिक्रमण हो सके, बचा देने या छोड़ देने योग्य।

अतिक्रान्त (वि०) सीमा या मर्यादा का उल्लंघन किया हुआ, बीता हुआ, व्यतीत।

अतिक्रिया (स्त्री०) अत्यधिक कार्य, शक्ति से अधिक क्रिया।

अतिखट्व (वि०) शय्या-रहित।

अतिग (वि०) अत्यधिक, उत्कृष्ट।

अतिगण्ड (वि०) बड़ा गला वाला।

अतिगन्ध (वि०) ऐसी गंध जो सर्वोपरि हो।

अतिगन्धः (पुं०) गंधक, चंपा का वृक्ष।

अतिगव (वि०) अत्यन्त मूर्ख, अकथनीय।

अतिगुण (वि०) जिसमें सर्वोत्कृष्ट गुण हो, गुणहीन, निकम्मा, व्यर्थ।

अतिगुणः (पुं०) श्रेष्ठ गुण।

अतिगुरु (वि०) बहुत भारी।

अतिगो (स्त्री०) उत्तम गाय।

अतिग्रह (वि०) जो बोधगम्य न हो, इंद्रियातीत।

अतिचमू (वि०) सेनाओं पर विजय प्राप्त।

अतिचर (वि०) अत्यधिक परिवर्तनशील, अनित्य, अचिरस्थायी, क्षणभंगुर।

अतिचरणम् (न०) अत्यधिक अभ्यास; अतिक्रमण करना, लांघना।

अतिचरा (स्त्री०) पद्मचारिणी लता।

अतिचारः (पुं०) सीमोल्लंघन, पराधिकार प्रवेश, संचार, शीघ्रगमन, ग्रहों के एक राशि से दूसरे राशि पर जाने की क्रिया।

अतिच्छत्रः (पुं०), अतिच्छत्रा (स्त्री०) एक प्रकार का तृण, तालमखाना।

अतिजगती (वि०) जीवन्मुक्त, ज्ञानवान्।

अतिजगती (स्त्री०) १३ अक्षरों का एक प्रकार का छन्द।

अतिजा (वि०) बहुत वेग से चलने वाला, शीघ्रगामी।

अतिजागर (वि०) जिसे नींद न आती हो, अत्यधिक जागने वाला।

अतिजागरः (पुं०) नीलक पक्षी, अत्यधिक जागने वाला व्यक्ति।

अतिजात (वि०) जो बसा हुआ न हो।

अतिजीर्ण (वि०) बहुत दिनों का, प्राचीन, बहुत वृद्ध।

अतिजीव (वि०) बहुत दिनों तक जीवित रहने वाला।

अतिजीवनम् (न०) दूसरे के मरने के बाद भी जीवित रहना, मृत्यु के बाद की स्थिति।

अतिडीनम् (न०) पक्षियों की एक असाधारण उड़ान।

अतिथिः (पुं०) न तिथिं व्याप्य तिष्ठतीत्यतिथिः, जो अतिथि एक तिथि भी नहीं रहता वही अतिथि है; जिस अभ्यागत के आने का पहले से दिन निश्चित न हो, आतिथ्य पाने के योग्य व्यक्ति।

अतिथिशाला (स्त्री॰) अतिथियों के निःशुल्क रहने का भवन, धर्मशाला।

अतिथिसत्कारः (पुं॰) अतिथि का सत्कार और भोजनादि देकर उनकी सेवा। अतिथि जिसके घर से आशाभग्न होकर लौट जाता है, वह अपना पाप गृहस्थ को देकर उसका पुण्य लेकर चला जाता है (अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते। स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति—हितोपदेश २।४१)। आशय यह है कि अतिथि के आने पर उनको लौटा देना उचित नहीं है; बल्कि उन्हें घर में आश्रय देकर यथाशक्ति उनकी सेवा-परिचर्या करनी चाहिए।

अतिदग्ध (वि॰) आग या गरम जल से बुरी तरह जला हुआ।

अतिदातृ (पुं॰) बहुत उदार व्यक्ति, महान् दाता।

अतिदारुण (वि॰) अत्यधिक भीषण।

अति + दिश् (उभय॰) (अतिदिशति, अतिदिशते) एक का गुण धर्म आदि अन्य में आरोप करना (प्रकृतात् कर्मणो यस्मात् तत्समानेषु कर्मसु, धर्मोऽतिदिश्यते येन अतिदेशः स उच्यते) जैसे, गोसदृशो गवयः।

अतिदिष्ट (वि॰) एक के धर्म का दूसरे में आरोप किया हुआ; रद्द किया हुआ।

अतिदुर्धर्ष (वि॰) जिसको हराना या दबाना बहुत कठिन हो।

अतिदुष्कर (वि॰) बहुत कठिन (कार्य)।

अतिदूर (अव्य॰) अत्यंत दूर, बहुत दूर (पृथ्वी से अतिदूर अवस्थित सूर्य ज्योतिष्क हैं)। बहुत दूर रहने से पक्षी, विमान आदि दिखाई नहीं पड़ते। दृष्टिगोचर न होने के आठ कारण हैं—अति समीपता, अति निकटता (बरौनी, अंजन), इंद्रिय-शक्ति का नाश (अंध में), अन्यमनस्कता, सूक्ष्मता (वायु में धूल के कण), दीवाल आदि का व्यवधान, प्रखर किरण से अभिभूत होना (दिन में नक्षत्र), समान वस्तु में घुल जाना (जल में नमक या चीनी) (अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियवधात् मनोऽनवस्थानात् सौक्ष्म्यात् व्यवधावात् अभिभवात् समानाभिहाराच्च—सांख्यकारिका ७)।

अतिदेशः (पुं॰) निर्दिष्ट विषय के अतिरिक्त अन्य विषयों में भी काम देने वाला नियम। अपने प्रतिपाद्य विषय का अतिक्रमण करके किसी धर्म, गुण या लक्षण का अन्यत्र आरोप करने का नाम भी अतिदेश है (अन्यत्रैव प्रणीतायाः कृत्याया धर्मसंहतेः। अन्यत्र कार्यतः प्राप्तिरतिदेशः स उच्यते--श्लोकसंग्रह)। किसी एक स्थान के लिए प्रयुक्त धर्मकार्य की अन्यत्र प्राप्ति होने से उसे अतिदेश कहते हैं। अतिदेश पाँच प्रकार के हैं--शास्त्रातिदेश, कार्यातिदेश, निमित्तातिदेश, संज्ञातिदेश और रूपातिदेश।

अतिदोषः (पुं॰) बहुत बड़ा अपराध।

अतिनिद्रा (स्त्री॰) बहुत गहरी नींद।

अतिनिपुण (वि॰) अत्यधिक प्रवीण या पटु।

अतिनु, अतिनौ (वि॰) नदी या समुद्र के तट पर उतरा हुआ।

अतिपञ्चा (स्त्री॰) पाँच वर्ष की अवस्था से अधिक की लड़की।

अतिपतनम् (न॰) निर्दिष्ट सीमा से आगे निकल जाने की क्रिया, भूल. उल्लंघन।

अतिपत्तिः (स्त्री॰) असफलता, सीमोल्लंघन।

अतिपत्र (पुं॰) सागौन का वृक्ष।

अतिपर (वि॰) जिसने अपने शत्रुओं का नाश कर डाला हो।

अतिपरः (पुं॰) बड़ा या श्रेष्ठ शत्रु।

अतिपरिचयः (पुं॰) अत्यधिक मेल-जोल, बहुत घनिष्ठता।

मनुष्यों के साथ अधिक मेल-जोल होने से उनके दोष ही अधिक प्रकट होते हैं, जिससे उनके प्रति अवज्ञा होती है (अतिपरिचयाद् अवज्ञा)। किन्तु ईश्वर के साथ घनिष्ठता बढ़ाने से उनके अनुपम गुण प्रकट होते रहते हैं, जिस कारण चित्त आनन्द से सदा आप्लुत रहता है।

अतिपरोक्ष (वि॰) जो दृष्टि से दूर हो।

अतिपातः (पुं॰) कालक्षेप, भूल, उलंघन, दुर्व्यवहार, विरोध, नाश।

अतिपातकम् (न॰) बहुत बड़ा पाप, महापाप, गुरुतर पाप। वह त्रिविध है—पुंसः मातृदुहितृस्नुषागमनजन्यम्। स्त्रियास्तु पुत्रपितृश्वसुर-गमन-जन्यम् —प्रायः वि॰।

अतिपातिन् (वि॰) अपेक्षाकृत वेगवान।

अतिपात्य (वि॰) विलम्ब करने योग्य, स्थगित करने योग्य।

अतिपूत (वि०) बिल्कुल पवित्र, विशुद्ध, स्वच्छ किया हुआ।

अतिप्रबन्धः (वि०) अत्यंत निरवच्छिन्नता।

अतिप्रश्नः (पुं०) ऐसा प्रश्न जिसे सुन कर मन खीझ उठे।

अतिप्रसक्तिः (स्त्री०) अत्यंत घनिष्ठ संपर्क, अति उद्दण्डता, अतिव्याप्ति।

अतिप्रसङ्गः (पुं०) प्रगाढ़ प्रेम। अतिव्याप्ति। अलक्ष्य में लक्षण का गमन अतिव्याप्ति या अति, प्रसङ्ग है (अलक्ष्ये लक्षणगमनम् अतिव्याप्तिः—तर्कसंग्रह)। जैसे सींघ वाले पशु को गाय कहते हैं—यह लक्षण भैंस, हरिण आदि पर भी चला गया। अतः यह लक्षण अतिव्याप्ति-दोष-दुष्ट है। लक्षण ऐसा करना चाहिए जिससे केवल उसी श्रेणी के प्राणियों या पदार्थों पर ही घटित हो। अतः 'गलकम्बल-युक्त सींघ वाले पशु को गाय कहते हैं'—यह लक्षण केवल गायों पर ही घटता है, क्योंकि भैंस, हरिण आदि पशुओं में गले से लटकता हुआ कम्बल जैसा चमड़ा नहीं होता।

इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी में भोग-विलास का होना अतिप्रसंग है, क्योंकि भोगविलास धनी गृहस्थों में ही हो सकता है। यदि त्यागी संन्यासी में उसी प्रकार भोग-विलास दिखाई पड़े तो समझना चाहिए कि उनके कर्म का ही यह अनिवार्य फल है, क्योंकि कर्मफल को कौन रोक सकता है ? (अतिप्रसङ्गो मा शङ्क्यः स्वकर्मवशवर्तिनाम्। अस्तु वा केन शंक्येत कर्म वारयितुं वद—पंच ७।१३२)।

इस प्रसंग में एक और विषय बताना आवश्यक है। वह है अव्याप्ति। जो लक्षण समस्त लक्ष्य व्यक्तियों या पदार्थों में नहीं पहुँचता केवल एक ही अंश में घटित होता है, उसे अव्याप्ति कहते हैं, जैसे 'गलकम्बल-युक्त सींघ वाले काले पशु को गाय कहते हैं'। इस लक्षण में सफेद गायें, भूरी गायें आदि छूट जाती हैं। अतः यह लक्षण अव्याप्ति-दोष-दुष्ट है (लक्ष्यैकदेशे लक्षणगमनम् अव्याप्तिः—तर्कसंग्रह)।

अतिप्राकृत (वि०) अलौकिक, अप्राकृत, प्रकृति से अतीत।

अतिप्रौढ़ा (स्त्री०) वह कन्या जो विवाह करने योग्य हो गयी हो, अधेड़ उमर की स्त्री।

अतिबल (वि०) अत्यन्त बलवान, बहुत शक्तिशाली।

अतिबलः (पुं०) एक प्रसिद्ध योद्धा।

अतिबला (स्त्री) विद्या-विशेष। विश्वामित्र ने कृशाश्वमुनि से इस विद्या को प्राप्त किया था। इसके बाद अपने आश्रम से राक्षसों के अत्याचार को मिटाने के लिए वह राम को ले आये। उस समय राम को इसी विद्या की शिक्षा देकर उस वन में प्रवेश कराया जो ताड़का नाम की राक्षसी के अधिकार में था। इस विद्या के प्रभाव से भूख और प्यास नहीं लगती थी।

अतिबाला (स्त्री०) दो वर्ष से कम अवस्था वाली गाय, बहुत छोटी कन्या।

अतिवीभत्स (वि०) अत्यन्त घृणित।

अतिभरः (पुं०) बहुत अधिक बोझ या भार।

अतिभवः (पुं०) पराजय, हार।

अतिभारगः (पुं०) खच्चर।

अतिभावः (पुं०) उत्कृष्टता, श्रेष्ठता।

अतिभासः (पुं) तीव्र वेग, हठ।

अतिभीः (स्त्री०) विद्युत्, बिजली। (वि०) अधिक भयभीत।

अतिभूमिः (स्त्री०) बहुलता; चरम सीमा से बाहर का स्थान, साहस, प्रसिद्धि, श्रेष्ठता।

अतिभोजनम् (न०) अत्यधिक भोजन करने की क्रिया।

अतिमतिः (स्त्री०), अतिमानः (पुं०) क्रोध, अत्यन्त गर्व या अभिमान।

अतिमर्त्य (वि०) मरणशील जीवों से अतीत, मनुष्य से अधिकशक्तिशाली।

अतिमर्त्यः (पुं०) वह जो लौकिक न हो।

अतिमात्र (वि०) मात्रा से अधिक, नितान्त असमर्थनीय।

अतिमानव, अतिमानुष (वि०) मनुष्य से ऊपर वाला, जीवन्मुक्त, दैविक।

अतिमानवः, अतिमानुषः (पुं०) मनुष्य से ऊपर का प्राणी, देवता, ऋषि, योगी, जीवन्मुक्त पुरुष।

अतिमानिता (स्त्री०) अत्यन्त अहंकार।

अतिमानुष (वि०) अमानुष, मनुष्यातीत, अलौकिक, अमानव ।

अतिमाप (वि०) सांसारिक बंधनों से मुक्त ।

अतिमुक्त (वि०) दासता या बंधन से रहित, बन्ध्या ।

अतिमुक्तः, अतिमुक्तकः (पुं०) माधवी लता ।

अतिमुक्तिः (स्त्री०) मोक्ष, आवागमन से छुटकारा ।

अतियोगः (पुं०) अधिक संयोग, अधिक भोजन । भोजन शरीर की पुष्टि और संरक्षण के लिए आवश्यक है । अत्यल्प भोजन से शरीर के सूख कर नष्ट हो जाने का भय रहता है । बहुत अधिक भोजन से शरीर में रोग उत्पन्न होता है या वह नष्ट हो जाता है (अंशूदकम् देखिए) ।

अति + रञ्ज + णिच्, उभ (अतिरञ्जयति) आलता लगाना; बढ़ा-चढ़ाकर बोलना ।

अतिरथः (पुं०) रथ में बैठकर लड़ने वाला योद्धा । एक विशिष्ट सेनापति का नाम । जो सेनापति अगणित योद्धाओं से लड़ सकता है और शस्त्रविद्या में प्रवीण है उसे अतिरथ कहते हैं (अमितान् योधयेद् यस्तु संप्रोक्तोऽतिरथस्तु सः—महाभारत भीष्म.) ।

अतिराजन् (पुं०) उत्तम राजा, वह व्यक्ति जो राजा से भी आगे बढ़ जाय ।

अतिरात्रः (पुं०) ज्योतिष्टोम यज्ञ का एक ऐच्छिक अंश, रात्रि की नीरवता, मध्यरात्रि के बाद का समय (अतिरात्रे षोड़शिनं गृह्णाति—पूर्वमीमांसा) ।

अतिरिक्त (वि०) सिवाय, अधिक, पृथक्, भिन्न ।

अतिरुक् (वि०) अत्यंत सुंदर ।

अतिरुच् (पुं०) घुटना ।

अतिरेकः (पुं०) सर्वोत्कृष्टता, प्रसिद्धि ।

अतिरोगः (पुं०) क्षयरोग, राजयक्ष्मा, तपेदिक ।

अतिरोमश, अतिलोमश (वि०) बहुत बालों वाला, जिसके शरीर पर बहुत रोएँ हों ।

अतिलङ्घनम् (न०) बहुत अधिक उपवास, उल्लंघन, अतिक्रमण ।

अतिलङ्घिन् (वि०) भूल करने वाला ।

अतिलोहित (वि०) अत्यंत लाल ।

अतिलौकिक (वि०) अलौकिक, लोकातीत ।

अतिवयस् (वि०) अधिक वय वाला ।

अतिवर्णाश्रमिन् (वि०) अतिवर्णाश्रमी. जो वर्णाश्रम के परे हों, चार वर्णों तथा चार आश्रमों से अतीत, परमहंस ।

अतिवर्तनम् (न०) क्षम्य अपराध, क्षम्य दुष्टाचरण ।

अतिवर्तिन् (वि०) अतिक्रम करने वाला, नियम भंग करने वाला ।

अतिवर्तुल (वि०) अत्यन्त गोल ।

अतिवर्धकाणुवीक्षणम् (न०) अणुवीक्षणम् देखिए ।

अति + वह + विच् उभ० (अतिवाहयति) अतिक्रमण करना, यापन करना (समय); काटना या गँवाना (नातिवाहयस्व कालं वृथा) ।

अतिवादः (पुं०) कुवाच्य, गाली, निंदा, भर्त्सना ।

दूसरे वादियों के मतों का अतिक्रमण कर अपना मत स्थापित करना अतिवाद है । अतिवाद अशिष्टता का परिचायक है । अतिवाद को संयत रखना चाहिए । किसी का अपमान करना उचित नहीं है (अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन-मनु ६।४७) । अतिवादी ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं कर सकता । उपदेश-जनित ज्ञान के द्वारा ही मनुष्य पंडित होते हैं (विजानन् विद्वान् भवति नातिवादी-श्रुति.) । अतिवाद रूप तर्क का परित्याग करना चाहिए, किसी पक्ष का हठ नहीं करना चाहिए (अतिवादांस्तजेत् तर्कान् पक्षं कञ्चन नाश्रयेत्—परिव्राजकोपनिषद् ६।२१) ।

अतिवाद दूसरे का अपमान-जनक वाक्य है । कभी अतिवादी नहीं होना चाहिए, किसी की निंदा या स्तुति नहीं करनी चाहिए । किसी के हृदय में आघात नहीं देना चाहिए, सर्वत्र समभाव रखना उचित है (न निन्दां न स्तुतिं कुर्यात् न कश्चिन्मर्मणि स्पृशेत् । नातिवादी भवेत् तद्वत् सर्वत्रैव समो भवेत्–धर्मसिंधु १३५) ।

अतिवादिन् (वि०) अतिवादी, बहुत अधिक बोलने वाला, वाचाल ।

अतिवाहनम् (वि०) अत्यन्त सहनशील, व्यतीत, अत्यन्त बोझ का ।

अतिविकट (वि०) अत्यन्त भीषण ।

अतिविकटः (पुं०) दुष्ट हाथी ।

अतिविषा (स्त्री०) एक वृक्ष, प्रतिविषा, विषा, उपविषा, महौषधी, श्वेतकंदा, भृंगी, विरूपा, विषरूपा, माद्री और अमृता, सूखा अदरक ।

अतिविस्तारः (पुं०) दीर्घसूत्रता, व्यर्थ की बकवाद।

अतिवृत् (आत्म०) (अतिवर्तते) अतिक्रम करके वर्तमान रहना (जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते–गीता ६।४) मन और आत्मा के योग के जानने के इच्छुक व्यक्ति कर्मप्रतिपादक वेदभाग का अतिक्रमण कर जाता है।

अतिवृत्तिः (स्त्री०) उल्लंघन, अतिक्रमण, अतिशयोक्ति।

अतिवृद्धप्रपितामहः (पुं०) पितामह का प्रपितामह, दादा का परदादा।

अतिवृद्धप्रपितामही (स्त्री०) पितामह की प्रपितामही, दादा की परदादी।

अतिवृद्धप्रमातामहः (पुं०) मातामह का प्रपितामह, नाना का परदादा।

अतिवृद्धप्रमातामही (स्त्री०) मातामह की प्रपितामही, नाना की परदादी।

अतिवृद्धिः (स्त्री०) बहुत अधिक वृद्धि। वृक्ष आदि के शीघ्र बढ़ जाने को अतिवृद्धि कहते हैं। केश, जटा आदि के बहुत बढ़ने पर भी वह अतिवृद्धि मानी जाती है। विशेषतया किसी अंग की रोग-जनित वृद्धि को भी अतिवृद्धि कहते हैं। जब शरीर के किसी अंग को दूसरे अंग का काम करना पड़ जाता है या एक भाग का दूसरे भाग से, तो उसकी सदा अतिवृद्धि होती जाती है।

अतिवृष्टिः (स्त्री०) मूसलाधार वर्षा; छः प्रकार की ईतियों में से एक (ईतिः देखिए)।

अतिवेल (वि०) असीम, अतिशय, अमितव्ययी।

अतिवेलम् (क्रि० वि०) अधिकता से, असमय में।

अतिव्याप्तिः (स्त्री०) अधिक स्थान में व्याप्त रहना। न्याय-दर्शन में किसी वस्तु या वस्तुओं के परिचायक लक्षण का अलक्ष्य वस्तु या वस्तुओं में व्याप्त होने पर उस लक्षण को अतिव्याप्ति-दोष-दुष्ट रूप से कहा जाता है। एक धर्म वाले अनेक पदार्थों को किसी एक विशेष धर्म के द्वारा दूसरे पदार्थों से पृथक् मान लिया जाय तो उस धर्म को उनका लक्षण कहते हैं। जैसे 'गंधवती पृथ्वी' अर्थात् पृथ्वी रूप पदार्थ का लक्षण है गन्ध, जिस वस्तु में गंध है उसी को पृथ्वी कहते हैं। फूल आदि स्थूल वस्तुएँ पृथ्वीतत्त्व के ही अन्तर्मुक्त हैं। जल, अग्नि, धूम, वायु में गन्ध गंधवती पृथिवी के परमाणुओं के संयोग से होती है, उनके भीतर स्वतः गंध नहीं है। यदि रूप को पृथ्वी का लक्षण कहा जाय तो वह जल और अग्नि में भी अतिव्याप्त हो जायगा और यदि 'स्तन्यपायी पशु को गाय कहते हैं ऐसा लक्षण कहा जाय तो स्तन्यपायी गाय का लक्षण होकर भैंस, बकरे, भेड़, आदि में भी वह व्याप्त हो जाता है (अलक्ष्ये लक्षणगमनम् अतिव्याप्तिः—तर्कसंग्रह)।

इसी प्रकार 'श्वेत रंग के पशु को गाय कहते हैं' इस प्रकार के लक्षण कहने से वह काली लाल आदि रंगवाली गायों पर व्याप्त न होने के कारण अव्याप्ति-दोष-दुष्ट लक्षण हुआ। सारे लक्ष्य पदार्थों पर लक्षण की गति न होने से अव्याप्ति-दोष कहा जाता है (लक्ष्यैकदेशे लक्षणगमनम् अव्याप्तिः—तर्कसंग्रह)।

यदि 'तीन नेत्रों वाले पशु को गाय कहते हैं' अथवा 'अखंडित खुर वाले पशु को गाय कहते हैं' ऐसा कहा जाय तो ये दोनों लक्षण गाय में नहीं घटते। इस कारण ये असंभवदोष-दुष्ट लक्षण हैं। क्योंकि ये दोनों लक्षण गाय में नहीं हैं। लक्ष्य वस्तु में लक्षण की गति न होने से ही उसे असंभव-दोष कहा जाता है (लक्ष्यमात्रे लक्षणस्यागमनम् असंभवः—तर्कसंग्रह)।

अब देखना चाहिए कि उपर्युक्त अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव इन तीनों की दूषकता का कारण क्या है? इस विषय में प्रथम ज्ञातव्य है कि लक्षण चार प्रकार के होते हैं। इतर-भेदानुमापक, स्वरूप-प्रतिपादक, कारणत्वोपयिक और व्यवहारोपयिक। इन ४ प्रकार के लक्षणों में इतरभेदानुमापक लक्षण से लक्ष्यीभूत पदार्थों में अन्य पदार्थों का भेद अनुमान द्वारा निर्णीत होता है अर्थात् लक्ष्य पदार्थ दूसरे पदार्थों से भिन्न है इसका अनुमान कर लिया जाता है। इस प्रकार वे अनुमान में लक्ष्य पदार्थ पक्ष, इतरभेदसाध्य और लक्षण हेतु है (अनुमानम् देखिए)। जैसे-पृथ्वी दूसरे भूतों से पृथक है, क्योंकि इसमें गंध है (पृथ्वी पृथ्वीतरभेदवती गंधवत्त्वात्)। जो पदार्थ गंधवान नहीं है वह पृथ्वी नहीं है, ऐसा निश्चय होगा, किंतु रूप को पृथ्वी का लक्षण कहने से इतरभेदानुमान के स्थल में 'रूप' हेतु अग्नि, जल आदि अन्य पदार्थों में पहुँचकर वह लक्षण व्यभिचारी हो जायगा। अर्थात् अग्नि में पृथ्वी-

तरभेद रूप साध्य नहीं है और 'रूप' हेतु है। फलस्वरूप वह हेतु अतिव्याप्ति के समान व्यभिचार-दोष-दुष्ट हो जाता है।

अतिशक्ति (वि०) बहुत अधिक शक्तिशाली।

अतिशक्तिः (स्त्री०) अत्यधिक शक्ति या वीरता।

अतिशङ्क (वि०) अत्यन्त भीत, बहुत डरपोक।

अतिशयः (पुं०) अत्यधिक उत्कृष्टता।

अतिशयन (वि०) प्रधान, मुख्य, प्रचुर।

अतिशयनम् (न०) बहुलता, प्रचुरता।

अतिशयोक्तिः (स्त्री०) वह अलंकार जिसमें लोकसीमा का उल्लंघन विशेष रूप से दिखलाया जाय।

अतिशायिनः (पुं०) अतिक्रमण, उल्लंघन।

अतिशायनम् (न०) श्रेष्ठत्व, उत्तमता, श्रेष्ठता।

अतिशायिन् (वि०) श्रेष्ठ, उत्कृष्ट।

अति + शी आ० (अतिशेते) अतिक्रम करना, सीमोल्लंघन करना।

अतिशीतम् (अव्य०) ठण्डक से परे, जाड़े के पश्चात्।

अतिशुभ् (पुं०) चमकीला होना, प्रसन्न होना, शोभित होना, अतिसुन्दर बनाना, शोभित करना।

अतिशेषः (पुं०) स्वल्प बचत।

अतिश्रेयसिः (पुं०) वह पुरुष जो सर्वोत्तम स्त्री से श्रेष्ठ हो।

अतिश्व (वि०) बल में बढ़ा हुआ, कुत्ते से निकृष्ट।

अतिश्वन् (पुं०) सर्वोत्तम कुत्ता।

अतिश्वसनम् (न०) अधिक या शीघ्र शीघ्र श्वास ग्रहण और त्याग, हाँफना।

अतिश्वी (स्त्री०) सेवा, दासता।

अतिसक्तिः (स्त्री०) घनिष्ठता, मैत्री, आसक्ति।

अतिसन्धानम् (न०) धोखा, कपट, छल।

अतिसमयः (पुं०) निर्धारित समय से अधिक समय।

अतिसरः (पुं०) आगे बढ़ा हुआ व्यक्ति, नेता।

अतिसर्गः (पुं०) देने की क्रिया, अनुमति, पृथक्करण।

अतिसर्जनम् (न०) मुक्ति, छुटकारा, दीनशीलता, वियोग, वध।

अतिसर्पणम् (न०) पराधिकार-प्रवेश, अपनी सीमा से बहिर्गमन।

अतिसर्व (वि०) सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ।

अतिसर्वः (पुं०) परब्रह्म, परमात्मा; सर्व शब्द से समस्त जगत समझा जाता है। उसका अतिक्रम करके रहने वाले परमात्मा ही हैं।

अतिसारः (पुं०) मल का पतला होकर निकलना, पतले दस्त होना, उदरामय। इसके निदान हैं—भारी (गुरुपाच्य), अतिस्निग्ध, अतिरुक्ष, अत्युष्ण, अतिशीतल, अतिद्रव, अतिशुष्क, परस्पर विरुद्ध, बासी, विषम भोजन; विशेष भींगना, कृमिदोष आदि, वात, कफ, पित्त प्रकोपक आहार-विहार है।

इसकी सम्प्राप्ति, बढ़ा हुआ जलतत्त्व अग्नि को मन्द कर मल का वेगपूर्वक निकास करता है। इसके पूर्वरूप में हृदय, नाभि, मलद्वार, पेट, कोख में दर्द, शरीर में शिथिलता, वायु का उपरोध, मलबन्ध, अफरा और अजीर्ण होते हैं।

यदि मल चिकना कफवाला अति-दुर्गन्ध-युक्त होकर जल में डूब जाय तो आमातिसार एवं इसके उल्टा हो, तो निराभातिसर समझना चाहिए।

आमातिसार को एकाएक रोकना नहीं चाहिए, अन्यथा दण्डक, अलसक आध्मान, ग्रहणी, बवासीर भगन्दर, पाण्डु, प्लीहा, प्रमेह, ज्वर आदि विकार हो जाते हैं। परन्तु अति वृद्ध एवं कृश व्यक्ति को विलम्ब न कर शीघ्रता पूर्वक युक्ति से अतिसार से मुक्त करे। विलम्ब होने से अनिष्ट हो सकता है। एक-दो दिन उपवास लाभदायक है। आम बन्द हो जाय तो लघुपाच्य खाद्य लिया जाय। स्नान, अवगाहन (डूब कर स्नान), उबटन लगाना, गुरुपाक तथा तेल घी आदि युक्त खाद्य खाना, व्यायाम, आग तापना आदि अतिसार रोग ग्रस्त व्यक्ति त्याग करे (स्नानावगाहनाभ्यङ्गगुरुस्निग्धादिभोजनम्। व्यायाममग्निसन्तापञ्चातीसारी विवर्जयेत् - भावप्रकाश, अतिसाराधिकारः)।

अतिसारिन् (वि०) अतिसार-रोगी, संग्रहणी रोगग्रस्त।

अतिसुलभ (वि०) सरलता से प्राप्त होने योग्य, जल वायु आदि।

अतिसूक्ष्मदर्शिन् (पुं०) बहुत सूक्ष्म वस्तु को देख सकने वाला, दूसरे के मन का भाव जानने वाला, खुर्दबीन यंत्र जिससे बहुत सूक्ष्म वस्तु साधारण चक्षु से भी देखी जाती है।

किसी कमरे में उड़ते हुए धूल के कणों को देख नहीं सकते परंतु यदि जँगले के किसी छेद से सूर्य की किरण वहाँ आ पड़े तो बगल से देखने पर उस किरण के भीतर अगणित धूलकण उड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनसे भी सूक्ष्मकण वायुमण्डल में निरन्तर तैर रहे हैं, परन्तु उन्हें हम खाली आँख से देख नहीं सकते। इसी कारण उनकी गति-विधि देखने के लिए अतिसूक्ष्मदर्शी यंत्र का आविष्कार हुआ है।

योगी भी अति सूक्ष्मदर्शी हैं। साधारण मनुष्य जहाँ पाप या दुःख नहीं देखते उसमें भी योगी को पाप या दुःख दिखाई पड़ता है। यज्ञ, देवीपूजा आदि में पशु-बलि को मनु आदि धर्मशास्त्रकार हिंसा नहीं मानते (यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा। यज्ञोऽस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः – मनु. ५।३६)। इन लोगों का कहना है एक महान पुण्यकार्य में पशु-हिंसा आदि छोटा मोटा पाप अन्तर्भुक्त हो जाता है। उस समय वह पाप नहीं रह जाता। परन्तु योगी की सूक्ष्म दृष्टि में हिंसा सदैव पाप ही है। पुण्यकार्य के फलभोग के अनन्तर उस पाप का भी फल अवश्य भोगना पड़ेगा। साधारण मनुष्य विषय-भोग में सुख ही सुख देखते हैं परन्तु योगीजन विषय-सुख को दुःखरूप मानते हैं; क्योंकि वह सुख परिणाम-दुःख की ही उत्पत्ति करता है तथा कोई भी सुख चिरस्थायी नहीं होता। सुखभोग के समय उसके प्रतिपंथी के प्रति द्वेष भाव रहने के कारण सुखानुभवकाल में भी ताप-दुःख दुष्परिहार्य है। सुखानुभव-काल में प्रायः अनभिमत-विषय-संभोग भी हो जाता है, फलस्वरूप चित्त में सुख-संस्कार के साथ दुःखसंस्कार भी पड़ते जाते हैं और उन संस्कारों से पुनः नये-नये संस्कार होते रहते हैं, जिससे संसार-प्रवाह की निवृत्ति नहीं होती। यह संस्कार-दुःख है। प्रकृति के सत्त्व, रज और तम रूप तीन वृत्तियों से सुख-दुःख-मोह रूप परस्पर विरोधी भाव चित्त में निरन्तर उठते रहते हैं, इस कारण कोई भी सुख दुःखानुवेध से रहित नहीं है। इन चार कारणों से विवेकी के लिए संसार में सभी दुःखमय है (परिणामतापसंस्कार-दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः--योगसूत्र २।१५)।

अतिस्था (पुं०) अधिक स्थान में स्थित होना या रहना।

अतिस्नेहः (पुं०) अत्यन्त अनुराग।

अतिस्पर्शः (पुं०) स्वर की एक संज्ञा।

अतिहसितम् (न०), अतिहासः (पुं०)–ठहाका, कहकहा, अट्टहास, खिलखिलाहट।

अतीत (वि०) गत, बीता हुआ, मरा हुआ, मृत, विरक्त, पृथक्, असंख्य।

अतीतकालः (पुं०) बीता हुआ समय, भूतकाल।

अतीन्द्रिय (वि०) अव्यक्त, अगोचर, अप्रत्यक्ष, इन्द्रियातीत, अवाङ्मनसोगोचर मनवाणी से परे, परम सूक्ष्म। स्थूल विषयों को जानने के लिए श्रोत्र त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा अंतरिन्द्रिय मन समर्थ हैं। सूक्ष्म आकाश, काल, दिक् आदि वस्तुओं को चक्षु न देख सकने पर भी मन में अनुमानादि अन्य प्रमाणों द्वारा उनकी उपलब्धि होती है। (शक्त वेद्ये तु साधनम्--पञ्चदशी ७।१३) परंतु परम सूक्ष्म चेतन आत्मा को न इन्द्रियाँ देख सकती हैं और न मन। इंद्रियों के द्वारा प्रत्यक्षीभूत सभी पदार्थ अनित्य हैं। एकमात्र आत्मा ही इन्द्रियों के अविषय होने से नित्य रह जाता है। सृष्टि के मूल में एक वस्तु का नित्य अर्थात् अनादि अनंत होना आवश्यक है, क्योंकि मूल कारण का आदि मानने से वह किससे उत्पन्न हुआ, ऐसा प्रश्न उठता है। किसी महान् आत्मा से उसकी उत्पत्ति मानने पर वह किससे उत्पन्न हुआ ऐसा प्रश्न खड़ा हो जायगा और इस प्रकार आगे बढ़ने पर अनवस्था दोष आ जायगा। एकाधिक वस्तुएँ नित्य नहीं हो सकतीं। इतरव्यावर्तकत्व या भेदप्रतियोगित्व हेतु से दोनों अनित्य हो जाती हैं।

दृश्य अर्थात् इन्द्रियग्राह्य सभी पदार्थ अनात्मा यानी जड़ हैं, केवल द्रष्टा अर्थात् साक्षी ही आत्मा है (दृश्यं सर्वमनात्मा स्याद् दृगेवात्मा विवेकिनः-आत्मानात्मविवेकः) सदा स्वयंप्रकाश आत्मा कभी ज्ञान का विषय नहीं है (विज्ञातारमरे केन विजानीयात्--बृहदारण्यक ४।५।१५)। (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति--कठोपनिषद् ५।१५)। इंद्रिय; मन आदि मायाकल्पित वस्तुएँ माया के अधीश्वर चेतन परमात्मा को नहीं देख सकतीं (ज्ञानामृतं शुद्धमतीन्द्रियोऽहम्--अवधूतगीता १।८)।

अतीन्द्रियम् (न०) सांख्य के अनुसार प्रकृति, मन।

अतीव (क्रि० वि०) अधिकता से, बिल्कुल।

अतीव्र (वि०) जो तेज न हो, मोंथिल, अतीक्ष्ण ।

अतुल (वि०) अतुलनीय, जो तुलना के योग्य न हो, असमान, उपमारहित ।

अतुलः (पुं०) तिलक नाम का वृक्ष ।

अतुलित (वि०) अतुलनीय, अनुपमेय, तुलना रहित। किसी से जिसकी तुलना नहीं हो सकती (अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम् । सकलगुणनिधानं वानराणमधीशं रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि—रामचरितमानस ५।३)।

अतुल्य (वि०) जिसको तुलना या समता न हो, अद्वितीय ।

अतुषार (वि०) जो शीतल न हो ।

अतुषारकरः (पुं०) सूर्य ।

अतृण (वि०) तृण-रहित (स्थान), (अक्षमावान्परं दोषैरात्मानञ्चापि योजयेत् । अतृणे पातितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति)।

अतृण्या (स्त्री०) अल्प तृण, थोड़ी सी घास ।

अतेजस् (वि०) जो चमकीला न हो, धुँधला, निर्बल, दुर्बल, अशक्त, तुच्छ ।

अतोनिमित्तम्, अतोर्थम् (अव्य०) इस कारण से ।

अत्ता (स्त्री०) माता, माँ, ज्येष्ठ भगिनी, सास ।

अत्तिः (स्त्री०) बड़ी बहन, ज्येष्ठ भगिनी।

अत्नः, अत्नुः (पुं०) वायु, हवा, सूर्य ।

अत्यग्निः (पुं०) विकार उत्पन्न करनेवाली तीक्ष्ण पाचन शक्ति ।

अत्यग्निष्टोभः (पुं०) ज्योतिष्टोम यज्ञ का एक कर्म ।

अत्यङ्कुश (वि०) जो वश में न रह सके ।

अत्यतिवृद्धप्रपितामहः (पुं०) पितामह का वृद्धप्रपितामह, प्रपितामह का प्रपितामह, परदादा का परदादा ।

अत्यतिवृद्धप्रपितामही (स्त्री०) पितामह की वृद्धप्रपितामही, प्रपितामह की प्रपितामही, परदादा की परदादी ।

अत्यतिवृद्धप्रमातामहः (पुं०) मातामह का वृद्धप्रपितामह, प्रमातामह का प्रपितामह, परनाना का परदादा।

अत्यतिवृद्धप्रमातामही (स्त्री०) मातामह की वृद्धप्रपितामही, प्रमातामह की प्रपितामही, परनाना की परदादी ।

अत्यत्यतिवृद्धप्रपितामहः (पुं०) पितामह का अतिवृद्धप्रपितामह, प्रपितामह का वृद्धप्रपितामह, परदादा के परदादा का बाप, पिता को लेकर ऊर्ध्वतन सप्तम पुरुष ।

अत्यत्यतिवृद्धप्रपितामही (स्त्री०) पितामह की अतिवृद्धप्रपितामही, प्रपितामह की वृद्धप्रपितामही परदादा के परदादा की माँ ।

अत्यत्यतिवृद्धप्रमातामहः (पुं०) मातामह का अतिवृद्धप्रपितामह, प्रमातामह का वृद्ध प्रमातामह, परनाना के परदादा का बाप, माता को लेकर ऊर्ध्वतन सप्तम पुरुष ।

अत्यत्यतिवृद्धप्रमातामही (स्त्री०) मातामह की अतिवृद्धप्रपितामही, प्रमातामह की वृद्धप्रमातामही, परनाना के परदादा की माँ ।

इसके ऊपर एक एक पुरुष बढ़ाना हो तो एक एक 'अति' आरम्भ में जोड़ लेना चाहिए; जैसे—'अत्यत्यत्यतिवृद्ध·····' ।

अत्यन्त (वि०) बहुत अधिक, प्रचुर, यथेष्ट (अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः । उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधास्यति—महानिर्वाण तंत्र ७।२८) । देह अत्यंत मलिन है और देही आत्मा अत्यन्त निर्मल है । दोनों का भेद जानकर किस का शौच किया जायगा ? आशय यह है कि आत्मा में शोक, दुःख, काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह, आदि कोई भी गुण या दोष नहीं है । इस आत्मा में, 'मैं आत्मा हूँ' इस दृढ़ ज्ञान में जब मनुष्य स्थित हो जाता है तो अत्यन्त मलिन देह के शौच के लिए छूआछूत का विचार कर दुःखी नहीं होता और न किसी को दुःखी ही बनाता ।

योगसूत्र के भाष्य में वेदव्यास जी लिखते हैं कि मानुषकश्चैकविधः —सारे मनुष्य एक प्रकार के हैं । जिस प्रकार हस्ती, अश्व, गर्दभ, कुक्कुर, मार्जार आदि एक एक श्रेणी के जीव हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी एक श्रेणी का जीव है । जिस प्रकार घोड़े में लाल, श्वेत, कृष्ण, नाटा, ऊँचा, छोटा, लम्बा आदि भेद रहते हुए भी एक ही श्रेणी के हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी श्वेत, पीत, कृष्ण, नाटा, ऊँचा छोटा, बड़ा आदि भेद रहने पर भी एक प्रकार का जीव है । ऐसी स्थिति में मनुष्यों में भेद करना और एक देश के मनुष्यों से दूसरे देश के मनुष्यों का युद्ध करना नितांत अज्ञान का ही कार्य है । ज्ञानी व्यक्ति स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण,

क्षत्रिय, गोरे, काले आदि के अनेक व्यवहारिक भेद मानते हुए भी भीतर से जानते हैं कि सभी मनुष्य एक श्रेणी के हैं। इसी कारण अत्यन्त मलिन देह वालों को भी वह घृणा नहीं कर सकते।

अत्यन्तगत (वि०) सदैव के लिए गया हुआ।

अत्यन्तगामिन् (वि०) बहुत तेज चलने वाली, जल्दी चलने वाला, शीघ्रगामी।

अत्यन्तवासित (वि०) बहुत अधिक परिमाण में सुगंधयुक्त, कर्मसंस्कारों या ज्ञान-संस्कारों से बहुत अधिक परिमाण में संस्कृत। वेदांत के मतानुसार निरन्तर विचार द्वारा माया, भूत और भौतिक पदार्थों की सत्ता-शून्यता तथा आत्मा की सद्रूपता का संस्कार अन्तःकरण के दृढ़ रूप से बैठ जाती है। तथा इसी प्रकार ज्ञान होने से सद्वस्तु अद्वैत तथा संसार मिथ्या है ऐसी बुद्धि कदापि विपर्यस्त नहीं होती (भूतभौतिकमायानामसत्त्वेऽत्यन्तवासिते। सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित्—पञ्चदशी २।६८)।

अत्यन्तवासिन् (पुं०) वह जो अपने शिक्षक के साथ सदैव रहता हो।

अत्यन्तसंयोगः (पुं०) अति समीपता, अविच्छिन्नता।

अत्यन्ताभावः (पुं०) किसी वस्तु का बिल्कुल अभाव, त्रैकालिक अभाव। जैसे--वायु में रूप का।

अत्यन्तिक (वि०) बहुत तेज चलने वाला, दूर का।

अत्यन्तिकम् (न०) अति समीपता, अति निकटता।

अत्यन्तीन (वि०) बहुत अधिक चलने-फिरने वाला। बहुत तेजी से चलने वाला।

अत्ययः (पुं०) अंत, समाप्ति, अनुपस्थिति, अदर्शन, मृत्यु, विनाश, बुराई, दुःख, कष्ट, वैध अर्थदंड, अतिक्रमण, अपराध, आक्रमण।

अत्ययित (वि०) बढ़ा हुआ, आगे निकला हुआ, उल्लंघन किया हुआ।

अत्ययिन् (वि०) आगे निकला हुआ, बढ़ा हुआ।

अत्यर्थ (वि०) अत्यधिक, अत्यंत।

अत्याकारः (पुं०) तिरस्कार, भर्त्सना, भीमकाय शरीर।

अत्यागिन् (वि०) अत्यागी, त्याग न करने वाला, सब कुछ अपनाने की इच्छा रखने वाला। मनुष्य जीवन धारण के लिए भोजन वस्त्रादि ग्रहण करता है, इन्द्रियों से विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है, मन से भी अनेक भोग्य वस्तुओं का ग्रहण करता रहता है। इस प्रकार भोजन वस्त्रादि के सामान्य ग्रहण में विशेष दोष नहीं होता, परन्तु इसके लिए बिना परिश्रम और बिना कुछ दिये किसी से कुछ प्रतिग्रहण करने (लेने) से मनुष्य का पतन होता है। दान ग्रहण करने से चित्त में दीनता और हीनता का भाव छा जाता है। यह एक प्रकार से आत्मा का हनन है। जो किसी से कुछ नहीं लेता, अपने उपार्जन का ही खाता है, बल्कि उसमें से भी कुछ अभावग्रस्तों को देता है, उसका चित्त उन्नत तथा सुखी रहता है।

प्राचीन समय में ऋषि लोग राजाओं का दान नहीं लेते थे, इसी कारण उनका महत्त्व था। कोई ऋषि किसी राजा के दरबार में पहुँचते, तो राजा उठकर उनका स्वागत करते हुए उन्हें सिंहासन पर बैठाते थे। अब उन्हीं के वंशज ब्राह्मण दान लेते-लेते किस दशा में पहुँचे हैं, वह सभी को विदित है। त्याग से शान्ति मिलती है (त्यागात् शान्तिरनन्तरम्—गीता १२।१२)।

बृद्धवचन है कि झगड़े के स्थल में जो हार मान लेता है, अन्त में जीत उसी की होती है। दो ग्रामों में दो तांत्रिक साधक थे, जिसकी उमर कम थी, वह पंचमकार (मत्स्य, मांस, मुद्रा, मदिरा, मैथुन) से साधन किया करता था और दूसरे बृद्ध शुद्धाचार में रहकर अपने मन से साधन करते हुए बहुत ही उन्नत अवस्था में पहुँचे थे। जवान तांत्रिक ने एक समय अपने शिष्यों से कहा—"फलाने गाँव के बूढ़े तांत्रिक के शिष्य हमारी बहुत निन्दा करते हैं, एक दिन चलो उनसे शास्त्रार्थ किया जाय कि किसका मत ठीक है। सब लोग बीच के एक गाँव के चौपाल में जा बैठ गये। कुछ लोगों ने उस बूढ़े के पास जाकर कहा—"महाशय, उस गाँव के तांत्रिक शिरोमणि आपसे शास्त्रार्थ करना चाहते हैं। किसका मत उत्तम है, उसका निर्णय हो जाना आवश्यक है।" सुनकर बूढ़े साधु ने कहा—"आप लोग जाकर कह दीजियेगा कि मैं ही हार गया हूँ।" उन लोगों ने वापस आकर उस तांत्रिक को उस बूढ़े साधु का कहना सुना दिया। सुनकर जवान साधु को बड़ी लज्जा हुई। वह दौड़कर उस बूढ़े के पास पहुँचा और उनके पैर पर सिर रखकर क्षमा-याचना करने लगा। उस बूढ़े साधु ने उसे उठाकर छाती से लगा लिया।

उन्होंने शक्ति रहते ही जय की आशा को त्याग दिया, फलस्वरूप शांति स्थापित हुई। यदि वह त्याग न करते तो दोनों में शास्त्रार्थ होता, झगड़ा बढ़ता, सम्भवतः चेलों में मारपीट तक हो जाती।

भौतिकवादी भोग साधन जुटाने में जीवनपात कर देते हैं और सदा अशांति भोगते रहते हैं। विरक्त पुरुष सभी आशाओं का त्याग कर परमानन्द का भोग करते रहते हैं। यही आदर्श जीवन है।

परिवार में एक व्यक्ति कमाता है और दस व्यक्ति बैठे-बैठे खाते हैं। कमाने वाला यदि ऐसा कहे 'मैं जो कुछ कमाता हूँ, सबका मैं अकेला ही भोग करूँगा, किसी को एक पैसा नहीं दूँगा', तो घर में अशांति फैलती है। यदि वह सबके लिए त्याग करता है, तो परिवार में सुख रहता है। स्वार्थपरायणता में दुःख और परार्थपरायणता में सुख, यही तो महाजन-वाक्य है।

अत्यागी को अच्छा, बुरा और मिला-जुला ऐसे तीन प्रकार के कर्मफलों का भोग इह लोक और परलोक में होता है; किन्तु कर्मफलत्यागी महात्माओं को कभी नहीं भोगना पड़ता (अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्। भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्- गीता १८।१२)।

अत्याचारः (पुं०) अन्याय, दुराचार, उपद्रव, दुःखद कार्य, अधार्मिक कर्म।

अत्याचारिन् (वि०) अत्याचारी पीड़न करनेवाला।

अत्यादित्य (वि०) सूर्य का अतिक्रमण करनेवाला।

अत्याघम् (आ०) (अत्याघमति) जोर से साँस लेना।

अत्यानन्दा (स्त्री०) स्त्री-सहवास संबंधी आनंदों के प्रति अनास्था।

अत्यायः (पुं०) अतिक्रमण, उल्लंघन, अधिकता।

अत्यारूढ (वि०) बहुत अधिक बढ़ा हुआ।

अत्यारुढम् (न०) अत्यारुढिः (स्त्री०) अत्यधिक उन्नति या उत्कर्ष।

अत्याशित (वि०) अधिक भोजन करने वाला, पेटू, गुरूभोजी, बहुत अधिक भोजन किया हुआ, उतावला, भूखा, दर्दनाक देह वाला, प्यासा, बालक, वृद्ध, मलमूत्रादिके वेगयुक्त तथा रोगी स्त्री-सहवास न करें (अत्याशितोऽधृतिः क्षुद्वान् सव्ययाङ्गः पिपासितः। बालो वृद्धोऽन्यवेगार्तस्त्यजेद् रोगी च मैथुनम्-भावप्रकाश २।२२)।

अत्याश्रमः (पुं०) संन्यास, आश्रम, परमहंस, संन्यासी।

अत्याहारिन् (वि०) बहुत अधिक खाने वाला, पेटू (अत्याहारी न जीवति)

अत्याहितम् (न०) भारी हानि, दुर्भाग्य।

अत्युक्तिः (स्त्री०) बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहा हुआ कथन या की हुई बात।

अत्युग्र (वि०) बहुत क्रोधी, प्रचण्ड, बहुत तेज।

अत्युज्ज्वल (वि०) बहुत उज्ज्वल या चमकदार।

अत्युत्कट (वि०) अतितीव्र, भयंकर (त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः। अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते–हितोपदेश)। हत्या, चोरी, मिथ्या भाषण, व्यभिचार आदि अति उत्कट पाप हैं। दान, परोपकार, अहिंसा, संयम आदि अति उत्कट पुण्य हैं। इन कार्यों का फलभोग इसी जीवन में तीन वर्षों, तीन मासों, तीन पक्षों या तीन दिनों में अवश्य ही होता है।

अत्युपध (वि०) विश्वस्त, परीक्षित।

अत्युष्ण (वि०) बहुत गरम।

अत्युन्नतिः (स्त्री०) अधिक उन्नति।

अत्यूहः (पुं०) गंभीर विचार या चिंतन, जलकुक्कुट, एक प्रकार का जलपक्षी।

अत्र (अव्य०) इस स्थान में, यहाँ, इस समय पर, वहाँ, तब, इसके बाद। ऋषियों का सबके लिए अशीर्वाद-मंत्र है--सब लोग सुखी रहें, सब लोग व्याधिरहित हों, सबका मंगल हो, किसी को दुःख न हो (सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्-दुःखमाप्नुयात्–महाभारतशांतिपर्व)। इस प्रकार की शुभकामना से संसार का वातावरण शुद्ध था। फलस्वरूप लोग सुखी तथा निरामय रहते थे। किंतु आजकल प्रायः लोग दूसरों का अकल्याण चाहते हैं, उन्हें दुःख देते हैं, जिससे वातावरण ही अशुद्ध होता जा रहा है। फलस्वरूप लोग दुःख ही भोगते रहते हैं। किंतु अभी भी ऐसे मनुष्य हैं जो सबका कल्याण चाहते हैं, भले ही अपने को दुःख-कष्ट भोगना पड़े।

यह स्वतः सिद्ध सिद्धान्त है कि किसी को दुःख देने से अपने को दुःख भोगना ही पड़ता है। क्रिया की प्रति-

क्रिया अवश्य होती है। इस अकाट्य नियम के उदाहरण हैं—रावण, कंस, दुर्योधन, नेपोलियन, हिटलर आदि। हमारे आसपास भी अनेक उदाहरण हैं। आधुनिक राजा, महाराजा, जमीनदार, तालुकेदार अपने अधीन प्रजाओं पर अकथनीय अत्याचार करते थे, किन्तु आज उनका नामोनिशान नहीं मिलता। वर्तमान भारत के गणतन्त्र शासनकाल में जो लोग प्रतिष्ठित राज्यशासन-प्रणाली का भयंकर विरोध करते थे वे अब कारागार में अशेष क्लेश सहन कर रहे हैं। पाप किये बिना कोई कष्ट नहीं भोगता।

यहाँ के राजनैतिक दलों में भी आपस में भयंकर मतविरोध चल रहें हैं। सभी कहते हैं कि मेरा मत ठीक है, दूसरों के मत ठीक नहीं हैं। किन्तु थोड़ा विचार करने से जाना जा सकता है कि मनुष्य के मत का कोई भी मूल्य नहीं है। इस अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में हमारी इस पृथ्वी का परिमाण एक बालुकण के लक्षांश से भी क्षुद्र है। ऐसी क्षुद्रादपि क्षुद्र पृथ्वी में मनुष्य नामक जीवों के मतमतान्तरों का मूल्य अति नगण्य है। अतः इस प्रकार मतविरोध लेकर सर्वत्र अशान्ति फैलाना एकदम अनुचित है।

अत्रत्य (वि०) इस स्थल से संबंध रखने वाला, यहाँ उत्पन्न होने वाला, इस स्थान का, स्थानीय।

अत्रप (वि०) निर्लज्ज, दुःशील, प्रगल्भ।

अत्रभवान् (वि०) प्रशंसा करने योग्य, श्लाघ्य, पूज्य।

अत्रस्त (वि०) भयरहित, निडर, घबराया हुआ।

अत्रस्थ (वि०) इस स्थान में स्थित, यहाँ का।

अत्रिः (पु०) एक ऋषि का नाम। शास्त्रों में कई अत्रि के नाम आये हैं जैसे—

(१) ऋग्वेद के मंत्रद्रष्टा ऋषियों में एक। अथर्व वेद में इनकी ही प्रधानता देखी जाती है।

(२) ब्रह्मा के एक मानस पुत्र। जो उनकी आँख से उत्पन्न हुए थे तथा सप्तऋषियों में एक थे। राजा कर्दम की कन्या अनुसूया इनकी पत्नी थीं। पुत्र प्राप्ति के लिए अपनी पत्नी के साथ अत्रि एक पर्वत पर तपस्या करने लगे। उनकी तपस्या से प्रसन्न होकर वहाँ त्रिमूर्ति उपस्थित हो गयीं और अपने अंशों से इन्होंने ३ पुत्रों का दान दिया जो दत्तात्रेय (विष्णु), दुर्वासा (शिव) और सोम (ब्रह्मा) के नाम से प्रसिद्ध हैं।

(३) एक अत्रि दसों प्रजापतियों में अन्यतम थे।

(४) वनवास-काल में एक अत्रि मुनि के आश्रम में श्रीरामचंद्र, सीता व लक्ष्मण के साथ कुछ दिनों तक रहे।

(५) एक अत्रि धर्मशास्त्र के प्रणेता और संहिताकार थे।

अत्रिजातः, अत्रिभवः (पुं०) चंद्रमा, शशि।

अत्वरा (वि०) शीघ्रता से युक्त।

अथ (अव्य०) तदनंतर, इसके बाद; यदि, ऐसी दशा में, इसी प्रकार, ऐसा भी, जिस प्रकार।

महाभारत-युद्ध के आरंभ में कौरव-पांडव युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गये। इसी समय विपक्षियों को तैयार देखकर अर्जुन ने सारथि कृष्ण को दोनों सेनाओं के बीच में रथ ले जाने के लिए कहा था (अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः। सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत——गीता १।२०-२१)।

वेद के कर्मकांड पढ़ लेने के बाद छात्रों में धर्म क्या है ऐसी जिज्ञासा होती है (अथातो धर्मजिज्ञासा—वैशेषिक दर्शन १।१)। उसके उत्तर में गुरु छात्रों से कहते हैं——जिससे इस लोक में उन्नति तथा मृत्यु के बाद निःश्रेयस (मुक्ति) मिलता है वही धर्म है (यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः– वैशेषिक दर्शन १।२)। (अभ्युदयः देखिए)।

वेद के अंतिम भाग उपनिषद पढ़ लेने पर छात्रों में 'ब्रह्म क्या है'—ऐसी जिज्ञासा होती है (अयातो ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मसूत्र १।१)। (अद्वैतवादः, ब्रह्मन् देखिए)।

अथकिम् (अव्य०) और क्या, ठीक ऐसा ही।

अथच (अव्य०) इसी प्रकार, ऐसे ही।

अथर्यः [वेद] (स्त्री०) अंगुलियाँ।

अथर्यवः [वेद] (स्त्री०) अंगुलियाँ।

अथर्याः [वेद] (स्त्री०) अंगुलियाँ।

अथर्युम् [वेद] (न०) गमन करने वाला।

अथर्वान् (पुं०) वह यज्ञकर्ता जो अग्नि और सोम का पूजन करता हो, ब्राह्मण। अथर्वा ऋषि जो ब्रह्मा के बड़े पुत्र थे। समाधि-सम्पन्न व्यक्ति। वैदिक आर्यों के प्राचीन पूर्व

पुरुषों का नाम भी अथर्वन् है। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में कहा गया है कि अथर्वन् लोगों ने अग्नि का मंथन कर सबसे पहले यज्ञ-मार्ग का प्रवर्तन किया था। इस प्रकार अथर्वन् शब्द ऋत्विज् शब्द का ही पर्यायवाची है। अथर्वसंहिता में अङ्गिरस ऋषियों के द्वारा दृष्ट मंत्र अथर्व-दृष्ट मंत्र रूप से प्रचलित है। इन अथर्वन् मंत्रों की प्रधानता के कारण चतुर्थ अथर्ववेद प्रसिद्ध हुआ है।

अथर्वविद् (पुं०) अथर्व वेद पढ़ने का अधिकारी, अथर्व वेद का ज्ञाता पुरुष।

अथर्ववेदः (पुं०) चारों वेदों में से अंतिम वेद। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चार वेद हैं। अथर्ववेद का दूसरा नाम अथर्वांगिरसः है। इस शब्द में अथर्वन और अंगिरस इन दो प्राचीन ऋषिकुलों के नाम सम्मिलित हैं। इनमें से पहला शब्द पवित्र दैवी मंत्रों का प्रतिपादक है और दूसरा शब्द टोना, टोटका आदि संमोहन मंत्रों का प्रकाशक है। इस द्वितीय विषय के कारण धर्मसूत्रों और स्मृतियों में उसका उल्लेख अनादर से किया गया है। आपस्तंब धर्मसूत्र और विष्णुस्मृति दोनों की दृष्टि से यह चतुर्थवेद अनादर की वस्तु है। यहाँ तक कि विष्णुस्मृति में अथर्ववेद के मारक मंत्रों के प्रयोक्ताओं को सप्तम हत्यारा माना गया है।

अथर्ववेदसंहिता बीस कांडों में संकलित है। जिसमें सूक्तों की संख्या ७३० और मंत्रों की लगभग ६००० है। इसमें लगभग १२०० मंत्र ऋग्वेद से कुछ परिवर्तित रूप में लिये गये हैं और ये मंत्र देव-दानवों की स्तुतियों तथा कर्मकांड से संबंध रखते हैं। अथर्ववेद में प्रधानतया उचित अनुचित, ऊँच-नीच आदि जन-प्रवृत्तियों का ही विशेष विस्तारित विवरण मिलता है। इसमें कर्मकांड की गौणता स्वीकार की गयी है। इसी लिए अथर्ववेद से प्रचुर मात्रा में ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध है। अथर्ववेद में इतिहास, पुराण, गाथा आदि का उल्लेख भी मिलता है। आज भी अथर्ववेद की दो शाखाएँ उपलब्ध हैं—पिप्पलाद शाखा और शौनक शाखा।

अथर्वा (पुं०) एक वैदिक ऋषि। यह ब्रह्मा के प्रथम पुत्र थे। पिता ने इनको ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था। (ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ-पुत्राय प्राह—मुण्कोपनिषद १।१)।

तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार जगत् के कारण ब्रह्म से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी के क्रम से सृष्टि की उत्पत्ति हुई थी (तस्माद् वै एतस्माद् आत्मनः आकाशः संभूतः—२।१।१)।

पुराणों के अनुसार ब्रह्मा के मानस पुत्र-सनक, सनंदन आदि थे (सनकश्च, सनन्दश्च सनातनमयात्मभूः—कूर्मपुराण)।

मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मा ने पहले देवताओं की सृष्टि की थी (कर्मात्मनां च देवानां सोऽसृजत् प्राणिनां प्रभुः—१।२२)।

सृष्टि के विषय में इस प्रकार विभिन्न मत होने के कारण संसार माया-कल्पित मिथ्या है यही प्रमाणित होता है।

एक अथर्वा महर्षि दधीचि के पुत्र थे।

अथर्वाङ्गिरस् (पुं०) ऋषि अथर्वा और अंगिरा के अनुवर्ती अथर्वांगिरस के नाम से प्रसिद्ध है। ये लोग निरंतर यागयज्ञों का ही अनुष्ठान करते थे। इनमें से कई ऋषि मंत्रद्रष्टा अर्थात् मंत्र के रचयिता भी थे। स्वर्ग जाने के लिए आदित्यों के साथ इनकी प्रायः स्पर्धा रहती थी। (अथर्वन् देखिए)।

अथवा (अ०) वा, किंवा, या। वैकल्पिक अर्थ सूचित करने के लिए इस अव्यय शब्द का प्रयोग होता है (वसन्ते भ्रमणं कुर्यादथवा निम्बभक्षणम्। अथवा युवती भार्या अथवा वह्निसेवनम्। तनुं त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथवा, ज्ञानसंप्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः। अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन—गीता १०।४२)। अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्। एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्—गीता ६।४२)।

अथातस् (अ०य०) अयातः, अभी, इसके अनंतर (अथातो धर्मजिज्ञासा—कर्ममीमांसा १।१। आतयो ब्रह्म-जिज्ञासा—ब्रह्मसूत्र १।१)।

अथो (अ० य०) इसीलिए, अभी।

अद् (प० र०) (अत्ति, अत्स्यति, अत्ताम्) खाना, भक्षण करना (फलमत्ति विहङ्गमः)। मनुष्य, पशु, पक्षी, मत्स्य आदि प्राणी अन्न खाते हैं। वृक्ष, लता आदि जड़ों से रस पीते हैं। (अधःस्रोतस् देखिए)। गाय, भैंस, हरिण, बकरे आदि निरामिष खाते हैं। बाघ, सिंह केवल आमिष खाते हैं। किंतु मनुष्य आमिष-निरामिष दोनों

खाद्य खाते हैं। एक हब्शी से पूछा गया था कि तुम क्या-क्या खाते हो? तो उसने उत्तर दिया—"जमीन पर चलने वाली गाड़ियों, जल में चलने वाले जहाजों, नावों आदि और आकाश में उड़ने वाले हवाई जहाजों के सिवाय सब कुछ खाता हूँ।"

अद (न०) जल, वारि, अप्, पानी, जल से शरीर शुद्ध होता है, मन सत्य से शुद्ध होता है (अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति मनः सत्येन शुद्धति--मनु ५।१०६)। आकाशाद् वायुः बायोरग्निः अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी–तैत्तिरीय उप० २।१।१)।

अदक्ष (वि०) जो निपुण न हो, अप्रवीण, अपटु।

अदक्षिण (वि०) जो दक्षिण न हो, बायाँ, वाम, विना दक्षिण का, निर्बल मन का, निर्बोध, मूर्ख, अनिपुण, प्रतिकूल।

अदक्षिणम् (न०) दक्षिणा-रहित, जिस धार्मिक कार्य में दक्षिणा न दी गयी हो (हतयज्ञमदक्षिणम्)।

अदण्डनीय, अदण्ड्य (वि०) दंडयोग्य, सजा पाने के अयोग्य।

अदत्त (वि०) बिना दिया हुआ, अनुचित रीति से प्रदत्त। विवाह में न दिया हुआ।

अदत्तम् (न०) निष्फल दान।

अदत्ता (स्त्री०) अविवाहिता कन्या।

अदत्तादानम् (न०) (बौद्ध) चोरी, जो दिया नहीं गया उसका ग्रहण, स्तेय, चौर्य।

अदनम् (न०) खाने की क्रिया, भोजन।

अदनीय (वि०) खाने योग्य, भोजन करने योग्य।

अदन्त (वि०) दाँतरहित, जिसे दाँत न हो।

अदन्त्य (वि०) जो दाँत-संबंधी न हो, दाँतों के लिए हानिकारक, दाँतों के लिए अयोग्य।

अदभ्र (वि०) जो कम न हो, विपुल, अत्यधिक।

अदमनीय, अदम्य (वि०) अधीन रखने के अयोग्य, अजेय, उजड्ड, अक्खड़।

अदम्भ (वि०) दंभरहित, कपटरहित।

अदम्भः (पुं०) कपट या छल का अभाव।

अदम्भित्वम् (न०) दंभराहित्य, आस्तिकता, धार्मिकता, सरलता, निष्कपट भाव। धार्मिक मनुष्य दंभ नहीं कर सकते। जो अपने भीतर धार्मिक भाव न रखते हुए भी धार्मिक होने का स्वाँग रचते हैं और घमंड करते हैं, वही दंभी हैं। परंतु यथार्थ धार्मिक व्यक्ति कभी अपने को धार्मिक कहकर प्रचार नहीं करते (दम्भः देखिए)। 'अदम्भित्वम्' एक दैवी संपद् है अर्थात् महान गुण है (अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्। आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः--गीता १३।७)।

अदर्शनम् (न०) अनुपस्थिति, (व्याकरण में) वर्ण का लोप।

अदर्शनीय (वि०) जो दर्शन के अयोग्य हो, देखने के अयोग्य।

अदल (वि०) जिसमें पत्ता न हो, पर्णरहित, बिना पत्तों का।

अदस् (सर्व०) वह, दूरत्व दिखाने का शब्द (असौ मया हतः शत्रुः--गीता १६।१४)।

अदहः (वि०) अदाह्य, जलने के अयोग्य। आकाश काल दिक् आत्मा अदात्य हैं (नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः–गीता २।२३)। आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि भी इसे जला नहीं सकती।

वायु, जल आदि में अग्नि के प्रविष्ट होने पर वे सूक्ष्मता प्राप्त कर उड़ जाते हैं, इस कारण वे दाह्य हैं। ईंधन, शरीरादि का दग्ध होना तो प्रत्यक्ष ही है।

आजकल रासायनिक संमिक्षण से कुछ ऐसी वस्तुएँ बनायी जाती हैं जो अदाह्य और अग्निरोधक भी हैं। इस प्रकार की अदह ईंटों से कारखानों के मकान बनाये जाते हैं। कुछ अदह चादरें भी बनायी जाती हैं जिनसे घर छाने का काम लिया जाता है। ये न तो अग्नि से जलती हैं और न तो धूप की गर्मी ही इसके भीतर से आती है। यह बिजली का भी अवरोधक है।

अदहनीय, अदाह्य (वि०) न जलने योग्य, (अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च--गीता २।२४)।

अदातृ (वि०) जो (कन्या के) विवाह में न दी गई हो। कृपण, अनुदार।

अदादि (वि०) जिसके आरंभ में 'अद्' हो।

अदाय (वि०) जो आग पाने का अधिकारी न हो, अंश पाने के अयोग्य।

अदायाद (वि०) उत्तराधिकाररहित, जो उत्तराधिकारी बनने का अधिकारी न हो।

अदायिक (वि०) जिसका कोई वारिस न हो, जो परंपरागत न हो।

अडितिः (वेद) (स्त्री) पृथ्वी, वाक्य, गाय, देवमाता।

अदितिः (स्त्री०) यहदक्ष प्रजापति की कन्या और कश्यप की स्त्री थीं। इन्द्र, विष्णु, सूर्य, त्वष्टा, वरुण, अंश, अर्यमा, रवि, पूषा, मित्र, वरदमनु और पर्जन्य इन्हीं बारह देवताओं की ये माता थीं। इसी लिए ये देवमाता के नाम से विख्यात हैं। वामनावतार के समय विष्णु ने इन्हीं के गर्भ से जन्म ग्रहण किया था। सिंधु-मंथन में मिला हुआ कुण्डल इन्द्र ने इन्हें ही दिया था। पारिजात प्राप्त करने के लिए कृष्ण और इन्द्र में विवाद उठ खड़ा होने पर इन्होंने ही वे उसका समाधान किया था। इन्हीं की भगिनी दिति के गर्भ से दैत्यों का जन्म हुआ था।

अदिति ऋग्वेद की मातृदेवी है। अदिति की स्तुति बीसों मंत्रों द्वारा ऋग्वेद में की गई है। वह मित्रावरुण अर्यमन्, रुद्रों, आदित्यों तथा इंद्र आदि देवताओं की जननी है। माता अदिति से ही इंद्र और आदित्यों को शक्ति मिलती है। अदिति के मातृत्व का संकेत अथर्ववेद (७, ६, २) और वाजसनेयिसंहिता (२१, ५) में भी किया गया है। अदिति का स्वत्व शिशुओं पर रहा है तथा ऋग्वैदिक ऋषि देवताओं सहित माँ अदिति की शरण में जाते रहे हैं तथा संकटों से त्राण पाने के लिए उनकी स्तुति भी खूब की है।

अदिति शब्द स्वतंत्रता की ओर संकेत करता है। बंधन-विहीनता भी इसका शाब्दिक तात्पर्य है। पाप के बंधन से मुक्ति भी अदिति माता देवी हैं। ऋग्वेद (१, १६२, २२) में उससे पापों से मुक्ति करने की आराधना की गई है। अदिति को कुछ अर्थों में 'गो' का पर्यायवाची भी स्वीकार किया गया है। (मा गां अनागां अदिति वधिष्ट—ऋग्वेद ८, १०१, १५) अर्थात् गायरूपी अदिति को मत मारो।

अदितिः (पुं०) देव-देवियों के चित्र दिखाकर भिक्षा माँगने वाला, गुप्तचर।

अदितिजः (पुं०) देवता।

अदिती (वेद) (स्त्री०) स्वर्ग और पृथिवी।

अदीनगात्रता (स्त्री०) (बौद्ध) शरीर में किसी अङ्ग की त्रुटि न रहना। बुद्धदेव के शरीर में ८० प्रकार के अनुव्यंजन वर्तमान थे ; उनमें से यह एक था।

अदुर्ग (वि०) जिसमें प्रवेश न किया जा सके, दुर्गरहित, जहाँ आसानी से पहुँचा जा सके।

अदुर्गविषयः (पुं०) अरक्षित देश या राज्य।

अदूर (वि०) जो दूर न हो, निकट, समीप।

अदूरदर्शिता (स्त्री०) दूर तक या भविष्य देख सकना, अविचार।

अदूरदर्शिन् (वि०) अदूरदर्शी दूर तक या भविष्य न देख सकने वाला। जहाँ धर्म वहाँ जय होती है (यतो धर्मस्ततोजयः) इस सत्य सिद्धान्त को जानते हुए भी रावण, कंस, दुर्योधन, नेपोलियन, हिटलर, तोजो आदि अदूरदर्शी लोग नाश-प्राप्त हो गये थे। इन उदाहरणों को जानते हुए भी अनेक अदूरदर्शी मनुष्य दूसरों के दुःखजनक अधार्मिक कार्य करके अपनी हानि करते हैं (धर्म देखिए)।

अदूरभव (वि०) जो बहुत दूरी पर स्थित न हो।

अदूषित (वि०) जो दूषित न हो, अकलंकित।

अदृश् (वि०) दृष्टिविहीन, नेत्रहीन, अंधा।

अदृश्य (वि०) न दिखाई पड़ने वाला, दृष्टि के अगोचर। नेत्रों की शक्ति बहुत ही अल्प है। गीध आदि पक्षी या वायुयान, राकेट एपोलो, चन्द्रयान आदि आकाश के बहुत ऊँचे पर रहने या जापान, जर्मनी आदि देश बहुत दूर होने से दिखाई नहीं पड़ते। अत्यन्त समीप रहने से अंजन, बरौनी आदि नहीं दिखाई पड़ते, इसी प्रकार चक्षुरिंद्रिय की शक्ति नष्ट हो जाने से, मन दूसरे विषय में संलग्न रहने से, वायु में धूल के कण, ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, मन, इन्द्रिय अदृष्ट आदि अति सूक्ष्म होने से दीवाल आदि के व्यवधान (ओट) के बाहर के पदार्थ, दिन में अति तीव्र सूर्य-प्रकाश से अभिभूत नक्षत्र, जल में नमक, चीनी आदि घोल देने से वे दिखाई नहीं पड़ते (अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियवघात् मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्यात् व्यवधानात् अभिजवात् समानाद्दाभिरात्च—सांख्यकारिका, ७। किसान जूठे बर्तनों में धान सिझाकर भुजिया चावल बनाते

हैं, रास्ते में मल-मूत्र, थूक आदि पर से चलना पड़ता है, भीड़ में रजस्वला स्त्रियों का स्पर्श हो जाता है, ऐसे-ऐसे अदृश्य पदार्थों का स्पर्श अपवित्र नहीं माना जाता है (सर्वम् अदृश्यं शुचिः—अत्रिसंहिता)।

अदृश्यन्ति (स्त्री०) यह वशिष्ठ के पुत्र शक्ति की स्त्री थी।

कल्माषपाद नामक राक्षस के द्वारा शक्ति ऋषि के मारे जाने के बाद अदृश्यन्ती के गर्भ से पराशर का जन्म हुआ था।

अदृष्ट (वि०) जो देखा हुआ न हो, जो जाना न गया हो, अज्ञात, अविचारित, अस्वीकृत।

अदृष्ट कर्मन् (वि०) अनुभवशून्य, अक्रियात्मक।

अदृष्टचर, अदृष्टपूर्व (वि०) जो पहले न देखा गया हो।

अदृष्टज (वि०) भाग्य से उत्पन्न।

अदृष्टपूर्व (वि०) पहले अदृष्ट जो पहले न देखा गया हो। अर्जुन ने भगवान का विश्वरूप देखा। वैसा रूप पहले कभी नहीं देखा गया था, इस कारण अर्जुन के लिए भगवान श्रीकृष्ण का वह रूप 'अदृष्टपूर्व' ही था (अदृपूष्टर्वंहृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रत्यथितं मनो मे—गीता ११।४५)।

अदृष्टफल (वि०) जिसका परिणाम दृष्टिगोचर न हो।

अदृष्टफलम् (न०) शुभ और अशुभ कर्मों का भोगी फल या परिणाम।

अदृष्टम् (न०) भाग्य, कर्म, नियति, कर्मजनित पाप पुण्य संस्कार। कर्म दिखाई पड़ता है अतः वह अदृष्ट नहीं है, परन्तु उस कर्म से अन्तःकरण पर जो संस्कार पड़ जाता है वह दिखाई नहीं पड़ता अतः वह 'अदृष्ट' है (अपूर्वम् देखिए)।

अदृष्ट के अनुसार फलभोग होता है। जो जैसा कर्म करता है उसका फल उसे उसी के अनुसार भोगना पड़ता है। परंतु कुछ पुरुषार्थवादी कहते हैं कि पुरुषार्थ से मनुष्य भाग्य को बदल सकता है। इस पर अदृष्टवादी का कहना है कि यदि किसी का अदृष्ट निरंतर कुकर्म करने के कारण खराब हो तो पुरुषार्थ की इच्छा ही नहीं होगी और यदि अदृष्ट अच्छा हो तो पुरुषार्थ करने में प्रवृत्ति होगी, अतः पुरुषार्थ भाग्याधीन है।

पुरुषार्थवादी के पास इस तर्क का कोई उत्तर नहीं है। इस तरह यथार्थ में हार जाने पर भी मनुष्य अदृष्ट के भरोसे चुपचाप बैठे नहीं रहते। सभी मनुष्य कुछ न कुछ पुरुषार्थ करते रहते ही हैं।

पुरुषार्थवादी अपने प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा प्रबल अदृष्ट बना लेते हैं और शुभ अदृष्ट के बल नये पुरुषार्थ से जीवन को सफल बना लेते हैं। वे कहते हैं कि अदृष्ट तैयार करना तो मेरे हाथ की बात है, मैं जैसा कर्म करूँगा वैसा ही फल मिलेगा। मैं सदा ही अच्छा काम करूँगा और उसका फल सुख ही पाता रहूँगा।

मन ही कर्म कराता और करता है। शुभ अदृष्ट बनाने के लिए बुद्धिमान मनुष्य मन को वशीभूत करके उत्तम कार्य करते हैं, योगवासिष्ठ में वसिष्ठदेव रामचन्द्र से कहते थे—"हे राम, मक्खन को हाथ से मलने में जितना कष्ट होता है अपने मन को वशीभूत रखने के लिए उतना कष्ट भी नहीं होता।" उनका कथन है कि मन मेरा है, मैं जैसा चाहूँ वैसा ही काम उससे करा सकता हूँ। अतः अपने कल्याण के लिए हर एक मनुष्य मन से शुभ चिंता और संसार के सभी मनुष्यों के कल्याण की भावना करा सकता है। मनुष्य चाहता है सुख किंतु करता है अकर्म-कुकर्म तो सुख कैसे पा सकता है ! रोपे पेड़ बबूल के आम कहाँ से खाय ! लोगों को हानि पहुँचाने से उसकी प्रतिक्रिया रूप से अपने को हानि भोगनी पड़ती है। यह सर्ववादि-सम्मत सिद्धान्त है। अतः जो सुख पाना चाहता है, वह किसी को दुःख नहीं दे सकता। प्राचीन ऋषि सबका कल्याण चाहते थे—"इस संसार में सब लोग सुखी हों, सब लोग रोग रहित रहें, सब लोग अपने चारों ओर कल्याण ही देखें और कोई भी दुःख का भागी न हो (सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्— अत्रिसंहिता)। सभी ऋषि मुनि इस प्रकार संसार के सभी प्राणियों का कल्याण चाहते थे। इस प्रकार की शुभ इच्छाओं के द्वारा उस समय वातावरण शुद्ध रहता था और किसी में दूसरों को हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति ही नहीं होती थी। प्राचीन भारत में कोई अपने घर में ताला नहीं लगाता था। क्योंकि परायी चीज छूना लोग पाप समझते थे। मिथ्या कहना तो वे जानते ही नहीं थे। किन्तु आज भारत-निवासी विदेशियों के संसर्ग से

चोरी, झूठ बोलना, दूसरों को हानि पहुँचाना आदि कुकर्म सीख गये हैं। कैसे दूसरों को धोखा देकर दो पैसे अधिक प्राप्त किये जायँ, अधिकांश मनुष्य इसी की चिन्ता करते रहते हैं, फलस्वरूप हमारे देश का वातावरण अशुद्ध होता जा रहा है, जिसका प्रभाव हमारे वंशधरों पर पड़ता है। युधिष्ठिर अजातशत्रु थे, अर्थात् उनका कोई शत्रु जन्मा ही नहीं था। कौरव पांडवों के शत्रु थे किंतु युधिष्ठिर के सामने कोई शत्रु था ही नहीं, यहाँ तक कि वह दुर्योधन को सुयोधन कहते थे। विराटराज के घर में अज्ञातवास करते समय सपरिवार दुर्योधन आदि को जब गंधर्वों ने बंदी कर लिया था तो उनको मुक्त करने के लिए युधिष्ठिर ने अर्जुन को विराटराजपुत्र उत्तर के सारथि रूप से भेजा था जो कौरवों को मुक्त कर सके थे।

संसार में अभी भी कुछ लोग हैं जो किसी की अनिष्ट-चिंता नहीं करते और न अपने व्यवहार से किसी को दुःख ही देते हैं। ऐसे मनुष्य शुभ अदृष्ट बनना जानते हैं और जीवन को सुखी बना सकते हैं।

अदृष्टवत् (वि०) प्रारब्ध से संबंधित, भाग्य से उदित होनेवाला।

अदृष्टवादः (पुं०) भाग्य से ही सब कुछ होता है, ऐसा मत या सिद्धांत।

अदृष्टवादिन् (वि०) अदृष्टवादी।

अदृष्टार्थ (वि०) अध्यात्मविद्या संबंधी, तत्वविद्या संबंधी।

अदृष्टि (वि०) जिसे दृष्टि न हो, नेत्रहीन, अंधा।

अदृष्टिः (स्त्री०) कुदृष्टि, बुरी दृष्टि।

अदेय (वि०) जो देने योग्य न हो।

अदेयदानम् (न०) अवैध दान।

अदेयम् (न०) वह जिसका दिया जाना उचित न हो।

अदेव (वि०) जो देवतुल्य न हो, अपवित्र।

अदेवः (पुं०) राक्षस, असुर।

अदेशः (पुं०) अनुपयुक्त स्थान, वर्जित देश।

अदेशकालः (पुं०) कुदेश और कुसमय।

अदेशस्थ (वि०) कुस्थान का, निकृष्ट स्थान का।

अदेश्य (वि०) आदेश देने के अयोग्य, परामर्श देने के अयोग्य।

अदोमय (वि०) उससे बना हुआ, उससे संबंध रखने वाला।

अदोष (वि०) जिसमें दोष न हो, निर्दोष, निरपराध, रचना संबंधी दोषों से मुक्त।

अदोहः (पुं०) गौ दुहने का अनुपयुक्त समय, दुहाई न होना।

अद्धा (अ० प०) सचमुच, प्रत्यक्ष रूप से।

अद्धातप [वेद] (पुं०) मेधावी लोग।

अद्भुत (वि०) विचित्र, आश्चर्यजनक, अलौकिक, अपूर्व। कोई भक्त श्रीकृष्ण से कहता है—"हे कृष्ण, बल से मेरा हाथ छुड़ाकर तुम जाना चाहते हो, इसमें अद्भुत क्या है, यदि तुम मेरे हृदय से जा सको, तो मैं तुम्हारा पौरुष, समझूँगा (हस्तावुत्क्षिप्य गन्तासि बलात्कृष्ण किमद्भुतं। हृदयाद् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते-- हरिभक्ति सुधाकर)।

अद्भुतकर्मन् (वि०) आश्चर्यजनक कार्य करनेवाला।

अद्भुतक्रतु (वि०) विस्मयजनक बुद्धि वाला।

अद्भुततमम् (न०) असाधारण, आश्चर्य।

अद्भुतभीमकर्मन् (वि०) आश्चर्यजनक और भीषण कार्य करने वाला।

अद्भुतम् [वेद] (नं०) महान लोग, श्रेष्ठ व्यक्ति।

अद्भुतरसः (पुं०) विचित्र रस (कविता में)

अद्भुतसारः (पुं०) यक्षधूप, गोंददार राल।

अद्भुतस्वनः (पुं०) आश्चर्यजनक शब्द, शिव, महादेव।

अद्मनिः (पुं०) अग्नि, आग।

अद्मरः (वि०) बहुत खाने वाला, पेटू।

अद्मसत् [वेद] (नं०) अन्न, अनाज (अद्मसन्न-समतोबोधयन्ति—ऋ० सं० २।१।७।४)।

अद्य (अ०) आज, वर्तमान दिन।

अद्य (वि०) खाने योग्य, भक्षणीय।

अद्यतन, अद्यतनीय (वि०) आज का, आधुनिक।

अद्यदिनः (पुं०) आज का दिन, वर्तमान दिन।

अद्यपूर्वम् (अव्य०) आज से पहले, आज से आगे।

अद्यप्रभृति (अव्य०) आज से शुरू करके, आज से आगे।

अद्यश्वीना (स्त्री०) आसन्नप्रसवा स्त्री।

अद्यापि (अव्य०) आज तक, आज भी।

अद्यावधि (अव्य०) आज से, आज तक।

अद्रव (वि०) जो द्रव या तरल न हो, ठोस।

अद्रव्यम् (नं०) निकम्मी वस्तु, अपात्र, निकृष्ट शिष्य।

अद्रिः (पु०) पर्वत, पत्थर, वज्र, सूर्य, वृक्ष, बादल, सात की संख्या, एक प्रकार का परिभाषा।

अद्रिकन्या (स्त्री०) पार्वती।

अद्रिका (स्त्री०) अप्सरा, आद्रिका ब्रह्म-शाप से यमुना के जल में निवास करती थी। आद्रिका के गर्भ से मत्स्य-राज नामक एक पुत्र और सत्यवती नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई थी। यही सत्यवती वेदव्यासजी की माता थीं।

अद्रिकीला (स्त्री०) पृथ्वी, भूमि।

अद्रिजम् (नं०) गेरू मिट्टी।

अद्रिजाः (वि०) (आद्रिभ्यो जायते इति अद्रिजाः) पर्वतों से नदी आदि रूप में उत्पन्न होने वाले (नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद् अब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्--कठोपनिषद् २।२।२)।

अद्रिद्रोणि, अद्रिद्रोणी (स्त्री०) पहाड़ की घाटी, नदी।

अद्रिदति, अद्रिराजः (पुं०) पर्वतों का स्वामी, हिमालय।

आद्रिमिद् (पुं०) पर्वत का शत्रु, इन्द्र की एक उपाधि।

अद्रिशय्यः (पुं०) पर्वतराज हिमालय।

अद्रिश्रृङ्गम् (न०) अद्रिसानुः (पुं०) पहाड़ की चोटी, पर्वत-शिखर।

अद्रिसारः (पुं०) लोहा।

अद्रिसारमय (वि०) लोहे का बना हुआ, लौह निर्मित।

अद्रीशः (पुं०) हिमालय, शिव।

अद्रोहः (पुं०) द्वेष का अभाव, ईर्ष्याराहित्य, शांति। यह एक दैवी संपद् है (तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमनिता। भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत--गीता १६।३)।

अद्वय (वि०) द्वैतरहित, अद्वितीय, एक। एक मात्र ब्रह्म को ही अद्वय कहा गया है। सृष्टि के विविध पदार्थ ब्रह्मशक्ति माया के द्वारा कल्पित हैं अर्थात् ब्रह्म सत्तातिरिक्त पृथक् सत्ता सांसारिक किसी भी पदार्थ में नहीं है। असत् पदार्थ से सत् पदार्थ का भेद नहीं माना जाता। इस कारण ब्रह्म सृष्टि-कल्पना के पूर्व, सृष्टि काल में तथा प्रलय के अनंतर तीनों काल में अद्वय ही हैं (अद्वैतवादः देखिए।

महायान बौद्धदर्शन में, अद्वय शब्द को भाव और अभाव की दृष्टि से परे का ज्ञान बतलाया गया है। इसमें भेद का स्थान नहीं है। अद्वैत शब्द भेदरहित सत्ता का प्रतिपादन करता है। अद्वैत में ज्ञान की उच्चता या प्रधानता स्वीकार की गयी है और अद्वय में 'चतुष्कोटि-विनिर्मुक्तं' ज्ञान की प्रधानता मानी जाती है। माध्यमिक दर्शन अद्वयवादी और शांकर वेदान्त तथा विज्ञानवाद अद्वैतवादी दर्शन माने जाते हैं।

अद्वयः (पुं०) बुद्धदेव।

अद्वयम् (न०) अद्वितीयता, ब्रह्म और विश्व की एकता।

अद्वयवादिन् (न०) अद्वैतवादी, वेदांती।

अद्वयानन्दः (पुं०) आत्मानंद, ब्रह्मानंद। संसार में सर्वत्र आनंद व्याप्त है (आनन्दात् हि एव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति — तैत्तिरीय. ३।६)।

परंतु मनुष्य की क्षुद्र चित्तवृत्ति में उस आनंद की कुछ छाया ही पड़ती है, जिसे जीव यथार्थ आनंद समझता है। जीव विषय में जब सुख खोजता है तो उसका चित्त बहिर्मुख होकर आशा से लालायित रहता है (उस चंचल चित्तवृत्ति में दुःख ही रहता है। आकांक्षित विषय मिलने पर चित्तवृत्ति भीतर लौट आती है। उस समय उस अन्तर्मुख चित्त-वृत्ति में आनंद रूप आत्मा का प्रतिबिंब पड़ता है, तब वह आनंद से पूर्ण हो जाती है। यही वैषयिक आनंदानुभव है। विषय अनेक हैं, इस कारण आनंद भी अनेक प्रकार के हैं। अतः यह अद्वयानंद नहीं है। और चित्तवृत्तियाँ क्षणभंगुर हैं, इस कारण वह आनद नित्यानंद भी नहीं है। जिस आत्मा की छाया पाकर हर एक जीव आनंद का उपभोग करता है वह आत्मा सब प्राणियों में एक है (एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा—कठोनपनिषद् २।४।६)। इस आत्मा का मूल आनंद ही अद्वयानंद है और अनादि अनंत होने से यह नित्यानंद भी है। प्रत्यक् अर्थात् अंतरस्थ सुख-बोध ही अद्वयानंद

रूप है (प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षणः, अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः — पंच० ७।६६ ।

अद्वारम् (न०) द्वाररहित स्थान।

अद्वितीय (व०) द्वितीय रहित। द्वितीय माने दूसरा, परस्पर भिन्न। सृष्टि की सारी वस्तुएँ पृथक्-पृथक् होने के कारण परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। सृष्टि से परे परमात्मा विष्णु के सामने कोई भी सत्य वस्तु नहीं है। सभी माया-कल्पित हैं। कल्पित असत् वस्तु की सत्ता न रहने के कारण उससे द्वैत नहीं होता। इस कारण परमात्मा ही अद्वितीय है (अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमोनमः — कृष्णस्तोत्र ६)।

सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय सत्-चित्-आनंदस्वरूप परमात्मा ही थे (सदैव सौम्य इदमग्रे आसीत् एकमेवाद्वितीयम्-–छान्दोग्य० ६।२।१)। (अद्वैतवादः देखिए) आत्मज्ञान सम्पन्न व्यक्ति इस अद्वितीय परमात्मा का स्वरूप प्राप्त करके निर्भय हो जाता है (अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि !····द्वितीयाद् वै भयं भवति—बृहद्धारण्यक १।४।२)। लोग मृत्यु-भय से त्रस्त हैं, परंतु इस अद्वितीय परमात्मा का स्वरूप विचार द्वारा अपनाने पर मनुष्य मृत्युभय से मुक्त हो जाता है। क्योंकि आत्मा में जन्म-मृत्यु, वृद्धि-क्षय आदि कुछ भी विकार नहीं है (न जायते म्रियते वा कदाचित्·······अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे—गीता २।२०। अव्यक्तोऽयम् अचिन्त्योऽयम् अविजार्योऽयम् उच्यते—गीता २।२५)।

अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व में यह अखिल संसार स्वप्न मात्र है (अद्वितीये ब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत्--श्वेताश्वतर उपनिषदो। मनुष्य जाग्रत अवस्था में पाँचों इन्द्रियों से जो संस्कार अपने अंतःकरण में मुद्रित कर लेता है निद्रितावस्था में मन अपने उन संस्कारों में से कुछों को मिला-जुला कर स्वाप्निक सृष्टि रच लेता है। स्वन देखते समय सभी दृश्यावली सत्य-सी प्रतीत होती है। इसी प्रकार अद्वितीय परम सूक्ष्म ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्दमय सर्वव्यापक ब्रह्म अनादि काल से विराजमान थे। किसी समय उनमें माया शक्ति का विकास हुआ, वह भी ब्रह्म के अणु मात्र स्थान में (चैतन्ये विमले पूर्णे कस्मिन् देशेऽणुमात्रकम्। अज्ञानं उदितं स्वत्त्वं चैतन्यस्फूर्तिमाश्रितम्-- शांतिगीता ७।१५)।

जिस प्रकार स्वाप्निक जीव अपने तथा दूसरों को सत्य समझ कर व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार जीव भी अपने को तथा दूसरों को सत्य समझ कर व्यवहार करते हैं और महामाया के प्रभाव में आकर मायिक भँवर में डूबते-उतराते रहते हैं।

किंतु आत्मतत्त्वज्ञ व्यक्ति संसार को मिथ्या जानकर इसके किसी के साथ अपने को मिला नहीं लेते, बल्कि सबसे पृथक रह कर आनंद से जीवन बिताते हैं (अद्वैतवादः, एकात्मवादः देखिए)।

अद्वितीयम् (न०) परब्रह्म, परमात्मा।

अद्वेष (वि०) ईर्ष्यारहित, द्वेषहीन।

अद्वेषरागिन् (वि०) राग-द्वेष से मुक्त।

अद्वेष्ट्रिः (पुं०) वह जो शत्रु न हो, मित्र।

अद्वैत (वि०) अद्वितीय, बेजोड़, अनुपम, अपरिवर्तनशील।

अद्वैतबोधनम् (न०) अद्वैत आत्मतत्त्व का समझाना अद्वैत आत्मतत्त्व अपरोक्षानुभवगम्य है। यथार्थ में इसे किसी को समझाया नहीं जा सकता (गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यस्तु छिन्नसंशयः। यस्यामतं मतंतस्य, यस्य मतं न वेद स--केनोपनिषद् २।३)। अपरोक्षानुभव युक्त पुरुष अद्वैत आत्मतत्त्व समझाने के लिए मौन हो जाते हैं। जो कहता है, मैं आत्मा को जान गया हूँ, वह नहीं जानता। जो कहता है, आत्मतत्त्व जाना नहीं जा सकता, वही ठीक जानता है।

तथापि शास्त्रकारों ने आत्मतत्त्व तक शिष्य की बुद्धि को पहुँचा देने के लिए विविध प्रकार से अनेक ग्रंथ लिखे हैं। मन के द्वारा जितने पदार्थ समझे जा सकते हैं, नेति-नेति विचार से उनका निरसन करते रहने पर जो अवशिष्ट रह जाता है सर्वनिरसन के साक्षी वही आत्मा है। यही अद्वैतबोधनम् है।

तत्त्वमसि, अहंब्रह्मास्मि आदि महावाक्यों का अर्थ समझाने के लिए जहदजहल्लक्षण या भाग त्याग लक्षण का विचार आवश्यक माना गया है। मुमुक्षु शिष्य को समझाने के लिए वैसा विचार किसी प्रकार मान लिया गया है। (अद्वैतबोधनायैव सा कक्षा काचिदिष्यते—पंचदशी ६।२२२)।

अद्वैतभाषा (स्त्री०) अद्वैत ब्रह्म प्रतिपादक भाषा।

भाषा से द्वैत वस्तु का ही प्रकाश होता है। अद्वैत ब्रह्म को प्रकाशित कर सकने वाला कोई शब्द नहीं है क्योंकि वह वाक्य और मन के अविषय हैं (अवाङ्मनसो गोचरोऽयं मात्मा। यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह—तैत्तरीय २।४)।

आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म, सत्, चित्, आनंद आदि सभी विशेषण शब्द हैं। इनमें से कोई भी शब्द उस वस्तु का ज्ञापक नहीं है। आत्मा और परमात्मा शब्द स्वरूप वाचक है (आत्मन् देखिए)। ब्रह्म शब्द का अर्थ 'बृहत्' है। वह सत् (सत्तावान), चित् (चेतन), आनंद (सुखमय) आदि शब्द भी विशेषण-वाचक ही हैं। घट, पट, मठ, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी शब्द-वाच्य पदार्थ और प्राणी नाशवान हैं, यह हम सभी जानते हैं। यदि ब्रह्म भी शब्द-वाच्य हों तो वह भी नाशवान हो जायेगा। सृष्टि के कारण एक वस्तु को नित्य मानना ही पड़ेगा, नहीं तो सृष्टि की उत्पत्ति या विकास संभव नहीं हो सकता।

संसार माया-कल्पित अर्थात् मिथ्या है (अद्वैतवादः देखिए)। उस माया कल्पित सृष्टि के शब्द और भाषा भी मिथ्या ही हैं। तो उस मिथ्या शब्द और भाषा से सत्य वस्तु का प्रतिपादन कैसे हो सकता है ?

विभिन्न देशों के मनुष्यों ने दाँत, होंठ, जिह्वा आदि के संघात से उत्पन्न होने वाली ध्वनियों का कुछ विशेष अर्थ मान कर भाषाएँ बना ली हैं और एक देश की भाषा दूसरे देशों के लोग बिल्कुल ही नहीं समझते। अतः मुख की ध्वनियों का कोई अर्थ नहीं है (अभिमानः देखिए)।

अद्वैतम् (न०) ऐक्य, ब्रह्म।

अद्वैतवादः (पुं०) सृष्टि के पहले एक ही वस्तु थी, इस सृष्टिकाल में भी वही एक मात्र है और प्रलय में भी वही रहेगी—ऐसा मत। संसार के एक ही नित्य वस्तु है। वह अनंत या अति बृहत् होने के कारण ब्रह्म हैं। वह दसों दिशाओं में अनंत अर्थात् स्थान या देश में अनंत हैं। इस कारण नित्य अर्थात् जन्म-मृत्यु से रहित, फलतः काल में भी वह अनंत है।

सीमा तीन प्रकार से होती है—देश (स्थान), काल (समय) और वस्तु से। पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी इन्हीं तीनों से सीमा मानी है। इनमें से किसी एक के द्वारा सीमा प्रमाणित होने पर अन्य दोनों से भी उसकी सीमा सिद्ध होगी। एक मनुष्य वहाँ बैठा है, जितने स्थान में वह है, उससे बाहर के सभी स्थानों के द्वारा वह सीमाबद्ध है। यह 'स्थान-कृत' सीमा है। उस मनुष्य से भिन्न अन्य सभी मनुष्यों, जंतुओं तथा पदार्थों के द्वारा भी वह सीमाबद्ध है। यह 'वस्तु-कृत' सीमा है। इस प्रकार दो सीमाओं के प्रत्यक्ष होने के कारण उसमें 'काल-कृत' सीमा भी अवश्य होगी। अर्थात् उसके जन्म के पूर्व के काल और मृत्यु के बाद के काल के द्वारा वह सीमाबद्ध सिद्ध होगा। उस मनुष्य का जन्म और मृत्यु प्रत्यक्ष नहीं है, तिस पर भी अनुमान से जन्म और मृत्यु अवश्य हैं, ऐसा मानना पड़ेगा। यह उसकी कालकृत सीमा है और उसका अर्थ है अनित्यता।

इस अनुमानरूपी युक्ति से संसार के सारे पदार्थ अनित्य हो जाते हैं। अनित्य पदार्थ से सृष्टि नहीं बन सकती। सृष्टि होने के लिए एक ही असीम तत्त्व का होना आवश्यक है। दो होने से परस्पर वस्तुकृत सीमा आ जायगी, फलस्वरूप उसमें काल-कृत सीमा भी सिद्ध होगी, जिसका अर्थ है जन्म-मृत्यु की अधीनता या अनित्यता। अतः उससे सृष्टि होना संभव नहीं है। क्योंकि जन्म मानने से 'किससे जन्म' ऐसा प्रश्न होगा। यदि वह कोई एक महान तत्त्व हो तो वही ब्रह्म है।

इस कारण सृष्टि के पूर्व एक ही नित्य तत्त्व मानना पड़ेगा। स्थान और काल की सीमा ब्रह्म में नहीं है, यह विषय प्रमाणित हो गया। वस्तुजन्य सीमा भी उनमें नहीं है, क्योंकि वह सर्वात्मक है।

मृत्तिका के बर्तन मृत्तिका से उत्पन्न होकर मृत्तिका में ही स्थित रहते हैं और टूट जाने पर मृत्तिका में ही लय प्राप्त हो जाते हैं। अलंकार सुवर्ण से उत्पन्न होकर सुवर्ण में ही स्थित रहते हैं और टूट जाने पर सुवर्ण में ही लय प्राप्त को हो जाते हैं। लोहे के अस्त्र-शस्त्र लोहे से उत्पन्न होकर लोहे में ही स्थित रहते हैं और टूट जाने पर लोहे में ही क्षय प्राप्त हो जाते हैं। निद्रा-काल में निद्रित व्यक्ति का मन एक जड़-चेतनात्मक सृष्टि कल्पना से रच लेता है। वह स्वाप्निक सृष्टि स्वप्नद्रष्टा के अणु के समान मन से उत्पन्न होकर मन में हीं स्थित रहती है और निद्राभंग होने पर वह उसी मन में समा जाती है।

सच्चिदानंद ब्रह्म में मायाशक्ति की कल्पना से यह विश्व रचित हुआ है, स्वाप्निक सृष्टि के समान यह ब्रह्म में ही स्थित है और स्वप्न की तरह प्रलय में यह ब्रह्म में ही लयप्राप्त हो जायगा। तह विश्व ब्रह्म से पृथक नहीं है। यही उनका सर्वात्मक भाव है।

वेदांत का सुनिश्चित सिद्धांत है—व्यापक होने के कारण ब्रह्म में देश की सीमा नहीं है, नित्य होने के कारण काल की सीमा भी नहीं है, और सर्वात्मक होने के कारण वस्तु-जनित सीमा भी उनमें नहीं है। अतः ब्रह्म में तीनों प्रकार की अनंतता सिद्ध है (न व्यापित्वाद् देशतोऽन्तः नित्यत्वान्नापि कालतः। न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्याद् आनन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा।—पंचदशी ३।३५)।

यदि ब्रह्म से भिन्न एक परमाणु भी सत्य होता तो उसके लिए एक पृथक् स्थान की आवश्यकता होती, क्योंकि एक ही समय एक ही स्थान में दो वस्तुएँ नहीं रह सकतीं। ऐसा होता तो वस्तु-कृत सीमा होने से दोनों की कालकृत सीमा भी सिद्ध होती अर्थात् दोनों ही अनित्य हो जाते। जगत्कारण अनित्य होने से सृष्टि नहीं बन सकती, यह बात पहले ही प्रमाणित कर दी गयी है।

इस युक्ति से न्याय और वैषेशिक दर्शनों के परमाणु-नित्यत्ववाद तथा सांख्य और योग दर्शनों के प्रकृति-पुरुष-नित्यत्ववाद का खंडन हो जाता है। कारण यह है कि दो सत्य पदार्थ एक ही समय एक ही स्थान में नहीं रह सकते।

वेदांतदर्शन के प्रथम सूत्र में ब्रह्म क्या है, इस जिज्ञासा के उत्तर में द्वितीय सूत्र है—

"जन्माद्यस्य यतः" अर्थात् जिससे इस संसार का जन्म हुआ है, जिसमें यह स्थित है और प्रलय में जिसके भीतर इसका लय होता है वही ब्रह्म है। समूचे वेदांतदर्शन में इसी अद्वैतवाद का प्रतिपादन है।

भागवत के प्रथम श्लोक के आरंभ में वेदांतदर्शन के इस अद्वैतवाद-प्रतिपादक सूत्र का उल्लेख किया गया है "जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्.....।"

मकान बनाने के लिए पास की जमीन खोदकर मिट्टी निकाली जाती है, जिससे मकान तो बन गया किंतु जमीन में गड्ढा हो गया। यदि इस प्रकार ब्रह्म से यह संसार उत्पन्न होता तो उनका कुछ स्थान खाली हो जाता। फलस्वरूप स्थान में सीमा होने से वह अनित्य हो जाते।

वेदांत के सिद्धांतानुसार सृष्टि सत्य वस्तु नहीं है। रज्जु में सर्प, सीप के टुकड़े में चाँदी और मरुस्थल में जल की मिथ्या प्रतीति होती है। इसी प्रकार ब्रह्म में जगत् की मिथ्या प्रतीति मात्र होती है।

एक वस्तु में दूसरी वस्तु के भ्रमज्ञान को अध्यास कहते हैं। शंकराचार्यजी ने वेदांतदर्शन के भाष्य की भूमिका में लिखा है—

अतस्मिन् तद्बुद्धिः अध्यासः। अर्थात् भिन्न वस्तु में अन्य वस्तु का ज्ञान ही अध्यास है।

किंतु इस अध्याय के लिए जो तीन उदाहरण ऊपर दिखाये गये हैं उनमें कुछ त्रुटि है। रज्जु में सर्प, सीप में चाँदी और मरुस्थल में जल का अध्यास करनेवाला उन आधारों और आधेयों से भिन्न तृतीय व्यक्ति है, किंतु ब्रह्म मे जगत् का अध्यास करनेवाला उन आधार और आधेय से भिन्न तृतीय व्यक्ति नहीं है, क्योंकि सारे व्यक्ति जगत् के भीतर हैं।

दृष्टांत में प्रायः एकांश का ही प्रतिपादन होता है, उन तीनों दृष्टांतों में एक वस्तु में दूसरी का आरोप, अध्यास या मिथ्याज्ञान होता है केवल इतना ही सिद्ध किया गया है।

इसी कारण आचार्य शंकर ने स्वप्न का दृष्टांत दिखाया है—जिस प्रकार निद्राकाल में मनुष्य का मन स्वाप्निक जगत् रच कर मानो बाहर निकल आता है, उसी प्रकार यह विश्व दर्पण में प्रतिबिंबित नगरी के तुल्य है तथा आत्मा में माया के द्वारा अपने ही भीतर दिखाई पड़ रहा है (विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं। पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया॥ —दक्षिणामूर्तिस्तोत्रं १)।

राग-द्वेषादि-युक्त यह संसार स्वप्नतुल्य है। स्वप्नकाल में स्वाप्निक सृष्टि सत्य के समान प्रतीत होती है। जाग्रत होने पर वह मिथ्या हो जाती है (संसारः स्वप्नतुल्यो हि रागद्वेषादिसंकुलः। स्व-काले सत्यवद् भाति प्रबोधेऽसत्यवद् भवेत्।—आत्मबोध ६)।

इसी प्रकार व्यावहारिक जगत् में सब कुछ सत्य के समान प्रतीयमान होते हैं। आत्मज्ञान दृढ होने पर सभी मिथ्या हो जाते हैं।

मिथ्याज्ञान होने पर भी व्यवहार पहले की तरह ही चलता रहेगा। कपड़े की दूकान में कुछ लोग कपड़ा खरीद रहे थे। एक जुलाहा पास खड़ा था। उसने देखा कि एक रुपए के सूत को बाबू लोग दस रुपए में खरीद रहे हैं। उसकी दृष्टि सूत पर थी। उसके सामने कपड़ा कोई चीज ही नहीं है। उसमें केवल सूत ही है। उसकी दृष्टि में कपड़ा मिथ्या है। यथार्थ में कपड़े में सूत्रसत्तातिरिक्त पृथक सत्ता नहीं है, अतः कपड़ा सत्तारहित अर्थात् असत् है। एक-एक करके सूतों को निकाल लेने पर कपड़ा नहीं दिखाई पड़ता, उसके नाम और रूप अदृश्य हो जाते हैं। सूतों में कपड़े का भान मात्र होता है, यही अध्यास या भ्रमज्ञान है।

इसी प्रकार के विचार से संसार के सभी कार्यपदार्थों में कारणसत्तातिरिक्त पृथक सत्ता नहीं है। अतः सभी असत् हैं। परंतु सभी असत् पदार्थ दिखाई पड़ते हैं। सत्ता-रहित होकर जो दिखाई पड़े वही मिथ्या है (असत्त्वे सति भासमानत्वं मिथ्यात्वम्) स्वप्न के हाथी की तरह सत्ता-रहित होकर जो प्रतीयमान होता है वह मिथ्या है (यदसत् भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत्)

वेदांत में मिथ्या शब्द का यही अर्थ है, एकदम अलीक नहीं। कपड़ा मिथ्या होने पर भी लज्जा और शीत-निवारण के लिए उसी को खरीदना पड़ता है। सूत से वह काम नहीं हो सकता। मिथ्या जगत् में मिथ्या का ही तो व्यवहार है।

उपादान कारण कार्य-पदार्थ में अनुस्यूत रहता है। जैसे वस्त्र में सूत, घट में मृत्तिका, अंगूठी में सुवर्ण, बंदूक में लोहा आदि। उन पदार्थों में नाम और रूप मिथ्या है। घट से मृत्तिका, वस्त्र से सूत, अंगूठी से सुवर्ण, बंदूक से लोहा निकाल लेने पर उनके नाम और रूप अदृश्य हो जाते हैं। यदि वे कार्य पदार्थ सत्य होते तो कारण के निकल जाने पर भी किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष होते। इसी कारण कहा गया है कि वे मिथ्या हैं।

निष्कर्ष यह हुआ कि किसी भी कारण में जो कार्य-पदार्थ दिखाई पड़ता है, वह मिथ्या है। अतः जो कुछ दिखाई पड़ते हैं, सभी मिथ्या हैं। अर्थात् कारण-सत्तातिरिक्त पृथक् सत्ता किसी भी कार्य-पदार्थ में नहीं है।

सूतों में वस्त्र का भ्रमज्ञान है, उसमें कारण सूत ही सत्य हैं। किन्तु सूत भी दिखाई पड़ते हैं, इस कारण वे भी मिथ्या हैं। सूत में-से नोच-नोच कर रूई निकाल लेने पर सूत के नाम और रूप लुप्त हो जाते हैं। अतः उसमें रूई सत्य है किन्तु रूई भी दिखाई पड़ती है, इस कारण वह भी मिथ्या है। कपड़े में से सूत और सूत में से रूई निकालने का काम मनुष्य का हाथ कर सकता है, किन्तु रूई से उसका कारण निकालने में हाथ काम नहीं देता, यहाँ बुद्धि का सूक्ष्म विचार आवश्यक है। रूई पाँचों भूतों से बनी है। उसमें कुछ वजन है। वह पार्थिव परमाणुओं के रहने से ही संभव होता है। उसमें कुछ जलीय अंश हैं, क्योंकि उसमें आग लगा देने से धुआँ निकल जाता है। धुआँ जल का वाष्प है। रूई में तेजतत्त्व है, क्योंकि उसमें गरमी है। उसमें वायु भी है, क्योंकि छोटे-छोटे कीट उसमें साँस लेते हुए जीवित रहते हैं। सर्वव्यापक आकाश तो उसमें है ही। अतः रूई पंचभूत मात्र है। अब पंचभूतों का विश्लेषण करने के लिए बुद्धि भी काम नही देगी। यहाँ वैदिक शब्द प्रमाण आवश्यक है। तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है—'उस' और 'इस' आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी उत्पन्न हुई है (तस्माद् वै एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी"–२।१।१)। इस मन्त्र से यह भी प्रमाणित होता है कि 'उस' ब्रह्म और 'इस' जीव का एक ही स्वरूप है।

अतः पृथिवी स्वयं कोई सत्य तत्त्व नहीं है। विश्लेषण करने से अपने चारों कारणों से ही वह बनी है, ऐसा प्रमाणित होगा। इसी प्रकार के विश्लेषणात्मक विचार से निर्णीत होगा कि जल, अग्नि, वायु और आकाश भी कोई सत्य तत्त्व नहीं है। सभी अपने-अपने कारणों से बने हैं। अतः आकाश भी आत्मा ही है। इस प्रकार संसार के सभी पदार्थ आत्मा में पर्यवसित हो जायेंगे। सब कुछ ब्रह्म है। यह ऋषिवाक्य सुनिश्चित सत्य है (सर्वं खलु इदं ब्रह्म"– छान्दोग्य उपनिषद्–३।१४।१)।

गीता में भी श्रीकृष्ण का वाक्य है--

हवनकार्य में कलछुल ब्रह्म है, घी ब्रह्म है। ब्रह्म रूप अग्नि में ब्रह्मरूप होता के द्वारा हवन किया जाता है, इस प्रकार सभी पदार्थों में ब्रह्म-भाव की धारणा करने से होता ब्रह्म

को ही प्राप्त करता है (ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।–४।२४)।

आचार्य शंकर ने अपरोक्षानुभूति ग्रंथ में लिखा है–– जिस प्रकार घड़ा मृन्मय है, उसी प्रकार देह भी चिन्मय ही है। विद्वान लोग वृथा ही आत्मा और अनात्मा का विचार करते हैं (यथैव मृन्मयः कुम्भः तद्वद् देहोऽपि चिन्मयः । आत्मानात्मविवेकोऽयं मुधैव क्रियते बुधैः–६९)।

कारण के गुण कार्य में आ जाते हैं। शुक्ल सूत्रों से शुक्ल वस्त्र, लाल सूत्रों से लाल वस्त्र बनते हैं। इसी नियम से सत्-चित्-आनद रूप आत्मा से संसार के सारे पदार्थों में सत्ता, प्रकाश और आनन्द आ गये हैं। संसार के सारे पदार्थों में अपना स्वरूप है––नाम और रूप। नाम-रूप कुछ भी नहीं है, इसका विवेचन पहले किया गया है। सत् चित् आनन्द ही अस्ति भाति प्रिय हैं, जो ब्रह्म का स्वरूप है। बाकी दो नाम और रूप जगत् का स्वरूप हैं (अस्ति भाति प्रियं नाम रूपं पंचात्मकं जगत् । आद्यत्रयं ब्रह्म नाम, जगद्रूपं अतो द्वयम् ।–आत्मबोध–२१)।

ज्यामिति के स्वतःसिद्ध नियमों के अनुसार दर्शन-शास्त्रों में भी कुछ सर्वजनमान्य स्वतःसिद्ध सिद्धांत हैं, जैसे–

"भिन्न-भिन्न वस्तुओं में जो अभिन्न वस्तु रहती है, वह उन भिन्न-भिन्न वस्तुओं से भिन्न है, जैसे माला के फूलों से सूत भिन्न है" (यत् व्यावर्तमानेषु अव्यावृत्तं भवति तत् तेभ्यः भिद्यते, यथा कुसुमेभ्यः सूत्रम्–पंच.टीका)। एक ही तरह के तथा एक ही रंग के फूल क्यों न हों, एक फूल से दूसरा फूल भिन्न है, दूसरे से तीसरा भिन्न है, इसी प्रकार सभी फूल भिन्न-भिन्न हैं। उन भिन्न-भिन्न सारे फूलों में सूत संलग्न है। इस कारण फूलों से सूत पृथक है।

इसी प्रकार संसार के सभी पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। उनमें सत्ता या अस्तित्व है और दोनों पदार्थों के बीच में आकाश की भी सत्ता है। अतः सत्ता खंडित नहीं हुई। वह सूत की तरह समस्त पदार्थों में संलग्न या व्याप्त है। इस कारण सभी पदार्थों से सत्ता पृथक् है। अब विचार-बुद्धि के द्वारा सत्ता को अलग कर लेने से वे सारे पदार्थ असत् अर्थात सत्ता-रहित हो गये। मिथ्या का यही लक्षण है।

चित् शब्द का अर्थ है प्रकाश। सूर्य, नक्षत्र, अग्नि आदि स्वयं-प्रकाश हैं। उनसे भिन्न लोहा, लकड़ी, पहाड़ आदि जड़ पदार्थ प्रकाशित होने की योग्यता रखते हैं। वह भी चित् का ही एक प्रकार का विकास है। अतः भिन्न-भिन्न पदार्थों में अभिन्न सर्वत्रानुस्यूत चित् उनसे पृथक है। फलस्वरूप सभी पदार्थ जड़ हुए।

इसी नियम से प्रमाणित हो जाता है कि समस्त संसार ही आनंदमय है। दो पदार्थों के बीच वाले खाली स्थान में भी आनंद है। इस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आनंद भिन्न-भिन्न सभी पदार्थों से अलग हुआ। फलस्वरूप सांसारिक सब कुछ दुःखात्मक हुए (आनंदः देखिए)।

सृष्टि के सारे पदार्थों में से सत् चित् आनंद को विचार से पृथक् समझ लेने पर उनमें केवल नाम और रूप ही रह जाते हैं, जो कुछ भी नहीं है और ये ही दो जगत् के रूप हैं।

इस प्रकार के वेदांत-विचार से अद्वितीय सच्चिदानंद परमात्मा ही सत्य रह जाते हैं।

शंकराचार्यजी के दादागुरु गौड़पादाचार्य महोदय ने माण्डूक्य उपनिषद् की व्याख्या में लिखा है, आदि और अंत में जो नहीं रहता, वह वर्तमान में भी वैसा ही है अर्थात् नहीं है (आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा २।३५)। स्वप्न में हाथी दिखाई पड़ा, स्वप्न होने के पहले वह नहीं था और स्वप्न टूट जाने पर भी वह नहीं है, इस कारण स्वप्नकाल में दिखाई पड़ने पर भी वह नहीं है। एक सुंदर भवन तैयार होने के पहले नहीं था। टूट जाने पर भी, चाहे वह सहस्र वर्षों के बाद ही हो, नहीं रहेगा। अतः वर्तमान में भी वह नहीं है। ईंट, काठ, पत्थर, लोहा आदि को अलग-अलग कर लेने पर वह भवन शून्य में मिल जाता है। एक सोने की अंगूठी बनने के पहले नहीं थी, केवल सोना ही था, उसे आँच पर गला डालने से वह नहीं रहती। अतः वर्तमान में दिखाई पड़ने पर भी वह नहीं है। सुवर्ण में अंगूठी का अध्यास या भ्रम-ज्ञान है, क्योंकि नाम-रूप मिथ्या हैं।

भवन के ईंट, काठ, पत्थर और अंगूठी का सुवर्ण आदि दिखाई पड़ते हैं, इस कारण वे भी नहीं हैं। उन उपादान पदार्थों में पाँच भूतों को विचार द्वारा अलग-अलग कर लिया जाय और पृथिवी को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में और आकाश को आत्मा में लीन कर लिया जाय, तो भवन, अंगूठी आदि सभी ब्रह्ममय हो जाते हैं।

इस विचार से प्रमाणित हो जाता है कि जगत् के स्वरूप नाम और रूप को विचार के द्वारा अलग कर लेने पर सब कुछ सच्चिदानंदमय हो जाते है। यही अखंड अद्वैतवाद है।

गणितशास्त्र १ संख्या पर आधारित है। २, १०, १०० आदि संख्याएँ १ को २ बार, १० बार, १०० बार कहने से बनती हैं। १०० आमों को अलग अलग कर देखा जाय तो सभी एक एक आम है। १ संख्या न रहे तो गणित-शास्त्र टिक नहीं सकता। एकाधिक संख्याएँ नाशवान हैं। उन्हें अलग-अलग करने से वे १ में पर्यवसित हो जाती हैं। इसी प्रकार एक ब्रह्म मूल हैं। उनमें मायाशक्ति के प्रभाव से अगणित ब्रह्मांड प्रतीयमान होते हैं। संख्याओं की तरह वे भी नाशवान हैं और सत् चित् आनंद से पृथक् कर लेने पर सभी ब्रह्म में लीन हो जाते हैं।

१ के आगे ० शून्य लगाने से ये संख्याएँ बहुत बढ़ जाती है। इसी प्रकार ब्रह्म में मायारूप शून्य वस्तु के संयोग से अनंत कोटि-ब्रह्मांड विकसित होते रहते हैं। माया में ब्रह्मसत्तातिरिक्त पृथक् सत्ता न रहने से वह शून्य के समान ही है। मा + या = या + मा (मा = न) जो नहीं है वही माया है। शक्ति और शक्तिमान में कोई भेद नहीं है। अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति को कोई पृथक नहीं कर सकता। अतः मायाशक्ति के कारण ब्रह्म का अद्वैतभाव खंडित नहीं होता।

इस कोश में न्यायदर्शन का विवरण देते हुए अनुमान प्रमाण का विस्तृत भाव से वर्णन किया गया है। इसी अनुमान के बल पर वे लोग प्रत्यक्ष जगत् को सत्य मानते हैं, किंतु उनका अनुमान उदाहरण-शून्य है; जैसे-घट सत्य है, क्योंकि वह दिखाई पड़ता है, उदाहरण है पट, किंतु यदि पूछा जाय कि पट सत्य है इसे प्रमाणित करो, तो वे मठ का उदाहरण उपस्थित करेंगे। मठ की सत्यता पर संदेह किया जाय तो वह पर्वत, वृक्ष, मनुष्य आदि को उदाहरण मानेंगे। किंतु प्रतिवादी उन सभी जागतिक पदार्थों पर संदेह प्रगट करता चलेगा। फलस्वरूप कहीं भी स्थिति नहीं होगी। इस प्रकार दृश्यत्व हेतु से सांसारिक किसी भी पदार्थ की सत्यता प्रमाणित नहीं होगी। यदि नैयायिक कहें कि "जगत् सत्यं, दृश्यत्वात्" जगत् सत्य है, इसे प्रमाणित करने के लिए 'दृश्यत्व' हेतु है। यदि पूछा जाय कि उदाहरण कहाँ है? जगत् को तुमने 'पक्ष' मान लिया है, पक्ष के भीतर से उदाहरण नहीं दिया जा सकता। जगत् के बाहर से उदाहरण दिखाना चाहिए, परंतु जगत् के बाहर कोई वस्तु है ही नहीं। अतः उदाहरण-रहित अनुमान असिद्ध है।

वेदांत में सिद्ध अनुमान इस प्रकार है—

"जाग्रद्दृश्यमानं जगत् मिथ्या, दृश्यत्वत्, स्वप्नदृष्ट-जागद्वत्!" यहाँ जागरण काल में दिखाई पड़ने वाला जगत् 'पक्ष' है, उसमें मिथ्यात्व 'साध्य' है, दृश्यत्व 'हेतु' है और उदाहरण लाया गया पक्ष के बाहर से। स्वाप्निक जगत् दिखाई पड़ता है और वह मिथ्या है, यह दृष्टांत वादी-प्रतिवादी दोनों जानते हैं। दृष्टो अन्तः = दृष्टान्तः, वादि-प्रतिवादिम्याम् अर्थात् वादी और प्रतिवादी दोनों ने जिसका अंत तक देखा है वही दृष्टांत है। वादी जानता है और प्रतिवादी नहीं जानता, वह दृष्टांत नहीं हो सकता। इसी कारण ऊपरलिखित घट की सत्यता के लिए पट, मठ, पर्वत, वृक्ष, मनुष्य आदि प्रतिवादी के असम्मत दृष्टांत नहीं चल सकते। अतः जगत् का मिथ्यात्व प्रमाणित करने के लिए वेदांत का यह अनुमान सिद्ध है।

नैयायिक का कहना है कि 'अनैकान्तिक' हेतु हेतु नहीं है, वह 'स्वव्यभिचारी हेत्वाभास' है। न्यायदर्शन के अनुमान-प्रमाण में हेतु ही प्रधान है। जैसे पर्वत में अग्नि का अनुमान करने के लिए 'धूम' हेतु है। वहाँ वाष्प में धूम का भ्रम होने पर अग्नि का अनुमान ठीक न होगा। वहाँ वाष्प धूम की तरह प्रतीत होता है इस कारण वह हेतु न होकर (हेतुवद आभासते प्रतीयते इति) 'हेत्वाभास' है। उनका अनैकांतिक हेत्वाभास इस प्रकार है—जो हेतु, हेतु और साध्य (अग्नि) से रहित स्थलों में भी रहे वह साधारण अनैकांतिक हेत्वाभास है। जैसे—'पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्—यहाँ प्रमेयत्व हेत्वाभास है, क्योंकि वह वह्नि-रहित ह्रिद में भी है (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों का विषय ही प्रमेय हैं)। इस प्रकार सर्वव्यापक हेतु नैयायिक नहीं मानते।

सर्वव्यापक हेतु न मानने से संसार के अधिकांश कार्य चल ही नहीं सकते। सभी लोग कदम बढ़ाते हुए गंतव्य स्थान में पहुँचते हैं। यहाँ किसी स्थान में पहुँचने के लिए 'कदम बढ़ाना' हेतु है और यह सर्वव्यापक भी

है। जो व्यक्ति इस प्रकार के सर्वव्यापक हेतु को हेतु नहीं मानता वह किसी स्थान में नहीं जा सकता, क्योंकि कदम बढ़ाने से गंतव्य स्थान में जाया जा सकता है, यह उस समय प्रत्यक्ष नहीं है। 'कदम बढ़ाना' रूप हेतु को उन्होंने हेत्वाभास मान लिया है, इस कारण वे कदम बढ़ा नहीं सकते। अतः उनका अनुमान असिद्ध है। प्रत्यक्ष नहीं है, अनुमान भी नहीं हुआ तो उनके गमनागमन बन्द हो जायेंगे।

सामने एक मनुष्य है, इसका जन्म हुआ है या नहीं अथवा इसकी मृत्यु होगी या नहीं—इस विषय में वादी और प्रतिवादी के भीतर तर्क उपस्थित हुआ। वादी कहता है—इसका जन्म और मृत्यु अवश्य हैं। प्रतिवादी कहता है– "मैं नहीं मानता, प्रमाणित कीजिए।" उसका जन्म और उसकी मृत्यु प्रत्यक्ष नहीं है, अतः अनुमान प्रमाण से सिद्ध करना है।

यदि कहा जाय कि पशुओं और मनुष्यों के बच्चों का जन्म देखा गया है और बड़े होने पर उनकी मृत्यु भी देखी गयी है, अतः 'प्राणी' होने के नाते इस मनुष्य का भी जन्म हुआ है और मृत्यु भी होगी। यह सिद्धांत निश्चित है। यहाँ 'प्राणित्व' हेतु सर्वव्यापक है। ऐसे हेतु को नैयायिक हेतु नहीं मानते, वे उसे हेत्वाभास कह कर उड़ा देते हैं। हेतु न रहने से उनका अनुमान सिद्ध नहीं होगा। फलस्वरूप जिस व्यक्ति का जन्म और मृत्यु प्रत्यक्ष नहीं है उनके जन्म और मृत्यु प्रमाणित नहीं हो सकते। किन्तु साधारण मनुष्य भी जानते हैं कि प्राणीमात्र के जन्म और मृत्यु अवश्य हैं।

भूख लगी, अब अन्न खाने की प्रवृत्ति क्यों होगी? अन्न न खाने तक अन्न खाने से भूख मिटती है, यह प्रत्यक्ष नहीं है। पूर्व-पूर्व दिन अन्न खाने से भूख मिट गयी थी, इस उदाहरण से अनुमान कर लेना होगा कि आज भी भूख की निवृत्ति के लिए अन्न खाना चाहिए। यहाँ भूख की निवृत्ति के लिए 'अन्न-भक्षण' हेतु है और यह सर्वव्यापक भी है। सर्वव्यापक हेतु को नैयायिक हेतु नहीं मानते। वल्कि वे उसे हेत्वाभास कहकर उड़ा देते हैं। अब भूख लगने पर अन्न खाने से वह मिट जायगी यह अन्न खाने के पूर्व तक प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है और अनुमान भी हो नहीं सका तो नैयायिक भूख लगने पर अन्न नहीं खा सकते।

वेदांत के विचार से सर्वव्यापक हेतु अनुमान के लिए अत्यन्त प्रबल है। कुछ बच्चों का जन्म होते देखकर अन्यों का जन्म प्रत्यक्ष न होने पर भी करोड़ों प्राणियों का जन्म होना निश्चित हो जाता है। आज भूख लगने पर अन्न खाने से वह मिट जायगी, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव न होने पर भी मनुष्य पूर्व-पूर्व दिनों के अनुभूत 'अन्न खाने से भूख की निवृत्ति' हुई थी इसका स्मरण कर वह आज अन्न खाने लगेगा। इस प्रकार अगणित कार्य हमलोग प्रतिदिन अनुमान के द्वारा किया करते हैं।

केवल मनुष्य ही नहीं, पशु भी अनुमान से अनेक काम करते हैं। आचार्य शंकर ने वेदांत दर्शन के भाष्य में लिखा है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द इन ४ प्रकार के प्रमाणों से यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में मनुष्यों और पशुओं में विशेषता नहीं है। जैसे कि पशु आदि डंडा हाथ में लिये दौड़ते हुए अपनी ओर किसी मनुष्य को आते देखकर भाग जाने लगते हैं। हरी-हरी घास हाथ में लिये हुए मनुष्य को देखकर वे उसकी ओर आने लगते हैं (पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथा हि पश्वादयो दण्डोद्यतकरं पुरुषम् अभिमुखम् उपलभ्य मां हन्तुम् अयम् आयाति इति पलायितुम् आरभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिम् उपलभ्य तं प्रति अभिमुखी भवन्ति १।१।१)।

संस्कृत ग्रंथ की संस्कृत व्याख्या को टीका कहते हैं, किंतु भाष्य शब्द का विशेष लक्षण है—जिस व्याख्या में संस्कृत के सूत्रों के शब्दों के अनुसार सूत्रों का अर्थ वर्णित है तथा जिसमें अपने रचित सूत्र के समान पदों की भी व्याख्या की जाती है उसे भाष्यवित् लोग भाष्य कहते हैं (सूत्रार्थं वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः—कलापटीका)।

आचार्य शंकर ने इस व्याख्या के भीतर "पश्वादिभिश्चाविशेषात्" इस सूत्ररूप पद को लिखकर इस पद की भी व्याख्या की है। इस एक ही पद के कारण उनकी इस व्याख्या का नाम भाष्य हुआ है।

'शब्द-प्रमाण' से भी हमारे अनेक काम चलते हैं। कोई भी शिशु अपने माँ-बाप को प्रत्यक्ष नहीं जान सकता। अभिज्ञ वृद्ध लोग उसे बता देते हैं कि यही तुम्हारी माँ और यही तुम्हारे बाप हैं। इसी शब्द-प्रमाण से वह जीवन भर व्यवहार करता है। भूगोल में पढ़ा गया

कि एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमेरिका आदि महादेश हैं। उनमें इंगलैंड, जापान, जर्मनी आदि देश हैं। उन देशों के नगरों के नाम भी हम जान गये। इसी 'शब्द-प्रमाण' से भी हमारा ठीक-ठीक व्यवहार चलता है।

अनुमान का नाम ही युक्ति है। युक्तियों से अद्वैतवाद प्रमाणित हो गया है। हमारे लिए वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण, तंत्र आदि भी 'शब्दप्रमाण' हैं। इन सभी शास्त्रों से अद्वैतवाद प्रमाणित होता है।

पिता आरुणि ने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—"हे सोम्य, इस संसार की उत्पत्ति के पहले केवल एक ही सत् था, वह एक और अद्वितीय है (सदेव सोम्य इदमग्रे आसीत् एकमेवाद्वितीयम्--छान्दोग्य ६।२।१)। यहाँ एकं एव अद्वितीयम् इन तीन शब्दों से सत् ब्रह्म में स्वगत, सजातीय और विजातीय इन तीन प्रकार के भेदों का निवारण किया गया है—

वृक्ष का स्वगत भेद उसके पत्र, पुष्प, फलादि से है, दूसरे वृक्षों से सजातीय भेद है और पत्थर आदि से उसका विजातीय भेद है (वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः। वृक्षान्तरात् सजातीयो, विजातीयः शिलाजितः-- पंचदशी २।२०)। यहाँ 'एकं' शब्द से स्वगत भेद, 'एव' शब्द से सजातीय भेद और 'अद्वितीयम्' शब्द से विजातीय भेद सत् ब्रह्म में नहीं है, यही बताया गया है। निरवयव ब्रह्म में वृक्ष के पत्र पुष्प फलों की तरह कोई अंग प्रत्यंग है ही नहीं, अतः स्वगत भेद नहीं है। कोई दूसरे ब्रह्म भी नहीं हैं कि सजातीय भेद हो सके। सृष्टि के पूर्व ब्रह्म से अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ भी नहीं था, इस कारण विजातीय भेद भी नहीं है।

सृष्टिकाल में जो जगत् दिखाई पड़ता है वह ब्रह्म से भिन्न कोई पृथक सत् वस्तु नहीं है, क्योंकि पहले बताया गया है कि संसार के किसी भी पदार्थ में ब्रह्मसत्तातिरिक्त पृथक सत्ता नहीं है।

इसी प्रकार ऐक्य, अवधारण और द्वैतप्रतिषेध के द्वारा सद् वस्तु ब्रह्म में प्राप्त भेदत्रय निवारित हो गये (तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते। ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात्। पंचदशी २।२१)।

छान्दोग्य उपनिषद् के उस मंत्र के आगे लिखा है—ऐसे स्थल में कुछ लोग कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व एक ही अद्वितीय असत् था, इसलिए असत् से सत् की उत्पत्ति हो। ऐसा कैसे हो सकता है ? असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? (तद् ह एके आहुः असदेव इदमग्रे आसीत् एकमेवाद्वितीयं, तस्माद् असतः सज्जायेत।... कथं असतः सत् जायेत इति ? सत् तु एव सोम्य इदं अग्रे आसीद् एकमेवाद्वितीयम् ६।२।१-२)।

आत्मा ही एकमात्र इस सृष्टि के पहले था (आत्मा वै इदं एक एव अग्रे आसीत्–ऐतरेय उपनिषद्–२।१।१।१)।

वह और यह ब्रह्म अपूर्व (जिसके पूर्व कोई नहीं है), अनन्तर (बाद में भी कुछ नहीं है), अबाह्य (इसके बाहर भी कुछ नहीं है), यह आत्मा ही ब्रह्म है, यह समस्त पदार्थों के अनुभव करने वाले हैं (तद् एतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम् 'अयं आत्मा ब्रह्म' सर्वानुभूः–बृहदारण्यक उपनिषद् २।५।१९)।

अमृत-स्वरूप यह ब्रह्म ही सामने, ब्रह्म ही पीछे, ब्रह्म दक्षिण में और उत्तर में तथा नीचे और ऊपर व्याप्त हो रहे हैं। अधिक क्या कहा जाय, यह विशाल विश्व भी ब्रह्मस्वरूप ही है (ब्रह्म एव इदम् अमृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्म एव इदं विश्वम् इदं वरिष्ठम्--मुण्डक उपनिषद २।२।११)।

यह आत्मा विशुद्ध मन के द्वारा ही प्राप्तव्य है, आत्मा के अतिरिक्त संसार में जो नाना पदार्थ दिखाई पड़ते हैं वे नहीं हैं। उनके रूप में केवल एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान है। जो मनुष्य यहाँ विविध पदार्थों को देखता है वह मृत्यु से मृत्यु प्राप्त होता है (मनसा एव इदम् आप्तव्यं न इह नाना अस्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नाना इव पश्यति—मुण्डकोपनिषद् २।४।११)।

यह आत्मा स्वर्ग और मर्त्य इन दोनों लोकों (समस्त ब्रह्माण्डों) में विचरण करता है अर्थात् सर्वत्र आत्मा की स्थिति है। सृष्टि के पूर्व यह आत्मा मानो, "मैं एक हूँ बहु हो जाऊँ" इस प्रकार ध्यान करता है और अनेक होकर मानो लीला करता है (स समानः सन् उभौ लोकौ अनुसंचरति, ध्यायति इव, लेलायति इव---बृहदारण्यक उपनिषद ३।४।७)।

'इव' शब्द से यथार्थ में ध्यान और लीला नहीं है, यही भाव प्रगट होता है। आशय यह है कि त्रिकाल में

एकमात्र सच्चिदानन्द आत्मा ही विराजमान है। सृष्टि मन के स्वप्न की तरह आत्मा में माया के द्वारा कल्पित होकर दिखाई मात्र पड़ती है।

अन्य आधुनिक दर्शनों में जो सृष्टि को सत्य मानकर व्यवहार किया गया है वह प्रबल वेद-प्रमाण तथा युक्ति के सामने टिक नहीं सकता।

जीव को अंश, स्फुलिंग, प्रतिबिंब, आभास आदि शब्दों से पृथक् कहा जाता है। परन्तु अनंत का अंश नहीं हो सकता। स्फुलिंग के लिए पृथक् स्थान नहीं है। प्रतिबिंब या आभास के लिए जल, दर्पण, स्फटिक आदि किसी पृथक् वस्तु की आवश्यकता होती है। यहाँ अद्वैत मत में ब्रह्मातिरिक्त पृथक् सत्तावान वस्तु ही नहीं है, जहाँ प्रतिबिंब या आभास पड़ सके।

रज्जु में जहाँ सर्प का भ्रम होता है वहाँ सर्प में रज्जु का प्रतिबिंब पड़ा है, ऐसा नहीं कहा जाता। क्योंकि सर्प उत्पन्न ही नहीं हुआ है। बाहर से अल्प अन्धकार के कारण सर्प दिखाई पड़ने पर भी रज्जु के पास चक्षु ले जाकर देखने से सर्प नहीं दिखाई पड़ता। इसी प्रकार बाहर से अन्तःकरण में प्रतिबिंबित चैतन्य जीव रूप से प्रतीयमान होने पर भी मन को मूल आत्मा से मिलाकर बाहर की ओर देखने से जीव नहीं प्रतीत होता। समझाने की सुविधा के लिए अन्तःकरण में प्रतिबिंबित चेतन रूप जीव का विवरण दिया जाता है।

स्वप्नकाल में आत्माश्रित मन विविध जीव-जगत् रच लेता है। निद्राभंग होने पर वहाँ कुछ भी नहीं रहता। स्वप्न के समय मन में कुछ भी विशेषता नहीं हुई। ठीक इसी प्रकार ब्रह्माश्रित माया कल्पना से यह सृष्टि रच लेती है। यथार्थ में उससे ब्रह्म या माया में कुछ भी विशेषता नहीं होती।

माया रूप मेघ जैसे चाहे जगत् रूप जल का वर्षण किया करे उससे चिदाकाश की कोई भी हानि या लाभ नहीं है।

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा।
चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः॥

पंचदशी ८।७५

स्वप्न में आत्माश्रित मन ही स्वाप्निक जीव-जगत् बन जाता है। व्यावहारिक सृष्टि में भी आत्माश्रित माया जगत् रूप बन जाती है। स्वाप्निक सृष्टि में आत्मा-सहित मन सर्वात्मक है। उसी प्रकार व्यावहारिक सृष्टि में भी आत्मा-सहित माया सर्वात्मक है। यहाँ अद्वैतवाद में प्रतिबिंम्ब, आभास आदि का कोई स्थान ही नहीं है।

वेदांत में तीन प्रकार की सत्ता मानी गयी है —प्रातिभासिक व्यावहारिक और पारमार्थिक। प्रतिभासिक सत्ता स्वप्न, रज्जु में सर्प, सीप में चाँदी, मरुस्थल में जल के भान की है अर्थात् प्रतिभास या ज्ञान-मात्र ही उसकी स्थिति है। परिदृश्यमान जगत् की व्यावहारिक सत्ता है। इस व्यवहार-काल में प्रातिभासिक जगत् मिथ्या हो जाता है। स्वप्नकाल में जिस प्रकार स्वाप्निक जीव अपने को सत्य मानकर दूसरों से व्यवहार करते हैं ठीक उसी प्रकार व्यावहारिक जगत् में हम लोग अपने को तथा अन्य सभी को सत्य मानकर व्यवहार करते हैं। जिस क्षण आत्मज्ञान परिपक्व हो जाता है, उसी क्षण सांसारिक समस्त पदार्थ मिथ्या हो जाते हैं।

यह आत्मज्ञान उत्पन्न होते ही संसार की समस्त सत्यता को दग्ध कर डालता है। (स्वोत्पत्तिमात्रात् संसारे दहत्यखिलसत्यताम्--आत्मबोध)।

इस ज्ञान की उत्पत्ति के अनंतर केवल आत्मा ही नित्य विराजमान रहता है। यही पारमार्थिक सत्ता है। व्यावहारिक अवस्था में प्रातिभासिक सत्ता का विलोप हो जाता है। उसका दृश्य भी नहीं रहता। किंतु आत्मज्ञानोत्पत्ति के अनंतर पारमार्थिक स्थिति में व्यावहारिक सत्ता पारमार्थिक सत्ता में मिल जाती है, केवल सत्ताहीन प्रपंच आत्मज्ञानी के सामने प्रतिभासित होता है।

एक कवि ने एक अच्छा उदाहरण देकर इस विषय को सुंदर रूप से प्रदर्शित किया है, एक वीर के साथ लड़कर हजारों सैनिक खेत आये। रणक्षेत्र में वह वीर गर्व से फूल कर डटा हुआ है। यहाँ शत्रु-सैनिकों के मृत शव उस वीर की वीरता का गौरव बढ़ा रहे हैं। ठीक इसी प्रकार आत्मज्ञानी के सामने शत्रु के समान मायिक संसार सत्ताहीन मृतक की तरह प्रतीत हो रहे हैं, जिससे आत्मज्ञानी के ज्ञान का गौरव बढ़ रहा है।

यदि उस वीर के सामने एक भी मृत सैनिक न रहता तो वह वीर है और उसने इतने अधिक शत्रुओं का संहार किया है, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसी प्रकार

स्वप्न टूट जाने पर स्वाप्निक जगत् के अदृश्य हो जाने की तरह यदि आत्मज्ञान की उत्पत्ति होते ही व्यावहारिक जगत् का लोप हो जाता तो उनमें ज्ञान हुआ है इसे प्रमाणित करने के लिए कोई भी साधन नहीं रहता।

आत्मज्ञान केवल संसार की सत्यता को उड़ा देता है, संसार को नहीं। इस अवस्था में ज्ञानी के देहेंद्रियमनोबुद्धि पहले की तरह ही काम करते रहते हैं। उस समय 'मैं काम करता हूँ' ऐसा भाव उनमें नहीं रहता। इस परिस्थिति का विवरण गीता में सुंदर रूप से दिया गया है—

तत्त्वस योगयुक्त ज्ञानी देखते, सुनते, छूते, सूँघते, खाते, जाते, सोते, साँस लेते, बोलते, त्यागते, लेते, आँखें खोलते और मीचते हुए भी इंद्रियाँ अपने-अपने विषयों में काम कर रही हैं ऐसी धारणा करके अंतर में जानते हैं कि मैं आत्मा रूप से कुछ भी नहीं करता—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ (५।८-६)

विद्यारण्य मुनि लिखते हैं—

मैं निद्रा, भिक्षा, स्नान, शौच आदि कार्य नहीं करना चाहता, करता भी नहीं। द्रष्टा लोग यदि वैसे कार्य मेरे ऊपर कल्पना करें तो अन्यों की कल्पना से मेरा क्या होता है ? घुँघची की झाड़ी के लाल फलों को देखकर यदि कोई व्यक्ति दूर से उस झाड़ी में आग लग गयी है ऐसी कल्पना करे तो उस कल्पित अग्नि से वह झाड़ी जल नहीं जाती। ऐसे ही दूसरों के द्वारा आरोपित गमन-भोजनादि संसार-धर्म मैं अपने ऊपर आरोपित नहीं करता—

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च !
द्रष्टारश्चेत् कल्पयन्ति किं मे स्यात् अन्यकल्पना ?
गुंजापुंजादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना।
नान्यारोपित-संसारधर्मान् एवम् अहं भजे—पंच. ७ २५८)

इसका आशय यह है कि गमन, भोजन आदि कर्म शरीरेंद्रियमनोबुद्धि करते रहते हैं 'मैं आत्मा हूँ, उन कर्मों का मैं अपने ऊपर आरोप नहीं करता।'

आत्मज्ञ व्यक्ति 'मैं शरीर नहीं हूँ—इस प्रकार जानते हुए भी 'मैं जाऊंगा, खाऊंगा' आदि वाक्य उपेक्षा के साथ कह सकते हैं। इस प्रकार के व्यवहार से शरीर पर वह आत्मत्व का अध्यास नहीं करते। फलस्वरूप उनमें बंधन भी नहीं होता। ऐसे व्यक्ति ही जीवन्मुक्त हैं। अर्थात् जीवित रहते ही वह मुक्त हो जाते हैं।

अहं शब्द तीन प्रकार से व्यवहृत होता है—एक मुख्य और दो अमुख्य (गौण) हैं।

एको मुख्योद्वावमुख्याविव्यर्थस्त्रिविधोऽहमः।

कूटस्थ, अंतःकरण का आभास-चैतन्य और शरीर तीनों का परस्पर अध्यास होने के कारण उस समूह पर आत्म-ज्ञान-रहित साधारण मनुष्य अहं शब्द का मुख्यतया प्रयोग करते हैं।

सभी धर्मों में कुछ ऐसे धार्मिक मनुष्य हैं जो अपने जीव-भाव को ही निज स्वरूप समझते हैं। परलोक में स्वर्गसुख पाने के लिए वे उपवास, तपस्या आदि के द्वारा शरीर को सुखा डालते हैं। इस प्रकार जीवात्मा पर अहं शब्द का प्रयोग गौण है।

तीसरे प्रकार के आत्मज्ञ व्यक्ति अंतःकरण-स्थित आभासचैतन्य रूप जीवात्मा को मिथ्या मानकर बिंब रूप सच्चिदानंद अनंत नित्य आत्मा में ही अहं शब्द का प्रयोग करते हैं, यह भी अहं शब्द का गौण अर्थ है।

अधिकांश मनुष्य शरीर पर अहं शब्द का प्रयोग करते हैं। इस कारण उसे मुख्य कहा गया है। तपस्वियों की संख्या उनकी अपेक्षा अल्प है और आत्मज्ञानियों की संख्या तो बहुत ही अल्प है। इस प्रकार वक्ताओं की संख्या की अल्पता के कारण इन दोनों को गौण कहा गया है। यथार्थ में तत्त्वज्ञानियों का आत्मा पर अहं शब्द का प्रयोग ही सत्य है। अन्य दोनों का प्रयोग मिथ्या है। मिथ्या संसार में मिथ्या का प्रयोग ही अधिक है।

आत्मज्ञ व्यक्ति साधारण मनुष्यों के भीतर रह कर शरीर पर आत्माध्यास करके उपदेश, शासनवाक्य आदि का प्रयोग कर सकते हैं। शुकदेव आत्मज्ञान प्राप्त करके अपने से भिन्न किसी भी प्राणी को न देख कर मौन हो गये थे। किंतु उनके पिता व्यासदेव व्यावहारिक संसार में मनुष्यों को शोक-दुःख से आप्लुत जान कर वेदांतादि शास्त्र लिखने बैठ गये। आत्मज्ञान उनमें भी था। पुत्र को उन्हीं से आत्मज्ञान की शिक्षा मिली थी।

गीता में श्रीकृष्ण का उपदेश है—जिस व्यक्ति में शरीर पर 'मैं हूँ' ऐसा अहंकारभाव नहीं है और शरीर के कामों में जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती यदि वह सारे मनुष्यों की हत्या भी कर डाले तो वह हत्याकारी नहीं होता और न उस हत्या-जनित पाप से उसे दुःख ही भोगना पड़ता है (यस्य नाहंकृतो भावः बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते–१८।१७)

गीता के इस श्लोक का मूल कौषितकी ब्राह्मणोपनिषद् का मन्त्र है–तत्त्वज्ञानी मातृवध, पितृवध, चोरी, भ्रूणहत्या आदि घोर पापकार्यों से भी पापी ही होते और न उनका चेहरा मलिन या शरीर कृश ही होता है (न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया न हास्य पापं, न च मुखान्नीलं वा (३।१)। यथार्थ में आत्मज्ञ व्यक्ति किसी को अपने से पृथक नहीं समझते तो उसकी हत्या कैसे कर सकते हैं ? आधुनिक कानून से हत्याकारी को प्राणदंड दिया जाता है। आत्मज्ञान की महिमा प्रकट करना ही इस वेदमंत्र का उद्देश्य है।

छान्दोग्य उपनिषद का युक्तिपूर्ण मंत्र है—जो अल्प या छोटा है। वह मरणशील है। यद् अल्पं तन्मर्त्यम् — छान्दग्य ७।२।२४)। प्राणियों के शरीर, वृक्ष आदि सभी छोटे-छोटे पदार्थ हैं। इन छोटे पदार्थों का निश्चित नाश सभी जानते हैं। इस युक्ति से न्यायदर्शन के परमाणु, मन आदि छोटी वस्तुएँ अनित्य हो जाती हैं। अतः उस मत से सृष्टि नहीं हो सकती। आधुनिक वैज्ञानिकों के इलक्ट्रन और प्रोटन भी छोटे होने के कारण अनित्य हैं।

न्यायदर्शन के आकाश, काल, दिक् आत्मा तथा सांख्यदर्शन के पुरुष और प्रकृति को वे व्यापक मानते हैं। 'भिन्नता' या 'भेदप्रतियोगित्व' के कारण व्यापक होने पर भी वे अनित्य हो जाते हैं।

शरीर और वृक्ष भिन्न हैं, भिन्न वस्तु में भिन्नता गुण है। इसे भेद भी कहते हैं। शरीर का भेद वृक्ष में और वृक्ष का भेद शरीर में है। अथवा वैशेषिक दर्शन के अनुसार वृक्ष में शरीर का अभाव और शरीर में वृक्ष का अभाव है। वृक्षनिष्ठ शरीराभाव का प्रतियोगी (विरुद्ध) है शरीर। इसी प्रकार शरीरनिष्ठ वृक्षाभाव का प्रतियोगी है वृक्ष। अतः वृक्ष और शरीर में 'भेदप्रतियोगित्व' धर्म आ गया।

जो-जो भेदप्रतियोगी हैं वे सभी नाशवान हैं, इसे वादी प्रतिवादी दोनों ही जानते हैं। अब अनुमान इस प्रकार होगा —

"आकाशः अनित्यः, भेदप्रतियोगित्वात् वृक्षवत्"– आकाश अनित्य है, हेतु है भेदप्रतियोगित्व या भिन्नता, उदाहरण है वृक्ष, शरीर, घट, मकान आदि।

इस प्रकार केवल भेदप्रतियोगित्व हेतु के द्वारा न्यायदर्शन के काल, दिक्, आत्मा तथा सांख्यदर्शन के अगणित पुरुष और प्रकृति नाशवान हो जाते हैं। नाशवान होने से उनका जन्म मानना ही पड़ता है। अतः उनसे सृष्टि नहीं हो सकती।

गुण भी नाश का एक कारण है। शरीर, वृक्ष आदि में गुण हैं। गुणयुक्त वस्तुएँ नाशवान हैं, यह सभी जानते हैं। न्यायदर्शन के आकाश आदि सभी पदार्थों में शब्द, भिन्नता आदि गुण हैं और सांख्यदर्शन के अनुसार अगणित पुरुष व्यापक होने पर भी 'भिन्नता' तथा मन के सुख-दुःख, क्षुधा-पिपासा, ईर्ष्या-द्वेष आदि की छाया ग्रहण करने की 'योग्यतारूप' गुण हैं। और प्रकृति तो उनके मत में सत्त्व, रज, तम इस प्रकार त्रिगुणात्मिका है ही, अतः गुणवान होने के कारण वे सभी अनित्य हैं।

गुण की तरह क्रिया भी पदार्थों के अनित्य होने का एक प्रबल हेतु है। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि सभी में क्रिया है और इन क्रियायुक्त पदार्थों का नाश भी सभी को प्रत्यक्ष है। इन उदाहरणों के बल पर कहा जा सकता है कि न्यायदर्शन के परमाणुओं में गमनागमन रूप क्रिया रहने से तथा सांख्यदर्शन की प्रकृति में परिणाम रूप क्रिया रहने से वे अनित्य हैं इस कारण उनसे सृष्टि नहीं हो सकती।

न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन ने परमाणुओं को परमसूक्ष्म निरवयव वस्तु माना है। निरवयव वस्तुओं में संयोग-संबंध नहीं रह सकता। संयोग सावयव वस्तुओं में ही होता है। दो उँगलियों में संयोग उनके एक ओर के अवयव या अंग में ही होता है और संयोग होने से पदार्थ बढ़ जाते हैं। जब परमाणु में अवयव या अंग ही नहीं है तो दूसरा परमाणु आकार उसमें समा जायगा। इस प्रकार करोड़ों परमाणु उसमें समाते जायँगे। यदि परमाणुओं में अंग होता तो एक के एक ओर आकर दूसरे परमाणु का

कोई अंग संलग्न होता। इससे द्वयणुक, त्रसरेणु आदि क्रम से बढ़कर भूत बन जाते। परमाणुओं को उन लोगों ने निरवयव मान रखा है। युक्ति-विचार से संयोग न होने के कारण वे बढ़ नहीं सकते, फलस्वरूप सृष्टि नहीं बन सकती।

ज्ञेयत्व भी अनित्यत्व में एक महान् हेतु है। घट, पट, मठ, मनुष्य, पशु, पक्षी सभी ज्ञेय अर्थात् ज्ञान के विषय हैं। अब अनुमान इस प्रकार का होगा—जो जो ज्ञेय हैं वे सभी अनित्य हैं, जैसे मनुष्य आदि। इस नियम से न्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन, सांख्यदर्शन और योग-दर्शन के सभी पदार्थ ज्ञान के विषय होने के कारण नाश-वान हो गये। अतः उनसे सृष्टि होना संभव नहीं।

वेदांत में जगत्कारण आत्मा को अज्ञेय बताया गया है (अवाङ्मनसोगोचरोऽयं आत्मा)। यह आत्मा वाक्य और मन का गोचर अर्थात् विषय नहीं है। वह माया-कल्पित सारी सृष्टि का साक्षी चैतन्य है। वह सबका विज्ञाता है। बृहदारण्यक उपनिषद में सर्वश्रेष्ठ ऋषि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा था--"अरी मैत्रेयी, सबके विज्ञाता को किससे जाना जायगा ? (विज्ञातारम् अरे केन विजानीयात्--४।५।१५)।

मन जिसका मनन नहीं कर सकता, जिसके द्वारा मन मत (ज्ञात) होता है, वही ब्रह्म है। उसी को जानने की चेष्टा करो, जिसकी उपासना की जाती है वह ब्रह्म नहीं है (यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म तं विद्धि नेदं यद् इदम् उपासते--केनोपनिषद् १।१।५)।

आचार्य शंकर ने वेदांत-दर्शन के भाष्य के आरंभ में लिखा है—युष्मत् तुम, अस्मत् मैं--इन दोनों शब्दों से उत्पन्न ज्ञान के गोचर विषय और विषयी अंधकार और प्रकाश की तरह विरुद्ध-स्वभाव-युक्त हैं (युष्मदस्मत्प्रत्यय-गोचरयोर्विषयविषयिणोस्तमप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः....)।

मैं शब्द का अर्थ आत्मा (ब्रह्म) स्वयंप्रकाश तथा ज्ञाता है और उससे भिन्न सभी मायाकल्पित सृष्ट पदार्थ तमःस्वरूप विषय हैं। मनुष्य की बुद्धि सृष्टि के अंतर्गत होने के कारण तमःस्वरूप विषय है। अतः जिस प्रकार अंधकार के द्वारा प्रकाश प्रकाशित नहीं होता उसी प्रकार जड़बुद्धि के द्वारा प्रकाशमय आत्मा प्रकाशित नहीं होता।

आचार्य शंकर के एक श्लोक से यह विषय और भी स्पष्ट हो जाता है—समस्त दृश्य पदार्थ (मन, बुद्धि भी आत्मा के दृश्य हैं) अनात्मा हैं और इन सबके द्रष्टा या साक्षी चैतन्य ही आत्मा है--विवेक-ज्ञान-संपन्न व्यक्ति ऐसा ही जानते हैं (दृश्यं सर्वम् अनात्मा स्यात्, दृगेवात्मा विवेकिनः--आत्मानात्मविवेक १)।

इस प्रकार मनोवृत्ति रूप ज्ञान के विषय न होने के कारण आत्मा नित्य है, अतः न्यायदर्शन और सांख्यदर्शन के द्वारा कल्पित सभी तत्त्व, ज्ञान के विषय होने के कारण अनित्य हो गये।

इस प्रकार युक्तियों और वैदिक प्रमाणों से वेदांत का अद्वैत और नित्य-आत्मवाद सुप्रतिष्ठित है।

कठोपनिषद् के ऋषि कहते हैं--जिस प्रकार एक ही अग्नितत्त्व समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त है, किंतु काष्ठ, कोयले, मेघ आदि में विभिन्न रूपों में प्रगट होता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों और पंचभूतों में व्याप्त रहकर आत्मा मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि में विभिन्न रूपों से प्रकाशित होता है और बाहर भी है (अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टः, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति-रूपो बहिश्च (२।२।८)।

इस वेद-प्रमाण से भी प्रमाणित होता है कि विभिन्न प्राणियों में एक ही आत्मा व्याप्त है और वह शरीरों तथा ब्रह्मांडों के बाहर भी अनंत है।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण का वचन है--इस नाशरहित अप्रमेय नित्यस्वरूप आत्मा के ये सब शरीर नाशवान कहे गये हैं (अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्मात् युद्धस्व भारत-- (२।१८)। इस श्लोक में देह-वाचक चार शब्द--अन्त-वन्तः, इमे, देहाः, उक्ताः--बहुवचन में और आत्मवाचक चार शब्द—नित्यस्य, शरीरिणः, अनशिनः, अप्रमेयस्य--एक-वचन में प्रयुक्त हुए हैं अर्थात् गीता के अनुसार भी आत्मा एक और देह अनेक हैं।

अद्वैतवादी का मन इस श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित एकात्मा में सुप्रतिष्ठित है। अतः वह सभी को अपना स्वरूप समझते हैं। इस कारण वह किसी को हानि नहीं पहुँचा सकते, किसी की निन्दा नहीं कर सकते, किसी को गाली नहीं दे सकते, मारना, पीटना, हत्या करना तो दूर की बात है। वह अजातशत्रु हो जाते हैं, ऐसे व्यक्ति अधिक हों तो

समाज और संसार सुखमय बन जाय और विरोध-झगड़ा, अशांति, धोखा, चोरी, डकैती, मारपीट, हत्या, संग्राम आदि चिरकाल के लिए संसार से मिट जायँ।

यह अद्वैत आत्मज्ञान परम मंगलमय है। इस अद्वैत-वाद का जितना ही अधिक प्रचार होगा, संसार का उतना ही अधिक कल्याण होगा। यदि बचपन से इस एकात्म-विद्या की शिक्षा दी जाय तो छात्रों का उपद्रव उत्पन्न ही नहीं होगा।

लोग कहते हैं कि "ऐसा अनुभव तो नहीं होता कि मैं ही आत्मा रूप से सभी देहों में आधार बन कर विराज-मान हूँ।" बात ठीक है। परंतु यहाँ अनुभव करने वाला है– मन। वह बहुत ही छोटा है और उसकी शक्ति भी अल्प है। अनुभव के लिए उसके सहायक हैं इन्द्रियाँ। उनकी शक्ति तो और भी अधिक सीमित है। चक्षु सुन नहीं सकता, विशाल वायुयान आकाश में अधिक ऊपर चढ़ जाने पर दिखाई नहीं पड़ता, जल में चीनी या नमक घोल देने पर वह दृष्ट नहीं होता, दिन में नक्षत्र दिखाई नहीं पड़ते, बहुत दूर का शब्द कान नहीं सुन सकते, संसार भर में लाखों ध्वनि-प्रसारक रेडियो-यंत्रों से निरंतर समाचार, संगीत आदि के अगणित शब्द आकर हमारे कानों में लगते हैं परंतु दूसरे रेडियो-यंत्र के बिना एक भी शब्द सुनाई नहीं पड़ता। वैज्ञानिक कहते हैं कि हमारे शरीर पर वायु के लगभग ७ मन का बोझ लदा हुआ है, पर कुछ भी बोझ प्रतीत नहीं होता। वायुमंडल में अगणित धूलकण उड़ रहे हैं परंतु हमारे नेत्र खाली आँख से उन्हें देख नहीं सकते, निद्रितावस्था में शारीरिक रोग का कष्ट उपलब्ध नहीं होता और न मानसिक शोक, संताप, ईर्ष्या-द्वेष आदि की ही प्रतीति होती तो दूसरे शरीरों के सुख दुःखादि मन कैसे जानेगा? वह तो अपने शरीर से बाहर जा भी नहीं सकता। आत्मा मन-वाणी से परे है, अनुमान और शास्त्रीय उपदेश से आत्मा के विषय में मन कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

इस आत्मज्ञान की प्राप्ति से जीवित अवस्था में ही मनुष्य शोकदुःखादि से मुक्त होकर परमानंद प्राप्त कर सकता है। तरति शोकम् आत्मवित्–छांदोग्योपनिषद् ७।७।३ (अशोच्य देखिए)।

अद्वैतवादिन् (वि०) अद्वैतवादी, ब्रह्म और जीव में अभेद मानने वाला, वेदांत का ज्ञाता, ब्रह्मवादी, समस्त सृष्टि को ब्रह्ममय मानने वाला।

अद्वैतवासना (स्त्री०) अद्वैत आत्मा को जानने की इच्छा। आत्मा एक है (अद्वैतवादः देखिए)। मनुष्य संसार में द्वैत पदार्थों का नाश देखकर अपनी मृत्यु की शंका से भयभीत होता है (द्वितीयाद् वै भयं भवति–बृहदा-रण्यक १।४।२)। संसार में अनेक दुःख हैं। जो कुछ सुख रूप से प्रतीत होता है, उसके भी परिणाम में दुःख ही है। योगी की दृष्टि में सभी दुःखमय हैं। (परिणाम - ताप - संस्कार - दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःख-मेव सर्वं विवेकिनः - योगदर्शन २।१५)। संसार को अनल रूप कहा गया है। उस अनल से संतप्त होकर लोग शांति की खोज करते हैं (संसारानलसन्तप्तो दीप्तशिरा जलराशिमिव–वेदांतसार)। विवेकी पुरुष का मन दुःखपूर्ण जगत में सुख न पाकर अंतर्मुख होकर परमानंद रूप आत्मा की शरण में जाने की इच्छा करता है, यही अद्वैत-वासना है (ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना महद्भय-परित्राणाद्विप्राणामुपजायते—अवधूतगीता १।१)।

अद्वैतानन्दः (पुं०) अद्वैत आत्मा ही आनंद है। यह सारा संसार आनंद से उत्पन्न हुआ है, आनंद में स्थित है और अंत में आनंद के भीतर ही सब कुछ लय-प्राप्त हो जायेंगे। मृत्तिका से बने अगणित बर्तन प्रतीत होने पर भी जिस प्रकार वे अपने कारण मृत्तिका से भिन्न कुछ भी नहीं है, उसी प्रकार यह संसार आनंदमय है। सांसारिक आनंद क्षणस्थायी है, किंतु मूल आनंद एक, नित्य और निरवच्छिन्न है। यही अद्वैतानंद है।

मृत्तिका के बर्तन मृत्तिका मात्र ही है, केवल नाम और रूप प्रत्यक्ष होते हैं। बर्तन के टूट जाने पर वे नाम और रूप एकदम अदृश्य हो जाते हैं; इस कारण नाम रूप मृत्तिका में कल्पित अर्थात् मिथ्या है। उनके भीतर मृत्तिका ही सत्य है।

सुवर्ण के कुण्डल, मुकुट आदि अलंकार सुवर्ण मात्र ही हैं, केवल नाम और रूप प्रत्यक्ष होते हैं। अलंकारों के टूट जाने पर उनके नाम और रूप एकदम अदृश्य हो जाते हैं, इस कारण नाम, रूप सुवर्ण में कल्पित अर्थात् मिथ्या हैं, उनके भीतर सुवर्ण ही सत्य है।

लोहे के तोप, बंदूक, गड़ाँसा आदि लौह मात्र ही है केवल नाम और रूप प्रत्यक्ष होते हैं। अस्त्र-शस्त्रों के टूट

जाने पर वे नाम और रूप एकदम अदृश्य हो जाते हैं, इस कारण नाम रूप लोहे में कल्पित अर्थात् मिथ्या हैं, उनके भीतर लोहा ही सत्य है।

इन तीन उदाहरणों से प्रमाणित किया गया है कि मूल, कारण ही है, कार्य-रूप, नाम और रूप मिथ्या हैं। इसी प्रकार आनंदमय अद्वैत आत्मा ही है, संसार के नाम और रूप मिथ्या हैं।

इसी प्रकार संसार के मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र आदि में मूल कारण आनंदमय अद्वैत आत्मा ही सत्य है। सृष्टि के विभिन्न पदार्थों के नाम और रूप मिथ्या हैं।

संसार को मिथ्या बताने के लिए योगवासिष्ठ में एक कथा है। धात्री शिशु को आनंद देने के लिए एक सुदंर कथा कहती है। किसी स्थान में तीन सुदंर राजपुत्र थे। उनमें दो का जन्म नहीं हुआ है और एक अभी तक गर्भ में भी नहीं आया। वे तीनों धर्माचरण करते हुए अत्यंत असत् नगर में रहने लगे। उन निर्मल-चित्त राजपुत्रों ने अपने शून्य-नगर से निकल कर जाते हुए आकाश में अनेक फलवान वृक्षों को देखा। उसके अनंतर वे तीनों राजपुत्र भविष्य-नगर में जाकर मृगया करते हुए आनंद से रहने लगे। हे रामचंद्र, धात्री के द्वारा कथित इस अलीक कहानी को बालकों ने विचार-शून्य चित्त से सत्य रूप समझा।

इस प्रकार बालक के लिए कथित असंबद्ध कहानी की तरह यह संसार-रचना भी विचार-रहित व्यक्तियों के सामने सत्य रूप से उपलब्ध हो रही है।

यह संसार इन्द्रजाल-तुल्य है। इसकी रचना मनुष्य की साधारण बुद्धि के अगम्य है। एक बहुत ही छोटे बीज से विशाल वटवृक्ष कैसे उत्पन्न हो सकता है? जल सदा नीचे की ओर धावित क्यों होता है? अग्नि कैसे निरंतर ऊपर की ओर ही धधकती है? हथिनी के पेट से हाथी, कुतिया के पेट से पिल्ला, बंदरी के पेट से बंदर, गोरे मनुष्य का पुत्र गोरा, काले मनुष्य का पुत्र काला क्यों होता है? मातृगर्भ में जाकर रेत-विंदु चेतन हो जाता है, उसमें हाथ, पैर, सिर आदि अनेक प्रकार के अंकुर उत्पन्न होते हैं, फिर भूमिष्ठ होकर वह मांसपिंड क्रमशः शिशुत्व, यौवन, जरा, अनेक प्रकार के रोगों से आवृत हो जाता है, वह देखता है, सुनता है, सूँघता है, जाता है और आता है। इससे बढ़ कर इन्द्रजाल और क्या हो सकता है?

सृष्टि के मूल में एकमात्र मायाशक्ति है, वह अघटन-घटनापटीयसी है अर्थात् वह असंभव को संभव कर दिखाती है। वह आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी और इन ५ भूतों से अनंतकोटि ब्रह्मांड दिखाती है, वह ईंट, काठ, पत्थरों से एक बनावट को सुंदर मकान के रूप से प्रदर्शित करती है। उन उपादानों को खोल डालने पर मकान हवा में मिल जाता है। इसी प्रकार मिट्टी के ऊपर अन्य भूतों के सहयोग से एक पौधा पैदा हुआ। कुछ बड़े होने पर कुछ फल दिखाई पड़े। उसके भी थोड़े दिनों के बाद फल फटकर रुई निकल आयी। रुई से लोगों ने कात कर सूत बनाया। सूतों से बुनकर वस्त्र बना लिया गया। लोगों को दुकान से वस्त्र खरीदते हुए देखकर तत्त्वज्ञ व्यक्ति मन में हंसते हैं और कहते हैं— लोग कैसे मायामुग्ध हैं! रुई को वस्त्र समझकर दस गुने दाम देकर खरीद रहे हैं। वस्त्र से सूतों को एक-एक करके निकाल डालने पर वह हवा हो जाता है। सूतों से भी नोच-नोच कर रूई निकाल लेने पर सूत भी दिखाई नहीं पड़ते। अतः सूतों में वस्त्र और रुई में सूत कदापि नहीं है, वे होते तो कारणों में भी दिखाई पड़ते। महामाया की ऐसी महिमा है कि जो वस्तु जहाँ नहीं है वहीं उसे प्राणियों के नेत्रों के सामने दिखा देती है। इसी तरह सारा संसार ही दिखाई मात्र पड़ता है। यथार्थ में कुछ भी सत्य नहीं है। अघटनघटनापटीयसी माया का यही आश्चर्य-कारक शक्ति है कि जो त्रिकाल में नहीं है उसी को सत्य रूप से दिखा देती है।

रुई दिखाई पड़ती है इस कारण वह नहीं है। अब विचार बुद्धि से विश्लेषण करने पर उसमें ५ भूत मिलते हैं— जैसे रुई में कुछ वजन है, क्योंकि उसमें कुछ ठोस अणु है, जो पृथ्वी का अंश है। रुई में जलीय अंश भी है। आग लगा देने पर उससे धूम निकलता है जो एक प्रकार का जलीय वाष्प ही है। रुई में अग्नि भी है, इसी से रुई गरम होती है। रुई में वायु भी है क्योंकि उसके भीतर छोटे-छोटे कीट साँस लेते हुए जीवित रहते हैं। सर्वव्यापक आकाश तो रुई में हैं ही।

एक स्वतः सिद्ध सिद्धांत है कि जो पदार्थ आदि और अंत में नहीं है वह वर्तमान में दिखाई पड़ने पर भी वैसा ही है अर्थात् मिथ्या है, जैसे सूत में वस्त्र, रुई में सूत, मिट्टी में घट, ईंट, काठ, पत्थरों में घट, कुछ लकड़ी के तख्तों में रथ, सुवर्ण में कुण्डल, लोहे में बंदूक इत्यादि। ये पदार्थ त्रिकाल में नहीं है। स्वप्न में हाथी दिखाई पड़ता है। स्वप्न के पहले और उसके टूट जाने के बाद हाथी नहीं है, इस कारण स्वप्न के समय दिखाई पड़ने पर भी वह नहीं है। मिट्टी में घट दिखाई पड़ता है, सुवर्ण में अंगूठी दिखाई पड़ती है और लोहे में छड़ दिखाई पड़ता है। ये तीनों उत्पत्ति के पूर्व नहीं थे और ध्वंस के बाद भी नहीं रहेंगे, अतः वर्तमान में दिखाई पड़ने पर भी वे नहीं हैं।

मिथ्या संसार में मिथ्या के द्वारा ही व्यवहार होता है, जैसे कि स्वप्न में स्वाप्निक जीवों और पदार्थों से स्वप्न-काल में व्यवहार हुआ करता है। यह संसार स्वप्न-तुल्य है, व्यवहारकाल में सत्य प्रतीत होता है किंतु आत्मज्ञान होने पर मिथ्या हो जाता है।

यह दृश्य प्रपंच दर्पण में दिखाई पड़ने वाली नगरी के तुल्य है। वह भी अपने ही आत्मस्वरूप के अंतर्गत है। निद्राकाल में जिस प्रकार स्वाप्निक जगत अपने शरीर से बाहर उद्भूत हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है (दृश्यं दर्पण-दृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं, पश्यन् आत्मनि मायया बाहरिवोद्भूतं यथा निद्रया--चर्पटपंजरिकास्तोत्र १)।

यथार्थ में स्वाप्निक जीव-जगत स्वप्न-द्रष्टा के अणु-परिमाण मन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार अनंत ब्रह्म के अणुमात्र स्थान में माया-शक्ति का आवेश होता है और उसी अणुमात्र स्थान में अनंतकोटि ब्रह्मांड प्रतिभासित होते हैं (चैतन्ये विमले पूर्णे कस्मिन् देशेऽणुमात्रकमज्ञानमुदितं सत्त्वं चैतन्यस्फूर्तिमात्रकम्--शान्तिगीता ७।१५)।

शक्ति और शक्तिमान में भेद नहीं है। मोहन और उसकी शक्ति को कोई पृथक नहीं समझते, अग्नि की दाहिका शक्ति अग्नि की सत्ता पर ही स्थित है, उसकी कोई पृथक सत्ता नहीं है। इस कारण दोनों एक ही है। इसी प्रकार ब्रह्म और उनकी मायाशक्ति पृथक नहीं है, दोनों एक ही है। इसी से अद्वैतवाद सिद्ध होता है। ब्रह्मांड के सर्वत्र तेजतत्त्व है, किंतु शून्य स्थान में वह एक तिनके को भी नहीं जलाता। जब वह लकड़ी, कोयले आदि में प्रगट होता है तभी जला सकता है। इसी प्रकार अनादि काल से व्यापक सच्चिदानंद परब्रह्म में मायाशक्ति लुप्त थी। किसी समय ब्रह्माश्रित माया का विकास होता है और तभी वह सृष्टि की कल्पना करती है। वह भी एक क्षण में सृष्टि दूसरे क्षण में स्थिति और तीसरे क्षण में प्रलय होता है, किंतु कल्पित ब्रह्मांड में हम लोग करोड़ों वर्षों की सृष्टि का अनुभव करते हैं। अद्वैतवाद अध्याय में नारद जी का उदाहरण दिखाकर काल के परिमाण का विवरण बताया गया है।

सांख्य-दर्शन के आचार्यों ने काल नामक पदार्थ को, वायु में गाँठ की तरह कोई वस्तु ही नहीं मानी (किमनेनान्तर्गडुना कालेनेति सांख्याचार्याः)।

अतः ब्रह्म त्रिकाल में अद्वैत हैं। प्रलय, उत्पत्ति, बंधन, मोक्ष, मुमुक्षु और मुक्त कोई भी नहीं है। केवल निष्कल ब्रह्म ही विराजमान है। मिट्टी के बर्तनों में जिस प्रकार मिट्टी सर्वात्मक है, कुण्डल, किरीट आदि में जिस प्रकार सुवर्ण सर्वात्मक है और बंदूक, तोप आदि में जिस प्रकार लोहा सर्वात्मक है, उसी प्रकार सृष्टि में ब्रह्म भी सर्वात्मक हैं। इसी कारण उपनिषदों में कहा गया है कि-समस्त संसार ही निश्चित रूप से ब्रह्म है (सर्वं खल्विदं ब्रह्म--छान्दोग्य ३।१४।१)।

श्रोताओं के मन में द्वैत भावना रहने के कारण उन्हें समझाने के लिए द्वैत भाषा में ही पंचभूत, एकादश इंद्रियाँ, तीन शरीर, अंतःकरण में प्रतिबिंबित जीव-चैतन्य आदि का विवरण दिया जाता है। यथार्थ में एक ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। रज्जु में सर्प-भ्रम के स्थल में बाहर से साँप प्रतीत होता है किंतु रज्जु की ओर से देखने पर साँप का अस्तित्व त्रिकाल में नहीं है, उसी प्रकार व्यावहारिक जगत की तरफ से सारा संसार दिखाई पड़ता है किंतु अपने को ब्रह्म के साथ मिला कर देखने से कुछ भी नहीं प्रतीयमान होता। उधर से अंतःकरण है कहाँ कि चिदात्मा का उसमें प्रतिबिंब पड़ सके और जीवभाव बन जाय?

अतः बाहर से दिखाई पड़ने वाले जीव को चाहिए कि वह अपने को मूल ब्रह्म में मिलाकर अनादि अनंत अद्वैत आनंद-सत्ता में लवलीन कर दे।

ब्रह्म के विषय में चिंतन, उसी का कथन और परस्पर एक दूसरे को प्रबोधन इस प्रकार एक विषय में निरंतर भावना करते रहना ही ब्रह्माभ्यास है (तच्चिन्तनं तत्कथनं अन्योन्यं तत्प्रबोधनम् । एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधा । पंच १३।८३)।

इस प्रकार ब्रह्माभ्यास स्थिर हो जाने से मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाते हैं। उस अवस्था में शरीर चाहे किसी अवस्था में और कहीं भी रहे, ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष को सदा ही अद्वैतानंद का लाभ होता रहता है।

अधः (अव्य) नीचे, नीचे के लोक में (अधोलोकः)।

कोई व्यक्ति जब एक सिक्का या लड्डू दूसरे के हाथ में ऊपर से छोड़ देता है तो उन चीजों में कुछ वजन रहने से उस ऊपर वाले हाथ से वह वजनी चीज के छूट जाने से वह कुछ ऊपर उठ जाता है और जिस हाथ में वह चीज गिरी वह उस चीज के भारीपन के कारण कुछ नीचे उतर जाता है। आशय यह है कि दाता सुख पायेगा और ग्रहीता दुःख। अपरिग्रहः देखिए।

अधःकाण्डः (पुं०) वृक्ष का जमीन के नीचे का अंश, भूगर्भस्थ तना।

अधःकायः (पुं०) शरीर का निचला भाग।

अधःकोष्ठः (पुं०) जमीन के नीचे का घर, तहखाना, गुफा, खोह।

अधःक्रमः (पुं०) निम्नाभिमुखी क्रम।

अधःपतनम् (नं०) नीचे गिरना, नैतिकता से पतन।

अधःपतित (वि०) नीचे गिरा हुआ, चरित्रभ्रष्ट।

अधःक्षेपः (पुं०) नीचे निक्षेप, तलछट।

अधःखननम् (न०) गाड़ने की क्रिया।

अधःपातः (पुं०) नीचे जाने या गिरने की क्रिया, अवनति, ह्रास।

अधःशाख (वि०) नीचे की ओर शाखा वाला। नदी के प्रवाह से कोई वृक्ष उलट जाय तो उसे अधःशाख या अवाक्शाख कहते हैं। इस संसारवृक्ष को भी उसी प्रकार अधःशाख कहते हैं। इसका आशय यह है कि सर्व-कारण-कारण परब्रह्म से यह संसार-प्रपंच प्रतीयमान हो रहा है। निर्गुण, निराकार, सच्चिदानंदमय परमब्रह्म का भाव उच्चतम है और सगुण, साकार और दुःखपूर्ण संसार का भाव निम्नतम है। उच्चतम अवस्था ऊपर और निम्नतम अवस्था नीचे है। ऐसी स्थिति को मन में रख कर ही संसार को अधःशाखाओं वाला बताया गया है (ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्। गीता–१५।१। ऊर्ध्वमूलकवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः—कठोप-निषद् २।३।१)।

इस संसार को अश्वत्थ इसलिए कहा गया है कि–'न श्व स्थास्यति इति अश्वत्थः।' कल रहेगा या नहीं इसमें संदेह है अथवा 'संसरति इति संसारः' सरकता जा रहा है, प्रतिक्षण पुरातन रूप छोड़कर नवीन रूप धारण करता जा रहा है। क्षण भर भी अपने पूर्व-स्वरूप में टिका नहीं रहता। नदी का जल प्रतिक्षण बहता जा रहा है परंतु नहाने वाला नदी का यह स्वरूप न समझ कर कहता है कि मैं एक ही जल में नहा रहा हूँ, इसी प्रकार प्रतिक्षण परिणामी संसार को अज्ञान के कारण नित्य समझ कर लोग व्यवहार करते हैं। जीवन एक क्षण का है। उसका पूर्व क्षण गत हो गया है, वह अब लौट कर नहीं आवेगा और वह अपनी पकड़ से बाहर हो गया है। अनागत अभी दूर है—इसी क्षण मृत्यु हो जाय तो उस अगले क्षण के साथ संपर्क ही नहीं हो सकेगा। यदि जीवन रह गया तो वर्तमान क्षण भी अगले क्षण के सामने आने पर भूतकाल में पर्यवसित हो जायेगा। इसी प्रकार जीवन की गति एक-एक क्षण के भीतर अग्रसर होती जा रही है। मनुष्य अज्ञान के कारण परिणामप्राप्त संसार में मृत्युपर्यंत इस परिवर्तनशील जीवन की एक ही धारा मानते हैं (गुणा नापरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते–सांख्यसार ३६)।

अधःस्रोतस् (पु०) मनुष्य अधःस्रोता है क्योंकि उसकी भुक्त वस्तु मुख से नीचे की ओर पेट में जाती है। वृक्ष लतादि ऊर्ध्वस्रोता है क्योंकि उनका भुक्त रसादि जड़ से खिंचकर ऊपर की ओर जाता है। पशु-पक्षी, मकर-मत्स्य आदि तिर्यक्स्रोता हैं क्योंकि उनकी भुक्त वस्तु मुख से पृथ्वी के समांतराल भाव से पेट में जाता है।

अधन (वि०) निर्धन, धनरहित, दरिद्र।

अधन्य (वि०) जो समृद्धिशाली न हो, अप्रसन्न।

अधम (वि०) नीच, निकृष्ट, हीन, उत्तम के विपरीत। अधम व्यक्ति नीच काम करके दूसरों को दुःख देकर दुःख भोगता है, क्योंकि उसने अच्छी शिक्षा नहीं

पायी है। उत्तम व्यक्ति अच्छी शिक्षा पाने के कारण सबसे उत्तम व्यवहार करते हैं। उत्तम व्यक्ति के मुख से उत्तम बात ही निकलती है, जिससे उनकी प्रशंसा होती है। प्रशंसा पाना ही मनुष्य के जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। निंदित व्यक्ति का जीवन निरर्थक है। गुरु वसिष्ठदेव ने रामचन्द्र से कहा था—हे रामचन्द्र सभी लोग तुम्हारी प्रसंसा करते हैं, निंदित व्यक्तियों का जीवन वृथा है (निरर्थकं हि जीवितं निन्दितानाम्–रामायण)।

अधमः (पुं०) पतित, जार, नीच व्यक्ति।

अधमभृतः (पुं०) मजदूर, साईस।

अधमर्णः, अधमर्णिकः (पुं०) कर्जदार, ऋणी (विपरीत उत्तमर्ण, ऋणदाता)।

अधमा (स्त्री०) दुष्टा स्वामिनी।

अधमाङ्गम् (न०) पैर, पाद, चरण, निम्नांग।

अधमार्धम् (न०) शरीर के नीचे का आधा अंग, नाभि के नीचे का अंग, निम्नांग।

अधर (वि०) नीचे का, अधम, दुष्ट, पराजित, शांत किया हुआ।

अधरः (पुं०) निचला ओष्ठ।

अधरकण्ठः (पुं०) गले का निचला भाग।

अधरकायः (पुं०) शरीर का निचला अंश।

अधरतस् (अव्य०) नीचे, नीचे की ओर।

अधरपल्लवः (पुं०) नयी पत्ती के समान कोमल ओठ।

अधरपानम् (न०) ओष्ठ-चुंबन।

अधरम् (न०) नीचे का भाग, भाषण, व्याख्यान।

अधरमधु (न०), अधररसः (पुं०), अधरसुधा (स्त्री०), अधरामृतम् (नं०) ओष्ठ का रस (राधाधरसुधा-पानशालिने वनमालिने)।

अधरस्वस्तिकम् (न०) अधोविंदु।

अधरात् (अव्य०) नीचे की ओर, निचले भाग में।

अधरीकृ (उ०) आगे निकल जाना, हरा देना।

अधरीण (वि०) नीचे का, निंदित, अपकीर्तित।

अधरेद्युः (अव्य०) किसी पूर्व दिन में, गत परसों।

अधर्मः (पुं०) पाप, क्लेशदायक कर्म, दुष्कृत, अपराध, वध, हत्या, दुराचरण, पातक, निषिद्ध कर्म, अन्याय, कुकर्म।

कलियुग में अधर्म से उन्नति दिखाई पड़ती है, पापी का कल्याण होता दीखता है, शत्रुओं पर भी वह विजय प्राप्त करता है, परंतु अंत में उसका समूल नाश हो जाता है (अधर्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति––मनु ४।१७४)। अधर्म किया था––रावणने, शिशुपालने, कंसने, दुर्योधनने, हिटलर ने, परंतु उनका नाश सभी जानते हैं। इसी तरह के अनेक दृष्टांतों को देखकर हमारे शास्त्रकारों ने लिखा है—अधर्म करने वाला पाप का फल तुरंत न भी पा सकता है। जैसे भूमि में बीज बोने के कुछ मास बाद अंकुर, फिर अन्न उत्पन्न होता है वैसे ही कुछ समय के अनंतर पापी का समूल नाश हो जाता है (नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव। शनैरावर्तमानस्य कर्तुर्मूलानि कृन्तति–मनु ४।१७२)। यदि अपने में पाप का फल न हुआ तो पुत्र में, नहीं तो पौत्र में फल होगा। कृत अधर्म कभी निष्फल नहीं होगा (यदि नात्मनि पुत्रेषु, न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः–– मनु ४।१७३)।

सबसे बड़े अधर्म हैं— हिंसा, मिथ्याभाषण और चौर्य। पृथ्वी भर के सभी धर्मवाले मनुष्य इस मत को मानते हैं (उन शब्दों को देखिए)।

ब्रह्मा की पीठ से अधर्म की उत्पत्ति हुई थी। उसके वाम भाग से अलक्ष्मी उद्भूत हुई थी, जिससे उसने विवाह कर लिया था।

अधर्मचारिन् (वि०) दुष्टता करने वाला।

अधर्मन् (न०) ब्रह्म की उपाधि।

अधर्मात्मन् (वि०) दुष्ट आत्मा वाला, दुष्टात्मा।

अधर्मिन् (वि०) दुष्ट, अपवित्र, अशुद्ध।

अधर्मिष्ठ (वि०) अत्यन्त दुष्ट, अपवित्र।

अधर्म्य (वि०) जो वैध न हो, अवैध, धर्म के विरुद्ध, दुष्ट।

अधवा (स्त्री०) वह स्त्री जिसका पति न हो, विधवा।

अधस् (न०), अधः (अधोलोकः), निम्न दिशा। अनंतकोटि ब्रह्मांडों में उच्च, निम्न, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि दिशाएँ स्थिर नहीं हैं। एक मनुष्य सूर्योदय की ओर मुख रख कर खड़ा रहे तो वह कहता है–"मेरे

सिर की ओर की दिशा ऊर्ध्व, पैर की दिशा अधः (निम्न), सामने की दिशा पूर्व, दाहिने हाथ की दिशा दक्षिण, बायें हाथ की दिशा उत्तर, पीछे की दिशा पश्चिम है।" पृथ्वी कदम्ब फूल की तरह गोल है (पृथ्वी देखिए)। जिस प्रकार कदम्ब पुष्प के केसरों के सिर बाहर की ओर हैं उसी प्रकार पृथ्वी पर के मनुष्य, वृक्ष, पर्वत आदि के सिर बाहर की ओर होने से भारत में खड़े व्यक्ति के लिए जो निम्न दिशा है वह अमेरिका-निवासी मनुष्य के लिए ऊर्ध्व है। भारत में सूर्यास्त की दिशा पश्चिम है, तो उसी क्षण अमेरिका निवासी सूर्योदय देखकर उसे पूर्व मानते हैं, जापान के निवासी उसी समय उस दिशा को मध्य रात्रि तथा इंगलंड के निवासी दिन का दोपहर मानते हैं। पृथ्वी अपने धुरे पर निरंतर घूमती रहती है। एक स्थान का मनुष्य सूर्योदय की दिशा को पूर्व मानता है; पृथ्वी के आवर्तन से जब सूर्यास्त होता है तो वह उसी सूर्य की दिशा को पश्चिम समझता है। अतः दिशाएँ कल्पित है (ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्य-गुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः। गीता १४।१८। सर्वमूर्ध्वमुखं दद्यात् विल्वपत्रन्त्वधोमुखम्--तिथि-चिन्तामणि ७।१२)।

अधस्तक् (स्त्री०) चमड़े के नीचे वाली त्वचा।

अधस्तन (वि०) नीचे का, निम्नस्थ।

अधस्तात् (क्रि० वि०) नीचे की ओर।

अधस्त्वक् (स्त्री०) चमड़े के नीचे वाली झिल्ली।

अधा (अव्य०) अभी, तब, इसलिए, और।

अधामार्गवः (पुं०) अपामार्ग, चिचिड़ा।

अधारणक (वि०) धारण करने के अयोग्य, जो लाभदायक न हो, अहितकर।

अधार्मिक (वि०) जो धार्मिक न हो, अधर्मिष्ठ, जो सत्य न हो, दुष्ट, पापी, चोर, डाकू, हत्यारा, कटुवचन से दूसरों का दिल दुखाने वाला।

अधार्य (वि०) धारण करने, ले जाने या रखने के अयोग्य ; जिसे धारण करना, रखना या ले जाना उचित न हो।

अधि (अव्य०) ऊपर से, बाद में, लिए, बदले में।

अधि + अव् + सो (पर०) (अध्यवस्यति)—अध्यवसाय करना, प्रयत्न करना, निश्चय करना, उत्साहित करना।

अधि + अस् (पर०) (अध्यस्यति) अध्यास करना, एक का धर्म दूसरे पर आरोपित करना (अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति—ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य १।१।१)।

अधि + आस् (आत्म०) (अध्यास्ते) बैठना, अधिष्ठित होना।

अधि + उक्ष् (पर० अध्युक्षति,) चारों ओर जलबिंदु छिड़कना।

अधि + इष् (आ०) (अध्येष्यते) बार बार पढ़ना, घोखना, रटना (अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः —गीता १८।७०)।

अधिक (वि०) बहुत, विशेष, प्रचुर, शेष, अवशिष्ट।

अपने चारों ओर हम ज्ञानेन्द्रियों से जिन विषयों का अनुभव करते हैं उनसे बहुत अधिक विषय संसार में हैं। हमारा यह दृश्यमान ब्रह्मांड मानो सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का एक अंडा है। मछली, पक्षी, सरिसृप आदि अंडा देते हैं। हर एक अंडे के भीतर उसी जाति का एक एक जीव रहता है। वह जीव उसी अंडे के भीतर चलता फिरता रहता है और समझता है कि संसार के सब कुछ इसी अंडे के भीतर ही हैं, इनके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। ब्रह्मा के अंडे के भीतर रहने वाले हम भी समझते हैं कि इस परि-दृश्यमान संसार के बाहर और कुछ भी नहीं है। वह बिल्कुल अज्ञान है।

पाश्चात्त्य मनीषी शेक्सपीयर ने हैम्लेट ग्रंथ में नायक हैम्लेट के मुख से कहलाता था—"स्वर्ग और पृथ्वी में ऐसे अनेक अधिक वस्तुएँ हैं, हे होरेशियो, जिनके विषय में तुम्हारे दर्शनशास्त्र ने स्वप्न में भी नहीं सोचा है।"

"अपने दोषों तथा पराये गुणों के विषय में अधिक सोचो और अपने गुणों तथा पराये दोषों के बारे में अल्प सोचो"—यह महाजन-वाक्य है। अपने दोषों के विषय में अधिक सोचने से वे हानिकारक रूप से सदा सामने आते हैं। फलस्वरूप उन्हें दूर करने की चेष्टा होती है। ऐसी चेष्टा निरंतर करते रहने से वे दोष दूर हो जायेंगे ; मनुष्य निर्दोष हो जायगा। पराये दोषों के विषय में अधिक सोचने से वे दोष अपने मन में व्याप्त हो जायेंगे। फलस्वरूप वह सोचने वाला ही दोषमय हो जायगा। अपने गुणों के विषय में अधिक सोचने से अहंकार बढ़ जाता है।

अहंकार पतन का मूल है (अहङ्कारः पतनायते । अहङ्कारः देखिए)। पराये गुणों के बारे में सोचते रहने से वे गुण अपने भीतर आ जाते हैं। फलस्वरूप वह सोचने वाला परम गुणवान हो जायगा। उत्तम व्यक्ति गुणवान होकर प्रशंसा पाने की इच्छा रखते हैं। प्रशंसा पाना ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिए (उद्देश्यः देखिए)।

अधिकदन्तः (पुं०) एक दाँत के ऊपर जमने वाला दूसरा दाँत।

अधिकदिनम् (न०) बढ़ी हुई तिथि।

अधिकमासः (पुं०) बढ़ा हुआ महीना, मलमास।

अधिकरणओजकः (पुं०) निर्णायक, न्यायकर्ता।

अधिकरणम् (न०) न्यायालय, अदालत, शासनकार्य का विभाग, संबंध, व्याकरण-विषयक संबंध, मीमांसा और वेदांत के अनुसार वह प्रकरण जिसमें किसी सिद्धांत की विवेचना की जाय। इसमें पाँच अवयव होते हैं। यथा—विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और निर्णय।

अधिकरणमण्डपः (पुं०) न्यायालय, अदालत।

अधिकरणशुल्कः (पुं०) न्यायालय आदि में प्रार्थना-पत्र देने का शुल्क।

अधिकरणसिद्धान्तः (पुं०) वह सिद्धांत जिसके सिद्ध होने से अन्य सिद्धांत भी स्वयं सिद्ध हो जायँ।

अधिकरणिकः (पुं०) न्यायाधीश, निरीक्षणकर्ता।

अधिकर्मन् (पुं०) निरीक्षण, जाँच-पड़ताल।

अधिकर्मिकः (पुं०) हाट या बाजार का निरीक्षक।

अधिकवृत्तिः (स्त्री०) अधिक देशों में स्थिति। जो अधिक देश में रहता है वही अल्प देश में रहने वालों का आधार होता है जैसे पृथ्वी—मनुष्य, पशु, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि का आधार है। न्यायशास्त्र में मनुष्यत्व जाति को सारे मनुष्यों के ऊपर माना जाता है। इसी प्रकार वे समस्त द्रव्यों, गुणों और कर्मों के ऊपर सत्ता रूप जाति मानते हैं। यह उनकी उल्टी बुद्धि है। यथार्थ में वेदांत की दृष्टि से अधिक देश में रहने के कारण सत्ता ही द्रव्य गुण आदि का आधार है (सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वाद्धर्मि, व्योमवस्तु धर्मता—पंचदशी २।६८)।

वेदांत-विचार के पूर्व अन्य दार्शनिकों तथा साधारण मनुष्यों को जो वस्तु जैसे प्रतीत होती है विचार करने पर उसका स्वरूप ही उलट जाता है (एवं श्रुतिविचारात्प्राक् यथा यद्वस्तु भासते, विचारेण विपर्येति पंचदशी २।६६)। इस कारण संसार का यर्थार्थ तत्त्व जानने के लिए प्रत्येक बुद्धिमान मनुष्य को वेदांत-विचार करना आवश्यक है जिससे संसार का यथार्थ स्वरूप जाना जा सके।

इस प्रतीयमान सृष्टिप्रपंच के पूर्व एकमात्र अद्वितीय सत् था (सदेव सौम्य इदमग्र आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्—छान्दोग्य ६।२।१)। उसी सत्ता पर माया की कल्पना से यह संसार भासमान दिखाई पड़ता है। अतः सत्ता ही जगत् का आधार है। अधिक देश वृत्तित्व ही इसमें कारण है।

अधिकाम (वि०) उग्र आकांक्षाओं वाला, क्रोधाविष्ट, उत्तेजित, कामोद्दीपक।

अधिकायस् (न०) किसी कार्य के लिए निर्धारित वयस से अधिक वयस।

अधिकारः (पुं०) कार्यभार, प्रभुत्व, शासन, क्षमता, योग्यता, परिचय, प्रकरण।

अधिकारविधि (स्त्री०) मीमांसा की वह विधि जिससे यह जाना जाय कि किस फल के लिए कौन सा यज्ञानुष्ठान करना चाहिए।

अधिकारिन् (वि०) अधिकारयुक्त, अधिकारी, योग्य, उपयुक्त (अनुबन्धचतुष्टयम् देखिए)।

जिस कार्य में जिसका अधिकार है वह उस कार्य का अधिकारी है। वेदांत-शास्त्र के अध्ययन के अधिकारी के सम्बन्ध में श्रीमत्सदानन्द-योगीन्द्र ने "वेदान्तसार' ग्रंथ में लिखा है – अधिकारी तु विधिवद् अधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन्। नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता। अर्थात् विधिपूर्वक वेदवेदांग अध्ययन करके साधारण रूप से समस्त वेदार्थ जानकर, काम्य और निषिद्ध कर्मों को छोड़ कर, नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त तथा उपासना का अनुष्ठान करके, अन्तःकरण नितान्त निर्मल होने तथा साधनचतुष्टय-सम्पन्न होने पर, वह व्यक्ति वेदांत का अधिकारी होता है। साधनचतुष्टय ये हैं—नित्यानित्यवस्तुविवेक (नित्य और अनित्य वस्तुओं का पृथक ज्ञान), इहामुत्रार्थफलभोग-विराग (इसलोक तथा परलोक के समस्त सुखभोगों में वैराग्य), शमदमादिषट्सम्पत्ति (शम, मन का संयम,

दम इन्द्रियों का संयम), उपरति (विषयों में मन का न जाना), तितिक्षा (सुखदुःखादि की सहनशीलता), समाधान (समाधि) और गुरुवेदांतवाक्यों में श्रद्धा और मुमुक्षुत्व (मुक्ति के लिए तीव्र इच्छा)।

आगे ग्रंथकार ने इतना साधन-सम्पन्न होना कठिन समझकर अधिकार को कुछ सुगम कर दिया--साधन-चतुष्टयसम्पत्त्यभावेऽपि गृहस्थानाम् आत्मानात्मविवेक-विचारे क्रियमाणे सति तेषां प्रत्यवायो नास्ति, किन्त्वतीव श्रेयो भवति अर्थात् साधन-चतुष्टय के न होने पर भी यदि गृहस्थ लोग आत्मा और अनात्मा का विचार करें तो उन्हें पाप नहीं लगेगा, बल्कि उनका अत्यन्त कल्याण होगा।

अधिकारिभेदः (पुं०) अधिकारियों का पार्थक्य, विभिन्न कार्यों में विभिन्न प्रकार के अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं, जैसे राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, राज्यपाल, जिलाधीश, आरक्षी आदि। ककहरा सीखनेवाले शिशुको बी. ए., एम. ए. कक्षा का पाठ नहीं पढ़ाया जा सकता। धार्मिक क्षेत्रों में भी अधिकारीभेद रखना होता है। अपढ़ और अल्पबुद्धि व्यक्ति के लिए कहा गया कि तुम नहा कर रोज एक लोटा जल पीपल के पेड़ में डाल दिया करो। इतना तो वह कर सकता है। यदि उससे कहा जाय कि तुम मन्दिर में बैठ कर शिव का ध्यान करो तो वह उसे नहीं कर सकेगा। उससे कुछ उन्नत व्यक्ति के लिए पूजा-पाठ की व्यवस्था दी जाती है। उससे भी उन्नत अधिकारी के लिए जप, ध्यान, उपासना आदि की व्यवस्था है तथा सर्वोच्च अधिकारी के लिए ब्रह्मविचारणा विहित है।

जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान आदि में सबके लिए एक ही प्रार्थना का विधान है। किन्तु हमारे ऋषियों ने विभिन्न प्रकार के मनुष्यों की मनोवृत्तियाँ देखकर धर्म-क्षेत्रों में भी अधिकारी-भेद की व्यवस्था दी है, जो परम कल्याणजनक है।

अधिकारी (पुं०) पदाधिकारी, स्वत्वाधिकारी, स्वामी।

अधिकृत (वि०) अधिकार में लाया हुआ, दखल किया हुआ।

अधिकृतः (पुं०) अध्यक्ष, अधिकारी।

अधिकृतिः (स्त्री०) स्वत्व, अधिकार।

अधिकृत्य (अव्य०) सम्बन्ध से, हवाला-सहित, संदर्भ-समेत।

अधिक्रमः (पुं०), अधिक्रमणम् (न०) आरोहण, आक्रमण, उच्च पदाधिकार ग्रहण।

अधिक्षेपः (पुं०) कुवाच्य, व्यंग, विसर्जन।

अधिगत (वि०) अधिकार में लिया हुआ, जाना हुआ, ज्ञात, पढ़ा हुआ, पठित।

अधिगम् (उभ.) (अधिगच्छति, अधिगम्यते) प्राप्त करना (आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति —गीता २।६४), ज्ञानलाभ करना (अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते--मुण्डक १।५)।

अधिगमः (पुं०), अधिगमनम् (न०) प्राप्ति, ज्ञान-लाभ, स्वीकृति, संसर्ग, व्यापारिक सारणी।

अधिगुण (वि०), अक्लिष्टगुण-विशिष्ट (याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा--मेघदूत ६), गुणवान भलीभाँति ग्रंथित।

अधिगुप्त (वि०) रक्षित।

अधिगृहम् (अव्य०) मकान में, घर में।

अधिगृहीत (वि०) प्रयत्न द्वारा प्राप्त, अर्जित, लब्ध।

अधिग्रहणम् (न०) उपार्जन, अर्जन, प्राप्त करना, कामाना।

अधिग्राहक (वि०) प्राप्त करने वाला।

अधीग्रिवम् (अव्य०) गरदन पर, गरदन के ऊपर।

अधिचरणम् (न०) किसी वस्तु के ऊपर टहलना या चलना।

अधिजननम् (न०) उत्पत्ति, उत्पन्न होने की अवस्था।

अधिजानु (अव्य०) घुटनों पर।

अधिजिह्वः (पुं०) साँप, सर्प।

अधिजिह्वा, अधिजिह्विका (स्त्री०) उपजिह्वा, गले की घंटी, जीभ के ऊपर होनेवाली एक प्रकार की सूजन।

अधिज्य (वि०) धनुष का प्रत्यंचा चढ़ाया हुआ।

अधित्यका (स्त्री०) पर्वत के उपर की समतल भूमि।

अधिदन्तः (पुं०) एक दाँत के ऊपर जमने वाला दूसरा दाँत, अधिकदन्त।

अधिदार्व (वि०) काष्ठ का, लकड़ी का।

अधिदिनम् (न०) बढ़ी हुई तिथि, अधिक दिन।

अधिदेवः (पुं०), अधिदेवता (स्त्री०)पदार्थों के अधिष्ठाता देवता, कुलदेव, इष्टदेव।

अधिदैवम्, अधिदैवतम् (न०) किसी पदार्थ का अधिष्ठाता देवता।

अधिदैविक (वि०) देवता सम्बन्धी, सूक्ष्म।

अधिनाथः (पुं०) परब्रह्म, परमात्मा।

अधिनायः (पुं०) गंध, महक।

अधिनियमः (पुं०) राजनियम, विधि, कानून।

अधिपः, अधिपतिः (पुं०) स्वामी, प्रभु, शासक।

अधिपत्नी (स्त्री०) स्वामिनी, शासिका।

अधिपत्रम् (न०) पकड़ने का परवाना, वारंट।

अधिपुरुषः (पुं०) परमात्मा, ब्रह्म।

अधिप्रज (वि०) बहुत संतान वाला।

अधिप्रधाव (अ०) जल्दी से पहुँचना।

अधिप्रसू (स०) दूर से भेजना।

अधिबाध् (स०) उद्विग्न करना, खिजलाना, कष्ट देना।

अधिब्रू (स०) पक्ष में बोलना।

अधिभुज् (स०) आनंद देना।

अधिभूः (पुं०) स्वामी, मालिक, प्रभु।

अधिभूतम् (न०) परमात्मा, परब्रह्म।

अधिभोगः (पुं०) अधिकार-पूर्वक भोग, दखल, अधिकार।

अधिमन्थित (वि०) 'आँख आना या आँख उठना' नामक रोग से पीड़ित।

अधिमात्र (वि०) अत्यधिक, अपरिमित।

अधिमासः (पुं०) अधिकमास, मलमास।

अधिमुक्ति (स्त्री०) विश्वास।

अधियज्ञः (पुं०) प्रधान यज्ञ, परमेश्वर (अधियज्ञोऽहमेवात्र–गीता ८।४)।

आधियत् (आत्म०) (आधियात्यते) पहुँचाना, मिलाना।

अधिरज्जु (वि०) रस्सी ले जाने वाला, बाँधने वाला।

अधिरथ (वि०) रथ पर आरूढ़।

अधिरथः (पुं०) सारथि, कर्ण के पिता का नाम।

यह कर्ण का पालक पिता था। क्षत्रिय होने पर भी सारथी का काम करने के कारण यह सूत अर्थात् सारथी के नाम से पुकारा जाता था। लोकभयवश कुन्ती ने कुमारी अवस्था में उत्पन्न अपने पुत्र कर्ण को जल में बहा दिया था। एक काठ के संदूक को जल के ऊपर बहता देख अधिरथ ने उसे जल से निकालकर खोला और देखा कि उसमें एक सुंदर नवजात शिशु है। उसने और उसकी स्त्री राधा ने उस बच्चे का यत्न से पालन-पोषण किया। यही बालक बाद में कर्ण के नाम से परिचित हुआ। अधिरथ की स्त्री राधा के द्वारा पालित होने के कारण कर्ण का दूसरा नाम राधेय था। कुंती के द्वारा त्यक्त पुत्र कर्ण का उसने पुत्रवत् पालन किया था।

अधिराजः (पुं०) बादशाह, सम्राट्।

अधिराज्यम् (न०) साम्राज्य, चक्रवर्ती राज्य।

अधिरुह् (प०) (अधिरोहति) आरोहण करना, चढ़ना (मूर्धानमधिरोहति–माघ० २।४६)।

अधिरूढ़ (वि०) चढ़ा हुआ, आरूढ़, बढ़ा हुआ, उन्नत।

अधिरोहः (पुं०) हाथी का सवार, चढ़ाव।

अधिरोहणम् (न०) चढ़ना, सवार होना, ऊपर उठना।

अधिरोहिणी (स्त्री०) सीढ़ी, नसेनी।

अधिरोहिन् (वि०) चढ़ा हुआ, आरूढ़।

अधिलोकम् (न०) विश्व में, संसार में।

अधिवक्तृ (वि०) अभिभाषक, विधिवक्ता।

अधिवक्तृ (पुं०) अतिवक्ता, वकील। किसी वादी के पक्ष में न्यायालय में प्रतिपादक विधिज्ञ व्यक्ति वकील कहा जाता है। ये वकील दो श्रेणी के हैं—साधारण वकील निम्न न्यायालयों में ही प्रतिपादन कर सकते हैं। परंतु अधिवक्ता उच्चतम न्यायालय के द्वारा नामांकित होने के कारण देश के किसी भी न्यायालय के समक्ष प्रतिपादन कर सकते हैं। महाधिवक्ता शासकीय पक्ष का प्रतिपादन करने के लिए श्रेष्ठतम अधिकारी हैं।

अधिवचनम् (न०) किसी के पक्ष में भाषण, वकालत, उपाधि, नाम।

अधि+वस् (पर०) (अधिवसति) वास करना, रहना, टिकना।

अधि+वास् (पर०) (अधिवासयति) सुगंधित करना, सुवासित करना।

अधिवासः (पुं०) निवास स्थान, किसी यज्ञानुष्ठान के आरंभ में किसी प्रतिमा की प्रतिष्ठान-क्रिया, इत्यादि का

लेपन, अंगा, मनु के अनुसार स्त्रियों के छः दोषों में से एक, अधिक समय तक रुकाव।

अधिवासनम् (न०) सुगंधित द्रव्य से सुवासित करने की क्रिया, किसी देवता की मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा करने की क्रिया।

अधिविन्ना (स्त्री०) पति द्वारा परित्यक्ता स्त्री।

अधिवेतृ (पुं०) वह पति जिसने अपनी पहली पत्नी को त्याग दी हो।

अधिवेदः (पुं०) अतिरिक्त पत्नी रखने का भाव।

अधिवेदनम् (न०) एक स्त्री के रहते दूसरी स्त्री से विवाह संबंध स्थापित करने की क्रिया।

अधि + शी (उभ०) (अधिशेते) अतिक्रम करना, लंघन करना, अधिक स्थान में रहना।

अधिश्रयः (पुं०) आधार, पात्र, उबालने की क्रिया।

अधिश्रयणम् (न०) उबालने की क्रिया।

अधिश्रयश्री (स्त्री०) अँगीठी, चूल्हा।

अधिश्रनी (वि०) अत्यधिक धनवान्, सर्वोत्कृष्ट।

अधिष्ठातृ (वि०) अधिष्ठाता, किसी आधार पर उपविष्ट।

अधिष्ठानम् (न०) स्थिति, आधार, स्थान, निवास-स्थान, राजसत्ता, राज्याधिकार, पहिया, निर्दिष्ट नियम, पूर्वदृष्टांत, मंगलकामना।

वेदांत में मिथ्या ज्ञान या अध्यास का आश्रय; जैसे रज्जु में सर्पभ्रम के स्थल में रज्जु अधिष्ठान है। उसी प्रकार स्वाप्निक जगत का अधिष्ठान मन है तथा माया-कल्पित सृष्टि का अधिष्ठान ब्रह्म हैं। अधिष्ठान-रहित भ्रम नहीं होता (केवलो निरधिष्ठानविभ्रन्तेः स्वाप्यसिद्धितः--पंच ७५।६)। जब जीव अधिष्ठानांश के साथ भ्रमांश शरीरादि का अवलम्बन करता है तब वह 'मैं संसारी हूँ' ऐसा अभिमान करता है (अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशमवलम्बते। यदा तदाहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते-पंच ६।७)। भ्रमांश का परित्याग करके जब अधिष्ठान की प्रधानता हो तो मैं चिदात्मा हूँ, असंग हूँ ऐसा ज्ञान होता है (भ्रमांशस्य तिरस्काराद् अधिष्ठानप्रधानता यदा तदा चिदात्माहमसङ्गोऽस्मीति बुध्यते-पंच ६।८)।

स्थूल, सूक्ष्म, कारण इन तीनों शरीरों का अधिष्ठान कूटस्थ चेतन आत्मा है। पक्के लोहे की निहाई पर से पीट-पीट कर सोनार और लोहार अनेक अलंकार और लौहास्त्र तैयार करते हैं, परंतु निहाई में कोई परिवर्तन नहीं होता। उसी प्रकार कूटस्थ आत्मा पर अगणित शरीर उत्पन्न होते रहने पर भी उसमें कोई भी परिवर्तन नहीं होता (अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः। कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते--पंच ६।२२)।

अधिष्ठित (वि०) स्थित, स्थापित, बसा हुआ, नियुक्त, निर्वाचित, आतंकित, रक्षित।

अधि + स्था (प०) (अधितिष्ठति) अधिष्ठित होना, रहना, पराजित होना, प्रभाव डालना।

अधिहस्ति (अव्य०) हाथी पर, हाथी के ऊपर।

अधी (आ०) (अध्यति, अध्यीयते। चित्त का दूसरी ओर लगना, देखना, समझना, जानना, पढ़ना, आदेश देना।

अधीक्षकः (पुं०) अध्यक्ष, परीक्षक, तत्त्वावधायक।

अधीत वि०) पठित (भगवद्गीता किंचिदधीता गंगाजललवकणिका पीता सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा, क्रियते तस्य यमेन न चर्चाम्-मोहमुद्गर १०)।

अधीति (स्त्री०) अध्ययन, पठन-पाठन।

अधीतिन् (वि०) अध्ययन किया हुआ, पठित।

अधीन (वि०) आश्रित, वशीभूत।

अधीनता (स्त्री०) परवशता, पराधीनता, अस्वतंत्रता। स्वतंत्रता उत्तम गुण है (सर्वं परवशं दुःखम् सर्वमात्मवशं सुखम् (किंतु पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में अधीनता आवश्यक है)।

परिवार में गृहपति के अधीन अन्य लोगों को रहना पड़ता है और तभी परिवार में शांति तथा शृंखला बनी रहती है। पुत्र पिता का कहना न माने, या पत्नी पति के आदेश की अवहेलना करे तो पारिवारिक जीवन में अशांति उत्पन्न होती है। यों तो परिवार के हर एक व्यक्ति को बहुत से विषयों में अपने इच्छानुसार काम करने की कुछ सीमा तक स्ववंत्रता है ही। लड़के पढ़ते हैं, पाठशाला जाते हैं, मैदान में जाकर खेलते हैं, अपने मित्रों से पढ़ाई के विषय में वार्तालाप करते हैं, कहानियाँ कहते हैं, गल्प सुनते हैं इत्यादि अनेक कार्य करते रहते हैं। पत्नी घर के कामकाजों में स्वतंत्र हैं। क्या रसोई बनेगी, बाजार से कौन-कौन सौदा लाना होगा, कौन-कौन से कपड़े धोबी

को दिये जायँगे, घर की सफाई किस तरह रखनी होगी, बच्चों की देखरेख, लालन-पालन, स्नान-भोजन आदि बहुत से कामों में पत्नी की स्वतंत्रता है अर्थात् वह घर की रानी हैं।

तिस पर भी भारतीय संस्कृति के अनुसार स्त्रियों को पति, श्वसुर और सास की अधीनता में रहना ही पड़ता है। स्त्रियों में शक्ति अल्प है। एकदम स्वतंत्र कर देने से वे अपनी रक्षा नहीं कर सकतीं। इसी कारण ऋषियों ने आदेश दिया है कि पिता कन्या की कुमारी अवस्था में रक्षा करें, यौवन में पति पत्नी की रक्षा करें और वृद्धावस्था में पुत्र माता की रक्षा करें, किसी अवस्था में भी स्त्री स्वतंत्र रहने योग्य नहीं है (पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति--मनु--९।३)। बाल्यकाल में कन्या पिता के वश में रहे, यौवन में पति के और पति के दिवंगत होने पर पुत्रों के वश में रहे, स्त्री कभी स्वतंत्र न रहे (बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने। पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतंत्रताम्--मनु ५।१४८)।

हमारे हिंदू-समाज में अनुभवी वृद्ध स्त्रियों का स्वतंत्र होना पसंद नहीं करते। कारण यह है कि उन्होंने अपने लंबे जीवन में अनेक स्वतंत्र स्त्रियों की दुर्नीति देखी है।

कुछ लोग स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देना चाहते हैं। परंतु प्रकृति ने वैसा अधिकार नहीं दिया है। एक स्त्री को पुरुष के द्वारा गर्भाधान हो जाने पर साल भर तक पुरुष की आवश्यकता नहीं पड़ती। नौ-दस महीनों में प्रसव हो जाने पर भी दो-तीन महीनों तक पुनः गर्भधारण की योग्यता उसमें नहीं रहती। परंतु पुरुष चाहे तो प्रतिदिन एक-एक ऋतु-मती स्त्री का गर्भाधान करते रहकर साल भर में तीन सौ पैसंठ स्त्रियों से संतान उत्पन्न कर सृष्टि का विस्तार करने की शक्ति रखता है। खेल में, पढ़ाई में युद्ध करने में पुरुष स्त्रियों से कहीं आगे रहते हैं। युद्ध-क्षेत्र में अत्यधिक साहस और वीरता रहने के कारण पुरुष ही लड़कर शत्रुओं को भगा देते हैं या वीर गति प्राप्त करते हैं।

हमारे ऋषियों ने स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं दिया था। इसके विरुद्ध आजकल कड़ी समालोचनाएँ होती हैं। परंतु इस प्रकार के नियम के मूल में गूढ़ कारण था, स्त्रियों को पति-सेवा, बच्चों का लालन-पालन, गोधन का परिरक्षण तथा गृहस्थी के अनेक झंझटों में व्याप्त रहने के कारण उन्हें पढ़ने का अवकाश बहुत कम मिलता है। इस कारण संपूर्ण वेद और अन्यान्य शास्त्र पढ़ने का अवकाश ही उन्हें नहीं मिलता। दो-चार या सौ-दो-सौ मंत्र या श्लोक सीख लेने पर भी वेद-शास्त्र का पूर्ण आशय नहीं ज्ञात हो सकता। अल्प विद्या का फल अनर्थकारी होता है। वेद अल्प-श्रुत व्यक्ति से डरता है, क्योंकि उन्हें भय है कि 'वह मुझे मारेगा' अर्थात् अर्थ का अनर्थ कर डालेगा, जिससे वेद की हत्या के समान हो जायगा (बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदः, मामयं प्रहरिष्यति—महाभारत शांतिपर्व)। एकबार देवराज इंद्र को मारने के लिए वृत्रासुर ने यज्ञ किया था। उसके गुरु थे शुक्राचार्य। उन्होंने सोचा कि देवराज का निधन हो जाने से असुरों का बल बढ़ेगा, जिससे संसार में पाप व्याप्त हो जायगा। इसलिए वृत्रासुर के निधन के उद्देश्य से उसके द्वारा स्वाहा मंत्र का उलट कर उच्चारण कराया। जिससे वृत्रासुर ही भस्म हो गया (मन्त्रोहीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्-कर्मप्रदीप ४२)। "इन्द्रशत्रवे स्वाहा" इस मंत्र के इंद्र-शत्रु शब्द में प्रथमांश पर जोर देकर, उच्चारण करने से इंद्र रूप जो अपना शत्रु है (इन्द्र एव शत्रुः) वही भस्म हो जाता और दूसरे अंश में जोर देकर उच्चारण करने पर इंद्र का शत्रु (इंद्रस्य शत्रुः) जो वह स्वयम् ही भस्मीभूत हो गया। केवल उच्चारण के हेर-फेर से अर्थ में भारी अनर्थ हो गया। अल्पश्रुत होने के कारण असुर स्वर और वर्ण का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं कर सका। फलस्वरूप वही नष्ट हो गया। हमारे आसपास में ऐसे अनेक अल्पविद्य व्यक्ति हैं जो उपनिषद्, गीता या वेदांत, सांख्य आदि शास्त्रों के दो-चार श्लोक सीखकर धर्मसंबंधी व्यवस्था देने लगते हैं, जिसका फल प्रायः विपरीत ही होता है। किसी भी शास्त्र का आद्योपांत पूर्णतया अध्ययन, मनन किये बिना उस शास्त्र का तात्पर्य समझ में नहीं आ सकता। गीता का तात्पर्य जानने के लिए तो उपनिषद्, सांख्य, वेदांत, योग आदि अनेक शास्त्रों का पूर्णज्ञान आवश्यक है।

इन्हीं कारणों से साधारण स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं दिया गया था, परंतु गार्गी जैसी चिरकुमारी, विदुषी वेद, वेदांत, वेदांग में पारंगत हुई थीं। बृहदा-

रण्यक उपनिषद् के सर्वप्रधान ऋषि याज्ञवल्क्य से गार्गी ने महाराजा जनक की भरी सभा में शास्त्रार्थ किया था और किसी स्थल पर आकर याज्ञवल्क्य को नीचा देखना पड़ा था। उससे वह क्रोधित होकर बोल उठे —"अगर तुमने ऐसे ऐसे शास्त्र-बहिर्भूत प्रश्न किये तो तुम्हारा मुण्ड गिर पड़ेगा। (ते मूर्धा व्यपसद्— बृहदारण्यक ३।६।१)। परंतु गार्गी महीयसी नारी थीं। उन्होंने महर्षि याज्ञवल्क्य को विजयी घोषित किया। इस प्रकार यदि कोई स्त्री विवाह न करके आजीवन शास्त्राध्ययन करती रहे तो उनको रोकनेवाला कोई विधान नहीं रह सकता।

सामाजिक जीवन में भी अधीनता आवश्यक है। मनुष्य समाजबद्ध जीव है। वृद्धों ने हर एक समाज के लिए कुछ नियम बना दिये हैं। जैसे—सब लोग शांति से रहें, एक दूसरे को हानि न पहुँचाये, दूसरे की चीज कोई न चुरा ले, मार-पीट या हत्या न करे, परस्त्रियों पर कुदृष्टि न डाले, छोटी लड़कियों को कन्या, बराबर उमर वालियों को भगिनी और अधिक उमरवालियों को माता समझे (मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्। आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पण्डितः—मित्रलाभ ५५); कोई झूठ न बोले, दान ग्रहण न करे (अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः—योगसूत्र २।३०)। एक दूसरे को तन, मन, धन से सहायता दे, बालक-बालिकाओं को उत्ताम शिक्षा देने का प्रबंध करे, चिकित्सक हो तो अल्प पारिश्रमिक लेकर रोगी की सुचिकित्सा करे, संपन्न व्यक्ति लोगों को हित के लिए कूआँ बनवाँ दे, सड़क बनावे, प्रकाश का प्रबंध करे, दुष्टों का दमन करे, गरीबों के लिए जीविका का प्रबंध करे, ब्राह्मण लोग सूर्योदय से सूर्यास्त तक एक दिन में दो बार अन्न भोजन न करे (नैकादित्ये द्विभोजनम्); विधवाएँ आमिष भक्षण न करें तथा दिन-रात में एक बार अन्न भोजन करें, उच्च वर्ण की विधवाएँ पुनर्विवाह न करें इत्यादि अनेक प्रकार के सामाजिक नयम हैं जिनका पालन करना प्रत्येक समाज के लोगों के लिए अनिवार्य है।

इन नियमों का तोड़ने वाला समाज में सुख से नहीं रह सकता।

राष्ट्रीय जीवन में भी कुछ अंशों में राष्ट्रनायकों की अधीनता, राष्ट्रनायकों द्वारा गठित नियमों की पाबंदी रखनी ही पड़ती है। जैसे—राष्ट्रपति को राज्य का प्रधान नायक मान लेना, राज्यपाल, जिलाधीश, आरक्षक आदि का शासन स्वीकार कर लेना, उन अधिकारियों का विरुद्धाचरण न करना, अपने से भिन्न दूसरे समाज के लोगों से झगड़ा या युद्ध न करना, चोरी, डकैती, राहजनी न करना, बिना राजाज्ञा पाये विदेशों से कोई धन या सामान न मंगाना और न भेजना तथा किसी प्रकार का संबंध न स्थापित करना आदि अनेक नियम पालने पड़ते हैं।

राज्य के सैनिकों को सेनापति की अधीनता पूर्णतया स्वीकार करनी ही पड़ती है। हर एक सैनिक अगर मनमाना काम करने लग जाय तो राज्य की रक्षा नहीं हो सकती।

इस कारण अधीनता एकदम निंदित नही हैं। अधीनता संयम सिखाती है। संयत मनुष्य ही सुखी हो सकता है तथा परिवार, समाज और राष्ट्र के अन्य लोगों को, जिनके वह संपर्क में आता है सबको, सुखी बना सकता है।

अधीयानः (पुं०) वह छात्र जो वेद-पाठी हो, विद्यार्थी।

अधीर (वि०) घबड़ाया हुआ, व्याकुल, चंचल, उत्तोजित, भीरु. दुर्बलचित्त वाला, मूर्ख, गतिशील, अस्थिर।

अधीरा (स्त्री०) बिजली, विद्युत्, कलहपरायणा स्त्री।

अधीवासः (पुं०) चोंगा, अंगा।

अधीवासस् (अव्य०) पोशाक के ऊपर।

अधीशः (पुं०) स्वामी, प्रभु, मालिक।

अधीश्वरः (पुं०) स्वामी, राजा।

अधीष्ट (वि०) माँगा हुआ, प्रार्थित, अवैतनिक।

अधीष्टः (पुं०) अवैतनिक पद या कार्य।

अधुना (अव्य०) इस समय पर, अब, अभी।

अधुनातन (वि०) आधुनिक, अर्वाचीन।

अधूमकः (पुं०) ऐसी अग्नि जिसमें धूआँ न हो।

अधृत (वि०) न रोका हुआ, जो वश में न किया गया हो, व्यग्र।

अधृतिः (स्त्री०) धृति का अभाव, आतुरता, अधीरता, चंचलता, व्यग्रता।

अधृष्ट (वि०) अविनीत, जो साहसी न हो, अजेय।

अधृष्य (वि०) जिसके पास कोई पहुँच न सके, दुर्जेय, गर्वयुक्त, लाजयुक्त।

अधृष्या (स्त्री०) एक नदी।

अधेनु (वि०) दुग्ध न देने वाली।

अधैर्य (वि०) जिसमें धैर्य न हो, अनियंत्रित।

अधैर्यम् (न०) धैर्य का अभाव, अनुत्तेजना, अनियंत्रण।

अधोक्षजः (पुं०) विष्णु।

अधोगतिः (पुं०), अधोगमनम् (न०) निम्नगमन, निम्नपात।

अधोगामिन् (वि०) नीचे जाने वाला पतित होने वाला।

अधोऽङ्गम् (न०) मलद्वार, गुदा।

अधोजानु (अव्य०) घुटने के नीचे।

अधोजिह्विका (स्त्री०) उपजिह्वा, गले की घंटी।

अधोदिश् (स्त्री०) दक्षिण दिशा।

अधोद्वारम् (न०) गुदा, मलद्वार।

अधोभक्तम् (न०) औषधि की वह खुराक जो भोजन के पश्चात् ली जाती है।

अधोभागः (पुं०) नीचे का भाग; नीचे का लोक।

अधोभुवनम् (न०) नीचे का लोक, पाताल।

अधोभूमि (स्त्री०) नीचे की भूमि, पहाड़ी के नीचे की जमीन।

अधोमर्मन् (न०) गुदा, अधोद्वार, मलद्वार।

अधोमुख (वि०) जिसका मुख नीचे की ओर हो, नीचे को मुख किया हुआ।

अधोमूल्यनम् (न०) अल्प मूल्यावधारण, कम दाम लगाना।

अधोरक्तपित्तम् (न०) मूत्राशय और मलद्वार से रक्त प्रवाहित होने वाला रोग, रक्तार्श।

अधोलम्बः (पुं०) सीधी खड़ी रेखा, सीसे का गोला।

अधोवायु (पुं०) अपान वायु।

अधोवेक्षिन् (वि०) नीचे देखने वाला।

अध्यक्ष (वि०) इन्द्रियगोचर, दर्शनीय, व्यापक।

अध्यक्षः (पुं०) निरीक्षण करने वाला व्यक्ति किसी विषय का अधिकारी।

किसी संस्था का संचालक। आधुनिक विधानसभाओं का संचालक अधिकारी भी अध्यक्ष कहलाता है। सभा के अधिष्ठाता के रूप में उसकी स्थिति बहुत ही अधिकारपूर्ण, गौरवमयी और निष्पक्ष होती है। सभा का उचित नियंत्रण इसी के हाथ में रहता है और विचार-विमर्श को अग्रसर भी अध्यक्ष द्वारा ही होता है। बोलने वाले व्यक्तियों का नामांकन जो बोलना चाहते हैं, भाषणों के क्रम का निश्चय तथा औचित्य-विषय पर निर्णय तथा विनिर्णय का भी वह आश्रय लेता है। सदस्य-मण्डल के सभी प्रस्तावों की ग्राह्यता वह स्वीकार करता है। वह वाद-विवाद में असंगत तथा अवांछनीय बातों को रोक सकता है। सदस्यों के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों की सुरक्षा का भार भी वही वहन करता है। उसे दण्ड देने की भी शक्ति है, अधिकारों का भंग करने वाले सदस्य को वह दण्डित भी कर सकता है। वह विभिन्न संसदीय समितियों के कार्यों की देख-भाल करता है तथा सभी प्रकार की दलबन्दी से रहित होता है। सभा में अध्यक्ष सर्वोच्च अधिकारी होता है।

अध्यक्षरम् (न०) ओंकार।

अध्यग्नि (अव्य०) विवाह के समय हवन करने की अग्नि के ऊपर।

अध्यग्नीकृतम् (न०) विवाह के समय पत्नी को दी हुई सम्पत्ति।

अध्यधि (अव्य०) ऊपर, ऊँचे पर, ऊपर-ऊपर, वाद-वाद।

अध्यधिक्षेपः (पुं०) कुत्सित, कुवाच्य, उग्र भर्त्सना।

अध्यधीन (वि०) बिल्कुल अधीन, वशीभूत।

अध्ययः (पुं०) विद्या, स्मरणशक्ति।

अध्ययनम् (न०) पढ़ने की क्रिया, पठन-पाठन, ब्राह्मणों के षट् कर्मों में एक।

अध्यर्ध (वि०) जिसके पास अतिरिक्त आधा हो।

अध्यवसानम् (न०) उद्योग, चेष्टा, निश्चय।

अध्यवसायः (पुं०) निरंतर चेष्टा, संकल्प, किसी पदार्थ का ज्ञान होने के समय रजोगुण और तमोगुण की न्यूनता के कारण होनेवाला सत्वगुण का प्रादुर्भाव, उत्साह, निश्चय।

अध्यवसायिन् (न०) लगातार चेष्टा करने वाला व्यक्ति, उद्योगी, परिश्रमी।

अध्यवसिति (स्त्री०) चेष्टा, उद्योग।

अध्यवसो (प०), (अध्यवस्यति) प्रयत्न करना, पूरा करना, निश्चित करना, सोचना।

अध्यशनम् (न०) एक बार भोजन करने के पश्चात् तुरंत ही फिर खाना।

अध्यस् (पर) (अध्यस्यति) फेंकना, किसी के ऊपर रखना; आरोप या अध्यास करना, जैसे रज्जु में सर्प, सीप में रजत, मरुस्थल में जल का। ऐसे स्थलों में प्रत्यक्ष पदार्थों पर अप्रत्यक्ष पदार्थों का अध्यास होता है, किंतु अप्रत्यक्ष आकाश में भी अज्ञानी तल, मलिनता आदि का अध्यास करते हैं (अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनतादयस्यन्ति-–ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्यभूमिका)। इसी उदाहरण के अनुसार वेदांत के मत में अप्रत्यक्ष ब्रह्म में संसार का अध्यास हो सकता है (अध्यासः देखिए)।

अध्यस्थम् (न०) हड्डी का ऊपरी अंश या भाग।

अध्याक्रम (प०) आक्रमण या चढ़ाई करना।

अध्यात्म (वि०) आत्मा संबंधी।

अध्यात्मचेतस् (न०) विवेक-बुद्धि, आत्म-चिंता, अंतर्मुखी मनोवृत्ति।

चित्त प्रायः इंद्रिय-द्वारों से बाहरी वस्तुओं को ही ग्रहण करता है (परांचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्-–कठोपनिषद् २।१।१)। बाहरीविषय अगणित हैं इस कारण मनुष्य की बुद्धि सदा चंचल बनी रहती है (बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिननाम्––)। गीता २।४१) अल्पज्ञों की बुद्धियाँ अनेक शाखाओं में बँटी हुई हैं और अनंत प्रकार की हैं। उसमें कभी भी स्थिरता नहीं आ सकती। विचारवान् पुरुष इन्द्रियों सहित मन को विषयों से विमुख करके भीतर की ओर मोड़ देते हैं और एक मात्र आत्मा में निविष्ट करके रखें तो वह एक-बुद्धि तथा स्थिर हो जाता है (व्यवसात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन–गीता २।४१)। आत्मा को अधिकृत करके वर्तमान है इस कारण वह अध्यात्मचेत्ता कहलाता है।

इस प्रकार के आत्मध्यान-परायण व्यक्ति के बाहरी कर्म क्षीण हो जाते हैं और उनमें आसक्ति भी नहीं रहती। 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' जान कर वह ब्रह्म में सारे कर्मों की आहुति दे देते हैं। आत्मज्ञानी के लिए देहेंद्रियादि के द्वारा जो कुछ कर्म किये जाते हैं सभी का संन्यास हो जाता है (मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा–– गीता ३।३०)।

लोग ऐसे व्यक्ति को भले बुरे कर्म करते हुए देखते हैं और उन्हें भी अपने ही समान कर्म करने वाला समझते हैं। यथार्थ में ज्ञानी सदा अध्यात्मचेता रहने के कारण कोई कर्म नहीं करते और न किसी इन्द्रिय-कर्म के साथ उनका संस्पर्श ही होता है (नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यन् शृण्वन्·········गीता ५।८। निद्रा·भिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च। द्रष्टारश्चेत् कल्पयन्ति किं मे स्यादन्यकल्पना ? गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्याऽरोपितवह्निना नान्यारोपितसंसारधर्मानेवंमहं भजे–– पंचदशी १४।४५)।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् (न०) सदा आत्मज्ञान में स्थिति (आत्मानमधिकृत्य वर्तते इति अध्यात्मम्) जो ज्ञान आत्मा को अधिकार करके रहता है वही अध्यात्मज्ञान है। (आत्मज्ञानम् देखिए)।

व्यावहारिक कार्य करते समय आत्मज्ञान का बना रखना संभव नहीं है। तो भी एक बार आत्मस्वरूप का ज्ञान उत्पन्न होने पर आत्मज्ञानी शरीरयात्रानिर्वाह के लिए मन में हँसते हुए सांसारिक कार्य में लगे रहते हैं। इससे उनका आत्मज्ञान नष्ट नहीं होता। एक व्यक्ति अँगोछा कंधे पर रखकर भूलगया और सारा मकान ढूँढ़ डाला। उसे अंत में किसी ने आकर दिखा दिया कि अँगोछा तो तुम्हारे कंधे पर ही है। तब उसे अपना अँगोछा प्राप्त के समान प्रतीत हुआ। प्राप्त वस्तु पुनः प्राप्त की तरह होने पर आनंद हुआ। उसी प्रकार आत्मा अपना स्वरूप है। वह सदा ही प्राप्त है, परंतु सांसारिक विषयों में फँसे रहने के कारण मन उस बात को भूल बैठा। कोई ब्रह्मनिष्ठ गुरु आकर बता दें कि तुम सच्चिदानंद आत्मा हो तो उसे सदा प्राप्त आत्मा पुनः प्राप्त-सा प्रतीत होगा। अपने आनंद-मय स्वरूप में पहुँच जाने पर वह उसे कभी न भूलेगा। यही यथार्थ अध्यात्मज्ञाननित्यत्व है।

एक नटी सात घड़े ऊपर-ऊपर सिर पर रख कर ताल-लय के साथ नाच रही है। उसका ध्यान घड़ों में निविष्ट रहने के कारण घड़े नहीं गिरते। इसी प्रकार आत्मज्ञानी सारे विषयों से व्यवहार करते हुए भी आत्मनिष्ठा से च्युत नहीं होते। आत्मज्ञानी जानते हैं कि केवल आत्मा ही सत्य है और सारा संसार माया-कल्पित मिथ्या है (अद्वैत-वादः देखिए)। अतः शरीर, मन, बुद्धि आदि भी तो माया-कल्पित ही हैं। ऐसी स्थिति में व्यावहारिक संसार के भीतर यदि शरीर-मन बुद्धि शब्द स्पर्श-रूप-रस-गंध आदि विषयों में व्यापृत रहे तो उसमें नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव

आत्मा को कोई हानि नहीं है। आकाश में बादल घिर आये। सहस्त्रों मन जल की वर्षा हुई फिर बादल छँट गये, आकाश मेघ-निर्मुक्त हो गया। लोगों को मालूम हुआ कि आकाश में जल का स्पर्श ही नहीं हुआ (मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्येष यथा तथा। चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः— पंचदशी ८।७५)। उसी प्रकार मायारूप मेघ जगतरूप नीर का जैसा चाहे वर्षण करे, चिदाकाशरूप आत्मा को उससे कुछ भी हानि-लाभ नहीं होता। यही वेदांत का सिद्धांत है।

सदा आत्म-संबंधी चिंतन, कथन, परस्पर आत्म संबंधी विचार-विनिमय इस प्रकार की एकपरता का नाम आत्माभ्यास है (तच्चिंतनं तत्कथनं अन्योन्यं तत्प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः— पंचदशी १३।८३)। ब्रह्म आत्मा एक ही वस्तु है। निरंतर एक ही आत्मा का स्मरण होने के कारण यह भी अध्यात्मज्ञाननित्यत्व है। इस प्रकार विचार करते समय तत्संबधी गल्प या इतिहास का वर्णन करने पर भी इस आत्मज्ञान की एकतानता (निदिध्यासन) में विक्षेप नहीं होता (निदिध्यासनविक्षेपो नेतिहासादिभिर्भवेत्— पंचदशी ७।१३०)।

अध्यात्मज्ञानम् (न०) आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, आत्मा और अनात्मा का विवेकज्ञान)।

अध्यात्मदृश् (वि०) आत्मद्रष्टा, आत्मज्ञानी, परब्रह्म का जानने वाला।

अध्यात्मन् (न०) आत्मा, देह, मन, जीवात्मा (स्वभावोऽध्यत्ममुच्यते—गीता ८।३)।

अध्यात्मयोगः (पुं०) चित्त और आत्मा का संयोग। चित्त को विषयों से हटाकर आत्मा में संलग्न रखना ही अध्यात्मयोग है। दुर्दर्श देखिये (अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति—कठोप० १।२।१२)।

अध्यात्मरामायणम् (न०)—रामचरित-विषयक वेदांत का संस्कृत ग्रंथ। इसके दूसरे नाम हैं अध्यात्मरामचरित और आध्यात्मिक रामसंहिता। यह ग्रंथ उमा-महेश्वर-संवाद के रूप में लिखित है। इसमें सात काण्ड और ६५ अध्याय है। इसमें अद्वैतमत के अतिरिक्त योग-साधना तथा तांत्रिक उपासना का भी यथेष्ट वर्णन है। यह रामभक्तों के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें राम विष्णु के अवतार के रूप में प्रतिपादित होने के साथ ही साथ परब्रह्म भी माने गये हैं। सीता का प्रतिपादन योगमाया के रूप में किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास जी का रामचरित-मानस इसी अध्यात्म रामायण के आधार पर रचा गया था।

अध्यात्मवादः (पुं०) आत्मवाद, ब्रह्मवाद। वेदांत मत अध्यात्मवाद है (आत्मानमधिकृत्य वर्तते इति अध्यात्मम्)। आत्माविषयक मत। आत्मा मायाकल्पित संसार-प्रपंच का मूल है। (तस्माद् वै एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः— तैत्तिरीय २।२)। 'वह और यह आत्मा' कहने से आत्मा का अभेद प्रतिपादित हुआ है। यह आत्मा तीनों कालों में अविकृत है तथा जन्म-मृत्यु से रहित। (आत्मन् देखिए)। अध्यात्मवाद के द्वारा आत्मा को जान लेने पर मनुष्य जन्म-मृत्यु से अतीत हो जाता है।

अध्यात्मविद्या (स्त्री०) आत्मा-संबंधी विद्या, परा विद्या, ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या। आत्मा नित्य-शुद्ध-मुक्त-बुद्ध-स्वभाव, नित्य, अनादि, अनंत सच्चिदानंद-स्वरूप है। (आत्मन् देखिए)।

आत्मा और ब्रह्म एकार्थवाचक शब्द हैं (तस्माद् वै एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः— तैत्तिरीय २।२)। उस और इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। आत्मा एक ही है, इस कारण उपनिषद् में तस्मात् और एतस्मात् इन दोनों शब्दों का एकसाथ प्रयोग किया गया है। इस आत्मा के सामने मायाकल्पित सभी पदार्थ और जीव अनात्मा है (दृश्यं सर्वम् अनात्मा स्याद् दृगेवात्मा विवेकिनः— आत्मानात्मविवेक १)। आत्मा चेतन द्रष्टा है और मायाकल्पित जड़ जीव-जगत् दृश्य है।

इस आत्मा का प्रतिपादन करने के लिए कोटि कोटि ग्रंथ लिखे गये हैं और उनमें लिखित विद्या ही अध्यात्मविद्या है (आत्मानात्मविवेकोऽयं कथ्यते ग्रन्थकोटिभिः— आत्मानात्मविवेक १)। इस अध्यात्मविद्या का प्रतिपादक उपलब्ध वेदांतग्रंथ एक लाख से भी अधिक हैं। किसी दूसरे विषय के इतने अधिक ग्रंथ नहीं हैं।

आत्मा द्रष्टा और सभी दृश्य हैं। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द चक्षु आदि इंद्रियों के दृश्य हैं। सुख-दुख, ईर्ष्या-द्वेष आदि मन के दृश्य हैं। मन भी आत्मा के द्वारा प्रकाशित होने के कारण दृश्य है। किसी के द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष हो,

तो वह भी दृश्य हो जाता, परंतु आत्मा किसी के द्वारा दृश्य नहीं है, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है (विज्ञातारमरे केन विजानीयात्—बृहदारण्यक २।४।१४)। यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते—केनोपनिषद् १।१।५) इस आत्मा के द्वारा मायाकल्पित समस्त संसार-प्रपंच दृश्य है, इसी कारण वह अनात्मा है।

इस अध्यात्मविद्या को परा विद्या कहते हैं। अपरा विद्या है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष आदि और परा विद्या है—जिससे अक्षर पुरुष ब्रह्म का ज्ञान होता है (तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणम् निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति, अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते—मुण्डकोपनिषद् १।१।५)। सारी विद्याओं में उत्तम होने के कारण अध्यात्मविद्या को परा विद्या कहते हैं (सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन। अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्—गीता १०।३)।

आत्मा नित्य-शुद्ध-मुक्त-बुद्ध-स्वभाव चेतन सर्वव्यापी सर्वात्मक निर्विकार और एक है—यही वेदांत का सिद्धांत है। वेदों के अंत भाग ही वेदांत है। वे उपनिषद कहलाते हैं। ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, छांदोग्य, बृहदारण्यक—ये १० उपनिषदें प्रसिद्ध हैं। कोई-कोई ऐतरेय को मिलाकर एकादश मानते हैं। इन उपनिषदों में प्रधानतया आत्मा का स्वरूप ही प्रतिपादित हुआ है। इनके अतिरिक्त १०८, १००८ और इनसे भी अधिक उपनिषद् उपलब्ध हैं। उनमें अधिकांशों की भाषा इतनी आधुनिक है कि प्रायः पौराणिक युग के पंडितों के द्वारा लिखी प्रतीत होती हैं। तिस पर भी उनमें आत्मतत्त्व का प्रतिपादन रहने से उन्हें अध्यात्मविद्या-प्रतिपादक शास्त्र कहा जा सकता है।

अध्यात्मसंज्ञित (वि०) अध्यात्म नामक। जिन वाक्यों या उपदेशों में आत्मा संबंधी विवेचन है, वही अध्यात्म नामक शास्त्रीय-ग्रंथ या वाक्य है (मदनुग्रहाय परमं गुह्यम् अध्यात्मसंज्ञितम्। यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम—गीता ११।१)। अध्यात्मविद्या देखिए।

अध्यात्मिक (वि०) आत्मा या परमात्मा से संबंध रखने वाला।

अध्यादेशः (पुं०) उच्चाधिकारी का विशेष आदेश, शिष्य के प्रति गुरु का आदेश।

अध्यापकः (पुं०) शिक्षक, गुरु।

अध्यापकसंस्थानम् (न०) शिक्षकों की समिति।

अध्यापनम् (न०) शिक्षण, पढ़ाने की क्रिया या भाव।

अध्यापयितृ (पुं०) शिक्षक, अध्यापक (एते तवाध्यापयितार आगताः)।

अध्यापिका (स्त्री० अध्यापक की पत्नी, अध्यापन करने वाली स्त्री।

अध्यायः (पुं०) पाठ, अध्ययन का उपयुक्त समय, किसी ग्रंथ का एक भाग।

अध्यायिन् (वि०) अध्ययन करने वाला, पढ़ने वाला, शास्त्राध्यायी।

अध्यारुह् (पर०) (अध्यारोहति) ऊपर चढ़ना, आरोहण करना।

अध्यारूढ (वि०) चढ़ा हुआ, ऊपर उठा हुआ, उन्नत, श्रेष्ठ।

अध्यारोपः (पुं०) अध्यास, भ्रमज्ञान, रज्जु में सर्पभ्रम, ब्रह्म में जगद्भ्रम, आत्मा में शरीरभ्रम आदि अध्यारोप के उदाहरण हैं (सच्चिदानन्दानन्ताद्वयब्रह्मणि अज्ञानादिसकलजड़समूहस्यारोपणमध्यारोपः, असर्पभूते रज्जौ सर्वारोपवत्—वेदान्तसार)। उस भ्रम का निरसन हो जाना 'अपवाद' है।

अध्यारोपणम् (न०) बोने की क्रिया, उठाने की क्रिया।

अध्यारोपन्यायः (पुं०) एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप, जैसे अल्प अंधकार में रास्ते पर एक रस्सी टेढ़ी-मेढ़ी होकर पड़ी थी। एक मनुष्य वहाँ आकर उसे साँप समझ कर भय से भाग जाता है। इस मिथ्या भ्रम से उसे बहुत कष्ट होता है।

अध्यारोपापवादः (पुं०) भ्रम और उसका निरसन। रज्जु में सर्प का अध्यारोप अर्थात् भ्रमज्ञान होता है। प्रकाश आदि की सहायता से उस भ्रम का अपवाद अर्थात् निरसन हो जाता है। नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव सच्चिदानंद आत्मा में जीव भ्रम वश स्थूल सूक्ष्म कारण इन तीन शरीरों का अध्यारोप करते हैं। अनित्य, जड़ और दुःखरूप इन शरीरों में सत्-चित्-आनंदमय आत्मा का भी वे आरोप करते हैं। मै ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि—यजुर्वेदीय बृहदारण्यकोपनिषद् १।४।१०)। यह आत्मा ब्रह्म है (अयम् आत्मा

ब्रह्म–अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद २)। अंतरस्थ प्रज्ञान ब्रह्म है (प्रज्ञानं ब्रह्म–ऋग्वेदीय ऐतरेय उपनिषद ५।३)। तुम ब्रह्म हो (तत् त्वम् असि–सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद ६।८।६)। चार वेदों के इन चार महावाक्यों से तथा नेति नेति विचार रूप युक्ति से नित्य मुक्त निर्विकार सर्वव्यापक आत्मा को अपना स्वरूप जान लेने पर उस अध्यारोप का बराबर के लिए अपवाद हो जाता है। ऐसे आत्मज्ञानी आत्मा का सत्य स्वरूप तथा देहेंद्रियादि समस्त जगत् का मिथ्या स्वरूप जान लेने पर आसक्ति-रहित तथा सुख-दुःख से परे और शरीरेंद्रियादि से भी परे रह कर सब काम कर सकते हैं। यही जीवन्मुक्त अवस्था है और यही परमानंदपद है।

अध्यारोपापवादन्यायः (पुं०) रस्सी को साँप समझ कर भय से भाग जाने वाले मनुष्य के दिल की धड़कन, पसीना, हाथ-पैर सुन्न हो जाना आदि कष्टदायक लक्षण देखकर एक दूसरा बुद्धिमान मनुष्य बत्ती हाथ में लिये उस रस्सी के स्थान में पहुँचे और रस्सी को हिलाकर दिखा दिया कि वह सांप नहीं है, तब उस मनुष्य का दुःख दूर हो गया, इसी का नाम अपवाद अर्थात् भ्रम का निरसन है।

अध्यावापः (पुं०) बोने के लिए बीजों को छितराने या बिखेरने की क्रिया, वह खेत जिसमें बीज बोये जायँ।

अध्यावास् (स०) रहना, निवास करना।

अध्यावाहनिकम् (न०) ससुराल जाते समय कन्या को पिता से मिलने वाला धन।

अध्यास् (प०) (अध्यास्यति) किसी पर बैठना या लेटना, बैठने में प्रवृत्त करना, संबंध रखना।

अध्यासः (पुं०) मिथ्या-ज्ञान, भ्रम-ज्ञान, एक वस्तु में दूसरी वस्तु का भान। रज्जु में सर्प का भ्रमज्ञान अध्यास है। चेतन आत्मा में अचेतन शरीरादि का तथा जड़ शरीर में चेतन आत्मा का एकत्व-ज्ञान भी अध्यास है (अतस्मिन् तद्बुद्धिरध्यासः—ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य-भूमिका)।

एक वस्तु में उसके समान किसी पूर्व-दृष्ट वस्तु का स्मरण होता है। यह स्मृतिरूप ज्ञान ही अध्यास कहलाता है (स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः – ब्रह्मसूत्र-शांकर-भाष्यभूमिका)। परंतु पूर्वदृष्ट वस्तु का स्मरण तो मिथ्या नहीं होता। किसी को देखकर 'यह वही व्यक्ति है,' ऐसा उत्पन्न ज्ञान सत्य ही है। इसलिए स्मृतिरूप शब्द का विशेष अर्थ है। स्मरण में आयी हुई वस्तु की तरह जिसका रूप हो उस वस्तु का उससे भिन्न ज्ञान होना अध्यास है। रस्सी देखकर सर्प का स्मरण होता है, पीछे फिर सर्प का ज्ञान होता है। यह सर्पज्ञान स्मरणात्मक सर्प से सर्वथा-भिन्न वस्तु है।

बंध्या-पुत्र, ख-पुष्प, शश-शृंग आदि अलीक वस्तुओं की तरह यदि अध्यास सत्यता से रहित हो तो रज्जु में सर्प का ज्ञान या आत्मा में शरीर का ज्ञान नहीं होना चाहिए। परंतु रज्जु में जो सर्प का ज्ञान होता है। यह अत्यंत असत् अर्थात् अलीक नहीं है। साथ ही अध्यास-ज्ञान को सत् भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वहाँ सर्प का ज्ञान किसी प्रकार भी सत्य नहीं है। सत् और असत् परस्पर विरोधी हैं अतः अध्यास सदसत् भी नहीं है। इसी कारण अध्यास को अनिर्वचनीय कहते हैं।

अध्यास दो प्रकार के होते हैं—एक अर्थाध्यास जिससे एक वस्तु में दूसरी वस्तु का ज्ञान होता है, जैसे अल्पांधकार में पड़े हुए रज्जु को देखकर 'यह साँप है' अथवा सर्वव्यापक चेतन आत्मा में शरीराध्यास के द्वारा 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकार का ज्ञान। दूसरा ज्ञानाध्यास, रज्जु में सर्पज्ञान दृढ़ होते ही स्वेद, कम्प, भय, पलायन आदि कार्य होते हैं। इसी प्रकार सच्चिदानंद सर्वत्र पूर्ण आत्मा में 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकार का ज्ञान दृढ़ होते ही रोग, शोक, मृत्यु आदि का भय-जनित दुःख का भोग होता है।

अध्यासित (वि०) अध्यस्त, किसी पर उपविष्ट या भ्रमज्ञान द्वारा आरोपित।

अध्यासीन (वि०) ऊपर बैठा हुआ।

अध्याहरणम् (न०), अध्याहारः (पुं०) वाक्य को पूरा करने के लिए उसमें ऊपर से मिलाया या जोड़ा जाने वाला कोई शब्द, तर्क-वितर्क, विचार।

अध्युष्ट्रः (पुं०) वह गाड़ी जिसमें ऊँट जुते हों।

अध्यूढ (वि०) ऊपर को उठा हुआ, उत्थित।

अध्यूढः (पुं०) शिव, महादेव।

अध्यूढस् (पुं०) किसी स्त्री का वह पुत्र जो उसके विवाह से पूर्व हुआ हो।

अध्यूढा (स्त्री०) वह स्त्री जिसके पति ने उसके जीते जी दूसरा विवाह कर लिया हो ।

अध्येतृ (पुं०) अध्येता, अध्ययन करने वाला, पढ़नेवाला, छात्र, विद्यार्थी, वेदपाठी ; समस्वर से वेदपाठ करने वाले ।

अध्येतृवर्गः (पुं०) अध्ययन करने वाले लोग, उपासकजन (अध्येतृवर्गमध्यस्थ पुत्राध्ययनशब्दवत् । भानेऽप्यभानं भानस्य प्रतिबन्धेन युज्यते–पंचदशी १।१२)। अनेक व्यक्ति एक-स्वर से वेदाध्ययन करें और उनमें अपना पुत्र भी हो तो उसका शब्द पिता के कानों में प्रविष्ट होने पर भी अपने पुत्र का स्वर पृथक् रूप से उपलब्ध नहीं होता। ऐसे ही सच्चिदानंद आत्मा (सत्ता रूप से) सर्वदा समस्त जीवों में (अस्मि हूँ) उपलब्ध होने पर भी पृथक् रूप से 'यही आत्मा मैं हूँ' इस प्रकार पृथक्ता का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। पुत्र को ध्वनि स्पष्ट न सुनने का प्रतिबंधक है अनेकों के साथ पठन । पर यहाँ आत्मोपलब्धि में अनादि अविद्या ही विपरीत ज्ञान का कारण है (तस्य हेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनिश्रुतौ । इहानादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबन्धनम्—पंचदशी १।१४)।

अध्येषणम् (न०) किसी कार्य के लिए की जानेवाली प्रार्थना या याचना ।

अध्येषणा (स्त्री०) याचना या प्रार्थना ।

अध्रि (वि०) न रोका हुआ, अवाधित ।

अध्रिगुः [वेद] (पुं०) अग्नि, इन्द्र विषयक शब्द या मंत्र, सर्वत्र अप्रतिहत गमन (अध्रि गोशमीध्वं—ऐ० ब्रा० २।११७) (तुभ्यं श्चोतन्त्यध्रिगो शचीवः—ऋ० सं० ३।१।२१।४)।

अध्रिज (वि०) रोकने के अयोग्य ।

अध्रियमाण (वि०) रखने के अयोग्य, जिसका अस्तित्व न हो, मृतक, मृत ।

अध्रुव (वि०) अनित्य, असत् । इस संसार के सभी पदार्थ अनित्य और असत् हैं । केवल ब्रह्म ही सत् और नित्य है । इस संसार के किसी भी अनित्य पदार्थों या भावों से उस नित्य वस्तु का लाभ नहीं होता। इन सभी का त्याग करके मन को आत्मस्थित कर लेने से सत्य ब्रह्म का लाभ होता है (न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्—कठोपनिषद् १।२।१० । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वम् इच्छन्—कंठ २।१।१); अस्थायी, संदिग्ध, पृथक किया जाने वाला, अनिश्चित । जो व्यक्ति निश्चित वस्तु को छोड़कर अनिश्चित वस्तु के लाभ की इच्छा करता है, उसकी निश्चित वस्तु का नाश हो जाता है, अनिश्चित वस्तु तो नष्ट हो ही चुकी है (यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि—हितोपदेश)।

अध्रुवम् (न०) अनिश्चयता, अस्थिरता, संदिग्धता ।

अध्रुषः (पुं०) उपजिह्वा का शोथ, गले का घाव ।

अध्वगः (पुं०) पथिक, यात्री, ऊँट, खच्चर, सूर्य ।

अध्वगा (स्त्री०) गंगा ।

अध्वगापतिः (पुं०) सूर्य, भास्कर ।

अध्वन् (पुं०) नक्षत्र-पथ, अंतर, समय, आकाश, प्रक्रिया, विधि, आक्रमण, चढ़ाई, मार्ग, रास्ता, पथ, अध्वा, संसारमार्ग जिसके उस पार मोक्ष है (विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्—कठोपनिषद् १।३।९)। इस शरीर में जीवात्मा रथी, शरीर रथ, बुद्धि सारथि, मन प्रगह (लगाम), इन्द्रियाँ घोड़े, शब्दस्पर्शादि विषय गोचर हैं। इसमें यदि विशेष ज्ञान को सारथि बना सके तो वह व्यक्ति संसार-मार्ग के पार ब्रह्मपद रूप मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ज्ञान से मुक्ति होती है यही इस मंत्र का तात्पर्य है (ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति वेदान्तडिण्डिमः—ज्ञानार्णव)।

अध्वनीन (वि०) यात्रा करने योग्य ।

अध्वनीनः (पुं०) तेज चलने वाला यात्री, शीघ्रगामी पथिक (त्रयोऽप्यध्वनीनाः क्लान्ताः)।

अध्वर (वि०) क्षतिग्रस्त न होने वाला, आहत न होने वाला ।

अध्वरः (पुं०) यज्ञ, सोमयाग (पिता मे दीक्षितोऽध्वरे)।

अध्वरः [वेद] (पुं०) यज्ञ, होम (राजन्तध्वराणाम् ऋ० सं० १।१।२।१)।

अध्वरम् (न०) आकाश, अंतरीक्ष ।

अध्वरम् [वेद] (न०) अंतरीक्ष, आकाश (ग्रीशू क्रीलन्ती परियातो अध्वरम्—ऋ० सं० ८।३।२३।१)।

अध्वरमीमांसा (स्त्री०) जैमिनीकृत पूर्वमीमांसा शास्त्र ।

अध्वर्युः (पुं०) वैदिक कर्मकांड के मुख्य चार पुरोहितों में अन्यतम। अध्वर्यु शब्द का अर्थ यज्ञ करने वाला है। अध्वर्यु अपने मुख से मंत्रों का उच्चारण करते हुए अपने हाथ से यज्ञ की सारी विधियों का संपादन भी करते जाते हैं। उनका अपना वेद है यजुर्वेद। इस वेद में गद्यात्मक मंत्रों का विशेष संग्रह है। अध्वानं राति अध्वरः, जो प्रगति का मार्ग देता (बनाता) है। न ध्वरति इति अध्वरः, जो धोखा न दे अर्थात् निश्चित सफल हो। अध्वरं याति अध्वर्युः अध्वर को (यज्ञ को) विशेष रूप से प्राप्त करे। ब्रह्मा (अथर्ववेदी), होता (ऋग्वेदी), अध्वर्यु (यजुर्वेदी), उद्गाता (सामवेदी) ये चार प्रधान ऋत्विज् होते हैं। भिन्न-भिन्न यज्ञों में इनके सहायक ऋत्विज् भी अनेक होते हैं। ब्रह्मा का वरण (चुनाव) पहले होता है। वह शांतिक पौष्टिक रहस्य का प्रयोग करता है, यज्ञकाल पर्यंत देख-रेख रखता, यज्ञ के अंत में उसे सदक्षिण पूर्णपात्र दिया जाता है। होता मंत्रों से देवताओं का आवाहन करता है। अध्वर्यु देवताओं को हविर्भाग भेंट करता है (हवन या उत्सर्ग द्वारा)। इसके बाद उद्गाता उनकी प्रसन्नता की पूर्णता के लिए सामगानद्वारा स्तुति करता है।

अध्वर्युवेदः (पुं०) यजुर्वेद।

अध्वस्मन् (वि०) बिना घूँघट का, आवरणहीन, चमकीला।

अध्वान्तम् (न०) गोधूलि का समय, उषा, तिमिर।

अन् (प०) (अनिति, अनित, अनिश्यति) साँस लेना, हिलाना, जाना, जीवित रहना।

अनंश (वि०) पैतृक संपत्ति में अंश न पाने वाला।

अनंशुमत्फला (स्त्री०) कदली वृक्ष, केले का पेड़।

अनः (पुं०) साँस, श्वास।

अनकदुन्दुभिः (पुं०) श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव की उपाधि।

अनकदुन्दुभी (स्त्री०) ढोल, नगाड़ा।

अनक्ष (वि०) नेत्रविहीन, अंधा।

अनक्षर (वि०) अशिक्षित, उच्चारण के अयोग्य, मूक, गूँगा।

अनक्षरम् (न०) कुवाच्य, गाली, भर्त्सना।

अनग्नि (वि०) अग्निहोत्ररहित, अधार्मिक, अपवित्र, मलावरोध से पीड़ित, अविवाहित।

अनग्निः (पुं०) अग्नि का अभाव।

अनघ (वि०) पापरहित, निर्दोष, सुरक्षित, जो आहत न हुआ हो, विशुद्ध, सुंदर।

अनघः (पुं०) सफेद सरसों, विष्णु, शिव।

अनङ्कुश (वि०) जो वश में न रहे, उद्दंड।

अनङ्ग (वि०) शरीररहित अशरीरी।

अनङ्गः (पुं०) कामदेव, मदन।

प्राचीनकाल में देवता बार बार असुरों से परास्त होते रहे। विशेषतः तारकासुर से पराजित होकर वे ब्रह्मा की शरण में गये। तब ब्रह्मा ने कहा कि ध्यानमग्न महादेव से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही देव-सेनापति बनेगा और वही तारकासुर को परास्त करने में सफल होगा। शिव का ध्यानभंग करने के लिए कामदेव हिमालय पर पहुँचा और पुष्प का धनुष कान तक खींचकर हुँकार के साथ उसने कंदर्प बाण छोड़ा। इस बाण के आघात से शिव का ध्यानभंग हो गया और उनके क्रोध की ज्वाला से कामदेव भस्म हो गया। उसी समय से कामदेव अंगहीन या अनंग के नाम से पुकारा जाता है। इस कामदेव के मदन, कंदर्प, पंचशर आदि नाम भी हैं।

अनङ्गक्रीड़ा (स्त्री०) विलासितापूर्ण खेल, कामक्रीड़ा।

अनङ्गम् (न०) मन, चित्त (क्योंकि मन का कोई अंग या आकार नहीं है)।

अनङ्गलेखा (स्त्री०) प्रेम-पत्र।

अनङ्गशत्रु (पुं०) शिव, महादेव।

अनच्छ (वि०) मलिन, गन्दा, गँदला।

अनञ्जन (वि०) बिना काजल का, बिना सुरमे का।

अनञ्जनम् (न०) आकाश, परब्रह्म, विष्णु।

अनडुह् (पुं०) बैल, साँड़, वृषराशि।

अनडुही (स्त्री०) गाय, गौ।

अनणु (वि०) जो छोटा या सूक्ष्म न हो।

अनणुस् (पुं०) घटिया या मोटा अन्न।

अनत (वि०) न झुका हुआ, न मुड़ा हुआ, रूक्ष।

अनति (अव्य०) बहुत अधिक नहीं।

अनतिक्रमः (पुं०) अनुल्लंघन, किसी का अतिक्रमण न होना।

अनतिक्रमणीय (वि०) उल्लंघन के अयोग्य, अतिक्रमण न करने योग्य।

अनतिदूर (अव्य०) न+अति दूर, बहुत दूर नहीं (काशी के अनतिदूर अवस्थित सारनाथ बौद्ध तीर्थ है)।

अनतिरिक्त (वि०) जो अतिरिक्त या फालतू न हो।

अनतिरेकः (पुं०) अतिरिक्त होने का अभाव।

अनतिविलम्ब (क्रिवि०) अधिक विलम्ब नहीं, कुछ शीघ्र।

अनतिविलम्बिता (स्त्री०) विलम्ब का अभाव, वक्ता का एक गुण जो लगातार भाषण दे सकता है।

अनदत् (वि०) न खाने वाला, उपयोग न करने वाला।

अनद्यः (पुं०) सफेद सरसों।

अनद्यतन (वि०) जो आज का न हो।

अनद्यतनः (पुं०) व्याकरण में क्रिया का कालबोधक शब्द।

अनधस् (अव्य०) नीचे नहीं।

अनधिक (वि०) जो अधिक न हो, असीम, पूर्ण।

अनधिकारः (पुं०) अधिकार का अभाव।

अनधिकारचर्चा (स्त्री०) ऐसी वार्ता जो अधिकार से बाहर हो।

अनधिकृत (वि०) जो नियुक्त न किया गया हो, जो दिया न गया हो।

अनधिष्ठानम् (न०) निरीक्षण का अभाव, निराधार।

अनधिष्ठित (वि०) अनियुक्त, अविद्यमान।

अनधीनः (पुं०) स्वतंत्र व्यवसाय करने वाला।

अनध्यक्षः (वि०) अध्यक्षरहित, जो दिखाई न पड़े, अदृष्ट, अगोचर।

अनध्यायः (पुं०) अध्ययन के लिए अनुपयुक्त समय।

अनध्यायदिवसः (पुं०) वह दिन जिसमें अध्ययन न किया जाता हो, छुट्टी का दिन।

अननम् (न०) श्वास लेना, साँस लेना।

अननुख्याति (स्त्री०) अख्याति, अप्रसिद्धि।

अननुज्ञात (वि०) जो स्वीकृत न किया गया हो, जो आज्ञप्त न हो।

अननुभावुक (वि०) धारण करने के अयोग्य, समझने के अयोग्य।

अननुभूत (वि०) न जाना हुआ, अज्ञात, जिसका अनुभव न किया गया हो।

अननुमत (वि०) जो स्वीकृत न हो, अस्वीकृत, जो पूजित या सम्मानित न हो, असम्मानित, अप्रिय, घृणित, अयोग्य।

अननुयाज (वि०) बिना अंतिम यज्ञ का।

अननुषङ्गिन् (वि०) जो संलग्न या लगा हुआ न हो, असंलग्न।

अननुष्ठानम् (न०) अपालन, निरीक्षण का अभाव।

अननुसन्धानम् (न०) अनुसंधान या खोज न करना, गत विषय, झगड़े या दुःख की बात उठाकर वर्तमान समय को नष्ट न करना (बीती सो बिसार दे। अतीताननुसंधानं भविष्यदविचारणम्--अपरोक्षानुभूति ९१)। वर्तमान क्षण ही जीवन है। गत दुःख की याद कर या कह कर वर्तमान क्षण को दुःखमय करना अनुचित है। उससे जीवन ही दुःखमय हो जाता है।

अननृत (वि०) जो मिथ्या न हो, सत्य।

अनन्त (वि०) नाशरहित, ध्वंसशून्य, मृत्युहीन, भविष्य में जिसका कभी अन्त न होगा, दसों दिशाओं में पूर्ण।

न्याय मत में आकाश, काल, दिक्, आत्मा, अगणित परमाणु अनन्त माने जाते हैं। क्योंकि वे भावरूप अनादि और असीम पदार्थ हैं।

सांख्यमत में प्रकृति एक और पुरुष अनन्त हैं, ये सृष्टि के पूर्व से ही अनादि और असीम हैं।

वेदान्त मत में एक ब्रह्म ही अनन्त है क्योंकि वह सर्व-कारण-कारण अर्थात् अनादि और असीम है।

अनादि और अनन्त एक ही पदार्थ हो सकता है। सृष्टि के पहले एकाधिक पदार्थ हों तो एक दूसरे को 'स्थान से' तथा 'स्वभिन्न वस्तुओं से' सीमाबद्ध करके काल से भी सीमाबद्ध कर देता है। काल की सीमा का अर्थ ही है जन्म और मृत्यु के भीतर की स्थिति अर्थात् अनादि और अनन्त न होना। इस कारण एकाधिक पदार्थों का अनादि और अनन्त होना युक्ति-विरुद्ध है। परस्पर का भेद अनित्यत्व का हेतु है।

अतः एकमात्र परमात्मा ही अनादि और अनन्त हैं

(अनन्तदेवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत्-- गीता ११।३७। सत्यं ज्ञानम् अनन्तं चेत्यस्तीह ब्रह्म-लक्षणम्--पञ्च ३।८८)।

भूगोलशास्त्र के अनुसार ब्रह्मांड भी अनन्त माना जाता है। इस परिदृश्यमान ब्रह्मांड के चारों ओर अनन्तकोटि ब्रह्मांड प्रज्वलित हो रहे हैं (अस्य ब्रह्मांडस्य समन्ततः स्थितानि एतादृशानि अनन्तकोटि-ब्रह्मांडानि ज्वलन्ति-- महानारायण-उपनिषद्। हमारे इस सौर जगत् के केन्द्र में सूर्य है। उसके चारों ओर घूमने वाले सूर्य से क्रमशः दूर-दूर पर रह कर बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, युरेनस, प्लूटो आदि ग्रह निरन्तर तीव्र गति से सूर्य की परिक्रमा कर रहे है। इसी का नाम सौर जगत् है। हमारा यह सूर्य अपने परिवार सहित किसी महान् सूर्य की परिक्रमा करने के लिए बिजली की गति से दौड़ रहा है। वह महान् सूर्य (नक्षत्र) भी स्थिर नहीं हैं। वह भी किसी की परि-क्रमा कर रहा है। सभी परस्पर आकर्षण-विकर्षण के कारण कोई किसी से टकराता नहीं है। अतः यह ब्रह्मांड कितना प्रकांड है इसकी धारणा हम नहीं कर सकते। अंतरिक्ष में सभी पिण्ड बिजली की गति से दौड़ रहे है। यदि इस विशाल ब्रह्मांड की सीमा मानी जाय तो इसकी अन्तिम सीमा पर जो ग्रह या नक्षत्र हो बाहरी ओर आकर्षण न रहने से भीतर के पिण्डों के आकर्षण से उन्हीं पर जा गिरेगा। तब वह भी सीमा पर होने से भीतर के अन्य पिंडों पर जा गिरेगा। इससे ब्रह्माण्ड की सीमा घटती जायगी और सारे पिंड आपस में टकराने के कारण सभी चूर-चूर हो जायेंगे। फलस्वरूप ब्रह्मांड नाश-प्राप्त हो जायेंगे। इस कारण ब्रह्मांड की सीमा नहीं मानी जा सकती।

हमारे संस्कृत शास्त्र अनन्त हैं, जानने के विषय भी अनेक हैं, मनुष्य का जीवनकाल अत्यन्त अल्प है। अतः जो सारांश है उसी को ग्रहण कर जीवन को धन्य, कृतार्थ और आनन्दमय बनाना चाहिए, जैसे कि हंस जल-मिश्रित दूध को ही पी लेता है (अनन्तशास्त्रं बहु वेदितव्यं स्वल्पश्च कालो बहवश्च विघ्नाः। यत्सारभूतं तदुपासितव्यं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमिश्रम्- सुभाषित। (सारभूतम् देखिए)।

अनन्तः (पुं०) विष्णु, शेषनाग, श्रीकृष्ण, शिव, वासुकी नाग, अभ्रक, बादल, मेघ, बाहु में पहनने का एक प्रकार का आभूषण, नागराज। नागों के बीच अनन्त ही सर्वप्रधान थे। कश्यप मुनि के द्वारा कद्रु के गर्भ से इनका जन्म हुआ था। अपने भाइयों के असत् व्यवहार से असन्तुष्ट होकर इन्होंने कठोर तपस्या आरम्भ कर दी। इनकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने बरदान दिया कि तुम पृथ्वी को अपने सिर पर इस प्रकार धारण करो कि वह विचलित न हो। इस आदेश के बाद अनन्त ने रसातल में प्रवेश कर पृथ्वी को अपने मस्तक पर धारण कर लिया। ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर नाग-शत्रु गुरुड़देव को अनन्तदेव का मित्र बना दिया। अनन्तदेव के अन्य नाम हैं—शेषनाग, वासुकी, गोनस।

कालिकापुराण में लिखा है कि प्रलयांत में भगवान नारायण लक्ष्मी के साथ अनन्त के मध्यम फण पर शयन करते हैं। अनन्त के ६ फण कमल के समान फैलकर भगवान् विष्णु के ऊपर छत्र के रूप में छाये रहते हैं। दक्षिण फण विष्णु के उपाधान और वाम फण पादपीठ का काम करता है। किसी पुराण के मत में अनन्त ही बलराम के रूप में अवतरित हुए थे।

अनन्तक (वि०) अनंत, असीम, नित्य।

अनन्तचतुर्दशी (स्त्री०) भाद्रशुक्ल चतुर्दशी. जिस दिन अनंत भगवान के पूजन का विधान है।

अनन्तता (स्त्री०) असीमता, नित्यता, पार्वती, पृथ्वी।

अनन्ततृतीया (स्त्री०) भाद्रशुक्ल तृतीया, मार्गशीर्ष तृतीया, वैशाख शुक्ल तृतीया।

अनन्तदृष्टिः (पुं०) शिव, इन्द्र।

अनन्तदेवः (पुं०) विष्णु, शेषनाग।

अनन्तपार (वि०) निस्सीम, असीम, अपार।

अनन्तम् (न०) आकाश, अनंत काल, परब्रह्म, उद्धार, निस्तार।

अनन्तमूलम् (न०) एक लता की जड़। इस लता का रंग काला-मिश्रित लाल है। जामुन के पत्तों की तरह इसके पतले पत्ते तीन-चार अंगुल लम्बे होते हैं। उन पत्तों के ऊपर सफेद लकीरें होती हैं। इसके फूल छोटी और सफेद होते हैं। इन फूलों से फलियाँ निकलती हैं। इसकी जड़ ढाल और सुगन्धित होती है। इसकी जड़ ही औषध के काम में लायी जाती है।

आयुर्वेद में रक्तशोधक औषधियों में इसका प्रयोग किया जाता है। इसका काढ़ा बनाकर रोगी को दिया जाता है। आयुर्वेद के अनुसार यह सूजन को कम करती है।

यह मूत्र-रेचक भी है तथा अग्निमांद्य, रक्तदोष, उपदंश, कुष्ठ, गठिया, सर्पदंश, वृश्चिदंश आदि का क्लेश दूर करता है।

अनन्तर (वि०) जिसमें स्थान या अवकाश न हो, दृढ़, जो बहुत दूर न हो, निकट, सटा या लगा हुआ, संलग्न, संयुक्त।

अनन्तरजः (पुं०), अनन्तरजा (स्त्री०) क्षत्रिया या वैश्या माता और ब्राह्मण या क्षत्रिय पिता से उत्पन्न संतान, छोटा भाई।

अनन्तरम् (न०) निरन्तरता।

अनन्तरम् (अ०) पश्चात्, बाद (सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्। चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च—हितोपदेश)। सुख के बाद दुःख होता है, इसी प्रकार पहिए की तरह सुख-दुःख परिवर्तित होते रहते हैं। अपने कर्म के कारण मनुष्य सुख-दुःख भोगते हैं। जो किसी मनुष्य या प्राणी को दुःख नहीं देता उसे किसी से दुःख नहीं भोगना पड़ता। जो मनुष्य संयम से रहकर शरीर के शुक्रबिन्दुओं को वृथा नष्ट नहीं करता उसे रोग-जनित दुःख भी नहीं भोगना पड़ता (अकालमृत्युः देखिए)।

अनन्तरायम् (अव्य०) रोग या रुकावट के बिना, निर्विघ्न।

अनन्तरीय (वि०) क्रम के अनुसार होने वाला।

अनन्तरूप (वि०) अगणित रूपों वाला, सांसारिक सभी पदार्थों और प्राणियों के रूप में प्रकट होने वाला। मृत्तिका घट, शराव, कलशी आदि करोड़ों रूपों में प्रकट होने पर भी अनन्त रूप में नहीं प्रकट हो सकती, क्योंकि जलीय, आग्नेय, वायवीय तथा अन्य सूक्ष्म रूपों में मृत्तिका का प्रकट होना सम्भव नहीं है। अनन्त रूपों में केवल आत्मा का ही विकास है (अद्वैतवादः देखिए)। (अनन्तरूपं न हि वस्तु किंचित्—अवधूतगीता १।२६) त्वया ततं विश्वमनन्तरूप—गीता ११।३८। पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्—गीता ११।१६) (अनेकवक्त्रनयनम् देखिए)।

जिस प्रकार स्वप्न-द्रष्टा का मन स्वाप्निक जीव-जगत् का रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार आत्मा सृष्टि के आरम्भ में माया-कल्पित जीव-जगत् का रूप धारण कर लेता है। इसी कारण उसे अनन्तरूप कहा गया है। विश्वरूप भी इसी को कहते हैं। वह निराकार रूप है, इस कारण उसके हाथ-पैर नहीं हैं और न तो आँख, कान और मन ही है (अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः, स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता—श्वेताश्वतर ३।१९)। जीवों के पैरों से ही उसमें चलने, हाथों से पकड़ने, आँखों से देखने, कानों से सुनने, और मन से अनुभव करने आदि क्रियायें आरोपित होती हैं। उनके अनन्त शिर, अत्यन्त चक्षु, अनन्त पैर आदि हैं और वह सारे ब्रह्मांडों को व्याप्त कर दश अंगुली ऊपर भी विराजमान है (सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् स भूमिं सर्वतो स्पृत्वा अत्यतिष्ठद् दशांगुलम्—पुरुषसूक्त)। सहस्र शिर होने से दो सहस्र आँखें होनी चाहिए थीं, परन्तु यहाँ सहस्र शब्द अनन्त-वाचक है। विश्व ही जिसका रूप है, उसे ही विश्वरूप कहते हैं। यथार्थ में तो वह रूप-रहित है। एक भी जीव उस अनन्तरूप से बाहर नहीं है। कोई भी अपने से पृथक रूप से इस अनन्तरूप को नहीं देख सकता। यदि कोई धीर पुरुष बाहरी इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत्य करके मन को आत्मा में लीन कर देते हैं तो वह अनन्त आत्मा को अपने से अभिन्नरूप से अपरोक्ष कर सकते हैं (कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मनमैक्षत् आवृत्यचक्षुरमृतत्वमिच्छन्—कठोपनिषद् ४।१। अयमात्मा ब्रह्म—माण्डूक्य अहं ब्रह्मास्मि—बृहदारण्यक्ष. १।४।१०) और व्युत्थित होकर कह सकते हैं कि—अयमहमस्मि—में ही विश्वरूप हूँ।

अनन्तरूपः (पुं०) विष्णु।

अनन्तर्हित (वि०) जो छिपा हुआ न हो, प्रकट।

अनन्तविजयः (पुं०) एक शंख का नाम जिसे कुरुक्षेत्र युद्ध के आरम्भ में कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने बजाया था (अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः—गीता १।१६)

अनन्तवीर्य (वि०) अमित बलशाली। यह शब्द विश्वरूप भगवान का एक विशेषण है (अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः—गीता ११।४०)।

वेदान्त के मत में भगवान ने सारे जीव-जगतों का रूप धारण कर लिया है (अनेकवक्त्रनयनम् देखिए)।

बल तीन प्रकार के हैं—शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक। शारीरिक बल देह की शक्ति है। इस बल में तारतम्य होने पर भी सभी जीवों के भीतर कुछ न कुछ बल अवश्य है। मानसिक बल का नाम साहस है। किसी-किसी

जीव में शारीरिक शक्ति कम होते हुए भी साहस की अधिकता रहती है। एक व्यक्ति बाघों के जङ्गल में चला जाता है अथवा बन्दूक के सामने छाती खोल देता है, दूसरा बाघ युद्ध का नाम सुनते ही भाग जाता है। कठिन से कठिन काम एक साहसी व्यक्ति कर डालता है। बुद्धि का बल विज्ञान है। आत्मज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति संसार को माया-कल्पित जान कर सांसारिक भोग-सुखों की उपेक्षा करते हैं।

उपनिषदों में जहाँ "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"-(मुण्डकोपनिषद् ३।२) में कहा गया है वहाँ बल शब्द से इसी बौद्धिक बल का ही उल्लेख किया गया है।

अनन्तशक्तिः (पुं०) असीम शक्ति, जिनकी शक्ति अनन्त है वह गणेश या ईश्वर हैं (यतोऽनन्तशक्तेरनन्ताश्च जीवाः····सदा तं गणेशं नमामो भजामः—गणेशस्तोत्र १)।

गाणपत्य मतावलम्बियों के लिए अपने इष्टदेव गणेश ईश्वर ही हैं। इसलिए उन्हें अनन्तशक्ति कहा गया है। संसार में क्रिया, बल और ज्ञान—ये तीन शक्तियाँ ही दिखाई पड़ती हैं (परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च -श्वेताश्वतर उप. ६।८)। परन्तु किसी जीव में अनन्त शक्ति नहीं रह सकती। अनन्तशक्ति का आधार ईश्वर ही हैं, क्योंकि उन्हीं की शक्ति माया के द्वारा समस्त ब्रह्माण्डों की कल्पना हुई है। इस कारण सांसारिक सारी शक्तियों का उद्गम-स्थान ईश्वर ही हैं। ब्रह्माण्डों की संख्या अनन्त है (संख्या चेद् रजसामस्ति ब्रह्माण्डानां न कर्हिचित् -विष्णुपुराण। अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितानि एतादृशानि अनन्तकोटिब्रह्माण्डानि ज्वलन्ति—महानारायणोपनिषद)। इस अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में उन तीन प्रकार की शक्तियों के अनन्त विकास है। परन्तु उन सभी शक्तियों का आधार अनन्तशक्तिविशिष्ट षडैश्वर्यशाली ईश्वर ही हैं।

अनन्त्य (वि०) नित्य, शाश्वत।

अनन्द (वि०) आनन्दरहित, अप्रसन्न।

अनन्दः (पुं०) नन्द=समृद्धिपूर्ण। अनन्द = ह्रासशील, नन्द (आनन्द) से रहित लोक, नरक, पाताल (अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्—कठोपनिषद् १।३)। कठोपनिषद् में लिखा है कि नचिकेता के पिता वाजश्रवा मुनि सर्वस्वदानरूप यज्ञ कर रहे थे। अपनी सारी सम्पत्ति ब्राह्मणों को देकर अन्त में उन्होंने अपनी जीर्ण शीर्ण वृद्ध गायों का दान भी ब्राह्मणों को दिया। यह देखकर कुमार नचिकेता को शास्त्रोपदेश पर श्रद्धा आ गई। नचिकेता ने सोचा कि इन गायों का दूध हमलोग पी चुके हैं। अब वे दूध नहीं दे सकतीं। इन्द्रियाँ भी इनकी शिथिल हो चुकी हैं। इस समय इनका पालन-पोषण भी हमीं को करना चाहिये। उसके स्थान में दूसरे को दे देने से उनको लाभ तो कुछ भी नहीं होगा, बल्कि केवल इनका पालन-पोषण ही करना पड़ेगा। ऐसा काम करने से दान के पुण्य फल के बदले हमें पाप ही होगा, फलस्वरूप आनन्दहीन नरक में दाता को जाना पड़ेगा (कठोपनिषद् देखिए)।

अनन्ध (वि०) जो अंधा न हो, नेत्रयुक्त।

अनन्य (वि०) अन्य से सम्बन्ध न रखने वाला। एकनिष्ठ, अद्वितीय, अविभक्त।

अनन्यगतिः (स्त्री०) वह जिसकी कोई अन्य गति न हो।

अनन्यचित्त, अनन्यचेतस् (वि०) एक ही ओर मन को लगाने वाला; अनन्यचेता, दूसरी ओर ध्यान न बँटा हुआ, एकाग्रचित्त (पठन्ति ये स्तवं शुभं नराः अनन्यचेतसः —रामस्तोत्र १२)।

मनुष्य का चित्त सदा एक विषय को छोड़कर दूसरे विषय में दौड़ता रहता है। यदि वह समस्त बाहरी विषयों को छोड़कर अन्तरस्थ आत्मा में चित्त को लगाये रखे तो वह अनन्यचेता कहलाता है। इस प्रकार अनन्यचेता होकर जो आत्मा का स्मरण करता रहता है, ऐसे नित्ययुक्त योगी परमात्मा को अपरोक्ष रूप से जानते हैं (अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः—गीता ८।१४)। इस प्रकार अनन्यचेता होकर जो ईश्वर की उपासना करते हैं उनके जीवन धारण के उपयोगी वस्तुओं को ईश्वर ही जुटा देते हैं और उनकी रक्षा भी वही करते हैं (अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् —गीता ९।२२)।

अनन्यजः (पुं०), अनन्यजन्मन् (न०) कामदेव, मदन।

अनन्यपूर्वः (पुं०) वह जिसे दूसरी स्त्री न हो।

अनन्यपूर्वा (स्त्री०) अविवाहिता स्त्री, कुमारी।

अनन्यप्रोक्त (वि०) जो ज्ञानी अपने को ब्रह्म से अभिन्न समझते हैं उनके द्वारा उपदिष्ट, ब्रह्मज्ञ-कथित (अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति–कठोपनिषद १ २।८)। ऐसे व्यक्ति के द्वारा आत्मा का उपदेश देने पर गति नहीं रहती अर्थात् समस्त गतियाँ आत्मा में समाप्त हो जाती हैं। क्योंकि आत्मा अचल अर्थात् सर्वत्र पूर्ण है । अन्य = दूसरा, ऐरा-गैरा, जो ऐरा गैरा न हो, ऐसे ब्रह्मज्ञ पुरुष के उपदेश से आत्मज्ञान उत्पन्न हो सकता है । किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आप्त (भ्रम-प्रमाद रहित) पुरुष का उपदेश आवश्यक है । माता-पिता की पहचान पुत्र को उस प्रकार के आप्त पुरुष ही करा देते हैं । एक विद्या को जो अच्छी तरह जानता है, वह उसे बतला दे तभी दूसरों को उस विद्या का ज्ञान प्राप्त होता है । जो व्यक्ति समग्र आत्मा का ज्ञान नहीं रखता अथवा जो मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन कर आत्मा के विषय में सभी बातें जान गया, परन्तु अपरोक्ष रूप से आत्मा की उपलब्धि नहीं की है, ऐसे व्यक्ति के द्वारा कथित होने पर आत्मज्ञान नहीं हो सकता । उपनिषदों में इसी कारण मुमुक्षु को आत्मज्ञान-प्राप्ति के निमित्त शास्त्रज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाने की आज्ञा दी गई है (तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्–मुण्डकोपनिषद १।२।१२)।

अनन्यभक्तिः (स्त्री०) एकनिष्ठा भक्ति, विष्णुभक्त की भक्ति केवल विष्णु में ही रहे, शिव, दुर्गा आदि अन्य देवताओं के प्रति न जाय । पत्नी भी पति के प्रति अनन्यभक्ति रखे तभी वह पतिव्रता सती कहलाती है । पितृभक्ति, मातृभक्ति, गुरुभक्ति आदि भी एकनिष्ठा होनी चाहिए ।

अनन्यभाज् (वि०) जो किसी अन्य में आसक्त न हो ।

अनन्यभाव (वि०) एक ही को सोचने वाला, एक ही ओर ध्यान लगाने या चिंतन करने वाला ।

अनन्ययोगः (पुं०) एकांत संयोग, पूर्णतया मिलन । साधक अनन्ययोग से अपने चित्त को इष्ट में मिला देते हैं । योगी अपने चित्त को पुरुष में अनन्ययोग से संयुक्त कर देते हैं । ज्ञानी अपने मन को आत्मा के साथ अनन्ययोग से मिला देते हैं ।

मन की वृत्ति अन्य विषय में न जाय केवल अपने इष्ट में ही मिलित रहे तो यथार्थ अनन्ययोग सिद्ध होता है । साधक, भक्त, तपस्वी, योगी आदि के सामने अपने इष्ट के अतिरिक्त अन्य भी सत्य विषय हैं । इसी कारण चंचल मन प्रायः दूसरे विषयों में खिंच जाता है । परंतु ज्ञानी के सामने आत्मातिरिक्त माया कल्पित सभी विषय मिथ्या हैं । ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व दूसरों के समान उनका भी चित्त सांसारिक विषयों में भटकता रहता है । परन्तु जिस क्षण उन्हें आनंद रूप आत्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, उस क्षण से ही उनके चित्त का कल्पित विषयों की तरफ खिंच जाना भी बंद हो जाता है । जो ज्ञानी सच्चिदानन्द आत्मा को 'यह पुरुष ही मैं हूँ' इस प्रकार जानते हैं वह इस कल्पित प्रपंच में किस वस्तु की आकांक्षा से किसके लिए शरीर के पीछे दौड़ कर दुःखी होंगे ? (आत्मानञ्चेत् विजानीयात् अयमस्मीति पुरुषः किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्—बृहदारण्यक २।३।४)। इस कारण यथार्थ अनन्ययोगी केवल ज्ञानी ही हो सकते हैं ।

यह अनन्ययोग ज्ञान का ही साधन है ।

अनन्यविषयः (पुं०) वह विषय जिसका किसी अन्य से सम्बन्ध न हो ।

अनन्यवृत्ति (वि०) एक ही स्वभाव का, जिसकी जीविका का कोई अन्य साधन न हो ।

अनन्यसदृश (वि०) बेजोड़, अद्वितीय ।

अनन्यसाधारण, अनन्यसामान्य (वि०) असाधारण, एक ही से संबंध रखने वाला ।

अनन्वयः (पुं०) एक अर्थालंकार जिसमें एक ही उपमान और एक ही उपमेय हो ।

अनन्वाभक्त (वि०) भाग या अंश ग्रहण न करने वाला ।

अनन्वित (वि०) असंबद्ध, अनियमित ।

अनप (वि०) जिसमें अधिक जल न हो, अल्प जल वाला ।

अनपकरणम् (न०) अदायगी का अभाव, बिगाड़ न करना ।

अनपकर्षः (पुं०) अपकर्षता का अभाव, श्रेष्ठता ।

अनपकारः (पुं०) हानिराहित्य, अहिंसाशून्यता ।

अनपकारिन् (वि०) हानि न करने वाला ।

अनपकृत (वि०) अपकार या हानि न किया हुआ ।

अनपक्रम (वि०) दूर न जाने वाला, क्रमसङ्गत ।

अनपक्रामुक (वि०) न दौड़ने वाला, जो दौड़ता न हो।

अनपच्युत (वि०) च्युत न होने वाला, पतित न होने वाला।

अनपत्य (वि०) जिसे संतान न हो, संतानरहित।

अनपत्यक (वि०) संतान-विहीन।

अनपत्यता (स्त्री०) संतान-विहीनता, संतान का अभाव।

अनपत्यवत् (वि०) संतान-रहित, बिना संतान का।

अनपत्रप (वि०) जिसे लाज न हो, निर्लज्ज।

अनपदेशः (पुं०) अमान्य-तर्क, ऐसा तर्क-वितर्क जो मान्य न हो।

अनपभ्रंशः (पुं०) ऐसा शब्द जिसके रूप में किसी प्रकार का विकार न हुआ हो, शुद्ध संस्कृत शब्द।

अनपयति (अव्य०) बहुत सवेरे, बहुत तड़के, सूर्योदय के पूर्व।

अनपर (वि०) जिसका कोई अनुयायी न हो, अकेला, स्वयं।

अनपराद्ध (अव्य०) बिना आघात के, बिना क्षति के।

अनपराद्धः (वि०) दोषरहित, अपराधरहित।

अनपराधिन् (वि०) निरपराधी, निष्पाप।

अनपवृज्य (वि०) समास होने के अयोग्य।

अनपसर (वि०) जिसमें से निकलने का कोई मार्ग न हो, असमर्थ, अक्षम्य।

अनपसरः (पुं०) बलात् अधिकार करने वाला व्यक्ति।

अनपाय (वि०) अविनाशी, अविनश्वर।

अनपायः (पुं०) स्थायित्व, शिव।

अनपायिन् (वि०) अविनाशी, स्थायी, दृढ़।

पहले मन, उसके बाद धर्म, धर्म का जन्म मन में होता है। जो व्यक्ति प्रसन्नचित्त से काम करता है और काम करते हुए धीमे स्वर से संगीत अलापता है सुख उसके पीछे पीछे दौड़ता है, जैसे कि छाया सदा ही काया के पीछे रहती है (मनोपूब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया। मनसा चे पसन्नेन भासति वा करोति वा। ततो नं सुखमन्वेति छाया व अनपायिनी—धम्मपद, यमकवग्गो २)।

भक्त कवि ने कहा है—अविवेकी मनुष्यों में विषयों के प्रति जो अटल प्रीति है, हे भगवन्, सदा तुम्हारा अनुचिंतन करने वाले मेरे हृदय से तुम्हारे प्रति वैसी प्रीति अपसृत न हो (या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी त्वाम् अनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु-हरिभक्तिविलास ३६)।

इस श्लोक का एक अन्य प्रकार का अर्थ भी है जैसे--मा शब्द का अर्थ है लक्ष्मी, उसके साथ प लगने से पति अर्थ होता है अर्थात् हे माप, हे लक्ष्मीपति विष्णु, दिनरात तुम्हारा अनुस्मरण करने वाले मेरे हृदय से अज्ञानियों जैसी दृढ़ विषयप्रीति सर्पतु हट जाय, विषय में मेरा चित्त न जाय।

अनपाश्रय (वि०) जो आश्रित न हो, अनाश्रित।

अनपुंसकम् (न०) वह जो नपुंसक या नामर्द न हो।

अनपूपीय (वि०) पूय (पकवान) के अयोग्य।

अनपेक्ष (वि०) असावधान, स्वतन्त्र, निस्पृह, पक्षपातरहित, असंगत।

अनपेक्षम् (क्रि० वि०) स्वतन्त्रता से, यथेच्छा से, अनावश्यक।

अनपेक्षित (वि०) असम्मानित, अनादृत।

अनपेक्षा (स्त्री०) निस्पृहता, अवांछा, उपेक्षा।

अनपेत (वि०) जो व्यतीत न हुआ हो, जो दूर न गया हो, अपृथक, अविहीन।

अनप्त (वि०) जो जलीय न हो।

अनभिज्ञ (वि०) अज्ञ, अपरिचित, अनभ्यस्त।

अनभिद्रुह (वि०) जो ईर्ष्यालु न हो, डाह न करने वाला।

अनभिभूत (वि०) जो अभिभूत न हुआ हो, न रोका हुआ, अबाधित।

अनभिमत (वि०) जिसका चित्त एकाग्र न हो, अप्रिय।

अनभिम्लात (वि०) जो कुम्हलाया या मुरझाया हुआ न हो, अम्लान।

अनभिरूप (वि०) प्रसन्न न करने वाला, असुन्दर।

अनभिलाषः (पुं०) इच्छा का अभाव, भूख का अभाव, क्षुधा की मंदता।

अनभिव्यक्त (वि०) जो स्पष्ट न हो, अस्पष्ट, अप्रकट।

अनभिशंसनम् (न०) दोष-क्षालन, अपराध से बरी करना।

अनभिशस्त (वि०) कलंक-रहित, दागरहित, दोष-मुक्त।

अनभिषङ्गः (पु०) सम्बन्ध या आसक्ति का अभाव।

अनभिन्धानः (पु०) आशय का अभाव; संधान का अभाव, निष्कपटता, बेमिलावट।

अनभिसम्बन्ध (वि०) सम्बन्ध-रहित, असंबद्ध।

अनभिस्नेहः (पुं०) स्नेहशून्यता, प्रेमराहित्य, आशक्तिराहित्य। संसार में पत्नी-पुत्र आदि संबंधियों से प्रायः सभी मनुष्यों को प्रेम-सम्पर्क रहता है। प्रेम, स्नेह आदि अज्ञानजनित मोह से उत्पन्न होते हैं। आत्मा निर्लिप्त है, अज्ञान से लोग अपना आत्मस्वरूप भूल कर माया-कल्पित देह-इंद्रियादि को अपना स्वरूप समझते हैं, शरीरादि के क्लेश को अपना क्लेश मानते हैं; माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि से सम्बन्ध जोड़कर उनके सुख-दुःख को भी अपना सुख-दुःख समझते हैं। ज्ञानी अपने शरीरादि तथा संबंधी व्यक्तियों से कोई स्नेह-संपर्क नहीं रखते। इससे उनका लौकिक व्यवहार नष्ट नहीं होता, वह अत्यंत बुद्धिमान होने के कारण सांसारिक सभी लोगों के साथ उत्तम रूप से व्यवहार करते हैं। अज्ञानी सांसारिक शोक, दुःख, निंदा आदि से व्याकुल होकर दुःख पाते हैं, परंतु ज्ञानी-सांसारिक किसी भी घात-प्रतिघात से विचलित नहीं होते। उनका व्यवहार खेल की तरह है (ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समेऽप्यारब्धकर्मणि। न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यात् मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः—पञ्चदशी ७।१३३। न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्। स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मनि स्थितः— गीता ५।२०)।

किसी से स्नेह संबंध रखने पर उसके वियोग से और उसके किये अकर्मों से मनुष्य दुःख पाता है (ममेति मूलं दुःखस्य निर्ममेति च निर्वृतिः। शुकस्य विगमे दुःखं न दुःखं गृहमूषिके विष्णुपुराण ५।१०७)। मनुष्य जिसको प्रिय समझता है वही दुःख देता है। इस कारण ज्ञानी किसी से स्नेह-संपर्क नहीं रखते और संसार में निर्लिप्त होकर विचरण करते हैं। यह गीतोक्त स्थितप्रज्ञ का एक लक्षण है (यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता—गीता २।५७)।

अनभिहित (वि०) बिना नाम का, नाम-रहित, अनुक्त, अकथित।

अनभीशु (वि०) विना लगाम का, लगाम-रहित।

अनभ्यनुज्ञा (स्त्री०) अनुज्ञा या आदेश का अभाव।

अनभ्यवचारुक (वि०) आक्रमण न करने वाला।

अनभ्यारूढ (वि०) न चढ़ा हुआ, जो प्राप्त न किया गया हो।

अनभ्यारोह्य (वि०) आरोहण के अयोग्य।

अनभ्याश, अनभ्यास (वि०) जो निकट न हो, दूर। अभ्यास का अभाव रहित।

अनभ्र (वि०) मेघरहित, बादलरहित।

अनभ्रि (वि०) न खोदा हुआ।

अनमः (पुं०) ऐसा ब्राह्मण जो किसी को प्रणाम न करे अथवा किसी के प्रणाम करने पर उसे आशीर्वाद न दे।

अनमनीय (वि०) अनम्य, जो लचीला न हो, कड़ा, जिसे झुकाया न जा सके, हठी, ढीठ, अक्खड़।

अनतिम्पच (वि०) कृपण, कंजूस।

अनम्बर (वि०) अंबर या वस्त्र से रहित, नंगा।

अनम्बरः (पुं०) बौद्ध भिक्षु, दिगंबर या नागा साधु।

अनम्य (वि०) अनमनीय, दृढ़, कड़ा, कठिन, कठोर।

अनयः (पुं०) अन्याय, अनौचित्य, कुमार्ग, कुपथ, विपत्ति, दुःख, दुर्भाग्य, दुर्व्यवस्था, जुआ।

अनरण्यः (पुं०) एक सूर्यवंशी राजा का नाम। अनेक राजाओंने रावण के पास पराजय स्वीकार कर ली थी, किंतु इसने नहीं की और सैन्यबल के साथ इसने रावण से युद्ध ठान लिया। रावण की वाण-वर्षा से इसका रथ नष्ट हो गया और यह मारा गया। इसने इक्ष्वाकु कुल में दशरथ और राम के जन्म की और रावण के नाश की भविष्यवाणी करके स्वर्ग प्रस्थान किया था।

अनरुस् (वि०) अक्षत, घाव न लगा हुआ, अनाहत।

अनर्गल (वि०) बिना अर्गल का, खुला हुआ, अनियंत्रित, स्वेच्छाचारी, निर्बाध, लगातार।

अनर्घ (वि०) अमूल्य, बहुमूल्य।

अनर्घः (पुं०) अनुचित मूल्य ।

अनर्घ्य (वि०) अमूल्य, प्रतिष्ठित, सम्मानित । अपूज्य ।

अनर्जक (वि०) उपार्जन न करने वाला, बेकार, कर्महीन ।

अनर्थ (वि०) निकम्मा, हानिकारक, भाग्यहीन, विपद्ग्रस्त, निष्प्रयोजन, उत्पात, अनिष्ट, दुःखदायक, उपद्रव वाला ।

अनर्थः (पुं०) निकम्मी वस्तु, विपत्ति, दुर्भाग्य, संसार के सुख-दुःख, शोक मोहादि सभी पदार्थ ।

अर्थ, धन, संपत्ति आदि को अनर्थ अर्थात् हानिकारक समझना चाहिए क्योंकि इनमें सुख का लेश भी नहीं है । पुत्र से भी धनिकों को भय रहता है । ऐसी नीति-वार्ता सर्वत्र कथित होती है (अर्थमनर्थं भावय नित्यं, नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम् । पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा कथिता नीतिः—शंकराचार्यकृत मोहमुद्गर १३) (अर्थः देखिए) ।

अनर्थक (वि०) तुच्छ, व्यर्थका, अर्थहीन ।

अनर्थत्रिवर्गः (पुं०) अनर्थ, अधर्म और शोक इन तीनों का समूह ।

अनर्थ्य (वि०) अनुपयोगी, अर्थरहित, अलाभकर, तुच्छ, अभागा ।

अनर्थ्यम् (न०) निष्प्रयोजन वार्ता, व्यर्थ की बात-चीत ।

अनर्वा [वेद] (वि०) आश्रित, पराधीन, दूसरे के बश में हुआ (अनर्वाणं वृषभं मन्द्रजिह्वम्—ऋ० २।५।१२।१) ।

अनर्शरातिम् [वेद] (न०) कटुवचनरहित दान (अनर्शरातिं वस्तु दामुपस्तुहि—ऋ. सं. ६।७।३।४) ।

अनर्ह (वि०) अयोग्य, अवांछित, अनुपयुक्त ।

अनर्हीकरणम् (न०) अयोग्य ठहराना या बनाना ।

अनलः (पुं०) अग्नि, भोजन पचाने की शक्ति, जठराग्नि ।

अनलद (वि०) गर्मी या अग्नि का नाशक, आग बुझाने वाला ।

अनलदीपन (वि०) पाचन शक्ति बढ़ाने वाला, जठराग्नि प्रज्वलित करने वाला ।

अनलप्रिया (स्त्री०) अग्निदेव की पत्नी ।

अनलंकरिष्णु वि०) जो आभरण से भूषित न हो । आभूषणरहित, भूषित न करने वाला ।

अनलस (वि०) जो सुस्त न हो, आलस्यरहित, सक्रिय, कर्मठ, फुर्तीला ।

अनलसादः (पुं०) भूख न लगने का रोग, मंदाग्नि ।

अनलार्कद्युति (वि०)अनल और सूर्य की ज्योति स्वरूप । यह शब्द विश्वरूप भगवान का विशेषण है । पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्—गीता ११।१७)। भगवान स्वयंप्रकाश हैं और उन्हीं के प्रकाश से सूर्य, नक्षत्र, अग्नि आदि प्रकाश प्राप्त हुए हैं (न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति, कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति—कठोपनिषद् २।५।१५) । इसी कारण सांसारिक सभी ज्योतियाँ उन्हीं की हैं ।

अनल्प (वि०) जो अल्प न हो, बहुत, उदार ।

अनल्पघोष (वि०) जोर का शब्द करने वाला ।

अनल्पमन्यु (वि०) अत्यधिक कुपित, अत्यन्त क्रोधयुक्त ।

अनवः [वेद] (पुं०) मनुष्य (अनवस्ते रथमश्वाय तक्षन्—ऋक् संहिता ४।१।२६।४) ।

अनवकाश (वि०) जिसे अवकाश या अवसर न हो, अप्रार्थित ।

अनवकाशः (पुं०) अवकाश का अभाव, प्रयोग या व्यवहार का स्थान न मिलना (स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेत् न, स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्-ब्रह्मसूत्र २।१।१) । वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्मकारणवाद स्थापित हो जाने से कपिल-प्रणीत सांख्य दर्शन-रूप स्मृति-शास्त्र का कोई अवकाश ही न रह गया । इस प्रकार का प्रश्न होने पर वेदव्यासजी ने कहा—"कपिल की स्मृति को मानने पर एकात्मवाद के समर्थक महर्षि मनु की स्मृति का भी तो कोई अवकाश नहीं रहता । मनुसंहिता में आत्मज्ञान-प्रतिपादक सिद्धान्त विद्यमान है (सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । समं पश्यन्नात्मयजी स्वाराज्यमधिगच्छति—मनु १२।९१), अर्थात् समस्त प्राणियों में आत्मा को और समस्त प्राणियोंको आत्मा में समान रूप से देखकर अर्थात् जानकर आत्मपूजा-परायण ज्ञानी स्वाराज्य अर्थात्

आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है ऐसा ज्ञान प्राप्त होंगे। यही वेदान्त का "सर्वं खलु इदं ब्रह्म" भाव है। यही अद्वैत आत्मज्ञान है। अद्वैतवादः देखिए)।

कपिल की स्मृति में जड़-कारणवाद प्रतिपादित है अर्थात् त्रिगुणमयी जड़ा प्रकृति ही संसार का कारण है— ऐसा सिद्धान्त माना गया है। श्रुतियों के समन्वय से ब्रह्म-सूत्र के प्रथम अध्याय में चेतन-कारणवाद संस्थापित कर दिया गया है। यदि श्रुति और स्मृति में विरोध हो तो श्रति को ही श्रेष्ठ मानना चाहिए (श्रुति-स्मृत्योर्विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी—अत्रि सं ७।३।२)। वेदान्त प्रतिपादित श्रुति का सिद्धान्त ही प्रबल है और इसके साथ मनुस्मृति का सिद्धान्त भी मिलता है। ऐसी स्थिति में सांख्यस्मृति का अवकाश न रहने पर भी कोई हानि नहीं है।

अनवगाहिन् (वि०) भीतर न डूबने वाला।

अनवगाह्य (वि०) अथाह, जिसकी थाह न हो।

अनवगीत (वि०) जिसकी निंदा न हुई हो, अनिंदित।

अनवग्रह (वि०) अनिवार्य, अत्यधिक प्रबल, स्वच्छन्द।

अनवच्छिन्न (वि०) निस्सीम, अचिह्नित, अमर्यादित, अपृथक्, अखण्डित, असंशोधित, अविनीत, जिसकी परिभाषा न दी गई हो।

अनवतप्रद्रहः (पुं०) [बौद्ध] हिमाचल का एक ह्रद।

अनवच्छिन्नहासः (पुं०) अविराम होनेवाली अशिष्ट हँसी।

अनवद्य (वि०) निष्कलंक, निर्दोष, अभर्त्सनीय, प्रशंसनीय।

अनवद्यरूपा (स्त्री०) निष्कलंक सुन्दरता।

अनवद्याङ्ग (वि०) निष्कलंक शरीर या अंगों वाला।

अनवद्याङ्गी (स्त्री०) वह स्त्री जिसकी सुंदरता में कोई त्रुटि या दोष न हो।

अनवद्राण (वि०) न सोने वाला, न सोया हुआ।

अनवधान (वि०) असावधान।

अनवधानता (स्त्री०) असावधानता, अमनस्कता।

अनवधि (वि०) अवधि-रहित, असीम।

अनवन (वि०) अरक्षण।

अनवब्रव (वि०) [वेद] अभर्त्सनीय, भर्त्सना के अयोग्य, अप्रतिहतशासन, अनवक्षिप्त वचन (विजेष-कुदिन्द्र इवानवब्रवः - ऋक् संहिता ८।३।१६।५)।

अनवभासनम् (न०) अप्रकाश, भान न होना, अभान। जल में नमक या चीनी घोल देने से वह अवभासित नहीं होता। दिन में नक्षत्र रहते हुए भी तीव्र सूर्य प्रकाश से अविभूत हो जाने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होते। तीव्र क्रोध के समय करुणा, क्षमा, आदि शुभ वृत्तियाँ मन में रहते हुए भी अवभासित नहीं होती। इसी प्रकार स्वप्नकाल में आत्मा का भान तो रहता ही है परंतु स्थूल देहका भान नहीं रहता (अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद्भानमात्मनः। सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनम्—पंचदशी १।३८)। इसी प्रकार अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा विचारवान पुरुष देह से आत्मा को पृथक जानकर कृतकृत्य हो जाता है।

अनवम् (वि०) जो तुच्छ न हो, उन्नत, श्रेष्ठ, प्राचीन।

अनवमर्शम् (अव्य०) बिना स्पर्श किये, बिना हुए।

अनवमृश्य (वि०) स्पर्श करने के अयोग्य, न छूने योग्य।

अनवर (वि०) जो हीन न हो, उत्तम, श्रेष्ठ।

अनवरत (वि०) सदैव, सतत, निरंतर, अहर्निश।

अनवराध्यं (वि०) प्रधान, श्रेष्ठ, सर्वोत्तम, समीचीन।

अनवलम्ब, अनवलम्बन (वि०) जिसका कोई अवलम्बन न हो, निराश्रित।

अनवलम्बः (पुं०), अनवलम्बनम् (न०) स्वतंत्रता।

अनवलम्बित (वि०) जो आश्रित न हो, स्वतंत्र।

अनवलोभनम् (न०) गर्भ के तीसरे महीने में किया जाने वाला एक संस्कार।

अनवस (वि०) न रुकने वाला, न ठहरने वाला।

अनवसर (वि०) कुसमय का, व्यस्त।

अनवसरः (पुं०) अवकाश का अभाव, व्यस्तता।

अनवसान (वि०) अंत या समाप्त न होने वाला, अंतरहित, मृत्यु से मुक्त।

जनवसित (वि०) जिसका अंत या समाप्ति न हुई हो।

अनवस्कर (वि०) मैलरहित, स्वच्छ।

अनवस्थ (वि०) अस्थिर, चंचल।

अनवस्था (स्त्री०) स्थिति का अभाव, दर्शन शास्त्रों में युक्तितर्क का यह एक दोष है (अन्योन्याश्रयः देखिए)

अनवस्थान (वि०) चंचल, अस्थिर, अदृढ़।

अनवस्थानः (पुं०) पवन, वायु।

अनवस्थानम् (न०) अवस्थान का अभाव, न रहना, अविद्यमानता, अन्यमनस्कता। मन किसी अन्य विषय में संलग्न रहे तो इंद्रियाँ अपने विषय का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकतीं। कामांध व्यक्ति दिन के प्रकाश में भी निकट के पुरुष को नहीं देखता (कामार्तः पुरुषः सूर्यालोकमध्यवर्तिनं अपि पुरुषं न पश्यति--सांख्यकारिकाटीका ६१)। किसी गम्भीर चिंता में तन्मय व्यक्ति के सामने से अनेक मनुष्य चले भी जायँ, वह किसी को स्पष्ट रूप से नहीं देखता। छात्र गणित का कोई प्रश्न हल करने में तन्मय हो गया, दीवाल-घड़ी में ६ की घंटी बज गयी, किंतु उसे वह शब्द नहीं सुनाई पड़ा। जब उधर ध्यान गया तो देखा १० बजनेवाला है तब वह झट उठ पड़ा। इसी प्रकार नासिका, जिह्वा और त्वचा के विषय में भी समझना चाहिए।

सुषुप्ति में मन अनवस्थित हो जाता है अर्थात् वह अपनी स्थिति में नहीं रहता, निज कारण अज्ञान में डूब जाता है। इसी कारण इंद्रियाँ खुली रहने पर भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन विषयों का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, रोग का क्लेश या प्रिय-वियोग के शोक का कष्ट भी नहीं अनुभूत होता।

इंद्रियों की शक्ति बहुत ही अल्प है। चक्षु दीवाल के उस ओर की वस्तु या पाँच छः मील ऊपर के पक्षी, विमान को नहीं देख सकता। जल में नमक या चीनी घोल देने पर वे नहीं प्रत्यक्ष होते, चक्षु के बहुत समीप पलक या अंजन दिखाई नहीं पड़ता। दिन में तीव्र सूर्यालोक से अभिभूत हो जाने के कारण रहते हुए भी नक्षत्र प्रत्यक्ष नहीं होते। सरसों के ढेर में एक सरसों का दाना मिला देने पर वह दिखाई नहीं पड़ता। सौ हाथ दूर दो मनुष्यों की बातचीत करने का शब्द सुनाई नहीं पड़ता। १० मील दूर तोप दागने का भयंकर शब्द भी कान तक नहीं पहुँचता। बगीचे के पौधे में खिले गुलाब पुष्प का सौरभ घर में बैठे व्यक्ति की नाक में नहीं पहुँचता। जिह्वा से थोड़ी दूर पर की मिठाई का स्वाद वह नहीं पाती। त्वचा से कुछ दूर रहने पर वस्तु की कोमलता या कठोरता नहीं प्रतीत होती। इंद्रिय की शक्ति नष्ट हो जाय तो मन अकेला बाहरी किसी भी विषय का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता (अतिदूरात् सामीप्यात् इन्द्रियवधात् मनोऽनवस्थानात् सौक्ष्म्याद् व्यवधानात् अभिभवात्, समानाभिहाराच्च – सांख्यकारिका ७)।

अनवस्थित (वि०) परिवर्तनीय, असंयत, अनियंत्रित।

अनवहित (वि०) जो ध्यानावस्थित न हो, जो एकाग्रचित्त न हो।

अनवह्वर (वि०) जो टेढ़ा न हो, सीधा।

अनवाच् (वि०) जो वचन-रहित न हो।

अनवानत् (वि०) साँस न लेने वाला।

अनवाप्त (वि०) जो प्राप्त न किया गया हो, अप्राप्त।

अनवाप्ति (स्त्री०) अप्राप्ति।

अनवाय (वि०) न रुका हुआ।

अनवायम् [वेद] (वि०) अवयवयुक्त, सकल (द्वेषो धत्तमनवाय किमीदिने--ऋ० सं० ५।७।५।२)।

अनवेक्षक (वि०) असावधान, निरपेक्ष।

अनवेक्षणम् (न०) असावधानी; निरपेक्षता।

अनशनम् (न०) उपवास, व्रत।

अनशितम् (न०) न खाने योग्य स्थिति।

अनश्रु (वि०) अश्रुरहित, आँसूरहित।

अनश्व (वि०) जिसके पास घोड़े न हों, अश्वहीन।

अनश्वर (वि०) जो नश्वर न हो, अविनाशी।

अनष्ट (वि०) जो नष्ट न हुआ हो, जिसका नाश न हुआ हो।

अनस् (न०) गाड़ी, उत्पत्ति, संतान, जीवधारी, उबाला हुआ चावल, भात।

अनसूय, अनसूयक (वि०) ईर्ष्यारहित।

अनसूया (स्त्री०) ईर्ष्या का अभाव, दूसरे के गुणों में दोष न देखना।

(१) यह महर्षि अत्रि की स्त्री थीं। उनके पिता का नाम दक्ष-प्रजापति और माता का नाम प्रसूति था। यह

असूया-रहित थीं इसलिए इनका नाम अनसूया पड़ा। एक दिन अनसूया के सतीत्व की परीक्षा के लिए ब्रह्मा विष्णु और महेश उनकी कुटी के पास ब्राह्मण अतिथि के वेश में पहुँचे। अतिथि-सत्कार के उपक्रम के पूर्व ही उन्होंने ब्राह्मण-वेशधारी तीनों देवताओं को पहचान लिया और उन लोगों की सेवा की व्यवस्था कर दी। अनसूया ने पति का पादोदक तीनों अतिथियों के शरीर पर छिड़क कर कहा -'बालरूप हो जाओ' उसी समय वात्सल्य से उनके स्तनों से दूध की धारा बह चली। उसका स्तन-पान कर तीनों देवता परितृप्त हो गये। उनकी अपूर्व महिमा देखकर वे तीनों देवताओं ने वरदान देना चाहा। इसपर अनसूया ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश त्रिमूर्ति को पुत्रदेव रूप में देखने की कामना की। सती की मनोकामना पूर्ण हुई और वह तीन-तीन बच्चों की माँ हो गयीं। ब्रह्मा के अंश से सोम, महेश के अंश से दुर्वासा और विष्णु के अंश से दत्तात्रेय की उत्पत्ति हुई।

(२) वनवास काल में रामचन्द्र सीता और लक्ष्मण के साथ चित्रकूट में अत्रिमुनि के आश्रम में अतिथिरूप में ठहरे थे।

उस समय अनसूया अत्यन्त वृद्धा हो गयी थीं। वृद्धावस्था के कारण उनका शरीर शिथिल हो गया था। पति के पथ की अनुगामिनी होकर उन्होंने कठोर तपस्या की और परार्थ में जीवन उत्सर्ग कर दिया था। सीता के विनय और मधुर वार्ता से सन्तुष्ट होकर उन्होंने सीता को दिव्य-वरमाला और रत्नाभरण, अंगराग, गन्धानुलेपन आदि दिया था, जिनकी विशेषता यह थी कि उनका व्यवहार करने वाला कभी मलिन नहीं हो सकता।

(३) कण्वऋषि की पालिता कन्या शकुन्तला की एक प्रधान सहचरी का नाम भी अनसूया था।

अनसूरिः (पुं०) बुद्धिमान पुरुष।

अनस्तमित (वि०) नीचे न गया हुआ, अस्त न हुआ; उदित।

अनस्थ (वि०) अस्थिरहित, हड्डीरहित।

अनहंवादिन् (वि०) अनहंवादी, अहंकार न करने वाला, हर विषय में 'मैं' 'मेरा' आदि न कहने वाला। जो बहुत अधिक मैं, मेरा आदि शब्दों का प्रयोग करता है, वही अहंवादी या अहंकारी है। अहंकार पतन का कारण है (अहंकारः देखिए)।

वेदांत में अहं शब्द के तीन प्रकार के प्रयोग बताये गये हैं। स्थूल शरीर में--जैसे, मैं मनुष्य हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं धनवान हूँ। सूक्ष्म शरीर में—जैसे मैं विद्वान हूँ, बुद्धिमान हूँ, धार्मिक हूँ, मैंने तप करके शरीर को सुखा डाला है, मृत्यु के बाद मैं स्वर्ग चला जाऊँगा। आत्मा में-जैसे, मैं आत्मा हूँ, ब्रह्म हूँ, सर्वव्यापक हूँ, सच्चिदानंद मैं हूँ, मेरा जन्म नहीं हुआ और न मृत्यु ही होगी, मैं अनादि अनंत हूँ, मुझसे ही इस संसार-प्रपञ्च का विकास हुआ है, मायाकल्पित स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से मेरा कोई सम्पर्क नहीं है। यह तृतीय व्यक्ति ही यथार्थ में अनहंवादी है (एको मुख्यो द्वावमुख्यावित्यर्थस्त्रितविधोऽहमः। असंगोऽहं चिदात्माहमिति शास्त्रीयदृष्टितः। अहंशब्दं प्रयेक्तेऽयं कूटस्थे केवले बुधः—पं. द. ७।६-१३)।

स्वामी रामतीर्थ कभी 'मैं' 'मेरा' आदि शब्दों का प्रयोग नहीं करते थे। वह अपने लिए कहा करते थे कि 'राम अब नहाने जायगा', 'राम को भूख लगी है', 'राम खायगा'। आज (१६७७ ई० में) देवी-रूपिणी माँ आनंदमयी अभी जीवित हैं, यह भी कभी 'मैं' 'मेरा' शब्दों का प्रयोग नहीं करतीं। यह अपने लिए कहा करती हैं 'इस शरीर की माँ ने ऐसा कहा था', 'यह शरीर अब कैलाश जाना चाहता है,' 'यह शरीर जब ढाका में था' इत्यादि। इन लोगों की तथा आत्मज्ञानियों की दृष्टि सदा आत्मा में रहती है। उन्नीसवीं ई० के प्रथम दशक में स्वयंभाति देवी नाम की एक संन्यासिनी वाराणसी में रहती थीं। उनको एक दिन बहुत ज्वर आ गया और शरीर की जलन से वह आह, ऊह, हाय आदि शब्द कर रही थीं। एक आदमी ने सुनकर पूछा—"आप ऐसी तत्त्वज्ञानी हैं, तो आह, ऊह क्यों कर रही हैं?" उन्होंने तुरंत उत्तर दिया—"जिसे ज्वर हुआ है, वह 'आह', 'ऊह' करके यदि कुछ आराम पाता है, तो पाने दो।" कैसी आत्मस्थिति! वैसे तीव्र ज्वर की जलन में भी वह देवी आत्मा को न भूलीं। यही अनहंवाद, आत्मनिष्ठा, ब्राह्मी स्थिति है (एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति—गीता २।७२)।

परंतु ऐसे आत्मज्ञ व्यक्ति स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर में अभिमान करके सांसारिक व्यवहार कर सकते हैं। वह जानते हुए ऐसा करते हैं, इसलिए इस प्रकार के अहंवाद

से वह बद्ध नहीं होते। जो अज्ञानवश शरीर में अहं-अभिमान करता है शोक-मोहादि से बद्ध होकर उसी को दुःख भोगना पड़ता है। इसी कारण बुद्धिमान मनुष्य को आत्मा और अनात्मा के विचार द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करके अनहंवादी होना चाहिए। जो शरीर के संग से मुक्त हो गये हैं, शरीर पर कभी अहं अभिमान नहीं करते, जो धैर्य और उत्साह से युक्त हैं, कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष शोकादि विकारों से रहित हैं वही सात्त्विक अर्थात् उत्तम कर्त्ता कहे जाते हैं (मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः। सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते—गीता १८।२६)।

अनहङ्कारः (पुं०) अहंकार-शून्यता, घमंडराहित्य, विनय, अहंकार ही सारे दुःखों का कारण है। क्योंकि इस शरीर में अहंकार ही कर्त्ता है (अहंकारः कर्ता न पुरुषः—सांख्यदर्शन ६।५४)। अहंकार में आघात लगने से ही मनुष्य को दुःख होता है। कोई-कोई क्रोध करके और भी अधिक दुःख उत्पन्न कर लेते हैं। प्रतिशोध के लिए मार-पीट या मुकदमे-बाजी हो तो और भी अधिक दुःख भोगना पड़ता है। शरीर में रोग हुआ तो उसका अनुभव भी अहंकार ही करता है।

ऐसे दुःखदायी अहंकार को विचारवान पुरुष छोड़ देते हैं। वह सदा अपने को आत्मा रूप पुरुष समझते हैं जो समस्त शारीरिक और मानसिक दुखों से अलग हैं।

अनहंकार एक ज्ञान-साधन है। चित्त को संयत रखने से वह काम, क्रोध, ईर्ष्या, हिंसा आदि दोषों से मलिन नहीं होने पाता, वह निर्मल बना रहता है। निर्मल अन्तःकरण में सर्वव्यापक आत्मा का स्पष्ट प्रतिबिंब पड़ता है। यही आत्म-साक्षात्कार रूप ज्ञान है। इसी से परमानंद रूप जीवन्मुक्ति अवस्था का लाभ होता है (इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।....एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्—गीता १३।८-११)। अहंकारः, अभिमानः शब्द द्वय देखिए।

अनहङ्कृत (वि०) अहंकार से मुक्त।

अनहङ्कृति (स्त्री०) गर्वोन्मुक्तता, अहंकार का अभाव।

अनहन् (न०) निकृष्ट दिन, अशुभ दिन।

अना (अव्य०) यहाँ से, सचमुच में, वास्तव में।

अनाकार (वि०) आकाररहित, रूपरहित।

अनाकारित (वि०) जिसकी अभ्यर्थना न की गई हो, बिना बुलाया हुआ।

अनाकालः (पुं०) असमय, अकाल, अनुपयुक्त समय।

अनाकालभृतः (पुं०) अकाल के समय अपने को दूसरों का दास बनाने वाला व्यक्ति, ठीक समय से पोषित व्यक्ति।

अनाकाश (वि०) आकाशरहित, वातावरणरहित; अंधकारपूर्ण।

अनाकुल (वि०) शांत, स्थिर, अचंचल।

अनाक्रान्त (वि०) जो आक्रांत न हो।

अनाक्षारित (वि०) जिसकी भर्त्सना न की गयी हो।

अनाख्य (वि०) आख्यारहित, नामरहित, वाक्य के अगोचर। संसार के सभी पदार्थों की आख्या या नाम है। केवल संसार के कारण अद्वैत ब्रह्म ही अनाख्य है (अद्वैत-भाषा देखिए)। सृष्टि के पूर्व शांत गंभीर वाक्य-मन के अगोचर कुछ सत् वस्तु विद्यमान थी। उस समय न तेज था और न अंधकार (तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्। अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते—बृहद्योगवासिष्ठ ७।१३)।

अनागत (वि०) न आया हुआ (जब तक भय सामने नहीं आता, तब तक उससे डरना चाहिए, किंतु भय का कारण उपस्थित होने पर उसका प्रतिकार करना चाहिए (तावद् भयस्य भेतव्यं यावद् भयं अनागतम्। आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्यात् यथोचितम्—मित्रलाभ ११२); न पहुँचा हुआ, अज्ञात, अनजान।

अनागतवत् (वि०) भविष्य से संबंध रखने वाला।

अनागतविधातृ (पुं०) परिणामदर्शी।

अनागताबाधः (पुं०) आगे या भविष्य में आने वाली विपत्ति।

अनागतार्तवा (स्त्री०) वह कन्या जो अभी यौवना-वस्था को प्राप्त न हुई हो, जिसे रजोधर्म न हुआ हो।

अनागतिः (स्त्री०) आगमन का अभाव, अप्राप्ति।

अनागमः (पुं०) अनागति, अप्राप्ति।

अनागम्य (वि०) न पहुँचने के योग्य, अगम्य, अबोध्य, प्राप्त न करने योग्य, न सुनने लायक।

अनागस् (वि०) निर्दोष।

अनागामिन् (वि०) न आने वाला, न पहुँचने वाला, जो आगामी न हो।

अनागामिन् (पुं०) [बौद्ध] अनागामी । जब साधक सत्कार्यदृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रतपराभास, कामछंद और व्यापाद्--ये पाँच बंधन नष्ट कर देता है तो उसे अनागामी कहते हैं। मृत्यूपरांत वह ऊर्ध्वलोक की प्राप्ति कर लेता है। उत्तरोत्तर वह अपनी अविद्या का नाश कर डालता है और अर्हत् पद का लाभ भी कर लेता है। उस साधक का पुनः जन्म नहीं होता और वह अनागामी बन जाता है। ऐसा व्यक्ति अपने भवपाशों को पूर्णतः समाप्त कर देता है।

अनागामुक (वि०) आने के अनिच्छुक, नियमित न आने वाला।

अनाग्रहः (पुं०) लचीलापन।

अनाघ्रात (वि०) अनसूंघा, घ्राण न लिया हुआ।

अनाघ्रातकुमारी (स्त्री०) जिस कुमारी को किसी पुरुष ने न सूंघा हो या जिसका पुरुष संसर्ग न हुआ हो।

अनाचरणम् (न०) सदाचार का अभाव, अनुचित व्यवहार, दुराचरण।

अनाचारः (पुं०) निंदित आचार, दुराचारण।

अनाचारिन् (वि०) उचित आचरण न करने वाला।

अनाचार्यभोगीन् (वि०) जो गुरु के खाने योग्य न हो।

अनाछृण (वि०) जो ऊपर न उँड़ेला गया हो।

अनाज्ञप्त (वि०) जो वशीभूत न हो, अधिकार में न लाया हुआ, जो आज्ञाप्राप्त न हुआ हो।

अनाढ्य (वि०) जो धनवान् न हो, निर्धन।

अनातत (वि०) न फैला हुआ।

अनातप (वि०) अनुष्ण, गर्मी-रहित, शीतल, ठंढा।

अनातुर (वि०) रोग-रहित, स्वस्थ । रोग रहित अवस्था में अपने इंद्रिय-छिद्रों को न छूना चाहिए, क्योंकि उससे मन में कामभाव उत्पन्न होकर शुक्रक्षय हो सकता है जिससे स्वास्थ्यहानि तथा अकालमृत्यु तक हो सकती है (अनातुरः स्वानि खानि न स्पृशेद् अनिमित्ततः-- कुलार्णव-तंत्र)।

अनात्मज्ञ (वि०) आत्मस्वरूप को न जानने वाला (आत्मन् देखिए)।

अनात्मन् (वि०) आत्मा-रहित, आत्मा से संबंध न रखने वाला, असंयमी।

अनात्मन् (पुं०) अनात्मा, आत्मा से भिन्न पदार्थ। वेदांत की दृष्टि से जगत्कारण सर्वव्यापक परम सूक्ष्म चेतन वस्तु ही आत्मा है और इस आत्मा से अतिरिक्त अनुभूयमान मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ज्ञान, अज्ञान, इंद्रिय, प्राण, देह आदि से लेकर संसार के समस्त जड़-चेतनात्मक पदार्थ अनात्मा हैं (दृश्यं सर्वमनात्मा स्याद्दृग्वात्मा विवेकिनः। आत्मानात्मविवेकोऽयं कथ्यते ग्रन्थकोटिभिः--आत्मानात्मविवेक १)। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्रभाष्य के आरम्भ में लिखा है कि 'मैं' और 'तुम' शब्दों के वाच्य विषय और विषयी प्रकाश और अंधकार के समान विरुद्ध स्वभाव वाले पदार्थों का परस्पर मिलन संभव नहीं है (युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिणस्तमप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि इतरेतरभावानुपपत्तिः--भाष्यभूमिका)। यहाँ भी युष्मत् और अस्मत्--तुम और मैं शब्दों से अनात्मा विषय और आत्मा विषयी, दृश्य और द्रष्टा का पार्थक्य बताया गया है। संसार के सभी पदार्थ मन के दृश्य हैं और वह मन भी आत्मा का दृश्य है।

आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म, विभु, भूमा, सच्चिदानंद आदि अनेक शब्द एक ही अर्थ के प्रतिपादन के लिए शास्त्रों में प्रयुक्त हुए हैं। वही चेतन अतः संसार के प्रकाशक हैं और सभी माया-कल्पित चेतनता-रहित जड़ हैं। वहाँ सूर्य प्रकाश नहीं देता, चंद्र नक्षत्रों का प्रकाश भी वहाँ नहीं पहुँचता, विद्युत् का भी प्रकाश नहीं होता। अग्नि की तो बात ही क्या है ? उस परम आत्मा के प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित होते हैं (न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ? तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमि विभाति--कठोपनिषद् २।५।१५)।

इस कारण सत्ता, प्रकाश और आनंद केवल एकमात्र आत्मवस्तु में ही है। संसार में जो चेतनता का प्रकाश दिखाई पड़ता है वह जड़ की ही एक अवस्था मात्र है। जीवों में मन के द्वारा सोचना, विचारना, सुख-दुःख का अनुभव करना आदि भाव ही चेतनता का विकास

माना जाता है। परन्तु मन स्वयम् भौतिक पदार्थ है। पाँच भूतों के समष्टिरूप सात्त्विक अंशों से मन की उत्पत्ति होती है। उसी में चेतन आत्मा का प्रतिबिंब पड़ने से जीवत्व का विकाश होता है। जिस प्रकार दर्पण में सूर्य की रश्मि लेकर उसे अँधेरे कमरे में फेंकने से उस स्थान को वह प्रतिबिंबित सूर्य-प्रकाश कुछ प्रकाशित कर सकता है, उसी प्रकार जड़ मन में चेतन आत्मा का प्रतिबिंब पड़ने से संसार के बहुत से पदार्थों और भावों को वह प्रकाशित करता है। जड़ वस्तुओं में अनेक प्रकार के भेद हैं। पत्थर, लोहा आदि पदार्थ स्वयम् चल नहीं सकते, परन्तु जल, अग्नि, वायु स्वयम् चलायमान रहते हैं। मिट्टी, काठ, पाषाण आदि दूसरे पदार्थों का प्रतिबिंब नहीं ग्रहण कर सकते। किंतु दर्पण, स्फटिक, जल आदि उन्नत ढंग के पदार्थ प्रतिबिंब ग्रहण कर सकते हैं। मन में इतनी सूक्ष्म शक्ति है कि वह परम सूक्ष्म आत्मा का प्रतिबिंब ग्रहण कर लेता है।

सिद्धांत स्थिर हुआ कि आत्मा से भिन्न संसार की सारी वस्तुएँ अनात्मा हैं। इस ज्ञान से हमें लाभ यही होगा कि हम अनात्मवस्तुओं में नहीं रमेंगे; आत्माराम होकर आनंद से संसार में विचरण करते रहेंगे; संसार के शोक-दुःखादि आत्मारूप हमें स्पर्श भी नहीं कर सकेंगे।

अनात्मनीन (वि०) स्वार्थरहित, निस्वार्थ, आत्मा के अनुपयुक्त।

अनात्मवत् (वि०) अजितेंद्रिय, असंयत।

अनात्मवादः (पुं०) भौतिकवाद, आत्मा का अस्तित्व न मानने वाला सिद्धांत। भौतिकवादी देह, इंद्रिय, मन और बुद्धि से अतिरिक्त आत्मा को नहीं मानते। वे उपलभ्यमान वस्तुओं के अतिरिक्त और किसी अज्ञात सत्ता को नहीं मानते। चार्वाक मत तथा श्रमण परम्परा के बौद्ध दर्शन अनात्मवादी हैं। चार्वाक दर्शन का मत है कि जैसे अन्न-कणों के सड़ने से उनमें मदशक्ति उत्पन्न होती है उसी प्रकार क्षिति, जल, अग्नि और वायु के सम्मिश्रण से जीवदेह में चैतन्य-शक्ति उत्पन्न होती है और देह के भस्मीभूत हो जाने पर वह शक्ति लुप्त हो जाती है। अतः आत्मा और परलोक के मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। खाओ, पीओ, मौज करो—यही इस मत का ध्येय है।

इसके विपरीत आत्मवाद है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग और वेदांत—ये आत्मवादी दर्शन हैं। इनका सिद्धांत है कि कोई भी वस्तु बिना कारण के उत्पन्न नहीं हो सकती। जीवदेह भी एक वस्तु है। कोई भी मनुष्य एक जीवदेह नहीं बना सकता, इसलिए इसका कारण मानना पड़ता है। मकान, पुल आदि सुविन्यस्त पदार्थों का कारण बुद्धिमान व्यक्ति हैं, इसी प्रकार जीव-देहों का बनाने वाला कोई चेतन तत्त्व अवश्य होगा। चार्वाक दर्शन के कथनानुसार चार भूत कौन कितनी मात्रा में रहकर शरीर को बनायेंगे इसका निर्णय अंधी प्रकृति नहीं कर सकती। इसी कारण आस्तिक विचारवान ऋषियों ने एक चेतन कारण को माना है।

आत्मा शब्द का अर्थ है—स्वरूप। सांसारिक सभी पदार्थों का मूल आत्मा है, वही चेतन सत्ता है। वस्त्र का आत्मा सूत और सूत का आत्मा रूई और रूई का आत्मा पञ्चभूत तथा पञ्चभूत का आत्मा वही चेतन सत्ता ब्रह्म है, अन्तिम होने के कारण वही परमात्मा है। ब्रह्म शब्द भी उस चेतन सत्ता की व्यापकता बताता है।

आनात्मवादी का ध्येय है इहलौकिक भोग-सुख। परंतु विचारवान पुरुष भोग के अंत में दुःख देखकर उसका परित्याग करते हैं और वैराग्य का अवलंबन कर आनंदरूप आत्मा के चिंतन में विभोर रहते हैं। उनके विचार से ऐसी आनंदमय स्थिति ही जीव के जीवन का लक्ष्य है।

अनात्यन्तिक (वि०) जो अन्तिम न हो, अनिश्चित, जो आत्यन्तिक न हो।

अनाथ (वि०) जिसका कोई स्वामी न हो, पितृ-विहीन, निराश्रित, निर्धन।

अनाथपिण्डदः (पुं०) गरीबों को अन्न देनेवाला एक महाजन, जिसके बगीचे में एक मुनि उपदेश देते थे।

अनाथसभा (स्त्री०) अनाथालय, अनाथों के रहने का स्थान।

अनादः (पुं०) नाद या शब्द का अभाव।

अनादर (वि०) निरपेक्ष।

अनादरः (पुं०) अप्रतिष्ठा, घृणा।

अनादि (वि०) जन्मरहित, सनातन, कारणशून्य, जिसकी उत्पत्ति परिणाम या विकास न हुआ हो।

न्यायमत में आकाश, काल, दिक्, आत्मा, मन और परमाणु अनादि हैं और परमाणुओं से उत्पन्न सभी पदार्थ सादि हैं।

सांख्यमत में प्रकृति और पुरुष अनादि हैं तथा प्रकृति के परिणाम से आविर्भूत बुद्धितत्त्व, अहंकार-तत्त्व, पञ्चभूत आदि सभी पदार्थ सादि हैं।

वेदान्तमत में एक ब्रह्म ही अनादि हैं और उनकी माया की कल्पना से विकास-प्राप्त सारी सृष्टि ही सादि है।

अनादि एक ही वस्तु हो सकती है। एकाधिक वस्तुएँ सृष्टि से पहले हों तो एक दूसरे को स्थान से तथा स्वभिन्न वस्तुओं से सीमाबद्ध करके काल से भी सीमाबद्ध कर देती है। इस कारण एकाधिक वस्तुओं का नित्य या विनाश-रहित होना युक्ति-विरुद्ध है (इतरव्यवर्तकत्वं अनित्यत्वे हेतुः) (अद्वैतवादः देखिए)।

अतः एकमात्र परमात्मा ही अनादि और जन्मरहित हैं। बुद्धिमान मनुष्य उन्हें लोक-महेश्वररूप से जानते हैं।

अनादिन् (वि०) शब्द न करने वाला (यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्। असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते—गीता १०।३)।

वैशेषिक दर्शन के मतानुसार अभाव भी एक पदार्थ है। यह सप्त पदार्थवादी दर्शनशास्त्र है अर्थात् इसमें सात नित्य पदार्थ माने गये हैं; जैसे—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य (जाति), विशेष, समवाय (नित्य संबंध) और अभाव। अभाव तीन प्रकार के हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव। जो घर अभी उत्पन्न हुआ, उसका अनादि काल से जो अभाव था वह ध्वंस-प्राप्त हो गया। यही (प्राक्+अभाव) प्रागभाव है। कोई घर टूट जाय तो उसके अभाव का जन्म हुआ और वह अनंत काल तक चलता रहेगा। यह प्रध्वंस के अनन्तर उत्पन्न अभाव ही प्रध्वंसाभाव है। घट में पट का तथा पट में घट का अत्यन्ताभाव है। इसी प्रकार एक वस्तु में उससे भिन्न अनंतकोटि वस्तुओं के अभाव हैं। यह कष्ट-कल्पना है। घट देखते समय घट का ही ज्ञान होता है, दूसरी वस्तुओं के अभाव का ज्ञान नहीं होता।

इस परिदृश्यमान संसार की उत्पत्ति के पूर्व एकमात्र सत् ही विद्यमान था (सदेव सोम्य इदमग्रे आसीत् एकमेवाद्वितीयम्—छांदोग्य ६।२।१) यही स्थान, काल, तथा वस्तुओं से सीमा-रहित अनादि ब्रह्म हैं, वह सब पापों से मुक्त हो जाते हैं।

अनादिनिधन (वि०) जिसका न आदि हो और न अन्त।

अनादिमध्यान्त (वि०) आदि, मध्य और अन्त से रहित, जन्म स्थिति और नाश से शून्य। यह शब्द विश्वरूप भगवान का विशेषण है (अनादि मध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्। पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्—गीता ११।१९)। परमात्मा का जन्म और नाश नहीं है। मायाकल्पित व्यवहारिक पदार्थों की जो क्षणभंगुर स्थिति है वैसी स्थिति उनमें नहीं है। उनकी स्थिति सत्ता या अस्तित्व नित्य है (अस्तीत्येवोपलब्धव्यः--कठोपनिषद् २।६।१३)। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत् तत् पश्यसि तद्वद् कठोपनिषद् १।२।१४)। भूत और भविष्यत् से भिन्न कहकर यमराज ने आत्मा की वर्तमान में स्थिति बतायी है। (अद्वैतवादः देखिए)।

अनादिष्ट (वि०) जो प्रकट न हो, अप्रकट, जो प्रविष्ट न हो, अप्रविष्ट।

अनादीनव (वि०) निरपराध, निर्दोष, निष्कलंक।

अनादृत (वि०) जिसका आदर या सम्मान न हुआ हो, घृणित, अवज्ञात।

अनादेय (वि०) ग्रहण करने के अयोग्य, जिसे ग्रहण करना उचित न हो, स्वीकृति के अयोग्य।

अनाद्य (वि०) अनादि, जो खाने योग्य न हो, अभक्षणीय।

अनाद्यन्त (वि०) आदि और अंत रहित।

अनाधिकारिक (वि०) जो अधिकारी द्वारा आज्ञा प्राप्त न हो।

अनाधृष्य (वि०) जो जीतने के अयोग्य हो, अजेय।

अनानत (वि०) जो झुका हुआ न हो, न झुकने वाला, जो विनीत न हो, अविनीत।

अनानुकृत्य (वि०) अनुकरण के अयोग्य, अतुलनीय, अनुपम।

अनानुजा (स्त्री०) बड़ी बहन, ज्येष्ठा भगिनी।

अनानुद (वि०) हठ करने वाला, दुराग्रही।

अनानुदिष्ट (वि०) अप्रार्थित, आज्ञा अप्राप्त।

अनानुपूर्व्यम् (वि०) जो नियत क्रम में न रहता हो ।

अनापद् (स्त्री०) दुर्भाग्य या विपत्ति का अभाव ।

अनापन्न (वि०) जो विपद्ग्रस्त न हो, जो प्राप्त न हो ।

अनापराधिक (वि०) निर्दोष ।

अनापि (वि०) जिसे कोई मित्र न हो, बिना-मित्र का ।

अनापूयित (वि०) जो दुर्गंध-युक्त न हो, जिसमें दुर्गंध न हो ।

अनाप्त (वि०) अप्राप्त, अयोग्य, प्राप्त करने की चेष्टा में असफल ।

अनाप्ति (स्त्री०) अप्राप्ति ।

अनाप्य (वि०) अप्राप्तव्य, अयोग्य ।

अनाप्लुत (वि०) न नहाया हुआ, न धोया हुआ ।

अनाप्लुताङ्ग (वि०) जिसने स्नान न किया हो, जिसने शरीर न धोया हो ।

अनाबाध (वि०) संकटहीन, विपद्मुक्त ।

अनाभयिन् (वि०) भयरहित, निर्भय, निडर, नीरोग ।

अनाभू (वि०) भूल जाने वाला, भुलक्कड़, विस्मरणशील ।

अनाभ्युदयिक (वि०) अशुभ, अभागा ।

अनामक (वि०) नामरहित, संज्ञाहीन, बदनाम ।

अनामन् (वि०) नामरहित, अपकीर्तित ।

अनामन् (पुं०) मलमास, अनामिका नाम की उँगली ।

अनामय (वि०) रोगमुक्त, स्वस्थ, नीरोग ।

अनामयः (पुं०) शिव, महादेव ।

अनामरूपवास्तवः (पुं०) नाम और रूप जिनमें अवास्तव अर्थात् मिथ्या हैं । संसार में पाँच ही वस्तुएँ प्रतीयमान होती हैं—सत्, चित्, आनंद, नाम और रूप (अस्ति भाति प्रियं नाम रूपं पञ्चात्मकं जगत् । आद्यत्रयं ब्रह्मनाम जगद्रूपमतोद्वयम्—दत्तात्रेयोपनिषद् ७।५१) । अस्ति भाति प्रिय सच्चिदानंद है, जो ब्रह्म का स्वरूप है, बाकी दोनों नाम और रूप संसार का स्वरूप है । नाम और रूप तो कोई वस्तु ही नहीं है । टूट जाने पर घट के नाम रूप लुप्त हो जाते हैं, सूत निकाल लेने पर या उसके जल जाने पर वस्त्र के भी नाम और रूप नहीं रहते । इस प्रकार के दृष्टांतों से प्रमाणित होता है कि परमात्मा में सभी नाम और सभी रूप अवास्तव हैं । ब्रह्म, परमात्मा, विष्णु, भूमा, ईश्वर आदि नाम नहीं हैं । ये तो विशेषण मात्र हैं । इनसे वह केवल लक्षित मात्र होते हैं, क्योंकि वह अवाङ्मनसोगोचर हैं अर्थात् वाक्य या मन उन तक नहीं पहुँचता । ब्रह्म माने बृहत्, जिसका कहीं अंत न हो । आत्मा माने स्वरूप । घट का आत्मा मिट्टी है, परंतु मिट्टी कोई मूल तत्त्व नहीं है । मूल कारण परमात्मा से ही उसने अपना स्वरूप पाया है । इसलिए परब्रह्म ही घट का 'परम' आत्मा है । विष्णु शब्द का अर्थ व्यापक है । भूमा माने भी व्यापक हो है । ईश्वर माने सर्वशक्तिमान है । ये सभी विशेषण हैं । नाम और रूप को अवास्तव कह कर उन्हें मिथ्या नाम-रूप-मय संसार से निर्लिप्त कहा गया है (सदा प्रपञ्चकल्पितं ह्यनामरूपवास्तवम् – रामचन्द्राष्टक ४) ।

अनामिका (स्त्री०) कनिष्ठा के पास की उँगली ।

अनामिन् (वि०) न झुकनेवाला ।

अनामिष (वि०) बिना मांस का; लाभरहित ।

अनामृण (वि०) जिसका कोई शत्रु न हो ।

अनायक (वि०) जिसका कोई नेता या अगुआ न हो, जिसका कोई शासक न हो ।

अनायत (वि०) जो बँधा न हो, खुला हुआ, अविराम, अपृथक्, अभिन्न, जो फैला न हो, संकुचित ।

अनायतन (वि०) जिसे विश्राम स्थान न हो ।

अनायत्त (वि०) जो अधिकार में न किया गया हो, जो परतंत्र न हो, स्वतंत्र ।

अनायत्तवृत्ति (वि०) स्वतंत्र जीविकोपार्जन करने वाला ।

अनायासः ।(पुं०) चेष्टा का अभाव, सुगमता, सुभीता ।

अनायासकृत (वि०) सुगमता से किया हुआ ।

अनायुध (वि०) जिसके पास आयुध या हथियार न हो, शस्त्ररहित ।

अनारत (वि०) सतत, सदैव, अखंडित, सनातन, नित्य ।

अनारभ्य (अव्य०) बिना आरंभ किये ।

अनारम्भः (पुं०) आरंभ का अभाव, चेष्टा का अभाव ।

अनारम्भण (वि०) अस्पृश्य, छूने के अयोग्य ।

अनारोग्य (वि०) अस्वस्थ, रुग्ण ।

अनारोग्यम् (न०) अस्वस्थता, रुग्णता, बीमारी ।

अनार्जव (वि०) जिसमें सिधाई न हो, वक्र, कुटिल ।

अनार्जवम् (न०) वक्रता, कुटिलता, रोग ।

अनार्त (वि०) जो बीमार न हो, अच्छा, नीरोग ।

अनार्तव (वि०) विना मौसम का ।

अनार्तवः (पुं०) वंध्यात्व । स्त्रियों में १२ से ५० वर्ष के बीच की अवधि मासिक ऋतु की होती है। जिस स्त्री में ऐसी मासिक ऋतु नहीं होती उसकी दशा को अनार्तव कहा गया है। यह एक प्रकार का शारीरिक रोग है। अंतःस्रावी ग्रंथियों तथा प्रजनन-अंगों के विकार और अन्य भी शारीरिक रोग इस दशा में सहायक बन जाते हैं। ऐसी स्त्रियाँ बाँझ होती हैं। ऋतु होने पर भी अन्य दोषों से वंध्यात्व होता है।

निदान जानकर चिकित्सा करने से इस दशा का सुधार हो सकता है।

अनार्तवा (स्त्री०) वह लड़की जो अभी रजस्वला न हुई हो।

अनार्ति (स्त्री०) कष्टरहित होने की अवस्था ।

अनार्त्विजीन (वि०) पुरोहित के लिए अयोग्य या अनुपयुक्त ।

अनार्य (वि०) जो पूजित या सम्मानित न हो, तुच्छ, दुर्जन ।

अनार्यः (पुं०) आर्य जाति से भिन्न मनुष्य, आदिम जाति का व्यक्ति । इस शब्द का प्रायोगिक अर्थ दो रूपों में किया गया है--जातीयता और नैतिकता। आर्येतर जातियाँ अनार्य मानी जाती हैं। इनमें प्रमुख ये हैं-किरात, हबशी, नागा, कूकी, निग्रो और भील आदि। उस प्रदेश को भी अनार्य की संज्ञा दी गयी है जहाँ आर्य नहीं बसते। ये जंगली जातियाँ हैं। अशिक्षा इनकी पैतृक संपत्ति है। परंतु आजकल ये जातियाँ भी शिक्षित होती जा रही हैं। इनके लिए म्लेच्छ शब्द का भी व्यवहार किया गया है। अनार्य जातियों से संबंधित अनार्य धर्म, अनार्य भाषा और अनार्य संस्कृति भी है।

अनार्य शब्द का प्रयोग हीन वृत्ति वालों के लिए भी होता है (आर्यः देखिए)।

अनार्यकम् (नं०) अगुरु नाम का सुगंधित काष्ठ ।

अनार्यजुष्ट (वि०) अनार्य-योग्य, आर्यों के अयोग्य । गीता के आरंभ में अर्जुन युद्ध करना नहीं चाहते थे। क्षत्रियों के लिए ललकारने पर युद्ध करना कर्तव्य है। इस कारण श्रीकृष्ण ने कहा-"हे अर्जुन, तुम्हें ऐसे विषम संकट के स्थल में ऐसा भ्रष्ट-बुद्धि-जनित अज्ञान कैसे उत्पन्न हुआ है ? क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा अनुष्ठान-योग्य है और न यह प्रयास स्वर्ग प्रापक है तथा यह तुम्हारी कीर्ति को बढ़ाने वाला भी नहीं है (कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् । आनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन २.२)।

अनार्ष (वि०) जो ऋषियों से संबंध न रखता हो ।

अनालम्ब (वि०) जिसका सहारा न हो, निराश्रित ।

अनालम्बः (पुं०) आश्रयहीनता ।

अनालम्बी (स्त्री०) शिव की वीणा ।

अनालम्बुका (स्त्री०) रजस्वला स्त्री ।

अनालाप (वि०) जो वाचाल या बातूनी न हो ।

अनालोचित (वि०) न देखा हुआ, न सोचा हुआ, अविचारित ।

अनावर्तिन् (वि०) पुनः न होने वाला, फिर न लौटने वाला ।

अनाविद्ध (वि०) जो छेदा न गया हो, अनाहत ।

अनाविल (वि०) जो गँदला न हो, स्वच्छ, पवित्र, जिसमें दलदल न हो, अपंकिल ।

अनावृत् (वि०) न लौटने वाला ।

अनावृत्तिः (स्त्री०) सांसारिक आवागमन से छुटकारा, मुक्ति, मोक्ष ।

अनावृष्टिः (स्त्री०) वर्षा का अभाव, सूखा ।

अनावेदित (वि०) जो सूचित किया हुआ न हो ।

अनाव्रस्क (वि०) दूर न गिरने वाला ।

अनाश (वि०) आशारहित ।

अनाशकनिवृत्तः (पुं०) वह जिसने व्रत का अभ्यास छोड़ दिया हो ।

अनाशकम् (न०) उपवास, व्रत ।

अनाशस (वि०) जो ईच्छित न हो, जो रुचिकर न हो ।

अनाशस्त (वि०) स्तुति या प्रशंसा न किया हुआ ।

अनाशिन् (वि०) न खाने वाला, अविनश्वर।

अनाशु (वि०) जो तेज न हो, सुस्त, मंद।

अनाश्रमिन् (पुं०) वह जो चार आश्रमों में से किसी में भी न हो।

अनाश्रयः (पुं०) आश्रय का अभाव।

अनाश्रव (वि०) जो किसी की बात पर ध्यान न देता हो।

अनाश्रित (वि०) आश्रय-रहित, आधार-शून्य, आश्रय न करने वाला, अनासक्त। संसार में प्रत्येक वस्तु का आश्रय है यहाँ तक कि ब्रह्मांडों की कल्पना करने वाली मायाशक्ति का भी आश्रय ब्रह्म है। एक ब्रह्म ही अनाश्रित है। मनुष्य जो कुछ काम करते हैं उसी में फल-प्राप्ति की आशा रहती है। अर्थात् फल-प्राप्ति की आशा को आश्रय करके मनुष्य कार्य में प्रवृत्त होते हैं। परंतु सबको अपने इच्छित फल की प्राप्ति नहीं होती। फलस्वरूप उन्हें दुःख ही मिलता है। विचारवान व्यक्ति फलासक्त न होकर कर्तव्य कार्य का अनुष्ठान करते हैं वही यथार्थ संन्यासी और योगी हैं, कर्मत्याग करने वाला नहीं (अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः—गीता ६।१), ऐसा निःस्वार्थ कर्म करने वाला व्यक्ति ही यथार्थ सुखी है, (कर्मफलासक्तिः देखिए)।

अनाश्वस् (वि०) जिसका उपभोग न किया गया हो।

अनाष्ट्र (वि०) आपद से मुक्त।

अनास् (वि०) जिसे मुँह या चेहरा न हो, बिना मुँह का ; जिसे घ्राणेन्द्रिय न हो, नासिका-रहित।

अनासक्त (वि०) आसक्तिरहित। सुखजनक विषय के प्रति जीवमात्र में राग या आसक्ति है (सुखानुशयी रागः —योगदर्शन २।७)। सच्चिदानंद परमात्मा से जीवकी उत्पत्ति होने से उसके मन में आनंद का संस्कार है। इसी लिए वह सदा सुख ही चाहता है। विषय में सुख नहीं है। जो विषय जब तक सुख देता है तब तक ही वह प्रिय है। दुःख देना आरंभ करते ही वह अप्रिय हो जाता है। पुत्र सुख दे रहा था, किंतु जब वह अवाध्य हो जाय, अकर्म-कुकर्म करने लगे तो माता-पिता उसे घर से निकाल देते हैं, तो पुत्र प्रिय कहाँ रहा, अपना सुख ही प्रिय है। इसी प्रकार पत्नी, कन्या, धन-संपत्ति कुछ भी स्वरूप से मनुष्य के प्रिय नहीं हैं।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा था—पति के सुख के लिए कोई पत्नी पति को प्रिय नहीं समझती (न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति—बृहदारण्यक २।४।५), बल्कि आपने सुख के लिए ही वह पति को प्रिय समझती है (आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति)। इसी प्रकार पत्नी, पुत्र, वित्त, ब्राह्मण, क्षत्रिय, स्वर्ग, प्राणी, देवता, यहाँ तक कि सब के सुख के लिए सब प्रिय नहीं होते, अपने सुख के लिए सब प्रिय होते हैं (बृहदारण्यक २।४।५)।

इस प्रकार विचारवान व्यक्ति सांसारिक किसी विषय के प्रति आसक्त नहीं होते। वे इस मायामय संसार में निर्द्वन्द्व विचरण करते हैं।

हम इस संसार में अकेले आये हैं, अकेले ही यहाँ से चले जायेंगे। कौन तुम्हारी पत्नी है, कौन तुम्हारा पुत्र है ? यह संसार अति विचित्र है। तुम किसके हो, तुम कहाँ से आये हो— इस तत्त्व की चिंता करो (का तव कान्ता, कस्ते पुत्रः ? संसारोऽयम् अतीव विचित्रः। कस्य त्वं वा कुतः आयातः तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः—शंकराचार्यकृत मोहमुद्गर २)।

गृह, क्षेत्र, धन, वस्त्र आदि जड़ पदार्थ मनुष्य के अर्ध-चेतन मन को आकर्षित नहीं कर सकते। मन जिसे अच्छा समझता है उसी में आसक्त हो जाता है। विभिन्न व्यक्तियोंकी रुचि विभिन्न है (भिन्नरुचिर्हि लोकः)। गृह तो कोई वस्तु ही नहीं है ईंट, काठ, पत्थर, लोहा आदि को खोल डालने पर गृह हवा हो जाता है। उन उपादानों के ऊपर गृह का भ्रमज्ञान हो रहा है। क्षेत्र तो ईश्वर का है। पिता, पितामह आदि पूर्व पुरुष उस क्षेत्र को अपना कहते थे। यह भी भ्रमज्ञान है। क्योंकि इस लोक से जाते समय वे उसे ले नहीं जा सके। इस समय जो इस क्षेत्र को अपना कह रहा है, वह भी उसे ले नहीं जा सकेगा। उसके खाली हाथ चले जाने पर उसके पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि उसी क्षेत्र को अपना कहेंगे। पर कोई ईश्वर के उस क्षेत्र को साथ नहीं ले जा सकेगा। तो वह वृथा ही अभिमान मात्र है। धन तो पूर्णतया मिथ्या वस्तु है। हर एक देश की सरकार मिट्टी से बने सोना, चाँदी, तामा, निकेल, कागज के टुकड़े आदि पर छाप देकर मुहर, रुपया, पैसा,

नोट आदि चलाती है, जिन्हें भिन्न देश में ले जाने पर कोई उसका कुछ भी दाम नहीं देता। अपने अपने देश में व्यवहार चलता है। वस्त्र भी कोई वस्तु नहीं है। एक सुन्दर कुर्ते की शिलाई खोल दी जाय तो कुछ कपड़े के टुकड़े ही रह जाते हैं। कुर्ता उड़ जाता है। जो दिखाई पड़ता है वह नहीं है। नेत्र इस ढंग से बने हैं कि वे 'नहीं' वस्तुओं को ही देखते हैं। कपड़े के टुकड़े दिखाई पड़ते हैं, अतः वे भी नहीं हैं। क्योंकि उन टुकड़ों में से एक-एक करके सूतों को निकाल डालने पर वे भी अदृश्य हो जाते हैं। अब सूत दिखाई पड़ते हैं। अतः वे भी नहीं है। क्योंकि सूतों से नोच-नोचकर रूई निकाल लेने पर थोड़ी रूई बची रहती है। रूई भी नहीं है; वह भी पाँच भूत मात्र है। सूत में कुछ वजन है, वह पार्थिव परमाणुओं का अस्तित्व प्रमाणित करता है। उसमें जल का अंश है, क्योंकि दियासलाई से जला देने पर रूई से धुआँ निकलता है, जो जल का अस्तित्व बता देता है। उसमें अग्नितत्त्व भी है, क्योंकि रूई गरम होती है। उसमें वायु भी है, क्योंकि रूई में छोटे-छोटे कीट साँस लेते हुए जीवित रहते हैं। सर्वव्यापक आकाश उसमें है ही। ये पाँचों तत्त्व अदृश्य है, इस कारण हमारी बुद्धि उनका विश्लेषण नहीं कर सकती। अब शास्त्र की सहायता लेनी पड़ेगी। सृष्टि के पूर्व सर्वव्यापक परम सूक्ष्म सच्चिदानंद-स्वरूप परमात्मा ही अकेले विराजमान थे (सदेव सोम्य, इदमग्रे आसीत्, एकमेवाद्वितीयम्–छांदोग्य ६।२।१)। इस सत् आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, और जल से पृथ्वी का विकास हुआ (तस्माद् वा एतस्मात् आकाशः सम्भूतः, आकाशात् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी–तैत्तिरीय २।१।१)। प्रलय में विलोम-क्रम से पृथिवी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश स्वकारण सत् ब्रह्म में विलीन हो जाता है। इस विचार से रूई ब्रह्म हो गयी। फलस्वरूप कुर्ता, वस्त्रखंड, सूत आदि संसार के सभी पदार्थ ब्रह्म हैं (सर्वं खलु इदं ब्रह्म—छांदोग्य ३। ४।१)। गीता में लिखा है —यज्ञ कार्य में अग्नि में घृत डालने का कलछुल ब्रह्म है, घृत ब्रह्म है, अग्नि ब्रह्म है, हवनकर्ता भी ब्रह्म है—इस प्रकार सभी कार्यों में ब्रह्म-भाव में भावित रहने से मनुष्य ब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं (ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना—गीता ४।२४), तो आसक्ति कैसे होगी ?

इस प्रकार के विचार से मकान भी ब्रह्म हो जाता है। मकान नामक कोई चीज नहीं है, वह ईंट, काठ, पत्थर, लोहा आदि का समूह मात्र है। ईंट तो मिट्टी है; काठ, पत्थर, लोहा आदि भी मिट्टी हैं। पूर्वोक्त विचार से मिट्टी ब्रह्म है। काठ, पत्थर, लोहा आदि भी ब्रह्म ही हैं। इस प्रकार के विचार से बुद्धिमान मनुष्य अपने मन को सांसारिक सभी पदार्थों से आसक्ति-रहित कर सकते हैं।

एक सम्पन्न व्यक्ति के बच्चों को नौकरानियाँ लाड़-प्यार से पालती हैं, किंतु मन में जानती हैं कि वे बच्चे अपने नहीं है। केंचुए, मेंढक, साँप तथा बान, सिंघी, मद्गुर आदि मछलियाँ कीचड़ के भीतर रहती हैं; उनका चमड़ा चिकना होने के कारण उनके शरीर में कीचड़ नहीं लगता। इसी प्रकार विचारवान मनुष्य अपने मन को निर्लिप्त रखकर संसार में आनंद से विचरण कर सकते हैं।

अनासक्तिः (स्त्री०) आसक्ति का अभाव; अनुरक्ति लगन चाह प्रेम आदि से मुक्ति।

अनासक्तियोगः (पुं०) विषयों को मिथ्या जान कर उनसे आसक्ति छोड़ कर जब अर्धचेतन मन पूर्ण चेतन आत्मा में मिल जाता है तब उस अवस्था को अनासक्ति-योग कहते हैं।

अनासादित (वि०) जो मिला न हो, जो प्राप्त न किया गया हो, जिसका अस्तित्व न हो।

अनासिक (वि०) नाकरहित, जिसे नासिका न हो।

अनास्था (स्त्री०) अविश्वास, अश्रद्धा, अनादर।

अनास्राव (वि०) जो पीड़ा देने वाला न हो; जो राग द्वेष अभिनिवेश आदि आस्राव अर्थात् मल से रहित हो।

अनास्वाद (वि०) बिना स्वाद का, स्वाद-रहित।

अनास्वादः (पुं०) स्वाद का अभाव।

अनास्वादित (वि०) जो स्वादयुक्त न हो, जिसका स्वाद न लिया गया हो।

अनास्वादितपूर्व (वि०) जिसका स्वाद-ग्रहण या भोग द्वारा अनुभव प्राप्त पहले नहीं किया गया है।

अनाहत (वि०) जो आहत न हो, नया, नवीन।

अनाहतः (पुं०) आघात-रहित शब्द। सभी शब्द एकाधिक वस्तुओं के आघात से उत्पन्न होते हैं। उनमें कुछ कान से सुनाई पड़ते और कुछ अश्रुत ही रह जाते हैं।

सृष्टि के पूर्व एक आत्मा ही विराजयान था। उसमें माया रूप शक्ति लुप्त थी। जब माया का उन्मेक्ष सृष्टि-कल्पना के लिए हुआ तो उस माया-युक्त आत्म-सत्ता का नाम ईश्वर हुआ। उस माया-शक्ति को प्रथम कल्पना व्यापक और सूक्ष्म आकाश है। शब्द आकाश का ही गुण है (शब्दगुणकम् आकाशम्-तर्कसंग्रह)। उस स्थिति में आघात करने योग्य दो वस्तुएँ नहीं थीं। परंतु आकाश में एक अश्रुत शब्द भी था, उसी को अनहत कहते हैं। उसका दूसरा नाम प्रणव या ओंकार है। ईश्वर-भाव से अति निकट संबंध होने से यह प्रणव ईश्वर का वाचक (नाम) कहलाता है (तस्य वाचकः प्रणवः—योगसूत्र १।२७)। ईश्वर के समीप पहुँचने के लिए इस प्रणव का अलंम्बन करने की विधि है (एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते, ओमित्येतत्—कठोपनिषद् १।२।१)।

हमारी इंद्रियाँ बहिर्मुख रहने के कारण इस अनाहत शब्द को नहीं सुन सकतीं। यदि कोई धीर पुरुष इंद्रियों को अंतर्मुख करके मन को आत्मा में विलीन कर देते हैं, तो वह इस अनाहत शब्द को सुन पाते हैं।

योगी लोग कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करके और प्राण-वायु को सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट कराकर भी इस अनाहत ध्वनि को सुनते हैं। दोनों अँगूठों से दोनों कानों को बंद करने से भी एक प्रकार का अव्यक्त शब्द सुनाई देता है। उसे भी कुछ योगी अनाहत मानते हैं। परंतु यथार्थ में वह प्राण वायु के चलने से उत्पन्न सूक्ष्म शब्द मात्र है।

हठयोगानुसार शरीर के भीतर रीढ़ में अवस्थित षड्यंत्रों में से एक यंत्र का नाम भी अनाहत है। हृदयप्रदेश ही इसका स्थान है। वह लाल-पीले मिश्रित रंग वाले द्वादश कमल के समान हैं और उस पर क से ठ तक अक्षर हैं। इसके देवता रूद्र माने जाते हैं। सुषुम्ना के मार्ग वाले छहों चक्र नीचे से ऊपर की ओर क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध एवं आज्ञा के नामों से अभिहित किये गये हैं और उनके स्थान भी क्रमशः गुदा के पास, मेरु के पास, नाभिदेश, हृदयदेश, कंठदेश एवं भ्रूमध्य माने गये हैं। ये क्रमशः चार, छः, दश, बारह, सोलह एवं दो दलों वाले कमल-पुष्पों के रूप में दिखलाई पड़ते हैं और इन्हीं में से अनाहत में 'ब्रह्मग्रंथि', विशुद्ध में 'विष्णुग्रंथि' तथा आज्ञा में 'रुद्रग्रंथि' के अवस्थान भी स्थिर किये गये हैं। जब योगी प्राणायाम द्वारा इन चक्रों का भेदन कर देता है और प्राणवायु का ऊर्ध्वगमन करते समय जब वह अनाहत चक्र की ब्रह्मग्रंथि तक पहुँचता है तो उसके रूप में लावण्य एवं तेज की वृद्धि हो जाती है। वह नानाविध भूषणों की ध्वनि सुनने लगता है। इससे आगे प्राण-वायु के साथ अपान वायु एवं नादविंदु के समागम की दशा आती है तब विष्णुग्रंथि में ब्रह्मानद की ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। इस स्थिति को घटावस्था कहते हैं। जब प्राणवायु क्रमानुसार अज्ञाचक्र की रुद्रग्रंथि में जा पहुँचता है तब मृदंग की सी ध्वनि का अनुभव होने लगता है तथा अष्टसिद्धियों की उपलब्धि हो जाती है और 'परिचयावस्था' प्राप्त हो जाती है। अन्ततोगत्वा जब प्राण-वायु ब्रह्मरंध्र तक जा पहुँचती है तो चतुर्थ अवस्था निष्पत्ति आती है और तब वंशी या वीणा की मधुर ध्वनि का अनुभव होता है। नाद की इसी अवस्था को लयावस्था कहा गया है। इसमें सारी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और आत्मा स्व-स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

इन छः चक्रों की कल्पना इस लिए की गयी है कि चित्त को प्रथम मूलाधार चक्र में अभ्यास के द्वारा स्थिर किया जाय, तत्पश्चात् स्वाधिष्ठान, मणिपुर आदि क्रम से चित्त को भ्रूमध्यस्थित आज्ञाचक्र में लाकर एकदम लगा रखा जाय। हृदय से लेकर निम्न प्रदेश काम का स्थान है। उससे ऊपर चित्त को लगा रख सकने से काम का आवेश नहीं हो सकता।

अनाहतनादः (पुं०) आघात के बिना उत्पन्न होने वाला शब्द, ओं शब्द, कान बंद करने पर सुनाई देनेवाला शब्द। कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियाँ प्रायः ब्राहरी ओर दौड़ती हैं, ये कर्ण आदि गोलक-स्थानों में रहती हैं और क्रमशः शब्द

आदि ग्रहण करती हैं। शब्दादि ग्रहण रूप कार्यों के द्वारा सूक्ष्म होने पर भी वे अनुमान करने योग्य हैं (कर्णादि-गोलकस्थं तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात् । सौक्ष्म्यात्कार्यानुमेयं तत्प्रायो धावेद्बहिर्मुखम्—पंच २।७)। किंतु कदाचित कान बन्द कर लेने पर प्राणवायु के चलने और जठराग्नि के जलने से उत्पन्न भीतरी शब्द सुनाई पड़ता है। जलपान और अन्नभक्षण के समय भीतरी स्पर्श की उपलब्धि होती है। आँखों को बन्द कर लेने पर भीतरी अन्धकार दिखाई पड़ता है। गले से उद्गार उठने पर रस और गंध का अनुभव होता है। यही इंद्रियों के आंतरिक ज्ञान हैं (कदाचित्पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आन्तरः। प्राणवायौ जाठराग्नौ, जलपानेऽन्नभक्षणे व्यज्यन्ते ह्यान्तराः स्पर्शा मीलने चान्तरं तमः। उद्गारे रसगन्धौ चेत्यक्षाणामान्तर-ग्रहः—पंच २।८-६)।

अनाहारः (पुं०) निराहार, उपवास, लंघन।

अनाहारिन् (वि०) आहार न ग्रहण करनेवाला, अनाहारी, व्रती, उपवासी।

अनाहार्य (वि०) आहार के अयोग्य, ग्रहण करने या लेने के अयोग्य, घूस लेने या उपहार रूप से ग्रहण करने के अयोग्य।

अनाहिताग्निः (पुं०) जिसने अग्निहोत्र या अग्नि की स्थापना नहीं की है।

अनाहुतिः (स्त्री०) अनुचित हवन, हवन न करना।

अनाहूत (वि०) अनिमंत्रित, निमंत्रण न पाया हुआ, बिना निमंत्रण पाये आया हुआ, स्वाहूत। बिना बुलाये किसी के यहाँ जाना या निमंत्रण में पहुँचना अनुचित है। प्रजापति दक्ष ने एक बार एक बड़ा भारी यज्ञ करना आरंभ किया था। उनकी कन्या सती देवाधिदेव महादेव की पत्नी थीं। पिता ने जब सुना कि दामाद श्मशान में रहते हैं, भस्म लगाते हैं, भीख माँगते हैं और भूत-प्रेतों की मंडली में रहते हैं तो ससुर को उन पर अश्रद्धा हो गई। इस कारण उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, इंद्र, चंद्र, वायु, वरुण, आदि अनेक देवताओं को यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए बुलाया। किंतु छोटे दामाद शिवजी को निमंत्रण नहीं दिया। जब सती को पता लगा कि पिता यज्ञ कर रहे हैं, सभी देवी-देवता, ऋषि-मुनि वहाँ निमंत्रित होकर पहुँच रहे हैं, अपनी बड़ी बहनें भी जा रही हैं। तो उनका मन चंचल हो उठा। उन्होंने पित्रालय जाने के लिए पति से आज्ञा माँगी। महादेव ने समझाया कि बिना निमंत्रण पाये कहीं, यहाँ तक कि पिता के घर में भी नहीं जाना चाहिए (कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं निशम्य देहं सुरवर्य नेङ्गते। अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम्॥ त्वयोदितं शोभनमेव शोभने, अनाहुता अप्यभियन्ति बन्धुषु। ते यद्योनुत्पादितदोषदृष्ट्यो बलीयसानात्म्यमदेन-मन्युना—भागवत, ४।३।१३, १६)। परंतु सती पति का कहना न मानकर पित्रालय जाने के लिए चल पड़ीं। जब महादेवजी ने देखा कि सती अकेली जा रही हैं तो अपने गण नंदी और भृंगी को उनके साथ जाने की आज्ञा दी।

सती यज्ञस्थल पर पहुँची। उन्हें देखते ही पिता महादेव जी की निंदा करने लगे। सती ने पति की निंदा सुनकर अपने शरीर को अपवित्र मान लिया और सभास्थल में ही प्राण त्याग दिये। नंदी और भृंगी को इस दृश्य से बड़ा क्रोध आया। उन दोनों ने सारा यज्ञ ही तोड़-फोड़ डाला। जब महादेव जी को समाचार मिला तो तुरंत वह वहाँ पहुँचे। पत्नी के शोक से अधीर होकर वह सती की देह को कंधे पर लिये प्रलय-तांडव नृत्य करने लगे। उनके पदक्षेप से धरती दब जाने लगी। इस तरह पृथ्वी रसातल को चली जायगी देखकर देवताओं ने विष्णु भगवान की स्तुति की। तब विष्णु ने अपने चक्र से सती की देह के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। भारत के विभिन्न स्थानों में एक-एक टुकड़ा गिरा और वहाँ पर पीठ-स्थान बन गया। यही ५१ पीठस्थानों का रहस्य है।

जब महादेव जी को सती का शरीर न मिला तो वह स्तब्ध होकर शांत हो गये। यह कहानी कल्पित है। इस कारण इसे अर्थवाद मानना पड़ता है (अर्थवादः देखिए)। परंतु इससे कुछ उत्तम उपदेश मिलते हैं। जैसे—१. पति की आज्ञा न मानकर स्त्री के लिए कहीं चली जाने से अनर्थ होता है। २. पति की निंदा सुनने से स्त्री का शरीर अपवित्र होता है, जो पति की सेवा करने में अयोग्य हो जाता है। ३. शिव मंगलमय हैं, शिवहीन यज्ञ नष्ट हो जाता है और अपने पर भी विपत्ति आती है।

ऋषि लोग उपदेश देने के लिए कहानियाँ गढ़ लिया करते थे और उन कहानियों को ऐसे असंबद्ध और असंभव

बनाते थे कि बुद्धिमान लोगों को उन पर ध्यान न जाय, वे केवल उपदेश ही ग्रहण करें। इस कहानी में देवता होकर प्रजापति दक्ष के लिए यज्ञ करना अनावश्यक है। यज्ञ तो देवलोक प्राप्ति के लिए मनुष्य को करना चाहिए। महादेव सच्चिदानंद-स्वरूप, सर्वव्यापक परमात्मा हैं, वह केवल मसान में ही रहेंगे, यह कैसे संभव हो सकता है। सती महादेव जी की शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान में अभिन्नता है (शक्ति-शक्तिमतोरभेदः)। अतः महादेव जी के लिए सती से विवाह करना, दोनों में पति-पत्नी की तरह झगड़ा हो जाना और उनका पति को छोड़कर अन्यत्र चली जाना एकदम असंभव बात है —शान्तं शिवम् अद्वैतम् (माण्डूक्य ७)। शिव शांत और अद्वैत हैं, उनके सामने द्वैत सृष्टि नहीं है तो कैसे सती की देह को अपने कंधे पर उठा लेंगे और कैसे अपने से पृथक् जानकर दक्ष को अभिशाप देंगे ? फिर एक साधारण मनुष्य भी जानता है कि पत्नी के मर जाने पर मृतक शरीर वहीं पड़ा रहता है। उस मृतक शरीर को कंधे पर लेकर नाचना बुद्धिमानी नहीं है। पंडित लोग जीवित या मृत के लिए शोक नहीं करते (गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः—गीता २।११)। आत्मज्ञ व्यक्ति शोक से उत्तीर्ण हो जाते हैं (तरति शोकमात्मवित् —छान्दोग्य ७।३)। महादेव जैसे सर्वज्ञ पुरुष के लिए पत्नी के वियोग से शोक करना एकदम असंभव है, वह तो देवाधिदेव हैं, समस्त देवताओं के अधीश्वर हैं, यमराज तो उनके किंकर हैं। उन्हें वह आदेश दे सकते थे कि मेरी पत्नी को तुम कहाँ ले गये ? तुम मेरी पत्नी को बिना मेरी आज्ञा के क्यों ले गये। तुरंत उसे लौटा दो अथवा वह स्वयम् ही पत्नी को जिला सकते थे। ये सभी बातें असंबद्ध हैं।

पौराणिक कहानियाँ प्रायः सभी कल्पित हैं, उनसे जो उपदेश मिलते हैं वे ही मनुष्यों के कल्याणकारी हैं (उपदेशः देखिए)।

अनाहूतोपजल्पिन् (वि०) बिना पूछे या कहे बोलने वाला।

अनाहूतोपविष्ट (वि०) अनिमंत्रित आकर बैठा हुआ।

अनाह्लादः (पु०) हर्ष या प्रसन्नता का अभाव।

अनिःशस्त (वि०) कलंक-रहित, निष्कलंक।

अनिकामतस् (क्रि० वि०) अनिच्छापूर्वक।

आनिकेत (वि०) निकेतन-रहित, गृहहीन। गृह में रहते हुए भी मनुष्य अनिकेत हो सकता है। क्योंकि यथार्थ में कोई नहीं कह सकता कि यह गृह मेरा है। गृह पुराना हो तो उसके पूर्वज उसमें रह चुके थे और उन्हें मरते समय उसे यहीं छोड़ जाना पड़ा है। आज भी जो यहाँ निवास करता है उसे भी इसे छोड़ जाना पड़ेगा, उसके पुत्र-पौत्रादि भी इसी प्रकार इस गृह को छोड़कर चले जायेंगे। तो कैसे कोई कह सकता है कि मकान मेरा है।

खरीदने के पहले अपने से सम्पर्क-रहित कोई मकान था। उस समय वह मकान टूट जाता तो उससे कोई हानि लाभ नहीं होता। परन्तु जिस दिन उसे खरीद लिया उस दिन से खरीदने वाले ने अभिमान किया कि 'बह मेरा मकान है।' अब यदि उसका कोई अंश टूट जाय या पूरा मकान ध्वस्त हो जाय तो उस व्यक्ति को बड़ा शोक होगा। परन्तु यदि विचारा जाय कि खरीदना क्या चीज है। उसने सरकारी छाप लगे हुए कुछ कागज उस मकान के पूर्व मालिक को दिये तो मकान अपना हो गया। वह कागज तो घास-पात-बाँस आदि की लुगदी से बने हैं जो मिट्टी ही है। मकान तो जहाँ का तहाँ पड़ा ही रह जाता है। उसमें जाकर नया मालिक रहने लगा। मरते समय उस मकान को छोड़ जाना पड़ेगा तो खरीदा क्या गया ? केवल अभिमान कि 'मेरा मकान है !'

अभिमान तो दुःख का मूल है (अभिमानः देखिए)। 'मेरा' कहना ही तो दुःख का जन्म देना है। ममतारहित होना ही तो शांति है। घर में पले हुए तोते को लोग मेरा तोता कहते हैं, परन्तु घर के मूस को कोई 'मेरा' नहीं कहता। अब तोते के मरने से शोक होता है और मूस के मरने से नहीं (ममैति मूलं दुःखस्य निर्ममेति च निर्वृतेः। शुकस्य विगमे दुःखं न दुःखं गृहमूषिके-विष्णुपुराण ७।४३)

लोग रुपये देकर मकान में रहने का अधिकार खरीदते हैं। कोई मासिक भाड़ा देकर एक-एक मास के लिए रहने का अधिकार खरीदता है और कोई १५-२० वर्षों का किराया इकट्ठा देकर जन्म भर तथा वंश-परम्परा तक रहने का अधिकार खरीदता है। मकान उसी जगह पड़ा रहता है (न घर तेरा, न घर मेरा, सिर्फ चिड़िया रैन बसेरा है)।

मकान तो कोई चीज ही नहीं है। ईंट, काठ, पत्थर लोहा आदि को अलग-अलग करने से मकान का नाम और रूप लुप्त हो जाते हैं। मकान बनाने में जो सामान लगे हैं उनमें से किसी चीज के एक टुकड़े को भी मालिक नहीं बना सकता। ईंट की मिट्टी ईश्वर की बनायी हुई है। लकड़ी का वृक्ष ईश्वर का बनाया हुआ है। पत्थर, लोहा मिट्टी ही है। अतः जो सामान मनुष्य नहीं बना सकता उससे बने हुए मकान को उसे अपना नहीं कहना चाहिए। परायी चीज को अपना कहने वाले को लोग क्या कहते हैं ?

इस प्रकार के विचारवान पुरुष मकान में रहते हुए कभी यह अभिमान नहीं करते कि यह मकान मेरा है। ऐसे अभिमान-रहित पुरुष को घर में रहते हुए भी 'अनिकेत' कह सकते हैं। ऐसे अनिकेत पुरुष निन्दा-स्तुति को बराबर समझते हैं। वह प्रायः मौन धारण किये रहते हैं, जो कुछ मिल जाय उसी में संतुष्ट रहते हैं, उनकी बुद्धि स्थिर रहती है ऐसे व्यक्ति यदि भक्तिमान हों तो वह भगवान के प्रिय होते हैं अर्थात् संसार में श्रेष्ठ समझे जाते हैं (तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्। अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः—गीता १२।१६)।

अनिगीर्ण (वि०) जो निगला हुआ न हो, अकथित, अप्रकट।

अनिग्रह (वि०) जिसका निग्रह या दमन न किया गया हो (नरो दुःखमवाप्नोति इन्द्रियानामानिग्रहात्)।

अनिङ्ग (वि०) जो विभाजन के अयोग्य हो, अविभाजनीय।

अनिच्छ, अनिच्छक (वि०) इच्छा न रखने वाला, आकांक्षारहित (अनिच्छकान् पौरजनान्)।

अनिच्छा (स्त्री) इच्छा या चाह का अभाव।

अनिच्छाप्रारब्धः (पुं०) जिस प्रारब्ध-कर्म का फल मनुष्य को अनिच्छा रहते हुए भी भोगना पड़े। प्रारब्ध तीन प्रकार के हैं—इच्छाप्रारब्ध, अनिच्छाप्रारब्ध और परेच्छाप्रारब्ध (इच्छानिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविध स्मृतम्—पंचदशी ७।१५२)।

पूर्व-जन्म कृत कर्म प्रारब्ध हैं (पूर्वजन्मकृतं कर्म प्रारब्धमिति कथ्यते)। कर्म समाप्त होते ही नष्ट हो जाता है, किन्तु उसका संस्कार अन्तःकरण में पड़ जाता है, जो मृत्यु पर्यन्त बना रहता है। इसी संस्कार के अनुसार फल भोग करना पड़ता है। शुभ संस्कार का फल सुख और अशुभ संस्कार का फल दुःख है, यह संस्कार ही प्रारब्ध है।

इस जन्म के किये कर्मों के संस्कार भी प्रारब्ध बन जाते हैं। इनका भी फल प्रायः इसी जन्म में होता है। (अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। प्रारब्ध-कर्मणां भोगादेव क्षयः —कर्मप्रदीप ४६)।

गीता में अनिच्छा प्रारब्ध का उल्लेख है। अर्जुन ने पूछा—"हे कृष्ण, किसके द्वारा बलपूर्वक प्रेरित होकर, मनुष्य इच्छा न रहते हुए भी पापाचरण करता है ?" (अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः। अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ३।३६)। इसका उत्तर श्रीकृष्ण ने इस प्रकार दिया—"रजोगुण से उत्पन्न काम महाशन है अर्थात् कामना रूप अग्नि में जितना ही ईंधन दिया जायगा उतनी ही वह बढ़ती जायगी। खाद्य से वह कभी तृप्त नहीं होती। यह काम बाधा प्राप्त होने से क्रोध रूप में परिणत हो जाता है, यह महान् पापरूप है। इस संसार में इसे तुम प्रधान शत्रु जानो (काम एष क्रोध एष रजोगुण-समुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ३।३७)। भगवान ने और भी कहा है "हे अर्जुन, अपने स्वाभाविक कर्मों में तुम आबद्ध हो, जिसे तुम करना नहीं चाहते विवश होकर तुम्हें उसे करना ही पड़ेगा (स्वभावजेन कौंतेय निबद्धः स्वेन कर्मणा। कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽवि तत्—गीता १८।६०)।

इस प्रसंग में इच्छाप्रारब्ध और परेच्छाप्रारब्ध के सम्बन्ध में भी संक्षेप से कुछ बता दिया जाता है। कुछ लोग पाप जान कर भी उसका इच्छापूर्वक आचरण करते हैं, जैसे चोर, डाकू, हत्याकारी आदि, यह इच्छाप्रारब्ध है। अरना प्रयोजन न रहते हुए भी कुछ लोगों को दूसरे के इच्छानुसार काम करना पड़ता है जैसे महाराजा हरिश्चन्द्र को विश्वामित्र मुनि की इच्छा से महान् दुःख भोगना पड़ा था तथा तत्त्वज्ञ महात्मा को शिष्यों के प्रति कृपा करके उपदेश देना पड़ता है। यह परेच्छा प्रारब्ध है।

जो होनहार है वह अवश्य होगा और जो न होने का है वह कभी नहीं होगा। यह विचार चिन्ता-विष का नाश करने वाला है (यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा, इति चिन्ताविषघ्नोऽयं बोधो भ्रमनिवर्तकः—पंच ६।१६८)।

अनिजक (वि०) जो निजका न हो, पराया ।

अनित्य (वि०) विनाशशील, नाशवान, क्षणभंगुर, जन्ममृत्यु-विशिष्ट । संसार के सारे पदार्थ अनित्य हैं । केवल सर्वकारणकारण ब्रह्म ही नित्य है (ब्रह्मैव नित्यं वस्तु, ततोऽन्यत् सर्वम् अनित्यम्–आत्मानात्म-विवेक) । संसार की सारी वस्तुएँ सीमाबद्ध अर्थात् छोटी हैं । छोटी वस्तु का जन्म होता है, इस कारण उसका नाश भी निश्चित है (यदल्पं तन्मर्त्यम्--छान्दोग्य ७।२४।१) ।

भिन्न वस्तु भी अनित्य है, जिस प्रकार घट पट से भिन्न होने के कारण दोनों अनित्य हैं उसी प्रकार न्याय-परिकल्पित आकाश, काल, दिक्, मन, परमाणु विभिन्न होने के कारण अनित्य हैं । सांख्य-परिकल्पित प्रकृति और पुरुष भी भिन्न-भिन्न होने के कारण अनित्य ही हैं (भिन्नत्वं अनित्यत्वे कारणम्, यथा घटः) ।

आकाश आदि व्यापक होने पर भी सृष्टि के भीतर के पदार्थ होने के कारण (तस्माद् वै एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः–तैत्तिरीय २।२) उनकी सीमा मानी गयी है । (अद्वैतवादः देखिए) । (सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् सभूमिं सर्वतस्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्–पुरुषसूक्त) ।

पृथ्वी आदि समस्त ब्रह्मांड को व्याप्त करके परम पुरुष दश अँगुली ऊपर हैं । अर्थात् सृष्टि के बाहर भी परमात्म का अस्तित्व है । दश अँगुलियों के बाद उनको सीमाबद्ध करने वाला कोई सांसारिक पदार्थ न रहने से वह दशों दिशाओं में अनंत हैं (पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि–श्रुति । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्–गीता १०।४२) अर्थात् परमात्मा के एक अंश में ही सृष्टि है । अतः आकाश, काल, दिक्, आदि सभी सांसारिक वस्तुएँ सीमाबद्ध अर्थात् अनित्य हैं (नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विद्धाति कामान्–कठोपनिषद २।२।१३) ।

अनित्यदत्तः, अनित्यदत्तकः (पुं०) वह पुत्र जो कुछ दिनों के लिए दूसरे को दिया जाय ।

अनित्यम् (अव्य०) कभी कभी, संयोग से ।

अनिदान (वि०) कारणसहित, हेतुरहित ।

अनिद्र (वि०) जागता हुआ, निद्राविहीन, सावधान ।

अनिद्रा (स्त्रीः) निद्राहीनता, रात में नींद न आने का रोग । यह एक प्रकार की बीमारी है । रोगी को पूर्ण विश्राम नहीं मिल पाता, जिससे उसका स्वास्थ्य भी गिरने लग जाता है, मन में चिंता की चिता जलने लगती है । अनिद्रा चार प्रकार की होती है –अधिक समय तक भी निद्रा का न आना, सोते समय नींद का खुल जाना और बहुत समय तक सो न पाना, कुछ देर सोने के पश्चात् एकाएक नींद का उचट जाना तथा फिर न आना और नींद का बिल्कुल ही बन्द हो जाना ।

अनिद्रा रोग के कारण मुख्यतया दो श्रेणी के होते हैं शारीरिक और मानसिक । शारीरिक कारणों में, आस-पास का कोलाहल-युक्त वातावरण, बहुमूत्रता, खुजलाहट, खाँसी तथा अन्य भी कुछ शारीरिक व्याधियाँ, शारीरिक कष्ट तथा अत्यंत गर्मी या सर्दी का अत्यधिक प्रभाव है । मानसिक कारणों में क्रोध, मनस्ताप, अवसाद, उत्सुकता, निराशा, परीक्षा, अतिहर्ष, अतिखेद तथा नूतन प्रेम आदि हैं । ये अवस्थाएँ क्षणिक हैं । इनके निदान की आवश्यकता नहीं । अनिद्रा उत्पन्न करने में खिन्नता का उन्माद, मन की चंचलता तथा उन्मत्तता भी सहायक बन जाती है । वृद्धावस्था में प्रायः नींद का कम आगमन होता है । एकाएक नींद खुल कर फिर नहीं आती जिससे रोगी अधीर हो जाता है । विद्युत-झटकों से इसकी चिकित्सा लाभप्रद होती है । पीड़ा के कारण या किसी रोग-विशेष से उत्पन्न अनिद्रा अवश्य ही घातक होती है और इसके लिए रोग के मूल कारण का ठोस ज्ञान अपेक्षित है । संमोहक और शामक औषधियों से भी इस रोग की चिकित्सा होती है । अधुना मनोवैज्ञानिक तरीके भी शारीरिक सुविधाओं के साथ उपयोग में लाये जा रहे हैं ।

अनिद्रित (वि०) जो सोया हुआ न हो ।

अनिध्न (वि०) जिसे ईंधन की आवश्यकता न हो ।

अनिन (वि०) सामर्थ्यरहित, दुर्बल, अशक्त ।

अनिन्दनीय (वि०) जो निन्दा के योग्य न हो, कलंकरहित, दोषरहित ।

अनिन्दा (स्त्री०) निन्दा का अभाव, अभर्त्सना ।

अनिन्दित (वि०) जिसकी निन्दा न की गयी हो, जिसकी भर्त्सना न हुई हो ।

अनिन्द्रियम् (नं०) मन, आत्मा, कारण ।

अनिपद्यमान (वि०) नीचे न गिरने वाला ।

अनिपातः (पुं०) जीवन की नित्यता ।

अनिपुण (वि०) अदक्ष, अपटु, अप्रवीण ।

अनिबद्ध (वि०) जो बंधा न हो, अनासक्त ।

अनिबद्धप्रलापिन् (वि०) असंगत बात बोलने वाला।

अनिभृत (वि०) जो निभृत या छिपा हुआ न हो, स्पष्ट, लाजरहित, अस्थिर, अविनीत, जो दृढ़ न हो, अदृढ़, साहसवान् ।

अनिभृष्ट (वि०) जो पराजित न किया गया हो, अपराजित ।

अनिभ्य (वि०) जो धनवान न हो, निर्धन ।

अनिमकः (पुं०) मेंढक, कोयल, मधुमक्षिका ।

अनिमन्त्रित (वि०) विना बुलाया हुआ, अनाहूत् ।

अनिमन्त्रितभोजिन् (वि०) विना निमंत्रण ही भोजन करने वाला ।

अनिमान (वि०) जो सीमावद्ध न हो, अनिर्मित।

अनिमित्त (वि०) हेतुरहित, आधाररहित ।

अनिमित्तनिराक्रिया (स्त्री०) अशुभ शकुनों को बदल देने वाली क्रिया ।

अनिमित्तम् (न०) उपयुक्त कारण या अवसर का अभाव, अपशकुन ।

अनिमित्तलिङ्गनाशः (पु ं०) 'आँख-आना' रोग का एक प्रकार जिसमें अंधता प्राप्त हो जाती है ।

अनिमिष (वि०) दृढ़तापूर्वक नियुक्त, स्पंदनरहित (देवता) ।

अनिमिषदृष्टि (स्त्री०) विना पलक गिराये देखने की क्रिया, निर्निमेष दृष्टि या चेष्टा ।

अनिमिषाक्ष (वि०) जिसकी आँखें अचल या स्थिर हों ।

अनिमिषाचार्यः (पु ं०) देवताओं के गुरु, बृहस्पति ।

अनिमेषः (पुं०) देवता, मत्स्य, मछली, विष्णु ।

अनियत (वि०) अनियमित, असंयत, संदिग्ध, हेतु-रहित, नश्वर, नाशवान् ।

नियतपु ंस्का (स्त्री०) दुराचारिणी स्त्री ।

अनियतवृत्ति (वि०) जिसकी आमदनी या जीविका नियमित न हो, अनियमित आय वाला ।

अनियतात्मन् (वि०) असंयत ।

अनियन्त्रण (वि०) जो नियंत्रित न हो, असंयत ।

अनियन्त्रितः (वि०) उच्छृङ्खल, नियमविरुद्ध ।

अनियमः (पुं०) नियम का अभाव, अनुचित आचरण, संदेह, अनियमितता ।

अनियमित (वि०) जो नियमपूर्वक होने वाला न हो, नियमविरुद्ध ।

अनियुक्त (वि०) जो नियुक्त या पदासीन न हुआ हो ।

अनियुक्तः (पुं०) अदालत के न्यायाधीश का ऐसा सहायक जिसकी अभी विधिवत् नियुक्ति न हुई हो ।

अनियोगः (पु ं०) आदेश या प्रार्थना का अभाव ।

अनियोगिन् (वि०) जो जुड़ा या लगा हुआ न हो ।

अनिर वि०) पराक्रमहीन, साहसरहित ।

अनिराकरिष्णु वि०) जो बाधा देने के योग्य न हो, जो निंदनीय न हो ।

अनिराकृत वि०) अबाधित, जिसका खंडन न हुआ हो ।

अनिराहित (वि० जो दूर न रखा गया हो ।

अनिरुक्त (वि०) जो कहा न गया हो, अनुच्चारित, जिसकी व्याख्या न की गयी हो ।

अनिरुक्तगानम् (न०) अस्पष्ट गान ।

अनिरुद्ध (वि०) जो रुद्ध न हो, मुक्त, अनियंत्रित, स्वेच्छाचारी ।

अनिरुद्धः (पु ं०) गुप्तचर, भेदिया, पशु आदि बाँधने की रस्सी, मन का अधिष्ठाता ।

यह श्रीकृष्ण के पौत्र और प्रद्युम्न के पुत्र थे। दैत्यराज बाण की कन्या उषा से इनका विवाह रुआ था। वरदान के प्रभाव से उषा ने स्वप्न में इन्हें वर रूप में वरण किया और अनिरुद्ध को द्वारका से अपने यहाँ लाने के लिए उसने अपनी सखी चित्रलेखा को द्वारका भेजा। द्वारका में नारद से साक्षात्कार होने पर चित्रलेखाने नारद के परामर्श से अन्तःपुर में प्रवेश किया और नारद-प्रदत्त तामसी विद्या के प्रभाव से वहाँ सब लोगों को मोह के वशीभूत कर दिया और अनिरुद्ध को लेकर भाग गई। इसके बाद चित्रलेखा के साथ अनिरुद्ध ने बाण की राज-धानी शोणितपुर में प्रवेश कर उषा के साथ गांधर्व विवाह किया। इस विवाह का समाचार मिलते ही दैत्यराज बाण ने अनिरुद्ध को वंदी कर लिया। इस संवाद को नारद ने कृष्ण से कहा। तब कृष्ण और वृष्णि ने शोणितपुर पर

आक्रमण कर बाण को पराजित कर अनिरुद्ध को बंदीगृह से मुक्त किया। तब बाण ने इस विवाह से सहमत होकर अपनी कन्या का विवाह अनिरुद्ध के साथ कर दिया। इसके बाद उन्होंने द्वारका को प्रस्थान किया। यदुवंश के ध्वंसकाल में अनिरुद्ध की मृत्यु हो गई।

अनिरुद्धपथम् (न०) व्योम, आकाश, नभ।

अनिरुद्धभट्टः (पुं०) (१) सांख्यसूत्र के वृत्तिकार। इनका समय ईसवी की चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी माना गया है। (२) दानसागर एवं भोजप्रबन्ध के प्रणेता वल्लालसेन के गुरु। इनका समय ईसा की बारहवीं सदी है।

अनिरुद्धभाविनी (स्त्री०) अनिरुद्ध की पत्नी, उषा।

अनिरूपित (वि०) जिसका निरूपण न किया गया हो, जिसका निर्णय न हुआ हो, अनिर्णीत।

अनिर्जित (वि०) जो जीता न गया हो, अविजित।

अनिर्णयः (पुं०) निर्णय का अभाव, अनिश्चयता।

अनिर्णीत (वि०) जिसका निर्णय न हुआ हो।

अनिर्णेय (वि०) जिसका निर्णय न हो सके, निर्णय के अयोग्य।

अनिर्दश (वि०) मृत्यु अथवा जन्म के १० दिन के अशौच के भीतर का।

अनिर्दिष्ट (वि०) जो निर्धारित न हो, जिसकी व्याख्या न हुई हो।

अनिर्देशः (पुं०) किसी निश्चित नियम या आज्ञा का अभाव।

अनिर्देश्य (वि०) निर्धारण के अयोग्य, अवर्णनीय।

अनिर्धारित (वि०) अनिश्चित।

अनिर्धार्य (वि०) निर्धारण के अयोग्य, जिसका निर्धारण न हो सके।

अनिर्भर (वि०) जो अधिक न हो, अल्प, थोड़ा, जिसका भरोसा न हो।

अनिर्भेद (वि०) जो प्रकट वा प्रकाशित न हो, प्रकाशित न होनेवाला।

अनिर्मल (वि०) जो निर्मल न हो, अस्वच्छ, गँदला।

अनिर्लोचित (वि०) जिसका अवलोकन ध्यानपूर्वक न किया गया हो, न सोचा हुआ, अविचारित।

अनिलाडित (वि०) अपरीक्षित।

अनिर्वचनीय (वि०) वर्णन करने के अनुपयुक्त, वर्णनातीत।

अनिर्वचनीयता (स्त्री०) वाक्य के द्वारा प्रकट करने की अयोग्यता, वर्णनातीत भाव।

सांसारिक सभी पदार्थों को वाक्य द्वारा प्रकट किया जा सकता है, केवल सर्वकारण-कारण ब्रह्म या आत्मा ही अनिर्वचनीय है। वाक्य से प्रकट किये जानेवाले सभी पदार्थ नाशवान हैं, केवल ब्रह्म या आत्मा ही अनिर्वचनीय होने के कारण नित्य है। जागतिक सभी वस्तुओं में कुछ न कुछ रूप या आकार है इसलिए वे अनित्य हैं। किंतु ब्रह्म अरूप होने के कारण ही नित्य हैं। इंद्रियग्राह्य सभी चीजें अल्प, छोटी या स्थान में सीमाबद्ध हैं, इसलिए वे मरणशील अर्थात् नाशवान हैं (यदल्पं तन्मर्त्यम्—छान्दोग्य ७।२४।१)। केवल ब्रह्म ही सर्वव्यापक होने के कारण नित्य हैं। भगवान वेदव्यासजी ने १८ पुराण तथा १८ उपपुराण आदि लिखकर अंत में क्षमापराध-स्तोत्र में लिखा था कि, हे परमात्मन्, आप रूप-विवर्जित हैं तथापि मैंने विभिन्न प्रकार के ध्यानमन्त्र लिखकर आपके रूपों की कल्पना की है; हे अखिलगुरु; आप अनिर्वचनीय हैं तथापि मैंने स्तुति द्वारा आपकी उस अनिर्वचनीयता को दूर कर दिया; आप सर्वब्यापी हैं तथापि मैंने आपके ब्यपित्व का निरसन तीर्थ-यात्रादि के द्वारा कर दिया, अतः हे जगदीश, मेरे इन तीन विकलता-दोषों को क्षमा करें (रूपं रूप-विवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत्कल्पितं स्तुत्यानिर्वचनीयता-खिलगुरोर्दूरीकृता यन्मया। व्यापित्वञ्च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादीना; क्षन्तव्यं जगदीश तद्विकलतादोषत्रयं मत्कृ-तम्—ज्ञानार्णव ७।५)।

अनिर्वचनीयताख्यातिः (स्त्री०) ब्रह्म या आत्मा अनिर्वचनीय है यह ज्ञान। विवर्तवादी वेदांत का वह मत जिसमें बाहरी वस्तुओं को सत् भी नहीं कहा जा सकता और असत् भी नहीं। सत् इसलिए नहीं है कि सांसारिक वस्तुएँ ब्रह्मसत्तातिरिक्त पृथक् सत्तावान् नहीं हैं और असत् इसलिए नहीं हैं कि वे वस्तुएँ प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती हैं बन्ध्यापुत्र, आकाशपुस्प, नरविषाण, शशश्रृंग आदि की

तरह बिलकुल असत् या अलीक भी नहीं है। इसी कारण उन्हें अनिर्वचनीय कहा गया है (अख्यातिः, अद्वैतवादः देखिए)।

अनिर्वचनीयम् (न०) माया, अज्ञान, मोह, संसार।

अनिर्वाच्य (वि०) वाक्य से वर्णन करने के अयोग्य, अनिर्वचनीय।

अनिर्वाण (वि०) न बुताया हुआ, जलता हुआ, न धोया हुआ।

अनिर्वाहः (पुं०) निर्वाह-योग्य धन का अभाव, आय की अपर्याप्तता।

अनिर्वाह्य (वि०) प्रबंध के लिए कठिन, निर्वाह के अयोग्य।

अनिर्विण्ण (वि०) जो निम्न जाति का न हो; जो उदास न हो।

अनिर्वेदः (पुं०) उदासीनता का अभाव, आत्म-निर्भरता।

अनिर्वृत (वि०) विकल, अप्रसन्न।

अनिर्वृतिः (स्त्री०) अशांति, अप्रसन्नता (अनिवृत्या-जनः सर्वस्तापमेव श्रुतोऽनिशम्)।

अनिर्वृत्त (वि०) असंपूर्ण, अधूरा, जो पूरा न किया गया हो।

अनिर्वृत्तिः (स्त्री०) अपूर्णता, असंतोष, अशांति।

अनिर्वेदः (पुं०) वैराग्य का अभाव, अनुदासीनता, आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता।

अनिर्वेश (वि०) जिसने अपने पापों का प्रायश्चित्त न किया हो, प्रायश्चित्त न करनेवाला (अनिर्वेशस्य चेतोऽन्तर्न शुद्धयति कथञ्चन—कर्मकलाप ३८)।

अनिलः (पुं०) वायु, वायुदेवता, ४६ वायुओं में से एक, शरीर का एक रस (पित्त और कफ अन्य दो रस हैं), वातरोग, पक्षाघात, उदर में अपचजनित वायु, ४६ की संख्या।

अनिलकुमारः (पुं०) पवनकुमार हनुमान। (जैन) एक श्रेणी के देवता।

अनिलघ्न (वि०) पेट की अपचवायु का नाशक।

अनिलपर्यायः (पुं०) आँख की पलकों का फूलना।

अनिलप्रकृति (वि०) पेट में अपच-जनित वायु से उदर-स्फीति स्वभाव वाला।

अनिलप्रकृतिः (पुं०) शनिग्रह का नाम।

अनिलय (वि०) गृहहीन, विश्राम-स्थान-रहित।

अनिलयनम् (न०) गृह न होना, आश्रय-राहित्य।

अनिलव्याधिः (पुं०) पेट में अपचजनित वायु रोग।

अनिलसख, अनिलसारथिन् (पुं०) वायु का मित्र, अग्नि।

अनिलहन्, अनिलहृत् (वि०) अनिलघ्न।

अनिलात्मजः (पुं०) वायुनंदन, हनुमान, भीम।

अनिलान्तकः (पुं०) पेट की अपचजनित वायु का नाशक पदार्थ।

अनिलापह (वि०) अनिलघ्न।

अनिलामयः (पुं०) पेट में वायु का रोग, अफरा, वात।

अनिलाम्भसमाधिः (पुं०) [बौद्ध] एक प्रकार की समाधि, जिसमें वायु और जल पीकर समाधिस्थ रहा जा सके।

अनिलायनम् (न०) वायु निकलने का मार्ग।

अनिलाशन (वि०) वायुभक्षी, वायु ही पीकर रहने वाला।

अनिलाशनः (पुं०) साँप, सर्प।

अनिलाशिन् (वि०) वायुभुक्, वायु भक्षण कर तप करने वाला, उपवास रहने वाला।

अनिलाशिन् (पुं०) साँप, सर्प।

अनिवर्तन (वि०) लौट न आनेवाला, अपराङ्मुख, स्थिर, स्वत्व न छोड़ने वाला।

अनिवार्तित्वम् (न०) युद्ध से न लौटना, साहस के साथ प्रतिरोध करना, अपराङ्मुखता।

अनिवर्तिन (वि०) मुँह न मोड़ने वाला, लौट न आने वाला, वीर, बहादुर (संग्रामेष्वनिवर्तिनः)।

अनिवारित (वि०) जिसका निवारण न किया गया हो, जिसे रोका न गया हो।

अनिवार्य (वि०) निवारण न करने योग्य, अवश्य करने योग्य, अत्याज्य, आवश्यक, बाध्यतामूलक।

अनिविशमान (वि०) [वेद] विश्राम न करने वाला, निरन्तर काम करने वाला, चंचल-चित्त, विकल, बेचैन।

अनिवृत (वि०) [वेद] निवृत्त न किया हुआ, न रोका हुआ, बाधा-अप्राप्त।

अनिवृत्त (वि०) काम न छोड़ने वाला, अपरांमुख, साहसी ।

अनिवेदित (वि०) देवता को न चढ़ाया हुआ, असमर्पित, अकथित, अवर्णित ।

अनिवेदितविज्ञाता (वि०) बिना कहे ही आशय समझने वाला ।

अनिवेद्य (वि०) देवता को चढ़ाने के अयोग्य । (अव्य) निवेदित न करके, न कहकर ।

अनिवेशन (वि०) [वेद] विश्रामस्थानरहित ।

अनिश (वि०) रात्रिशून्य, अनिद्र, अबाधित, निरंतर, चलने वाला ।

अनिशम् (अव्य) निरंतर, लगातार, दिनरात ।

अनिशित (वि०) निरंतर चलने वाला ।

अनिशितम् (अव्य) निरंतर, लगातार ।

अनिशितसर्ग (वि०) निरंतर प्रवाह वाला ।

अनिश्चयः (पुं०) निश्चय न होना, संदेह ।

अनिश्चयवादः (पुं०) जिस मत में किसी वस्तु का तत्त्व निर्णित नहीं होता, संशयवाद ।

अनिश्चित (वि०) जो निश्चित न हो, अनवधारित, अनिर्दिष्ट ।

अनिश्चितिः (स्त्री०) अनिश्चयता, संदेह, संशय, निश्चय का अभाव ।

अनिश्चिन्त्य (वि०) चिंता करने के अयोग्य, अविचारणीय, अचिंतनीय ।

अनिषङ्ग (वि०) तूणरहित, शस्त्रशून्य ।

अनिषव्य (वि०) वाणों से मारने के अयोग्य ।

अनिषिद्ध (वि०) निषेध न किया हुआ, विना रोकटोक के किया या खाया जा सकने वाला ।

अनिषु (वि०) वागरहित, खराब बाग वाला ।

अनिषुधन्व (वि०) धनुषवाणरहित ।

अनिषेधार्ह (वि०) निषेध करने के अयोग्य ।

अनिष्कासित (वि०) न निकाला हुआ, खाद्य-शेषरहित ।

अनिष्कृत (वि०) अकृत, अधूरा छोड़ा हुआ, अनिश्चित ।

अनिष्कृतैनस् (वि०) अपराध निश्चित न किया हुआ, विचाराधीन ।

२०

अनिष्ट (वि०) अवांछित, अप्रार्थित, अशुभ, असुविधाजनक, अननुकूल, बुरा, अशुद्ध, हानिकारक, यज्ञ द्वारा सम्मान न दिया हुआ ।

"मेरे शरीर से किसी को चोट न लगे तथा मेरे वचन से किसी के मन में दुःख न हो"—यही श्रेष्ठ मनुष्य का सिद्धांत है । जिसके बुरे वर्ताव से दूसरे को अनिष्ट या हानि हो वह श्रेष्ठ-मनुष्य-पदवाच्य नहीं है ।

अनिष्टग्रह (पुं०) अशुभ ग्रह या नक्षत्र, पापग्रह, बुरा ग्रह ।

अनिष्टदुष्टधी (वि०) पापी, अशुभबुद्धिवाला, हानि चाहने वाला ।

अमिष्टप्रसङ्गः (पुं०) बुरे विषय का प्रसंग, कुतर्क, असत् नियम, बातचीत में अनभिलषित विषय की अवतारणा ।

अनिष्टफलम् (न०) बुरा फल, कुकर्म का फल, दुःख ।

अनिष्टम् (न०) अनिष्ट, हानि अहित, अपकार, बुराई, अमंगल, असुविधा, दुःख, पाप ।

अनिष्टशंका (स्त्री०) अनिष्ट या बुरे फल की आशंका दुर्भाग्य आने की शंका ।

अनिष्टसूचक (वि०) अशुभसूचक, अनिष्ट-शंकाजनक ।

अनिष्टहेतुः (पुं०) अपशकुन, अशुभ का चिह्न ।

अनिष्टापत्तिः (वि०) अनिष्ट-प्राप्ति, अवांछित घटना ।

अनिष्टापादनम् (न०) अनिष्ट प्राप्त कराना, अभिलषित वस्तु का न मिलना ।

अनिष्टाप्तिः (स्त्री०) अनिष्ट की प्राप्ति, अनभिलषित वस्तु या विषय की प्राप्ति ।

अनिष्टाशंसिन् (वि०) अनिष्टाशंका-जनित, अनिष्टसूचक ।

अनिष्टिन् (पुं०) इष्टि या यज्ञ न करने वाला, अयाज्ञिक ।

अनिष्टृत (वि०) अक्षत, अनाहत, अबाधित ।

अनिष्टोत्प्रेक्षणम् (न०) अनिष्ट की प्रतीक्षा ।

अनिष्ठा (स्त्री०) अस्थिरता, चंचलता, निष्ठा का अभाव ।

अनिष्ठुर (वि०) अकठोर, दयालु ।

अनिष्ण (वि०) अनिपुण, अदक्ष, अप्रवीण ।

अनिष्पत्तिः (स्त्री०) कार्य समाप्त न करना या न होना, अधूरापन, अपूर्णता ।

अनिष्पत्रम् (अव्य०) ऐसे ढंग से कि तीर लक्ष्य के उस ओर न निकल जाय ।

अनिष्पन्न (वि०) अपूर्ण, असमाप्त ।

अनिसर्ग (वि०) अप्राकृतिक, अनैसर्गिक ।

अनिस्तब्ध (वि०) शब्द-रहित न किया हुआ, सुन्न न किया हुआ, अस्थिर, चंचल ।

अनिस्तीर्ण (वि०) पार न किया हुआ, अलग न किया हुआ, असुक्त, अनुत्तारित, अखंडित ।

अनिस्तीर्णाभियोगः (पुं०) प्रतिवादी जो अपराध का खंडन करके दोष से न मुक्त हुआ हो, विचाराधीन अपराधी ।

अनीकः (पुं०), अनिकम् (न०) मुखमंडल, चेहरा, उज्ज्वलता, किनाश, विंदु, सामना, श्रेणी, सेना, युद्ध, लड़ाई !

अनीकवत् (वि०) चेहरा वाला, अग्रवर्ती श्रेणी का ।

अनीकविदारणः (पुं०) शत्रु-सेना का विदारण करने वाला योद्धा ।

अनीकश (अव्य०) सेना की अग्रगामी श्रेणी में ।

अनीकस्थः (पुं०) योद्धा, राजा का शरीर-रक्षक सिपाही हस्ति-रक्षक, हस्तिपक, महावत, चिह्न, युद्ध का नगाड़ा, निपुण, हस्तिशिक्षक ।

अनीकिनी (स्त्री०) अनीक, सेना, सैन्य का एक विभाग । प्राचीन समय में सेना के अनेक विभाग होते थे । जैसे—पत्ति, सेनामुख, गुल्म, गण, वाहिनी, प्रीतमा, चमू, अनीकिनी और अक्षौहिणी (ध्वजिनी वाहिनी सेना प्रीतमानीकिनी चमूः । बरूथिनी वलयसैन्यम् चक्रम् चार्णीकमस्त्रियाम्—अमरकोश) ।

इस प्रकार के सेना-विभागों में हस्ती, रथ, अश्व, पदातिक की संख्या इस प्रकार थी (एकेभैंकरथा त्र्यश्वा-पत्तिः पञ्चपदातयः । पत्त्यङ्गैस्त्रिगुणैः सर्वैः त्र्यमादाख्या यथोत्तरम् । सेनामुखं गुल्मगणौ वाहिनी पृतना चमूः । अनीकिनी दशानीकिन्यक्षौ हिण्यथसंपदि—अमरकोश क्षत्रियवर्ग ८०-८१) ।

इसका अर्थ निम्न प्रकार है—

नाम	हस्ती	रथ	अश्व	पदातिक	जोड़
पत्ति	१	१	३	५	१०
सेनामुख	३	३	६	१५	३०
गुल्म	६	६	२७	४५	६०
गण	२७	२७	८१	१३५	२७०
वाहिनी	८१	८१	२४३	४०५	८१०
प्रीतमा	२४३	२४३	६२६	१२०१५	२४३०
चमू	७२६	७२६	२१८७	३६४५	७२६०
अनीकिनी	२१८७	२१८७	६५६१	१०६३५	२१८७०
अक्षौहणी	२१८७०	२१८७०	६५६१०	१०६३५०	२१८७००

कुरुक्षेत्र से युद्ध में कौरव पक्ष में ११ अक्षौहिणी तथा पाण्डव पक्ष में ७ अक्षौहिणी सेना थी ! प्रायः सभी उस युद्ध में निहत हो गये थे ।

अनीक्षणम् (नं०) न देखने की क्रिया ।

अनीच (वि०) जो निम्न न हो, जिसकी प्रतिष्ठा न हो ।

अनीचानुवर्तिन् (वि०) असंगति में न रहने वाला ।

अनीचानुवर्तिन् (पुं०) विश्वासी प्रेमी या पति ।

अनीचैस् (अव्य०) जोर से, उच्च स्वर में ।

अनीड (वि०) जिसका घोंसला न हो, जिसके रहने का स्थान स्थिर न हो ।

अनीड (पुं०) अग्नि, अग्निदेव ।

अनीति (स्त्री०) नीतिविरुद्ध आचरण, कुत्सित नीति, मूर्खतापूर्ण आचरण या व्यवहार ; जिसमें ईति न हो ।

अनीतिज्ञ (वि०) जो नीतिज्ञ न हो, अनीतिवान्, जो नीतिविरुद्ध आचरण करने में कुशल हो ।

अनीदृश (वि०) अनचाहा हुआ, असमान ।

अनीप्सित (वि०) जो ईप्सित या इच्छित न हो, अनिच्छित ।

अनीरशन (वि०) कटिबंध वाला, मेखला वाला ।

अनील (वि०) जो नीला न हो, सफेद, श्वेत ।

अनीलवाजिन् (वि०) सफेद घोड़ों वाला ।

अनीलवाजिन् (पुं०) अर्जुन की एक उपाधि ।

अनीश (वि०) जो स्वामी न हो, शक्तिरहित, दुर्बल, अयोग्य, असमर्थ ।

अनीशः (पुं०) विष्णु ।

अनीशत्वम् (न०) अशक्तता, निर्बलता, दुर्बलता ।

अनीश्वर (वि०) ईश्वर-रहित, ईश्वर से संबंध न रखने वाला, कारणशून्य, नास्तिक। भौतिकवादी ईश्वर को नहीं मानते। परंतु कार्यवस्तु देखकर कारण का अनुमान किया जाता है। कोई भी वस्तु विना कारण के उत्पन्न होते नहीं देखी गयी है। घट का निमित्त-कारण कुंभकार है, इसी प्रकार वस्त्र का जुलाहा, मकान का मिस्त्री और रथ का बढ़ई निमित्त कारण है। इन दृष्टांतों से संसार-प्रपंच के कारण का भी निश्चय किया जाता है। घट-पटादि के निमित्त-कारण को बुद्धिमान होना चाहिए, उसी प्रकार इस सुंदर सुश्रृंखल सृष्टि के कारण को भी ज्ञानस्वरूप होना चाहिए। स्थूल और छोटी वस्तु के जन्म-मृत्यु देखकर अनुमान किया जाता है कि संसार का कारण सूक्ष्म और व्यापक है। संसार के कारण को जन्म-मृत्यु-रहित अर्थात् अनादि और अनंत भी होना चाहिए। अतः संसार के कारण ज्ञानस्वरूप सूक्ष्म, व्यापक, अनादि और अनंत हैं। इसी परमसत्ता का नाम ही ईश्वर या परमात्मा है।

जीव के अंतःकरण में इसी परम चेतन सत्ता का प्रतिबिंब पड़ने से जीवत्व का विकास होता है, इस कारण जीव ईश्वर का अति क्षुद्रतम अंश है। आस्तिक मनुष्य की यह क्षुद्र शक्ति स्तुति, विनती, प्रार्थना, पूजा-पाठ आदि के द्वारा उस महान परमात्म-शक्ति से कृपा-प्रार्थना करके हृदय में बल और आनंद पाती है। भक्तिशास्त्र का यही सिद्धांत है। ईश्वर की ओर से कुछ प्रतिदान हो या न हो, प्रार्थना करने वाले को महान लाभ होता है (ईश्वरानुग्रहः देखिए)।

अनीश्वरवादी नास्तिकों का चित्त रूखा-सूखा है, उससे संसार को हानि ही होती है, क्योंकि वे प्राणियों की हिंसा करने, सामाजिक नियम तोड़ने और व्यभिचारादि पाप-कार्य करने में नहीं हिचकते। दूसरी ओर ईश्वरवादी आस्तिक भक्तों से संसार को महान लाभ होता है, क्योंकि वे परोपकारी होते हैं और संसार का कल्याण ही उनका ध्येय है। वे चाहते हैं कि सब लोग सुखी रहें, सब लोग रोगरहित हो जायँ, सबका कल्याण हो, किसी को दुःख का दर्शन न करना पड़े (सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात्-धर्मसिन्धु)।

अनीश्वरवादः (पुं०)—ईश्वर नहीं है ऐसा मत, नास्तिक मत, चार्वाक का सिद्धांत। नास्तिक लोग केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, जो दिखाई नहीं पड़ता और अन्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता उसको अस्वीकार करते हैं।

जितनी भी वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं वे कार्य हैं और कारण से ही उत्पन्न हुई हैं। प्रधानतया कारण दो प्रकार के हैं--एक— उपादान, जिसके द्वारा कोई वस्तु बनती है और दूसरा कारण है निमित्त, जो उसको बनाता है। नदी के प्रवाह से बालू का ढेर लग जाना बिना निमित्त-कारण के भी सम्भव है। परन्तु एक सुन्दर महल बिना निमित्त कारण के बन गया है, ऐसा कोई भी बुद्धिमान मनुष्य नहीं स्वीकार करेगा। इसके पीछे बनाने वाली कुछ बुद्धि-शक्ति अवश्य रही होगी। बालू के ढेर अनियमित तथा विश्रृङ्खल होते हैं। परन्तु महल नियमित तथा सुश्रृङ्खल है। एक मनुष्य का शरीर अगणित नियमों से सुसंबद्ध तथा बहुत ही निपुणता के साथ रचित है। अंधी जड़ प्रकृति के प्रवाह से इतनी सुश्रृङ्खल शरीर की रचना तथा जीवत्व का विकास सम्भव नहीं है। अनन्त कोटि ब्रह्मांडों में अगणित ग्रह, उपग्रह, सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि ऐसे नियम-बद्ध रूप से आकाश में बिजली से भी अधिक तीव्र गति से परिभ्रमण कर रहे हैं और उनमें आकर्षण-विकर्षण का ऐसा सामंजस्य है कि कोई किसी से टकरा कर चूर-चूर नहीं होता और न तो सूर्य नक्षत्र आदि ज्योतिष्क छोटे-बड़े ग्रहों को अपनी तीव्र आकर्षण-शक्ति से खींचकर भस्म ही कर डालते। ऐसे सूक्ष्मतम नियमों को बनाने वाली कोई चेतन शक्ति अवश्य ही होनी चाहिए।

वैज्ञानिक कहते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में जड़ परमाणुओं को संचालित कर देने के लिए कोई चेतन शक्ति रही होगी, जब जड़ में क्रिया-शक्ति उत्पन्न हो गयी तो अब उस चेतन शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं रही। परन्तु आस्तिक का कहना है कि वह चेतन शक्ति इस समय भी ब्रह्मांड में सर्वत्र व्याप्त है। नहीं तो संचालन क्रिया में बाधा प्राप्त हो जाती। भारत के विभिन्न प्रान्तों की विभिन्न जातियों में पुत्र-कन्याओं की संख्या प्रायः समान ही है। अन्यान्य देशों में भी इसका व्यतिक्रम होते नहीं देखा जाता। यदि अंधी प्रकृति ही नियामिका होती तो एक देश में केवल पुत्रों और दूसरे देश में केवल कन्याओं की ही उत्पत्ति होती। एशिया, योरप, अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, भारत, चीन आदि विभिन्न देशों की मनुष्य-

जातियों में परस्पर विवाह-प्रथा न रहने तथा सहस्रों कोस दूर जाकर विवाह करना सम्भव न होने के कारण मनुष्य जाति लाखों वर्ष पहले ही लुप्त हो गयी होती।

भौतिकवादी आज तक जीवत्व के विकास का कोई कारण नहीं बता सके। बालक के मन में जो कर्म और ज्ञान के संस्कार पड़ते जाते हैं, सामाजिक वातावरण में जो बालक जिस प्रकार के खाद्यों को सुस्वाद और विस्वाद समझता है, जैसे दृश्यों को वह सुन्दर और कुत्सित मानता है, उनके भी संस्कार उसकी मृत्यु पर्यन्त बने रहते हैं। शरीर के परमाणु प्रतिदिन खाद्य-पानीय के नये-नये पर-परमाणुओं के पहुँचने से सात-आठ वर्षों में बिल्कुल लुप्त हो जाते हैं। मस्तिष्क के परमाणु भी प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। यदि बालक के संस्कार स्थूल मस्तिष्क में पड़ते तो उसके उपादान परमाणुओं के बदलते रहने के कारण संस्कार भी बदल जाते। परन्तु बचपन का संस्कार वृद्धावस्था में ज्यों के त्यों स्मरण में आते हैं। इससे प्रमाणित होता है कि स्थूल मस्तिष्क के अतिरिक्त अन्तःकरण रूप से चेतन जीवत्व एक पृथक ही वस्तु है जिसमें संस्कार पड़ते हैं और जो मृत्यु तक नहीं बदलते।

चार्वाक मत के अनुसार केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण हो तो संसार का कोई व्यवहार ही नहीं चल सकता। इस कारण अनुमान और शब्द को भी प्रमाण माना जाता है। एक दिन भोजन करने से क्षुधा की निवृत्ति हुई थी। उसकी स्मृति मन में है। दूसरे दिन भूख लगने पर हम भोजन करते हैं क्योंकि हम अनुमान कर लेते हैं कि उस दिन भोजन से क्षुधा की शान्ति हुई थी, इसलिए आज भी क्षुधा की शान्ति भोजन से ही होगी। यह अनुमान प्रमाण है। अनुमान प्रमाण में साध्य, हेतु और दृष्टान्त आवश्यक है। यहाँ क्षुधा की शांति साध्य है, हेतु भोजन, दृष्टांत पूर्व दिन का भोजन। यदि केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना जाय तो दूसरे दिन भोजन में प्रवृत्ति ही नहीं होगी। क्योंकि जब तक भोजन न किया जाय तब तक तृप्ति प्रत्यक्ष न होती।

एक दिन पैर बढ़ाते हुए हम गंगा-घाट तक जा पहुँचे थे। उसका संस्कार मन में पड़ गया है। किसी दूसरे दिन गंगा-घाट तक जाने की इच्छा हुई तो एक-एक कर कदम बढ़ाते चले जायँगे। यह भी पूर्व दृष्टांत के अनुसार अनुमान का ही कार्य है। यदि केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता तो पैर बढ़ाने की प्रवृत्ति ही नहीं होती। क्योंकि जब तक पैर बढ़ाते हुए गंगा-घाट तक न पहुँचा जाय तब तक घाट पर पहुँचना प्रत्यक्ष न होता। इसी तरह हम अधिकांश कार्य अनुमान के द्वारा ही करते हैं। अतः अनुमान एक प्रबल प्रमाण है। इसे युक्ति भी कहते हैं।

आप्त-वचन को शब्द प्रमाण कहते हैं। जो जिस विषय में भ्रम-प्रमाद-रहित है वह उस विषय में 'आप्त' कहा जाता है। अपने माता-पिता का मातृत्व-पितृत्व किसी को भी प्रत्यक्ष नहीं है। परन्तु परिवार के लोगों के बताने से पिता माता को मान कर हम संसार का व्यवहार चलाते हैं। यदि केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण होता तो माता-पिता को मानना असम्भव हो जाता।

साधारण मनुष्य सृष्टि के कारण को नहीं जान सकते। परन्तु ऋषि लोग जीवन भर आत्मचिंतन करते हुए ऋतंभरा प्रज्ञा द्वारा जान गये थे कि सृष्टि के मूल में एकमात्र चेतन ही कारण है। साधारण मनुष्य के अंतःकरण काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, हिंसा आदि के द्वारा मलिन रहते हैं। वे सूक्ष्म वस्तु को नहीं जान सकते। किन्तु ऋषियों के कामक्रोधादि से रहित निर्मल अन्तःकरण में सर्वव्यापक चेतन सत्ता का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से पड़ जाता है और वे उस सर्व-कारण-कारण सच्चिदानन्द परमात्मा का अपरोक्ष रूप से अनुभव करते हैं। जिस प्रकार मलिन दर्पण में किसी भी वस्तु का स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं होता, परन्तु निर्मल दर्पण में होता है, उसी प्रकार साधारण मनुष्य भौतिक विषयों का कितना ही सूक्ष्म विचार क्यों न करें उनके मलिन अन्तःकरण से सर्वान्तर आत्मा को वे नहीं समझ सकते। समस्त विषय-संबंध से रहित हुए बिना अन्तःकरण उस परम सूक्ष्म आत्मा को नहीं पहचान सकता।

कौवा अपनी चोंच की खाद्य वस्तु आँख मूँद कर छप्पर में खोंच देता है और समझता है किसी ने उसे नहीं देखा। इसी प्रकार नास्तिक चित्त को बहिर्मुखी रख कर आत्मा का पता नहीं पाता और कहता है कि आत्मा और परमात्मा नहीं है (पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चित् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष्द् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमिच्छन्-कठोपनिषद् १।४।१); इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर सृष्टिकर्ता ने इनका

अहित किया है। इस कारण ये बाहरी वस्तुओं को ही देखती हैं, अन्तरात्मा को नहीं देख सकतीं किन्तु कोई धीर पुरुष इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके अमृतत्व की इच्छा से अन्तरात्मा को देखते हैं। यह आप्त वाक्य है। क्योंकि इस प्रकार के सूक्ष्मदर्शन में ऋषि लोग भ्रम-प्रमाद-रहित हैं।

किसी कानूनी मामले में राय लेनी हो तो लोग वकील के यहाँ जाते हैं और उनकी सम्मति मानते हैं। क्योंकि वह विधि-शास्त्र में प्रवीण और अनुभवी हैं अर्थात् भ्रम-प्रमाद-रहित आप्त हैं। इस विषय में किसी बड़े वैज्ञानिक अनुभवी डाक्टर, किसी पहुँचे हुए महात्मा आदि की राय प्रामाणिक नहीं है। ठीक इसी प्रकार जो धार्मिक पुरुष विषयाशक्ति छोड़कर समाहित चित्त से ईश्वर-चिंतन में जीवन बिता देते हैं ईश्वर के विषय में वही 'आप्त' हैं। दूसरी ओर जो मनुष्य जीवन भर सांसारिक मामलों में उलझे रहते हैं ईश्वर के विषय में उनका कथन अप्रामाणिक है।

उपर्युक्त युक्ति और आप्त वाक्य से निश्चित हुआ कि सृष्टि के मूल में एक चेतन कारण है। वह अनन्त है, इस कारण उन्हें वेद में ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्म शब्द का अर्थ है बृहत् अर्थात् दशों दिशाओं में अनन्त। वह संसार के आत्मा हैं। आत्मा शब्द का अर्थ है—स्व-रूप, जैसे घट का आत्मा मृत्तिका, वस्त्र का आत्मा सूत। मृत्तिकातिरिक्त घट नाम की कोई वस्तु नहीं है। तोड़कर देखा जाय तो घट का कहीं पता ही नहीं चलता। सूत्रातिरिक्त वस्त्र नाम की भी कोई वस्तु ही नहीं है। सूतों को अलग-अलग करके देखिए तो वस्त्र हवा हो जाता है। इसी प्रकार तोप-बन्दूक आदि लौहात्मक तथा किरीट कुण्डलादि सुवर्णात्मक हैं। लोग कहते भी हैं कि 'तुम्हारे वाक्य तर्कात्मक हैं' अर्थात् वाक्य का स्वरूप ही तर्क है। परन्तु मृत्तिका ही घट का मूल आत्मा नहीं है। मृत्तिका का आत्मा पंचभूत हैं, पंचभूत का आत्मा सर्व-कारण-कारण ब्रह्म हैं। इसी तरह सूत ही वस्त्र का मूल आत्मा नहीं है। सूत का आत्मा रूई, रूई का आत्मा पंचभूत और पंचभूत का आ आत्मा ब्रह्म हैं। इसी प्रकार संसार के सारे पदार्थों का मूल कारण ब्रह्म ही हैं। इसीलिए ब्रह्म को परमात्मा भी कहते हैं।

एक घट या एक मनुष्य की उत्पत्ति और विनाश देखकर सारे घटों और सारे मनुष्यों की उत्पत्ति और विनाश प्रत्यक्ष न होने पर भी अनुमान प्रमाण (युक्ति) से हम निश्चित सिद्धांत कर लेते हैं कि सभी घट और मनुष्य उत्पत्ति-विनाश-शील हैं। इस युक्ति से हम स्थान में सीमाबद्ध छोटे बड़े पदार्थों को भी उत्पत्ति-विनाश-शील जान लेते हैं। संसार की उत्पत्ति नहीं हुई और विनाश नहीं होगा इसके पक्ष में कोई दृष्टांत नहीं हैं। दृष्टांत-रहित युक्ति का कोई मूल्य नहीं है।

हमारे ऋषि प्रणीत आस्तिक दर्शन चार हैं—न्याय, वैशेषिक, योग और वेदांत। पूर्वमीमांसादर्शन केवल यागयज्ञादि का ही विधान करता है और देवताओं को 'मंत्रमय' मानता है (मन्त्रमयो हि देवाः)। सृष्टि और ईश्वर के विषय में वह मौन है। बौद्धों का कहना है कि शुद्ध कर्म से ही मनुष्य दुःख से मुक्त रह सकता है। किसी ने बुद्धदेव से पूछा था कि 'क्या आपका ऐसा खयाल है कि ईश्वर नहीं है।' उत्तर में उन्होंने कहा कि 'क्या मैंने कहा है कि ईश्वर नहीं है।' ईश्वरकृष्ण-प्रणीत सांख्य-कारिका ही सांख्य-दर्शन का मूल ग्रंथ आजकल उपलब्ध है और वही सांख्य-दर्शन का प्रामाण्य ग्रन्थ है। महा-पंडित वाचस्पति मिश्र ने छहों दर्शनों की टीकाएँ लिखी हैं। उस सांख्यकारिका के ऊपर ही उनकी टीका है। आधुनिक सांख्यसूत्र वाचस्पति मिश्र के समय सम्भवतः लिखा ही नहीं गया था और लिखा होने पर भी मिश्र जी ने उसे प्रामाणिक नहीं माना। आधुनिक काल के विज्ञानभिक्षु नामक किसी बौद्ध साधु ने आदि-विद्वान कपिल मुनि के नाम से सूत्रों की रचना कर स्वयं उसकी टीका भी लिख दी है। उस सूत्र-ग्रंथ की अप्रामाणिकता तथा आधुनिकता इस सूत्र से सिद्ध होती है कि- स्रुघ्नस्थपाटलीपुत्रस्थयोरिव—१।२८। पाटलीपुत्र अति आधुनिक नगर का नाम है। आदि विद्वान महर्षि कपिल के समय उसका कुछ अस्तित्व ही नहीं था।

इसी बौद्ध साधु ने प्रमाणाभाव के कारण ईश्वर की असिद्धि बतायी है (ईश्वरासिद्धेः १।९२)। अतः कापिल सांख्य नास्तिक है, यह कहना अनुचित है। विज्ञानभिक्षु को प्रमाण नहीं मिला कि ईश्वर है। सम्भवतः वह केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता था। अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण के बिना हमारा लौकिक व्यवहार ही नहीं चलता। शब्द-प्रमाण में वेद भी आता है। लौकिक विषय में अभिज्ञ तथा अनुभवी व्यक्ति का वाक्य प्रमाण है और

अलौकिक विषय में ऋषि-कथित वेद का प्रामाण्य हमारे लिए स्वतः सिद्ध है।

हमारा कोई भी दर्शन व्यक्तिगत मूर्तिमान ईश्वर को नहीं मानता। हेतु यह है कि स्थान में सीमाबद्ध होते ही उसकी कालकृत सीमा माननी पड़ती है (अद्वैतवादः देखिए)। कालकृत सीमा का माने ही है उत्पत्ति और विनाश के बीच की स्थिति। यदि मूर्तिमान ईश्वर को जगत्कर्ता माना जाय तो उपर्युक्त युक्ति से उसकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। यदि उस प्रकार के ईश्वर को उत्पादक कारण माना जाय तो उसका भी कारण, उसका भी कारण इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा। दोषयुक्त युक्ति ग्राह्य नहीं होती (अन्योन्याश्रयः देखिए)। अतः जगत्कारण को अनादि ही मानना होगा। हमारे युक्तिवादी दर्शनों ने इसीलिए ईश्वर को कालकृत-सीमा-रहित, अनादि और अनन्त माना है। स्थूल वस्तु मात्र का ही नाश देखकर उस कारण को सूक्ष्म कहते हैं। संसार में चेतनता देख कर कारण को चेतन माना गया है। जड़ नाम से वास्तविक कोई वस्तु है ही नहीं, चाहे कितने ही रूप और आकार दिखाई क्यों न पड़ें। आधुनिक श्रेष्ठ वैज्ञानिक की दृष्टि में इलेक्ट्रान और प्रोटन नामक दो ज्योतिकणों के सिवाय सृष्टि में और कुछ भी नहीं है।

पहले पाश्चात्य वैज्ञानिक ९२ मौलिक तत्त्व मानते थे। वह हमारे न्यायदर्शन के १६ पदार्थों के ही प्रायः अनुरूप है। उसके बाद वे लोग ७ मौलिक तत्त्व मानने लगे। वह हमारे सप्तपदार्थवादी वैशेषिक दर्शन के अनुरूप है। इस समय वे २ पदार्थ मान रहे हैं। वह हमारे सांख्यदर्शन के प्रकृति-पुरुषवाद के ही अनुरूप है। आगे समय आनेवाला है जब उन्हें वेदान्त की तरह एकतत्त्ववादी होना होगा। क्योंकि एक का विनाश नहीं है, अतः आदि भी नहीं है। इस विषय में हमारी अकाट्य युक्ति यह है कि २ होने से एक दूसरे को वस्तुकृत सीमा में आबद्ध करके नाशवान कर डालता है। अतः जगत्कारण को नित्य मानने के लिए उसे एक होना पड़ेगा।

हमारे दर्शनों में श्रेष्ठ अन्तिम दर्शन वेदांत के अनुसार सृष्टि के पूर्व एक परम सूक्ष्म चेतन सत्ता थी। जिस प्रकार व्यापक तेज-तत्त्व में दाहिका शक्ति लुप्त रहती है और ईंधन पाने पर उसका विकास होता है, उसी प्रकार उस चेतन सत्ता में माया-शक्ति लुप्त रहती है। शक्ति-रहित किसी पदार्थ का अस्तित्व मनुष्यों की कल्पना से बाहर है। उस माया-शक्ति की कल्पना से इस अनंत कोटि ब्रह्मांडपूर्ण संसार-प्रपंच प्रतीयमान हो रहा है। जिस प्रकार मन की निद्रावस्था में स्वप्न-कल्पित अनेक प्रकार के जीव जगत दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार मन की व्यापक रूप माया की कल्पना से यह संसार-प्रपंच दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार स्वाप्निक जीव आपस में सभी को सत्य समझ कर व्यवहार करते हैं तथा सुख-दुःख भोगते हैं उसी प्रकार माया-कल्पित सृष्टि में हमारे जैसे जीव संसार को असत्य समझ कर व्यवहार चलाते रहते हैं।

ईश्वर ने इस दुःख-पूर्ण संसार को क्यों बनाया? क्षुधा में कितना कष्ट! पुत्र-वियोग माँ के लिए कितना क्लेशकर! रोग की कितनी यातना! कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति अपने लिए जेलखाना बना कर उसमें बद्ध होना नहीं चाहता। पागल को बंद कर देने से वह भी मुक्त होने के लिए जी-जान से चेष्टा करता है। ईश्वर तो अकेले ही थे। उन्हें आनंद नहीं मिल रहा था (एकाकी न रमते—बृहदारण्यक १।४।३)। इस कारण दो होने की इच्छा की (तस्माद् द्वितीयमैच्छत्) आधे में पुरुष और आधे में नारी हुए (द्विधा कृत्वात्मनो देहम् अर्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी तस्यांशः विराजमसृजत् प्रभुः—कूर्मपुराण ६।७७)। उसकी सृष्टि करके उसमें प्रविष्ट हुए (तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्—तैत्तिरीय उप० २।६।१)। ब्रह्म माया से पुरुष रूप बन गये (इन्द्रो मायभिः पुरुरूप ईयते—बृहदारण्यक २।५।१९)।

"ईश्वर यदि बुद्धिमान होते तो कम से कम अपने लिए क्षुधा की कल्पना तो न करते। इससे जीवों के अधिकांश प्रयोजन मिट जाते।" ऐसे आक्षेपों के उत्तर में कहा जाता है कि स्वप्न में कल्पना करने वाला मन निद्रा आते ही सुषुप्ति रूप अज्ञान में डूब जाता है, उसके बाद जागरण की ओर आने लगते ही अर्धजाग्रत अवस्था में स्वप्न होता है। उस अवस्था में मन अपने को तो जानता है परन्तु 'मैं कहा हूँ, इस समय दिन है या रात' इसका विशेष ज्ञान उसे नहीं रहता। क्योंकि उस समय भी वह कुछ अज्ञान से आवृत ही रहता है। उस समय यदि वह अपने सामने किसी भयंकर बाघ को देखता तो संभव

है कि वह डर जाता, नींद खुल जाती, जाग्रत होने पर भी उसके दिल की धड़कन एकाएक बन्द न होती, क्योंकि वह नहीं जानता कि वह बाघ उसकी अपनी ही कल्पना है। इस कारण कहा जाता है कि स्वप्न में अज्ञान-पूर्वक कल्पना करने से जीव शोक-दुःख-मोह आदि में फँसा रहता है। क्या ईश्वर की कल्पना भी अज्ञान-पूर्वक ही होती है? नहीं, माया तो उनकी शक्ति है। उस माया के जाल में वे स्वयं फँस जायेंगे ऐसा कैसे सम्भव हो सकता है? उनकी कल्पना ज्ञानपूर्वक थी, तपस्या करके उन्होंने इस सृष्टि को प्रतिभासित किया था (तपस्तप्त्वा इदं सर्वं असृजत--तैत्तिरीय २।६)। जब वह अकेले थे तो तपस्या कैसे की? तपस्या करने के लिए अग्नि, सूर्य आदि की आवश्यकता होती है। उस समय उनका अस्तित्व ही कहाँ था। इसके उत्तर में कहा जाता है कि उनकी तपस्या ज्ञानमय थी (तस्य ज्ञानमयं तपः तैत्तिरीय २।६)। 'एक मैं हूँ, बहुत हो जाऊँ' माया-शक्ति की ऐसी प्रथम कल्पना ही उनका तप था (एकोऽहं बहु स्याम्–छान्दोग्य ।२।३)। इस ज्ञान के द्वारा उन्होंने सृष्टि की कल्पना की। यदि कोई मनुष्य जागते हुए बैठे-बैठे यह कल्पना करे कि चारों ओर से हजारों जहरीले साँप मुझे डसने के लिए आ रहे हैं तो क्या उन कल्पित साँपों से उसको भय होगा? कदापि नहीं। इसी प्रकार ज्ञान-स्वरूप ईश्वर ज्ञानपूर्वक सृष्टि की कल्पना करते हैं। फलस्वरूप कल्पित संसार के किसी भी दुःख-शोकादि से उनका कोई संस्पर्श ही नहीं रहता। अतः सांसारिक दुःख-कष्टों को देखकर उन्हें निर्दयी कैसे कहा जा सकता है?

वेदांतमतानुसार सृष्टि-कल्पना के पूर्व शुद्ध ब्रह्म थे। जब उनमें माया का आवेश हुआ तो उस भाव को ईश्वर कहते हैं। उनकी कल्पना से आकाशादि पाँच सूक्ष्म भूतों का विकास होने पर उन भूतों से मन-प्राण-इन्द्रियादि की शक्ति-रूप सूक्ष्म जगत् की कल्पना हुई। उस सूक्ष्म ब्रह्मांड पर आत्माभिमान करने वाले ईश्वर भाव को हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा कहते हैं। उन पाँचों सूक्ष्म भूतों का पंचीकरण होने पर स्थूल पंचभूतों और स्थूल ब्रह्मांडों की कल्पना हुई। अब इस स्थूल ब्रह्मांड को अपना स्वरूप समझने वाले ईश्वर भाव को विराट् कहते हैं।

ब्रह्म, ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् एक ही अपरिवर्तनीय वस्तु के विभिन्न नाम हैं। व्यवहारार्थ भिन्न-भिन्न नाम दिये गये हैं।

ऐसे महान ईश्वर को सृष्टि-कल्पना का प्रयोजन क्या था? अभाव से ही प्रयोजन की उत्पत्ति होती है। स्वयं संपूर्ण ईश्वर को किसी वस्तु का अभाव था, ऐसा कहना वातुल-प्रलाप है। जो आप्तकाम हैं उनमें इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है (आप्तकामस्य का स्पृहा?—माण्डूक्य-कारिका १।९)। द्योतनात्मक देव का यह सृष्टि-कल्पना स्वाभाविक है (देवस्यैष स्वभावोऽयम्–माण्डूक्यकारिका १।९)।

'एक मैं हूँ, बहु हो जाऊँ' ऐसी इच्छा का आभास कल्पित जगत के कल्पित मनुष्यों की बुद्धि के अनुसार ही बताया गया है। यथार्थ में न तो सृष्टि है और न प्रलय ही, न कोई बद्ध है, न मुक्त, यही परमार्थ सत्य है (न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता (माण्डूक्यकारिका २।३२)। अतः ईश्वर-भाव भी मनुष्य-कल्पित ही है।

ऐसे कल्पित ईश्वर की प्रार्थना से मनुष्य को लाभ ही है। गायत्री मंत्र में परमात्म-ज्योति का ध्यान करते हुए ब्राह्मण बालक प्रार्थना करते हैं कि वह ज्योति हमारी बुद्धि को शुभ मार्ग में प्रेरित करे। परमात्मा की स्वयंप्रकाश ज्योति सर्वत्र व्याप्त है। उसके सामने सारी सृष्टि ही कल्पित है। इन कल्पित जीवों में किसी की बुद्धि को शुभ मार्ग में और किसी की बुद्धि को अशुभ मार्ग में प्रेरित करना उसके लिए सम्भव नहीं है। व्यवहारकाल में जीव अपने ही किये कर्मों के द्वारा प्रेरित होकर काम करते रहते हैं। कर्म-संस्कार ही उनका स्वभाव बन जाता है। प्रभु कर्तृत्व और कर्म नहीं बनाते। कर्मफल का संयोग भी नहीं करते (न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफल-संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते–गीता ५।१४)। परंतु सुबह, दोपहर और शाम को प्रतिदिन तीन बार शुद्ध भाव से प्रार्थना करने के कारण प्राचीन समय के ऋषि-कुमारों की बुद्धि शुभ मार्ग में ही प्रेरित होती थी। प्रार्थना के लक्ष्य पदार्थ में इच्छा-अनिच्छा न रहने पर भी प्रार्थना करने वालों को लाभ ही होता है।

उन दिनों दार्शनिक कूट तर्क-वितर्क या जैन, बौद्ध, चार्वाक, इसाई, मुसलमान आदि विभिन्न धर्मावलम्बियों के मत-मतांतर नहीं थे। स्मृति-पुराणों की विधि-व्यवस्थाएँ

तथा कल्पित कहानियाँ भी नहीं थीं। वेद ही उनका एक मात्र शास्त्र था। इसी कारण उस समय के ब्राह्मण-बालकों का चित्त स्वभाव से ही शुद्ध होता था, और वे प्रार्थना भी शुद्ध हृदय से करते थे। इस कारण फल भी उत्तम ही होता था। संसार के सारे प्राणियों की कल्याण-कामना ही उनको सिखायी जाती थी कि –"सब लोग सुखी हों, सब लोग नीरोग रहें, सब लोग कल्याण का ही दर्शन करें, किसी को दुःख न हो (सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्–धर्मसिन्धु ७।३५)। परंतु आजकल का वातावरण इतना दूषित हो गया है कि कौन किसको ठग लेगा, कौन किसका गला घोंट डालेगा, कौन किसको हानि पहुँचायेगा–ऐसी-ऐसी चिंताओं में लोग पागल हुए जा रहे हैं। मत-मतांतरों के संघर्षों की बात सुनकर नास्तिकों की चारुवाक् (चार्वाक) 'खाओ, पिओ, मौज करो' आदि सुन-सुनकर लोगों का चित्त इतना मलिन हो गया है कि गायत्री की प्रार्थना और ईश्वर की प्रार्थना उनके सामने निरर्थक प्रतीत होने लगी है। परंतु सज्जनों की दृढ़ धारणा है कि क्षुद्र शक्ति वाले जीव महान शक्ति वाले ईश्वर की प्रार्थना के द्वारा हृदय में बल और मन में शक्ति और शान्ति पाते हैं। वैरिस्टर होते हुए भी महात्मा गांधी प्रतिदिन प्रार्थना करते थे। उससे उनमें इतना बल-संचार हुआ कि अंग्रेजों को भारत का विशाल राज्य छोड़ चला जाना पड़ा।

परोपकार और स्वार्थ-त्याग सात्त्विक वृत्तियाँ हैं। इनसे मन में आनन्द मिलता है (त्यागात् शान्तिरनन्तरम् गीता–१२।१२)। स्वार्थांध मनुष्य किसी की भी भलाई नहीं सोच सकता। उसका चित्त इतना मलिन हो जाता है कि अपने मन में तो सुख पाते ही नहीं ऊपर से आस्फालन-वाक्य कहकर वे दूसरों का दिल दुखाते रहते हैं। घोर भौतिकवादी जो भी कुछ सुख-साधन प्राप्त करते हैं उससे उनको मानो संतोष ही नहीं होता। उससे भी अधिक वे माँगते हैं और न मिलने पर दुःखी होते हैं तथा मिल जाने पर और भी अधिक की आकांक्षा किया करते हैं। निरंतर आकांक्षा ही करते रहने से सुख कैसे मिल सकता है? (आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्)। परंतु संतोष रूप अमृत से जो लोग तृप्त हैं ऐसे शांतचित्त व्यक्तियों को जो सुख मिलता है इधर-उधर दौड़ने वाले धन-लुब्ध व्यक्तियों को वह सुख कैसे मिल सकता है? (सन्तोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम्। कुतस्तद् धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् – मित्रलाभ १८६)

भौतिकवादी के चित्त में निःस्वार्थ परोपकार आदि धार्मिक भाव न रहने के कारण वह रूखा-सूखा हो जाता है। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए दूसरों को दुःख देने में वे जरा भी संकोच नहीं करते। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। दूसरों को दुःख देने से अपने को भी दुःख भोगना पड़ता है। इस बीसवीं शती के उत्तरार्ध में अमेरिका, इंगलैंड, रशिया, चाइना एक दूसरे का सत्यानाश करने के लिए भयंकर वज्रास्फोट कर रहे हैं फलस्वरूप एक दूसरे से भयभीत हो रहे हैं तो सुख कहाँ? यदि जीवन में सुख ही न मिला तो अनीश्वरवाद से क्या लाभ?

अनीश्वरवादिन् (पुं०) वह जो ईश्वर की सत्ता को न मानता हो, नास्तिक।

अनीह (वि०) इच्छारहित, निस्पृह।

अनीहा (स्त्री०) इच्छा का अभाव, अनिच्छा, निस्पृहता।

अनीहित (वि०) न चाहा हुआ अनिच्छित, अप्रिय, जो रुचिकर न हो, जो प्रसन्नकारक न हो।

अनु (अव्य०) पीछे, पास पास, विशेष अवस्था में, साथ में, साझे में, दिन प्रतिदिन, ओर, क्रम से, एक के बाद एक, नीचे।

अनुः (पुं०) यह शर्मिष्ठा के गर्भ से उत्पन्न राजा ययाति का पुत्र था। ययाति ने शुक्राचार्य की कन्या देवयानी के साथ विवाह किया था। दानव-कन्या शर्मिष्ठा देवयानी की दासी थी। देवयानी के अनजान में राजा के द्वारा शर्मिष्ठा के गर्भ से तीन पुत्र उत्पन्न हुए। राजा ययाति इसी कारण शुक्र के शाप के प्रभाव से असमय में ही जराग्रस्त हो गया था। किंतु बाद में उसे शुक्राचार्य के आदेश से अपने पुत्रों में से एक पुत्र की युवावस्था लेकर यौवनभोग करने का पुनः अधिकार मिला। शर्मिष्ठा के गर्भ से उत्पन्न पुत्रों में से पुरु ने पिता के वृद्धत्व को स्वीकार किया। ययाति ने अपने अन्य पुत्रों को शाप दिया। उसके शाप से अनु वृद्ध हो गया। उसकी संतानें यौवन लाभ करते ही काल-कवलित हो गयीं। वह अग्निहोत्र-क्रियाहीन हो गया।

अन्त में ययाति ने अपने छोटे पुत्र पुरु से युवावस्था लेकर भी कामनाओं की शांति न देखकर कहा—"कामनाएँ उपभोग से शांत नहीं हो सकतीं, अग्नि में घृताहुति की भाँति वे बढ़ती ही जाती हैं।" 'संसार में जितनी भोग की सामग्रियाँ हैं, यदि वे एक को मिल जायँ, तो भी वह शांत नहीं हो सकेगा, अतः अतितृष्णा का त्याग करना ही उचित है" (न जातु कामः कामानाम् उपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते—मनु० २।९४। यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः, एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मादतितृषां त्यजेत्—महाभारत ८५।१२। १३)। यह सोचकर ययाति ने अपने छोटे पुत्र पुरु से अपना वृद्धत्व वापस लेकर उसकी युवावस्था लौटा दी और राज्य भी उसी को दे दिया।

अनु + अभि + पद् (आ०) (अन्वभिपद्यते) प्राप्त होना।

अनु + आस् (आ०) (अन्वास्ते) पीछे बैठना, उपासना करना।

अनु + इ (प०) (अन्वेति) अनुगमन करना, पीछे चलना, अन्वय रहना, संबंध रहना।

अनु + इष् (प०) अन्वेषयति) अन्वेषण करना, खोजना, ढूँढना।

अनुक (वि०) इच्छुक, कामुक, लम्पट।

अनुकथनम् (न०) पीछे का वर्णन, संबंध, संवाद, वार्तालाप।

अनुकनीयस् (वि०) सबसे कनिष्ठ।

अनुकम् (न०) युक्ति, उपाय।

अनु + कम्प् (आ०) (अनुकम्पते) अनुकंपा करना, कृपा करना।

अनुकम्पक (वि०) दयावान, करुणापूर्ण।

अनुकम्पनम् (न०) दया, करुणा, सहानुभूति।

अनुकम्पा (स्त्री) दया, करुणा।

अनुकम्प्यः (पुं०) संदेशवाहक दूत।

अनुकरणम् (न०) प्रतिलिपि, नकल। नकल करने वाला।

अनुकर्तृ (वि०) प्रतिलिपि करने वाला।

अनुकर्षः (पुं०), अनुकर्षणम् (न०) पीछे घसीटने की क्रिया, रथ के नीचे रहने वाली लकड़ी।

अनुकल्पः (पुं०) मुख्य के अभाव में उसके प्रतिनिधि की कल्पना, प्रतिनिधि।

अनुकाङ्क्षा (स्त्री०) इच्छा, अभिलाषा।

अनुकाङ्क्षिन् (वि०) इच्छा करने वाला, इच्छुक।

अनुकामः (पुं०) इच्छा, आकांक्षा।

अनुकामिन् (वि०) इच्छुक, अभिलाषुक।

अनुकामीन (वि०) स्वेच्छापूर्वक गमन करने वाला, स्वेच्छाचारी।

अनुकाल (वि०) सामयिक, अवसर का।

अनुकीर्तनम् (न०) घोषणा, प्रकट करने की क्रिया।

अनुकुञ्चित (वि०) झुका हुआ, टेढ़ा।

अनुकूल (वि०) सपक्ष, जो विपरीत न हो, प्रिय, सदय, समर्थनीय।

अनुकूलः (पुं०) विश्वस्त और दयालु पति।

अनुकूलनम् (न०) अनुकूल या योग्य करने का कार्य।

अनुकूलनायकः (पुं०) एक प्रकार का प्रेमी या पति।

अनुकूलनीयता (स्त्री) अनुकूल होने की योग्यता।

अनुकूलम् (न०) कृपा, अनुग्रह, सहायता, प्रसन्नता।

अनुकूलयति (प०) मिलाना, अपने पक्ष में करना, प्रसन्न कर लेना।

अनुकृप् (आ०) (अनुकृपते, अनुकृपायते) कृपा करना, सहानुभूति प्रकट करना।

अनुकृश् (प०) (अनुकर्शयति) क्षीण करना, दुबला-पतला करना।

अनुकृष् (प०) (अनुकर्षयति) खींचना, आकर्षित करना।

अनुकृष्ट (वि०) खींचा हुआ, आकर्षित, आकृष्ट।

अनुक्त (वि०) न कहा हुआ, अनुच्चारित, असाधारण, असामान्य।

अनुक्ति (स्त्री०) कथन का अभाव, अनुचित भाषण या कथन।

अनुक्थ (वि०) स्तुतिरहित, स्तुति-गान न करने वाला।

अनुक्रकच (वि०) आरे की तरह दाँतों वाला।

अनुक्रम् (स०) जाना, अनुक्रमण करना, गणना करना, निर्देश करना।

अनुक्रमः (पुं०) क्रम, सिलसिला, परिपाटी, विषयसूची, व्यवस्था।

अनुक्रमणम् (न०) क्रम से बढ़ना, अनुगमन।

अनुक्रमणिका, अनुक्रमणी (स्त्री०) सूची, तालिका। कालांतर में आचार्यों ने वेदों के प्रत्येक मंत्र के ऋषि, देवता, छंद, आख्यान आदि का विशेष विवरण प्रस्तुत

क्रिया है। ये ग्रन्थ अनुक्रमणी के नाम से पुकारे गये हैं। इन रचनाओं में आचार्य शौनक तथा कात्यायन विशेष विख्यात हैं। ऋषि शौनक ने ऋग्वेद की रक्षा करने के लिए दस ग्रंथों की रचना की। जिनमें दो पुस्तकें विशेष महत्त्व की हैं—बृहद्देवता और ऋक्प्रतिशाख्य। ये पुस्तकें प्रकाशन में भी आ गयी हैं। मंत्रों की रोचकता का विवरण इन ग्रंथों में खूब हुआ है। सामवेदीय अनुक्रमणी की संख्या बहुत अधिक है। सूत्र, निदानसूत्र, पंचविधान-सूत्र आदि भिन्न-भिन्न स्थानों से प्रकाशित हैं। इनमें से कई तो अभी प्रकाशन में भी नहीं आये हैं। ईन ग्रंथों में सामवेदीय ऋषि, छंद तथा सामविधान का विशेष विवरण मिलता है। शौनक-रचित चरणव्यूह-सूत्र भी वेदों पर विशेष उपादेय है। माधवभट्ट ने भी इस अनुक्रमणी को लिखा है, जिससे ऋग्वेद पर पूरा प्रकाश पड़ा है। ये पुस्तकें मद्रास से प्रकाशन में आयी हैं।

अनुक्रान्त (वि०) क्रम से किया हुआ, गणना किया हुआ, विषय-सूची में उल्लिखित ; प्रारम्भ किया हुआ, चालू।

अनुक्रिया (स्त्री०) अनुकरण, प्रतिलिपि, नकल।

अनुक्री (वि०) बाद में खरीदा हुआ।

अनुक्रीड़ (स०) खेलना।

अनुक्रोशः (पुं०) कृपा, दया।

अनुक्षणम् (अव्य०) लगातार, बिना रुके हुए।

अनुक्षत्तृ (पुं०) द्वारपाल का साथी।

अनुक्षर् (प०) (अनुक्षरन्ति) अन्दर या ऊपर बहना।

अनुक्षि (प०) (अनुक्षीयमाण) धीरे धीरे नष्ट या क्षय होना।

अनुखञ्जः (पुं०) एक प्रदेश।

अनुख्यातिः (स्त्री०) किसी गुप्त बात की सूचना।

अनुग (वि०) अनुगत, अनुसरण करने वाला।

अनुगः (पुं०) साथी, आज्ञाकारी भृत्य।

अनुगणित (वि०) गणना किया हुआ।

अनुगणितिन् (वि०) गणना करने वाला, गणक।

अनुगत (वि०) अनुगमन करने वाला, पीछा करने वाला।

अनुगतिः (स्त्री०) अनुगमन, अनुकरण, नकल।

अनुगतिकः (पुं०) वह व्यक्ति जो अनुगमन करता हो, नकलनवीस।

अनुगन्तव्य (वि०) अनुगमन के योग्य, अनुकरण करने योग्य।

अनु + गम् (प०) (अनुगच्छति) अनुसरण करना, पीछे चलना, पास पहुँचना, प्रवेश करना, नकल करना, निरीक्षण करना, अभ्यास करना।

अनुगमः (पुं०), अनुगमनम् (न०) पीछे चलने की क्रिया, सहमरण, अनुकरण, अनुसरण, समझ लेना।

अनुगर्जित (वि०) गर्जन करता हुआ।

अनुगर्जितम् (न०) प्रतिध्वनि।

अनुगवीनः (पुं०) ग्वाला, अहीर।

अनुगादिन् (वि०) दूसरे के शब्दों को दोहराने वाला।

अनुगामिन् (वि०) अनुयायी, साथ चलने वाला।

अनुगामिन् (न०) साथी, सहचर।

अनुगिरम् (अव्य०) पर्वत पर, पर्वत के ऊपर।

अनुगु (अव्य०) गायों के पीछे।

अनुगुण (वि०) समा न गुण वाला, समान प्रकृति का, अनुकूल, उपयोगी।

अनुगुप्त (वि०) छिपा हुआ, रक्षित।

अनुगृहित (वि०) भरा हुआ, परिपूर्ण, तल्लीन।

अनुगृ (पर०) (अनुगृणाति) फिर से मिलाना।

अनुगोदम् (अव्य०) गोदावरी के पास।

अनुग्र (वि०) जो उग्र या प्रचंड न हो, सभ्य, सरल।

अनु + ग्रह् (पर०) (अनुग्रह्णाति) अनुग्रह करना, कृपा करना (महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानानरीनपि—माघ० २।१०)। अनुरूप होना, समान होना, अनुसरण करना (आकृतिमनुहृणन्ति गुणाः—विद्धशाल० २। तत्र धर्मश्चानुगृहीतो भवति उत्तर० ५)। उपकृत होना (अनुगृहीतोऽस्मि अहमुपदेशाद् भवतः--विक्रम० ४)। रक्षा करना, सम्हाल कर रखना, परिवर्धित करना (अग्निर्नित्यानुगृहीतः स्यात्--आश्वल०)।

अनुग्रहः (पुं०) कृपा, दया, अनुकंपा, स्वीकृति, रक्षक सैन्य-दल, थोड़े समय के लिए राजकर से मुक्त व्यक्ति।

अनु + ग्रह + णिच् (पर०) (अनुग्राहयति) अनुग्रह कराना, सहायता दिलाना (आर्यस्य दर्शनेनात्मानमनुग्राहयितुम्--मुद्रा० ४)।

अनुग्रहभाजन (वि०) कृपा-प्राप्त, अनुग्रह पाने के योग्य।

अनुग्रामम् (अव्य०) ग्राम के बाद, ग्राम के भीतर।

अनुग्रासकः (पुं०) उतनी मात्रा जितनी मुँह में अट सके, मुँह भर का ग्रास।

अनुग्राहक (वि०) अनुकूल, दयालु, अनुग्रह करने वाला।

अनुघुष् (प०) (अनुघुष्या) जोर से नाम लेना।

अनुचक्ष् (अ०) (अनुचक्षष, अनुचक्षत (ऊपर देखना।

अनु + चर् (प०) (अनुचरति) अनुगमत करना, पीछे चलना, सेवा करना, परिचर्या करना।

अनुचरः (पुं०) दास, सेवक, नौकर।

अनुचरी (स्त्री०) दासी, नौकरानी।

अनुचारकः (पुं०) अनुचर, दास।

अनुचारिका (स्त्री०) अनुचरी, दासी, नौकरानी।

अनुचि (आ०) (अनुचिकिताम्) याद करना, स्मरण करना।

अनुचित (वि०) जो उचित न हो, अनुपयुक्त, अयोग्य, असाधारण।

अनुचित व्यवहार प्रायः सर्वत्र दिखाई पड़ता है। इससे संसार में अशांति फैल रही है। परिवार, समाज, जाति, राज्य आदि सर्वत्र विरोध, झगड़े, मारपीट, लड़ाई, हत्या, संग्राम आदि के कारण कहीं भी शांति नहीं है। वि शी शिक्षा के प्रभाव से आज परिवार में छोटे बड़ों पर आँख दिखाते, उनकी आज्ञा का उल्लंघन करते, उन्हें धमकाते, मारते भी हैं, स्त्रियाँ पतियों, श्वशुरों, सासों का कहना नहीं मानतीं। यह हमारी भारतीय समाज-व्यवस्था के प्रतिकूल है।

एकने दूसरे को गाली दी। दूसरा क्रोध के मारे काँपने लगा। प्रथम व्यक्ति ने अनुचित व्यवहार किया, उसी को सजा भोगनी चाहिए थी। परंतु सजा भोगने लगा दूसरा। कैसा अज्ञान है। ऐसा अज्ञान सर्वत्र फैला हुआ है। गाली तो निरर्थक शब्द मात्र है। पृथ्वी में २५ हजार भाषाएँ हैं। केवल अफ्रीका में ही १५ हजार। एक भाषा के अर्थ दूसरे भाषा-भाषी नहीं समझसे (अर्थः देखिए)। प्राचीन काल में हर एक देश के वृद्धों ने अपने अपने मुख से उच्चारित शब्दों के विभिन्न अर्थ मान लिये थे। जैसे--अग्नि, वायु, जल, मनुष्य, स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, हाथ, पैर, सिर आदि। दूसरे देश के वृद्धों ने उन्हीं वस्तुओं और व्यक्तियों के लिए दूसरे ही शब्द मान लिये जैसे—फायर, एयर, वाटर, मैन, वुओमैन, मेन, वीस्ट, वर्ड, ट्री, क्रीपर, हैंड, लेग, हेड आदि। इसी प्रकार विभिन्न देशवासियों ने अपने अपने मुख से निकलने वाले वाक्यों का भी विभिन्न अर्थ मान लिये हैं। जैसे—मैं कल सुबह तुम्हारे घर जाऊँगा—आइ शैल गो टु योर हाउस टुमारो मार्निंग। मान लेना का माने है कल्पना कर लेना। अतः सभी भाषाओं के सभी शब्दों और वाक्यों के अर्थ कल्पित है।

जब कोई धमकावे, गाली दे या निन्दा करे तभी यदि मनुष्य यह समझ ले कि धमकी, गाली या निन्दा के शब्द अर्थहीन ध्वनि मात्र है तो मन शांत रह सकता है। फलस्वरूप झगड़ा, मारपीट, हत्या आदि नहीं हो सकते।

किंतु सभी देशों के विद्वान बुद्धिमान व्यक्ति उन शब्दों और वाक्यों को जोड़ कर ग्रंथ बनाते और उन्हें पढ़ कर लोग विद्वान होते तथा अपने जीवन को सुखी बनाते हैं। मिथ्या जान कर भी उनका सदुपयोग कर सकने से संसार के अधिकांश दुःख समाप्त हो जायेंगे।

राजनीति में मत-विरोध-जनित संघर्ष चोटी तक पहुँच चुका है। मत तो एक कल्पित भाव मात्र है। अनंत कोटि ब्रह्मांडों में पृथ्वी का परिमाण एक बालूकणा के लक्षांश से भी क्षुद्र है। ऐसी पृथ्वी पर के मनुष्य कितना छोटा है, इसे अनुमान मात्र किया जा सकता है। ऐसे मनुष्यों का मन अणुमात्र है (मनस् शब्द देखिए)।

सर्वव्यापी ईश्वर अनंत ब्रह्मांडों में व्याप्त हैं। उनकी परछाईं पाकर मनुष्य फूलों न समाते हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'मैं आत्मा रूप से सभी जीवों के अंतःकरणों में विराजमान हूँ (अहम् आत्मा गुडाकेश, सर्वभूताशयस्थितः—१०।२०)।

बुद्धिमान मनुष्य ईश्वर को निज आत्मा रूप जानकर किसी प्राणी के साथ विरोध या अनुचित व्यवहार नहीं कर सकते।

अनुचितार्थः (पुं) असामान्य अर्थ, विलक्षण अर्थ।

अनुचित्तम् (न० चित्तवृत्ति का अनुसरण करने वाला। विवाह में अग्नि की परिक्रमा करते हुए सप्तपदी गमन के समय पति नव बधु से कहता है—"मेरे जीवन के व्रत (उद्देश्य) में तुम अपना हृदय लगाये रहो, मेरे

चित्त के अनुसार तुम्हारा चित्त हो (मम व्रते ते हृदयं दधातु, मम चित्तामनुचित्तं तेऽस्तु (विवाह-पद्धतिः) । इस वैदिक मंत्र के प्रभाव से उस युग के दम्पति एकचित्त, एकव्रत और एकात्मक होकर आनंद से जीवन बिताते थे । किंतु आजकल इस पुण्यभूमि भारत में विरले ही दम्पति होंगे जो मेल से जीवन बिताते हैं । कारण यह है कि कन्याओं का अधिक वयस में विवाह और कन्यावस्था में अधिक पढ़ी-लिखी होने के कारण उनका एक दृढ़ मत तैयार हो जाता है । पतिगृह में जाने पर यदि उनके उस मत के साथ सास, श्वसुर, पति आदि के मत का मेल न हो तो हर समय परिवार में विरोध होने से जीवन दुःख-मय हो जाता है ।

अनुचिन्तनम् (न०) अनुचिन्ता (स्त्री०), ध्यान, विचार, उत्कंठापूर्वक स्मरण ।

अनुच्च (वि०) जो उच्च न हो, निम्न, विनीत ।

अनुच्चारः (पुं०) उच्चारण का अभाव ।

अनुच्चैस् (अव्य०) मंद स्वर में, धीमे स्वर में ।

अनुच्छादः (पुं०) शरीर के नीचे की पोशाक ।

अनुच्छित्तिः (स्त्री) नष्टता का अभाव ।

अनुच्छिष्ट (वि०) जो उच्छिष्ट न हो, पवित्र, विशुद्ध ।

अनुच्छेदः (पुं०) उच्छेद का अभाव, नष्टता का अभाव; लेख का एक खंड ।

अनुच्छेद्य (वि०) उच्छेद या नाश करने के अयोग्य ।

अनुच्छो (प०) काटना, ऊपर काटना ।

अनुजः (पुं०) छोटा भाई, कनिष्ठ भ्राता ।

अनुजन् (आ०) (अनुजायते) बाद में ग्रहण करना ।

अनुजन्मन् (पुं०) कनिष्ठ भ्राता, छोटा भाई ।

अनुजल्प् (आ०) (अनुजल्पते) बकवाद करना ।

अनुजि (आ०) (अनुजिगीषते) जीतना, वशीभूत करना, जीतने के लिए इच्छुक होना ।

अनुजीव् (प०) (अनुजीवति) आश्रय लेना, आश्रित रहना, किसी के मरने के बाद भी जीवित रहना ।

अनुजीविन् (वि०) दूसरे के आसरे पर जीने वाला, परावलंबी ।

अनुजीविन् (पुं०) नौकर, भृत्य ।

अनुजीव्य (वि०) अनुजीवी होने के योग्य ।

अनुजुष् (प०) अनुसरण करना, प्रार्थना करना ।

अनुज्ञप्तिः (पुं०) आज्ञा, आदेश, किसी वस्तु को भोग करने या बेचने का अधिकार ।

अनु + ज्ञा (उभ०) (अनुजानाति, अनुजानीते) आदेश देना, आज्ञा देना (तदनुजानीहि मां गमनाय:—उत्तर० १) । अनुमति देना (सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् —शकुन्त० ४६) । स्वीकार होना, सम्मत होना (तन्मया प्रीतिमतानुज्ञातम् —शकुन्त० ५) । विवाह के लिए वचन देना, वाग्दान देना (मां जातमात्रां धनमित्रनाम्नेऽन्वजानाद् भार्यां मे पिता —दशकु० ५०) । क्षमा करना (अनुप्रवेशे यद् वीर कृतवांस्त्वं ममाप्रियं, सर्वं तदनुजानामि—महा०) । आज्ञा माँगना, विदा चाहना (अतिथिं चाननुज्ञाप्य मारुते वाति वा भृशम्—मनु० ४।१२२) ।

अनुज्ञा (स्त्री०), अनुज्ञानम् (न०) अनुमति, आज्ञा ।

अनुज्ञात (वि०) अनुमति-प्राप्त, स्वीकृत, प्रविष्ट, पूजित ।

अनुज्ञापकः (पुं०) आदेश देने वाला व्यक्ति ।

अनुज्ञापनम् (न०) आज्ञा, आदेश, अनुमति ।

अनुज्येष्ठम् (अव्य०) ज्येष्ठ के बाद, ज्येष्ठता के अनुसार ।

अनुतक्ष् (प०) (अनुतक्षत) सहायता के लिए बनाना या निर्माण करना ।

अनुतटम् (अव्य०) तट के एक ओर से दूसरी ओर तक, समुद्र या नदी के तट पर से ।

अनु + तप् (आ०) (अनुतप्यते) अनुताप करना, पश्चात्ताप करना, पछताना ।

अनुतप्त (वि०) तपा हुआ, पछताया हुआ, दुःख या संताप से युक्त ।

अनुतप्ता (स्त्री०) एक नदी ।

अनुतर्षः (पुं०) प्यास, इच्छा, अभिलाषा, मद्य, मद्यपात्र ।

अनुतर्षणम् (न०) मद्यपान करने का पात्र ।

अनुतापः (पुं०) गर्मी, ताप, संताप, पश्चात्ताप, पछतावा (दत्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापः स कथ्यते सत्पुरुषार्थशीलः—महभारत शान्ति १७।५) ।

अनुतापिन् (वि०) अनुताप करने वाला ।

अनुतिलम् (अव्य०) अति सूक्ष्मता से, तिल-तिल करके ।

अनुतूलय (प०) (अनुतूलयति) लंबाई के बल मलना या रगड़ना (रुई आदि से)।

अनुतक (वि०) जो पश्चाताप न करे, शोकमुक्त ।

अनुत्कर्षः (पुं०) उत्कर्ष या उत्थान का अभाव।

अनुत्त (वि०) अजेय, जो जीतने योग्य न हो ।

अनुत्तम (वि०) जो उत्तम न हो, सर्वोत्तम । समस्त द्रव्यों में विद्या ही सर्वोत्तम है (सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहरनुत्तमम् सूक्तिसुधा ७६)

अनुत्तर (वि०) प्रधान, श्रेष्ठ, मौन, उत्तर देने में असमर्थ, दृढ़, नीच, तुच्छ, दक्षिण दिशा का ।

अनुत्तरङ्ग (वि०) बिना लहरों का, दृढ़, शक्तिशाली ।

अनुत्तरम् (अव्य०) बिना उत्तर के ।

अनुत्तरा (स्त्री०) दक्षिण दिशा ।

अनुत्थानम् (न०) उद्योग या चेष्टा का अभाव, बेकारी, प्रमाद, न उठना ।

अनुत्थित (वि०) जो उत्थित न हो, न उठा हुआ, न बढ़ा हुआ ।

अनुत्पत्तिः (स्त्री०) उत्पत्ति का अभाव ।

अनुत्पन्न (वि०) जो उत्पन्न न हुआ हो, असंपूर्ण ।

अनुत्पादः (पुं०) उत्पत्ति का अभाव, सत्ता का अभाव ।

अनुत्पाद्य (वि०) उत्पादन के अयोग्य, निर्माण के अयोग्य, नित्य, शाश्वत ।

अनुत्सन्न (वि०) न खोया हुआ, जो त्यागा न हो ।

अनुत्साहः (पुं०) उत्साहहीनता, चेष्टा या उद्योग का अभाव ।

अनुत्सुक (वि०) जो उत्सुक न हो, अनुत्कंठित, शांत, विनीत ।

अनुत्सूत्र (वि०) जो सूत्र के विरुद्ध न हो ।

अनुत्सेकः (पुं०) क्रोध या अहंकार का अभाव ।

अनुत्सेकिन् (वि०) जो अभिमान से फूल कर धृष्ट न हो गया हो ।

अनुदक (वि०) जलरहित, जलविहीन ।

अनुदकम् (अव्य०) बिना जल का स्पर्श किये ।

अनुदग्र (वि०) जो उदग्र न हो, निम्न, तुच्छ ।

अनुदण्डि (स्त्री०) रीढ़ की हड्डी ।

अनुदत्त (वि०) सरकारी सहायता-प्राप्त ।

अनुदयः (पुं०) उदय का अभाव ।

अनुदर (वि०) दुबला-पतला, क्षीण, कृश ।

अनुदर्शनम् (न०) पर्यवेक्षण, निरीक्षण ।

अनुदा (प०) (अनुदाति) आदेश देना, भेजना ।

अनुदात्त (वि०) अनुत्थित ।

अनुदानम् (न०) सरकारी सहायता, किसी संस्था को राजकीय आर्थिक दान ।

अनुदार (वि०) जो उदार न हो, जो कुलीन न हो, जिसे उपयुक्त पत्नी हो, स्त्री में आसक्त ।

अनुदिग्ध (वि०) आच्छादित, ढका हुआ ।

अनुदित (वि०) जो उदित न हुआ हो, न कहा हुआ, अकथित, अनुच्चारित ।

अनुदिनम् (अव्य०) प्रतिदिन, रोज ।

अनुदिशम् (अव्य०) प्रत्येक खंड में ।

अनु + दृश (प०) (अनुपश्यति) देखना, आलोचना करना ।

अनुदेशः (पुं०) निर्देश, पीछे का निर्देश ।

अनुदेशिन (वि०) अनुदेश करने वाला ।

अनुदेहम् (अव्य०) शरीर के पीछे ।

अनुद्यमिक (वि०) उद्यम-रहित, उद्योग-शून्य, अप्रयत्न-साध्य ।

अनुद्योगः (पुं०) चेष्टा का अभाव, सुस्ती ।

अनुद्रष्टव्य (वि०) निरीक्षण के योग्य, दर्शनीय ।

अनु + द्रु (पर०) (अनुद्रवति) अनुसरण करना, पीछे चलना ।

अनुद्रुत (वि०) पीछा किया हुआ, लौटाया हुआ ।

अनुद्रुतम् (न०) संगीत में एक ताल, मात्रा का चौथाई भाग या अंश ।

अनुद्वाहः (पुं०) अनूढ़ावस्था, विवाह न होने की अवस्था या स्थिति, कुँवारापन ।

अनुद्विग्न (वि०) जो उद्विग्न न हो, झंझट या परेशानी से मुक्त ।

अनुद्वेग (वि०) चिंता से मुक्त, निश्चिंत ।

अनुद्वेगकर (वि०) किसी के चित्त में उद्वेग (दुःख) उत्पन्न न हो इस प्रकार का (वाक्य)। किसी के मन में दुःख हो, इस प्रकार का वाक्य वाचनिक हिंसा है (अहिंसा देखिए); निंदा, तिरस्कार, गाली वाचनिक हिंसा है ।

संसार में अधिकांश दुःख इसी उद्वेगकर वाक्य अर्थात् वाचनिक हिंसा का ही परिणाम है। किसी के चित्त में उद्वेग उत्पन्न करना शांतिभंग है राजनियम से भी वह दंडनीय है, शास्त्रनियम से तो उद्वेगजनक वाक्य के वक्ता को उस अधार्मिक कार्य के परिणामस्वरूप दुःख भोगना ही पड़ता है। जिसका दिल दुखाया गया, वह रोकर या क्षमा करके थोड़ी देर में शांत हो जाता है, परंतु अपमानकारी के चित्त में अपने किये उस अधार्मिक कार्य का अमिट संस्कार पड़ जाता है जिसका कुफल उसे जीवन भर भोगना पड़ता है। अपमानित व्यक्ति सुख से सोता है और सुख से जागता है तथा सुख से विचरण करता है। परंतु अपमानकारी विनाशप्राप्त होता है अर्थात् उसे जीवनभर दुःख ही भोगना पड़ता है (सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेऽस्मिन् अवमन्ता विनश्यति—मनु २।१६३)।

मीठी वाणी बोलना सज्जनों के लिए कोई कठिन बात नहीं है (तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सुनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन--मित्रलाभ १६)।

अनुद्वेगकर वाक्य सत्य, प्रिय, हितकर तथा शास्त्र का अध्ययन वाङ्मय तप है (अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते—गीता १७।१५)।

अनुधन्व् (आ०) (अनुधन्वि) पास या समीप में दौड़ना।

अनु + धाव् (उभ०) (अनुधावति, अनुधावते) पीछे दौड़ना, पश्चाद्धावन करना, अनुसन्धान करना, खोजना, ढूँढना।

अनुधावनम् (न) पीछे दौड़ने की क्रिया, अनुसंधान, जाँच-पड़ताल, पवित्रीकरण।

अनुधी (आ०) (अनुध्यान) सोचना, विचारना।

अनुधूपित (वि०) फूला हुआ, घमंडी, अभिमानी।

अनुधे (प०) (अनुधापयति) चूसने में प्रवृत्त करना।

अनुध्या (स्त्री०) शोक, दुःख।

अनुध्यानम् (न०) मनन, धार्मिक चिंतन, मंगल कामना, किसी विषय में तत्परता।

अनुध्यापिन् (वि०) अनुध्यान करने वाला, अनुध्यायी, चिंतन करनेवाला।

अनु + ध्यै (प०) (अनुध्यायति) ध्यान करना, चिंता करना, अनुग्रह करना, कृपा करना।

अनुनद् (प०) (अनुनादयति) प्रतिध्वनि करना।

अनुनेयः (पुं०) विनय, प्रार्थना।

अनुनादः (पुं०) किसी वस्तु में ध्वनि होने से उसके अनुकूल ही कंपन होता है तथा उसके स्वर में वृद्धि भी होती है। इसे अनुवाद की संज्ञा दी गई है। इसे दो वर्गों में बाँटा गया है—यांत्रिक अनुनाद और वैद्युत् अनुनाद। यांत्रिक अनुनाद से हमें यह प्रतीत होता है कि हर एक वस्तु की एक कंपन संख्या होती है जो उसकी बनावट, प्रत्यास्थता और भार पर नर्भर रहती है। इसका उदाहरण है कि किसी भी वस्तु में ठुनका देने मात्र से ही घंटे-घंटियाँ, थाली आदि पात्र इसी एक संख्या के बराबर ही कंपन करने लगते हैं। ऐसी ध्वनि (कंपन) यदि प्रति सेकंड ३० से कम हुई तो वह सुनाई नहीं पड़ेगी। इससे अधिक की संख्या में ध्वनि (कंपन) सुनाई पड़ती है। सितार के तार भी ऐसा ही ध्वनि-कंपन उत्पन्न करते हैं।

वैद्युतिक अनुनाद के परिणाम से ही रेडियो की तरंगों का प्रेषण और ग्रहण संभव हुआ है।

ध्वनि से उत्पन्न प्रतिध्वनि भी अनुनाद ही है। जल में ढेला फेंकने से गोल होकर लहरें उठती हैं और वे तीर से टकरा कर पुनः अपने उत्पन्न केंद्र में लौट जाती हैं। इसी प्रकार दो वस्तुओं के संघात से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह भी चारों ओर गोल होकर फैल जाती है। दिवाल, वृक्ष आदि से बाधा-प्राप्त होने पर वह पुनः अपने उत्पत्ति-स्थान में लौट आती हैं। यह दुबारा सुनाई पड़ने वाली ध्वनि ही अनुनाद या प्रतिध्वनि है (वीचितरङ्ग-न्यायेन शब्दात् शब्दान्तरोत्पतिः—भाषापरिच्छेद)।

इसी प्रकार तरंगों के रूप में चारों ओर फैलते हुए वायु में बाधा प्राप्त होने के कारण अनुनाद कानों तक पहुँचने में कुछ समय लेता है। प्रकाश वायु से बहुत ही अधिक सूक्ष्म होने के कारण तुरंत आँख में आ लगता है। नदी के उस पार धोबी पाट पर कपड़ा पटकता है वह दृश्य प्रकाश की सहायता से तुरंत आँखों पर आ पड़ता है। परंतु उस पटकने का शब्द कुछ क्षणों के बाद जब वह दुबारा पटकने के लिए कपड़े को ऊपर उठाता है तभी कान में आ लगता है। आकाश में बिजली चमकी, साथ

ही साथ गर्जन का शब्द भी हुआ। बिजली की चमक उसी क्षण आँखों में आ पहुँचती है परंतु गर्जन का शब्द कानों तक आने में दस वीस क्षणों का समय लगता है। इसी से प्रमाणित होता है कि नाद से अनुनाद तरंगों के रूप वायुस्तरों में धक्के खाते खाते आगे बढ़ते हैं और बाधा प्राप्त न हुआ तो वह शत शत कोसों तक चला जाता है।

अनुनादित (वि०) अनुनाद किया हुआ, प्रतिध्वनित।

अनुनादिन् (वि०) अनुनाद करने वाला।

अनुनायक (वि०) विनयशील, विनम्र, आज्ञाकारी।

अनुनायिक (वि०) संतुष्ट, शांत, प्रसन्न।

अनुनायिका (स्त्री०) अभिनय आदि में वह नायिका जो अभिनय के मुख्य पात्र की सहायक हो।

अनुनासिक (वि०) नाक-संबंधी, नासिका द्वारा उच्चारित।

अनुनिक्रम् (प०) (अनुनिक्रामति, अनुनिक्रमात्) पीछा करना।

अनुनिर्देशः (पुं०) किसी पूर्ववर्ती वचन या आज्ञा का संबंध-सूचक अन्य वचन।

अनुनिवृत् (प०) (अनुनिवर्तयति) पीछे लाना।

अनुनिशम् (अव्य०) प्रत्येक रात्रि में।

अनुनिशीथम् (अव्य०) मध्य रात्रि में।

अनु+नी (उभ०) (अनुनयति, अनुनयत) अनुनय-विनय करना, विनती करना, प्रार्थना करना, प्रसन्न करना।

अनुनीत (वि०) सिखाया हुआ, प्राप्त, सम्मानित, प्रसन्न, संतुष्ट।

अनुनीति (स्त्री०) मेल-मिलाप, शिष्टता, भद्रता।

अनुनेय (वि०) अनुनय के योग्य।

अनुन्नत (वि०) जो उन्नत न हो, न उठा हुआ।

अनुन्नतगात्र (वि०) जो स्थूल या पुष्ट अंगों वाला न हो।

अनुन्मत्त (वि०) जो उन्मत्त या पागल न हो, शांत।

अनुन्मादः (पुं०) उन्मत्तता का अभाव, शांति।

अनुपकारिन् (वि०) जो उपकार मानने वाला न हो, अकृतज्ञ, व्यर्थ, अनुपयुक्त।

अनपकृत (वि०) जो उपकृत न हो।

अनुपघातः (पुं०) बाधा का अभाव।

अनुपजीवनीय (वि०) जिसकी जीविका न हो, जीविकारहित।

अनुपठित (वि०) पीछे से पढ़ा हुआ, दोहराया हुआ।

अनु+पत् (प०) (अनुपतति) अनुसरण करना, पीछे चलना, किसी के बाद गिरना।

अनुपतनम् (न०) गणित की त्रैराशिक क्रिया, पीछे गिरना, एक अंग के साथ दूसरे अंग का संबंध।

अनुपथ (वि०) मार्ग का अनुसरण करने वाला।

अनुपथः (पुं०) नौकर, सेवक।

अनुपदम् (क्रि० वि०) पीछे-पीछे, बाद में।

अनुपदिन् (न०) खोज करने वाला व्यक्ति, जाँच-पड़ताल करने वाला पुरुष।

अनुपदिष्ट (वि०) न सिखाया हुआ, न पढ़ाया हुआ।

अनुपदीना (स्त्री०) जूता, मोजा।

अनुपधः (पुं०) उपधा का अभाव।

अनुपधि (वि०) कपटरहित, छलहीन।

अनुपनाहः (पुं०) आसक्ति का अभाव।

अनुपन्यस्त (वि०) जो स्थापित न हो, अस्थापित।

अनुपन्यासः (पुं०) वर्णन न करने की क्रिया, संदेह, प्रमाण का अभाव।

अनुपपत्तिः (स्त्री०) संपन्नता का अभाव, प्रमाण का अभाव, उपाय या साधन की अपर्याप्तता।

अनुपपन्न (वि०) न किया हुआ, अकृत, असंपूर्ण, अप्रमाणित, असंभव।

अनुपप्लव (वि०) विपत्ति या संकट से मुक्त।

अनुपबाध (वि०) अबाध, न रोका हुआ।

अनुपभुक्त (वि०) न भोगा हुआ, जो अधिकार में न किया गया हो, अनधिकृत।

अनुपभुज्यमान (वि०) उपभोग या आनंद के अयोग्य।

अनुपम (वि०) जिसकी उपमा न हो, उपमारहित, बेजोड़, सर्वोत्तम।

अनुपमा (स्त्री०) नैऋत्य कोण के कुमुद दिग्गज की हथिनी।

अनुपमित (वि०) जिसकी उपमा न दी जा सके, अद्वितीय, बेजोड़ ।

अनुपमेय (वि०) जिसकी तुलना न हो सके, अतुलनीय, अनुपम ।

अनुपयुक्त (वि०) जो उपयुक्त न हो, अयोग्य, अनुचित, अनाड़ी, व्यर्थ, बेकार ।

अनुपयोगः (पुं०) अनुपयुक्तता, व्यर्थता ।

अनुपयोगिन् (वि०) जो उपयोगी न हो, अनुपयोगी, अनुपयुक्त, व्यर्थ ।

अनुपराभू (प०) (अनुपराभावयति) दूसरे के बाद नष्ट करना ।

अनुपरिक्रमणम् (न०) क्रम से परिक्रमा करने की क्रिया या भाव ।

अनुपरिपाटिक्रमः (पुं०) नियमित क्रम ।

अनुपरिहारम् (अव्य०) घेरे में ।

अनुपलक्षित (वि०) अचिह्नित, न जाना हुआ, अज्ञात ।

अनुपलक्ष्य (वि०) चिह्न या निशान लगाने के अयोग्य ।

अनुपलब्ध (वि०) अप्राप्त अस्वीकृत, अदृष्ट ।

अनुपलब्धिः (स्त्री०) किसी वस्तु में अन्य वस्तु या वस्तुओं के अभाव की उपलब्धि, अभाव-प्रत्यक्ष (वेदांत में यह एक प्रमाण है अभावानुभवे यत् स्यादसाधारण-कारणम्, तदेवानपलब्ध्याख्यं प्रमाणं षष्ठमुच्यते—वेदांत-संज्ञा १८१) ।

अनुपलभ्यमान (वि०) जो बोधगम्य न होता हो ।

अनुपलम्भः (पुं०) बोध का अभाव, ज्ञान का अभाव ।

अनुपलाभः (पुं०) वह जो पकड़ने वाला न हो ।

अनुपवीतिन् (पुं०) वह ब्राह्मण जो यज्ञोपवीत न पहनता हो ।

अनुपश् (पर०) (अनुपश्यति, अनुपश्यते) देखना, समझना, सोचना । (अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरम्—कठोपनिराकार १।१।६) ।

अनुपशयः (पुं०) ऐसी वस्तु जो रोग बढ़ाने में सहायक हो, रोगज्ञान के पाँच विधानों में से एक ।

अनुपशान्त (वि०) जो शांत न हो ।

अनुपशान्तः (पुं) एक बौद्ध भिक्षु का नाम ।

अनुपश्य (वि०) न देखने वाला, न समझने वाला ।

अनुपसंहारिन् (पुं०) हेत्वाभास (न्याय) का एक भेद ।

अनुपसर्गः (पुं०) वह शब्दांश जिसमें उपसर्ग न हो, उपद्रव-रहित ।

अनुपस्कृत (वि०) जो समाप्त न हुआ हो, न पका हुआ, अपक्व, विशुद्ध, कलंकरहित ।

अनुपस्थानम् (न०) अनुपस्थिति, अविद्यमानता ।

अनुपस्थापनम् (न०) वह जो निकट में स्थापित न हो, उत्पादन का अभाव ।

अनुपस्थापित (वि०) जो समीप में स्थापित न हो, अनुत्पन्न ।

अनुपस्थापिन् (वि०) अनुपस्थित, अविद्यमान, दूर ।

अनुपस्थित (वि०) अविद्यमान, जो उपस्थित न हो ।

अनुपस्थितिः (स्त्री०) अविद्यमानता ।

अनुपहत (वि०) अनाहत, अव्यवहृत, अनभ्यस्त, नया, नवीन ।

अनुपहूत (वि०) बिना बुलाया हुआ, अनाहूत ।

अनुपा (प०) (अनुपापयेत्) बाद में पीना ।

अनुपा (आ०) (अनुपालयति, अनुपालयते) रखना, रक्षा करना, प्रतीक्षा करना ।

अनुपाख्य (वि०) जो स्पष्ट रूप से दिखाई न दे, जो स्पष्टतया समझ में न आवे ।

अनुपातः (पुं०) गणित की त्रैराशिक क्रिया, तुलनात्मक स्थिति, मान, माप, उपयोगिता आदि की तुलना के विचार से एक वस्तु का दूसरी वस्तु से रहने वाला सम्बन्ध या अपेक्षा ।

अनुपातकम् (न०) पाप का एक वर्ग जो महापातक से न्यून माना गया है ।

अनुपानम् (न०) किसी औषधि के साथ खायी जाने वाली कोई विशिष्ट वस्तु ।

अनुपालः (पुं०) राज्य सीमावर्ती प्रदेश का शासक ।

अनुपालनम् (न०) सुरक्षा, रखवाली, प्रतीक्षा।

अनुपालिन् (वि०) रक्षा करने वाला, देख-रेख करने वाला।

अनुपासनम् (न०) उपासना या चिंतन का अभाव।

अनुपासित (वि०) जिस नेउपासना या ध्यान न किया हो, भूला हुआ।

अनुपुरुषः (पुं०) अनुयायी; अनुगामी।

अनुपू (आ०) (अनुपवते) शुद्ध करना, स्वच्छ करना।

अनुपूर्व (वि०) नियमित, परिमित, क्रमानुसार।

अनुपूर्वज (वि०) पुश्तैनी।

अनुपूर्ववत्सा (स्त्री०) वह गाय जो नियमित रूप से बच्चा देती हो।

अनुपूर्वशस् (क्रि० वि०) क्रमागत रूप से।

अनुपूर्व्य (वि०) नियमित, व्यवस्थित।

अनुपृक्त (वि०) साथ में मिला या लगा हुआ।

अनुपृच्छा (स्त्री०) पुनः प्रश्न, फिर पूछना, साक्षी को पुनः प्रश्न करना।

अनुपेत (वि०) जिसका यज्ञोपवीत न हुआ हो, अस्वीकृत।

अनुप्त (वि०) न बोया हुआ, जो बोया न गया हो।

अनुप्तशस्य (वि०) चरागाह-युक्त, घास से पूर्ण (भूमि); धरती, जमीन, जिसमें खेती न की गई हो।

अनुप्रजन् (पर०) (अनुप्रजनयति) बाद में उत्पन्न होना, बार-बार परम्परा बढ़ाना।

अनुप्रज्ञानम् न०) पदचिह्न, पगडंडी, पहचानना।

अनुप्रदानम् (न०) दान, वृद्धि, बढ़ती।

अनुप्रधावित (वि०) जल्दी करने वाला, उत्सुक, पीछे दौड़ना।

अनुप्रपन्न (वि०) बाद में अनुसरण करने वाला, पीछा करने वाला, शरणागत।

अनुप्रमाण (वि०) उपयुक्त, नाप या विस्तार वाला।

अनुप्रमुद् (प०) (अनुप्रमोदयति) राजी करना, प्रसन्न करना।

अनुप्रयोक्तव्य (वि०) बाद में संयुक्त होने के योग्य, अतिरिक्त प्रयोग होने योग्य।

अनुप्रयोगः (पुं०) अतिरिक्त प्रयोग, बार-बार दोहराना।

अनुप्ररोह (वि०) ऊपर आने वाला।

अनुप्रवचनम् (न०) शिक्षक द्वारा वेद का अध्ययन।

अनुप्रवचनीय (वि०) अनुप्रवचन से सम्बन्ध रखने वाला, अनुप्रवचन के लिए आवश्यक।

अनुप्रवद् (प०) (अनुप्रवादयति) दूसरे के शब्दों को दोहराना, बोलना, खेलना।

अनुप्रवेशः (पुं०) द्वार के अन्दर प्रवेश, मन में स्थान करना (तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्—तै० उप०)

अनुप्रवेशनीय (वि०) अनुप्रवेश से सम्बन्धित।

अनुप्रश्नः (पुं०) आगामी प्रश्न।

अनुप्रसक्त (वि०) दृढ़तापूर्वक आसक्त।

अनुप्रसक्तिः (स्त्री०) घनिष्ठ आसक्ति, प्रगाढ़ अनुराग, शब्दों का अत्यन्त घनिष्ठ संबंध।

अनुप्रसादनम् (न०) किसी को संतुष्ट या प्रसन्न करने की क्रिया, तोषण।

अनुप्रस्थ (वि०) चौड़ाई के अनुसार, चौड़ाई की ओर का।

अनुप्रस्था (पर०) (अनुप्रस्थापयति) दूसरे के बाद गमन करना या जाना।

अनुप्रस्थित (वि०) विस्तार के अनुसार।

अनुप्रहरणम् (न०) अग्नि में निक्षेपण।

अनुप्राण् (पर०) (अनुप्राणति) बाद में श्वास लेना।

अनुप्राप् (पर०) (अनुप्रापयति) ऊपर आना या जाना, पहुँचना, प्राप्त करना, पाना, अनुकरण द्वारा प्राप्त करना।

अनुप्राप्त (वि०) पहुँचा हुआ, प्रात, प्राप्त करने वाला।

अनुप्राप्तिः (स्त्री०) पहुँच, प्राप्ति।

अनुप्रास (पर०) (अनुप्रास्यसि) बाद में फेंकना।

अनुप्रासः (पुं०) एक अलंकार, जिसमें एक ही पद या वाक्य के विभिन्न पदों में एक ही अक्षर या सम-स्वर-युक्त अक्षर बार-बार प्रयुक्त होकर उस पद या वाक्य को अलंकृत करता है; जैसे—परिपूरित, ललितलवङ्गलता, ज्ञानाञ्जनं भगवद्भक्तिः, जननी जन्मभूमि, माता-पिता, राजा-राणी, मरणं शरणं, जननं मरणं, पतितः लाञ्छितः, नर-नारी, छलेन बलेन च कौशलेन, धरणीं भरणीं मातरम्, वर्णमैत्री, केशव कुरु करुणा दीने कुञ्जकाननचारी।

अनुप्रेष् (पर०) (अनुप्रेषयति) बाद में भेजना।

अनुप्लवः (पुं०) नौकर, सहायक।

२२

अनुवद्ध (वि०) बँधा हुआ, जकड़ा हुआ, संबंध-युक्त।

अनुवन्ध (पर०) (अनुवध्नाति) वाँधना, परित्याग न करना, अनुवर्तन या अनुसरण करना।

अनुबन्धः (पुं०) उद्देश्य, परिणाम, कारण, हेतु, नियम, शर्तनामा, बंधन, कर्म का परिणाम। कर्म करने के अनंतर ही चित्त में उसकी छाप पड़ जाती है जो मृत्यु पर्यंत बनी रहती है, इसी को कर्मसंस्कार कहते हैं। इसी प्रकार जो कुछ देखा-सुना जाता है, उसका भी ज्ञान-संस्कार चित्त में पड़ता है, वह भी आमृत्यु विद्यमान रहता है। ये संस्कार नये-नये प्रवल संस्कारों से दब जाते हैं, परंतु समश्रेणी के उद्बोधक सामने आते ही उनका स्मरण हो जाता है।

इन्हीं कर्म-ज्ञान के संस्कारों का फल सुख-दुःख है, जिनसे मनुष्य संसार में आवद्ध हो जाता है, यही अनुबन्ध है। इस वन्धन से मुक्त होना ही परम पुरुषार्थ है। इस अनुवन्ध अर्थात् कर्म का परिणाम, उससे हानि, हिंसा, अपना सामर्थ्य न विचार कर केवल अज्ञान से जो कार्य किया जाता है, वह तामसिक अर्थात् अतिनिकृष्ट कर्म है (अनुवन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्। मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते —गीता १८।२५)।

वेदांत-मत में अनुवन्ध चार हैं अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन (अनुबन्धचतुष्टयम् देखिए)।

व्याकरण शास्त्र में भी एक अनुबन्ध होता है, जो धातु और प्रत्यय में लगा रहता है। वह लोप होकर भी अपना कार्य करता है। जैसे रम् धातु से घञ् प्रत्यय होने पर राम शब्द सिद्ध होता है। घ् और ञ् केवल रम् धातु के अकार की वृद्धि कर राम शब्द बनाने के लिए लाया गया है। किरातार्जुनीय में अर्जुन का वैरी एक दैत्य शूकर का रूप धारण कर अर्जुन को मारने के लिए आ रहा था, इसको अर्जुन ने और किरात-वेषधारी शिव ने एक साथ मारा था, इसी घटना को लेकर शिव और अर्जुन में युद्ध हुआ था। इसी अवसर पर भारवि कवि ने लिखा है — (रिपुराप पराभवाय मध्य-प्रकृतिप्रत्ययोरिवानुबन्धः— किरातार्जुनीय)।

अनुवन्धक (वि०) संयुक्त, संवद्ध, मिलित।

अनुवन्धचतुष्टयम् (न०) अधिकारी, विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन—ये चार। ग्रन्थ लिखने के पूर्व इन चारों पर ध्यान रखना आवश्यक है अर्थात् अधिकारी कौन है? किसके लिए ग्रन्थ लिखा जायगा? विषय क्या रहेगा? उस विषय के साथ उस अधिकारी का सम्बन्ध है या नहीं? ऐसे ग्रन्थ लिखने का प्रयोजन क्या है? (विषयश्चाधिकारी च सम्वन्धश्च प्रयोजनम्। वेदान्तेषु प्रसिद्धं स्यादनुवन्ध-चतुष्टयम्—वेदान्तसंज्ञा० १०४)।

अनुवन्धनम् (न०) संबंध, लगाव।

अनुवन्धपत्रम् (न०) जिस पत्र से कुछ शर्तों में दो मनुष्यों या दो दलों को बाँध लिया जाता है, शर्तनामा।

अनुवन्धिन् (वि०) संवंधित, समृद्धिशाली, अबाधित।

अनुवन्ध्य (वि०) प्रधान, मुख्य।

अनुबलम् (न०) सहायक सैन्य-दल।

अनुबुध् (पर०) (अनुबोधयति) जागना, सीखाना, सूचित करना, याद दिलाना।

अनुबोधः (पुं०) पीछे से या बाद में होने वाला स्मरण।

अनुवोधनम् (न०) प्रबोधन, स्मरण।

अनुवोधित (वि०) याद दिलाया हुआ, स्मरण कराया हुआ।

अनुभवः (पुं०) ज्ञानेंद्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान, केवल मानसिक ज्ञान। ज्ञान के दो भेद हैं—अनुभव और स्मृति। अनुभव से जो संस्कार मन पर पड़ता है कालांतर में विषय के सामने न रहने पर भी उस संस्कार से मन में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे स्मृति कहते हैं (स्मृतिः अनुभव-पूर्विका—तर्कसंग्रह)। अनुभूत विषय का अविकल अनुभव ही स्मृति है। उसमें कुछ चोरी नहीं होनी चाहिए (अनुभूत-विषयासम्प्रमोषः स्मृतिः योगसूत्र १।११)। लोग प्रायः किसी घटना को स्मरण करते समय कुछ अंश चुरा (छिपा) कर रख लेते हैं अथवा दूसरी घटना से कुछ अंश चुरा कर जोड़ देते हैं। यह यथार्थ स्मृति नहीं है। प्रत्यक्ष-जनित संस्कार का ज्यों का त्यों अनुभव ही स्मृति है।

अनुभव भी दो प्रकार के हैं—यथार्थ अनुभव तथा अयथार्थ अनुभव। इन्हीं को क्रम से प्रमा तथा अप्रमा भी कहते हैं। वस्तु का स्वरूपज्ञान ही यथार्थ अनुभव है। परंतु रज्जु में सर्प, सीप में चाँदी, स्थाणु में पुरुष, मरुस्थल में जलाभास अयथार्थ अनुभव है।

न्याय मत में अनुभव को चार श्रेणियों में बाँटा गया

ह—प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शाब्द। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पाँच विषयों के साथ श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण इन पाँच ज्ञानेंद्रियों का संस्पर्श होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे ही प्रत्यक्ष अनुभव कहते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव को दृष्टांत रूप में रख कर उसी के अनुसार दूसरे अदृश्य विषय का अनुमान से निश्चय करना अनुमिति रूप अनुभव है; जैसे—चूल्हे में अग्नि से धूम को निकलते देख कर मनुष्य निश्चय कर लेते हैं कि जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि भी अवश्य होगी। किसी पर्वत पर धूम देख कर वे चूल्हे के दृष्टांत के बल पर वहाँ अग्नि के अस्तित्व का अनुमान कर लेते हैं (अनुमानम् देखिए)। सादृश्य का बोध उपमिति है। गौ के सदृश्य गल-कम्बल रहित एक जंगली पशु का नाम गवय है। कोई मनुष्य जंगल में जाकर गवय को देखते ही समझ लेगा कि यह गौ के समान ही है। यह ज्ञान उपमिति है। गौ कहने से एक पशु-विशेष का ज्ञान होता है, ऐसे ही दूसरे शब्दों से भी वस्तु का ज्ञान होता है। शब्दजनित इस ज्ञान को शाब्द अनुभव कहते हैं। भ्रमप्रमाद-रहित व्यक्ति का कथन शाब्द प्रमाण है, जैसे कोई भी अपने माता-पिता का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। घर के बड़े-बूढ़ों तथा पड़ोसी वृद्धों के वाक्य से माता-पिता का निश्चय कर लोग व्यवहार करते हैं।

हिंदुओं के लिए वेद और धर्मशास्त्र भी शाब्द प्रमाण हैं। उनके वाक्यों से अप्रत्यक्ष और अलौकिक विषयों का जो ज्ञान होता है वह भी शाब्द ज्ञान है, जैसे—स्वर्ग, नरक, ईश्वर आदि। 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ; 'तत्त्वमसि'—तुम ब्रह्म हो आदि वेद के महावाक्यों से विचार द्वारा जीव और ब्रह्म के एकत्व का ज्ञान होता है। वह भी शाब्द अनुभव ही है।

इस विशाल पृथ्वी की दो प्रकार की गतियाँ हैं। पृथ्वी की परिधि या घेरा लगभग २५,००० मील है। अपने धुरे पर चक्कर काटने में इसका फी मिनट १७ मील गति-वेग है और सूर्य की परिक्रमा करने की गति का वेग फी सेकंड लगभग १६ मील है। एक बड़े मटके के तने पर एक चिउँटी चली जा रही है; इस समय उस मटके को धीरे-धीरे घुमाया जाय तो उसकी गति उस चिउँटे को नहीं मालूम होती। इसी प्रकार विशाल पृथ्वी पर हम लोग चल-फिर रहे हैं, परंतु उसकी गति का हमें एकदम अनुभव ही नहीं होता। रेल के बड़े वेग से दौड़ते रहने पर उस पर के यात्रियों को अपनी गति का कुछ भी अनुभव नहीं होता। अपने शरीर के भीतर हृदय, पाकाशय, रक्तप्रवाह आदि में जो निरंतर गतियाँ हो रही हैं उनका भी हमें अनुभव नहीं होता।

अनुभव मनुष्य तथा पशु-पक्षियों में समान है (पश्वादिभिश्चाविशेषात् ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य)। प्रत्यक्ष विषय में अनुभव मनुष्य-पशु-पक्षी के भीतर समान है। एक पशु जब देखता है कि सामने एक व्यक्ति हाथ में डंडा उठाये अपनी ओर आ रहा है तो उसी क्षण, वह डंडा अपनी पीठ पर पड़ने से भारी कष्ट होगा, ऐसा अनुमान कर भागने लगता है। एक दूसरा मनुष्य हरी-हरी घास हाथ में लिये अपनी ओर आ रहा है देखकर पशु उसकी ओर अग्रसर होता है, क्योंकि वह अनुमान करता है कि पूर्व-पूर्व दिन हरी घास खाने से सुख मिला था, अतः इस व्यक्ति के हाथ की घास खाने से सुख मिलेगा (यथा हि दण्डोद्यतकरं पुरुषम् अभिमुखम् उपलभ्य मां हन्तुम् अयम् आयातीति पलायितुम् आरभन्ते। हरिततृणपूर्णपाणिम् उपलभ्य तं प्रति अभिमुखी भवन्ति—ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य)।

अनुभवसिद्ध (वि०) अनुभव द्वारा प्रतिपादित या स्थापित।

अनुभागः (पुं०) विभाग, कानून की दफा, प्रदेश का अंश।

अनुभावः (पुं०) चमक-दमक, महत्त्व, शक्ति, अधिकार, सामर्थ्य, निश्चय, हृदय के भाव को प्रकट करनेवाली चेष्टाएँ, काव्य में रस के चार अंगों में से एक।

अनुभावक (वि०) बतलाने वाला, निर्देशक, समझाने वाला, बोध कराने वाला।

अनुभावनम् (न०) चेष्टाओं द्वारा मानसिक भावों का निर्देश करना।

अनुभाविन् (वि०) समझने वाला, जानने वाला।

अनुभाव्य (वि०) अनुभव-योग्य, ज्ञान-विषयक। संसार की सारी वस्तुएँ ही अनुभाव्य हैं अर्थात् सभी का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। सुख-दुख, काम-क्रोध, लोभ-मोह, ईर्ष्या-द्वेष, श्रद्धा-भक्ति आदि विषय भी अनुभव-योग्य ही हैं। अनुभव के विषय अनित्य हैं। केवल समस्त

अनुभवों का द्रष्टा साक्षी या विज्ञाता आत्मा ही नित्य है (दृश्यं सर्वं अनात्मा स्याद् दृगेवात्मा विवेकिनः—आत्मानात्मविवेक, युस्मदस्मत्-प्रत्ययगोचरयोर्विषयविषयिनोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः-ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यभूमिका । विज्ञातारमरे केन विजानीयात्—बृहदारण्यक २।४।१४)।

आत्मा स्वयं-प्रकाश है। जीव के अंतःकरण के ज्ञान का वह विषय नहीं होता। अग्नि सूर्य आदि का प्रकाश भी इसी स्वयं-प्रकाश आत्मा से प्राप्त होता है। अतः अग्नि सूर्य आदि का प्रकाश उस स्वयं-प्रकाश आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता (यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनोमतम् तदेव ब्रह्म। न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति—कठोपनिषद २।५।१५)।

माया-कल्पित संसार के साक्षी रूप आत्मा स्वयं ही अनुभूति-स्वरूप है। इस कारण उसमें अनुभाव्यता अर्थात् ज्ञेयत्व नहीं हैं, क्योंकि कल्पित सृष्टि के ज्ञाता और ज्ञान उसके सामने नहीं है, दूसरा ज्ञान न रहने के कारण ही वह अज्ञेय है ; असत्ता के कारण नहीं (स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता। ज्ञातृज्ञानान्तराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया-पंचदशी ३।१३)।

अनुभाषणम् (न०) किसी कथन का खंडन, करने के लिए किसी कथन को दोहराने की क्रिया।

अनु + भू (पर०) (अनुभवति) अनुभव करना, बोध करना, उपलब्धि करना।

अनुभूत (वि०) जाना हुआ, समझा हुआ, परिणाम-प्राप्त।

अनुभूतिः (स्त्री०) अनुभव जो आधुनिक न्याय के अनुसार चार प्रकार के माने गये हैं। जैसे--प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति और शब्दबोध।

अनुभोगः (पुं०) वह भूमि जो किसी को उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर दी जाती है, विलासिता।

अनुभ्रातृ (पुं०) छोटा भाई, कनिष्ठ भ्राता।

अनुमत (वि०) अनुज्ञात, स्वीकृत, प्रिय, प्यारा।

अनुमतम् (न०) अनुज्ञा, स्वीकृति, अनुमति।

अनुमतिः (स्त्री०) आज्ञा, अनुज्ञा, चतुर्दशीयुक्त पूर्णिमा तिथि।

अनुमतिः (वेद) (स्त्री०) मध्य-स्थान-देवता (अन्विद्रनुमते त्वम् य० वा० सं० ३४।८), राका, पूर्णिमा की रात (राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे—ऋ० सं० २।७।१५।४)।

अनुमतिपत्रम् (न०) वह प्रमाणपत्र जिसमें किसी कार्य के लिए स्वीकृति दी गयी हो।

अनु + मन् (आत्म०) (अनुमन्यते) अनुमति देना, आज्ञा देना, सम्मति देना, स्वीकार करना।

अनुमननम् (न०) स्वीकृति, अनुमति, स्वतंत्रता।

अनु + मन्त्र् (आत्म०) (अनुमन्त्रयते) परामर्श करना, मंत्रणा करना।

अनुमन्त्रणम् (न०) मंत्रों द्वारा आवाहन या प्रतिष्ठान।

अनुमरणम् (न०) किसी मरे हुए व्यक्ति के पश्चात् मरना, विधवा का पति की मृत्यु के बाद सती होना।

अनु + मा (पर०) (अनुमति) अनुमान करना।

अनुमा (स्त्री०) अनुमान, अनुमिति।

अनुमानम् (न०) अंदाज, अटकल (अनु + मीयते अनेन इति अनुमानम्)। प्रत्यक्ष के अनंतर जो ज्ञान होता है वही अनुमान है। दर्शनशास्त्रों में यह एक प्रबल प्रमाण है। किसी अदृश्य वस्तु का अनुमान करने के लिए एक हेतु और एक दृष्टांत की आवश्यकता है, जैसे किसी पर्वत पर धूम देखकर वहाँ अग्नि का अस्तित्व ज्ञात होता है, यहाँ धूम हेतु है। जहाँ धूम है वहाँ अग्नि अवश्य है, जैसे महानस् (रसोई घर)। यहाँ महानस् दृष्टान्त है। महानस् में धूम और अग्नि का एकत्रावस्थान सभी ने देखा है। वादी प्रतिवादी दोनों के द्वारा जिसका अंत देखा गया है वही दृष्टांत हो सकता है (दृष्टोऽन्तो वादिप्रतिवादिभ्यामिति दृष्टान्तः)।

न्याय-मत में अनुमान दो प्रकार के हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वार्थानुमान ऊपर दिखाया गया है। इसमें पक्ष (पर्वत) साध्य (अग्नि), हेतु (धूम), दृष्टांत (महानस) इन चारों की आवश्यकता है। धूम देखकर स्वयं अग्नि का अनुमान कर लेने के अनंतर दूसरों को समझाने के लिए परार्थानुमान का प्रयोग किया जाता है, जैसे, इस पर्वत में अग्नि है (प्रतिज्ञा), क्योंकि वहाँ से धूम निकल रहा है (हेतु), जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि

भी है इस प्रकार का साहचर्यभाव व्याप्ति है जैसे महानस (दृष्टान्त या उदाहरण)। उसी महानस की तरह यह पर्वत भी है (उपनय), अतः यह भी वैसा ही है अर्थात् यह पर्वत भी अग्निमान है (निगमन —ये पाँच अंग परार्थानुमान के हैं (प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि पञ्चावयवाः —तर्कसंग्रह ४८ ।

प्रत्यक्ष ज्ञान के साधन इंद्रियों की शक्ति बहुत अल्प है। (प्रत्यक्षः देखिए)। परंतु अनुमान उससे प्रबल प्रमाण है। अनुमान के द्वारा जीव के अधिकांश कार्य चलते हैं। किसी मनुष्य के जन्म और मृत्यु का प्रत्यक्ष ज्ञान न रहने पर भी किसी शिशु का जन्म तथा किसी वृद्ध की मृत्यु देखकर अनुमान से निश्चय किया जाता है कि इस मनुष्य का भी जन्म हुआ है तथा इसकी मृत्यु भी होगी। अतः प्रत्यक्ष से अनुमान प्रबल प्रमाण हुआ। पशुओं में भी अनुमान ज्ञान है। जिस पशु ने डंडे की मार खाकर दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव किया है, वह किसी व्यक्ति को डंडा उठाये अपनी ओर आते देखकर उस पूर्वानुभव का स्मरण करके अनुमान कर लेगा कि यह डंडा भी मेरे शरीर पर पड़ेगा और मुझे दुःख होगा। ऐसा अनुमान करके वह भाग जाता है। हरी-हरी घास खाने से सुख होता है, यह भी पशुओं को अच्छी तरह प्रत्यक्ष हुआ है। अब किसी पशु के सामने कोई मनुष्य हरी घास हाथ में लिये आता है तो वह यह अनुमान कर लेता है कि यह हरी घास मुझे खाने को अवश्य मिलेगी और इससे मुझे सुख होगा। ऐसा अनुमान करके वह उस मनुष्य की ओर बढ़ता है (पश्वादिभिश्चाविशेषात्—यथा हि पश्वादयः दण्डोद्यतकरं पुरुषम् अभिमुखम् उपलभ्य मां हन्तुम् अयम् आयातीति पलायितुम् आरभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिम् उपलभ्य तं प्रति अभिमुखी भवन्ति—ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य-भूमिका)।

हेतु में भ्रम हो तो अनुमान यथार्थ न होगा जैसे, किसी पर्वत पर निकलते हुए वाष्प को देख कर किसी को धूम का भ्रम हो तो वहाँ अग्नि नहीं मिलेगी। मरूभूमि में जल का भ्रम होने पर वहाँ यथार्थ में जल नहीं मिलेगा।

जो प्रत्यक्ष नहीं होता उसी का लोग अनुमान करते हैं। इस सृष्टि को देख कर न्याय और वैशेषिक में क्षिति, अप, तेज और मरुत् इन चार भूतों के परमाणुओं का कारण बताया है। सांख्य और योग के मत में इस सृष्टि का कारण जड़ प्रकृति है। वेदान्त मत में ब्रह्म को सृष्टि का कारण बताया गया है। इस प्रकार के कारण का ज्ञान अनुमान से होता है क्योंकि ऐसे कारण प्रत्यक्ष नहीं हैं।

एक सुन्दर भवन को देखकर लोग अनुमान करते हैं कि इसका बनाने वाला कोई बुद्धिमान मिस्त्री होगा। इसी प्रकार इस सुंदर और सुश्रृंखल सृष्टि को देख कर ही ऋषियों ने अनुमान से ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त किया था।

अनुमान प्रमाण से जो ज्ञान होता है उसका नाम अनुमिति है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि मन के वृत्तिज्ञान हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए मन को इंद्रियों की सहायता लेनी पड़ती है, परंतु अनुमान-ज्ञान मन अकेला ही विचार से प्राप्त कर लेता है।

"जगत् सत्य है"—तार्किकों के इस अनुमान के समर्थन में 'जगत् सत्यं दृश्यत्वात् घटवत्' यह वाक्य है। यहाँ घट दृष्टांत जगत् रूप पक्ष के भीतर का है। ऐसा अनुमान वह स्वयं ही नहीं मानते। दृष्टांत पक्ष के बाहर से लाना चाहिए। उसके स्थान में वेदांत का अनुमान है कि 'जाग्रद्दृश्यमानं जगत् मिथ्या दृश्यत्वात् स्वप्नजगद्वत्' यह दृष्टान्त 'जाग्रद्दृश्यमानं जगत्' इस पक्ष के बाहर से लाया गया है। अतः यह अनुमान ठीक है। तार्किकों के उस अनुमान को काटने वाले वेदांत दर्शन के मतानुसार और भी अनेक अनुमान इस प्रकार हैं—घट, पट, मठ, आदि छोटे पदार्थ नाशवान हैं (यदल्पं तन्मर्त्यम्—छांदोग्य-उप ७।२४।१)। इन उदाहरणों से परमाणु भी छोटे होने के कारण नाशवान हो जाते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता पत्थर, लोहा आदि पृथक्-पृथक् वस्तुएँ भेद-प्रतियोगित्व-हेतु नाशवान हैं। इसी प्रकार उन लोगों के परमाणु, ईश्वर, काल, दिक्, आत्मा आदि सभी भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नाशवान सिद्ध होती हैं। (अद्वैतवादः देखिए)। (द्वैतस्य घटवन्नाशः—पञ्चदशी)। दो होने से घट की तरह उसका नाश अनिवार्य है।

वेदांत में अनैकांतिक हेत्वाभास (अनैकान्तिकः शब्द देखिए) नहीं माना जाता; क्योंकि उसके मानने से एक घट का नाश देखकर सारे घटों का अथवा एक मनुष्य का नाश देखकर सारे मनुष्यों का नाश निर्णित नहीं किया जा सकता, शब्द और ज्ञान का विषय एक घट नाशवान है; इस हेतु से दूसरे घट भी वाच्य, अभिधेय या ज्ञेय होने के

कारण नाशवान होंगे, ऐसा सिद्धान्त भी नहीं किया जा सकता। यथार्थ में ऐसा अनुमान सभी को मानना पड़ता है।

अनुमानैकचक्षुस् (व०) अनुमान (युक्ति) ही जिसका चक्षु है अर्थात् जो अनुमान को ही एकमात्र प्रमाण मानता है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, जैन और बौद्ध दर्शनों का सिद्धान्त अनुमान पर ही निर्भर है (अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तपस्विनः। आपेदिरे निरात्मत्वम् अनुमानैकचक्षुषः– पंच. २।३१)।

प्रधान प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। ज्ञानेंद्रियों से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की उपलब्धि होती है तथा मन से सुख-दुःख आदि का अनुभव होता है। यही प्रत्यक्ष प्रमाण है। इन्द्रियों की शक्ति बहुत ही अल्प है। उस पर सर्वत्र निर्भर नहीं किया जा सकता, जैसे--दिन में नक्षत्र नहीं दिखलाई पड़ते। पक्षी आकाश में बहुत ऊँचे पर उठ जाय तो वह भी दृष्ट नहीं होता। नेत्र के पलक और अंजन बहुत समीप होने के कारण नहीं दिखाई पड़ते। चक्षु-इन्द्रिय की शक्ति नष्ट हो जाय, तो कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं होता। मन यदि दूसरी ओर संलग्न रहे तो चक्षु पर पदार्थों की छाया पड़ने पर भी वे प्रत्यक्ष नहीं होते। जल में चीनी या नमक घोल देने पर दिखाई नहीं पड़ता। बहुत दूर का शब्द सुनाई नहीं पड़ता। सुगंधि वस्तु दूर पर रहे तो घ्राण से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। इतना होते हुए भी जीव प्रत्यक्ष-प्रमाण से बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त करके व्यवहार चलाते हैं।

अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष से प्रबल है, यह सभी दार्शनिक मानते हैं। अनुमान में प्रत्यक्ष की सहायता आवश्यक है, जैसे--अग्नि के साथ-साथ धूम सभी ने देखा है। इस प्रत्यक्ष के बल पर जहाँ अग्नि नहीं दिखलाई पड़ती और धूम देखा जाता है, वहाँ पूर्व दृष्ट धूम-वह्नि के एकत्रावस्थान रूप व्याप्ति का स्मरण कर लोग अग्नि का अनुमान करते हैं (अनुमानम् देखिए)।

तुलना से उत्पन्न ज्ञान उपमान है, जैसे--गोसदृशो गवयः अर्थात् गवय गौ के समान है।

भ्रम-प्रमाद-रहित आप्त पुरुष का वाक्य तथा शास्त्र का वाक्य शब्द-प्रमाण है। जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान नहीं पहुँचते वहाँ शब्द-प्रमाण ही काम देता है।

धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, ईश्वर-देवता, आदि विषय शास्त्र-वाक्यों से ही जाने जाते हैं।

इन चार प्रकार के प्रमाणों से लोग व्यवहार चलाते हैं। इस कारण केवल अनुमान को ही प्रमाण मानना अनुचित है।

अनुमानोक्ति (स्त्री०) तर्क-वितर्क, बहस।

अनुमाषम् (अव्य०) उड़द की तरह।

अनुमासः (पुं०) आगे का महीना।

अनुमासम् (अव्य०) प्रत्येक महीने।

अनुमित (वि०) अनुमान किया हुआ।

अनुमितिः (स्त्री०) अनुमान, न्याय के अनुसार अनुभूति के चार भेदों में से एक 'परामर्श' द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान।

अनु+मुद् (आत्म०) (अनुमोदते) अनुमोदन करना, पसंद करना।

अनुमेय (वि०) अनुमान के योग्य।

अनुमोदक (वि०) सहानुभूति संबंधी, हर्ष दिखलाने वाला।

अनुमोदनम् (नं०) समर्थन, स्वीकृति, अनुमोदन।

अनुमोदित (वि०) समर्थित, स्वीकृत, आनंदित, प्रसन्न।

अनु+या (पर०) (अनुयाति) अनुवर्तन करना, अनुसरण करना, साथ जाना, सदृश होना।

अनुयाजः (पु०) यज्ञ का एक विशेष अंग।

अनुयातव्य (वि०) पीछा करने योग्य, अनुसरण करने योग्य।

अनुयातृ (पुं०) अनुयायी।

अनुयात्रम् (नं०), अनुयात्रा (स्त्री) परिपार्श्व, अनुचरवर्ग, परिषद्वर्ग।

अनुयात्रिकः (पुं०) अनुचर, नौकर।

अनुयानम् (नं०) अनुगमन, पश्चात् गमन।

अनुयायिन् (वि०) पीछे गमन करने वाला, आश्रित, अनुयायी।

अनुयुक्त (वि०) आज्ञप्त, संयुक्त, पूछा हुआ, जाँचा हुआ, परीक्षित, धमकाया हुआ।

अनुयुगम् (अव्य०) युगों के अनुसार।

अनु+युज् (उभ०) (अनुयुंक्ति, अनुयुङ्क्ते) प्रश्न करना, पूछना, अनुयोग करना।

अनुयोक्तृ (पुं०) परीक्षा करने वाला व्यक्ति, शिक्षक, जिज्ञासु ।

अनुयोगः (पुं०) प्रश्न, खोज, अनुसंधान, परीक्षा, भर्त्सना, याचना, उद्योग, ध्यान, टीका-टिप्पणी ।

जैन आगमों की व्याख्या को अनुयोग कहते हैं। प्राचीन काल में आगम की व्याख्या नयों के आधार पर ही की जाती रही, परन्तु आगे चलकर आर्यरक्षित ने मंदबुद्धि पुरुषों के लिए उसे प्रमुख चार भागों में बाँट दिया— द्रव्यानुयोग अर्थात् तत्त्वविचारणा, गणितानुयोग अर्थात् लोक-संबंधी गणित की विचारणा, चरणकरणानुयोग अर्थात् साधु के आचार की विचारणा और धर्मकथानुयोग अर्थात् धर्मबोधक कथाएँ । इसी आधार पर शास्त्रों का विभाजन भी होने लगा। अनुयोग प्रक्रिया का वर्णन 'अनुयोगद्वार' में किया गया है, जो एक अति प्राचीन ग्रन्थ है ।

अनुयोगकृतम् (पु०) प्रश्नकर्ता, शिक्षक, उपदेश देनेवाला व्यक्ति ।

अनुयोगिन् (वि०) प्रश्न करने वाला, खोज करने वाला, परीक्षक । (पुं०) वैशेषिकमत में एक नित्य संबंध जो द्रव्य, गुण या कर्म और समवाय-संबंध के भीतर माना गया है ।

द्रव्य में शुक्ल-पीतादि गुण, गमनादि कर्म तथा द्रव्यत्वादि जाति समवाय-संबंध से रहते हैं। गुण में गुणत्व जाति और कर्म में कर्मत्व जाति भी समवाय-संबंध से रहती है । जब द्रव्य, गुण, कर्म की तरह समवाय भी एक पदार्थ है तो दोनों में कोई संबंध रहना चाहिए । इस कारण द्रव्य, गुण या कर्म के ऊपर समवाय संबंध के रहने के लिए एक अनुयोगी संबंध की कल्पना की गयी है । इस समवाय-संबंध के ऊपर गुण, कर्म तथा द्रव्यत्वादि जाति के भीतर एक प्रतियोगी संबंध भी माना गया है अर्थात् द्रव्य पर अनुयोगी संबंध, उसके ऊपर समवाय संबंध, उसके ऊपर प्रतियोगी संबन्ध और उसके ऊपर गुण है। इसी प्रकार गुण के अनुयोगी संबन्ध, उसके ऊपर समवाय संबन्ध, उसके ऊपर प्रतियोगी संबन्ध, उसके भी ऊपर गुणत्व जाति है इत्यादि । ये सभी कल्पना मात्र हैं ।

अनुयोजनम् (न०) प्रश्न अनुसंधान, खोज ।

अनुयोज्य (वि०) प्रश्न, करने योग्य, परीक्षा करने योग्य ।

अनुयोज्यः (पुं०) नौका, नाव ।

अनुरक्षकः (पुं०) पीछे या साथ रहकर रक्षा करने वाला, शरीररक्षक, मार्गदर्शक, सहगामी-रक्षी, सहचर ।

अनुरक्षणम् (न०) रक्षा करने की क्रिया ।

अनुरक्त (वि०) आसक्त, प्रसन्न, संतुष्ट, लाल ।

अनुरक्तिः (स्त्री०) आसक्ति, प्रसन्नता, संतुष्टि ।

अनुरज्जु (अव्य०) रस्सी के साथ ।

अनु + रञ्जू (उभ०) (अनुरज्यति, अनुरज्यते) अनुरक्त होना, आसक्त होना ।

अनुरञ्जक (वि०) प्रसन्न कारक, सुखप्रद, आह्लाद-जनक ।

अनुरञ्जनम् (न०) संतोष, प्रसन्नता, आह्लाद ।

अनुरञ्जित (वि०) संतुष्ट, आनंदित, प्रसन्न ।

अनुरणनम् (न०) प्रतिध्वनि, गूँज ।

अनुरतिः (स्त्री०) प्रेम, स्नेह, आसक्ति ।

अनुरथ्या (स्त्री०) उपमार्ग, पगडंडी ।

अनुरसः (पुं०), अनुरसितम् (न०) प्रतिध्वनि ।

अनुरहस (वि०) गुप्त, छिपा हुआ, एकांत ।

अनुरागः (पुं०) प्रेम, स्नेह, स्वामिभक्ति; लालिमा ।

अनुरागिन् (वि०) अनुरागी, प्रेमपूर्ण, स्नेहयुक्त ।

अनुरात्रम् (अव्य०) रात्रि में, प्रत्येक रात्रि में ।

अनुराध (वि०) प्रभावित, प्राप्त, संपूर्ण, पूरा ।

अनुराधग्रामः (पुं०) श्रीलंका की प्राचीन राजधानी ।

अनुराधा (स्त्री०) ज्योतिषशास्त्र के अनुसार २७ नक्षत्रों में यह सत्रहवाँ नक्षत्र है । ज्योतिष में देवगण तथा मध्यनाड़ी वर्ग में इसकी गणना की जाती है और इस गणना पर यात्रा, द्विरागमन, विवाह भी स्थिर किया जाता है। पाणिनी-रचित अष्टाध्यायी में अनुराधा नक्षत्र में जन्म शुभजनक है ऐसा उल्लेख मिलता है (विशाखानुराधयोः) ।

अनुरिक्थम् (न०) मृत्यु के समय परित्यक्त या प्रदत्त सम्पत्ति ।

अनुरिष् (प०) (अनुरिष्यति) बाद में आहत होना ।

अनु + री (आत्म०) (अनुरीयते) बाद में बहना या प्रवाहित होना ।

अनु + रुच् (पर०) (अनुरोचयति) चुनना, पसंद करना, वरीयता देना ।

अनु + रुध् (उ०) (अनुरुध्यति, अनुरुध्यते)—

अनुवर्तन करना, अनुकरण करना, आचरण करना, पालन करना (सद्वृत्तिमनुरुध्यन्तां भवन्तः—महावीर० २ । हन्त तिर्यञ्चोऽपि परिचयमनुरुध्यन्ते—उत्तर० ३ । वात्सल्यमनुरुध्यन्ते महात्मानः—महावीर० ६ । मद्वचनमनुरुध्यते वा भवान्—कादम्बरी १८१) । अनुरोध करना, प्रार्थना करना (आगमनायानुरुध्यमानः—काद० २७७ । सभापतिपदग्रहणयानुरुन्धन्ते तावन्मां सभासदाः) । स्वीकृत होना, सहमत होना (प्रकृतयो न मे व्यसनमनुरुध्यन्ते–दशकुमार० १०६) । बाधा देना, रोकना, विघ्न डालना, अड़चन डालना (शिलाभिर्ये मार्गमनुरुन्धन्ति—महा० । घेरना, वेष्टन करना (रुद्रानुचरैः ···अन्वरुध्यत—भाग०) । बाँधना (अनुरुध्य वपुश्चौरा न्यक्षिपंश्च जलाशये) । प्यार करना, पसंद करना, आसक्त होना (समस्थमनुरुध्यन्ते, विषमस्थं त्यजन्ति च—रास०) । संतुष्ट करना, प्रसन्न करना, शांति देना, शांत करना, पुचकारना, बहलाना (इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धाम् –उत्तर० ३।२६) ।

अनुरूप (वि०) तुल्य, सदृश, योग्य, उपयुक्त, अनुकूल ।

अनुरूपभूपतिः (पुं०) अपरूप अर्थात् अतुलनीय नृपति । रामचंद्र के समान राजा आजतक भूमंडल में नहीं उत्पन्न हुआ । आज भी लोग रामराज्य का नाम सुख-समृद्धिपूर्ण राज्य के लिए लेते हैं (अनुरूपभूपतिं नतोऽहमुर्विजापतिम्–रामस्त्रोत्र ११) ।

अनुरूपम् (क्रि० वि०) सादृश्य से, योग्यता से ।

अनुरेवती (स्त्री०) एक प्रकार का पौधा ।

अनुरोधः (पुं०), अनुरोधनम् (न० आग्रह, विनयपूर्वक की जाने वाली प्रार्थना, याचना, अनुवर्तन, प्रेरणा, उत्तेजना ।

अनुरोधिन् (वि०) विनयशील, नम्र, विनीत ।

अनुर्वरता (स्त्री०) अनुपजाऊपन, ऊसरपन, बाँझपन । कुछ जमीन इतनी सूखी-रूखी होती है कि वहाँ बीज डालने पर भी अन्न के पौधे नहीं उत्पन्न होते । मरुस्थल भी अनुर्वर ही है ।

कुछ पुरुष बंध्य और स्त्री बंध्या (बाँझ) होती हैं । संतानोत्पत्ति के लिए पुरुष के स्वस्थ शुक्राणु और स्त्री के स्वस्थ डिंब का संयोग होना आवश्यक है । इन दोनों में से किसी में दोष हो तो संतान की उत्पत्ति नहीं होती । इसी को अनुर्वरता या वंध्यत्व कहते हैं । स्त्री-पुरुष के संभोग से योनि के भीतर के गर्भाशय में एक भी स्वस्थ शुक्राणु पहुँच जाय और वहाँ के स्वस्थ डिंब के साथ मिलित हो तो गर्भ रह जाता है । यदि शुक्राणु गर्भाशय तक न पहुँचा और डिंब के साथ न मिल सका तो गर्भ की उत्पत्ति नहीं होगी । कठिन रोग या अधिक भोग के कारण शरीर का रक्त पतला हो जाय तो स्वस्थ शुक्राणु नहीं बनते और स्त्रियों का डिंब भी स्वस्थ नहीं रहता । यह भी एक प्रकार की अनुर्वरता है । ऐसे स्थलों में सुचिकित्सा के द्वारा दोनों के शरीर में विशुद्ध रक्त का संचार हो तो ऐसी अनुर्वरता दूर हो सकती है ।

अनुलग्न (वि०) मिला हुआ, संयुक्त ।

अनुलम्बित (वि०) कुछ समय के लिए पदच्युत, मुअत्तल, लटकाया हुआ ।

अनुला (स्त्री०) एक स्त्रीअर्हत् का नाम, एक बौद्ध संन्यासिनी ।

अनुलापः (पुं०) बार बार कथन, पुनरुक्ति, पुनर्वाद (न्याय) ।

अनुलासः, अनुलास्यः (पुं०) मोर, मयूर ।

अनुलिप् (आ०) (अनुलेपयति) स्नानादि के पश्चात् शरीर में उबटन लगाना, लेपन करना ।

अनुलिप्त (वि०) लेप किया हुआ, लेपित ।

अनुलिप्ताङ्ग (वि०) लेपयुक्त अङ्गों वाला ।

अनुलेपः (पुं०), अनुलेपनम् (न०) सुगंधित द्रव्यों का शरीर में लेपन करने की क्रिया, उबटन लगाना ।

अनुलोम (वि०) स्वाभाविक क्रम में, नियम से, क्रमिक, निम्नगामी । विवाह के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग मिलता है । उच्च वर्ण का मनुष्य निम्न वर्ण की कन्या से विवाह करे तो वह अनुलोम विवाह कहलाता है । इसके विपरीत प्रतिलोम-विवाह भी है । निम्न वर्ण का पुरुष यदि उच्च वर्ण की कन्या से विवाह करे तो उसे प्रतिलोम-विवाह कहा गया है (एकान्तरे त्वानुलोम्यादम्बष्ठोग्रौ यथा स्मृतौ । क्षत्तृवैदेहकौ तद्वत्प्रातिलोम्येऽपि जन्मनि—मनु० १०।१३) ।

अनुलोमज (वि०) यथाक्रम से उत्पन्न ।

अनुलोमजः (पुं०) पिता की अपेक्षा हीन वर्ण माता की संतान, वर्णसंकर जाति ।

अनुलोमम् (अ०य०) स्वाभाविक क्रम से, उससे नीचे ।

अनुलोमा (स्त्री०) ऐसी स्त्री जिसका सम्बन्ध किसी उच्च जाति के पुरुष से हो ।

अनुलोमार्थ (वि०) जो कथन अनुकूल हो।

अनुल्वण (वि०) जो अधिक न हो, अस्पष्ट, अव्यक्त, अप्रकट।

अनुवंशः (पुं०) वंशावली।

अनुवक्तव्य (वि०) दोहराने के योग्य।

अनुवक्तृ (वि०) बाद में बोलने वाला, जवाब देने वाला।

अनुवक्र (वि०) जो बहुत ही टेढ़ा हो, अतिवक्र।

अनुवच् (पर०) (अनुवाचयति) दोहराना, सूचना देना, अध्ययन करना।

अनुवचनम् (न०) पुनरावृत्ति, शिक्षण, पठन।

अनुवचनीय (वि०) अनुवचन के योग्य।

अनुवत्सरः (पुं०) संवत्सर, वर्ष।

अनु + वद् (पर०) (अनुवदति) अनुकरण करना, पुनः कहना।

अनुवर्णम् (अव्य०) वर्णानुक्रम से, अक्षरानुक्रम से (जैसे कोश में)।

अनुवर्तनम् (न०) अनुगमन, आज्ञापालन, समर्थन, कृतज्ञता, प्रसन्नता, परिणाम, किसी पूर्ववर्ती सूत्र की पूर्ति।

अनुवर्तिन् (वि०) पीछे चलने वाला, अनुगामी।

अनुवंश (वि०) दूसरे की इच्छा पर निर्भर, दूसरे का वशवर्ती, पराधीन।

अनुवाकः (पुं०) ग्रंथविभाग, अध्याय, प्रकरण, वेद के अध्याय का एक भाग।

अनुवाक्य (वि०) पुनरावर्तन के योग्य।

अनुवाचनम् (न०) शिक्षा दिलाने का भाव, स्वयं पठन-पाठन।

अनुवातः (पुं०) हवा का रूख, जिस दिशा की ओर यात्रा हो उसी ओर हवा का बहाव।

अनुवादः (पुं०) भाषांतर, उल्था, समर्थन, सूचना, व्याख्या करने के लिए किसी अंश का बार-बार पठन।

अनुवादकः, अनुवादिन् (वि०) भाषांतर करने वाला, व्याख्यासूचक।

अनुवादित (वि०) भाषांतरित, अनुवाद किया हुआ।

अनुवाद्य (वि०) व्याख्या करने योग्य, अनुवाद करने योग्य।

अनुवारम् (अव्य०) समय-समय पर, बार-बार।

२३

अनुवासः (पुं०) सुगंध, धूप आदि का सुवास।

अनुवासनः (पुं०) पिचकारी।

अनुवासनम् (न०) वस्त्रादि को सुगंधित पदार्थों से युक्त करना, स्नेहनद्रव्य से पिचकारी देना।

अनुवासित (वि०) सुगंधित, सुवासित।

अनुवास्य (वि०) सुगंधित करने योग्य।

अनुवित्तिः (स्त्री०) प्राप्ति, उपलब्धि।

अनुविद् (पर०) (अनुवेद्, अनुवेत्ति) आद्योपांत जानना।

अनुविद्ध (वि०) विधा हुआ, छिपा हुआ, विस्तृत, छपा हुआ, व्याप्त, संबंधयुक्त, जड़ा हुआ।

अनुविधातव्य (वि०) आदेश के अनुसार पूरा होने योग्य।

अनुविधानम् (न०) आज्ञापालन, आज्ञा के अनुसार कार्य करने का भाव।

अनुविधायिन् (वि०) आज्ञापालक, आज्ञाकारी।

अनुविधिः (स्त्री०) किसी व्यापक विधि या नियम के बन जाने के बाद उसके व्यतिरेक रूप में विहित लघु विधि, जैसे किसी प्राणी की हिंसा न करो (मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि) यह सामान्य विधि है। अतिथि के आने पर और यज्ञ के लिए पशु की हिंसा की जा सकती है (तस्मात् यज्ञे वधोऽवधाः—मनु ५।३९) यह विशेष विधि अनुविधि कहलाती है।

राज्य की शासनप्रणाली के अनुसार गठित विधि को भी अनुविधि कहते हैं।

मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने अनेक अनुविधियाँ बनायी थीं जिनके द्वारा अभी भी हिंदू समाज अनुशासित हो रहे हैं। अँग्रेजी शासन के समय भी हमारे देश के लिए नये-नये दीवानी-फौजदारी कानून बने थे। सन् १९४७ ई० के १५ अगस्त को भारत स्वतंत्र हुआ और सन् १९५० ई० में स्वनिर्मित संविधान के अनुसार पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बन गया। उसके अनंतर केंद्रिय संसद तथा विभिन्न राज्यों के विधान-मंडलों द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण अनुविधियों का निर्माण हुआ, जिनसे हमारे देश के अर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में विशेष परिवर्तन हुए हैं।

अनुविनाशः (पुं०) पीछे से बिनाश।

अनुविवृत् (आ०) (अनुवर्तयते) शीघ्रता से पीछा करना।

अनुविष्टम्भः (पुं०) वह जिसके परिणाम स्वरूप बाधा हो।

अनुविस्तृत (वि०) फैला हुआ, बहुत बड़ा।

अनुविस्मित (वि०) दूसरे के पश्चात् विस्मित होने वाला।

अनुवृत् (आ०) (अनुवर्तते) अनुसरण करना, पीछे चलना (स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते—गीता ३।२१)।

अनुवृत (वि०) अवाधित, न रोका हुआ, अनुवर्तित।

अनुवृत्त (वि०) पालित, प्रविष्ट, व्याप्त।

अनुवृत्ति (स्त्री०) स्वीकृति, समर्थन, अनुसरण, पुनरावृत्ति, निरवच्छिन्नता।

आत्मा का ध्यान करते समय एकाकार-वृत्तिप्रवाह चलता रहता है। प्रारंभिक प्रयत्न से आत्माकारा चित्त-वृत्ति की अनुवृत्ति होती रहती है (वृत्तीनामनवृत्तिस्तु प्रयत्नात् प्रथमादपि—पंच० ।

अनुवेलम् (अव्य०) कभी-कभी, समय-समय पर (अनुवेलं प्रबाधन्ते रिपवो रजनीचराः)।

अनुवेशः (पुं०) अनुवेशनम् (न०) अनुसरण, अनुप्रवेश, ज्येष्ठ भ्राता के अविवाहित रहते हुए कनिष्ठ भ्राता का होनेवाला विवाह।

अनुवेष्ट् (पर०) (अनुवेष्टयति) आवेष्टित होना, निश्चित होना।

अनुव्यञ्जनम् (न०) गौण लक्षण।

अनुव्याधः (पुं०) आघात, वेधन, संभोग, झुकाव, रोक।

अनुव्याहरणम् (न०) पुनरावृत्ति, शाप।

अनुव्रज् (आत्म) साथ में जाना, आज्ञा मानना, सत्कार करना, आदर करना।

अनुव्रजनम् (न०), अनुव्रज्या (स्त्री०) अतिथि के जाने के समय साथ में जाकर कुछ दूर तक पहुँचाने की क्रिया, सत्कार, अनुगमन।

अनुव्रत (वि०) अनुरक्त, भक्त।

अनुशतिक (वि०) सौ में क्रीत अर्थात् खरीदा हुआ।

अनुशब्दः (पुं०) प्रतिशब्द, प्रतिध्वनि, गूँज, एक व्यक्ति के द्वारा कथित शब्द सुनकर दूसरे के द्वारा अविकल अथवा दूसरी भाषा में कथन, अक्षरशः उच्चारण।

अनुशयः (पुं०) पश्चात्ताप, दुःख, घोर शत्रुता, अत्यधिक क्रोध, घनिष्ठ संबंध, घृणा, किसी वस्तु के खरीदने के बाद होने वाला क्षोभ, क्रय-विक्रय संबंधी विवाद; दुष्कर्मों का फल।

बौद्ध शास्त्रों के अनुसार जन्म-मृत्यु-प्रवाह रूप संसार का मूल अनुशय है। उनके अनुसार अनुशय छ प्रकार के हैं—राग-तृष्णा, प्रतिध द्वेष, मान, अविद्या, विद्या का विरोधी तत्त्व, दृष्टि विशेष प्रकार की मान्यता या दर्शन, विचिकित्सा और संयम। अनुशय को संयोजन, बंधन, ओघ, आस्रव आदि नाम से भी प्रयोग किया गया है। बौद्धों के दूसरे दर्शन के अनुसार वासना, कर्म, अपूर्व, अदृष्ट, संस्कार आदि भी अनुशय ही हैं।

बौद्ध शास्त्रों में जन्म-मृत्यु-प्रवाह को बंद करने के लिए इन अनुशयों की निवृत्ति के अनेक उपाय बताये गये हैं, जिनमें वैराग्य ही सर्वोत्तम है।

अनुशयन् (वि०) भक्ति के कारण अनुरक्त, निष्ठ, पश्चात्ताप करने वाला, अत्यधिक घृणा-जनक।

अनुशयान (वि०) दुःखी, क्षुब्ध।

अनुशयाना (स्त्री०) वह नायिका जो अपने प्रिय के मिलन-स्थान के नष्ट हो जाने से दुःखी हो।

अनुशारः (पुं०) एक राक्षस।

अनुशल्यः (पुं०) दैत्य-विशेष। यह कृष्ण के ऊपर बहुत क्रुद्ध था। इस पराक्रमी दैत्य से कृष्ण भी भयभीत थे। एक बार कृष्ण पांडवों के साथ हस्तिनापुर में रहते थे, उस समय इस दैत्य ने कृष्ण के ऊपर सेना सहित हस्तिनापुर पर आक्रमण किया। भीम और अर्जुन ने इस दैत्य के साथ युद्ध किया, लेकिन पराजित हुए। अंत में कर्ण का पुत्र वृषकेतु ने इसे पराजित करके बंदी बनाकर कृष्ण के सामने किया। कृष्ण के उपदेश से इसके हृदय में धर्म का भाव जगा और वह तपस्या करने के लिए जंगल में चला गया।

अनुशासक, अनुशासिन् (वि०) निर्देशक, राज्य का प्रबन्धक, शिक्षक।

अनुशासकः (पुं०) नियम पालन करने वाला पुरुष।

अनुशासनम् (न०) निर्देश, आदेश, शिक्षा, एक

प्रकार का विधान जो किसी संस्था, वर्ग तथा समुदाय के प्रत्येक सदस्य को सम्यक् रूप से कार्य अथवा आचरण की प्रेरणा शिक्षा देता है। नियम तथा ऋण के संबंध में मनु का अनुशासन, शब्दों के संबंध में पाणिनी का शब्दानुशासन विशेष महत्त्व रखता है। महाभारत के १३वें पर्व का नाम भी अनुशासन है। इसमें उपदेशों का बृहद् विवरण है।

अनुशासन के तीन भेद हैं—राजानुशासन, शब्दानुशासन और योगानुशासन। अधम प्रकृति वाले मनुष्य राजानुशासन के भय से अनुचित कार्य नहीं करते। मध्यम प्रकृति के मनुष्य शब्दानुशासन, शास्त्रानुशासन या समाजानुशासन के भय से अनुचित कार्य में प्रवृत्त नहीं होते और उत्तम प्रकृति के लोग योगानुशासन या आत्मानुशासन से अधर्म, अन्याय, असत्य आदि पाप से बचे रहते हैं। योगदर्शन के आरम्भ में ही सूत्र है —अथ योगानुशासनम् (१।१)।

अनुशासनिक (वि०) नियम पालन-संबंधी।

अनुशासनीय (वि०) नियम पालन के योग्य, आदेश के योग्य।

अनुशास्तृ (वि०) शासन करने वाला।

अनुशिष्टिः (स्त्री०) आदेश, शिक्षण, विचारपूर्वक कर्तव्याकर्तव्य का निरूपण।

अनुशीलनम् (न०) बार-बार अवलोकन, अध्ययन, आलोचना।

अनुशोकः (पुं०), अनुशोचनम् (न०) दुःख, खेद, पश्चात्ताप, पछतावा।

अनुश्रवः (पुं०) वह जो केवल सुना जाय, वेद।

अनुश्रु (पर०) (अनुशृणोति) दोहराने पर सुनना।

अनुश्रुत (वि०) दूसरे से सुना हुआ।

अनुषक्त (वि०) संबंधित, संलग्न, आसक्त (तेनानुषक्तं श्रृणु पूर्ववृत्तम्)।

अनुषक्तिः (स्त्री०) दृढ़ आसक्ति, संलग्नता, प्रेम, लगाव (अनुषक्तिर्दृढ़ जाता संसारे बन्धहेतवे)।

अनुषङ्गिन् (वि०) साथ वाला, सहायक, संगी, अंगीभूत (अनुषङ्गी सदा याति कश्चनापि कुशाग्रधीः)।

अनुषेकः (पुं०), अनुसेचनम् (न०) पानी से बार-बार तर करना, सींचना।

अनुष्टुतिः (स्त्री०) स्तुति, प्रशंसा।

अनुष्टुप् [वेद] (स्त्री०) वाक्, वाक्य, वाणी; परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इन चार प्रकार के वाक्य (अनुष्टुभमतु च चर्ममाणमिन्द्रम्—ऋक् सं० ८।७।१०।४)। (छन्द देखिए)।

अनुष्टुम् (स्त्री०) प्रशंसा युक्तता, वाणी, सरस्वती, एक प्रकार का छंद जिसमें चार पाद होते हैं।

अनुष्ठातृ, अनुष्ठायिन् (वि) अनुष्ठान करने वाला।

अनुष्ठानम् (न०) किसी कार्य का करना, शास्त्रविहित कर्म को नियमपूर्वक करना, पुरश्चरण आदि कार्य का आचरण। दूसरों को उपदेश देने का पांडित्य सभी के लिए सहज है। किंतु धर्म में अपना अनुष्ठान कदाचित् किसी महात्मा में ही दिखाई पड़ता है (परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां शूकरं नृणाम्। धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित् तु महात्मनाम्—हितोपदेश)।

अनुष्ठापनम् (न०) कोई काम पूरा कराना।

अनुष्ठेय (वि०) पूरा होने योग्य, निरीक्षण के योग्य, स्थापित या प्रमाणित होने योग्य।

अनुष्ण (वि०) जो गरम न हो, शीतल, सुस्त।

अनुष्णः (पुं०) ठंढक, शीतलता।

अनुष्णम् (न०) नील कमल, नीलोत्पल।

अनुष्णाशीत (वि०) जो न उष्ण हो न शीतल।

अनुष्णाशीतसंस्पर्शः (पुं०) उष्णता-शैत्य-रहित स्पर्श। ऐसा स्पर्श केवल स्वाभाविक वायु में ही रहता है। अग्नि में उष्ण स्पर्श और जल में शीत स्पर्श है। वायु में भी अग्नि की उष्णता प्रविष्ट होने पर वायु गरम और जल का शैत्य प्रविष्ट होने पर वायु शीतल प्रतीत होती है। यथार्थ में वायु का स्वाभाविक स्पर्श अनुष्णाशीत ही है (प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो, वायौ बीसीतिशब्दनम् अनुष्णाशीतसंस्पर्शो, वह्नौ भुगुभुगुध्वनिः—पंचदशी २।३)।

अनुष्यन्दः (पुं०) पिछली पहिया।

अनुसंरक्त (वि०) आसक्त, लगा हुआ।

अनुसंहितम् (अव्य०) वेद की संहिता के अनुसार।

अनुसचिवः (पुं०) सहायक सचिव, उपमंत्री।

अनुसन्धानम् (न०) खोज, अनुसंधान, सूक्ष्म निरीक्षण, परीक्षा, चेष्टा; उपयुक्त संबंध।

अनुसमयः (पुं०) नियमित या उपयुक्त संबंध (भाषा के शब्दों में)।

अनुसमापनम् (न०) नियमित समाप्ति ।

अनुसमुद्रम् (अव्य०) समुद्र के साथ ।

अनुसम्बन्ध (वि०) संबंधयुक्त ।

अनुसरः (पुं०) अनुयायी, साथी, संगी ।

अनुसाम (वि०) अनुकूल, प्रसन्न ।

अनुसायम् (न०) प्रति-संध्या, हर शाम को ।

अनुसारः (पुं०) अनुसरण, पद्धति, रीति, समानता, अनुकूलता, प्राप्त या प्रतिष्ठित अधिकार ।

अनुसारक, अनुसारिन् (वि०) खोज करने वाला, परीक्षा करने वाला, अनुसरण करने वाला ।

अनुसारता (स्त्री०) पश्चात् गमन, पीछे-पीछे जाना ।

अनुसूचक (वि०) निर्देशक, बतलाने वाला ।

अनुसूचनम् (न०) निर्देश, बतलाने की क्रिया ।

अनुसृतिः (स्त्री०) पीछे गमन, समर्थन ।

अनुसैन्यम् (न०) सेना का पिछला भाग, सहायक ।

अनुस्कन्दम् (अव्य०) उत्तराधिकार-पूर्वक ।

अनुस्तरणम् (न०) चारों ओर से सिलाई करना, चारो ओर फैलाना ।

अनुस्तरणी (स्त्री०) वह गाय जो किसी के मृतक कर्म में दान दी जाय ।

अनुस्मरणम् (न०) बार-बार स्मरण, स्मरण-शक्ति ।

अनुस्मारक (वि०) स्मरण दिलाने वाला, याद दिलाने वाला ।

अनुस्मृतिः (स्त्री०) मन से किया हुआ ध्यान, अन्य वस्तुओं को त्याग कर एक ही वस्तु में मन की एकाग्रता ।

अनुस्यूत (वि०) व्याप्त, ग्रथित, बुना हुआ, संलग्न, सिला हुआ, आवद्ध ।

अनुस्वानः (पुं०) प्रतिध्वनि, प्रतिशब्द ।

अनुस्वारः (पुं०) स्वर के बाद उच्चारण किया जाने वाला एक अनुनासिक वर्ण, स्वर के ऊपर लगायी जाने वाली बिंदी ।

अनुहरणम् (न०), अनुहारः (पुं०) अनुकरण, नकल, एकरूपता ।

अनु + हृ (पर०) (अनुहरति) अनुकरण करना, नकल करना ।

अनुहोडः (पुं०) गाड़ी, शकट, यान ।

अनूकः (पुं०), अनूकम् (न०) कुटुम्ब, वंश; स्वभाव ।

अनूक्तम् (नं०) प्रवृत्ति, शील, जातीय विशेषता ।

अनूचान (वि०) अध्ययनशील, सदा पढ़ने वाला ।

अनूचानः (पुं०) वेदपाठी विद्वान्, वेदों का अर्थ करने वाला व्यक्ति ।

अनूचानमानी (वि०) स्वयं को वेदार्थं का ज्ञाता मानने वाला (श्वेतकेतु अनूचानमानी स्तब्ध एयाय—छांदोग्योप ६।१।२) ।

अनूचीन (वि०) बाद में आने वाला ।

अनूढ (वि०) न ढोया हुआ; अविवाहित ।

अनूढभ्रातृ (पुं०) अविवाहित पुरुष का भाई ।

अनूढमान (वि०) लज्जाशील, लजालू ।

अनूढा (स्त्री०) अविवाहिता, कुमारी ।

अनूढाभ्रातृ (पुं०) अविवाहिता कन्या का भाई, राजा की उपपत्नी का भाई ।

अनूदकम् (न०) जलाभाव, अनावृष्टि; मरुदेश ।

अनूदित (वि०) बाद में कहा हुआ ।

अनूद्देशः (पुं०) एक अलंकार; निष्प्रयोजनीयता ।

अनूद्यमान (वि०) उत्तर में कहा हुआ ।

अनून (वि०) जो न्यून या अल्प न हो, श्रेष्ठ, समस्त, बहुत बड़ा ।

अनूनगुरु (वि०) जिसका वजन कम न हो, अत्यधिक भारी ।

अनूप (वि०) अधिक जल वाला, दलदल वाला, जल के निकट स्थित ।

अनूपः (पुं०) जलीय देश, एक देश का नाम ।

अनूपज (वि०) जल के समीप उगने वाला ।

अनूपजम् (न०) अदरक, आदी ।

अनूपप्राय (वि०) दलदल वाला, जिसमें दलदल हो ।

अनूपा (स्त्री) जलाशय, तट, पार्श्व, भैंसा, हाथी, एक प्रकार का तीतर ।

अनूबन्ध्य (वि०) वध के लिए (यज्ञीय पशु) बाँधने योग्य ।

अनुराधः (पुं०) प्रसन्नता, कुशलता ।

अनूरु (वि०) जिसे जाँघ न हो, जाँघरहित ।

अनूरुः (पुं०) सूर्य के सारथि का नाम, उषःकाल, भोर, प्रभात ।

अनूर्जित (वि०) निर्बल, अदृढ़, सामर्थ्यहीन, गर्व रहित ।

अनूर्ध्व (वि०) जो ऊर्ध्व न हो, निम्न ।

अनूर्ध्वभास् (वि०) जिसकी आभा या चमक ऊपर न जाती हो ।

अनूर्मि (वि०) जिसमें उर्मि या लहर न हो ।

अनूला (स्त्री०) काश्मीर की एक नदी ।

अनूव्रज् (पुं०) शरीर की पसलियों के निकट का अंश या भाग ।

अनूषर (वि०) जिसमें नमक का अंश न हो ।

अनूषित (वि०) अन्य के समीप रहने वाला ।

अनूह (वि०) विचारविहीन, लापरवाह, असावधान ।

अनूह्य (वि०) विचार के अयोग्य ।

अनृक्षर (वि०) काँटारहित, कंटकविहीन ।

अनृच् (वि०) बिना ऋचा का, यज्ञोपवीत न होने के कारण जिसे वेदाध्ययन का अधिकार न हो ।

अनृजु (वि०) जो ऋजु या सीधा न हो, टेढ़ा, वक्र, दुष्ट, बेईमान ।

अनृण (वि०) जिस पर ऋण न हो, जो कर्जदार न हो ।

अनृणिन् (वि०) ऋणमुक्त, ऋणरहित, उऋण ।

अनृत (वि०) असत्य, मिथ्या (अनृतं भाषणं तव)।

अनृतम् (न०) असत्य, मिथ्या, झूठ, धोखा, छल । जिस प्रकार सत्य की प्रशंसा है उसी प्रकार अनृत की निंदा है । सत्य की जय होती है, मिथ्या की जय कभी नहीं होती (सत्यमेव जयते, नानृतम्)। साँच को आँच नहीं। ब्राह्मणों को सदा सत्यभाषण करना चाहिए । किंतु राज्य-शासन करने वाले क्षत्रियों को प्रजा के कल्याण के लिए आवश्यकता के अनुसार कदाचित् अनृत का आश्रय लेना पड़ता है। प्राणी के हितकर वचन को ही सत्य कहते हैं, केवल यथार्थ घटना का अभिभाषण ही सत्य नहीं है (सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्—नीतिसार)। एक ग्रामीण मनुष्य अपने घर के सामने बैठकर हुक्का पी रहा था । एक भला आदमी दौड़ते हुए आकर उसके सामने से बहुत दूर निकल गया। थोड़ी देर बाद एक डाकू सा काला-कलूटा आदमी डंडा हाथ में लिये उस ग्रामीण मनुष्य के पास आकर हाँफते हुए बोला—"तुमने इधर से भागते हुए किसी को देखा है ?" उस व्यक्ति ने सुनकर कहा — "हाँ, देखा है । वह मेरे घर के पीछे के जंगल से खेतों में घुस गया है ।" सुनते ही वह डाकू खेतों में जाकर उस आदमी को खोजने लगा । तब तक वह भला आदमी अपने घर पहुँच गया था । यदि वह हुक्का पीने वाला सत्य कहता तो वह व्यक्ति मारा जाता; इस कारण किसी प्राणी के हित के लिए उस ग्रामीण की असत्य बात ही यहाँ सत्य हो गयी।

वैश्य लोग तो सत्य और अनृत से ही व्यापार चलाते हैं सत्यानृतं तु वाणिज्यम् —नीतिसार)। सत्य बोलना चाहिए, प्रिय वचन बोलना चाहिए या प्रिय हो इस ढंग से बोलना चाहिए । अप्रिय सत्य बोलना उचित नहीं है । मिथ्या प्रिय भी नहीं बोलना चाहिए । यही सनातन धर्म है (सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः --मनु ४।१३८) ।

मनुष्य की तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति । जाग्रत अवस्था में सभी इंद्रियों का ज्ञान रहता है । स्वप्नावस्था में बाहरी इंद्रियों का ज्ञान लुप्त रहता है; केवल अंतरिंद्रिय मन का ज्ञान रहता है अर्थात् स्वप्न देखते समय 'मैं अमुक हूँ'—ऐसा साधारण ज्ञान रहता है, 'मैं कहाँ हूँ, जाग्रत हूँ या निद्रित, इस समय दिन है या रात'—इस प्रकार का विशेष ज्ञान नहीं रहता । उसी अज्ञानाच्छन्न अवस्था में वह स्वप्न-राज्य की कल्पना करके सुख-दुःख का भोग करता है । किंतु सुषुप्ति अवस्था में मन भी स्व-कारण माया के अज्ञान में डूब जाता है। माया ब्रह्मस्वरूप की शक्ति मात्र है । उस अवस्था में जीव ब्रह्मरूप हो जाता है तथा ब्रह्मानंद की उपलब्धि करता है । इसी अवस्था को लक्ष्य करके उपनिषद के ऋषि कहते हैं—ये सारे मनुष्य (प्रजा) प्रतिदिन इस ब्रह्मलोक में जाते हैं, किंतु अज्ञान से आवृत रहने के कारण वे इसे नहीं जानते (इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढ़ाः—छांदोग्य ८।३।२)। यहाँ अनृत शब्द का अर्थ अज्ञान है। इस विषय में उदाहरण दिया गया है कि किसी क्षेत्र में सुवर्ण गाड़ा हुआ था। किंतु उस क्षेत्र का तत्त्व न जानने के कारण उसके ऊपर से आने जाने वाले उस सुवर्ण को नहीं पा सकते (यथापि हिरण्यनिधिं निहित-मक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चन्तो न विन्देयुः—छांदोग्य ८।३।२)।

अनृतवदनम् (न०) झूठ बोलने की क्रिया, असत्य भाषण ।

अनृतवादिन् (वि०) झूठ बोलने वाला, असत्यवादी ।

अनृताख्यानम् (न०) असत्य भाषण, झूठ बोलना ।

अनृतुः (पुं०) अनुपयुक्त ऋतु, अनुचित समय।

अनृतुकन्या (स्त्री०) वह कन्या जो रजस्वला न हुई हो।

अनृशंस (वि०) जो क्रूर या निर्दय न हो, नम्र, विनीत।

अनेक (वि०) जो एक न हो, एक से अधिक, बहुत, भिन्न, विभाजित।

अनेककाम (वि०) जिसे अनेक इच्छाएँ या कामनाएँ हों।

अनेककालम् (अव्य०) दीर्घकाल के लिए, बार बार।

अनेकचित्तः (पुं०) वह जिसका मन स्थिर न हो, चंचल चित्त वाला व्यक्ति।

अनेकचित्तविभ्रान्त (वि०) अनेक प्रकार के भ्रमयुक्त चित्तवाला। रज्जु में सर्प, मरुस्थल में जल, पिता, माता आदि गुरुजनों को शत्रु समझना आदि विपरीत ज्ञान को भ्रम कहते हैं। इस प्रकार के भ्रम अगणित हैं और उन भ्रमों के कारण जीव विभ्रांत होकर संसार में अनेक प्रकार के शोक-दुःखों में जर्जरित होता रहता है। ऐसा विभ्रांतचित्त जीव मोह रूप जाल में फँसकर विषय-भोग में अत्यंत आसक्त होता है और अनेक पाप-कार्य करने के फलस्वरूप नरक में गिरता है। अपने आप को श्रेष्ठ मानने-वाला व्यक्ति धन और मान के मद से युक्त होकर शास्त्रनिषिद्ध कार्य करता रहता है। ऐसे ईश्वर-विद्वेषी, पापाचारी, क्रूरकर्मा, नराधमों को बार-बार आसुरी योनियों में पतित होना पड़ता है (अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः। प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ। तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु—गीता १६।१६)।

अनेकज (वि०) जिसका अनेक जन्म हुआ हो।

अनेकजः (पुं०) पक्षी, चिड़िया, पखेरू।

अनेकत्र (अव्य०) अनेक स्थानों में।

अनेकदिव्याभरण (वि०) अनेक अलौकिक अलंकारों से युक्त। यह शब्द विश्वरूप भगवान का विशेषण है (अनेकवक्त्रनयन देखिए)। भगवान ने सारे जीवों का रूप धारण कर लिया है। इस कारण प्राणियों के समस्त अलंकार ही उनके आभरण हैं (दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्। अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्—गीता ११।९-१०)।

अनेकधा (क्रि० वि०) अनेक प्रकार से, भिन्न-भिन्न या विभिन्न रूप से, हर प्रकार से। मनुष्य का ज्ञान विभिन्न समय में, विभिन्न दिन, मास, वर्ष आदि में विभिन्न प्रकार से विकसित होने पर भी ज्ञान रूप में एक है। वह ज्ञान न उदय होता है और न अस्त। यह ज्ञान (संवित्) नित्य निरवच्छिन्न और स्वयंप्रकाश है (मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा। नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा — पञ्चदशी १।७)।

अनेकपः (पुं०) हाथी, अनेकों का रक्षक।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्र (वि०) अनेक भुजाओं, उदरों, मुखों और नेत्रों से युक्त। यह शब्द विश्वरूप भगवान का विशेषण है (अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्—गीता ११।१६)। भगवान ने सारे जीवजगतों का रूप धारण कर लिया है। इस कारण सभी जीवों की भुजाओं, उदरों, मुखों और नेत्रों से वह सम्पन्न हैं (अनेकवक्त्रनयन देखिए)।

अनेकभार्य (वि०) अनेक पत्नियों वाला।

अनेकरन्ध्र (वि०) अनेक छिद्रों वाला, अनेक दुःखों या दुर्बलताओं वाला।

अनेकरूपः पुं०) अनेक प्रकार या विविध प्रकार के रूपों वाला (यतोऽभक्तविघ्नास्तथाऽनेकरूपाः सदा तं गणेशं नमामो भजामः—गणेशाष्टक ६)।

अनेकलोचनः (पुं०) त्रिनेत्र शिव।

अनेकवक्त्रनयन (वि०) अगणित मुखों और नेत्रों से युक्त। यह शब्द विश्वरूप भगवान का विशेषण है। विश्व ही जिनका रूप है उनको ही विश्वरूप या विराट् पुरुष कहते हैं।

वेदांत के मत में ब्रह्म सर्वात्मक हैं, इसी कारण विश्वरूप, अनेकवक्त्रनयन आदि विशेषण उन्हीं में पूर्णतया युक्त हो सकते हैं। ब्रह्म में लौकिक दृष्टि से चार भाव प्रतीत होते हैं—जैसे शुद्ध, सच्चिदानंद, निर्विकार, निराकार, विमलब्रह्म भाव। इनमें सृष्टि नहीं है और न माया का आवेश ही है। इस भाव को तुरीय कहते हैं (सदेव सौम्य इदमग्रे आसीत् एकमेवाद्वितीयम्—छान्दोग्य ६।२।१। चैतन्ये विमले पूर्णे कस्मिन् देशेऽणुमात्रकम् अज्ञानम् उदितम्—शान्तिगीता ७।१५)। व्यापक तेज में जिस प्रकार दाहिका शक्ति लुप्त रहती है उसी प्रकार ब्रह्मभाव में

माया-शक्ति छिपी रहती है। सृष्टि के आरम्भ में उस माया-शक्ति का विकास हुआ और वह शक्ति सोचने लगी कि मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ, प्रजा रूप में उत्पन्न होऊँ (तदैक्षत एकोहम् बहु स्यां प्रजायेय–छांदोग्य ६।२।१–३)।

इस मायोपहित भाव को ईश्वर कहते हैं (मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः—पञ्चदशी १।१६)। ३. इसके अनंतर उस मायाशक्ति-युक्त व्यापक आत्मा अर्थात् ब्रह्म से आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पाँच सूक्ष्म भूतों का विकास हुआ। माया में सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। कारण के गुण कार्यवस्तु में आते हैं (कारणगुणाः कार्यगुणान्यारभन्ते—तर्कसंग्रह)। इस नियम से माया के तीनों गुण पाँचों भूतों में आ गये। उनके सात्त्विक अंशों से क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों, राजसिक अंशों से वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच भूतों के समष्टि सात्त्विक अंशों से अन्तःकरण और उनके समष्टि राजसिक अंशों से पाँच प्राणों का विकास हुआ। ये सब शक्तिरूप हैं। इनके स्वरूप को सूक्ष्म शरीर भी कहते हैं। इन अगणित सूक्ष्म शरीरों में उपहित ब्रह्म को हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा कहते हैं। ४. उन पाँच सूक्ष्म भूतों का सम्मिश्रण या पंचीकरण होता है। पंचीकरण में प्रत्येक भूत के अर्धांश में अन्य चार भूतों के एक-एक अष्टमांश मिल जाते हैं और इन्हें स्थूल पंचमहाभूत कहते हैं। इनसे ब्रह्मांड तथा जीवशरीरों का विकास होता है। इन अगणित ब्रह्मांडों, तथा जीवों में उपहित ब्रह्म-चैतन्य को विराट पुरुष या विश्वरूप कहते हैं। इनके मुख, नयन, कर्ण, हस्त, पद आदि हैं अर्थात् हमारी इन्द्रियों के द्वारा ही वह खाते, देखते, सुनते, पकड़ते, चलते हैं (दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्। अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्—गीता ११।६-१०)।

अनेकवचनम् (न०) व्याकरण में बहुवचन।

अनेकवर्ण (वि०) अनेक रंगों से युक्त, विविध वर्ण वाला। यह शब्द विश्वरूप भगवान का विशेषण है, नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्। दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो गीता—११।२४)।

वेदांत के मत में भगवान ने सारे जीव-जगतों का रूप धारण कर लिया है और इसी कारण वह विश्वरूप बन गये हैं। अनेकवक्त्रनयन देखिए।

सूर्य की किरणों में सात रंग हैं—शुक्ल, नील, पीत, कृष्ण, गुलाबी, बैगनी, हरा। किसी दूसरी वस्तु में रंग नहीं है। जो वस्तु सूर्य-रश्मि से सातों रंगों को ग्रहण कर एक रंग छोड़ देती है वह उसी रंग की प्रतीत होती है। जो वस्तु सातों रंगों को सोख लेती है वह काली और जो एक भी रंग ग्रहण नहीं करती वह शुक्ल सी प्रतीत होती है। भगवान में कोई रंग न होते हुए भी विश्वरूप धारण करने के कारण वे अनेक रंग-युक्त कहे जाते हैं।

अनेकशस् (अव्य०) कई बार, प्रायः, अनेक प्रकार से बहुत बड़ी संख्या में, बड़े परिमाण में।

अनेकाकिन् (वि०) जो अकेला न हो।

अनेकाद्भुतदर्शन (वि०) अनेक अद्भुत दृश्यों से युक्त। यह शब्द विश्वरूप भगवान का विशेषण है (दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्। अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्—गीता ११।६–१०)। भगवान् ने सारे जीव-जगतों का रूप धारण कर लिया है। इस कारण वह अनेक प्रकार के दृश्यों से युक्त हैं (अनेकवक्त्रनयन देखिए)।

अनेकानेक (वि०) बहुत से।

अनेकान्त (वि०) अनियमित, अनिश्चित, चंचल।

अनेकान्तवादः (पुं०) जैनमत के अनुसार अंतिम सत्यज्ञान। निर्वाणप्राप्ति के योग्य महात्माओं में ऐसा ज्ञान संभव है। प्रत्येक पदार्थ में अनेक प्रकार के धर्म (गुण) होते हैं। एक ओर से देखने के कारण साधारण मनुष्य को उसका एकांशिक तथा अपूर्ण ज्ञान ही होता है। तत्त्वज्ञ पुरुष प्रत्येक पदार्थ को अंत तक देख सकता है। पूर्णतया देखने के कारण इसे अनेकांतवाद कहा गया है। अहिंसा-धर्म इसी अनेकांतवाद पर ही आधारित है।

अनेकान्तवादी (पुं०) एक प्रकार के बौद्ध, नास्तिक।

अनेकापेक्षिन् वि०—अनेकों की अपेक्षा रखनेवाला, अनेकों पर भरोसा करनेवाला (अनेकापेक्षिणं मर्त्यं लक्ष्मीर्नाश्रयते क्वचित्)।

कथा प्रचलित है कि एक अरहर के खेत में एक चिड़िया ने घोंसला बनाया था, उसने अंडे दिये, बच्चे हुए। वे चहचहाने लगे। खेत का मालिक किसान अपनी पत्नी को लेकर खेत पर आया, उसने कहा—"खेत पक

गया है, कल पड़ोसियों को बुला लाऊँगा और एक ही दिन में सारे पौधे काट ले जाऊँगा।" शाम को चिड़िया के घोंसले पर आते ही चिंगने चहचहा कर माँ से कहने लगे—"माँ, खेत का मालिक आया था, वह कह गया कि कल पड़ोसियों को बुला लाकर सारा खेत काट ले जायगा। चलो, आज ही हम लोग यहाँ से उड़ जायँ। माँ ने कहा—"कल नहीं काट सकेगा।" दूसरे दिन किसान फिर आया और कहा—"पड़ोसी तो आज नहीं आये। कल मैं अपने संबंधियों को बुला लाऊँगा।" बच्चों ने सुन लिया। माँ के लौट आने पर उन्होंने कहा—"किसान आज भी आया था, वह अब अपने संबंधियों को बुला लाकर कल खेत काटेगा। माँ ने कहा—"कल भी नहीं काट सकेगा।" फिर तीसरे दिन किसान आया, उसने कहा—"जब कोई नहीं आया तो हम दोनों क़ल खेत अवश्य काटेंगे।" शाम को माँ के आने पर बच्चों ने आज की बात भी कही। तब उसने कहा—"अब कल जरूर काटेगा। चलो, अभी हम लोग उड़ कर चले जायँ।" दूसरों के भरोसे पर रहने से काम पूरा नहीं होता।

अनेकार्थ (वि०) अनेक अर्थों वाला (शब्द) जैसे, हरि शब्द के अर्थ विष्णु, सिंह, सुग्गा, साँप, मोर, गरुड़ के पुत्र का नाम, बंदर।

अनेकार्थध्वनिमञ्जरी (स्त्री०) शब्द संबंधी एक संस्कृत पुस्तक का नाम।

अनेकार्थसंग्रहः (पुं०) शब्द सम्बन्धी एक संस्कृत पुस्तक का नाम।

अनेकाल (वि०) अनेक अक्षरों वाला (शब्द)।

अनेकाश्रय (वि०), अनेकाश्रित (वि०) (वैशेषिक दर्शन के मतानुसार) अनेकों पर रहने वाला (जैसे सत्ता जाति द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों पर रहती है)।

अनेकीकरणम् (न०) एक में न मिलाना, विभक्त करना।

अनेकीभवत् (वि०) विभक्त, अलग अलग।

अनेकीय (वि०) अनेकों का, अनेक विभागों वाला।

अनेकोद्यतायुध (वि०) अनेक उद्यत आयुधों से युक्त अर्थात् असंख्य अस्त्र-शस्त्रों को धारण करने वाले। यह शब्द विश्वरूप भगवान का विशेषण है (दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्। अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् – गीता ११।९-१०)। भगवान ने सारे जीव-जगतों का रूप धारण कर लिया है। जीव अपनी रक्षा और खाद्य संग्रह करने के लिए मुख, हाथ, पैर आदि अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र धारण किये हुए हैं। वे सभी विश्वरूप में हैं (अनेकवक्त्रनयन देखिए)।

अनेजत् (वि०) न चलने वाला, अचल, स्थिर।

अनेड (वि०) मूर्ख, मूढ़, अज्ञानी।

अनेडमूक (वि०) जबानरहित, गूँगा, नेत्रविहीन, अंधा, दुष्ट, बेईमान।

अनेद्यः [वेद] (पुं०) अनिंदनीय, प्रशस्त (माध्यन्दिनस्य सवनस्य वृत्रहन्ननेध्य ऋ० सं० ६।३।१६।१)।

अनेनस् (वि०) पापरहित, कलंकरहित।

अनेमाः [वेद] (वि०) प्रशंसनीय, दुर्गम, ले जाना असाध्य।

अनेवं (अव्य०) नहीं तो।

अनेहस् (पुं०) समय, काल।

अनैकाग्र्यम् (न०) एकाग्रता का अभाव। किसी विषय को समझने के लिए एकाग्रता की आवश्यकता है। ध्यान, धारण, समाधि का कारण एकाग्रता ही है। आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारियों में एकाग्रता अत्यंत अधिक रहती है। एकाग्र चित्त हुए विना आत्मतत्त्व का परिज्ञान् कदापि संभव नहीं है (अनेकाग्र्यात् संशयाद् वा रूढ्यभावोऽस्य ते वद—पञ्चदशी २।७२)।

अनैकान्त (वि०) अनिश्चित, अनियमित, चंचल, परिवर्तनीय, नैमित्तिक।

अनैकान्तिक (वि०) अस्थिर, चंचल।

अनैकान्तिकः (पुं०) सव्यभिचारी हेत्वाभास। न्यायदर्शन के अनुमान प्रमाण में हेतु ही प्रधान है; जैसे—धूम देखकर वह्नि जान लेना। यहाँ धूम हेतु है। वाष्प में धूम का भ्रम होने पर वह्नि का अनुमान ठीक न होगा। वहाँ वाष्प हेत्वाभास है (हेतुवत् आभासते प्रतीयते इति हेत्वाभासः)। हेत्वाभास पाँच प्रकार के हैं—

१. अनैकांतिक, जो हेतु और साध्य (वह्नि आदि) से रहित स्थान में भी विद्यमान हो; जैसे—पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्—यहाँ प्रमेयत्व हेत्वाभास है, क्योंकि वह वह्निरहित ह्रद में भी है। यह साधारण अनैकांतिक का उदाहरण है (साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणोऽनैकान्तिकः—

तर्क० ५२)। और भी दो प्रकार के अनैकांतिक हैं—(क) असाधारण अनैकांतिक वह है जो हेतु सारे स-पक्ष (जिस पर साध्य प्रमाणित करना हो वह पक्ष है—सिसाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न विद्यते, स पक्षः—भाषापरि० ५१) और वि-पक्ष—कहीं भी न रह कर केवल अपने ही पक्ष में रहे ; जैसे—शब्दोऽनित्यः शब्दत्वात्—यहाँ शब्दत्व हेतु किसी भी अन्य नित्यानित्य वस्तुओं में न रहकर केवल अपने ही पक्ष (शब्द) में है; अतः यह भी हेत्वाभास है। (ख) अन्वय दृष्टांत या व्यतिरेक दृष्टांत रहित हेतु अनुपसंहारी अनैकांतिक है। जैसे—सर्वम् अनित्यं प्रमेयत्वात्—यहाँ सभी प्रमेय होने के कारण दृष्टांत नहीं है (दृष्टांतरहित अनुमान असिद्ध है)।

२. साध्याभाव के द्वारा व्याप्त हेतु विरुद्ध है (साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः—तर्क० ५३); जैसे—शब्दो नित्यः कृतकत्वात्—यहाँ कृतकत्व या जन्यत्व नित्यत्व के अभाव रूप अनित्यत्व के द्वारा व्याप्त है।

३. जिस हेतु के साथ साध्य का अभावप्रतिपादक दूसरा हेतु भी रहे वह सत्प्रतिपक्ष है; जैसे—शब्दो नित्यः श्रावणत्वात् शब्दवत्—शब्दोऽनित्यः कार्यत्वात् घटवत्। यहाँ श्रावणत्वात् हेतु सत्प्रतिपक्ष है क्योंकि उससे शब्द का नित्यत्व प्रमाणित करना था, परंतु साथ-साथ कार्यत्वात् हेतु भी आ गया, जिससे उस साध्य के विरुद्ध शब्द का अनित्यत्व प्रमाणित हो गया।

४. असिद्ध तीन प्रकार के हैं—(क) अनुमान करने योग्य आश्रय का ही न होना आश्रयासिद्ध है, जैसे—गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्—यहाँ गगनारविन्द आश्रय है, वह है ही नहीं। (ख) पक्ष में हेतु का न रहना स्वरूपासिद्ध है; जैसे—शब्दोनित्यः चाक्षुषत्वात् रूपवत्—यहाँ पक्ष (शब्द) में चाक्षुषत्व है ही नहीं, क्योंकि शब्द श्रावण है। (ग) उपाधियुक्त हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है। जो साध्य को व्याप्त कर साधन को पूर्णतया व्याप्त न करे वह उपाधि है; जैसे पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्—यहाँ गीली लकड़ी का संयोग उपाधि है, क्योंकि, जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ गीली लकड़ी का संयोग है (यह साध्याव्यापकत्व है) और जहाँ-जहाँ वह्नि है वहाँ-वहाँ गीली लकड़ी का संयोग नहीं है, तपे हुए लोहे के गोले में वह प्रत्यक्ष है (यह साधनाव्यापकत्व है)।

५. जिसका साध्याभाव प्रमाणांतर से निश्चित है वह बाधित है। जैसे—वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्—यहाँ अनुष्णत्व साध्य है, उसका अभाव उष्णत्व पक्ष (वह्नि) में स्पर्श प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात है अतः यह हेतु बाधित है। ये पाँच हेत्वाभास के लक्षण हैं।

अनैक्यम् (न०) एकता का अभाव, दुर्व्यवस्था, विरोध, मतानैक्य; अराजकता।

अनैच्छिक (वि०) अपने आप होने वाला, जो इच्छा के अधीन न हो, स्वाभाविक।

अनैतिह्यम् (न०) परंपरागत प्रथा या पद्धति के विरुद्ध।

अनैपुण्यम् (न०) अनिपुणता, अपटुता, अनाड़ीपन।

अनैश्वर्यम् (न०) ऐश्वर्य का अभाव, दारिद्र्य, दुर्बलता।

अनो (अव्य०) नहीं, न, मत।

अनोकशायिन् (पुं०) घर में न रहनेवाला व्यक्ति, भिक्षुक, भिखारी।

अनोकहः (पुं०) वृक्ष, पेड़, अपना घर या स्थान न छोड़ने वाला।

अनौचित्यम् (न०) अनुपयुक्तता, अयोग्यता।

अनौजस्यम् (न०) साहस या बल का अभाव।

अनौद्धत्यम् (न०) विनम्रता, शांति, शील।

अनौपचारिक (वि०) अनुष्ठान या आडंबर रहित।

अनौपम्य (वि०) अनुपम, बेजोड़।

अनौरसः (पुं०) वह जो अपना पुत्र न हो, गोद लिया हुआ लड़का, दत्तक सन्तान।

अन्त् (पर०) (अन्तति) बाँधना।

अन्तः (पुं०) समाप्ति, सीमा (यस्यान्तं न विदुः सुरासुराणाः); किनारा, वस्त्रका आँचल, पड़ोस, निकटता, मृत्यु, नाश, व्याकरण में किसी शब्द का अंतिम अक्षर, समासांत शब्द का अंतिम शब्द, पिछला भाग, अवस्था, प्रकृति, सारांश, स्वभाव, अन्तःकरण।

आनन्दमय आत्मा का सदा अनुभव करने वाले आत्मज्ञ व्यक्ति हाथ, पैर, मुख आदि से सांसारिक कार्य करते रहने पर भी अन्तर में उसी आनन्द का स्मरण करते हैं। यह कैसे सम्भव है उसे दिखाने के लिए एक उदाहरण दिया गया है कि, पराये पुरुष का संसर्ग करने वाली स्त्री घर के सारे कामकाज करते हुए भी अंतर में उसी पर-

संग-सुख का स्वाद लेती रहती है (परसङ्गव्यसनी व्यग्रापि गृहकर्मणि । तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम्–पंच.)।

सृष्टि के सभी पदार्थ अंतयुक्त या सीमावद्ध हैं। अंत या सीमा स्थान, काल और वस्तु से होती है। एक घट जिस स्थान में है उससे भिन्न सभी स्थानों से वह सीमाबद्ध है। जीव जन्म और मृत्यु के कालों से सीमाबद्ध है,– इसे सभी जानते हैं। किन्तु पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र आदि का जन्म या नाश किसी ने नहीं देखा, तिस पर भी अनुमान प्रमाण से उनका जन्म और नाश प्रमाणित किये जा सकते हैं (अनुमासम् देखिए)। एक मनुष्य अपने से भिन्न सभी मनुष्यों तथा पदार्थों से सीमाबद्ध अर्थात् अंतयुक्त है।

केवल असीम, अनंत तथा सर्वात्मक ब्रह्म ही अंतरहित और नित्य हैं।

अन्तःकरणचतुष्टयः (पुं०) मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। इनके विषय यथाक्रम संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण हैं (मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्। संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे — वेदांतसंज्ञावली १२३)। अन्तःकरणम् देखिए।

अन्तःकरणम् (न०) अंतरिंद्रिय, आभ्यंतरिक इन्द्रिय, जीवों में जिस शक्ति के द्वारा संकल्प-विकल्प, अच्छे-बुरे का विचार, स्मरण आदि कार्य होते हैं (सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः शकुन्तला १।२२)।

अन्तःकरण में चार वृत्तियाँ या कार्य हैं संशयात्मक मन, निश्चयात्मिका बुद्धि, अभिमानात्मक अहंकार तथा स्मरणात्मक चित्त। वेदांतमतानुसार अपंचीकृत पाँच महाभूतों के समष्टि-सात्त्विकांशों से अन्तःकरण उत्पन्न होता है (सत्त्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम्। तैरन्तःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद्द्विधा। मनो विमर्शरूपं स्याद् बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका—चित्ताहंकारयोस्तु मनोबुद्ध्योरेवान्तर्भावः—पंचदशी १।१९-२०)। महाभूतसमष्टि से उत्पन्न होने के कारण श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ—इन दसों बहिरिन्द्रियों के सारे कार्य मन अकेला कर सकता है। जागरण काल की अलस कल्पना और स्वप्न-कल्पना में यह प्रत्यक्ष होता है। इसके अतिरिक्त अन्तःकरण सुख-दुःखादि का अनुभव भी कर सकता है। यह अन्तःकरण अणुवत् सूक्ष्म है ; एक ही समय दो इन्द्रियों के साथ युक्त होकर विषयों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता (दीर्घशष्कुलीभक्षणन्यायः, शतपत्रवेधन्यायः आदि द्वारा दर्शनशास्त्रों में यह बात प्रमाणित है)। इसके सहयोग के बिना कोई भी बहिरिन्द्रिय काम नहीं कर सकती। इस अन्तःकरण को विभिन्न शास्त्रों में केवल मन, बुद्धि या चित्त नाम से भी वर्णित किया गया है। यही मनुष्य के बंधन और मुक्ति का कारण है (मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्–योगवासिष्ठ, वैराग्य०)।

अन्तःकल्पः (पुं०) वर्ष की निश्चित संख्या।

अन्तःकुटिल (वि०) कपटी, छली, धोखेबाज।

अन्तःक्रिमिः (पुं०) शरीर में कीड़ों द्वारा उत्पन्न होने वाला एक रोग।

अन्तःक्षोणम् (न०) चमड़ा खोदकर औषध डालना, सूत्रिकामरण, इन्जेक्शन।

अन्तःपटम् (न०) विवाह के समय वर-वधू को एक में बाँधने का कपड़ा।

अन्तःपशु (अव्य०) शाम से लेकर सुबह तक (जब पशु पशुशाला में बन्द रहते हैं)।

अन्तःपालः (पुं०) वह जो अन्तःपुर की रक्षा करता हो, अन्तःपुर का रक्षक।

अन्तःपुरजनः (पुं०) अन्दर-महल के लोग तथा स्त्रियाँ।

अन्तःपुरम् (न०) राजाओं का महल, राजप्रासाद, राजभवन, अन्तःपुर में रहने वाली स्त्रियाँ।

प्राचीन काल में हिन्दू राजाओं का रनिवास अन्तःपुर कहलाता था। अन्तःपुर के अन्य नाम भी थे, जैसे शुद्धांत और अवरोध। शुद्धांत शब्द से यह पता चलता है कि राजप्रासाद का वह भाग जिसमें रानियाँ रहती थीं वड़ा शुद्ध माना जाता था। दाम्पत्य वातावरण को आचरण की दृष्टि से नितांत शुद्ध रखने की परंपरा ने ही अन्तःपुर को यह विशिष्ट संज्ञा दी होगी। उसके शुद्धांत नाम को सार्थक करने के लिए ही महल के उस भाग को बाहरी लोगों के प्रवेश से मुक्त रखते थे। उस भाग के अवरुद्ध होने के

कारण अन्तःपुर का यह तीसरा नाम अवरोध पड़ा था। अवरोध के अनेक रक्षक होते थे, जिन्हें प्रतिहारी या प्रतिहार रक्षक कहते थे। नाटकों में राजा के अवरोध का अधिकारी प्रायः वृद्ध ही हुआ करता था जिससे अन्तःपुर शुद्धांत बना रहे और उसकी पवित्रता में कोई विकार न आने पावे।

संस्कृत नाटकों से प्रकट होता है कि राजप्रासाद के अन्तःपुर वाले भाग में एक नजर बाग भी होता था जिसे 'प्रमोद-वन' कहते थे, जहाँ राजा अपनी अनेक पत्नियों के साथ विहार करता था। संगीतशाला, चित्रशाला आदि भी वहाँ होती थीं जहाँ राजकुल की नारियाँ ललितकलाएँ सीखती थीं। वहीं उनके लिए क्रीड़ास्थल भी होता था। संस्कृत नाटकों में वर्णित अधिकता प्रणयषडयन्त्र में ही चलते थे।

अन्तःप्रकृतिः (स्त्री०) हृदय, मन, आत्मा।

अन्तःप्रज्ञ (वि०) स्वयं को जानने वाला, आत्मज्ञानी।

अन्तःप्रतिष्ठित (वि०) भीतर रहने या निवास करने वाला।

अन्तःप्रबोधरहित वि०) अन्तःकरण के वृत्तिज्ञान से शून्य। अन्तःकरण, देह, इन्द्रिय तथा समस्त संसार ही मायाकल्पित है। कल्पित वस्तुओं से कल्पनाकारी पृथक् ही होता है। जिस आत्मा के आश्रय से माया इस संसार-प्रपंच की रचना करती है वह अन्तःकरण वृत्ति रूप प्रतिक्षण परिणामी ज्ञान से रहित है—अद्वैतवादः देखिए (अन्तःप्रबोधरहितं न बधिरो न मूकः—अवधूत ३।२८)।

अन्तःशरीरम् (न०) शरीर के भीतर का मन, सूक्ष्म शरीर, स्थूल शरीर के भीतर का भाग (सुखतः क्रियते रामाभोगः पश्चाद्धन्त शरीरे रोगः। यद्यपि लोके मरणं शरणं तदपि न मुञ्चति पापाचरणम्—मोहमुद्गर १७ सुख के लिए लोग स्त्री-संभोग करते हैं। फल स्वरूप शरीर के भीतर रोग उत्पन्न होता है। यद्यपि मृत्यु ही जीव की अन्तिम गति है, तथापि मनुष्य अज्ञान के कारण पापाचरण से विरत नहीं होता। "जितना भोग उतना रोग" (भोगे रोगभयम्)। संयम ही सुख और स्वास्थ्य का निदान है, संयत मनुष्य ही स्वस्थ शरीर में पूर्ण शत वर्ष वायु प्राप्त कर सकता है।

अन्तःशरीरस्थ (वि०) शरीर में स्थित। शरीर शब्द से स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर समझे जाते हैं। इन तीनों शरीरों में स्थित या व्याप्त एक आत्मा ही है। बड़ी वस्तु में छोटी वस्तु स्थित होती है। यहाँ आत्मा व्यापक तथा शरीर व्याप्य हैं, अतः शरीरों को ही आत्मा में स्थित होना चाहिए। परन्तु यहाँ लौकिक व्याप्य-व्यापक भाव नहीं है। आत्मा और शरीर भिन्न नहीं है, यह संसार ब्रह्मशक्ति माया के द्वारा कल्पित है। जैसे स्वप्नकल्पित जीव-जगत कल्पनाकारी के मन से पृथक नहीं है उसी प्रकार व्यावहारिक कल्पित वस्तु भी कल्पनाकारी से भिन्न नहीं है। आत्मा चेतन है, उससे कल्पित सारा संसार भी चेतन ही है (सर्वं खल्विदं ब्रह्म—छान्दोग्य ३।१४।१), ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्राह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना—गीता ४।२४); यथैव मृन्मयः कुम्भः तद्वद् देहोऽपि चिन्मयः। आत्मानात्मविवेकोऽयं मुधैव क्रियते बुधैः - अपरोक्षनुभूति ६)। चेतन के अतिरिक्त अचेतन वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है। त्रिकाल में एक अद्वितीय आत्मा ही विराजमान है (अद्वैतवादः देखिए)। अतः परमार्थतः शरीर में आत्मा स्थित रहेगा या शरीर आत्मा में—ऐसा प्रश्न ही नहीं उठता।

व्यावहारिक रूप से न्याय और वैशेषिक दर्शनों में द्रव्य, गुण और कर्म पर सत्ता जाति मानी गयी है। अधिक स्थान व्याप्त कर रहने से सत्ता व्यापक और अल्प स्थान में रहने के कारण द्रव्य, गुण, कर्म व्याप्य हैं। व्यापक पर ही व्याप्यों की स्थिति होनी चाहिए, परन्तु उन लोगों ने व्याप्यों पर ही व्यापक को बिठाया है। इसी व्यावहारिक भाव का अनुकरण कर आत्मा को अन्तःशरीरस्थः कहा गया है (कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः। मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यसुरनिश्चयान्—गीता १७।६)।

अन्तःशुद्धिः (स्त्री०) अन्तःकरण की पवित्रता। साधारण मनुष्यों के मन में प्रायः काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद (अहंकार), मात्सर्य (ईर्षा आदि अपवित्र भाव भरे रहते हैं, जिससे उन्हें जीवन भर दुःख भोगना पड़ता है। विचारवान मनुष्य कदाचित् वैसे अपवित्र भाव मन में

उठते ही सद्विचार के द्वारा उन्हें दबा लेते हैं। इससे उनका चेहरा आनन्द से खिल उठता है और ऐसे मनुष्यों का जीवन सुखी रहता है (अपुण्यवत् देखिए)।

अन्तःसंज्ञः (वि०) भीतर से चेतना-मुक्त वृक्ष, लता आदि (पादपाः अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःख-समन्विताः—महाभारत शांतिपर्व)।

अन्तःसत्त्वा (स्त्री०) गर्भवती स्त्री, गर्भिणी स्त्री, गाभिन मादा पशु। स्त्री की यह अवस्था २८० दिनों की मानी जाती है। गर्भावस्था में परिश्रम करने वाली स्त्री का संतान-प्रसव अल्प कष्ट से होता है। ऐशी और आलसी स्त्री का प्रसव बहुत कष्ट से होता है।

अन्तःसारशून्य (वि०) जो मनुष्य या वृक्ष आदि आंतरिक सार-रहित हैं। स्थूल शरीर के भीतर शुक्र-धातु ही आंतरिक सार तत्त्व है। जो लोग इस जीवनदायक शुक्र-धातु का अमित व्यय करके शरीर को खोखला बना लेते हैं, उन्हीं को अन्तःसारशून्य कहा जाता है। वाक्य का सार है सत्यभाषण। प्राणी के हित के लिए कथित वाक्य ही सत्य है यथार्थ घटना का अभिभाषण सत्य नहीं है (सत्यं भूतहितं प्रोक्तं, न यथार्थाभिभाषणम् नीतिसंदर्भ १५३)। प्राणी का हितजनक वाक्य मिथ्या होने पर भी सत्य हो जाता है, एक ग्रामीण अपने घर के सामने बैठा था, इतने में उसने देखा कि एक भला आदमी दौड़ते हुए आकर बहुत दूर निकल गया। थोड़ी देर के बाद एक डाकू सा आदमी डंडा लिये उस मनुष्य के पास आकर बोला—"तुमने एक आदमी को इधर से जाते हुए देखा है?" उस मनुष्य ने सुनकर कहा —"हाँ, देखा है। वह मेरे घर के पीछे के जंगल के भीतर से खेतों में घुस गया है।" सुनते ही वह डाकू खेतों में जाकर उस व्यक्ति को खोजने लगा। तब तक वह मनुष्य सुरक्षित स्थान में पहुँच गया होगा। यदि वह ग्रामीण सच कहता तो वह मनुष्य मारा जाता। इस कारण एक प्राणी के हित के लिए उस मनुष्य की झूठी बात भी सत्य हो गयी।

अपढ़ मनुष्य भी अन्तःसारशून्य हैं, क्योंकि उच्च विचार, कोमल मनोवृत्ति, उदारता आदि उच्च गुणों से उनका अन्तर शून्य है। एरंड (रेंडी), बाँस, सरपत आदि पेड़-पौधे भी अन्तःसार-शून्य हैं क्योंकि उनका भीतरी भाग खोखला है।

गुब्बारे, बुलबुले आदि भी अन्तःसार-शून्य हैं क्योंकि उनके भीतर केवल वायु ही है।

अन्तःसुख (वि०) अन्तर में सुखानुभव करने वाला। सभी सुख अन्तर में ही अनुभूत होते हैं, क्योंकि सुख का स्थान ही अन्तःकरण है। इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण करने से यदि वे अनुकूल हों तो उनसे जो सुख होता है उसे बाहरी विषय-सुख कहते हैं (अनुकूलवेदनीयम् सुखम्—'सुखम्' देखिये)।

विषयों से सम्पर्क छिन्न करके इन्द्रियों और मन को अन्तर्मुखी रखने से अन्तःकरण में सच्चिदानन्द आत्मा का जो आनन्द-प्रतिबिंब पड़ता है, और जिससे अन्तःकरण सुखमय हो जाता है। वही अंतःसुख है (विषयप्राप्तौ सत्यामन्तर्मुखे मनसि आनन्दरूपस्यात्मनः प्रतिबिम्बनात् सुखमनुभूयते—वेदान्त-परिभाषा १८)। वैषयिक सुख क्षण-स्थायी है। आज जिस विषय से सुख मिल रहा है कालांतर में वह दुःख का कारण बन सकता है। पुत्र प्रिय है, उससे सुख मिलता है, परंतु यदि वह घोर कुकर्म करे तो पिता को उससे महान् दुःख होता है। कभी-कभी तो वह दुःख असहनीय होने के कारण पिता उसे घर से ही निकाल देता है; कदाचित् उसकी मृत्यु भी चाहता है।

परंतु अंतःसुख नित्य निरवच्छिन्न है, क्योंकि आत्मा सदा आनंद रूप में ही सर्वत्र विराजमान है। जब तक चित्त को अंतर्मुखी रखा जाता है, तब तक आत्मानंद का अनुभव होता रहेगा। इस प्रकार अंतःसुख का निरंतर अनुभव करने वाले योगी ब्रह्मरूप हो जाते हैं (योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः। स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति—गीता ५।२४)।

अन्तःस्राविन् (वि०, अतःस्रावी, जिस अंग का स्राव भीतर ही भीतर बहता है, जिस ग्रन्थि का स्राव बाहर नहीं निकलता।

अन्तःस्वेदः (पुं०) हाथी।

अन्तक (वि०) नाश करने वाला, नाशक, मरणशील।

अन्तकः (पुं०) मृत्यु, नाश, यमराज।

अन्तकर, अन्तकारिन् (वि०) नाशक, मरणशील।

अन्तकर्मनम् (न०) मृत्यु, मौत।

अन्तकालः (पुं०) मृत्यु का समय, मृत्यु (अन्तकाले च मामेवं स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स यद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः—गीता ८।५)।

अन्तग (वि०) अंत तक पहुँचा हुआ, भलीभाँति परिचित।

अन्तगामिन् (वि०) अंत तक जाने वाला, नाशवान्।

अन्तज (वि०) आखिर या अंत में उत्पन्न।

अन्ततस् (अव्य०) अंत से, अंत में, बीच में।

अन्तदीपकम् (न०) एक अलंकार।

अन्तपालः (पुं०) द्वारपाल, द्वार-प्रहरी, आगे का सैन्य-दल।

अंतपाल नामक कर्मचारियों का पता हमें कौटिलीय अर्थशास्त्र से चलता है। ये सीमांत के रक्षक होते थे, इनका वेतन कुमार, पौर, व्यवहारिक, मंत्री तथा राष्ट्रपाल के बराबर होता था। ये ही अशोक के समय में अंतमहापात्र कहलाने लगे। गुप्तकाल में अंतपाल गोप्ता कहलाते थे। वीरसेन तथा एक अन्य अंतपाल का उल्लेख मालविकाग्निमित्र में हुआ है। वीरसेन नर्वदा के किनारे स्थित अंतपाल दुर्ग का अधिपति था। अंतपालों का कार्य बड़े महत्त्व का होता था। अंतपाल शब्द साधारणतया सीमांत प्रदेश के शासक या गवर्नर को निर्दिष्ट करता है। यह शासक सैनिक, असैनिक दोनों ही प्रकार का होता था।

अन्तभाव (वि०) अंत में होने वाला।

अन्तमान [वेद] (वि०) निकटतम, अत्यंत सन्निकट (शिक्षा वस्वो अन्तमस्य ऋ०—सं० १।२।२२।५)।

अन्तर (वि०) अंदर, समीप, समान, भिन्न। (क्रि०वि०) मध्य में, अंदर, बीचोबीच।

अन्तर में जिसकी कामना है, इन्द्रियाँ संयत नहीं हैं तथा जो सत्य-रहित है उसका गेरुआ वस्त्र केवल विडम्बना मात्र है (अनिक्कसावो कासावं यो वत्थं परिदेस्सति अपेतो दमसच्चेन न सो कासावमरहति—धम्मपद यमकवग्गो ६)।

शरीर की अपेक्षा अंतर की शुद्धि अधिक महत्व रखती है। शरीर में मैल लगने से जल, साबुन आदि से उसे शुद्ध कर लिया जा सकता है, किन्तु मन में कुवासना व्याप्त हो जाय तो उसे शुद्ध करना बहुत ही कठिन काम है। शिष्ट परिवार का एक बालक निम्न श्रेणी के अपढ़ लोगों की टोली में चला जाय और वहाँ के निवासियों की कोई भद्दी गाली का शब्द उसके कान में पड़ जाय तो उसका प्रभाव उस बालक के मन में अमिट हो जाता है। किसी से झगड़ा हो जाय तो उसके कड़े और गन्दे शब्दों का असर बहुत ही बुरा होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आहि से मन विक्षिप्त हो जाय तो मनुष्य का जीवन ही व्यर्थ हो जाता है।

अन्तरगड्ड (वि०) अलाभकर, अनुपयोगी।

अन्तरगिरि (अव्य०) पहाड़ों में।

अन्तरगुडवलयः (पुं०) मलद्वार आदि छिद्रों को खोलने और वंद करने वाली गोलाकार पेशी।

अन्तरगृहम्, अन्तरगेहम् (न०) घर के भीतर का कमरा।

अन्तरग्निः (पुं०) जठराग्नि, पेट के अंदर की वह अग्नि जिससे भोजन का परिपाक होता है।

अन्तरघणम् (न०) घर के सामने का खुला हुआ स्थान।

अन्तरङ्ग (वि०) अंदर का, निकटवर्ती, संबंधयुक्त।

अन्तरङ्गम् (न०) हृदय, मन, आत्मा, घनिष्ठ मित्रता, विश्वसनीय व्यक्ति।

अन्तरज्ञ (वि०) भीतर का हाल जानने वाला, दूरदर्शी, परिणामदर्शी।

अन्तरणम् (न०) हस्तांतरण, दूसरे के हाथ में प्रदान, स्थानांतरण।

अन्तरपुरुषः (पुं०) जीवात्मा, आत्मा।

अन्तरप्रभवः (पुं०) वर्णसंकर जातियों में से एक।

अन्तरम् (न०) अंतःकरण, मन, चित्त, आत्मा, परमात्मा, कालसंधि, अवकाश, कमरा, द्वार, अवधि, अवसर, फर्क, गणित में भिन्नता, शेष, विशेषता, प्रकार, दुर्बलता, विफलता, दोष, त्रुटि, दायित्व, स्वीकृति, श्रेष्ठता, अभिप्राय, उद्देश्य, वस्त्र, एक के स्थान पर दूसरे के स्थापन की क्रिया।

अन्तरमात्यकोपः (पुं०) राजा के निकट वाले प्रधानमंत्री आदि से उत्थित असंतोष या क्रोध।

अन्तरंयः (पुं०) बाधा, रुकावट, अड़चन।

अन्तरराष्ट्रीय (वि०) विभिन्न राष्ट्रों से संवंधयुक्त।

अन्तरस्थ, अन्तरस्थित (वि०) बीच में स्थित, भीतर रहने वाला।

अन्तरा (अव्य०) बीच में, साथ में, विना, कुछ समय के लिए।

अन्तराकाशः (पुं०) दहराकाश, व्रह्म जो हृदय में वास करता है, हृदयाकाश।

अन्तराकूतम् (न०) गुप्त विचार, मन में छिपा हुआ विचार या भाव।

अन्तरात्मदृक् (वि०) समस्त जीवों के अन्तरात्मा का दर्शन करने वाला (न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिल-देहिनाम् अन्तरात्मदृक्—भागवत)।

अन्तरात्मन् (पुं०) अंतरस्थ आत्मा, जीव, मन, आभ्यंतरिक स्वरूप। इस शरीर में पाँच कोश हैं—१. अन्नमय कोश, स्थूल शरीर, पितृमातृभुक्त अन्न से उत्पन्न तथा अन्न-भक्षण से वृद्धि प्राप्त होने के कारण यह स्थूल शरीर अन्न-मय तथा कोश (म्यान) की तरह आत्मा का आवरक होने के कारण यह कोश कहलाता है। २. प्राणमय कोश, इसमें पाँच प्राण और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। शरीर के भीतर आत्मा का यह दूसरा आवरण है। ३. मनोमय कोश, इसमें मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। यह आत्मा का तीसरा आवरण है। ४. विज्ञानमयकोश, इसमें बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, यह आत्मा का चौथा आवरण है। ५. आनंदमय कोश, यह व्यष्टि माया या अज्ञान मात्र है। इसमें ज्ञानाभाव अर्थात् संसार-प्रपंच की विस्मृति है। अतिसूक्ष्म अज्ञान-वृत्तियों के द्वारा यह आनन्दमय में सुषुप्तिकाल आत्मा के आनंद का अनुभव करता रहता है, यह आत्मा का पाँचवाँ आवरण है। ये कोश स्थूल से क्रमश· सूक्ष्म की ओर जाकर परमसूक्ष्म आत्मा तक पहुँचते हैं। इसी कारण अंतरात्मा शब्द कहा गया है।

तीनों शरीरों तथा पाँचों कोषों के भीतर आत्मा गुप्त रहता है, इस कारण भी अंतरात्मा शब्द का व्यवहार होता है।

यथार्थ में वेदांत की दृष्टि से आत्मा सर्वात्मक है। इसमें द्वैत का नाम तक नहीं है तो अंतर वाहर का प्रश्न ही नहीं उठता (अद्वैतवादः देखिए)।

कहीं अन्तरात्मा शब्द से मन का भी ग्रहण किया गया है (अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः)। इस अन्तरात्मा मन को आत्मा में संलग्न करके जो योगी श्रद्धापूर्वक ध्यान करते हैं, वही श्रेष्ठतम पुरुष हैं (योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्त-रात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः – गीता ६।४७)।

कठोपनिषद के ऋषि कहते हैं कि, स्वयंभू ब्रह्मा इंद्रियों को बहुर्मुखी बनाकर उनकी हिंसा की है अर्थात् उनका अनिष्ट-साधन किया है, इस कारण वे वाहरी विषयों को ही देखती, सुनती तथा अनुभव करती हैं; अंतरात्मा को नहीं जान सकतीं। किंतु कदाचित् कोई धीर पुरुष चक्षु आदि इन्द्रियों को भीतर की ओर लौटाकर परम शांति रूप मुक्ति पाने की इच्छा से आत्मध्यान करने लग जाय तो वह अंतरात्मा को जान सकता है (पराञ्चि खानि व्यतृ-णत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वम् इच्छन्– २।१।१)।

अन्तराभवदेहः (पुं०) अन्तराभवसत्वम् (न०) जीव का वह यातना-शरीर जो मृत्यु और पुनर्जन्म के बीच मिलता है।

अन्तराराम (वि०) मन में होने वाला आत्मानंद का बोध, अन्तरात्मा के आनन्द में मग्न।

अन्तरालम् (न०) मध्य, बीच।

अन्तरावेदिः (पुं०), अन्तरावेदी (स्त्री०) दालान, घर का चौतरा, द्वारमंडप, एक विशेष प्रकार की दीवाल।

अन्तराशृङ्गम् (अव्य०) सींगों के बीच में।

अन्तरिक्षकिरणः (पुं०) ये किरणें हमारे सौरमंडल के वाहर के महान ज्योतिष्क से आती हैं। सूर्य की किरणों से ये बहुत ही सूक्ष्म, इनका असर हमारे सौर मंडल के जीवों पर बहुत सूक्ष्म रूप से पड़ता है। यह देखकर आधुनिक वैज्ञानिकों ने इनका नाम कास्मिक रेज रखा है।

अंतरिक्ष किरणों के प्राथमिक कण आवेशयुक्त कण होते हैं जो कई हजार मील तक आकाश में फैले हुए पृथ्वी के चुम्बकत्व-क्षेत्र से प्रभावित हुए हैं। इन कणों की जितनी कम ऊर्जा होती है उतना ही अधिक उनके पथ चाप के रूप में झुक जाते हैं। अंतरिक्ष किरणों की तीव्रता भूमध्य रेखा पर सबसे कम है और वे ध्रुवों की ओर

बढ़ती जाती हैं। समुद्रतल की अपेक्षा अक्षांश प्रभाव ऊँचाई पर बहुत अधिक होता है।

जैसे ही अंतरिक्ष किरणों के कण पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश करते हैं वैसे ही हवा की नाभियों के साथ उनकी पारस्परिक क्रिया होती है, जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के मूल कण उत्पन्न हो जाते हैं। जिनमें से कुछ कण ऐसे होते हैं जो अन्य किसी रीति से प्रकृति में उत्पन्न नहीं होते। ये कण रेडियमधर्मी होते हैं।

अन्तरिक्षः (पुं॰) तेरहवें व्यास का नाम। वैवस्वत मन्वंतर के द्वापर युग में जब इन्होंने वेद का विभाग किया तभी से ये व्यास के नाम से प्रसिद्ध हुए। इस मन्वंतर में २८ व्यासों ने वेद का विभाग किया था। जिनके नाम ये हैं—स्वयंभू, प्रजापति, उशना, वृहस्पति, सविता, मृत्यु, इंद्र, वसिष्ठ, सारस्वत, त्रिधामा, त्रिवृबा, भरद्वाज, अंतरीक्ष, वप्र, एय्यावरुण, धनंजय, कृतंजय, ऋण, गोतम, उत्तम, वेन (वाजश्रया), तृणविंदु, रीक्ष, वाल्मीकि, शक्तृ, पराशर, जरत्कारु, कृष्णद्वैपायन।

अन्तरिक्षगः (पुं॰), अन्तरिक्षचरः (पुं॰) पक्षी, चिड़िया, वायुयान, विमान।

अन्तरिक्षजलम् (न॰) वर्षा का जल, ओस, पाला, हिम।

अन्तरिक्षम् (न॰) आकाश, नभ, व्योम, वायु, हवा, पृथ्वी और स्वर्ग का मध्य-स्थान। गंधर्व, यक्ष, अप्सराएँ आदि इसी अंतरिक्ष स्थान में निवास करते हैं। ययाति ने स्वर्ग से च्युत होकर इसी स्थान में निवास किया था। (अनन्त देखिए)।

अन्तरिक्षयात्रिन् (पुं॰) वायुयान से आकाश-गमन करने वाला, चंद्र, मंगल आदि की यात्रा करने वाला।

अन्तरिक्षयानम् (न॰) विमान, आकाशयान, हवाई जहाज।

अन्तरिक्षायतन (वि॰) जिसका आवास वातावरण में हो।

अन्तरित (वि॰) बीच में पड़ा हुआ, छिपा हुआ, अंदर घुसा हुआ, प्रविष्ट, आच्छादित, दृष्टि-पथ से दूर, रुद्ध, पृथक् किया हुआ, अदृष्ट, लुप्त, रोका हुआ, छूटा हुआ। मेघ के हट जाने से एकाएक जो धूप आकर गिरती है वह बहुत तेज होती है। इसी प्रकार कोई विपत्ति आ पड़ने पर लोग कहते है कि यह मेघान्तरितरौद्रवत् है।

अन्तरीपः (पुं॰) भूमि का वह टुकड़ा जो समुद्र के भीतर तक चला गया हो, द्वीप।

अन्तरीयम् (न॰) कुरता, बनिआइन, धोती।

अन्तरेण (अव्य॰) विना, सिवाय, मध्य में, मन से।

अन्तर्गत वि॰) भीतर का, अन्तर्भुक्त अंतरस्थ मन के भीतर का। एकात्मवाद वेदांत-दर्शन के अंतर्गत है। पांडेय, द्विवेदी, शर्मा आदि उपाधियुक्त मदुष्य ब्राह्मणजाति के अंतर्गत हैं। प्राणिमात्र के सुख-दुःख मन के अंतर्गत हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये ५ ज्ञानेंद्रियाँ बाहर से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन विषयों का आहरण करके शरीर के अंतर्गत मन में पहुँचा देती हैं। इंद्रियाँ जड़ हैं, किंतु मन अर्धचेतन है, क्योंकि अंतःकरण में सर्व-व्यापी सत्-चित्-आनंदमय आत्मा का प्रतिबिंब पड़ता है। चेतन आत्मा का आभास पाकर वह कुछ विचार कर सकता है। सूक्ष्म पंचभूतों से उत्पन्न होने के कारण देह इंद्रियाँ, मन आदि सभी जड़ हैं, जड़ों में भी कुछ अंतर है; जैसे मिट्टी, पत्थर स्वयं चल नहीं सकते, किंतु चला देने पर उनमें भी कुछ गति हो सकती है। जल बद्ध स्थान में अचल होने पर भी सोतों और नदियों में उसकी तीव्र गति दिखाई पड़ती है। जलाने पर अग्नि में ऊर्ध्व-गति प्रत्यक्ष है। बंद घड़े के भीतर वायु गति-रहित होने पर भी आँधी, बवंडर आदि में वायु की गति अनुभूत होती है। संसार में आकाश सूक्ष्म रूप में सर्वत्र व्याप्त रहने से उसमें गति नहीं प्रतीत होती। जड़ों में जल, स्फटिक, दर्पण आदि में प्रतिबिंबग्राहिता शक्ति है। मन में गति न रहने पर भी सत्त्वगुण की अधिकता के कारण प्रतिबिंबग्राहिता शक्ति है। ५ ज्ञानेंद्रियाँ जिन ५ विषयों को लाकर मन में पहुँचा देती हैं उनका प्रतिबिंब मन में पड़ जाता है। उन विषयों के अनुकूल होने से मन में सुख और प्रतिकूल होने पर उसमें दुःख होता है। जिस प्रकार जल, दर्पण आदि में सूक्ष्म आकाश का प्रतिबिम्ब होता है, जैसे कि आकाश में सूर्य, चद्र आदि जितने दूर पर दिखाई पड़ते हैं, जल के भीतर भी उस दूरी का प्रतिबिंब भी स्पष्ट प्रतीत होता है, उसी प्रकार मन में आत्मा का भी प्रतिबिंब पड़ता है।

सांख्यदर्शन के मत में जिस प्रकार लाल फूल का प्रतिबिंब स्फटिक में पड़ता है, उसी प्रकार मन के सुख-

दुःख की छाया आत्मस्वरूप सूक्ष्म पुरुष में पड़ती है। किंतु मिट्टी, जल की अपेक्षा सूक्ष्म अग्नि, वायु, आकाश में ही प्रतिबिंब नहीं होता तो उन वस्तुओं की अपेक्षा परम सूक्ष्म पुरुष में प्रतिबिंब नहीं पड़ सकता। इस कारण मन के सुख-दुःख, लज्जा, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह आदि का स्पर्श तक आत्मा में नहीं पड़ता। वही आत्मा जीव का निज स्वरूप है।

बुद्धिमान मनुष्य दूसरों के अन्तर्गत मन का भाव आकार (चेहरा), इंगित (इशारा), गति, चेष्टा (हाथ-पैर हिलाना), भाषण, नेत्रों और मुख का विकार आदि से जान जाते हैं (आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकाराभ्यां ज्ञायतेऽन्तर्गतं मनः—मनु ८।२६)।

यौवनावस्था-प्राप्त व्यक्ति अपने से छोटों का मनोभाव उन लक्षणों से जान सकते हैं क्योंकि वे उस बचपन की अवस्था को पार कर आये हैं। इसी प्रकार प्रौढ़ व्यक्ति बच्चों और युवावस्था के लोगों का मनोभाव जान सकते हैं, तथा वृद्धावस्था प्राप्त व्यक्ति अपने से कम वयस वालों का मनोभाव जान जाते हैं। किंतु अल्पवयसवाले अपने से अधिकवयसवालों का मनोभाव नहीं जान पाते।

अन्तर्जगत् (न०) देहमध्यस्थ ब्रह्मांड, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर।

अन्तर्जठरम् (न०) पाकस्थली, पाकाशय।

अन्तर्जम्भः (पुं०) जबड़ों का भीतरी भाग।

अन्तर्जात (वि०) स्वतः प्रसूत, सहजात, स्वाभाविक।

अन्तर्जानु (अव्य०) घुटनों के बीच में।

अन्तर्ज्ञानम् (न०) आंतरिक ज्ञान, आत्मज्ञान।

अान्तर्ज्योतिस् (न०) शरीर के भीतर की ज्योति या प्रकाश, आत्मज्ञान, आत्मा का चित्-स्वरूप। शरीर के भीतर अंतःकरण ही प्रकाशरूप है। विना अन्तःकरण के इंद्रियाँ किसी विषय का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकतीं। अंतः-करण आकाशादि जड़-भूतों से उत्पन्न होने के कारण जड़ ही हैं। लोहे में अग्नि के प्रविष्ट होने पर दाहिकाशक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार जड़ अंतःकरण में सर्वव्यापक परम सूक्ष्म चेतन आत्मा का प्रतिबिंब होने से कुछ चेतनता आ जाती है और तभी वह विषयों को प्रकाशित कर सकती है। अंतःकरण के इस ज्ञान को अंतर्ज्योति कहते हैं।

अंतःकरण जब बाहरी विषयों को छोड़कर आत्मा की ओर अभिमुखी होता है, तभी वह आत्मज्ञान प्राप्त करता है। विषय-ज्ञान की अपेक्षा आत्मज्ञान बहुत अधिक प्रकाशशील है। अतः उपर्युक्त अंतर्ज्योति से यह अधिक प्रकाशमान है।

आत्मा स्वयप्रकाश है। नित्य विराजमान सच्चिदानंद परमात्मा का यह चिद्भाव है। अनंतकोटि ब्रह्मांडों में अनंत कोटि ज्योतिष्मान नक्षत्र परमात्मा के स्वतः प्रकाश से ज्योति प्राप्त होते हैं (न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति—कठोपनिषत् २।५।१५)। आधुनिक वैज्ञानिक कहते हैं ज्योतिष्मान इलेक्ट्रन और प्रोटन नामक अणुओं से नक्षत्र ज्योति प्राप्त करते हैं। परंतु इलक्ट्रन और प्रोटन ज्योति कहाँ से पाते हैं यह वैज्ञानिक नहीं बता सकते। अनादिकाल से ये दोनों अणु विद्यमान थे, ऐसा कहना युक्ति-विरुद्ध है। अणु छोटा होने से स्थान में सीमाबद्ध है अर्थात् जिस स्थान में वह रहता है, उससे भिन्न समस्त स्थानों ने उसे वहीं घेर रखा है। यह स्थानकृत सीमा है। स्वभिन्न अणुओं से भी वह अणु सीमाबद्ध है, क्योंकि उससे भिन्न अगणित अणुओं ने उसे चारों ओर से घेर कर अपने ही स्वरूप में रहने में बाध्य किया है, यह वस्तुकृत सीमा है। दर्शन-शास्त्रों के अनुसार सीमा तीन प्रकार की मानी गयी है—स्थानकृत, वस्तुकृत और कालकृत। इनमें से किसी एक या दो के द्वारा किसी वस्तु की सीमा होने से अन्य दो या एक के द्वारा भी उसकी सीमा सिद्ध होगी, जैसे घट, वस्त्र, वृक्ष, मनुष्य का शरीर आदि। एक घट या किसी मनुष्य के शरीर का जन्म या नाश हम और आपने नहीं देखे हैं। इस कारण यदि कोई तर्क उठावे कि इस घट या मनुष्य का जन्म नहीं हुआ है और न विनाश ही होगा तो कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इस कथन को सत्य नहीं मानेगा। वह कहेगा कि छोटे-छोटे पदार्थों और मनुष्य के शिशुओं का जन्म तथा उनका नाश मुझे प्रत्यक्ष है, स्थान और वस्तुओं से सीमाबद्ध छोटे पदार्थों के जन्म और विनाश अवश्य हैं, अर्थात् छोटी वस्तुएँ उत्पत्ति के पूर्व के काल और ध्वंस के परवर्ती काल से सीमाबद्ध हैं। इस युक्ति से छोटे होने के कारण इलेक्ट्रन और प्रोटन जन्म और मृत्यु के बाहरी कालों से सीमाबद्ध हैं, यही कालकृत सीमा है।

वेदांतमत में सर्वव्यापक और सर्वात्मक होने के कारण ब्रह्म अनादि अनंत हैं, अर्थात् उनमें किसी प्रकार की भी सीमा नहीं है (न व्यापित्वाद्देशतोऽन्तो नित्यत्वान्नापि कालतः । न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा—पञ्चदशी ३।३५) । अद्वैतवादः देखिए ।

स्वयंप्रकाश ब्रह्म से ही इलेक्ट्रन, प्रोटन से लेकर सूर्य नक्षत्रादि ज्योतिष्क ज्योति प्राप्त करते हैं, अतः ब्रह्मज्योति ही यथार्थ अंतर्ज्योति है । जो योगी जीवात्मा को परमात्मा में मिलाकर इस परम अंतर्ज्योति को प्राप्त करते हैं, वह ब्रह्मरूप होकर ब्रह्मनिर्वाणलाभ करते हैं (अन्तःसुख देखिए) ।

अन्तर्ज्वलनम् (न०) भीतरी गरमी, आन्तरिक ताप, शोक ।

अन्तर्दर्शनम् (न०) अन्तर्दृष्टि, भीतर देखना, अपने गुण-दोषों का विवेचन, मन का अन्तर्मुख होकर आत्मा को देखना, दूसरों के विचारों को जान लेना ।

इन्द्रियाँ और मन प्रायः बाह्य विषयों को ही ग्रहण करते हैं । विरले ही महात्मा इन्हें भीतर की तरफ मोड़कर तीनों शरीरों, पाँचों कोषों आदि को जानने की चेष्टा करते हैं (परांञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्—कठोपनिषद् २।१।१) ।

मनुष्य दूसरों के दोषों को अधिक तथा गुणों को कम ही मात्रा में देखते हैं । कदाचिद् ही कोई धीर पुरुष पराये दोषों को न देख कर उसके गुण ही देखा करते हैं तथा अपने ही मन के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए दोषरहित होकर गुणवान बन जाते हैं । यह अन्तर्दर्शन का सुपरिणाम है ।

जब किसी विद्वान् का मन सांसारिक विषयों को असार समझकर अंतरस्थ आनन्दमय आत्मा को ही परम प्रिय समझता है (आत्मन् देखिए) तब उधर ही वह निरन्तर देखने लगता है और उस स्थिति में वह आनन्द का पूर्ण अनुभव करने लगता है । यही सर्वोत्तम अंतर्दर्शन है ।

दूसरों के मन का भाव अनुभवी लोग समझ लेते हैं । मुख की मुद्रा, इशारा, गति, चेष्टा, भाषण, आँख और मुख की विकृति आदि लक्षणों से भी दूसरों के मन का भाव जाना जा सकता है (आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च । नेत्र-वक्त्र-विकाराभ्यां ज्ञायतेऽन्तर्गतं मनः—सुभाषित १६३) । यह दूसरे के मन का अन्तर्दर्शन है ।

अन्तर्दर्शन का दूसरा अर्थ है अन्दर देखना । इसे आत्मनिरीक्षण या आत्म-चेतनता भी कहा जाता है । मनोविज्ञान की यह एक पद्धति है । इसका अभिप्राय यह है कि मानसिक क्रियाओं का स्वयं अध्ययन करके उनकी व्याख्या करना । इस पद्धति के द्वारा हम अपनी अनुभूतियों के रूप को समझना चाहते हैं । केवल आत्मविचार ही अन्तर्दर्शन नहीं है । अन्तर्दर्शन तो प्रत्यक्ष आत्मचेतनता का एक विकसित रूप है । इसके विकास के लिए तीन सीढ़ियों का होना आवश्यक है—

(१) किसी बाहरी वस्तु के निरीक्षण-क्रम में अपनी ही मानसिक क्रिया पर विचार करना । (२) अपनी ही मानसिक क्रियाओं के कारणों पर विचार करना । (३) अपनी मानसिक क्रियाओं के सुधार के बारे में सोचना ।

अन्तर्दशा (स्त्री०) ज्योतिष में किसी ग्रह के अन्तर्गत भोगकाल ।

अन्तर्दशाहम् (न०) दस दिनों के बीच का अन्तर ।

अन्तर्दाहः (पु०) ज्वर, बुखार ।

अन्तर्दिश (अव्य०) नीचे ।

अन्तर्दृष्टिः (स्त्री०) भीतर की ओर दृष्टि, इन्द्रियों को बाहर से मोड़कर भीतर की ओर दृष्टि । इन्द्रियों को बाहरी पदार्थ देखने-योग्य बनाकर मानो विधाता ने इनकी हानि की है ! कदाचित् कोई धीर पुरुष चक्षु आदि इन्द्रियों को भीतर की ओर मोड़ कर तथा मोक्षरूप अमृतत्व प्राप्त करने की इच्छा से अन्तरात्मा को देख सकते हैं (पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भुः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत् आवृत्तचक्षुः अमृतत्वम् ईच्छन्—कठोपनिषद् (२।१।१) ।

अन्तर्देशीय (वि०) देश के भीतरी भाग का ।

अन्तर्द्वन्द्वः (पुं०) जीव-शरीर के भीतर अंतःकरण में शुभ वृत्ति और अशुभ वृत्ति का संग्राम । अंतःकरण की वृत्ति कल्याण-मार्ग में तथा अकल्याण-मार्ग में चलती रहती है (चित्तनदी नाम उभयतोवाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति पापाय च—योगसूत्रभाष्य) । कल्याण और पाप में सदा संघर्ष होता रहता है । अल्पबुद्धिवाले व्यक्तियों में पाप-

वृत्ति कल्याण-वृत्ति को दवाकर प्रबल हो जाती है और वह पापाचरण के द्वारा अपने को तथा संसार को हानि पहुँचाती है। विवेकी पुरुष पाप-वृत्ति को दवाकर कल्याण-वृत्ति को जगा लेते हैं और सदाचरण के द्वारा अपना तथा संसार का कल्याण करते हैं।

पुराणों में जो देवासुर-संग्राम का वर्णन है, वह केवल मनुष्य के इस अंतर्द्वंद्व का ही स्वरूप प्रगट करता है। पुराणों की ऐसी रूपक वर्णनाओं से मनुष्यों को महान शिक्षा मिलती है। इनसे शिक्षा-प्राप्त होकर विचारवान पुरुष अपने अन्तःकरण के अन्तर्द्वंद्वों को देखते रहकर अकल्याण-कर पाप-वृत्ति को दवा देते और कल्याण-वृत्ति को जगा लेते हैं।

अन्तर्धाः (पुं०) दुराव, छिपाव।

अन्तर्धानम् (न०) छिपना, अदृश्य होना, दृष्टिगोचर न होने का भाव।

अन्तर्धिः (स्त्री०) अदृश्यता, छिपाव, व्यवधान; जयेच्छु और शत्रु-राज्य के मध्यवर्ती दुर्वल राज्य।

अन्तर्ध्यानम् (न०) आंतरिक चिंतन या ध्यान।

अन्तर्निविष्ट (वि०) अन्दर गया हुआ, भीतर स्थित।

अन्तर्निहित (वि०) भीतरी, भीतर स्थित।

अन्तर्बाष्प (वि०) आसुओं वाला, अश्रुपूर्ण।

अन्तर्भवनम् (न०) मकान का भीतरी भाग या कमरा।

अन्तर्भावः (पुं०), अन्तर्भावना (स्त्री०) मानसिक ध्यान या चिंता, अन्तर्निवेश।

अन्तर्भूमिः (स्त्री०) पृथ्वी का भीतरी अंश।

अन्तर्मनस् (वि०) दुःखी, उदास, व्यग्र, घबड़ाया हुआ।

अन्तर्मस्तिष्कम् (न०) भेजा या मस्तिष्क का भीतरी भाग।

अन्तर्मुख (वि०) मुख के अंदर जाने वाला, शरीर के भीतरी ओर देखने वाला।

अन्तर्मुखम् (न०) चीर-फाड़ या शल्य-चिकित्सा में काम आने वाली एक प्रकार की कैंची।

अन्तर्मुद्र (वि०) ध्यान अथवा चिंतन करने की एक मुद्रा वाला।

अन्तर्य (वि०) आंतरिक, मध्य का।

अन्तर्यामः (पुं०) श्वास और कंठस्वर का निग्रह।

अन्तर्यामिन् (न०) अंतर्यामी, आत्मा, जीवात्मा के भीतर के ईश्वर, परमात्मा जो चेतन और अचेतन जगत् के अंतर में रहकर प्रेरणा देते हैं वही अंतर्यामी हैं (अन्तस्तिष्ठन् यमयतीत्यन्तर्यामितां व्रजेत्—पंच० ७।६३)। मन जड़ है। भीतरी चेतन की प्रेरणा विना पाये वह चिंतन नहीं कर सकता। तो क्या वह जीवों को कुकर्म करने में भी प्रेरणा देते हैं? नहीं। सूर्योदय होने पर जैसे जीव सुकर्म-कुकर्म करते हैं। परंतु सूर्य-प्रकाश का उन कर्मों से संस्पर्श नहीं होता उसी प्रकार जीवों के कर्मों का संस्पर्श परमात्मा में नहीं है।

अन्तर्योगः (पुं०) गंभीर चिंतन, भीतरी योग-साधन।

अन्तर्लीन (वि०) भीतर छिपा हुआ, गुप्त, अंतरात्मा में ध्यान के द्वारा लवलीन।

अन्तर्लोपः (पुं०) शब्द के अंतिम अक्षर का लोप या अभाव।

अन्तर्वंशिकः (पुं०) अंतःपुर का निरीक्षक कर्मचारी।

अन्तर्वन (वि०) जंगल में स्थित।

अन्तर्वनम् (अव्य०) जंगल में, वन में।

अन्तर्वमिः (पुं०) अजीर्ण, अपच, अफरा।

अन्तर्वर्तिन् (वि०) आंतरिक, जुड़ा हुआ, संबद्ध।

अन्तर्वली (स्त्री०) गर्भिणी स्त्री, गर्भवती महिला।

अन्तर्वस्त्रम् (न०) निचले अंग की पोशाक, कुरता आदि के नीचे पहनने का वस्त्र, अंतर्वास।

अन्तर्वाणि (वि०) विद्वत्ता में निपुण।

अन्तर्वासः (पुं०) कुरता, कमीज आदि के नीचे पहनने का कपड़ा।

अन्तर्वेगः (पुं०) भीतरी बुखार; आंतरिक चिंता घबराहट, अस्वस्ति।

अन्तर्वेदः (पुं०) वह भूखंड जो गंगा-यमुना के बीच हरिद्वार से लेकर प्रयाग तक फैला हुआ है। इसमें वैदिक काल से लेकर आज तक निरंतर यज्ञादि होते आये हैं। वैदिक काल में यहाँ उशीनर, पंचाल तथा वत्स वंश बसे थे। इसीसे पूरब की ओर काशी तथा कौशल जनपद

थे। अंतर्वेद की पश्चिमी तथा दक्षिणी सीमाओं पर कुरु, शूरसेन, चेदि आदि के वंशजों का आवास था। गुप्तकाल की शासन-व्यवस्था के अनुसार अंतर्वेद साम्राज्य का 'विषय' या जिला था। स्कंदगुप्त के समय में उसका विषय-पति शर्वनाग स्वयं सम्राट द्वारा नियुक्त किया गया था।

अन्तर्वेदि (अव्य०) यज्ञीय भूमि के मध्य में।

अन्तर्वेदिः (स्त्री०) वह प्रदेश जो गंगा और यमुना के बीच में स्थित हो।

अन्तर्वेश्मन् (पुं०) घर के भीतर का भाग।

अन्तर्वेश्मिकः (पुं०) अंतःपुर का प्रबंधक या रक्षक।

अन्तर्हस्तम् (अव्य०) हाथ में।

अन्तर्हासः (पुं०) गूढ़ हँसी।

अन्तर्हित (वि०) मध्यस्थित, अदृश्य, लुप्त, छिपा हुआ, पृथक किया हुआ।

अन्तर्हितात्मन् (पुं०) शिव, महादेव।

अन्तर्हृदयम् (न०) हृदय के भीतर का स्थान।

अन्तवत् (नं०) अंतवान, अंतयुक्त, नाशवान्, मरण-शील, भंगुर, ध्वंसशील। इस संसार के सभी पदार्थ अंतवान हैं। केवल अद्वितीय आत्मा ही अंत-रहित है। जिसका अंत है, उसका आदि भी होना चाहिए। भाव वस्तु का यही नियम है (जातस्य ही ध्रुवोमृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च—गीता २।२७)। अभाव-वस्तु का नियम उल्टा है। प्रागभाव अनादि-सान्त है (अनादिसान्तः प्रागभावः—तर्कसंग्रह)। आशय यह है कि सामने रखे हुए घट का अभाव अनादि काल से चला आ रहा था, जिस क्षण इस घट की उत्पत्ति हुई, उसी क्षण उस अभाव का नांश हो गया। प्रध्वंसाभाव सादि और अनंत है (सादिरनन्तः प्रध्वंसः -तर्कसंग्रह)। जब यह घट टूट जायेगा उसी क्षण उसका ध्वंसाभाव उत्पन्न होगा। वह घट फिर कभी उत्पन्न नहीं होगा। इस कारण वह ध्वंसाभाव अनंत काल तक चलेगा।

सांसारिक सभी पदार्थ व्यावहारिक दशा में सत्तावान् रूप से प्रतीयमान हो रहे हैं। आत्मा की अपेक्षा सभी छोटे हैं। छोटी वस्तु नाशवान् है (यदल्पं तन्मर्त्यम्—छान्दोग्य ७।२४।१)। न्याय और वैशेषिक दर्शनों के मत में जो आकाश, काल, दिक, आत्मा, मन और परमाणु नित्य माने गये हैं उन्हें भी युक्ति-विचार से अंतवान् कहा जायेगा। क्योंकि वे एकाधिक होने के कारण एक दूसरे को सीमाबद्ध करके नाशवान् हो जाते हैं (अद्वैतवादः देखिए)।

सांख्य और योग दर्शनों में जो प्रकृति और अनेक पुरुष माने गये हैं, वे भी एक दूसरे को सीमाबद्ध करके नाशवान् हो जाते हैं।

अतः वेदांत-प्रतिपादित सर्वव्यापक एक अद्वितीय आत्मा ही अंत-रहित अर्थात् नित्य रह जाता है (अन्तयन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत—गीता २।१८)।

गीता पर एक आक्षेप होता है कि उसमें श्रीकृष्ण ने अहं ब्रह्मास्मि तो अनेक बार कहा है; परन्तु अर्जुन को 'तत्त्वमसि' (तुम ब्रह्म हो) एक बार भी नहीं कहा। इस आक्षेप का उपरोक्त श्लोक में परोक्ष रूप से उत्तर दिया गया है। अन्तवन्तः, इमे, देहाः, उक्ताः शब्दों का बहुवचन में प्रयोग तो हुए हैं; किंतु नित्यस्य, शरीरिणः, अनाशिनः, अप्रमेयस्य शब्द एकवचन में प्रयुक्त हुए हैं। अर्थात् देह अनेक हैं और आत्मा एक, यही इस श्लोक के द्वारा प्रतिपादित हुआ है। जब आत्मा का एकत्व प्रतिपादित हुआ तो वह श्रीकृष्ण में, अर्जुन में, कौरवों और पांडवों में तथा समस्त संसार में व्याप्त है। अतः यदि श्रीकृष्ण का आत्मा ब्रह्म है, तो अर्जुन का आत्मा भी ब्रह्म ही है। इस कारण परोक्ष रूप से अर्जुन को भी इस श्लोक में 'तत्त्वमसि' कहा गया है।

अन्तशय्या (स्त्री०) भूमि पर बिछाने की चटाई या बिस्तर, हिंदुओं में मृत्यु के समय दी गयी भूशय्या, चिता, मृत्यु, वह स्थान जहाँ मृतक जलाये या गाड़े जाते हैं।

अन्तश्चेतना (स्त्री०) जीव-शरीर के भीतर की चेतना। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि की तरह वृक्षादि में भी चेतना है (अन्तस्संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः—मनुस्मृति। वल्ली वेष्टयते वृक्षम् तस्मात् पश्यन्ति पादपाः—महाभारत वनपर्व)। आधुनिक विज्ञान ने प्रमाणित कर दिया है कि वृक्षपर्वतादि में भी चेतनता है। यहाँ तक कि सोना, लोहा आदि धातुओं में भी चैतन्य हैं। वृक्ष की एक

डाल काट कर मिट्टी में रोप देने से वह जी जाती है। सोना, लोहा आदि को सौ वार जलाने पर भी उसकी जीवनी शक्ति का ह्रास नहीं होता। विज्ञान ने इसे प्रमाणित कर दिखाया है।

प्रकृति के सत्व, रज, तम—इन तीनों गुणों से इस सृष्टि का विकास हुआ है। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी आदि इसी क्रम से विकसित हुए हैं। उन तीनों गुणों में सत्त्वगुण प्रकाशशील है, जिससे सर्वव्यापक सर्वांतर्यामी सच्चिदानंदमय आत्मा का उस में प्रतिबिंब पड़ता है यही अंतश्चेतना है। धातु, पत्थर आदि में सत्त्वगुण की एक कला का विकास होता है। और क्रमशः वृक्षों में दो, कृमिकीटों में तीन, छोटे-छोटे जंतुओं और पशुओं में चार, मनुष्यों में पाँच से आठ कलाओं तक का विकास होता है। इससे अधिक कलाओं का विकास ईश्वर के अवतारों में होता है।

चेतनता के विस्तार के तारतम्यानुसार मनुष्यों के ज्ञान में न्यूनाधिक्य होता है। अंतःकरण में पड़ने वाला यह प्रतिबिंब आत्मा का चिदाभास मात्र है। जैसे—दर्पण में मुखाभास जड़ है उसी प्रकार आभास-चैतन्य भी जड़ ही है। यथार्थ चेतना तो आत्मा में ही है। वह सच्चिदानंद का चिद् भाव है। जीव की चेतनता क्षणभंगुर है। परंतु आत्मा की चेतनता नित्य और निरवच्छिन्न है। (नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान् तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् - कठोपनिषद् २।३।१३)। इस अन्तश्चेतन आत्मा को जो धीर पुरुष अपरोक्ष रूप से जानते हैं उन्हें नित्य सुख मिलता है, दूसरों को नहीं।

जीवों के भीतर चैतन्य का प्रकाश, जिसका आधार शास्त्रकार अन्तःकरण को तथा वैज्ञानिक मस्तिष्क को मानते हैं। यह सदसद्विवेक या भले-बुरे का भेद-ज्ञान कहलाता है। दार्शनिकों का एक सम्प्रदाय यह मानता है कि जीव स्वभावतः 'शिव' है और इस कारण किसी अशिक्षित या असंस्कृत कहलाने वाले व्यक्ति में भी भले-बुरे के पहचानने की अन्तश्चेतना पशु से अधिक विद्यमान रहती है। भौतिकवादी अन्तश्चेतना को जन्मतः उपस्थित जैविक गुण नहीं मानते बल्कि सभ्यता के इतिहास से उत्पन्न चेतना का बाह्य आवरण मानते हैं, योग इसी को आत्मिक उन्नति भी कहता है।

वेदान्त के मत से सर्वव्यापक चेतन आत्मा का जीव के अन्तःकरण में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी को अन्तश्चेतना कहते हैं। सर्वव्यापक चेतन आत्मा में क्रिया नहीं है क्योंकि वह सर्वत्र पूर्ण है। अन्तःकरण छोटा होने के कारण प्रतिबिम्बित चेतन में वृत्तिरूप क्रिया होती है जिससे वह संसार का ज्ञान प्राप्त करता है तथा सत्-असत्, सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति आदि का भेद जान सकता है।

अन्तश्चेतनाभिबोधनम् (न०) शरीर के भीतरी चेतना का विशेष ज्ञान, आत्मज्ञान।

अन्तसत्क्रिया (स्त्री०) दाहसंस्कार, अग्निदान, अन्त्येष्टि।

अन्तसद् (पु०) शिष्य, छात्र।

अन्तस्थ (वि०) अन्त पर स्थित होने वाला।

अन्तस्थः (पु०) स्पर्श और उष्म के मध्य के वर्ण। जैसे—य, र, ल और व।

अन्तादि (स्त्री०) अन्त और प्रारम्भ।

अन्ताराष्ट्रियविधिः (स्त्री०) किसी राज्य द्वारा वादों का निर्णय करने के लिए अंगीकार किया हुआ नियम जिसमें विदेशी तत्त्व भी शामिल होता है। इस नियम का प्रयोग उन वाद-विवादों में होता है जिनका प्रभाव किसी ऐसी घटना, तथ्य आदि पर पड़ता है। इसका प्रभाव किसी अन्य देशीय विधि-प्रणाली पर अवश्यंभावी होता है और इसीलिए इस विधि का अवलम्बन आवश्यक हो जाता है। अन्ताराष्ट्रिय कानून निजी एवं सार्वजनिक से यही बोध होता है कि यह विषय भी अन्ताराष्ट्रिय कानून की शाखा है। परन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। इनमें महान अन्तर है। निजी अन्ताराष्ट्रिय कानून इस तत्त्व पर आधारित है कि संसार में अलग-अलग अनेक विधि-प्रणालियाँ हैं जो कि जीवन के विभिन्न विधि-संबंधों को विनियमित करने वाले नियमों के विषय में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इससे यही प्रकट हुआ कि स्वदेशीय सत्ताधारी भी अन्यदेशीय कानूनों की अवहेलना न करें। प्रायः ऐसा भी देखा गया है कि एक क्षेत्राधिकार के न्यायालय को दूसरे देश की न्याय-प्रणाली का अवलम्बन अविवार्य हो जाता

है। इससे अन्याय नहीं होता तथा अधिकारों की रक्षा होती है।

जब विभिन्न पक्षों में से कोई पक्ष अन्य राष्ट्र का हो अथवा उसकी नागरिकता विदेशी हो। जब कोई व्यवसायी किसी एक देश में दिवालिया करार दिया जाय और उसके ऋणदाता अन्यान्य देशों में हों। जब वाद किसी ऐसी सम्पत्ति के विषय में हो जो उस न्यायालय के प्रदेशीय क्षेत्राधिकार में न होकर अन्यान्य देशों में स्थित हो।

अन्तावसायिन् (पु०) चांडाल, नापित, नाई।

अन्ति (अव्य) समीप में, को।

अन्तिः (स्त्री०) (नाटकों में) बड़ी बहन।

अन्तिक (वि०) निकट, समीप, अन्त का।

आन्तिकम् (न०) निकटता, पड़ोस, उपस्थिति।

आन्तिका (स्त्री०) बड़ी बहन, अंगीठी, एक प्रकार की ओषधि।

अन्तिम (वि०) चरम, अन्त का।

अन्तिमाङ्कः (पु०) नौ की संख्या।

अन्तिमाङ्गुलि (स्त्री०) कनिष्ठिका ऊँगली, सबसे छोटी ऊँगली।

अन्तिमेत्थम् (अव्य) अन्तिम प्रस्ताव या शर्त के रूप में।

अन्ती (पु०) अँगीठी, चूल्हा।

अन्तेवशायिन् (पु०) वह व्यक्ति जो नगर या गाँव की सीमा से बाहर रहता हो, निम्न जाति का व्यक्ति।

अन्तेवासः (पु०) पड़ोसी, साथी।

अन्तेवासिन् (वि०) सीमा के निकट रहने वाला, समीप रहने वाला।

अन्तेवासिन् (पु०) वह शिष्य जो सदा गुरु के साथ रहकर अध्ययन करता है, चांडाल, शूद्र।

अन्त्य (वि०) अंतिम, चरम, सबसे नीच, दुष्ट।

अन्त्यकः (पुं०) पंचम वर्ण का व्यक्ति।

अन्त्यकर्मन् (पु०) अन्त्यक्रिया। (स्त्री०) पूर्णाहुति, बलिदान, दाह-क्रिया।

अन्त्यजः (पु०) चांडाल, शूद्र।

ग्राम-सीमा के बाहर रहने वालों को अन्त्यज कहा जाता था। इनको अंत्यावसायी, वाह्य तथा निर्वासित भी कहते थे। अन्त्यज का साधारण अर्थ है—ऐसे लोग जो ग्राम की सीमा के बाहर रहा करते थे और संस्कृति तथा जाति में भी भिन्न होते थे। अधिकतर जंगली तथा पर्वतीय जातियाँ इनमें सम्मिलित थीं। जब धीरे-धीरे वर्णाश्रम-व्यवस्था की स्थापना हो गयी तब बहुत सी ऐसी जातियाँ जो इस व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं आयीं वे चतुर्थ और अन्तिम वर्ण शूद्र के भी परे अंत्यज मानी जाने लगीं। इनमें पड़ोसी, विदेशी चांडाल, पौल्कस, विदलकार आदि की गणना थीं। कुछ शास्त्रकारों ने इनमें क्षत्रि, वैदेहिक, मागध और आर्यागव आदि वर्णसंकर जातियों को भी समाविष्ट किया है। कहीं-कहीं इनको पञ्चम वर्ण भी माना गया है, परन्तु कुछ स्मृतियों ने दृढ़ता के साथ कहा है कि पञ्चम वर्ण हो ही नहीं सकता। अंत्यज के समाजीकरण का क्रम था—अतिशूद्र, शूद्र और सच्छूद्र। आजकल किसी को अंत्यज कहना अनुचित है।

अन्त्यजगमनम् (न०) उच्च जाति की स्त्री और निम्न जाति के पुरुष में होने वाला समागम।

अन्त्यजन्मन् (वि०) निम्न जाति का।

अन्त्यभम् (न०) (ज्योतिष में) रेवती नक्षत्र।

अन्त्यम् (न०) दस नील की संख्या जो इस प्रकार लिखी जाती है—१००,००,०००,००,००,०००। मीन राशि, रेवती नक्षत्र।

अन्त्ययुगम् (न०) अंतिम युग, कलियुग।

अन्त्ययोनि (वि०) अत्यंत नीच जाति का।

अन्त्यलोपः (पुं०) किसी शब्द के अंतिम अक्षर का लोप या अभाव।

अन्त्यवर्णः (पुं०), अन्त्यवर्णा (स्त्री०) नीच जाति का पुरुष, नीच जाति की स्त्री।

अन्त्या (स्त्री०) निम्न जाति की स्त्री।

अन्त्याक्षरी (स्त्री०) यह प्राचीन काल से चला आता हुआ स्मरणशक्ति का परिचायक एक खेल है। जिसमें कहे हुए श्लोक या पद्य के अंतिम अक्षर को लेकर दूसरा व्यक्ति उसी अक्षर से प्रारंभ होने वाला श्लोक या पद्य कहना प्रारंभ करता है, जिसके उत्तर में फिर पहला व्यक्ति दूसरे के कहे हुए श्लोक या पद्य के अंतिम अक्षर से आरंभ होने वाले पद्य को कहता है। इसी प्रकार यह खेल तब तक चलता रहता है जब तक दोनों में किसी एक से पद्यमय

उत्तर नहीं बन पाता और उसकी हार मान ली जाती है। यह खेल दो से अधिक व्यक्तियों के बीच भी वृत्ताकार खेला जाता है।

अन्त्याधारः (पुं०) पुल, मकान आदि का सबसे नीचे वाला आधार या नींव।

आज के इस भौतिक-वादी युग में इस शब्द से विज्ञान द्वारा संपादित रचनाओं या क्रियाओं का ज्ञान होता है। नदियों पर बने पुलों से इस प्रक्रिया की भारी संरचनाएँ जो कि पुलों के दबाव या प्रतिक्रिया सहन करती है इस अर्थ में ही इस अंत्याधार शब्द को लिया गया है। ईंटें चुनकर या सादे कांक्रीट से या इस्पात की छड़ों से सुदृढ़ किये कांक्रीट से ये बनते हैं।

अंत्याधार कई प्रकार के होते हैं, जैसे सीधे अंत्याधार, सुदृढ़ की गयी कांक्रीट की दीवारें और सुदृढ़ किये गये सीमेंट के पुश्ते आदि हैं। इन अंत्याधारों की परिकल्पना स्थिर करने के पहले उस स्थान के मिट्टी की जाँच होती है।

कलकत्ते और हवड़े के बीच गंगा पर एक अनोखा पुल बना है। उसके नीचे एक भी खंभा नहीं है। दो किनारों पर कांक्रिट के दो विशाल अन्त्याधार बनाकर उन पर लोहे का बहुत ऊँचा ढाँचा खड़ा कर दिया गया है। समूचे पुल का वजन कई लाख क्विंटल होगा। उस पर से दिन-रात अगणित ट्राम, ट्रक, बस, मोटर, मनुष्य चल रहे हैं, पर वह जरा भी नहीं हिलता। उसके बनाने में चार करोड़ रुपये खर्च हुए थे। इंगलैंड की क्लेवलैंड इंजीनियरिंग कम्पनी ने उस पुल को १९४२ ई० में बना दिया था।

अन्त्यावयविन् (पुं०) अंतिम अवयवी अर्थात् जिस अवयवी से अन्य अवयवी नहीं बन सकता। जैसे—घट, मनुष्य, वृक्ष, जल आदि। ये पदार्थ किसी अन्य अवयवी के अवयव नहीं हो सकते। परमाणुओं से बनी मिट्टी अवयवी है। मिट्टी से बने कपाल और कपालिका भी अवयवी हैं तथा कपाल और कपालिका रूप अवयवों से बना घट भी अवयवी है। पूर्वोक्त दोनों प्रकार के अवयवों से नया अवयवी बन सका है, परंतु घट रूप अवयव से कोई नया अवयवी नहीं बन सकता। इसलिए घट अंत्यावयवी है (समवायेन द्रव्यान्तरानधिकरणत्वम्, द्रव्यानारम्भकत्वे सति कार्यद्रव्यत्वं वा अन्त्यावयवित्वम्—लक्षणसंग्रह)। इसी प्रकार मनुष्य वृक्ष, जल, गृहादि से कोई नया द्रव्य न बन सकने के कारण ये भी अंत्यावयवी हैं।

अन्त्यावसायिन् (पुं०) नीच जाति का पुरुष या स्त्री।

अन्त्याहुति (स्त्री०) यज्ञ की अंतिम आहुति, पूर्णाहुति, दाहकर्म।

अन्त्येष्टि (स्त्री०) दाहसंस्कार, मृतक-कर्म।

अन्त्रकूजः (पुं०), अन्त्रकूजनम् (न०) आँतों का बोलना अर्थात् पेट की गड़गड़ाहट।

अन्त्रम् (न०) आँत, अँतड़ी।

अन्त्रवृद्धिः (स्त्री०) एक रोग जिसमें आँतें ढीली होकर अपने स्थान से नीचे आ जाती हैं।

अन्त्रशिला (स्त्री०) विन्ध्य पर्वत से निकलने वाली एक नदी।

अन्त्रस्रज् (स्त्री०) आँतों की माला, जिसे नृसिंह भगवान ने पहनी थी।

अन्त्रादः (पुं०) आँतों में पड़ने वाले कीड़े।

अन्द् (प०) (अन्दति) अंधा करना।

अन्दुः (स्त्री०) हथकड़ी, बेड़ी, हाथी के पैर में बाँधने का सिक्कड़।

अन्दोलनम् (न०) इधर-उधर लहराना या हिलना।

अन्दोलित (वि०) लहराता हुआ, हिलता हुआ।

अन्ध् (प०) (अन्धयति) अंधा बनाना।

अन्ध (वि०) नेत्रविहीन, अंधा।

अन्धः [वेद] (पुं०) अन्न, अनाज, (इन्द्रेहि मत्स्यन्धसः ऋ० १।१।१७।१); तमः, चक्षुहीन व्यक्ति (पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः ऋ० २।३।१७।१)।

अन्धकः (पुं०) एक असुर का नाम। कश्यप और दिति का पुत्र एक दैत्य, जो पौराणिक कथाओं के अनुसार हजार सिर, हजार भुजाओं वाला, दो हजार आँखों और दो हजार पैरों वाला था। शक्ति के मद में चूर वह आँख रहते अँधे की भाँति चलता था इसी कारण उसका नाम अंधक पड़ गया था। स्वर्ग से जब वह पारिजात पुष्प ला रहा था तब शिव द्वारा वह मारा गया, ऐसी पौराणिक जनश्रुति है।

(२) क्रोष्ट्री नामक यादव का पौत्र और युधाजित का यह पुत्र जो यादवों की अंधक शाखा का पूर्वज तथा प्रतिष्ठाता माना जाता है। जैसे अंधक से अंधकों की शाखा हुई वैसे ही उसके भाई वृष्णि से वृष्णियों की शाखा चली। इन्हीं वृष्णियों में कालांतर में वार्ष्णेय कृष्ण हुए।

महाभारत की परंपरा के अनुसार अंधकों और वृष्णियों के अलग-अलग गणराज्य भी थे, फिर दोनों ने मिलकर अपना एक संघ-राज्य स्थापित कर लिया था।

(३) अंधक एक मुनि भी थे, दोनों पति-पत्नी अंधे थे। नदी के किनारे एक आश्रम में दोनों निवास करते थे। एक दिन राजा दशरथ शिकार खेलते हुए इसी नदी के किनारे आ पहुँचे। अंधमुनि का इकलौता पुत्र सिंधु उसी समय घड़ा लेकर नदी में जल भरने गया था। दशरथ ने धड़े के जल भरने की भक् भक् ध्वनि को सुनकर किसी हाथी के पानी पीने के भ्रम से शब्दवेधी वाण चलाया, जिससे सिंधु की हत्या हो गयी। इसके बाद अंधक ने दशरथ को शाप दिया कि मेरी ही तरह तुम्हारी भी पुत्रशोक से मृत्यु होगी। पुत्रशोक से विकल होकर अंधक मुनि और उनकी स्त्री दोनों ने जलती चिता में प्राण दे दिये।

अन्धकारः (पुं०) अंधेरा, तमः।

अन्धकूपः (पुं०) वह कुआँ जिसका मुँह, ढका हो, एक नरक का नाम।

अन्धकूपपतनन्यायः (पुं०) किसी अयोग्य व्यक्ति को उत्तम उपदेश दिया गया किंतु उसके अनुसार चलकर अपनी भूल से वह अपनी हानि कर बैठे तो इस न्याय का वहाँ प्रयोग किया जाता है।

अन्धखञ्जन्यायः (पुं०) अपने गाँव से दूसरे गाँव जाने के लिए एक लंगड़ा लंगड़ाते हुए कुछ दूर आगे बढ़ा, इतने में एक अंधा लाठी टेकते हुए उसके पास आया। वह भी उसी गाँव में जाने के लिए वहाँ आया था। उसे देखकर लँगड़े ने कहा—"तुम मुझे अपने कंधे पर बिठा लो, मैं अपनी आँखों से देखकर रास्ता बताऊंगा और तुम अपने पैरों से चलते जाओगे तो हम दोनों आसानी से उस गाँव में पहुँच सकेंगे। दोनों व्यक्ति मिलकर काम पूरा करें तो वहाँ इस न्याय का प्रयोग होता है।

अन्धगजन्यायः (पुं०) कुछ अंधों ने हाथी कैसा है, जानना चाहा, सब लोग मिलकर एक हाथी के पास पहुँचे। एक ने हाथी का पैर टटोला तो कहा हाथी खम्भे की तरह है। जिसने दुम को टटोला उसने कहा हाथी एक मोटे रस्से की तरह है। जिसने सूंड़ को टटोला उसने कहा कि हाथी केले के पेड़ की तरह है। जिसने कान में हाथ दिया उसने कहा कि हाथी सूप की तरह है। किसी विषय का पूर्ण ज्ञान न रहने से उसका उटपटांग वर्णन करता है तो इसी न्याय का प्रयोग किया जाता है।

अन्धगोलाङ्गुलन्यायः (पुं०) कोई अंधा घर का रास्ता भूल कर भटक रहा था। किसी मसखरे ने उसे एक गाय की पूंछ थमा कर कहा कि "यह तुम्हें अपने घर पहुँचा देगी", किंतु फल उल्टा हुआ। गाय अपनी पूँछ को खींचती हुई इधर-उधर दौड़ने लगी और वह बेचारा भी दौड़ता हुआ परेशान हो गया। तब से जब कभी कोई मनुष्य किसी दुष्ट के कहने से चल कर कष्ट पाता है तब इस न्याय का प्रयोग होता है।

अन्धचटकन्यायः (पुं०) अंधे के हाथ में बटेर लगना अर्थात् बिना प्रयास किये कोई उत्तम पदार्थ अपने आप प्राप्त होना।

अन्धतमसम् (न०) घोर अंधकार, अत्यंत निविड़ता, एक नरक का नाम।

अन्धता (स्त्री०) अंधापन, देख न सकने की दशा का नाम जो बालक अपनी पुस्तक के अक्षर नहीं देख सकता, वह इस दशा से ग्रस्त कहा जाता है। दृष्टिहीनता भी इसी का नाम है। प्रकाश का अनुभव कर सकने की अशक्तता से लेकर ऐसे कार्य करने तक की अशक्तता जो देखे बिना नहीं किये जा सकते, अंधता कही जाती है।

अन्धतामिस्रम् (न०) एक नरक, अज्ञान की एक अवस्था।

अन्धधी (वि०) मानसिक अंधा, मंदबुद्धिवाला।

अन्धपङ्गुन्यायः (पुं०) अन्धाखञ्जन्यायः देखिए।

अन्धपरम्परान्यायः (पुं०) हिन्दी में 'भेड़िया-धसान' इसी का परिचय है। जब कोई मनुष्य किसी को कोई काम करते देखकर अंधे की तरह वैसा ही काम करने लगता है, किंतु फल नहीं पाता तो उसके लिए इसी न्याय का प्रयोग किया जाता है।

अन्धपूतना (स्त्री०) एक कल्पित राक्षसी जो बालकों में रोग उत्पन्न करनेवाली मानी जाती है।

अन्धम् (न०) अंधकार अँधेरा, गंदा जल।

अन्धम्करण (वि०) अंधा बनाने वाला।

अन्धम्भविष्णु (वि०) अंधा हो जाने वाला।

अन्धविश्वासः (पुं०) बिना विचारे भूत प्रेत आदि पर विश्वास। आदिम मनुष्य अनेक क्रियाओं और घट-

नाओं के कारणों को नहीं जान पाते थे। वे अज्ञानवश समझते थे कि इनके पीछे कोई अदृश्य शक्ति है। वर्षा, बिजली, रोग, भूकंप, वृक्षपात, विपत्ति आदि किसी अज्ञात तथा अज्ञेय देवों, भूतों, प्रेतों या पिशाचों के प्रकोप के परिणाम माने जाते थे। ज्ञान का प्रकाश हो जाने से भी ऐसे विचार विलीन नहीं हुए, बल्कि अनेक नये नये अंध-विश्वास अभी भी माने जाते हैं। आदि काल में मनुष्यों का क्रियाक्षेत्र संकुचित था, इसीलिए अंधविश्वासों की संख्या भी अल्प थी। ज्यों-ज्यों मनुष्य की क्रियाओं का विस्तार होता गया त्यों त्यों अंधविश्वासों का जाल भी फैलता गया तथा उनमें अनेक मतभेद हो गये। अंधविश्वास सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। विज्ञान के प्रकाश में भी ये छिपे रहते हैं। जैसे—

पृथ्वी शेष-नाग पर स्थित है। वर्षा, गर्जन, बिजली आदि इंद्र की क्रियाएं हैं। भूकंप की अधिष्ठात्री एक देवी हैं। प्रेत और पिशाच रोगों के कारण हैं। इस प्रकार के अंधविश्वासों को पौराणिक या धार्मिक अंधविश्वास कहा जाता है। अंधविश्वासों का दूसरा बड़ा वर्ग है मंत्र-तंत्र। इस वर्ग के भी अनेक मत-भेद हैं। मुख्य भेद हैं रोग-निवारण, वशीकरण, उच्चाटन, मारण आदि। विविध उद्देश्यों के पूर्त्यर्थ मंत्र-प्रयोग प्राचीन तथा मध्य काल में सर्वत्र प्रचलित था।

जादू, टोना, शकुन, मुहूर्त, मणि, ताबीज आदि अंध-विश्वास की संततियां हैं। इन सब के अंतस्तल में कुछ धार्मिक भाव हैं, परंतु इन भावों का विश्लेषण नहीं हो सकता। ये तर्कशून्य विश्वास हैं। मध्य-युग में यह विश्वास प्रचलित था कि ऐसा कोई काम नहीं है जो मंत्र द्वारा सिद्ध न हो सकता हो। असफलताएँ अपवाद मानी जाती थीं। इसलिए कृषिरक्षा, दुर्गरक्षा, रोग-निवारण, संतति-लाभ, शत्रु-विनाश, आयु-वृद्धि आदि के हेतु मंत्र-प्रयोग, जादू-टोना, मुहूर्त और मणि का भी प्रयोग प्रचलित था।

यक्षिणी, शाकिनी, डाकिनी संबंधी विश्वास भी अंध-विश्वास का ही विस्तार है। योगिनी भूतयोनि में मानी जाती है। ऐसा विश्वास है कि इसको मंत्र द्वारा वश में किया जा सकता है। मंत्र-पुरुष इससे अनेक दुष्कर और विचित्र कार्य करवा सकता है। वहीं विश्वास प्रेत के विषय में भी कहा जाता है।

समाज में अनेक रीति-पद्धतियाँ अंध-विश्वास पर ही चल रही हैं। सुना गया है प्राचीन समय में एक विद्वान ब्राह्मण हर महीने अपने मातापिता का श्राद्ध करते थे। वह पिंड पार कर श्राद्ध करने बैठे तो घर की पालतू बिल्ली पिंड खा जाती, भगाने पर भी वह नहीं भागती थी। आगे वह उस बिल्ली को खूंटे में बाँध कर श्राद्ध करने बैठने लगे। ब्राह्मण के पुत्र ने इसे देखा, उसने सोचा कि श्राद्ध के समय एक बिल्ली को बाँधना होता है। जब उसके पिता दिवंगत हुए तो श्राद्ध करने के दिन घर में बिल्ली न रहने के कारण पड़ोस से एक बिल्ली को पकड़ लाकर खूंटे में बाँध कर पितृश्राद्ध करने बैठा।

इसी तरह रीतियाँ समाज में प्रचलित हुईं, कारण खोजने की चेष्टा बहुत कम लोग ही करते हैं। आजकल के शिक्षित बुद्धिमान वर्ग ऐसी-ऐसी रीतियों को छोड़ते जा रहे हैं।

पुराने समय में छोटी-छोटी झोपड़ियों में लोग रहते थे, इस कारण घर में प्रायः अंधेरा रहता था। वे पूजापाठ करते समय दीपक जला लेते थे। आजकल के बड़े-बड़े मकानों में तथा बाहर बड़ा मंडप बना कर पूजा, यज्ञ आदि का उत्सव किया जाता है। वहाँ बहुत उज्ज्वल, बिजली-बत्तियों के जलते हुए भी स्त्रियाँ एक-एक छोटा दीपक पूजा के स्थान में जला रखती हैं।

ईसामसीह के समय लोग अग्नि, वायु, जल, वृक्ष, पर्वत आदि की पूजा करते थे। परम संत ईसा के निर्मल अन्तःकरण में भावना उत्पन्न हुई कि समस्त जीवों के जनक प्रभु ईश्वर एक हैं। इस एकेश्वरवाद के प्रचार से अंधी जनता बिगड़ गयी। उन्होंने राजा के पास जाकर उनके विरुद्ध अभियोग किया। फलस्वरूप राजा के विचार से लकड़ी के क्रास में उनके हाथ-पैर-छाती-ललाट आदि स्थानों में बड़ी बड़ी कीलें ठोंक कर उनकी हत्या की गयी। मरने के पहले उन्होंने प्रभु से जो अन्तिम प्रार्थना की, उसमें ये शब्द थे—"पिता, इन्हें क्षमा कीजिएगा, ये नहीं जानते कि क्या काम कर रहे हैं।"

इस्लाम-धर्म के प्रवर्तक पैगंबर मुहम्मद साहब ने भी एकेश्वरवाद का प्रचार किया था। उस समय अरब के निवासी पत्थर, सूरज, बादल, नदी आदि की उपासना करते थे। उनके अंध-विश्वास पर आघात पड़ने से जनता ने जाकर अरब के बादशाह से मुहम्मद साहब के विरुद्ध

अभियोग किया। बादशाह की आज्ञा से मुहम्मद साहब को पकड़ लाने के लिए सिपाही दौड़े। पहले से पता लगने पर वह मक्का से भाग कर बहुत दूर मदीना चले गये।

फारस में भी इस्लाम धर्म का प्रचार बढ़ने लगा। वहाँ के बादशाह के प्रभाव से लाखों मनुष्य अपना प्रचलित अंधविश्वास छोड़ कर इस्लाम धर्म में दीक्षित हुए, किन्तु कट्टर अग्निपूजक वहाँ से भाग कर भारत आ गये।

आदिशंकराचार्यजी ने वेद के अंतिम भाग उपनिषदों के अद्वैत मत का प्रचार किया। उस समय बौद्ध धर्म से प्रायः समस्त भारत प्लावित हो गया था। सम्राट् अशोक आदि भारत के प्राय: सभी राजा-महाराजा बौद्ध हो गये थे। बौद्ध पंडित ही राजाओं का संचालन करते थे। आचार्य शंकर एक-एक कर राजाओं के सभाओं में पहुँचे और शास्त्रार्थ में समस्त बौद्ध विद्वानों को हरा कर उन्हें तथा राजाओं को सनातन धर्म में लौटा लाये। इस प्रकार भारत से अवैदिक बौद्ध धर्म पूर्णतया विलुप्त हो गया। बहुत से अंध-विश्वासी बौद्ध भारत से भाग कर ब्रह्मदेश, तिब्बत, चीन, जापान आदि विदेशों में चले गये थे। भारत के पूर्वी प्रांत पार्वत्य अंचल असम में कुछ तांत्रिक बौद्ध रह गये थे। जब आचार्य शंकर वहाँ पहुँचे तो शास्त्रार्थ में पराजित होकर उन लोगों ने आचार्य पर तांत्रिक मारण का प्रयोग किया। फलस्वरूप उन्हें भयंकर रक्तामाशय रोग हो गया। उनके शिष्यों और भक्तों ने उन्हें भारत में लौटा लाकर चिकित्सा और सेवा-सुश्रूषा के द्वारा उन्हें बचा लिया था।

अन्धस् (नं०) अंधकारिता, अँधेरा; अन्न।

अन्धिका (स्त्री०) रात्रि, रात, एक प्रकार का खेल, विलक्षण आचारण वाली स्त्री, एक प्रकार का नेत्र-रोग।

अन्धुः (पुं०) कूआँ, कूप।

अन्ध्रः (पुं०) एक जाति का नाम, एक देश का नाम, निम्न या संकर जाति का मनुष्य।

अन्ध्रभृत्यः (पुं०) दक्षिण भारत का प्रसिद्ध राजवंश जिसका उल्लेख पुराणों (ब्रह्मांड, मत्स्य, विष्णु, वायु) तथा श्रीमद्भागवत में मिलता है। संस्कृत साहित्य में अन्यत्र भी कहीं कहीं पर अंध्रों का विवरण मिलता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में अंध्र, पुंड्र, शवर तथा पुलिंद जातियों को दस्यु श्रेणी में रखा है और उनको विश्वामित्र के परित्यक्त पुत्रों की संतान माना है। बाण ने कादंबरी में शवरों को विंध्य के जंगलों का निवासी माना है। अशोक ने अपने १३वें शिलालेख में आंध्रों तथा पुलिंदों को अपनी प्रजा माना है। पुराणों के मतानुसार अंध्र वंश के सिमुक अथवा शिशुक ने अंतिम कराव सम्राट् सुशर्मन का वध कर राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली थी।

अन्ध्रवंशः (पुं०) एक प्रचीन राजवंश।

अन्ध्र वंश के राजाओं का विवरण ब्रह्मांड-पुराण में मिलता है (अंध्रानां संस्थिते वंशे तेषां भृत्यान्वय पुनः। सप्तैवांन्ध्रा भविष्यन्ति दशभीरास्ततो नृपाः)।

अन्न (वि०) खाया हुआ, भक्षित।

अन्नः (पुं०) सूर्य, तपन, रवि।

अन्नकाम (वि०) भोजन का इच्छुक।

अन्नकालः (पुं०) भोजन करने का उपयुक्त समय।

अन्नकूटः (पुं०) अन्न के पर्वत बनाने का त्योहार। यह कृषि और धन संबंधी पर्व है। कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा को यह उत्सव मनाया जाता है। यह दीपावली के दूसरे दिन पड़ता है। यह प्राचीन गोबर्धन-पूजा की तरह ही मनाया जाता है। ग्रामों में यह गोधन की पूजा के रूप से प्रसिद्ध है। इसी गोधना की मिठाइयों को भैयादूज के दिन प्रत्येक भारतीय नारी अपने भाइयों को खिलाती हैं।

वाराणसी के मन्दिरों में खासकर अन्नपूर्णाजी के मन्दिर में उस दिन अन्नों तथा मिठाइयों के ढेर लगाये जाते हैं और दूसरे दिन प्रसाद के रूप में बाँटे जाते हैं। इस अन्नकूट को देखने के लिए प्रतिवर्ष वाराणसी में अनेक यात्रियों का समागम होता है।

अन्नकोष्ठकः (पुं०) अनाज रखने का भंडार; विष्णु, सूर्य।

अन्नग्रन्थिः (पुं०) संग्रहणी, अतिसार।

अन्नचिन्ता (स्त्री०) खाद्य वस्तु घर में न रहने से मानसिक उद्वेग (दरिद्रस्य गुणाः सर्वे भस्माच्छादित-वह्निवत्। अन्नचिन्ता-पराभूतनरेषु कविता कुतः--पंचतंत्र)।

अन्नजलम् (न०) भोजन और जल, रोटी-पानी।

अन्नदातृ (पुं०) अन्नदाता, पोषणकर्ता, राजा, (जनिता चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति। अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः-पंचतन्त्र), शिव, महादेव।

अन्नदासः (पुं०) केवल भोजन लेकर काम करनेवाला नौकर, सेवक।

अन्नदेवताः (पुं०) अन्न के अधिष्ठाता देवता।

अन्नदोषः (पुं०) निषिद्ध अन्न खाने से उत्पन्न होने वाला दोष या लगने वाला पाप।

अन्नद्वेषः (पुं०) अन्न से अरुचि, भूख का अभाव।

अन्नपूर्णा (स्त्री०) दुर्गा देवी का एक नाम। यह लोगों को धनधान्य प्रदान करती हैं। एक समय इनके पति महादेव जी इनसे भिक्षा माँगने आये थे। वाराणसी में विश्वनाथ जी के मंदिर के निकट अन्नपूर्णा जी का मंदिर सुप्रसिद्ध है। लाखों व्यक्ति प्रति वर्ष विश्वनाथ जी के अनंतर अन्नपूर्णा जी का पूजन-अर्चन करते हैं।

अन्नप्राशः (पुं०), अन्नप्राशनम् (नं०) सोलह संस्कारों में से एक जिसमें छोटे शिशु को प्रथम बार अन्न खिलाया जाता है।

अन्नबुभुक्षु (वि०) अन्न खाने का इच्छुक।

अन्नभक्षणम् (नं०) अन्न खाने की क्रिया, भोजन करना।

अन्नभुज् (पुं०) अन्न खाना; शिव, महादेव।

अन्नम् [वेद] (न०) जल, पानी (हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै—ऋ० २।७; २३।५); भोजन, खाद्य, भात, अनाज)।

अन्नमय (वि०) अन्न से निर्मित।

अन्नमयकोशः (-षः) (पुं०) तलवार के कोश (म्यान) की तरह आत्मा के पाँच कोश कल्पित किये गये हैं—(१) सबसे बाहर का आवरण स्थूल शरीर अन्नमय कोश है (पितृभुक्तान्नजाद् वीर्याद् जातोऽन्नेनैव वर्धते, देहः सोऽन्नमयः—पंच० ३।३)। (२) प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान—इन पाँच प्राणों की समष्टि ही प्राणमय-कोश है। (३) वाक्, पाणि, पाद, वायु, उपस्थ तथा मन की समष्टि ही मनोमय कोश है। (४) श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण तथा बुद्धि की समष्टि ही विज्ञानमय कोश है। (५) उपरोक्त चार कोशों का कारण रूप अविद्या ही आनंदमय कोश है; सुषुप्तिकाल में अति सूक्ष्म भावरूप अज्ञानवृत्ति द्वारा यह आत्मा के आनंद की उपलब्धि करता है। इसी कारण इसे आनंदमय कोश कहते हैं।

अन्नमयम् (न०) अन्न की बहुलता, भोज्य पदार्थों की अधिकता।

अन्नमलम् (न०) मल, विष्ठा, मदिरा, शराब।

अन्नमूल (वि०) अन्न ही मूल अर्थात् शरीर की रक्षा का कारण जिसमें है (अन्नमूलं बलं पुंसां बलमूलं हि जीवितम्। तस्मात् यत्नेन संरक्षेत् बलं च कुशलोभिषक्—भाव-प्रकाश)।

अन्नम्भट्टः (पुं०) तर्कसंग्रह के प्रणेता। यह ईसा की १६वीं शताब्दी में दाक्षिणात्य में पैदा हुए थे। प्राचीन और नवीन न्याय का सामंजस्य करके इन्होंने "तर्कसंग्रह" आदि ग्रंथ लिखे थे। तर्कसंग्रह पर अन्नम्भट्ट की ही तत्त्व-संग्रह दीपिका नामक टीका भी है।

अन्नलिप्सा (स्त्री०) भोजन की आकांक्षा, क्षुधा।

अन्नविकारः (पुं०) अपच के कारण पाकाशय में होने वाली गड़बड़ी।

अन्नसंज्ञक (वि०) अन्ननामक; अन्नमयकोश इस नाम का।

स्थूल शरीर का नाम अन्नमय कोश है। पिता-माता के भक्षित अन्न से यह स्थूल शरीर उत्पन्न होता है और अन्न से ही बढ़ता है। इस कारण इसको अन्नमय कोश कहते हैं। तलवार की म्यान की तरह यह कोश मानो आत्मा को आवृत्त कर रखता है, इस कारण इसका नाम कोश पड़ा है (स्यात्पंचीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः—पञ्चदशी १।३४)।

ऐसे कोश और भी चार हैं (अन्नमयकोशः देखिए)।

अन्नाच्छादनम् (न०) भोजन और वस्त्र।

अन्नाद्यम् (न०) उपयुक्त भोजन।

अन्नार्थिन् (वि०) भोजन माँगने वाला।

अन्नाहारिन् (वि०) भोजन करने वाला।

अन्य (वि०) अपर, दूसरा, भिन्न, विलक्षण, असाधारण, गैर (जातः सूर्यकुले पिता दशरथः क्षौणीभुजामग्रणीः। सीता सत्यपरायणा प्रणयिनी यस्यानुजो लक्ष्मणः। दोर्दण्डेन समोऽपरो भुवने प्रत्यक्षविष्णुः स्वयम्। रामो येन विडम्बितोऽपि विधिनाऽन्येषां नृणां का कथा अर्थात् जो जगत्-पूज्य सूर्यवंश में जन्मे थे, जिनके पिता महाराजा दशरथ थे, जो राजाओं में अग्रणी थे, जनकनंदिनी सीता जिनकी सत्यपरायणा प्रणयिणी थीं, वीरश्रेष्ठ भ्रातृ-प्रेमी लक्ष्मण जिनके कनिष्ठ भ्राता थे, संसार में जिनके समान वीर कोई नहीं था, जो प्रत्यक्ष विष्णु-स्वरूप थे, ऐसे रामचंद्र भी जब विधि के द्वारा विडंबित अर्थात् दुःख-प्राप्त

हुए थे तो अन्य साधारण मनुष्य भाग्यचक्र से दुःख पायेगा इसमें बात ही क्या है ?)।

अन्य व्यक्ति के असदाचरण से जो मनुष्य क्रोध करके अपने को दुःखी बनाता है उसे बुद्धिमान नहीं कहा जाता, क्योंकि अन्याय किया उसने और दुःखी बनाया मैंने अपने को, इससे अधिक मूर्खता की बात और क्या हो सकती है ? क ने ख को गाली दी। ख को क्रोध आया। क्रोध तो महान दुःख है। संसार में प्रायः सर्वत्र यही स्थिति प्रत्यक्ष होती है। प्रातःस्मरणीय विद्वान् स्व० ईश्वरचंद्र विद्यासागर महाशय से किसी ने आकर कहा—"अमुक पंडित आपकी निंदा कर रहे थे।" सुनकर वे हँस पड़े। बाद में उन्होंने कहा—"मुझे स्मरण नहीं आता कि मैंने कभी उसका कोई उपकार किया हो।" सज्जनों की नीति है "देखो और हंसो।" हर बात पर हँस सको तो तुम्हें जीवन में कभी रोना नहीं पड़ेगा, जीवन आनंद से बीतेगा। हर मनुष्य को चाहिए कि ऐसी बातें कहे जिससे श्रोता हँस पड़े।

अन्यः (पुं०) दूसरा व्यक्ति, दूसरी वस्तु, भिन्न पदार्थ, अपर मनुष्य (योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। योनिमन्येऽनुसंयान्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्—कठोपनिषद् २।५।७)। कुछ अन्य मनुष्य निम्न कोटि के पशु-जन्म भी अपने कर्म और ज्ञान के संस्कार के अनुसार प्राप्त करते हैं। दूसरे कुकर्म करने वाले व्यक्ति वृक्ष आदि स्थाणु-जन्म में भी उत्पन्न होते हैं। यह इसलिए कहा गया है कि जो मनुष्य पशु और वृक्ष जन्म का क्लेश न पाना चाहते हों, उन्नत ब्राह्मण, देवता आदि के घर उत्पन्न होकर सदा शांत चित्त से शांति लाभ करने की आकाँक्षा रखते हों, वह सर्व प्रकार से दुराचरणों को छोड़कर सदा शुभकर्म करते रहें तथा उत्तम आत्मज्ञान लाभ करें (तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय——श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।८)। जिस आत्मा के संबंध में विवरण दिया गया है उस आत्मा को जानकर ही मनुष्य मृत्यु रूप दुःख का अतिक्रमण कर सकता है अर्थात् पुनः उसे इस संसार में जन्म ग्रहण करके दुःख भोग नहीं करना पड़ेगा। मुक्ति प्राप्त करने के लिए इस आत्मज्ञान के अतिरिक्त और कोई पथ नहीं है। (गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता-गीतामाहात्म्यम्)। गीता का अध्ययन पूर्णरूप से करना चाहिए। दूसरे शास्त्रों से क्या लाभ ? क्योंकि गीता का स्वयं पद्मनाम श्रीकृष्ण के मुख-कमल से निर्गत हुई है। गीता उपनिषदों का सार है।

अन्यकाम (वि०) दूसरे को प्यार करने वाला।

अन्यकृत (वि०) दूसरे के द्वारा किया हुआ।

अन्यक्षेत्रम् (न०) दूसरे का खेत, दूसरा राज्य, दूसरे की स्त्री।

अन्यग, अन्यगामिन् (वि०) दूसरे के पास जाने वाला, दूसरे के साथ गमन करने वाला, लंपट।

अन्यगोत्र (वि०) दूसरे के वंश का।

अन्यचित्त (वि०) मनविक्षेप वाला।

अन्यज, अन्यजात (वि०) अन्य जाति का, दूसरे वंश में उत्पन्न।

अन्यजन्मन् (न०) दूसरा जन्म होना, जन्मान्तर।

अन्यत् (वि०) अन्य, भिन्न, दूसरा, अपर, जो एकमत का न हो। दुरात्माओं के मन में अन्य भाव, वचन में अन्य बात और कार्य में अन्य व्यवहार है। किन्तु महात्माओं के मन में जो एक विषय है, वाक्य में भी वहीं विषय तथा कर्म में भी वही व्यवहार है (मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्। मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्)।

अन्यतः (अव्य०) अन्य से, एक ओर, अन्यत्र, अन्य ओर।

अन्यतम (वि०) बहुतों में से एक।

अन्यतर (वि०) दो में से एक।

अन्यतरतः (अव्य०) दो प्रकारों में से कोई एक प्रकार से।

अन्यतरेद्युः (अव्य०) दो में से किसी एक दिन, एक दिन अथवा दूसरे दिन।

अन्यता (स्त्री०) भिन्नता, पार्थक्य, भेद।

संसार के सारे पदार्थ भिन्न-भिन्न होने के कारण हर एक में स्वभिन्न वस्तुओं से अन्यता रूप धर्म है। अन्यता या भिन्नता धर्मयुक्त पदार्थ नाशवान हैं। इस अनुमान से न्याय-दर्शन-प्रतिपादित आकाश, काल, दिक्, आत्मा और परमाणु तथा सांख्यपरिकल्पित प्रकृति और अगणित पुरुष अन्यता-धर्मयुक्त होने के कारण नाशवान प्रमाणित होते हैं। (अद्वैतवादः देखिए)।

केवल वेदान्त के सिद्धांतानुसार ब्रह्म में अन्यता नहीं है; क्योंकि इस मत में सारी सृष्टि ही माया-कल्पित है। कल्पित वस्तु से सत्य वस्तु की भिन्नता नहीं मानी जाती। इसी कारण ब्रह्म नित्य है।

जिस प्रकार प्रकाश का अभाव अंधकार है और इस कारण प्रकाश अंधकार का प्रतिद्वन्द्वी (विरोधी) है, उसी प्रकार स्वयं कूटस्थ आत्मा अन्यता का प्रतिद्वंद्वी है अर्थात् आत्मा में अन्यता नहीं है (अन्यतायाः प्रतिद्वन्द्वी स्वयं कूटस्थ इष्यताम्— पंचदशी ६।५०)।

अन्यत्र (अव्य०) अन्य स्थान में (भिक्षुक, त्वमन्यत्र गच्छ); अलग, पृथक्, भिन्न (अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद—कठोपनिषद् १।२–१४)। नचिकेता धर्मराज से कहते हैं—धर्म से भिन्न, अधर्म से पृथक्, उत्पन्न सृष्टि से अलग, अनुत्पन्न कारणता से पृथक् भूतकाल से भिन्न, भविष्य से भी पृथक्—ऐसे जिस आत्मा को आप जानते हैं, उसके विषय में मुझे बताइये। इस कथन से ही आत्मा का स्वरूप बहुत कुछ व्यक्त हो गया है। धर्माधर्म माया-कल्पित सृष्टि में है, कार्य-कारण-भाव भी माया-कल्पित है। यथार्थ में सृष्टि उत्पन्न होती तो आत्मा को कारण कहा जा सकता था। भूतकाल में और भविष्य में कहना भी अनावश्यक है। क्योंकि आत्मा सर्वकाल में विराजित है। इस कठश्रुति-मन्त्र के व्याख्याकारों ने भूत और भविष्य शब्दों के द्वारा उपलक्षण करके वर्तमान को भी मानकर आत्मा को त्रिकालातीत कहा है। वस्तुतः यहाँ कष्ट-कल्पना करके वर्तमान को खींच लाने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा केवल वर्तमान में ही उपलब्धव्य है, क्योंकि इसी कठोपनिषद में अन्यत्र लिखा है कि "अस्तीत्येवोपलब्धव्यः"—२।६।१३। और भी लिखा है—'अस्ति' कहे बिना अन्यत्र कैसे आत्मा की उपलब्धि होगी? (अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तद् उपलभ्यते?—कठोपनिषद २।६।१२)।

काल तो कोई वस्तु ही नहीं है। माया-कल्पित पदार्थों की प्रतीति होती है किन्तु काल की प्रतीति भी नहीं होती। मिथ्या संसार के मिथ्या पदार्थों के समान काल का व्यवहार मात्र होता है। सांख्य के आचार्यों ने कहा है—वायु की गाँठ की तरह भीतर गाँठ वाले काल का प्रयोजन क्या है? (किमनेन अंतर्गडुना कालेन इति सांख्याचार्याः)।

अन्यत्रमनस्, अन्यमनस्क (वि०) जिसका ध्यान स्थिर न हो, असावधान (अन्यत्रमनसो ज्ञानं न भूतं न भविष्यति)।

अन्यत्वम् (नं०) अन्यता, भिन्नता।

अन्यत्ववारक (वि०) भिन्नवस्तुओं का निवाकरण करने वाला। स्वयं, निज आदि शब्द वक्ता से भिन्न सभी पदार्थों का निषेध करते हैं (अन्यत्ववारकं स्वत्वम्—पञ्चदशी ६।४२)।

नेति-नेति विचार आत्मा भिन्न समस्त मायाकल्पित जीव-जगत का निषेध करता है (नेह नानास्ति किञ्चन—कठोपनिषद २।४।११)। अतः आत्मविचार तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन, आत्मविज्ञान भी अन्यत्वकारक हैं।

इसी प्रकार त्रिविध शरीरों और पंचविध कोशों का निवारण होने से 'मैं कूटस्थ आत्मा हूँ' ऐसा विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे इस जीवन में ही चित्त के शोक-दुःख, भूख-प्यास आदि समस्त दुःखों से मुक्ति मिल जाती है (जीवन्मुक्तिः देखिए)।

अन्यथा (अव्य) नहीं तो, इसके बिना, मिथ्यापन से, भूल से, अशुद्धता से, अन्यरूप से (यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्। कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते। अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः स्युर्देवता कथम्?—पंच ६।११)।

अन्यथाकार (वि०) परिवर्तन करने वाला।

अन्यथाकृत (वि०) परिवर्तन किया हुआ, परिवर्तित।

अन्यथाख्यातिः (स्त्री०) कारण से कार्यवस्तु की भिन्नता का ज्ञान। न्याय और वैशेषिक दर्शनों के मत में मृत्तिका, सूत्र आदि कारणों के अतिरिक्त घट, वस्त्र आदि पृथक पदार्थ हैं। उनका कहना है कि मृत्तिका और सूत्र से घट और वस्त्र भिन्न ही प्रतीत होते हैं और उनके व्यवहार भी भिन्न-भिन्न हैं। इसी कारण उन्हें अन्यथाख्याति-वादी कहते हैं।

किंतु वेदांत के मतानुसार घट, वस्त्र आदि कार्य-पदार्थों में मृत्तिका, सूत्र आदि कारणों की सत्ता नहीं है, इसी कारण वह अनिर्वचनीय है (अख्यातिः और अद्वैतवादः देखिए)। कारणसत्तातिरिक्त पृथक् सत्ता न रहने पर भी सांसारिक पदार्थों से पृथक पृथक व्यवहार होने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि वेदांत-मत में असत् का ही व्यवहार है। सत् वस्तु आत्मा या ब्रह्म का कोई व्यवहार नहीं है।

अन्यथात्वम् (न०) विरुद्ध अवस्था, अंतर।

अन्यथानुपपत्तिः (स्त्री०) समवायी कारण। किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए उपादान कारण और निमित्त कारण ही प्रधान है। परंतु एक और भी कारण है जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं होती। जैसे घट के लिए कपाल और कपालिका का संयोग अथवा वस्त्र के लिए सूत्रों का संयोग। जैसे उपादान कारण मिट्टी को निकाल लेने पर घट और सूतों को निकाल लेते पर वस्त्र लुप्त हो जाते हैं उसी प्रकार उन संयोगों को विभक्त कर देने पर न घट रहता है, न वस्त्र। उपादान कारण को न्यायमत में समवायी कारण कहा गया है (यत् समवेतं कार्य-मुत्पद्यते तद् समवायिकारणम्। यथा तंतवः पटस्य कार्येण कारणेन वा सह एकस्मिन् अर्थे समवेतत्वे सति यद् कारणं तदसमवायी कारणम् यथा तंतु-संयोगः पटस्य—तर्क संग्रह ४०)। यही अन्यथानुपपत्ति है। इन दोनों से भिन्न यंत्र आदि निमित्त कारण है, जैसे—ढरकी, करघा आदि (तदुभयभिन्नं कारणं निमित्तकारणम् यथा तुरीवेमादिकं पटस्य—तर्कसंग्रह ४०)।

अन्यथाभावः (पुं०) परिवर्तन, उलट-फेर।

अन्यथाभूत (वि०) परिवर्तित, बदला हुआ।

अन्यथावादिन् (वि०) असत्यभाषी, मिथ्यावादी।

अन्यथावृत्ति वि०) परिवर्तित, उत्तेजित।

अन्यथासिद्ध (वि०) अनुचित ढंग से प्रमाणित या स्थापित, अनावश्यक।

अन्यथासिद्धिः (स्त्री०) न्याय-मत में एक दोष, जिसमें यथार्थ नहीं, वरन् कोई मिथ्या कारण दिखला कर किसी विषय की सिद्धि की चेष्टा हो, मिथ्या अनुमान।

अन्यथास्तोत्रम् (न०) व्यंग्य, ताना।

अन्यदा (अव्य०) दूसरे अवसर पर, किसी अन्य दिशा में, कभी कभी।

अन्यदीय (वि०) अन्य से संबंध रखने वाला।

अन्यदुर्वह (वि०) दूसरों द्वारा न ढोने या उठाने योग्य।

अन्यदेशीय (वि०) भिन्न देश का, अनागरिक। यह शब्द उस व्यक्ति के लिए प्रयोग में लाया जाता है जिसे उस देश की नागरिकता न प्राप्त हो, जिसमें कि वह रह रहा हो। प्राचीन काल से हो इस शब्द से उस वर्ग-विशेष का संबंध माना जाता रहा है जो किसी भूभाग के एक मंडल में रहता हो। अन्य लोगों को, जो इस वर्ग में शामिल न थे, बर्बर कहा गया है। अविश्वास, भय, घृणा आदि वृत्तियाँ तथा आदर, सम्मान आदि प्रवृत्तियाँ भी इसी अन्यदेशीय शब्द से उत्पन्न हुई हैं। एक ग्राम का निवासी दूसरे ग्राम में अन्यदेशी कहा गया है। इस कारण उसके अधिकार भो सीमित होते थे। स्थानीय संपत्ति में उसका हक नहीं रहता था। मध्ययुग में अन्य देशी विदेशियों को समझा जाता रहा। सांस्कृतिक एकता ने ही अन्य देशीयता के सिद्धांत को निश्चित किया। एक समाज के लोगों के लिए दूसरे समाज के व्यक्ति वर्बर या म्लेच्छ थे।

वर्तमान युग में भी इस प्रक्रिया को प्रश्रय मिला है लेकिन उसका दृष्टिकोण प्राचीनता से भिन्न है। उसका रूप पूँजीवादी तथा साम्यवादी ढंग के तौर पर है। वैज्ञानिक प्रकृति जब मनुष्य को किसी ग्रह पर भेज देगी तब इस अन्यदेशीयता का आधार नक्षत्र की संसक्ति ही होगी।

अन्यदेशीय एक अजीब अपरिचित विदेशी वातावरण में अपने को घिरा मानकर दुःखी-सुखी होता है, उस अन्य-देशीय के लिए सर्वत्र एक गहरी खाई ही दिखाई पड़ती है। परिणाम यह होता है कि वह उन रीतिरिवाजों तथा परंपराओं से अपने को मुक्त समझता है। वह साक्षी बन कर उन्हें देखता है। वह उनके लिए न्याय-संगत निर्णय ही देता है। वह अन्यदेशीय उस देश के एक वर्गविरोधी दल में मिल भी जाता है। जब कि विभिन्नताओं से वह घबरा जाता है तो एक अल्प संख्यक विरोधी दलों का साथ भी देने के लिए तत्पर हो जाता है।

अन्यधी (वि०) जिसका चित्त दूसरी ओर लगा हो।

अन्यनाभि (वि०) दूसरे वंश या कुल का।

अन्यपर (वि०) दूसरों के प्रति अनुरक्त, दूसरी वस्तु को प्रकट करने वाला।

अन्यपुष्टः (पुं०), अन्यपुष्टा (स्त्री०) वह जिसका पालन-पोषण दूसरों के द्वारा हुआ हो, कोयल।

अन्यपूर्वा (स्त्री०) वह स्त्री जिसके विवाह का वचन पहले किसी दूसरे को दिया गया हो और उसका विवाह किसी अन्य के साथ हो।

अन्यबीजः (पुं०) गोद लिया हुआ लड़का, दत्तक पुत्र।

अन्यभृतः (पुं०) कोयल, पिक।

अन्यमनस्क (वि०) जिसका चित्त स्थिर न हो, असावधान ।

अन्यमातृजः (पुं०) सौतेला भाई ।

अन्यराष्ट्रीय (वि०) अन्य राज्य से संबंध रखने वाला ।

अन्यरूप (वि०) दूसरा रूप वाला, दूसरे रूप में बदला हुआ, परिवर्तित ।

अन्यर्हि (अव्य०) दूसरे समय ।

अन्यलिङ्गक (वि०) दूसरे लिंग के अनुसार (शब्द) ।

अन्यवर्ण (वि०) दूसरे रंग वाला, दूसरे रंग का ।

अन्यवापः (पुं०) कोयल ।

अन्यसक्त (वि०) अन्य पर आसक्त या मोहित (यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता, साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः । अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या, धिक् तं च तां च मदनं च इमां च मां च—भर्तृहरि) ।

अन्यसङ्गमः (पुं०) अन्य के साथ संपर्क या भोग-संबंध । पति-पत्नी का संगम वैध है, किंतु उन दोनों के लिए अन्य स्त्री या पुरुष का संगम अवैध है । साधारण जन ऐसे अवैध संगम सहन नहीं कर सकते, अति प्रिय पत्नी या पति की हत्या तक कर डालते हैं । मानिनी स्त्री पति का अन्य-संगम एकदम सहन नही कर सकती, किसी-किसी के आत्महत्या करने तक की घटना संघटित होती है । (न मानिनी सहतेऽन्यसङ्गमम्)—न सहने का कारण प्रिय मानना ही है ।

महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहा था कि "संसार में किसी को प्रिय नहीं मानना चाहिये, क्योंकि प्रिय तुम्हें रुलायेगा (प्रियस्त्वां रोत्स्यति—बृहदारण्यक १।४।८) ।

स्रोत-जल में दो-चार सिवार आकर मिल जाते हैं । कुछ समय तक वे मिलकर बहते रहते हैं, कभी प्रबल स्रोत लगा तो उनमें से एक-दो पृथक् हो जाते हैं । अंत में सभी समुद्र में जा पहुँचते हैं । इसी प्रकार नदी-प्रवाह के तुल्य इस संसार में (संसरति इति संसारः अर्थात् सभी सरकते जाते हैं, इसीलिए यह संसार है । गच्छति इति जगत अर्थात् चलता जाता है, इसी से इसका नाम जगत है । कभी स्थिर नहीं रहता, प्रतिक्षण परिणत होता या बहता जाता है) । एक मनुष्य के साथ पत्नी, पुत्र, कन्या, पौत्र, दौहित्र आदि मिल जाते हैं, फिर काल-प्रभाव से उनमें एक-दो करके पृथक् भी होते जाते हैं । मिलन के समय यदि आसक्ति हो और उन्हें प्रिय माना जाय, तो वियोग के समय शोक अवश्य होगा (अशोच्य देखिए) ।

संसार में कोई किसी का नहीं है (का ते कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयं अतीवविचित्रः, कस्य त्वं वा कुतः आयातस्तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः—मोहमुद्गर ७) । ऐसी परिस्थिति में परिवार के किसी को प्रिय मानने से शोक का दुःख मोल लेना पड़ता है । बिना प्रिय माने भी संसार का निर्वाह हो सकता है । बड़े आदमी के घर की नौकरानी मालिक के बच्चों को कितना प्यार करती है, कितने यत्न से वह उनका पालन-पोषण करती है, परंतु जब नौकरी छूट जाती है तो उन बच्चों के वियोग से दिखाने के लिए भले ही एक-दो बूँद आँसू गिराये, परंतु शोक का कष्ट उसे नहीं होता, क्योंकि वह मन में जानती थी कि ये बच्चे मेरे नहीं हैं । ऐसे ही किसी धनी का प्रबंधक कर्मचारी अपने मालिक के धन या असबाब को बहुत सावधानी से सुरक्षित रखता है, परंतु मन में जानता है कि बेतन के अतिरिक्त कोई भी चीज अपनी नहीं हैं । इस कारण यदि मालिक का धन या कोई मूल्यवान पदार्थ चोरी चला जाय तो उससे उसको शोक नहीं होता ।

इस विचार से परिवार के किसी से भी प्रिय-संबंध न रखा जाय और सबका पालन-पोषण कर्तव्य-बुद्धि से किया जाय तो संसार सुखमय हो सकता है और जीवन में कभी प्रिय-वियोगजनित शोक का दुःख नहीं भोगना पड़ता और जीवन आनंद से बीत सकता है ।

अन्यसाधारण (वि०) अन्यों में साधारण या समान ।

अन्यस्त्रीगः (पुं०) व्यभिचारी मनुष्य ।

अन्यादृक्ष, अन्यादृश् (वि०) अन्य के सदृश, अन्य प्रकार का ।

अन्याधीन (वि०) दूसरे के अधीन, पराश्रित ।

अन्यान्य (वि०) अपरापर, दूसरे-दूसरे ।

अन्याय (वि०) अनुपयुक्त, अनुचित ।

अन्यायः (पुं०) विधिविरुद्ध कोई कार्य, अनुचित काम ।

अन्यायिन् (वि०) जो ठीक न हो, अनुचित, अयथार्थ ।

अन्याय्य (वि०) अयथार्थ, अनुचित, अप्रमाणिक ।

अन्यार्थ (वि०) अन्य के लिए, दूसरे के निमित्त (अन्यार्थं सुकृतं कृत्वा नरः पुण्यं समालभेत्)।

मनुष्य आत्मसुख के लिए ही दूसरों के हित का काम करता है (आत्मार्थ देखिए)।

अन्याश्रित (वि०) दूसरे के आश्रित, पराधीन।

अन्यासक्त (वि०) अन्य पर आसक्त या अनुरक्त।

अन्यासाधारण (वि०) जो दूसरों के लिए सामान्य न हो, विचित्र, विलक्षण।

अन्यून (वि०) जो कम या न्यून न हो, समस्त, संपूर्ण, समूचा।

अन्यूनाङ्ग (वि०) जो विकलांग न हो, जिसके सब अंग ठीक हों।

अन्येद्युः (अव्य०) दूसरे दिन, अगले दिन, किसी दिन।

अन्योढा (स्त्री०) दूसरे की पत्नी, किसी अन्य की विवाहिता स्त्री।

अन्योत्पन्न (वि०) दूसरे से उत्पन्न।

अन्योदर्य (वि०) दूसरे के गर्भाशय से जन्मा हुआ।

अन्योदर्यः (पुं०) सौतेलो माँ का पुत्र, विमाता से उत्पन्न पुत्र।

अन्योन्य (अव्य०) आपस में, परस्पर, एक दूसरे के साथ।

अन्योन्यधर्मसाङ्कर्यः (पुं०) परस्पर में एक दूसरे के धर्म का मिश्रण या सांकर्य। एक वस्तु में दूसरी वस्तु के गुण का मिश्रण होने से सांकरता उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य का गुण वृक्ष में और वृक्ष का गुण मनुष्य में होने से सांकरता उत्पन्न होती है। वायु एकाएक पृथ्वी का भारीपन नहीं प्राप्त कर सकती। समुद्र पर्वत नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार सांकर्य उत्पन्न हो तो संसार एक ही दिन में नष्ट-भ्रम हो जाय। इस कारण सभी भिन्न-भिन्न पदार्थों के गुणों को बनाये रखने के लिए संसार में एक ईश्वरीय नियामिका शक्ति है। (शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित् सर्ववस्तु-नियामिका—पंचदशी ३।३८)। यदि यह—ईश्वरीय शक्ति वस्तुओं के गुणों को नियमित न रखे तो परस्पर एक दूसरे के धर्मों (गुणों) का मिश्रण या सांकर्य होने से जगत का ही प्रलय हो जाय (वस्तुधर्मा नियम्येरन् शक्त्या नैव यदा तदा। अन्योन्यधर्मसाङ्कर्यात् विप्लवेत जगत् खलु—पंचदशी ३।३९)।

अन्योन्याध्यासः (पु०) इतरेतराध्यास, परस्पर अध्यास। यह भ्रम-ज्ञान है (अध्यासः देखिए)। रज्जु में सर्प का अध्यास, सीप में चाँदी का अध्यास, मरुस्थल में जल का अध्यास, स्थाणु में पुरुष का अध्यास, कूटस्थ आत्मा में स्वाप्निक जगत का अध्यास, ब्रह्म में जगत का अध्यास होता है। कूटस्थ आत्मा में जड़ देह का अध्यास और जड़ देह में कूटस्थ की चेतना के अध्यास को अन्योन्याध्यास कहते हैं (अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव—पंच ६।१९०)। इसी अन्योन्याध्यास अथवा इतरेतराध्यास के अवलंबन से समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार, विधिशास्त्र, निषेधशास्त्र, यहाँ तक कि मोक्षशास्त्र भी प्रवर्तित होते हैं (तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाण-प्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि—ब्रह्मसूत्र शांकर-भाष्यभूमिका)।

अज्ञान के कारण ही जड़ देह में चेतन आत्मा का अवलंबन किये विना कोई भी लौकिक व्यवहार संपन्न नहीं हो सकता, शास्त्रीय यज्ञ-पूजा आदि भी नहीं हो सकते। मोक्षशास्त्र कहने और सुनने वाले दोनों ही को देह में आत्माध्यास कर लेना पड़ता है। अतः समस्त व्यवहार हो अज्ञान ग्रहण पूर्वक अनुष्ठित होते हैं। मोक्ष-शास्त्र को भी अज्ञान-विजृंभित कह देना केवल आचार्य शंकर जैसे महान विद्वान के किए ही संभव हुआ है। परमार्थतः संसार माया-कल्पित है, ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाने पर सारे लौकिक, वैदिक व्यवहार, विधि, निषेध, मोक्ष, शास्त्र, जन्म-जन्मांतर आदि को मिटा देना कोई बड़ी बात नहीं है।

देहेंद्रियादि के अध्यास के अधिष्ठान रूप आत्मा असंग कूटस्थ चैतन्य रूप है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर अज्ञान के कारण उसके साथ अन्योन्याध्यास के द्वारा जीव पुरुष नाम से प्रसिद्ध हुआ। (भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थासङ्ग-चिद्वपुः अन्योन्याध्यासतोऽसङ्गधीस्थजीवोऽत्र पूरुषः—पंच ७।५)।

अन्योन्याभावः (पुं०) एक वस्तु में दूसरी का अभाव (इदमिदं नीति प्रत्यय-विषयोऽन्याभावः), भेद, पृथक्ता, घट में पट का अभाव तथा पट में घट का अभाव।

अन्योन्याश्रयः (पु०) परस्पराश्रय अर्थात् एक का आश्रय दूसरा तथा उस दूसरे का आश्रय पहला, यह युक्तिहीन मत है, अतः युक्तिविचार में एक दोष है। ऐसे

दोष सात हैं, यह दूसरा है। पहला है, आत्माश्रय यानी स्वयं ही अपना आश्रय। तीसरा है, चक्रकापत्ति, यानी पहले का आश्रय दूसरा, दूसरे का आश्रय तीसरा तथा तीसरे का आश्रय पहला, फिर पहले का आश्रय दूसरा—इस प्रकार आश्रयाश्रयी-भाव निरंतर चक्रवत् घूमता रहेगा, कभी स्थिति नहीं होगी। चौथा है, अनवस्था, यानी पहले का आश्रय दूसरा, दूसरे का आश्रय तीसरा, तीसरे का आश्रय चौथा—इस प्रकार क्रमशः बढ़ता चलेगा, इसमें भी कभी स्थिति नहीं होगी। पाँचवाँ—व्याघात, यानी अपने कथन से अपने ही मत का खंडन हो जाना। छठा—प्रमाणबाधिता, यानी जो मत प्रबल प्रमाण से खंडित हो जाय। सातवाँ—गौरव, यानी अल्प मानने से जहाँ काम चले वहाँ अधिक मानना।

संस्कृत व्याकरण के सूत्र बहुत ही संक्षिप्त हैं। वैसे सूत्रकार आधी मात्रा कम कर सकने से पुत्रोत्सवका आनंद मानते हैं (अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः)। क्योंकि मात्रा, अक्षर या शब्द बढ़ जाने से उनके मत में गौरव दोष आ जाता है। योग और सांख्य दर्शनों के मत में मूल प्रकृति में गुण-वैषम्य ही सृष्टि का कारण है। मूलप्रकृति में सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण सम-परिमाण में रहते हैं (गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः—सांख्य-दर्शन)। जब क्रियात्मक रजोगुण प्रबल हो जाता है तभी सर्वव्यापिका प्रकृति में परिणामात्मिका क्रिया उत्पन्न होती है और घड़े में बंद दूध के दधि हो जाने की तरह महत्तत्त्व, आदि क्रम से सृष्टि होने लगती है (प्रकृतेर्महान्, महतो अहंकारः, अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि एकादशेन्द्रियाणि च—सांख्याकरिका ३)। कारण में विषयता के फलस्वरूप कार्यरूप संसार में सभी विषम हैं। एक वृक्ष में लाखों पत्रों के दो एक-से नहीं हैं, दो मनुष्य एक प्रकार के नहीं मिलते, एक पिता-माता के दस पुत्र दस प्रकार के हैं अर्थात् सृष्टि में सर्वत्र ही विषमता है। इस विषमता का एकमात्र कारण मूल प्रकृति की गुण-विषमता मानने से काम चल सकता है, यहाँ अगणित जीवों की विषमता के कारण रूप से अगणित पूर्व-जन्म-कृत कर्मसंस्कार मानने से दार्शनिकों के मत में गौरव दोष आ जाता है।

अन्योन्याश्रित (वि०) परस्पराश्रित, एक वस्तु दूसरी पर आश्रित तथा वही दूसरी वस्तु उसी एक पर आश्रित है, यह युक्तिविरुद्ध मत है, अतः यह युक्तिविचार में एक दोष है। (अन्योन्याश्रयः देखिए)।

अन्वक् (अव्य०) पीछे से, अनुकूलता पूर्वक।

अन्वक्ष (वि०) प्रत्यक्ष, साक्षात्।

अन्वक्षम् (अव्य०) बाद में, तुरंत ही, पीछे से।

अन्वक्षरसन्धि (पुं०) वेद की एक सन्धि।

अन्वङ्गम् (अव्य०) प्रत्येक भाग के पीछे।

अन्वञ्च (वि०) पीछा करने वाला, अनुसरण करने वाला।

अन्वध्यायम् (अव्य०) प्रकरण या परिच्छेद के अनुसार।

अन्वयः (पुं०) अनुचर, सबंध, व्याकरण में वाक्य की शब्दयोजना, जाति, वंश, न्याय में कार्य-कारण संबंध।

अन्वयज्ञः (पुं०) वंशावली जनने वाला पुरुष।

अन्वयव्यतिरेकः (पु०) एक के साथ दूसरे का रहना अन्वय, एक के साथ दूसरे का न रहना व्यतिरेक (तत् सत्ते तत्सत्ता अन्वयः तदसत्ते तदसत्ता व्यतिरेकः—तर्कसंग्रह)। धूम रहते अग्नि की सत्ता अन्वय है और अग्नि न रहते धूम का न रहना व्यतिरेक है। धूप के न रहते अग्नि का न रहना व्यतिरेक नहीं है, क्योंकि अग्नि में तपाये हुए लोहे में धूम न रहते हुए भी अग्नि है। परंतु वेदांत में इस अन्वयव्यतिरेक का नियम कुछ भिन्न है जैसे——

शरीर के पाँच कोशों से आत्मा को पृथक जानने के लिए इसी प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक किया जाता है इससे आत्मा परम-ब्रह्म-स्वरूप हो जाता है (अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां पंचकोशविवेकतः, स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते—पंच १।३७)।

जागरण काल में स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय कोश के ज्ञान के साथ आत्मा का भी ज्ञान रहता है किंतु स्वप्न काल में स्थूल शरीर का कुछ भी ज्ञान न रहते हुए भी आत्मा का ज्ञान रहता है यही आत्मा का अन्वय है और उस समय आत्मा का ज्ञान रहते हुए स्थूल शरीर का ज्ञान न रहना व्यतिरेक है (अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद्भान-मात्मनः। सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनम्—पञ्च १।३८)।

सुषुप्ति काल में लिङ्ग शरीर का ज्ञान रहते हुए भी आत्मा का ज्ञान अन्वय है और उस समय आत्मा का ज्ञान रहते हुए लिंगशरीर का ज्ञान न रहना व्यतिरेक हैं।

(लिंगाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः । व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिंगस्याभानमुच्यते—पंच १।३९) ।

वैद्यक शास्त्र में अन्वय-व्यतिरेक का अर्थ भिन्न प्रकार का है । आदि काल में मनुष्य—"इस पत्ती के रससे यह रोग आराम होता है, उस जड़ी से वह रोग आरम्भ होता है, अन्य रोग नहीं आराभ होता"—ऐसा अन्वय-व्यतिरेक करके द्रव्यगुण नहीं जान सके थे । क्योंकि जड़ी-बूटियाँ लाखों प्रकार की हैं । ऋषियों ने अपनी योग-ज्ञान से बता दिया था, किस जड़ी से, किस पत्ती से, किस भस्म से कौन-कौन रोग किस-किस अनुपात के साथ सेवन करने से आराम होगा । उन्हीं को चरक-संहिता तथा सुश्रुत-संहिता में लिपिबद्ध कर दिया गया है ।

अन्वयव्याप्तिः (स्त्री०) अनुमान-प्रमाण में अन्वय और व्य'तरेक के द्वारा हेतु-साध्य का नियमित संबंध । जैसे जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है, यह अन्यय है । यहाँ हेतु धूम के द्वारा साध्य अग्नि व्याप्त है । किन्तु जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ-वहाँ धूम न भी रह सकता है । जैसे आग में तपे हुए लोहे का लाल गोला धूम-रहित है । यह व्यतिरेक है ।

अन्वयागत (वि०) वंश-परंपरागत ।

अन्वयित्वम् (न०) आवश्यक परिणाम होने की दशा या अवस्था ।

अन्वर्थ (वि०) अर्थयुक्त, सार्थक ।

अन्ववकिरणम् (न०) यथाक्रम से छितराने या विखेरने की क्रिया ।

अन्ववसर्गः (पुं०) यथेच्छ आचरण की अनुमति, यथेच्छाचार ।

अन्ववसायिन् (वि०) चिपका हुआ, दूसरे पर आश्रित ।

अन्ववसित (वि०) बँधा हुआ, आबद्ध, संबंधयुक्त ।

अन्ववायः (पुं०) कुल, वंश, खानदान ।

अन्ववेक्षा (स्त्री०) सम्मान, विचार ।

अन्वश् (पर०) (अन्वश्नोति, अन्वश्नुते) पहुंचना, समान होना ।

अन्वष्टका (स्त्री०) एक-मातृक श्राद्ध जो अष्टका के पश्चात् पूस, माघ, फाल्गुन और आश्विन की कृष्णा नवमी को किया जाता है ।

अन्वष्टमदिशम् (अव्य०) उत्तर-पश्चिम के कोण की ओर ।

अन्वहम् (अव्य०) दिन-प्रतिदिन, प्रत्येक दिन ।

अन्वाकृतिः (स्त्री०) नकल, अनुकरण ।

अन्वाख्यानम् (न०) पूर्वकथित विषय के पश्चात् की व्याख्या ।

अन्वाचयः (पुं०) मुख्य कार्य की सिद्धि के साथ-साथ अप्रधान की भी सिद्धि ।

अन्वाचित (वि०) गौण, अप्रधान, तुच्छ ।

अन्वादिष्ट (वि०) वाद में वर्णित, पुनर्नियुक्त, गौण, उपयोगी ।

अन्वादेशः (पुं०) किसी कथन के वाद दूसरा कथन, एक आज्ञा के पश्चात् दूसरी आज्ञा या आदेश ।

अन्वादेशक (वि०) पूर्वोक्त कथन से संबंधित ।

अन्वादेशकः (पुं०) अन्वादेश करने वाला व्यक्ति ।

अन्वाधानम् (न०) हवन की अग्नि पर समिधा रखने की क्रिया या भाव ।

अन्वाधिः (पुं०) किसी दूसरे को अर्पित करने के लिए किसी के पास रखी हुई वस्तु, सतत परिताप या पश्चात्ताप ।

अन्वाधेयम, अन्नाधेयकम् (न०) वह स्त्रीधन जो विवाह के वाद उसे पतिकुल अथवा पितृकुल से प्राप्त हो जाता है ।

अन्वायत्त (वि०) संबंधयुक्त ।

अन्वारम्भ (पर०) (अन्वारम्भयति) दूसरे के पीछे स्थापित करना, पकड़ना या ग्रहण करना ।

अन्वारम्भः (पुं), अन्वारम्भणम् (न०) स्पर्श, किसी अनुष्ठान की पूर्ति के बाद यजमान का स्पर्श जो उसका कृत्य सफल होने का सूचक होता है

अन्वारम्भ्य (वि०) पीछे से स्पर्श करने योग्य ।

अन्वारोहणम् (न०) पति की मृत्यु के बाद स्त्री का सती होने के लिए चिता पर आरोहण ।

अन्वारोहणीय (वि०) अन्वारोहण के योग्य, अन्वारोहण से संबंध रखने वाला ।

अन्वालोच् (पर०) (अन्वालोचयति) ध्यानपूर्वक सोचना या विचार करना ।

अन्वाश्रित (वि०) साथ-साथ स्थित या स्थापित ।

अन्वासनम् (न०) सेवा, दुःख, शोक, एक के बैठने के पश्चात दूसरे का उपवेशन।

अन्वासीन (वि०) दूसरे के पश्चात् उपविष्ट।

अन्वाहार्य (वि०) पारिश्रमिक रूप में दिया जाने वाला (खाद्य)।

अन्वाहार्यः (पुं) अग्निहोत्र की दक्षिणाग्नि में पकाया हुआ चावल।

अन्वाहिक (वि०) दैनिक, प्रतिदिन का।

अन्वित (वि०) संबंधयुक्त, आवश्यक भाग वाला, एक श्रेणी में रखा हुआ, समझा हुआ, जाना हुआ।

अन्वितार्थाभिधानवादः (पुं०) पूर्वमीमांसादर्शन में स्वीकृत एक सिद्धांत जिसके अनुसार कोई भी शब्द आज्ञार्थक वाक्यों में प्रयुक्त होने पर ही अर्थबोध कराता है। जैसे घट कहने से अर्थबोध सार्थक नहीं होता जब तक 'घट लाओ' या 'घट हटाओ' न कहा जाय तब तक उसका अर्थ पूरा नहीं होता। इस सिद्धांत के अनुसार जब कोई शब्द आज्ञार्थक वाक्य में अन्य शब्दों से अन्वित (संबंधित) होता है तभी वह पूर्ण अर्थ का ज्ञापक होता है।

जैमिनिकृत पूर्वमीमांसादर्शन का मत है कि वेदशास्त्र क्रियार्थक है अर्थात् 'ऐसा करो' या 'वैसा न करो' इस प्रकार बताने से ही शासनार्थक शास्त्र शब्द सार्थक होता है। इसके अतिरिक्त यथार्थ वस्तु के ज्ञापक शब्द या वाक्य निरर्थक हैं (आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यम् अतदर्थानाम्—जैमिनिसूत्र १।२।१)।

इस मत में धर्मं चर, सत्यं वद, मातृदेवोभव, पितृदेवोभव, मा दिवा स्वाप्सीः, मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि आदि वाक्य शास्त्र हैं। इनके अतिरिक्त यथार्थ-वस्तु-प्रतिपादक सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म—तैत्ति, २।१।१, ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूवः, मुंडक १।१, त्यागात् शान्तिरनन्तरम्—गीता १२।१२) आदि वाक्य निरर्थक हैं।

परंतु वेदांत-मत के अनुसार इन वाक्यों की भी सार्थकता है। विधि-निषेधात्मक वाक्य ही शास्त्र हैं, ऐसा नियम नहीं माना जा सकता। यथाभूत वस्तु के प्रतिपादन से भी परोक्ष रूप में प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। वैराग्यवान मुमुक्षु के सामने यदि कहा जाय—सत्य, ज्ञान और आनंद स्वरूप ब्रह्म हैं और वह ब्रह्म तुम हो (तत्त्वम् असि—छांदोग्य ६।८।७)। देहेंद्रियादि से लेकर समस्त संसार से वैराग्य होने के कारण अपने आत्मा के अपूर्व स्वरूप का तत्त्व सुनकर उसे जानने के लिए वह प्रवृत्त होगा। यह संसार माया मात्र है (मायामात्रमिदं जगत्) ऐसी बात सुनकर वह माया-कल्पित संसार से निवृत्त होगा।

तीन दिनों से भूखे व्यक्ति के सामने थालीभर मिठाई रख देने पर कहना न पड़ेगा कि 'खाओ'। वह स्वयं ही खाने में प्रवृत्त होगा। उसी प्रकार संसारानलसंतप्त विवेकी पुरुष के सामने यदि आत्मा का आनंदमय स्वरूप व्यक्त किया जाय तो वह स्वयं ही आत्मा को जानने के लिए प्रवृत्त होगा। अतः यथास्थित-वस्तु-प्रतिपादक वाक्य निरर्थक नहीं हैं।

कुमारिल-मीमांसा तथा न्याय-दर्शन में उस मत के विपरीत अभिहितान्वयवाद का प्रतिपादन किया गया है।

अन्वितार्थ (वि०) प्रकरण द्वारा ज्ञात, स्पष्ट अर्थवाला।

अन्विति (स्त्री०) बाद में अनुगमन।

अन्वीक्षणम् (न०) निरीक्षण, खोज।

अन्वृचम् (अव्य०) एक पद्य के बाद दूसरा।

अन्वेषक, अन्वेषिन् (वि०) खोज करने वाला, निरीक्षण करने वाला।

अन्वेषणः (पुं०), अन्वेषणम् (न०), अन्वेषणा (स्त्री०) खोज, अनुसंधान, जाँच।

अन्वेष्य (वि०) अनुसंधान के योग्य, अन्वेषण करने के योग्य।

अप् (स्त्री०) जल, वारि, अम्भ, उदक् (द्वाविमावप्सु निक्षेप्यौ कण्ठे बद्ध्वा महाशिलाम्। गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः—महाभारत)।

अप् + अस् (पर०) (अपास्यति) अपसारित करना, दूर करना, हटाना, निकाल देना, त्याग देना।

अप् + आ + कृ (पर०) (अपाकरोति) दूर करना, मिटाना, चुकाना (ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्)।

अप् + इ (पर०) (अपैति) अपगत होना, भाग जाना, हट जाना, क्षयप्राप्त होना, नष्ट होना, मर जाना।

अप् + ईक्ष् (आत्म०) (अपेक्षते) प्रतीक्षा करना, बाट जोहना, ठहरना।

अप् + ऊह् (पर०) (अपोहति) नष्ट करना, दूर करना (हुङ्कारेणैव धनुषः स हि विघ्नानपोहति—शकु० ३।७); अन्य उपसर्ग के योग से विकल्प से आत्मनेपदी होता है।

अप (अव्य०) एक अव्यय जिसे क्रिया में उपसर्ग के रूप में जोड़ने से निम्नलिखित अर्थ होता है—दूर हट कर, विरोध, खंडन आदि।

अपः [वेद] (न०) जल, पानी (जामीनामग्निरप्सि स्वसृणाम्—ऋक् २।८।१४।१)।

अपकरणम् (न०) कुकर्म, दुराचरण, अपकार, अपमान, चिढ़ाना।

अपकर्तृ (वि०) अनिष्टकारक, सांघातिक, अप्रिय।

अपकर्तृ (पुं०) शत्रु, दुश्मन।

अपकर्मन् (न०) दुराचार, अत्याचार, दुष्टता, ऋण चुकाने की क्रिया।

अपकर्षः (पुं०) घटाव, ह्रास, उतार, निरादर, आगे की वस्तु को पीछे खींचना।

अपकर्षक (वि०) घटाने वाला, नीचे खींचने वाला।

अपकर्षणम् (न०) खींचना, कम करना, किसी को किसी स्थान से हटाकर उसपर स्वयं उपवेशन।

अपकलङ्कः (पुं०) गहरा अनादर, भारी कलंक।

अपकल्मष (वि०) कलंकरहित, पापरहित।

अपकषाय (वि०) पापरहित।

अपकामः (पुं०) द्वेष, घृणा।

अपकामम् (अव्य०) इच्छा के विरुद्ध, अनिच्छापूर्वक।

अपकारः (पुं०) बुराई, द्वेष, हानि, अहित, दुष्टता, निकृष्ट कर्म।

अपकारक (वि०) अपकार करने वाला, हानि पहुँचाने वाला, द्रोही।

अपकारशब्दः (पुं०) अपमानकारक उक्ति, कुवाच्य।

अपकारार्थिन् (वि०) अनिष्ट चाहने वाला, विद्वेषपरायण।

अपकारी (वि०) अपकार या बुराई करने वाला (व्यक्ति)।

अपकीर्ति (स्त्री०) बदनामी, निंदा, अपयश।

अपकुक्षिः (पुं०) निकृष्ट या भद्दा रूप, कुरूपता, वह जिसका पेट भद्दा हो अर्थात् संतान जीवित न रहे।

अपकुशः (पुं०) एक प्रकार का दन्तरोग।

अप+कृ (उभ०) (अपकरोति, अपकुरुते) अपकार करना, अनिष्ट करना, हानि पहुंचाना (किं तस्या मयापकृतम्? पंचतन्त्र ४। अथवा सैनिकाः केचिदपकुर्युर्युधिष्ठिरम्—महाभा०। न परेषु महौजसश्छलादपकुर्वन्ति मलिम्लुचा इव—शिशुपाल० १६।५२)। खींच ले जाना, बलपूर्वक भगा ले जाना (योऽपचक्रे वनात् सीताम्—भट्टि० ८।२०)।

अपकृत (वि०) अपकार या अहित किया हुआ।

अपकृतिः (स्त्री०) अपकार, हानि, नुकसान। कानून की सीमा के भीतर आने वाली हिंसा, आघात, आक्रमण, संपत्ति का हरण, अनधिकार-प्रवेश, मानहानि, प्रतारणा, गाली आदि ही अपकृति के उदाहरण हैं। क्षतिपूर्ति के द्वारा जिन अपराधों का प्रतिकार हो सकता है वही यथार्थ में अपकृति है।

मनु, याज्ञवल्क्य आदि की स्मृति-ग्रन्थों में इस अपकृति के अनेक उदाहरण हैं। अपकृति और अपराध में कुछ अंतर है। किसी व्यक्ति-विशेष पर की गई हानि अपकृति है। परंतु अपराध लोक-कर्त्तव्य का उल्लंघन समझा जाता हैं और उसके लिए समाज या राज्य अपराधी को दंड देता है।

अप+कृष् (पर०) (अपकर्षति) अपसारित करना, हटाना, दूर करना (धैर्यं शोकोऽपकर्षति—रामा०)। कम करना, घटाना (अपकर्षेदेवं यावत्पंचदश—शुश्रुत०)। अनादर करना, अपमानित करना, मूल्य घटाना (पीडयन् भृत्यवर्गं हि आत्मानमपकर्षति—महा०)। पीछे खींचना, अग्रिम कथित शब्द का पहले ही अनुमान कर लेना (अग्रिमसूत्रस्थं सर्वत्रग्रहणमिहापकृष्यते—पाणिनि० ४।१।१७)।

अपकृष्ट (वि०) अपसारित, हराया हुआ, नीचे लाया हुआ, निम्न, तुच्छ।

अपकृष्टः (पुं०) काक, कौआ।

अपकौशली (स्त्री०) सूचना, समाचार, वृत्तांत।

अपक्तिः (स्त्री०) अपरिपक्वता, कच्चापन, अजीर्णता।

अपक्रमः (पुं०) पलायन, निकलना, भाग जाना।

अपक्रमणम् (न०) पलायन, सेना का पीछे हटना, बचकर निकल जाना।

अपक्रान्त (वि०) दूर गया हुआ।

अपक्रोशः (पुं०) गाली, दुर्वचन, जुगुप्सा, निंदा।

अपक्व (वि०) न पका हुआ, कच्चा, न पचा हुआ, अपचित।

अपक्वता (स्त्री०) कच्चापन, असंपूर्णता।

अपक्वाशिन् (वि०) जो कच्चा खाने वाला हो, कच्चा अन्न भक्षण करने वाला।

अपक्ष (वि०) बिना पंख का, जो किसी दल या पक्ष का न हो, विरुद्ध, विपरीत ।

अपक्षपातः (पुं०), अपक्षपातिन् (न०) वह जो किसी का पक्षपात न करे, पक्षपातहीनता, खरापन ।

अपक्षयः (पु०) नाश, क्षय, ह्रास ।

अपक्षेपः (पुं०), अपक्षेपणम् (न०) निक्षेप, च्युति, प्रकाशादि का किसी पदार्थ से टकराकर पलटना, वैशेषिक दर्शन में पाँच प्रकार के कर्मों में से एक ।

अपगण्डः (पुं०) वयस्क, युवा, तरुण व्यक्ति ।

अपगत (वि०) गया हुआ, गत, मरा हुआ, मृत ।

अपगतव्याधि (वि०) जिसने रोग से मुक्ति पा ली हो, जो बीमारी से पुनः स्वस्थ हो गया हो ।

अप + गम् (पर०) (अपगच्छति) अपगत होना, हट जाना, भाग जाना, दूर होना, मर जाना ।

अपगमः (पुं०), अपगमनम् (न०) प्रस्थान, वियोग, अधःपात ।

अपगरः (पुं०) डाँट-फटकार, कुवाच्य, गाली ।

अपगर्जित (वि०) गर्जनारहित, गर्जनाशून्य ।

अपगल्भ (वि०) जिसमें साहसिकता का अभाव हो, घबराया हुआ, व्यग्र ।

अपगुणः (पुं०) दोष, अवगुण ।

अपगूढ (वि०) छिपा हुआ, अप्रकट ।

अपगूहमान (वि०) छिपने वाला ।

अपगोपुर (वि०) जिसमें फाटक न हो, नगर द्वार से रहित या शून्य ।

अपघनः (पुं०) देह, शरीर, अवयव ।

अपघातः (पुं०) हिंसा, विश्वासघात, प्रवंचना, आकस्मिक आघात, मृत्यु ।

अपघातक, अपघातिन् (वि०) वध करने वाला, हिंसक, विश्वासघाती, प्रवंचक ।

अपचः (पुं०) मूर्ख रसोइया, एक प्रकार की गाली ।

अपचयः (पुं०) अवनति, ह्रास, बट्टा, छूट, नाश, कमी, त्रुटि, असफलता ।

अपचरः (पुं०) जल-जंतु, जल में रहने वाले जीव, जलचर प्राणी ।

अपचरित (वि०) गत, प्रस्थानित, मृत ।

अपचरितम् (न०) अपराध, दुष्कर्म

अपचापित (वि०) पूजित, सम्मानित ।

अपचारः (पु०) क्षति, हानि, अहिताचरण, दुराचरण, व्यभिचार (योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने पंचोपदंशा विविधापचारैः—माधवकर) । पराधिकारप्रवेश (चैनिकानामपचारोऽसहनीयः) । प्रस्थान, मृत्यु (सिंहघोषश्च कान्तकापचारं निर्भिद्य—दशकुमार० ७२) । अभाव, अनुपस्थिति (छात्राणामपचारोऽक्षमणीयः) । दोष, त्रुटि, अपराध, कुकर्म, पाप (शिष्यो गुराविव कृतप्रथमापचारः–महावीर ४।२० । राजन् प्रजासु ते कश्चिदपचारः प्रवर्तते—रघु० १५।४७) । भूल, अपालन (महाध्वरे विध्यपचारदोषः—किरात० १६।४८) । अपथ्य, कुपथ्य, स्वास्थ्यहानिकर खाद्य (पीड़यन्ति सदा रोगा अपचारपरायणम्) ।

अपचारक (वि०) हानिकारक, दुराचारी, पराधिकारप्रवेशकारी ।

अपचारणम् (न०) क्षति करना, हानि पहुँचाना, पराधिकार-प्रवेश करना ।

अपचारिन् (वि०) दुष्ट, निकृष्ट, असदाचारी ।

अप + चि (उभ०) (अपचीयते) हानि उठाना, क्षति सहना, क्षयप्राप्त होना ।

अपचिकीर्षा (स्त्री०) अपकार करने या हानि पहुँचाने की इच्छा, बुरी नीयत ।

अपचिकिर्षु (वि०) अपकार करने या हानि पहुँचाने का इच्छुक, बुरी नीयत वाला, दुष्ट अहितकारी ।

अपचित (वि०) व्ययित, व्यय या खर्च किया हुआ, नष्ट किया हुआ, उड़ाया हुआ ।

अपचितिः (स्त्री०) पुष्टई चीज के जीवित पदार्थरूप में परिणत होने वाली शरीर के भीतर की एक रासायनिक क्रिया, परिपाक क्रिया, व्यय, हानि, पूजा, निष्कृति, क्षय, अधःपात, नाश, पाप का प्रायश्चित्त ।

अपची (स्त्री०) गले का एक रोग जिसमें गले के भीतर गाँठें होती हैं ।

अपचीयमान (वि०) क्षीण होने वाला, ह्रास-प्राप्त होने वाला, घटने वाला ।

अपच्छत्र (वि०) छातारहित, बिना छाते का ।

अपच्छाय (वि०) जिसकी परिछाईं न हो, छायारहित, निकृष्ट छाया वाला, चमकरहित, धुँधला ।

अपच्छाया (स्त्री०) भूत-प्रेत, छाया-मूर्ति, कल्पित मूर्ति ।

अपच्छेदः (पुं०), अपच्छेदनम् (न०) कर्तन, काटना, हानि, क्षति, बाधा ।

अपजयः (पुं०) हार, पराजय ।

अपजात (वि०) नीच कुल में उत्पन्न, नीच, पतित, कपूत ।

अपजातः (पुं०) वह संतान जो अपने माता-पिता के गुणों के समान न हो, निकृष्ट संतान ।

अपजिघांसु (वि०) दूर रखने या हटाने का इच्छुक, मारने का इच्छुक ।

अपजिहीर्षु (वि०) दूर हटाने या ले जाने की इच्छा रखने वाला ।

अपज्ञानम् (न०) छिपाव, दुराव, अस्वीकृति ।

अपज्य (वि०) बिना धनुष का, बिना प्रत्यंचा का ।

अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतम् (न०) आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पाँच भूतों के सूक्ष्म रूप, तन्मात्र । सृष्टि के पूर्व केवल सत् आत्मा विराजमान था । उसकी माया-शक्ति की कल्पना से अति सूक्ष्म आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पाँचों भूतों की उत्पत्ति हुई । ये ही अपंचीकृत पंच-महाभूत हैं । माया या प्रकृति में सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं जो कार्य रूप भूतों में भी आ गये । इन पाँच अमिश्रित भूतों के पृथक्-पृथक् सात्त्विक अंशों से क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण—इन पाँच ज्ञानेंद्रियों का विकास हुआ । इनके पृथक्-पृथक् रज-अंशों से क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन पाँच कर्मेंद्रियों का विकास हुआ । इनके समष्टि सात्त्विक अंशों से अंतःकरण और समष्टि राजसिक अंशों से प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पाँच प्राणों का विकास हुआ ।

इनके तम अंशों का पंचीकरण हुआ तो पंचीकृत पंच-महाभूतों का विकास हुआ । पञ्चीकरण देखिए । इन सूक्ष्म भूतों के सात्त्विक और राजसिक अंशों से सूक्ष्म इंद्रियों तथा प्राणों का विकास होने पर भी सात्त्विक और राजसिक अंश समाप्त नहीं हो गये थे । अतः पंचीकरण होने के अनंतर महाभूतों में केवल तम अंश ही नहीं, उनमें सात्त्विक और राजसिक अंश भी मिले हुए रहते हैं । इन पंचीकृत पंचमहाभूतों से इस दृश्यमान स्थूल जगत का विकास हुआ (तैरण्डस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः ।—पंचदशी १।२८) ।

अपटान्तर (वि०) जो आवरण या परदे के द्वारा पृथक् न हो, मिला हुआ ।

अपटी (स्त्री०) परदा, कनात ।

अपटीक्षेपः (पुं०) परदे का इधर-उधर होना या हिलना ।

अपटु (वि०) अनिपुण, अप्रवीण, जो वाचाल न हो, अचतुर, बीमार, रुग्ण ।

अपठ (वि०) जो पढ़ा न जा सके, पढ़ने के अयोग्य ।

अपठित (वि०) न पढ़ा हुआ, अपढ़, अशिक्षित, निरक्षर, मूर्ख ।

अपण्डित (वि०) जो विद्वान न हो, अपढ़, अज्ञानी, जिसमें चातुर्य, रुचि और दूसरे की प्रशंसा करने का अभाव हो ।

अपण्य (वि०) बिकने के अयोग्य, जो बेचा न जा सके अथवा जिसका बेचना अनुचित हो ।

अपतर्पणम् (न०) लंघन, उपवास, फाका, असंतोष ।

अपति, अपतिक (वि०) बिना पति का, बिना स्वामी का, अविवाहित ।

अपत्नीक (वि०) पत्नीहीन, कुमार, बिन-ब्याहा, कुँवारा, विपत्नीक, रडुँआ, मृतपत्नीक ।

अपत्यकाम (वि०) संतान का इच्छुक, पुत्र या पुत्री की इच्छा रखने वाला ।

अपत्यनिर्विशेष (वि०) पुत्र के समान माना जाने वाला ।

अपत्यपथः (पुं०) भग, योनि, प्रसवद्वार ।

अपत्यम् (न०) संतान, औलाद, संतति ।

अपत्यविक्रयिन् (पुं०) अपनी संतान को बेचने वाला पिता ।

अपत्यशत्रुः (पुं०) साँप, सर्प, केंकड़ा, कर्कट, संतान का शत्रु ।

अपत्यस्नेहः (पुं०) संतान के प्रति होने वाला प्रेम, माता-पिता का प्यार ।

अपत्यहीन (वि०) संतान-रहित, अपुत्रक ।

अपत्र (वि०) पर्णरहित, बिना पत्तों का ।

अप + त्रप् (आत्म०) (अपत्रपते). लज्जित होना (य आत्मानाऽपत्रपते भृशं नरः स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत—महाभा० । येनाऽपत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति—महाभा०) । लज्जित कर भगा देना (तस्माद् बलादपत्रेपे—भट्टि० १४।८४) ।

अपत्रप (वि०) निर्लज्ज, लाज्जरहित ।

अपत्रपणम् (न०) लाज न करना, वेशर्म होना ।

अपत्रपिष्णु (वि०) लाज न करने वाला, अलज्जालु, लाजविहीन ।

अपत्रस्त (वि०) भय से रुका हुआ, भतभीत, घबराया हुआ, विकल ।

अपथ (वि०) मार्गहीन ।

अपथगामिन् (वि०) निकृष्ट मार्ग पर चलने वाला, कुमार्गगामी ।

अपथप्रपन्नम् (अव्य०) स्थान के बाहर, कुमार्ग में पहुँचा हुआ ।

अपथम् (न०) मार्ग का अभाव, खराब रास्ता, कुमार्ग, कुराह ।

अपथ्य (वि०) अयोग्य, अनुचित, हानिकारक, अहितकर, विषयुक्त, जो गुणकारी न हो, निकृष्ट, भाग्यहीन, अभागा ।

अपथ्यकारिन् (वि०) अपराध करने वाला, अपराधी ।

अपथ्यभुज् (वि०) निषिद्ध भोजन करने वाला ।

अपथ्यम् (नं०) रोगी के लिए अखाद्य, हानिकर खाद्य, गुरुपाच्य खाद्य ।

अपथ्यसेविन् (वि०) अपथ्य खानेवाला (अपथ्यसेविनं लोकं पीड़यन्ति सदा रोगाः) ।

अपदः (पुं०) सांप, सरीसृप, बिना पैर वाला ।

अपदक्षिणम् (अव्य०) बाईं ओर, दक्षिणारहित, वाम दिशा में ।

अपदम् (न०) बुरा स्थान, नभ, आकाश ।

अपदम (वि०) इन्द्रिय-निग्रह न करने वाला, असयमी, आत्मसंयम न करने वाला ।

अपदव (वि०) दावाग्नि से मुक्त या रहित ।

अपदश (वि०) दस (संख्या) से परे या दूर ।

अपदस्थ (वि०) जो पदासीन न हो, पदच्युत, पद से निकाला हुआ, स्थान-भ्रष्ट, अपमानित ।

अपदानम् (न०) सदाचरण, सर्वोत्तम कार्य, सम्यक पूर्ण किया हुआ कार्य, प्रशस्त कार्य ।

अपदान्तर (वि०) समीपस्थ, अत्यंत निकट का ।

अपदान्तरम् (नं०) समीपता, निकटता ।

अपदार्थः (पुं०) किसी वाक्य में प्रयुक्त हुए शब्दों का अर्थ न होना, तुच्छ वस्तु, वस्तुशून्यता ।

अपदिश् (उभ०) (अपदिशति, अपदिशते) छल करना, धोखा देना, बहाना करना, कहना, बोलना ।

अपदिश (अव्य०) अपनी दिशा से हटा हुआ, मर्यादा से बाहर ।

अपदेवता (स्त्री०) निकृष्ट देवता, भूत-प्रेत, पिशाच, राक्षस, दुरात्मा ।

अपदेशः (पुं०) कथन, वर्णन, उपदेश, बहाना, लक्ष्य, भेष बदलना, कीर्ति, अस्वीकृति, छल, धोखा, स्थान, व्यवहार ।

अपदेशिन् (वि०) वर्णन करने वाला, बहाना करने वाला, छल करने वाला ।

अपदेश्य (वि०) प्रकट होने योग्य ।

अपदोष (वि०) दोष-रहित, अपराध-रहित ।

अपद्रव्यम् (न०) बुरी वस्तु, निकृष्ट पदार्थ ।

अपद्रव्यीकरणम् (न०) खाद्य वस्तु में मिलावट करने का काम, खोट मिलाना । व्यापारी-वर्ग अधिकाधिक लोभ के वशीभूत होकर घटिया वस्तु में मिलावट करके उसे अधिक दामों पर बेचते हैं । लगभग समाज के सभी वर्गों में यह दोष है । उचित मूल्य चुकाने पर भी घटिया खाद्य पदार्थ मिलता है । इसका प्रभाव स्वास्थ्य पर भी पड़ता है ।

संसार के सभी देशों में व्यवसायियों का यह अनैतिक एवं समाज-विरोधी आचरण पाया जाता है । जहाँ अशिक्षा, निर्धनता आदि विशेष रूप से हैं वहाँ पर तो ऐसी मिलावट का काम बहुत ही जोर-शोर से होता है ।

अपद्रव्यीकरण विशेषतया दूध, घी, तेल, आटा, चाय, काफी, शर्वत आदि महंगे पदार्थों में किया जाता है । इसके कारण इन पदार्थों की उपयोगिता कम हो जाती है । खाद्यान्नों को मिलावट के द्वारा अनुपयोगी बनाकर व्यवसायी वर्ग जनता को स्वास्थ्य-विहीन बना देते हैं । नैतिक शिक्षा भी अपद्रव्यीकरण को रोकने में असमर्थ हो रही है ।

न्यायशास्त्रियों का मत है कि खाद्य का अपद्रव्यीकरण रोकने के लिए कठोर दंड का विधान होना चाहिए । इसके लिए कठोर से कठोर दंड की व्यवस्था सर्वथा अपेक्षित है । खाद्यान्न को विषाक्त बनाने वाले आततायियों को दंड देना धर्म है (नाततायी वधे दोषः) । इन्हें कारादंड ही

उचित दंड है। इसको रोकने के लिए जनमत जागरण की भी आवश्यकता है।

दूध में जल का मिश्रण, घी में वनस्पति घी अथवा चर्बी, महंगे तथा श्रेष्ठ अन्नों में घटिया अन्न का मिश्रण आदि अपद्रव्यीकरण हैं। यह तो हुआ साधारण मिश्रण है। शुद्ध खाद्य को बिना मिश्रण के भी विकृत अथवा हानिकर किया जा सकता है। दूध से मक्खन निकालकर उसे शुद्ध दूध बना कर बेचना। एक बार प्रयुक्त चाय की पत्तियों को सुखाकर पुनः बेचना। यह सब मिश्रण-सहित अपद्रव्यीकरण के उदाहरण हैं। घटिया वस्तु को भी इसी प्रकार धोखा देकर, उसका आकर्षक नाम बताकर, सर्वसाधारण को ठगा जा रहा है।

खाद्य पदार्थ के अपद्रव्यीकरण को रोकने के लिए प्रत्येक देश में आवश्यक कानून बनाये गये हैं। भारत के भी प्रत्येक प्रदेश में ऐसे ही कानून थे। परंतु भारत-सरकार ने उन कानूनों में एकरूपता लाने के लिए, तथा विदेशी कानूनों को भी ध्यान में रखते हुए खाद्य-अपद्रव्यीकरण-निवारक अधिनियम बना दिया है। इस कानून द्वारा मिलावट करने वाले को दंड दिया जाता है। क़ानून के दृष्टिकोण से निम्नलिखित दशाओं में खाद्य-अपद्रव्यीकृत माना जाता है—

वह पदार्थ जो दूषित या स्वास्थ्य के लिए हानिकर हो तथा जिसमें दुर्गंधित पदार्थ भी मिले हों उसमें कीटाणुओं का प्रवेश हो चला हो तथा वह खाद्य अनुपयोगी भी हो। पदार्थों में अन्य घटिया पदार्थों का मिश्रण अथवा उस पदार्थ का गुण या सारतत्त्व में मिलावट आदि अपद्रव्यीकरण है। इसमें वह पदार्थ भी शामिल है जो किसी रोगी पशु से प्राप्त किया गया हो। वह पदार्थ जिसकी श्रेष्टता अथवा शुद्धता निर्धारित मानक से कम हो।

कुछ लोग सोना, चाँदी, ताँबा आदि मूल्यवान धातुओं में भी पीतल, जस्ता, निकेल आदि सस्ती धातुओं का खोट मिलाते हैं। यदि ग्राहकों को बता कर नियत परिमाण की खोट मिलायी जाती है तो वह अपराध नहीं है। परंतु यदि ग्राहकों से छिपा कर अनुचित रीति से खोट मिलायी जाती है तो वह दंड-विधि की सीमा के भीतर आ जाता है। पकड़े जाने पर ऐसे व्यक्ति दंड के भागी बनते हैं, क्योंकि यह भी अपद्रव्यीकरण है।

अपद्वारम् (न०) बगल का प्रवेश द्वार, बगल का दरवाजा।

अपधा (स्त्री०) छिपाव, दुराव, बंद करना।

यपधूम (वि०) धूमरहित, धुआँरहित।

अपध्यानम् (न०) निकृष्ट विचार, बुरी नीयत, किसी को मन ही मन कोसने का भाव।

अप + ध्वंस् (आ०) (अपध्वंसते) निंदा करना, धमकाना, डाँटना (न चाप्यन्यमपध्वंसेत् कदाचित् कोप-संयुतः—महाभा०)। दूर करना, निकाल देना, भगा तेना (अपध्वंसेति बहुशो वदन् क्रोधसमन्वितः—हरिवंश)।

अपध्वंसः (पुं०) अधःपात, नाश, अपमान, अनादर।

अपध्वंसजः (पुं०), अवध्वंसजा (स्त्री०) वर्णशंकर, अधम और अस्पृश्य जाति का मनुष्य।

अपध्वंसिन् (वि०) पतन करने वाला, नाश करने वाला, क्षयकारक।

अपध्वस्त (वि०) नष्ट, शापित, घृणित, निंदित, परित्यक्त, अधकचरा, अपरिपक्व।

अपध्वस्तः (पुं०) वह जिसमें सत्यासत्य के विवेचन की शक्ति न हो।

अपनयः (पुं०) हटाना, खंडन करना, निष्कृष्ट उद्देश्य, बुरा आचरण, अपकार।

अपनयनम् (न०) ले जाना, हटाना, स्त्री, बालक आदि को बहकाकर कहीं भगा ले जाना, अपहरण करना, चंगा करना, ऋणमुक्त करना।

अपनस् (वि०) बिना नाक का, नासिका-रहित।

अवनाभि (वि०) विना नाभि का।

अपनामन् (वि०) बुरा नाम वाला।

अपनिद्र (वि०) निद्रारहित, जगा हुआ।

अप + नी (उभ०) (अपनयति, अपनयते) अपसारित करना, हटाना, ले जाना।

अपनीत (वि०) दूरीकृत, अपसारित, विलुप्त, विचार के द्वारा निराकृत। किसी वस्तु को अपने स्थान से हटा लेने पर उसे अपनीत कहा जाता है। वेदान्त में तीनों शरीरों और पाँचों कोशों को विचार द्वारा अपनीत कर देने से आत्मा का स्वरूप प्रकट हो जाता है। उसी प्रकार मायाकल्पित मूर्तिवाले भौतिक पदार्थों को विचार द्वारा अपनीत कर देने से अमूर्त आकाश अवशिष्ट रह जाता है

और भी सूक्ष्म विचार करने से आकाश का भी अपनयन हो जाता है तब जो सत्ता मात्र अवशिष्ट रहता है वही ब्रह्म है (अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत् । शक्येषु वाधितेष्वन्ते शिष्यते यत्तदेव तत्—पंचदशी ३।३०) ।

अपनीति (स्त्री०) दूर करना, हटाना, स्थानान्तरण, दुष्टनीति, अपहरण ।

अपनुद् (उभ०) (अपनुदति, अपनुदते) दूर करना, नाश करना । धर्म से पाप दूर होता है (धर्मेण पापम् अपनुदति—धर्मसिंधु २५५) ।

अपनेतृ (वि०) हटाने वाला, स्थानांतरण करने वाला, अपहरण करने वाला, अपहरणकर्ता ।

अपनोदः (पुं०), अपनोदनम् (न०) दूर करना, नष्ट करना (शोकापनोदनं कार्यमात्मज्ञानसमासिनैः); प्रायश्चित करना ।

अपनोद्य (वि०) अपसारित करने योग्य, हटाने योग्य ।

अपन्नगृह (वि०) जिसका गृह नष्ट न हुआ हो ।

अपन्नदत् (वि०) जिसके दाँत गिरे या टूटे न हों ।

अपपाठः (पुं०) अशुद्ध पाठ, पाठ करने में भूल करना ।

अपपात्र (वि०) नीच जाति के बरतनों को काम में लाने से वंचित, अपात्र, अयोग्य, पात्ररहित ।

अपपात्रितः (पुं०) वह जातिच्युत मनुष्य जो अपने संबंधियों के साथ बैठकर भोजन न कर सके ।

अपपादत्र (वि०) जिसके पैर में जूता न हो, जूता-रहित, जिसने जूता न पहना हो ।

अपपानम् (न०) निकृष्ट या अनुचित पेय, वह वस्तु जो पीने के योग्य न हो ।

अपप्रजाता (स्त्री०) वह स्त्री जिसका गर्भपात हो गया हो, गर्भस्रावी ।

अपप्रदानम् (न०) घूस, रिश्वत ।

अपप्रयोगः (पुं०) अशुद्ध प्रयोग, दुरुपयोग ।

अपप्रोषितम् (न०) गलत या निकृष्ट प्रस्थान ।

अपबाहुकः (पुं०) निकृष्ट हाथ, बाहु की रुक्षता या कड़ाई, हाथ का रोग-विशेष ।

अपभय (वि०) जिसे भय न हो, भयरहित, निर्भय, निडर ।

अपभर्तृ (वि०) नाश करने वाला, विनाशक ।

अप + भाष् (आत्म०) (अपभाषते) निंदा करना, कुवाक्य प्रयोग करना (न केवलं यो महतोऽपभाषते, शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्—कुमार० ५।८३) ।

अपभाषणम् (नं०) बुरी बात, गाली, निंदा । जिस वचन से लोगों के मन में कष्ट हो वही अपभाषण है । भले मनुष्य के मुख से भली बात ही निकलती है, यदि उसके मुख से कभी बुरी बात निकले हो तो उस समय भला आदमी बुरा हो जाता है । अतः सदा सावधान रहना चाहिए कि मुख से कभी बुरी बात न निकले । जिस भाषण से सुनने वालों के मन में आनंद का संचार हो वही सत्य भाषण है (सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्) ।

अपभाषा (स्त्री०) अश्लील भाषा, नीच भाषा, गँवारू बोली, गाली, कटुवचन ।

अपभूति (स्त्री०) पराजय, हार, घाटा, हानि, क्षति ।

अपभ्रंशः (पुं०) ग्राम्यभाषा, अपशब्द, अपभाषा, मूल भाषा से बिगड़कर उसका नया बना हुआ रूप । प्राचीन काल को संस्कृत भाषा से परिवर्तित होकर भारत के विभिन्न प्रांतों में उत्पन्न प्रादेशिक भाषाएँ । जैसे—जल-पानी, माता-माँ, पिता-बाप, गाभी-गाय । पक्षी उड्डयति—पंछी उड़ती है, मृत्तिकां खनाति—मिट्टी खोद रहा है । हस्ती पत्रं खादति—हाथी पत्ता खाता है, अग्नि प्रज्वालय—आग जलाओ इत्यादि में इस प्रकार अपभ्रंश होते रहते हैं ।

संस्कृत से प्राकृत भाषा उत्पन्न हुई थी । उस प्राकृत और आधुनिक भाषाओं के मध्यकाल में अपभ्रंश भाषा प्रचलित थी । इसके व्याकरण और कोष भी मिलते हैं । लोगों ने इसके नाम भासा, देसी भासा, गामिल्ल भासा, गाँव की भाषा आदि रखे हैं । परंतु संस्कृत ग्रंथों में इसे अपभ्रंश या अपभ्रष्ट कहा गया है ।

अपभ्रष्ट (वि०) दुराचार किया हुआ, व्यभिचारी ।

अपमः (पुं०) वह जो अयनमंडल से संबंध रखता हो ।

अपमन्यु (वि०) शोक-मुक्त, क्रोधरहित, कष्टरहित ।

अपमर्दः (पुं०) धूल, रज ।

अपमर्शः (पुं०) स्पर्श, छूना, चराना ।

अपमानः (पुं०) अनादर, अप्रतिष्ठा, असम्मान अवृत्तिभयमन्त्यानां मध्यानां मरणाद्भयम् । उत्तमानान्तु मर्त्यानामपमनात्परं भयम् (अत्रिस्मृति) ।

जीविका की वृत्ति नौकरी आदि छूट जाय तो निम्न श्रेणी के लोगों को बड़ा भय होता है, मध्यम श्रेणी के लोगों को मृत्यु की शंका से भय होता है और उत्तम श्रेणी के लोगों को अपमान से अत्यन्त भय होता है।

मनुष्य का कहीं अपमान हो तो उसे प्रगट नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अर्थनाश, मनस्ताप, घरकी दुश्चरित्रता और वंचना को भी प्रकट करना उचित नहीं है (अर्थनाशं मनस्तापं गृहदुश्चरितानि च। वञ्चनं चापमानञ्च मतिमान् न प्रकाशयेत्—हितोपदेश)।

अपमान को कोई पसंद नहीं करता, परंतु सात्त्विक ब्राह्मण अपमान को भी आदर के साथ ग्रहण करते हैं। ब्राह्मण सम्मान को विष के समान समझकर उससे उद्विग्न रहते हैं क्यों कि उससे अहंकार बढ़ता है। बल्कि वह अमृत के समान अपमान को ही आकांक्षा करते हैं (सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यम् उद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा—मनु २।१६२)।

अपमानित व्यक्ति सुख से सोता है, सुख से जागरित होता है, संसार में सुख से विचरण करता है परंतु अपमानकारी नष्ट हो जाता है (सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेऽस्मिन् अवमन्ता विनश्यति-मनु० २।१६२)।

अपमान्य (वि०) अनादर के योग्य, अनादरणीय, घृणा के योग्य।

अपमार्गः (पुं०) खराब रास्ता, पगडंडी।

अपमार्जनम् (न०) धोकर साफ करना, पवित्रीकरण, क्षौर कराना।

अपमिश्रणम् (न०) बढ़िया चीज में घटिया चीज की मिलावट, खोट मिलाना।

अपमुख (वि०) कुरूप आकृति वाला, भद्दा।

अपमूर्धन् (वि०) असावधान, लापरवाह, बिना सिरका, शिरविहीन।

अपमृत्युः (पुं०) असामयिक मृत्यु, अकालमृत्यु। जैसे—साँप काटने, विष पान करने आदि से होने वाली मृत्यु या मौत।

अपमृषित (वि०) जो बोधगम्य न हो, अस्पष्ट, असह्य, अरुचिकर, अप्रिय।

अपमृष्ट (वि०) स्वच्छ किया हुआ, पवित्र किया हुआ।

अपयशस् (न०), अपयशः (पुं०) अपकीर्ति, अयश, बदनामी, निंदा।

निंदित जीवन निरर्थक है। गुरु वशिष्ठ देव शिष्य रामचन्द्र से कहते हैं—"हे रामचन्द्र, सर्वत्र तुम्हारी प्रशंसा है, निंदित व्यक्तियों का जीवन निरर्थक है" (निरर्थकं हि जीवितं निन्दितानाम्—योगवाशिष्ठ) प्रशंसा प्राप्त करना ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। (उद्देश्यम् देखिये)। मनुष्य कुछ प्रसंशा के साथ जीवित रहना चाहते हैं। विद्वानों की निंदा मृत्यु के समान है (विप्राणां मानखण्डनं मृत्युतुल्यं भवति)। प्रशंसा पाने के लिए अत्यन्त संयत रहना होता है, किसी को मारने, धमकाने या निंदा करने से अपयश फैलता है। अपने परिचित वर्गों के भीतर सभी बुद्धिमान मनुष्य प्रशंसा पाना चाहते हैं। रावण, कंस, दुर्योधन, शिशुपाल वृत्रासुर, नेपोलियन, हिटलर आदि निंदित व्यक्तियों को आज भी लोग घृणा के साथ स्मरण करते हैं। श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, राजा हरिचन्द्र, महाराजा अशोक, बुद्धदेव, शंकराचार्य, व्यासदेव आदि यशस्वी व्यक्तियों को आज भी लोग पुण्यवान के रूप से अपने चित्त में स्मरण करते हैं

निंदा सुनकर लोग क्रोधित होते, मारपीट करते हैं, और न जाने और क्या-क्या अनर्थ कर डालते हैं, किंतु निंदा है क्या चीज ? वह तो मनुष्य के मुख के ८ स्थानों के संघात से उत्पन्न निरर्थक ध्वनि मात्र है। किसी भाषा के किसी शब्द का कोई अर्थ नहीं है। लोगों ने मान लिया है कि "यह सूर्य है, वह चन्द्र है, यह पिता है, वह माता है, मैं कल तुम्हारे घर जाऊंगा।" इन्हीं भावों को प्रकट करने के लिए बंगाली में कहेंगे—एइटि शूर्ज, ऐटि चंद्र, ए बाबा, ओ मा, आमि काल तोमादेर वाड़ी जाबो। अंग्रेज कहेंगे—दिस इज सन, दैट इज मून, दिस इज फादर, दैट इज मदर, आइ शैल गो टु योर हाउस टुमारो।" पृथ्वी भर में २५ हजार भाषाएं हैं। ऊपर लिखित भावों को व्यक्त करने के लिए भिन्न-भिन्न शब्द होंगे। इस पर विचार करने से जाना जायगा कि किसी भाषा के किसी शब्द या वाक्य का कोई निर्धारित अर्थ नहीं है। पशु, पक्षी आदि भी अपने-अपने मुख के शब्द

का कुछ अर्थ मानकर व्यवहार चलाते हैं। यथार्थ में किसी भी शब्द का कुछ भी अर्थ नहीं है। अतः निंदा सुन कर अपने मन को विकृत कर कष्ट भोग करना उचित नहीं है।

भाषा के अक्षर तो मनुष्यों की कल्पना मात्र है। हर एक देश के अक्षर भिन्न-भिन्न हैं। घड़ी के चिह्न पृथ्वी भर के सारे मनुष्यों के लिए एक से हैं। वे चिह्न भी कल्पित ही हैं।

अक्षर और भाषाएँ कल्पित होने पर भी विद्वान लोग अपने ज्ञान की बातें उनमें भर देते हैं। उन्हें पढ़कर विद्वान होकर उत्तम कार्य करके यथेष्ट धनोपार्जन करके आनंद से जीवन चलाते हैं।

चोर को जानकर उसकी सेवा करने से वह चोरी तो कर ही नहीं सकता बल्कि वह मित्र के समान बनकर उपदेश देकर जाता है (विज्ञाय सेवितश्चौरः मैत्रिमेति न चौरताम्—पंचदशी)।

अपयशस्कर (वि०) अपकीर्तित, निंदित, निंदाकारी।

अप+या (पर०) (अपयाति) भाग जाना, पलायन करना, चंपत होना।

अपयानम् (न०) भागना, पलायन, पराजय, हार।

अपयोजनम् (न०) गबन करना, हड़प करना, उड़ा लेना।

अपर (वि०) अन्य, दूसरा, गैर, विपरीत। भगवान की वाणी है कि, जड़ प्रकृतियों से भिन्न मेरी अन्य प्रकृति जीव रूप है (अपरेयम् इतिस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबहो ययेदं धार्यते जगत्—गीता ७।५)।

न्याय और वैशेषिक दर्शनों में सामान्यतया सामान्य या जाति के दो भेद किये गये हैं—पर और अपर (सामान्यं द्विविधं प्रोक्तं परञ्चापरमेव च—भाषापरिच्छेद ६)। पर सामान्य अधिक देश में और अपर सामान्य अल्प देश में रहता है (परसामान्यम् अधिकदेशवृत्तिः, अपरसामान्यम् अल्पदेशवर्त्तिः—भाषापरिच्छेद ६)। जैसे—सत्ता जाति समस्त द्रव्यों, गुणों और कर्मों पर रहती है, इसलिए वह पर सामान्य है और द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि जातियाँ सत्ता से अल्प स्थान में रहने के कारण अपर सामान्य है। इसी प्रकार क्षितित्व, जलत्व आदि जातियों की तुलना में द्रव्यत्व जाति अधिक स्थान में रहने के कारण पर सामान्य है और क्षितित्व, जलत्व आदि अपर सामान्य हैं; इसी प्रकार गुणत्व जाति पर तथा रूपत्व, रसत्व, गंधत्व, सुखत्व, दुःखत्व आदि जातियाँ अपर हैं, इसी प्रकार कर्मत्व जाति पर तथा गमनत्व, प्रसारणत्व, उल्लम्फनत्व आदि जातियाँ अपर हैं। मनुष्यत्व जाति पर तथा ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व, हिन्दुत्व, पुरुषत्व, नारीत्व, वृद्धत्व, बालकत्व आदि जातियाँ अपर हैं।

अपर या अन्य व्यक्तियों के गुणों और अपने दोषों के बारे में अधिक सोचना चाहिए तथा अन्य व्यक्तियों के दोषों और अपने गुणों के बारे में अल्प सोचना चाहिए। अपर व्यक्तियों के गुणों के बारे में सोचते रहने से वे गुण अपने भीतर आ जाते हैं; इससे मनुष्य महान् गुणवान हो जाता है।

अपने दोषों के बारे में अधिक सोचते रहने से उनपर दृष्टि पड़ जाती है, जिससे अपने ऊपर धिक्कार आता है और उन दोषों को दूर करने की चेष्टा होती है तथा वह मनुष्य निर्मल होकर आनन्दमय जीवन बिता सकता है।

अपने गुणों के बारे में अधिक सोचने से मन में अहंकार होता है। अहंकारी व्यक्ति अनेक अकर्म-कुकर्म करके जीवन भर दुःख भोगता है। लोग ऐसे मनुष्य को घृणा की दृष्टि से देखते हैं और उसकी निन्दा करते हैं। निंदित जीवन वृथा है (निरर्थकं हि जीवितं निन्दितानाम्—वाल्मीकिरामायण)।

दूसरे के दोषों के बारे में सोचते रहने से वे दोष अपने में आ जाते हैं। मानो कागज में स्याही या अलकतरा लग जाने की तरह अपना मन कलुषित हो जाता है, कदाचित् क्रोध भी उत्पन्न होता है, जो हानिकारक है।

अपरः (पुं०) अन्य व्यक्ति, दूसरा पदार्थ। जिसे कड़ोरों ग्रन्थों में कहा गया है उसे मैं आधे श्लोक में कहता हूँ। वह यह है कि—ब्रह्म सत्य हैं, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म ही है, भिन्न नहीं (श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः। ब्रह्म सत्यं, जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः—घेरंडसंहिता); हाथी का पिछला पैर; शत्रु।

अपरकायः (पुं०) शरीर का पिछला भाग।

अपरकालः (पुं०) पिछला समय, गत काल। काल कोई वस्तु ही नहीं है, केवल कल्पनामात्र है (कालः देखिए)।

अपरक्त (वि०) जो अनुकूल न हो, परिवर्तित रंग वाला, असंतुष्ट।

अपरक्ति (स्त्री०) विरक्ति, अनासक्ति, स्नेहाभाव।

अपरजनः (पुं०) पश्चिमी प्रदेश का निवासी, दूसरा मनुष्य, बाहरी मनुष्य।

अप + रञ्ज् (उभ०) (अपरज्यति, अपरज्यते) विराग होना, आसक्ति न रहना।

अपरता (स्त्री०), अपरत्वम् (न०) अंतर, भिन्नता, संबंध, चौबीस गुणों में से एक।

अपरतिः (स्त्री०) विच्छेद, असंतोष।

अपरत्र (अव्य०) अन्यत्र, दूसरे स्थान में, परलोक में।

अपरदक्षिणम् (अव्य०) दक्षिण-पश्चिम दिशा में।

अपरन्तु (अव्य०) अधिकंतु, और भी।

अपरपक्षः (पु०) दूसरी ओर, कृष्ण पक्ष, प्रतिवादी।

अपरपर (वि०) भिन्न-भिन्न प्रकार के, कई एक।

अपरपाणिनीयाः (पुं०) पाणिनि के शिष्य जो पश्चिम मे रहते हैं।

अपरप्रणेय (वि०) दूसरों के द्वारा सहज में प्रभावित होने वाला।

अपरम् (न०) भविष्य, हाथी का पिछला पैर।

अपरम् (अव्य०) पुनः, फिर से, आगे।

अपरलोकः (पुं०) दूसरा लोक, परलोक, स्वर्ग।

अपरव (वि०) शब्दशून्य, दुःशब्दयुक्त।

अपरवः (पुं०) विवाद, झगड़ा, अपकीर्ति, अख्याति, बदनामी।

अपरस्पर (वि०) एक के बाद दूसरा आने वाला, अबाधित, सतत।

अपरा (स्त्री०) पश्चिम दिशा, गर्भाशय; निकृष्ट विद्या, लौकिक या व्यवहारिक विद्या; उपनिषद् के मत में विद्या दो प्रकार की है—परा, अपरा। वेद, स्मृति, तंत्र, पुराण, आयुर्वेद, ज्योतिष, व्याकरण आदि सभी अपरा विद्याएँ हैं और उपनिषद्-प्रतिपादित ब्रह्म-विद्या ही परा विद्या है (द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति, अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते—मुण्डकोपनिषद् १।१।४-५)।

मनुष्य की चित्तवृत्ति प्रायः बहिर्मुखी है और वृत्तियाँ प्रायः पाप-प्रवण हुआ ही करती हैं। उन्हें संयत रखने के लिए वेदादि अनेक शास्त्रों का निर्माण हुआ है, किंतु कदाचित् कोई धीर पुरुष बाहरी विषयों से बहिरिन्द्रियों तथा अंतरेंद्रिय मन को खींचकर आत्मदर्शन के लिए अंतर्मुख कर लेते हैं। उन्हें आत्मदर्शन की सहायता प्रदानार्थ उपनिषदों की रचना हुई है। उपनिषदों में अक्षर पुरुष के प्रतिपादन के अतिरिक्त अनेक अवांतर विषयों का भी वर्णन है। परंतु समन्वय करने पर सभी का तात्पर्य एकमात्र अक्षर पुरुष आत्मा ही है। वेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्र के 'तत्तु समन्वयात्' (१।१।४) इस सूत्र के भाष्य में शंकराचार्य जी ने इस प्रकार का समन्वय कर दिखाया है।

इस विषय को गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था—हे अर्जुन सारे वेद त्रिगुण-विषयक हैं तुम त्रिगुणातीत बन जाओ। यहाँ भी अपरा और परा विद्या का ही प्रतिपादन है।

छांदोग्य उपनिषद् में एक कथा आती है जिसमें सर्वशास्त्रज्ञ नारद नामक ऋषि तत्त्वज्ञ सनत्कुमार के पास जाकर कहते हैं—"हे भगवन, आप जैसे महान पुरुषों से मैंने सुना है कि आत्मवित् शोक-समुद्र से उत्तीर्ण हो जाते हैं। मैं मंत्रवित् हूँ, आत्मवित् नहीं। आप मुझे शोक-समुद्र से उत्तीर्ण कीजिए।" सनत्कुमार ने पूछा—"तुमने क्या-क्या पढ़े हो ?" नारद ने उत्तर दिया—"मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, देवविद्या, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या आदि पढ़ चुका हूँ (अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः······" सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि नात्मवित्। श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवः शोचामि, तं मां भगवान् शोकस्य पारं तारयतु······" छांदोग्य ७।१।१-३)। यहाँ भी अपरा और परा विद्या का अच्छा दिग्दर्शन है। उसके अनंतर महर्षि सनत्कुमार ने नारद को परा विद्या के आत्मतत्त्व का उपदेश दिया था।

अपराग (वि०) बिना रंग का, जिसमें रंग न हो।

अपरागः (पु०) रंग का अभाव, असंतोष, शत्रुता।

अपराग्निः (पुं०) पश्चिमी अग्नि, दूसरी अग्नि।

अपराङ्मुख (वि०) परांमुख या विमुख न होने वाला, अस्वीकृत न होनेवाला, अभिमुख (आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः। युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः—मनु० ७।८९)।

अपराजित (वि०) जो पराजित न हुआ हो, जो जीता न गया हो, अजेय (धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चपराजितः—गीता १।७७)।

अपराजितः (पुं०) विष्णु, शिव, ग्यारह रुद्रों में से एक, श्रीकृष्ण के एक पुत्र का नाम, उत्तर-पूर्व का कोण, एक साँप, एक प्रकार का पौधा, हनुमान।

अपराजितवर्मनः (पुं०) एक पल्लव राजा का नाम, यह पल्लव वंश का अंतिम राजा था। पांड्यराज वरगुण को पराजित करने के पश्चात् अपराजितवर्मन ने चोडों की शक्तिशाली सेना के सामने घुटने टेक दिये और पल्लव वंश पराजित हो गया।

अपराजिता (स्त्री) दुर्गा का एक नाम, यह नाम इनके रौद्र रूप का द्योतक है। माँ र्गा ने अनेक असुरों का संहार इसी रूप में किया था। कालिदास जी ने विक्रमोर्वशीय ग्रन्थ में अपराजिता विद्या का उल्लेख किया है। अपराजिता नाम से एक नीला फूल भी प्रसिद्ध है।

अपराजेय (वि०) पराजय प्राप्त न होने वाला, अजेय।

अपराञ्च् (वि०) सम्मुख, समक्ष।

अपराङ्मुख (वि०) विमुख न होने वाला, मुँह न मोड़ने वाला, साहस के साथ सामना करने वाला।

अपरात्रः (पुं०) रात का पिछला प्रहर, मध्यरात्रि के बाद वाली रात, शेषरात्रि।

अपराद्धिः (स्त्री०) अपराध, दोष, पाप, दुष्कर्म।

अपराधः (पुं०) अधार्मिक कार्य, पाप। धार्मिक, नैतिक और सामाजिक नियमों का उल्लंघन अपराध है। हिंसा धार्मिक अपराध है। दूसरे प्राणी को कष्ट देना भी हिंसा है। शरीर पर अघात पहुँचाना और हत्या करना शारीरिक हिंसा है। निंदा, तिरस्कार, गाली आदि कटु बचनों से दूसरे का दिल दुखाना वाचनिक हिंसा है। मन में किसी की बुराई सोचना मानसिक हिंसा है। प्राणियों के उन्नति-मूलक कार्य हमारे शास्त्रों में धर्म माने जाते हैं (यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः—कणादसूत्र १।१।२)। उन्नति निखिला जीवा धर्मेणैव क्रमादिह। विदधानाः सावधाना लभन्तेऽन्ते परं पदम्)।

योगशास्त्र में, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहण—इन पाँचो को धर्म का मूल माना गया है। (अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः—योगसूत्र २।३०) योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन अष्टांग योगों में यम प्राथमिक धार्मिक सिद्धांत है। अतः हिंसा, चोरी, असत्य भाषण, व्यभिचार, दानग्रहण धार्मिक अपराध है। क्योंकि इनसे दूसरे की उन्नति अर्थात् शांति में बाधा पहुँचती है (अहिंसा देखिए)। इनमें से आघात, हत्या, चोरी, व्यभिचार आदि को दूसरे देश के लोग सामाजिक अपराध कहते हैं। परंतु हमारे शास्त्रों के अनुसार अहिंसा आदि पाँच धर्म की मूल भित्ति है। इस कारण ऐसे अपराध करने वाले समाज या राजविधि से दंड पाते हैं।

विवाह भी एक धार्मिक कृत्य है। धार्मिक विधि से विवाह होने पर पति-पत्नी जीवन पर्यंत धार्मिक नियम से बँधे रहते हैं। उच्च वर्णों में विवाह-विच्छेद अपराध या पाप माना जाता है। असवर्ण विवाह उच्चवर्णों में वर्जित है। कोई इस नियम का उल्लंघन करे तो उसे सामाजिक दंड भोगना पड़ता है। हिंदु विधान से ऐसा व्यक्ति पैतृक संपत्ति से भी वंचित हो जाता है।

पिता-माता का आदेश न मानना, पुत्र-कन्याओं के लिए अधार्मिक कृत्य है। ऐसे संतान को भी प्रायः पैतृक संपत्ति के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है।

राजनियम से प्रत्येक मनुष्य को कुछ राजकर देना आवश्यक कर्तव्य है। इसका उल्लंघन अर्थात् नियत कर न देना अपराध है। नगरपालिका का विधान है कि सड़क पर मल-मूत्र का त्याग न किया जाय। इस नियम का उल्लंघन भी अपराध है। ऐसे अपराधी राजनियम से दंड पाने के योग्य हैं।

मनुष्य बचपन से ही नियमों का उल्लंघन करता आ रहा है। उपदेश देकर, धमका कर, तथा मार-पीट कर अभिभावक उन्हें नियम के भीतर लाने की चेष्टा करते हैं। धर्म संयम सिखाता है, नियम के अधीन संयत जीवन निज का, परिवार का, समाज का और देश का कल्याणकारी होता है, अतः नियम का तोड़ना अपराध है।

अपराधिन् (वि०) अपराधी, अपराध करने वाला, पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रिक नियम तोड़ने वाला। परिवार में एक युवक ने किसी वृद्ध को मार दिया, यह परिवारिक अपराध है, एक ब्राह्मण ने घर में एक शूद्रा को बिठा लिया, यह सामाजिक अपराध हैं; एक राष्ट्र का भेद दूसरे विरोधी राष्ट्र को बता देना राष्ट्रिक

अपराध है, इन्हें सजा देने के लिए विधियाँ बनायी गयी हैं। किंतु नीति कहती है कि शत अपराधी भले ही छूट जायँ, किंतु एक निरपराध को सजा न मिले।

अपरान्त (वि०) पाश्चात्त्य, पश्चिमी।

अपरान्तः (पुं०) पश्चिमी तट का निवासी, मृत्यु।

अपरापर (वि०) अन्यान्य।

अपरामर्शः (पुं०) कुपरामर्श, बुरी सलाह, उसकाहट, कुकर्म में उत्साह प्रदान।

अपरामृष्टः (पु०) असंयुक्त, अछूता, अस्पृष्ट, असंलग्न।

सांख्यदर्शन और योगदर्शन का सिद्धांत है कि परम सूक्ष्म सर्वव्यापक अगणित चेतन पुरुष सर्वत्र सर्वकाल में विराजमान हैं। उनमें कुछ पुरुष प्रकृति के सुख-दुःख आदि मे बद्ध हैं और कुछ पुरुष मलिन प्रकृति से अपने को पूर्ण-तथा पृथक जानकर एकदम मुक्त हो गये हैं।

सांख्यदर्शन में ईश्वर का प्रतिपादन नहीं है। इस कारण सांख्य को निरीश्वर-वादी दर्शन कहते हैं। किन्तु योगदर्शन में उन मुक्त पुरुषों में क्लेश, कर्म, जाति, आयु, भोगरूप कर्मफल तथा कर्मसंस्कार से चिरमुक्त एक विशेष पुरुष को ईश्वर कहते हैं (क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः—योगदर्शन १।२४)। इस कारण योग को सेश्वर सांख्य दर्शन कहते हैं। किन्तु ऐसे ईश्वर के लिए स्तुति-नति-पूजार्चना-प्रार्थना आदि का कोई विधान नहीं है। समाधि के लिए चित्त स्थिर करने का ईश्वर-चिंतन एक उपाय मात्र है (ईश्वर-प्रणिधानाद्वा १।२३)।

अपरार्धः (पुं०) दूसरा आधा अंश।

अपराह्णः (पुं०) दोपहर के बाद का समय, तीसरा पहर।

अपराह्णाच्छायान्यायः (पुं०) जिस प्रकार दोपहर के बाद छाया बढ़ती जाती है, उसी प्रकार जब किसी सज्जन की प्रीति की वृद्धि को व्यक्त करना होता है तब इस न्याय का प्रयोग किया जाता है।

अपरिकलित (वि०) अकल्पित, अज्ञात, अदृष्ट (अपरिकलितपूर्वः कश्चमत्कारकारी स्फुरति मम गरीयानेष माधुर्यपूरः, अयमहमपि हन्त प्रेक्ष यं लुब्धचेता सरमसमय-भोक्तुं कामये राधिकेव—ललित)।

अपरिक्लिन्न (वि० क्लेदरहित, सूखा, शुष्क।

अपरिक्लिष्ट (वि०) न थका हुआ, क्लेश-रहित।

अपरिगृहीत (वि०) ग्रहण या स्वीकार न किया हुआ, अस्वीकृत।

अपरिग्रहण (वि०) जिसके पास कुछ भी न हो, बिल्कुल निर्धन, कंगाल।

अपरिग्रहः (पु०)—ग्रहण न करना, दान न लेना, बिना परिश्रम या बिना प्रत्युपकार किये किसी से सहायता न लेना, भोगसाधन-पदार्थों का अस्वीकार। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन आठ योगांगों के प्रथम यम के पाँच साधनों में अंतिम (अहिंसा-सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः—योगसूत्र २।३०)। मन, वाणी और देह से किसी की हिंसा न करना अहिंसा है। मन से मिथ्या विषय का चिंतन न करना, वाणी से मिथ्या वाक्य न बोलना तथा देह से किसी की हानिकारक चेष्टा न करना सत्य है (सत्यं भूतहितं प्रोक्तं, न यथार्थाभि-भाषणम्)। मन में परस्वापहरण का विचार न लाना, वाणी से बोलते समय यथार्थ विषय या घटना से कुछ अंश चुरा (छिपा) कर न रखना या दूसरे विषय या घटना से कुछ अंश चुरा लाकर अपने भाषण में जोड़ न देना तथा देह से परायी वस्तु न चुराना—अस्तेय है। उपस्थ-संयम ब्रह्मचर्य है। मन में किसी से कुछ भी दान लेने या उपकार प्राप्त करने की इच्छा न करना, वाणी से कुछ भी न माँगना तथा देह से कुछ भी बिना परिश्रम या बिना प्रत्युपकार किये न ग्रहण करना या सहायता न लेना—अपरिग्रह है।

विशुद्ध अपरिग्रह स्थिर हो जाने से पूर्व जन्म का ज्ञान प्राप्त होता है (अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तसम्बोधः—योगसूत्र २।३९)

भोगसाधन होने के कारण शरीर-ग्रहण भी परिग्रह हैं, अतः अपरिग्रह-साधन का एक उद्देश्य यह भी है कि साधन द्वारा इस जन्म में ही ऐसा प्रयत्न करना कि पुनः शरीर धारण न करना पड़े।

अपरिग्राह्य (वि०) ग्रहण करने के अयोग्य, जिसका ग्रहण करना उचित न हो, अग्रहणीय, स्वीकृति के आयोग्य।

अपरिचयः (पुं०) परिचय का अभाव।

अपरिचित (वि०) जिसका परिचय न हो, न जाना हुआ।

अपरिच्छादित (वि०) जो आच्छादित या ढका हुआ न हो, अनावरण।

अपरिच्छिद (वि०) दरिद्र, निर्धन, धनहीन ।

अपरिच्छिन्न (वि०) मिला हुआ, अभेद्य, सतत, असीम, अपार, संबंधित ।

अपरिच्छेदः (पुं०) परिच्छेद का अभाव, न्याय का अभाव, निरंतरता ।

अपरिज्ञात (वि०) अज्ञात, न जाना हुआ, अपरिचित ।

अपरिज्ञेय (वि०) अज्ञेय, जानने के अयोग्य ।

अपरिणत (वि०) अपूर्ण, अपुष्ट, कच्चा ।

अपरिणतप्रसवः (पुं०) असमय का प्रसव। साधारणतया के लगभग गर्भाधान २८० दिन बाद होने वाला प्रसव परिणत प्रसव कहलाता है। परंतु उष्णप्रदेश में २८ सप्ताह और शीत प्रदेश में ४० सप्ताह का प्रसव ही परिणत-प्रसव माना जाता है। इस समय से पहले प्रसव हो तो वह अपरिणत-प्रसव है।

अपरणितप्रसव की संतान प्रायः जीवित नहीं रहता। माता के स्वास्थ्य पर भी उससे कुप्रभाव पड़ता है। अकाल-प्रसव रोकने के लिए तीन चार मास का गर्भ होने पर माता-पिता को पृथक रहना चाहिए। क्योंकि मिलित रहने से माता का शरीर क्षीण हो जाता है। गर्भस्थ संतान के मन पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है, इसी कारण आजकल घर-घर में कामज संतति उत्पन्न हो रही है। इसके प्रतिपादन में महाभारत की एक कथा आती है। जब अभिमन्यु माता सुभद्रा के गर्भ में था उस समय पिता अर्जुन ने सुभद्रा को चक्रव्यूहभेदन का उपाय बताया था। उसका संस्कार उस गर्भस्थ शिशु के अंतःकरण में पड़ गया था। परंतु चक्रव्यूह से निर्गमन का उपाय बताने के पहले ही सुभद्रा सो गयी थी, इस कारण निर्गमन के उपाय का संस्कार अभिमन्यु के अंतःकरण में नहीं पड़ सका। इसी कारण १६ वर्ष का महावीर अभिमन्यु महाभारत के युद्ध में चक्रव्यूह का भेदन कर भीतर तो घुस गया पर निर्गमन का उपाय न जानने के कारण ७ महारथियों के समवेत्त प्रहार से वह वीर बालक मारा गया था। यह एक रूपक कथा है। आशय यह है कि परिणत भ्रूण के अंतःकरण में माता-पिता के कुकृत्यों का बुरा प्रभाव पड़ जाता है फलस्वरूप आजकल के बच्चे प्रायः कुकर्मी दिखाई पड़ते हैं।

अपरिणत प्रसव में माता के रोग का भी कुपरिणाम पड़ता है, यथा—जीर्ण वृक्क-कोप, गुर्दे की बीमारी, उच्च रक्तचाप, संक्रामक रोग, संग्रहणी, तपेदिक, माता की विकृत मनःस्थिति, रक्ताल्पता आदि ।

अपरिणतबुद्धि (स्त्री०) विचारशक्तिरहित, कच्ची बुद्धिवाला ।

अपरितवयस् (नं०) बचपन, बाल्यकाल, अप्राप्त-यौवन ।

अपरिणतवयस्क (वि०) अप्राप्त-यौवन, तरुण, कुमार ।

अपरिणयः (पुं०) अविवाह, कुँवारापन, कौमार्य ।

अपरिणामदर्शिता (स्त्री०) परिणाम का विचार करने की अशक्ति, अदूरदर्शिता, अविचारिता ।

अपरिणामदर्शिन् (वि०) अदूरदर्शी, दूर की बात न सोच सकने वाला ।

अपरिणीत (वि०) अविवाहित, कुँवारा ।

अपरिणीता (स्त्री०) अविवाहिता लड़की, कुँवारी कन्या ।

अपरितुष्ट (वि०) असंतुष्ट, अतृप्त, अप्रसन्न, नाराज ।

अपरितृप्त (वि०) अतृप्त, अप्रसन्न ।

अपरितृप्तिः (स्त्री०) अतृप्ति, अप्रसन्नता ।

अपरितोषः (पुं०) असंतोष, अप्रसन्नता, नाराजगी (अपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्—मालविकाग्निमित्रनाटक) ।

अपरिपक्व (वि०) कच्चा, अधूरा, अपरिणत ।

अपरिपाकः (पुं०) अजीर्ण, अपच, बदहजमी ।

अपरिभिन्न (वि०) छोटे टुकड़ों में न टूटा हुआ ।

अपरिमाण (वि०) बिना माप का, माप करने के अयोग्य, अमापनीय, असंख्य ।

अपरिमित (वि०) असीम, अनंत, बहुत अधिक ।

अपरिमितधा (अव्य०) असंख्य टुकड़ों या भागों में ।

असरिमेय (वि०) माप के अयोग्य, जो मापा न जा सके ।

अपरिमोषः (पुं०) चोरी न करना ।

अपरियाणिः (स्त्री०) इधर-उधर घूमने या टहलने की असमर्थता ।

अपरिलोपः (पुं०) हानि का अभाव, घाटा न होना ।

अपरिवर्गम् (अव्य०) बिना छोड़े हुए, पूर्णता से ।

अपरिवर्तनीय (वि०) परिवर्तित करने या बदलने के अयोग्य ।

अपरिवर्तित (वि०) जिसका परिवर्तन न किया गया हो ।

अपरिवाहिन् (वि०) जिसके भीतर से विद्युत् शक्ति का संचार न हो सकता हो ।

अपरिविष्ट (वि०) जो आविष्ट न हो, असीम ।

अपरिवीत (वि०) न ढका हुआ, जो आच्छादित न हो, अनाच्छादित ।

अपरिशीलनम् (न०) अध्ययन का अभाव, अभ्यास या चर्चा न करना या न रहना ।

अपरिशोधनीय, अपरिशोध्य (वि०) विशुद्ध करने या ऋण चुकाने के अयोग्य ।

अपरिष्कारः (पुं०) परिष्कार का अभाव, मैलापन, गंदापन, अशिष्टता, रूक्षता ।

अपरिष्कृत (वि०) स्वच्छ न किया हुआ, मैला, गंदा, अपवित्र, अशुद्ध ।

अपरिष्फुट (वि०) अविकसित, अनखिला ।

अपरिसमाप्तिक (वि०) समाप्त न होने वाला, सामारहित, निःसीम ।

अपरिसीम (वि०) असीम, सीमारहित, बहुत अधिक (अपरिसीम क्लेश) ।

अपरिहरणीय (वि०) त्यागने के अयोग्य, अवश्य ग्रहण करने योग्य, आवश्यक ।

अपरिहार्य (वि०) परिहार या त्याग करने के अयोग्य, अपरित्यज्य । गीता में लिखा है—जात जीव की मृत्यु निश्चित है, मृत प्राणी का जन्म भी निश्चित ही है, अतः इस अपरिहार्य विषय में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए (जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च । तस्माद् अपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुम् अर्हसि—२।२७) ।

अपरीक्षित (वि०) परीक्षा न किया हुआ, अप्रमाणित, असिद्ध, अविचारित ।

अपरीत (वि०) न रोका हुआ, अबाधित ।

अपरुद् (वि०) क्रोधरहित, क्रोधहीन ।

अपरूप (वि०) कुरूप, खराब आकृति वाला, भद्दा, बेढंगा ।

अपरेतरा (स्त्री०) पूर्व दिशा, प्राची ।

अपरेद्युः (अव्य०) दूसरे दिन, अगले दिन ।

अपरोक्ष (वि०) अदृश्य नहीं, अनुभवयोग्य, निकट, समीप ।

अपरोक्षम् (न०) आत्मसाक्षात्कार, आत्मानुभूति । अनुभव त्रिविध हैं—प्रत्यक्ष—विषयेन्द्रियसन्निकर्षजनित ज्ञान । परोक्ष—इंद्रियासन्निकृष्ट या इंद्रियागोचर विषय का आप्तवाक्य या शास्त्राध्ययन से प्राप्त धर्म, मोक्ष आदि का ज्ञान (अक्ष्णोः परं परोक्षम्—अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् । परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् । बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत्—पंच० १।६३) । अपरोक्ष—उन दोनों से भिन्न आत्मा का करण-निरपेक्ष स्वयं स्वरूपानुभूति (अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते । अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् । संसारकारणाज्ञानतमसश्चण्डभास्करः—पंच० १।६४-६५) । 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञान को आत्मसाक्षात्कार कहते हैं । इस प्रकार का अपरोक्षात्मविज्ञान यदि शास्त्रजनित तथा ब्रह्मज्ञ गुरु से प्राप्त हो ता वह संसार के कारण रूप अज्ञान के लिए प्रचड-भास्कर-सदृश है ।

अपरोक्षानुभूतिः (स्त्री०) आत्मा का स्वयं स्वरूपानुभूति । ब्रह्मस्वरूप आत्मा किसी प्रकार के ज्ञान का विषय नहीं हो सकता (अद्वैतवादः देखिए) । उपनिषद के ऋषि कहते हैं—जिसे मन मनन नहीं कर सकता, बल्कि जिसके द्वारा मन ज्ञात और प्रकाशित होता है, वही ब्रह्म है । जिसकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्म नहीं है (यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनो मतम् । तदेव ब्रह्म तं विद्धि, नेदं यदिदम् उपासते—केनोपनिषद् १।५) ।

दर्पण में सूर्य का प्रतिबिंब पड़ने से वह अंधेरे स्थान का कुछ अंश प्रकाशित कर सकता है. किंतु उसे सूर्य की ओर डालने से वह सूर्य को प्रकाशित करना तो दूर को बात है, वह स्वयं ही बिंबरूप उस प्रोज्ज्वल प्रकाश में डूबकर लुप्त हो जाता है। इसी प्रकार स्वयम्प्रकाश आत्मा का प्रतिबिम्ब जीव के अन्तःकरण में पड़ने से वह दृश्य विषयों को प्रकाशित कर सकता है। किंतु यदि वह अन्तर्मुख होकर अपने बिंब रूप आत्मा को प्रकाशित करने के लिए चेष्टा करता है तो वह उसे प्रकाशित करना तो दूर की बात है, वह उसमें डूबकर लुप्त हो जाता है। यही अपरोक्ष आत्मज्ञान है। इसे स्वयं स्वरूपानुभूति भी कहते हैं। इससे संसार के कारण रूप अज्ञान का समूल नाश

हो जाता है जैसे कि प्रचंड भास्कर अंधकार को नाश कर देता है।

अपरोधः (पुं०) वर्जत, निषेध, मनाही, रोक।

अपर्ण (वि०) जिसमें पत्ता न हो, पत्ता-रहित।

अपर्णा (स्त्री०) पार्वती का एक नाम। हिमालय की स्त्री मेनका के गर्भ से अपर्णा का जन्म हुआ था। अपर्णा के कठिन तपस्या में लीन होने पर उनकी माँ मेनका ने दुखित होकर कहा—"उमा, ऐसी कठिन तपस्या न करो।" परंतु इसका प्रभाव अपर्णा पर नहीं हुआ। इसीलिए अपर्णा का दूसरा नाम उमा भी है। पार्वती ने महादेव को पतिरूप में पाने के लिए कठोर तपस्या की थी। प्रथम उन्होंने सूखे पत्तों का आहार किया। बाद में उन्होंने उसका भी त्यागकर दिया। तभी से उनका अपर्णा नाम पड़ा।

अपर्यन्त (वि०) असीम, अनंत।

अपर्याप्त (वि०) अल्प, अप्रचुर, असमर्थ; अपरिमित, प्रचुर, यथेष्ट, समर्थ, अगणित।

गीता के पहले अध्याय के १०वें श्लोक में इस शब्द प्रयोग किया गया है (अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्। पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्), इस श्लोक के अर्थ में श्रीधर स्वामी और रामानुजाचार्य ने लिखा है कि भीष्म दोनों पक्षों के हिताकांक्षी थे। इस कारण दुर्योधन की राय में अपनी सैन्यसंख्या अधिक होने पर भी ऐसे सेनापति के अधीन होने के कारण पांडव-सेना से लड़ने में असमर्थ हैं और महाबली भीम के द्वारा रक्षित पांडवपक्ष की सेना हमारी सेना के साथ लड़ने में समर्थ है।

आनंदगिरि, मधुसूदन सरस्वती, बलदेव आदि गीता के टीकाकारों के मतानुसार इस अपर्याप्त शब्द का अर्थ संपूर्ण विपरीत है। दुर्योधन कहते हैं कि—हमारी सेना अपरिमित है और पांडवों की सेना परिमित अर्थात् असमर्थ है। अब हमारे सभी सेनापति पितामह भीष्म की रक्षा करें।

प्रथम टीकाकार लोग समझाना चाहते हैं पांडव दल में भीम और अर्जुन के समान अनेक योद्धा महारथियों को तथा उनके महाचमू को सुदृढ़ व्यूहबद्ध देखकर दुर्योधन कुछ उत्साह-हीन हो गये थे और उसी कारण उनको उत्साहित करने के लिए महासेनापति भीष्म ने तुमुल शंखध्वनि की थी। अतः दुर्योधन ने अपनी सेना को युद्ध करने में असमर्थ और पांडव सेना को समर्थ समझा था।

दूसरे टीकाकार लोग कहते हैं कि दुर्योधन पांडवों के ७ और अपनी ११ अक्षौहिणी सेना को देखकर तथा भीम की अपेक्षा अधिक रण-निपुण भीष्म के द्वारा रक्षित जानकर विशेष आश्वस्त हुए थे।

अपर्याप्तिः (स्त्री०) अपूर्णता, अयथेष्ठता, अयोग्यता, अशक्तता।

अपर्याय (वि०) क्रमरहित, शृंखलारहित।

अपर्यायः (पुं०) क्रम या विधि का अभाव।

अपर्युषित (वि०) जो बासी न हो, ताजा, टटका।

अपर्वन (वि०) जिसमें गाँठें न हों, बिना गाँठ का।

अपर्वन् (न०) अनऋत, असमय, वह जिसमें जोड़ने की जगह न हो।

अपल (वि०) मांसरहित, बिना मांस का।

अपलज्जा (स्त्री०) निंदित लज्जा। अपने-अपने धर्म और समाज के विरुद्ध काम करने वालों को लज्जित होना पड़ता है। उन कुकृत्यों में भी ब्रह्महत्या, सुरापान, चोरी, गुरुपत्नी-गमन आदि महापाप करने वालों की लज्जा बहुत ही निंदित या घृणित है।

तार्किक लोग पूर्वापर विचार न रखकर बीच की एक दो श्रुतियों का उद्धरण देकर अपने मत की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा करते हैं। यथा—छांदोग्य उपनिषद् में प्रमाण है कि सृष्टि के पूर्व एकमात्र अद्वितीय सत् आत्मा विराजमान था (सदेव सोम्य इदमग्रे आसीत्, एकमेवाद्वितीयम् ६।१)। यहाँ कोई-कोई कहते हैं कि सृष्टि के पहले एकमात्र असत् ही था। किंतु असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे होगी? अतः सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय सत्ता ही वर्तमान थी (तद्धैक आहुः असदेवेदमग्रे आसीद्-एकमेवाद्वितीयम्·········कथमसतः सज्जायेतेति? सदेव सोम्य इदमग्रे आसीद् एकमेवाद्वितीयम्—६।१-२)। इन श्रुतियों में से तार्किक लोग 'सृष्टि के पूर्व असत् था' इस अंश को लेकर अपने सिद्धांत को प्रमाणित करना चाहते हैं; परंतु ये श्रुति, श्रुति का आभास अर्थात् खंडित श्रुति है, क्योंकि इसका खंडन ऊपर और नीचे क वाक्यों से हो गया है। यह कितनी बड़ी अपलज्जा की बात है।

यदि कोई महात्मा कहें कि 'सदा सत्य बोलना चाहिए परन्तु कुछ लोग कहते हैं कि मिथ्या कहे बिना इस कलियुग में उन्नति की कोई आशा नहीं हैं, परंतु विद्वानों का अनुभव है कि मिथ्या से कुछ दिनों तक उन्नति दिखाई पड़ने

पर भी अंत में विनाश अवश्यंभावी है।' इन वाक्यों में से 'मिथ्या कहे बिना इस कलियुग में उन्नति की कोई आशा नहीं है' इस बीच के खंडित वाक्य को लेकर यदि कोई व्यक्ति कहे कि देखो, यह एक महात्मा का उपदेश है, तो उस प्रकार का भाषण उसकी अपलज्जा का ही कारण होगा; क्योंकि वह बीच वाला वाक्य ऊपर और नीचे के वाक्यों से खंडित हो चुका है।

ऐसे ही उपनिषद् में जहाँ लिखा है—एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हुए हैं, उनमें से एक सुमिष्ट फल खा रहा हैं और दूसरा न खाकर केवल देख रहा है (द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन् अन्यः अभिचाकशोति—मुण्डक ३।१।१)। इस श्रुति-प्रमाण से द्वैतवादी ब्रह्म और जीव को पृथक् मानते हैं, परंतु अनेक श्रुतियों में ब्रह्म और जीव की भिन्नता का निषेध है। अतः ऊपरी दृष्टि से द्वैतवाद का प्रतिपादन नहीं होता। इस श्रुति का तात्पर्य यह है कि एक ही शरीर रूप वृक्ष में शुद्ध कूटस्थ आत्मा और आभास चैतन्य रूप जीव—ये दो पक्षी बैठे हुए हैं। उनमें से जीवात्मा संसार के सुख रूप स्वादिष्ट फल खाता है और साक्षीरूप कूटस्थ आत्मा न खाकर केवल देखता रहता है। जीव उसी कूटस्थ की छाया मात्र है, अतः पृथक नहीं है।

तार्किक लोग अनेक विषयों में जानबूझ कर खंडित या आभास श्रुतियों को उद्धृत कर अपने-अपने मतों का समर्थन करते हैं (पूर्वापरपरामर्शविकलास्तत्र केचन। वाक्याभासान्स्वस्वपक्षे योजयन्त्यपलज्जया—पंञ्चदशी ६।५९)। अनेक उपनिषदों के विभिन्न श्रुति-वाक्यों का समन्वय करने से यथार्थ तत्त्व ज्ञात हो सकता है और इसमें लज्जा की कोई बात नहीं रह जाती। श्रुति-वाक्यों का समन्वय करने के लिए ही वेदान्त-दर्शन लिखा गया है। सारे श्रुतिवाक्यों का तात्पर्य अद्वैत ब्रह्म ही है।

अप्+लप् (पर०) (अपलपति) गुप्त रखना, छिपाना, सत्य का अस्वीकार करना, मिथ्या कहना, गवन करना।

अपलपनम् (न०) छिपाना, हटाना, ज्ञान या जानकारी का अस्वीकरण; कंधे और पसलियों के बीच का भाग।

अपलपित (वि०) गुप्त, छिपा हुआ, अस्वीकृत।

अपलम् (न०) पिन, बाल्ट।

अपलापदण्डः (पुं०) कानून में मिथ्याभाषण के लिए होने वाली सजा।

अपलापिन् (वि०) छिपाने वाला, अस्वीकार करने वाला।

अपलाश (वि०) पत्ररहित, पर्णरहित।

अपलाषिका (स्त्री०) प्यास, पिपासा।

अपलाषिन् (वि०) इच्छा से मुक्त, आकांक्षारहित।

अपलाषुक (वि०) पिपासु, अभिलाषी।

अपलित (वि०) जो भूरा न हो, जो धूसर न हो, जिसके बाल पके न हों।

अप+वद् (पर०) (अपवदति) निंदा करना, कलंक लगाना।

अपवन (वि०) बिना वायु का, वायु से रहित।

अपवनम् (न०) उपवन, बाग, लताकुंज।

अपवरकः (पुं०) भीतरी कमरा, झरोखा, गवाक्ष।

अपवरणम् (न०) परदा, आवरण वस्त्र।

अपवर्ग (पुं०) मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण, अपवाद, दान, त्याग। वेदांत ये मतानुसार जीव ब्रह्म के साथ एकत्र होने से मनुष्य जीवन-मुक्त हो जाता है तथा जीवनांत में अपवर्ग अवस्था प्राप्त होती है। अपवर्ग या मोक्ष आत्मा का स्वरूप है, माया-कल्पित जीव अपने को क्षुद्र तथा ब्रह्म से भिन्न समझता है और इसी से उसे अनंत शोक-दुःखों के समुद्र में डूबते-उतराते हुए जीवन व्यतीत करना पड़ता है। अज्ञानवश जीव अपने को बद्ध समझता है। यथार्थ में जीव का स्वरूप आत्मा ही है, जो ब्रह्म से अभिन्न है। सत्त्वगुण-प्रधान अंतःकरण के स्वच्छ होने के कारण उसमें दर्पण, जल, स्फटिक आदि की तरह प्रतिबिंब-ग्राहिता शक्ति आ जाती है। वह सर्वव्यापक सर्वांतर्यामी आत्मा का प्रतिबिंब ग्रहण करके मानो जीव बन जाता है और अपने को बंधनदशाग्रस्त मानकर शोक-दुःखों में आप्लुत हो जाता है। आत्मज्ञानी देह रहते ही जीवन्मुक्त हो जाते हैं और देहांत होने पर जलप्रतिबिंबित चंद्रछाया के जल के अभाव से चंद्र में मिल जाने की तरह अंतःकरण में प्रतिबिंबित चिदाभास अंतःकरण के अभाव से ब्रह्म में लीन हो जाता है। यही अपवर्ग है।

महर्षि गौतम-प्रणीत न्यायदर्शन का युक्तिपूर्ण सूत्र है दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानाम् उत्तरोत्तरायापाद

तदनन्तरापायाद् अपवर्गः (१।१।२) अर्थात् पदार्थों का तत्त्वज्ञान होने से सर्वांतिम मिथ्याज्ञान दूर होता है, मिथ्याज्ञान दूर होने से उससे पूर्ववर्ती राग-द्वेश-मोह रूप दोष नष्ट हो जाते हैं, दोषों के नाश से प्रवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्ति न रहने से कर्म-संस्कारों के अभाव के कारण जन्म नहीं होता, जन्म न होने से चिरशांतिरूप अपवर्ग मिल जाता है।

आचार्य शंकर ने इस सूत्र को सम्मान के साथ अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में उद्धृत किया है कि, 'तथा चाचार्यपणीतं न्यायोपवृंहितं सूत्रम् १।१।४।

मोक्ष के लिए कोई कर्म आवश्यक नहीं है। कर्म से फल की प्राप्ति होती है। प्राप्त वस्तु या भाव का वियोग भी होता है (क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति—गीता ९।२१) संयोग होने से वियोग भी होता है। यदि मोक्ष कर्म द्वारा प्राप्य हो तो कालांतर में उसका वियोग भी होगा। तो फिर मर्त्यलोक में आना पड़ेगा। ऐसा मोक्ष कोई नही चाहेगा। मोक्ष तो ब्रह्मस्वरूप आत्मा का स्वरूप है (न चाप्यत्वेनापि कार्यपेक्षा, स्वात्मस्वरूपत्वे सति अनाप्यत्वात् —ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य १।४।४)। अर्थात् मोक्ष आप्य या प्राप्य नहीं है; सभी का आत्मा सदा प्राप्त है। शास्त्र-विचार के द्वारा आत्मा के विषय का अज्ञान दूर करना ही उद्देश्य है।

मोक्ष अविद्यादि दोषों का परिहार या संस्कार करके उत्पन्न हो, ऐसा भी नहीं। ऐसा संस्कार स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर अंतःकरण का ही होता है। हाथ पैरों का कर्म और मन का ध्यानरूप कार्य आत्मा तक नहीं पहुँच सकता। वह मन-वाणी से परे है (यन्मनसा न मनुते, येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि, नेदं यद् इदम् उपासते—केनोपनिषद १।५)। गीता में भी लिखा है—यह आत्मा अविकारी है (अविकार्योऽयमुच्यते २।२५)।

आचार्य शंकर ने उसी ब्रह्मसूत्र के भाष्य में लिखा है—ज्ञान को छोड़कर क्रिया के गन्धमात्र का भी अनुप्रवेश इस मोक्षमार्ग में युक्तियुक्त नहीं हो सकता (तस्मात् ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्यापि अनुप्रवेश इह नोपपद्यते)।

अपवर्गद (वि०) स्वर्गीय आनंद देने वाला, मोक्षदायक।

अपवर्जनम् (न०) परित्याग, परिहार, वर्जन, निषेध, मोक्ष, उद्धार, उऋण होना।

अपवर्तनम् (न०) अधिकार-लोप, जब्ती, उलट-फेर।

अपवर्तित (वि०) पलटा हुआ, समाप्त किया हुआ।

अपवादः (पुं०) निंदा, परीवाद, कुत्सा, गर्हा (लोकापवाद); आक्षेप, जुगुप्सा, बाधक नियम, विशेष-विधि (क्वचिदपपादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशते); भ्रमज्ञान या अध्यास का दूर होना। रज्जु में सर्पभ्रम होना अध्यास या अध्यारोप और उस भ्रम का दूर होना अपबाद है (रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववत् वस्तुविवर्तस्या-वस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम् अपवादः—वेदांतसार)।

अपवादक (वि०) निंदक, बदनाम करने वाला, बाहर करने वाला, विरोधी।

अपबादन्यायः (पुं०) अध्यारोपापवादन्यायः देखिए।

अपवादित (वि०) अपवाद किया हुआ, कलंकित।

अपवादिन् (वि०) अपवादक, निंदक।

अपवाद्य (वि०) निंदा के योग्य, अपवाद करने के योग्य।

अपवारणम् (न०) छिपाव, रोक, अंतर्धान।

अपवारित (वि०) छिपा हुआ, दूर किया हुआ, तिरोहित।

अपवारितम् (न०) छिपे होने की अवस्था, गुप्त विधि।

अपवाहः (पुं०), अपवाहनम् (न०) दूर करना, कम करना, घटाना।

अपविघ्न (वि०) बिना बाधा का, अबाधित।

अपविद्ध (वि०) टूटा हुआ, खंडित, चूर्णीकृत, परित्यक्त, वर्जित, अस्वीकृत, विस्मृत, स्थानांतरित, तुच्छ।

अपविद्धः (पुं०) बारह प्रकार के पुत्रों में से वह जिसे उसके माता-पिता ने त्याग दिया हो और किसी अन्य व्यक्ति ने उसे शास्त्रीय संस्कार के द्वारा गोद ले लिया हो।

अपविद्धपुत्रः (पुं०) दरिद्र माता-पिता द्वारा परित्यक्त तथा अन्य के द्वारा दत्तक रूप से गृहित पुत्र।

अपविद्धलोक (वि०) मरा हुआ, मृत।

अपविद्या (स्त्री०) अज्ञानता, अविद्या, माया।

अपवीण (वि०) निकृष्ट वीणा वाला, बिना वीणा का।

अपवीणा (स्त्री०) खराब या निकृष्ट वीणा।

अपवृक्तिः (स्त्री०) पूर्ति, समाप्ति, पूर्णता ।

अपवृतिः (स्त्री०) अनावरण ।

अपवृत्त (वि०) पलटाया हुआ, अंत तक ले जाया हुआ, समाप्त या पूर्ण किया हुआ ।

अपवृत्तिः (स्त्री०) अंत, समाप्ति ।

अपवेधः (पुं०) उचित रीति से न छेदना, उपयुक्त स्थान पर न बेधना ।

अपव्ययः (पुं०) वृथा खर्च, अनावश्यक विषय में धन, समय, शुक्र आदि का निरर्थक व्यय । जो मनुष्य अपनी आय के अनुसार केवल आवश्यक विषयों में सावधानी के साथ व्यय करके कुछ धन बचा लेता है, उसे भविष्य में धनाभाव का कष्ट सहना नहीं पड़ना । जीवन के आरम्भ में अध्ययन के समय गप-शप, खेल-कूद, मार-पीट आदि में जो समय नहीं गंवाता और ध्यान से अधिकांश समय अध्ययन में बिताता है, वह जीवन में सफल हो सकता है । यौवन और वार्धक्य में भी अपने नियमित कामनाओं से निवृत्त होकर बचे हुए समय में जो परिवार के लोगों तथा मित्रों के साथ विशुद्ध वर्तालाप तथा धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करते रहते हैं, उनका जीवन सुखी हो सकता है ।

शुक्र शरीर में जीवनदायक तरल धातु है । जो बालक और युवक इस अति मूल्यवान तत्त्व को शरीर से जान-बूझ कर निकाल देता है, उसका मस्तिष्क दुर्बल हो जाता है, अध्ययन में रुचि नहीं रहती, कभी-कभी तो सिर में चक्कर आता है, फलस्वरूप वे परीक्षाओं में सफल नहीं हो सकते और उनका जीवन व्यर्थ हो जाता है (कामः देखिए) । गृहस्थाश्रम में भी शुक्रव्यय के सम्बन्ध में सदा सावधानी रखने से जीवन सुखी रह सकता है । जो व्यक्ति केवल अपनी स्त्री के ऋतुकाल में अभिगमन करता है, अन्य समय संयत रहता है उसे शास्त्रकार 'ब्रह्मचारी' ही कहते हैं (ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदार-निरतः सदा । ब्रह्म-चर्येव भवति यत्र-तत्राश्रमे वसन्—मनु ३।४५,५०) । चालीस वर्षों तक मनुष्य का यौवन रहता है, उसके बाद शरीर का अपने आप क्षय होने लगता है । जो लोग उस वयस के अनंतर भी अपने को युवक समझते हैं और शुक्रव्यय में संयत नहीं रहते उनका जीवन ५०।६० वर्षों में ही समाप्त हो जाता है । और जो बुद्धिमान मनुष्य उस वयस के पश्चात् शुक्र-व्यय में संयत हो जाता है, उनका जीवन ८०।९०, यहाँ तक कि १०० वर्षों तक नीरोग रहकर आनंद से बीतता है । विभिन्न देशों में दीर्घजीवन लाभ करने के विषय में अनेक मत-मतांतर दिखाई पड़ते हैं । किसी देश के विद्वान बहुदर्शितालब्ध ज्ञान से निर्णय करते हैं कि नियमित शारीरिक परिश्रम, उत्तम भोजन, कम से कम ८ घंटे निद्रा, उद्वेगराहित्य आदि से दीर्घजीवन लाभ होता है । अन्य देशों के अनुभवी वृद्ध लोग कहते हैं कि परिमित मदिरा-पान, धूम्र-सेवन, आमिष-भक्षण आदि से मनुष्य दीर्घजीवी होते दिखाई पड़ते हैं । यथार्थ में हृदय ही शरीर को बचाये रखता है । शरीर में कोई भी रोग क्यों न हो, किसी अंग में काँटा गड़ जाय, कोई अंग कट जाय, शरीर में घाव हो जाय तो हृदय रक्त का प्रवाह छोड़-छोड़ कर रोग आदि अवांछित तत्त्वों को निकाल बाहर करता है और घाव आदि को भी सुखा डालता है । औषध तथा उपचार आदि के द्वारा हृदय की शक्ति की वृद्धि में कुछ सहायता मिलती है । नीरोग दीर्घजीवन लाभ करने के लिए सदा सावधान रहना चाहिए कि शुक्र का एक विंदु भी वृथा नष्ट न हो जाय । क्योंकि एक विंदु शुक्र पतित हो जाय तो मृत्यु और उस विंदु को शरीर में धारण किया जाय तो जीवन है (मरणं विन्दुपातेन, जीवनं विन्दु-धारणात्—शिवसंहिता ५।८७) । शुक्र का नाम ही जीवन-दायक धातु है, वही हृदय को सदा सबल रखता है । इस धातु क्षय से हृदय दुर्बल हो जाता है । अतः इस धातु की सुरक्षा से मनुष्य अनायास शतवर्ष आयु प्राप्त कर सकता है । अन्य देशों के विद्वानों के मतों का कुछ अंश ग्रहण किया जा सकता है, जैसे कि नियमित शारीरिक परिश्रम, उत्तम भोजन, शांत जीवन, कम से कम छ घंटे निद्रा, उद्वेग-राहित्य आदि ।

हमारे वैदिक ऋषि कहते हैं कि कर्म करते हुए शत वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा करो (कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेत् शतं समाः—ईशोपनषिद् २) । मनुष्य की आयु शतवर्ष की है (शतायुर्वै पुरुषः—ऋक्० सं० १।२।२२।३) । ऋषि प्रार्थना करते थे—हम शत शरत्-काल देखें, शत शरत्काल जीवित रहें (पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम्—यजु० माध्य० ३६।२४) । शतवर्ष ही मनुष्य की स्वाभाविक आयु है । इससे अल्प वयस में जो लोग दिवंगत हो जाते हैं, उनकी मृत्यु को अकाल मृत्यु कहते हैं, जो चरित्र-हीनता का परिणाम है ।

अपव्यवहारः (पुं०) दुरुपयोग, बुरा बर्ताव या व्यवहार ।

अपव्रत (वि०) जो आज्ञाकारी न हो, जो विश्वास-पात्र न हो, अविश्वसनीय, दुष्टाचारी ।

अपशकुनम् (न०) बुरा सगुन, असगुन ।

अपशङ्क (वि०) भयरहित, निर्भय ।

अपशङ्कम् (अव्य०) निर्भीकतापूर्वक, निर्भयता से ।

अपशब्दः (पुं०) दूषित शब्द, अशुद्ध शब्द, गाली, अपानवायु ।

गाली, धमकी, निंदा आदि कटुवचनों से दूसरों के मन में क्लेश होता है; इस कारण इन्हें वाचनिक हिंसा कहते हैं (अहिंसा देखिए)। शारीरिक हिंसा शिष्ट समाज में अब नहीं के बराबर है। किंतु वाचनिक हिंसा सर्वत्र व्याप्त है। मौका पाते ही लोग दूसरों को खरी-खोटी सुना देते हैं और समझते हैं कि मैंने खूब बदला लिया है; मैं जीत गया हूँ। परंतु नहीं, जो दूसरों का दिल दुखाता है, उस पाप का फल उसी को भोगना पड़ेगा। धर्मशास्त्र-कार ने लिखा है कि कृत अधर्म कभी निष्फल नहीं जाता (न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः—मनु)। बुद्धिहीन व्यक्ति ही हाथ-पैर हिलाकर या मुख से अपशब्द निकालकर दूसरों का दिल दुखाते हैं और जीवन भर उसका बुरा फल दुःख भोगते हैं। अपना हित चाहने वाले बुद्धिमान व्यक्ति कभी किसी को दुःख नहीं देते, फलस्वरूप उन्हें कभी दुःख नहीं भोगना पड़ता ।

अपशिरस् अपशीर्ष, अपशीर्षन् (वि०) बिना सिर का, सिररहित ।

अपशुः (पुं०) वह जो पशु न हो, विशेषतया वह पशु जो यज्ञ के लिए उपयुक्त न हो ।

अपशुच् (वि०) बिना शोक का ।

अपशुहन् (वि०) पशु न मारने वाला, पशु का वध न करने वाला ।

अपशोक (वि०) शोक या दुःख से रहित ।

अपशोकः (पुं०) अशोक नामक वृक्ष ।

अपश्चिम (वि०) जिसके पीछे कोई न हो, प्रथम, जो अंतिम न हो, अत्यंत ।

अपश्य (वि०) न देखने वाला ।

अपश्रयः (पुं०) तकिया ।

अपश्रित (वि०) चंपित, पलायित ।

अपश्री (वि०) सौंदर्यरहित, असुंदर, कुरूप ।

अपश्वासः (पुं०) पंच वायुओं में से एक वायु, दुष्ट श्वास, विश्वासरहित ।

अपष्ठम् (न०) अंकुश की नोक ।

अपष्ठु (वि०) प्रतिकूल, विपरीत, वाम, बायाँ ।

अपष्ठु (अव्य०) प्रतिकूलता से, असत्यता से ।

अपष्ठुर, अपष्ठुल (वि०) विरुद्ध, विपरीत ।

अपस् (वि०) क्रियाशील, किसी कला में प्रवीण, जलीय, जलयुक्त ।

अपस् (न०) क्रिया, कार्य, यज्ञीय कार्य ।

अपसदः (पुं०) ब्राह्मण पिता और वैश्या माता से उत्पन्न संतान, अधम जाति, नीच जाति ।

अपसरः (पुं०) अपसरण, पीछे लौटना, युक्तियुक्त कारण, क्षमा-याचना ।

अपसरणम् (नं०) लौट जाना, बचकर निकल जाना ।

अपसर्जनम् (न०) वर्जन, त्याग, परिहार, दान, स्वर्गीय सुख ।

अपसर्जित (वि०) वर्जित, परित्यक्त, मोक्षप्रद ।

अपसर्पः, अपसर्पकः (पुं०) भेदिया, जासूस, गुप्तचर ।

अपसर्पणम् (न०) पीछे हटना, भेद लेना, थाह लेना ।

अपसव्य (वि०) जो वाम दिशा का न हो, दक्षिण, दाहिना, विरुद्ध ।

अपसव्यः (पुं०) शरीर का दाहिना भाग ।

अपसव्यम् (न०) अंगुष्ठ और तर्जनी के बीच का मध्यवर्ती स्थान, पितृतीर्थ ; श्राद्ध, तर्पण आदि में जनेऊ को बाये कंधे से उतार कर दाहिने कंधे पर रखना ।

अपसारः (पुं०) बहिर्गमन, निकास, पीछे लौटना, राजा-रानी के रहने का स्थान या किले से बाहर निकलने का मार्ग ।

अपसारणम् (न०), अपसारणा (स्त्री०) दूर हटाना, निकालना, असार वस्तु के बदले सोना आदि का ग्रहण ।

अपसारित (वि०) दूर हटाया हुआ, पृथक् किया हुआ ।

अपसारिताग्निभूतलन्यायः (पुं०) जिस प्रकार किसी स्थान की भूमि पर से अग्नि हटा लेने के बाद भी कुछ समय तक वहाँ की भूमि गरम रहती है, उसी प्रकार किसी धनिक के पास धन न रहने पर भी कुछ दिनों तक उसमें धनाभिमान रह जाता है ।

अपसिद्धान्तः (पुं०) शास्त्रविरुद्ध सिद्धांत, नास्तिक वाद का सिद्धांत।

अपसिध् (पर०) हटा देना, भगा देना।

अपसृ (पर०) अपसारित करना, निकाल देना, हटा देना, भगा देना।

अपस्करः (पुं०) गाड़ी का कोई भाग, पहिया।

अपस्करम् (नं०) मल, विष्ठा, मलद्वार, योनि, भग।

अपस्कारः (पुं०) घुटने के नीचे का भाग।

अपस्तम (वि०) अत्यंत क्रियाशील, अत्यंत तीव्र।

अपस्नात (वि०) किसी संबंधी की मृत्यु होने पर नहाने वाला।

अपस्नानम् (न०) अशौच-स्नान, किसी ऐसे जल में स्नान करना जिसमें कोई व्यक्ति पहले अपना शरीर धो चुका हो।

अपस्पर्श (वि०) अचेतन, संज्ञा-शून्य।

अपस्पर्श (वि०) जिसके पास गुप्तचर न हो, बिना जासूस का।

अपस्मारः (पुं०) मृगी रोग, मूर्छा की बीमारी, बेहोशी का दौरा। मूर्छा का दौरा स्मृति का लोप होते ही आरंभ होता है। कुछ ही क्षणों में शरीर गिर पड़ता है। किसी-किसी के अंग अकड़ भी जाते हैं, शरीर काँपने लगता है तथा उसका रंग काला हो जाता है, मुँह से फेन आने लगता है। क्षीणांग व्यक्ति का अपस्मार-रोग प्रायः असाध्य हो जाता है (अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्य स्यानवश्चयः—भावप्रकाश, अपस्माराधिकरण ८)।

नवयुवकों में शुक्रतारल्य के कारण प्रायः अपस्मार रोग हो जाता है। यह प्रायः असाध्य है। अत्यधिक शोक, क्रोध आदि से भी अपस्मार रोग होता है, जो सुचिकित्सा से शीघ्र अच्छा हो जाता है। कभी-कभी यह रोग मस्तिष्क के अर्बुद-भाग के क्षत होने से भी हो जाता है, इसमें कभी-कभी रोगी अपनी चेतना नहीं भी खोता है।

अपस्मार रोग प्रायः दो प्रकार का होता है—लघु अपस्मार और महा-अपस्मार। जिसमें हल्के दौरे होते हैं, अचेतनता क्षणिक होती हो तथा बार-बार होता हो इसे लघु अपस्मार कहते हैं और जब गहरे दौरे होने लगे, शरीर में छटपटाहट तथा मोड़ उत्पन्न हो, दाँत से जीभ कट जाय तथा मूत्र निकल जाय, इसे महा-अपस्मार कहते हैं। इससे होता यह है कि या तो नींद आ जाय अथवा चेतना ही बंद हो जाय। यह दशा पाँच मिनट तक रहती है। रोगियों की स्मरण-शक्ति तथा बुद्धि का भी धीरे-धीरे ह्रास हो जाता है।

अपस्मारिन् (वि०) मृगी संबंधी, मृगीरोगी।

अपस्मृति (वि०) भूलने वाला, याद न रखने वाला, भुलक्कड़।

अपस्वरः (पुं०) वह स्वर जो संगीतमय न हो, बेसुरा स्वर।

अपस्वानः (पुं०) प्रचंड आँधी, तूफ़ान, बवंडर।

अपह (वि०) दूर हटाने वाला, नष्ट करने वाला, विनाशक।

अपहत (वि०) हटाया हुआ, नष्ट किया हुआ, वध किया हुआ।

अपहतपाप्मन् (वि०) जिसके समस्त पाप दूर हो गये हों, पापों से रहित, वेदांत द्वारा जानने योग्य (आत्मा) (य आत्मा अपहतपाप्मा—छान्दोग्य ८।७।१)।

अपहतिः (स्त्री०) विनाश, वियोग। जीवात्मा जब तक शरीर में रहता है, तब तक उसका सुख-दुःख का विनाश नहीं होता। इसी अर्थ में अपहति शब्द का प्रयोग किया गया है (न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति—छान्दोग्य ८।१२।१)।

अप+हन् (पर०) (अपहन्ति) हत्या करना, ध्वंस करना, नाश करना।

अपहननम् (न०) निवारण, प्रतिक्षेप, पीछे हटाना।

अपहन्तृ (वि०) हत्याकारी, घातक (नापहन्ताविमुच्यते)।

अपहरणम् (न०) हरण, चोरी, स्थानांतरण ; परस्वापहरण, दूसरे का माल हड़प करना। देवस्वापहरण, देवता के पूजन के लिए किसी के द्वारा प्रदत्त पदार्थ का चुरा लेना। ब्रह्मस्वापहरण, ब्राह्मण का धन हर लेना। तीनों ही महापातक हैं।

अपहर्तृ (वि०) अपहरण करने वाला, हरने वाला (आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम्। लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम्—श्रीरामस्तोत्र २)। आपत्ति–विपत्तियों के हरने वाले, समस्त सम्पदों के दाता, लोक-रंजक श्रीरामचंद्र को बार-बार प्रणाम करता हूँ। रामचंद्र स्वयं परमात्मा थे, आत्माभिन्न रूप से परमात्मा का ज्ञान होने पर सांसारिक सारे दुःख-कष्ट दूर हो जाते हैं।

दुःख, कष्ट, विपत्ति आदि जीव-भाव के धर्म हैं। जीवन में इनका भोग प्रायः सभी को करना पड़ता है। बुद्धिमान व्यक्ति धैर्य से उन दुःखों का सहन करते हैं और अज्ञानी विकल हो उठते हैं, परंतु आत्मज्ञ पुरुष जीव-भाव को छोड़कर शुद्ध निर्विकार आत्मा को ही अपना स्वरूप समझते हैं, इस कारण दुःख, कष्ट, शोक, मोहादि उनका स्पर्श मात्र भी नहीं कर सकते। मन चाहे कितना ही दुःख क्यों न सहे, वह अपने निर्विकार स्वरूप में अवस्थित रहते हैं।

वेदांत के मत से अन्तःकरण में आत्मा का प्रतिविंब पड़ने से जीव-भाव होता है। ज्ञानी उस अंतःकरण में प्रतिविंबित आभास-चैतन्य को कभी अपना स्वरूप नहीं समझते। विंब रूप मूलचैतन्य को ही वह अपना स्वरूप मानते हैं इससे आपत्तियों का नाश हो जाता है। इसी कारण सारी आपत्तियों तथा कष्टों का अपहरण करने वाले समस्त जीवों के आत्मस्वरूप श्रीरामचंद्र ही हैं।

अपहसितम् (न०), अपहसिः (पुं०) मूर्खतापूर्ण हँसी, अकारण हास्य, चिढ़ाने वाली हँसी।

अपहस्तित (वि०) हराया हुआ, पराजित, परित्यक्त रद्दी किया हुआ।

अपहानिः (स्त्री०) नाश, वर्जन, निषेध, त्याग।

अपहारः (पुं०) चोरी, लूट, अपहरण, अपचय, प्राप्त आय न लिखना, निर्धारित व्यय न करना, उद्वृत्त धन का अपव्यय—ये तीन दोष।

अपहारक (वि०) अपहरणकारी, चोर, लुटेरा।

अपहारिन्, अपहारी (वि०) अपहरण करने वाला, नाश करने वाला, विनाशक, चोर।

अप + हृ (उप०) (अपहरति, अपहरते) अपहरण करना, चोरी करना, भगा ले जाना।

अपहृत (वि०) अपहरण किया हुआ, छीना हुआ, लूटा हुआ, चुराया हुआ।

अपहेला (स्त्री०) घृणा, नफरत।

अपह्नवः (पुं०) छिपाव, लोप, बहाना, स्नेह, प्रेम।

अप + ह्नु (आत्म०) (अपह्नुते) अपलाप करना, छिपाना, गुप्त रखना।

अपह्नुतिः (स्त्री०) सत्य को छिपाना, मुकरना, एक अलंकार जिसमें उपमेय का निषेध करके उपमान स्थापित किया जाता है।

अपह्नोतृ (वि०) छिपाने वाला, अस्वीकार करने वाला।

अपह्रासः (पुं०) कमी, घटाव।

अपांक्तेय (वि०) पंक्ति-भोजन से बाहर, जात-बाहर, श्रेणी-बहिर्भूत।

अपाक (वि०) अपरिपक्व, कच्चा।

अपाकः (पुं०) अपरिपक्वता, कच्चापन, अजीर्ण, अपच, बदहजमी।

अपाकरणम् (न०) निराकरण, हराना, ऋण चुकाना, भुगतान करना, किसी व्यवसाय को बंद करना, अस्वीकृति, खंडन।

अपाकर्मन् (न०) ऋण परिशोध, कारबार बंद करने की क्रिया।

अपाकृत (वि०) हटाया हुआ, स्थानांतरित, विनष्ट।

अपाकृतिः (स्त्री०) स्थानांतरण, विनाश, अस्वीकृति, भय या क्रोध से उत्पन्न उच्छ्वास।

अपाक्ष (वि०) प्रत्यक्ष, इंद्रियग्राह्य ; नेत्रहीन, अंधा।

अपाङ्ग (वि०) विना शरीर का, बिना अवयव का।

अपाङ्गः (पुं०) आँख का कोणा, मस्तक पर लगाया जाने वाला तिलक जो किसी विशेष संप्रदाय का सूचक होता है, कामदेव, अनंग।

अपाङ्गदर्शनम् (न०), अपाङ्गदृष्टिः (स्त्री०) कनखियों से देखना।

अपाच् (वि०) पश्चात् भाग में स्थित, पश्चिमी, दक्षिणी का, अस्पष्ट।

अपाची (स्त्री०) दक्षिण या पश्चिम दिशा।

अपाचीन (वि०) पीछे से घूमा हुआ, दक्षिणी, पश्चिमीय, अदृश्य।

अपाच्य (वि०) पश्चिमीय, दक्षिणी, परिपाक होने के अयोग्य।

अपाटवम् (न०) बीमारी, रोग, अयोग्यता, असामर्थ्य।

अपाठ्य (वि०) जो पढ़ा न जा सके, पढ़ने के अयोग्य, अस्पष्ट।

अपाणिनीय (वि०) पाणिनि के नियमों के विरुद्ध, जिसने पाणिनि कृत व्याकरण ठीक तरह से न पढ़ा हो।

अपाणिपादः (पुं०) हस्त-पद-रहित जीव, विश्वरूप ईश्वर के हाथ, पैर, चक्षु, कान आदि अंग नहीं हैं, सारे

जीवों के हाथों से वे ग्रहण करते हैं, पैरों से चलते हैं, चक्षुओं से देखते हैं, कानों से सुनते हैं इत्यादि; वे समस्त विश्व को जानते हैं, उनका जानने वाला कोई नहीं है, वे ही अनादि पुरुष हैं (अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तरम्—श्वेताश्वर उपनिषद ३।१९)।

अपात्रकृत्या (स्त्री०) कोई काम अयोग्यता से करना।

अपात्रम् (न०) कुपात्र, अयोग्य व्यक्ति, दान देने के लिए अयोग्य पुरुष, खराब बरतन।

अपात्रीकरणम् (न०) निंदित कर्म, अयोग्यता, नौ प्रकार के पापों में से एक पाप।

अपाद (वि०) बिना पैर का, पैररहित।

अपादातृ (वि०) दूर करने या हटाने वाला।

अपादानम् (न०) हटाना, स्थानांतरण, विभाग, व्याकरण में पाँचवाँ कारक।

अपाध्वन् (पुं०) बुरा मार्ग, कुमार्ग, कुराह।

अपानः (पुं०) पाँच वायुओं में से इक वायु, गुदा, मलद्वार।

अपानद्वारम् (पुं०) मलद्वार, गुदा।

अपानवायुः (पुं०) मलद्वार से निकलने वाली दुर्गंधित वायु, अधोवायु।

अपानृत (वि०) सत्य, सच्चा।

अपान्नपात् [वेद०] (पुं०) शरीर के बीच में और अंतरिक्ष में रहने वाले देवता (अपान्नपान्मधुमतीरपोदाः—ऋ० सं० ७।७।२४।४)।

अपाप (वि०) निष्पाप, पापरहित, विशुद्ध।

अपापविद्ध (वि०) जो पाप से कलंकित न हो, निष्पाप, पापपुण्य से रहित तथा धर्माधर्मवर्जित होने के कारण यह आत्मा का विशेशण है। पापपुण्य या धर्माधर्म सांसारिक वस्तु में हैं (अन्यत्र धर्मादन्याधर्माद्—कठोप १।२।२४)। आत्मा धर्म से भिन्न तथा अधर्म से भी भिन्न है (स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमास्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्—ईशोपनिषद ८)।

उपाधिरूप होने के कारण पुण्य भी पाप ही है। आत्मदृष्टि से दोनों का त्याग करना ही आवश्यक है (त्यज धर्मम् अधर्मञ्च उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज—योग वा० ७४)

पाप पुण्य कर्मजनित अंतःकरणस्थ संस्कार ही है और उनका स्थान अंतःकरण है। जो आत्मज्ञानी आत्मा को अंतःकरण से पृथक समझते हैं वह पाप-पुण्य से युक्त हो जाते हैं और आत्मा में कभी भी कर्म-संस्कारों का संस्पर्श तक नहीं होने देते इसी कारण वह अपापविद्ध है।

अपापिन् (वि०) जो पापकर्म न करता हो, धर्मात्मा, सदाचारी।

अपामार्गः (पुं०) चिचिड़ा, चिरायता।

अपामार्जनम् (न०) स्वच्छ करना, धोना।

अपाम्ज्योतिस् (न०) विद्युत्, बिजली।

अपाम्नाथः, अपाम्पतिः (पुं०) समुद्र, सागर, वरुण।

अपाम्पाथम् (न०) भोजन, खाद्य पदार्थ।

अपाम्पित्तम् (न०) अग्नि, अग्निदेव।

अपाम्योनिः (पुं०) समुद्र, सागर।

अपायः (पुं०) प्रस्थान, वियोग, अविद्यमानता, अदृश्यता, हानि, क्षति, विनाश (दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः—न्यायसूत्र १।१)।

अपार (वि०) पाररहित, असीम, अक्षय, अत्यंत, जिससे पार पाना कठिन हो।

अपारम् (न०) नदी का दूसरा तट या छोर।

अपारे (वेद) (स्त्री०) द्विवचन, जिसका पार अर्थात् अंत न हो।

अपार्ण (वि०) निकट, समीप, दूर।

अपार्थ (वि०) जिसका कोई उद्देश्य न हो, बिना उद्देश्य का, व्यर्थ, अर्थरहित (अपार्था-अभिघात देखिए)।

अपार्थिव (वि०) जो पार्थिव या सांसारिक न हो, अलौकिक।

अपाल (वि०) जिसकी रक्षा न की गई हो, अरक्षित, अरक्षक।

अपाला (स्त्री०) अत्रि मुनि की कन्या का नाम।

अपालि (वि०) मधुमक्खियों से मुक्त या रहित, जिसके कानों में पालि या लोर न हो।

अपावरणम् (न०) घेरा, छिपाव, दुराव।

अपावर्तनम् (न०) पीछे लौटना, भागना, पलायन।

अपावृत (वि०) न रोका हुआ, खुला, उन्मुक्त, (यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्—गीता २।३२)।

अपावृतिः (स्त्री) छिपने का स्थान ।

अपावृत्तम् (न०) जमीन पर घूमना या चक्कर खाना ।

अपाश्रय (वि०) जिसे कोई आश्रय या सहारा न हो, निरवलंब, असहाय ।

अपाश्रयः (पुं०) आश्रय, सहारा, चँदोवा ।

अपाश्रित (वि०) जो किसी पर आश्रित या निर्भर हो, अवलंवित ।

अपासङ्गः (पुं०) तरकश, तूणीर ।

अपासनम् (न०) प्रत्याख्यान, अस्वीकरण, त्याग, नाश, वध, हत्या, हिंसा, फेंक देना, क्षेपण ।

अपासरणम् (न०) प्रस्थान, स्थानांतरण ।

अपासि (वि०) जिसके पास तलवार न हो, निकृष्ट तलवार वाला ।

अपासु (वि०) जीवनरहित, बेजान, निर्जीव, मृत ।

अपास्त (वि०) गया हुआ, गत, प्रस्थानित ।

अपि (अव्य०) भी, ही, कदाचित्, तथापि, यद्यपि ।

अपिकक्षः (पुं०) काँख, कुक्षि-प्रदेश ।

अपिकक्ष्य (वि०) कुक्षि से संबंध रखने वाला ।

अपिगीर्ण (वि०) प्रशंसित, स्तुत्य, प्रसिद्ध, वर्णित ।

अपिगुण (वि०) उत्तम, श्रेष्ठ ।

अपिच्छिल (वि०) जो गंदा न हो, स्वच्छ, निर्मल, जो चिकना न हो ।

अपिण्ड (वि०) बिना मृतक पिंडों का, अशरीर ।

अपितु (अय०) और भी, तथापि, तो भी, होने पर भी ।

अपितृः (पुं०) वह जो पिता न हो ।

अपितृक (वि०) जो पैतृक न हो, अपैतृक, पिता-रहित ।

अपित्र्य (वि०) जो पैतृक या पुश्तैनी न हो ।

अपि+धा (उभ०) (अपिदधाति, अपिधत्ते) आच्छादित करना, आवृत करना, ढाँकना (अपिदधाम्यहं नेत्रे हस्ताभ्यां भयदर्शनात्) ।

अपिधानम् (न०) आच्छादन, ढकना ।

अपिधिः (स्त्री०) गोपन, दुराव, छिपाव ।

अपिनद्ध (वि०) छिपा हुआ, रुद्ध ।

अपि+नह् (उभ०) (अपिनह्यति, अपिनह्यते) आच्छादित करना, ढाँकना; बाँधना (प्रायः अकार का लोप होता है—मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा—शकु० ७।२ । कवचं पिनह्य—भट्टि० ३।४७) ।

अपिपास (वि०) प्यास से रहित, इच्छामुक्त ।

अपिप्राण (वि०) प्रति श्वास से उत्पन्न, प्रति श्वास से उच्चारित ।

अपिबद्ध (वि०) बंधा हुआ, आबद्ध ।

अपिभाग (वि०) भाग वाला, अंश वाला ।

अपिमृष् (आ०) (अपिमृषयते) भूलना, भूल जाना ।

अपिवृत (वि०) छिपा हुआ, गुप्त, आच्छादित ।

अपिव्रत (वि०) किसी धर्मानुष्ठान में भाग लेने वाला ।

अपिशुन (वि०) जो ईर्ष्यालु न हो, ईमानदार, चुगली न करने वाला ।

अपिश्रीण (वि०) टूटा हुआ, भग्न ।

अपिष्टुत (वि०) प्रशंसा किया हुआ, प्रशंसित ।

अपिष्ठित (वि०) पहुँचा हुआ, आगत ।

अपिहित (वि०) ढका हुआ, आच्छादित, बंद ; खुला हुआ ।

अपीच्यम् [वेद] (वि०) हट गया हुआ, घट गया हुआ ।

अपीत (वि०) प्रविष्ट, अंदर घुसा हुआ, जो पीया न गया हो, जो पीला न हो ।

अपीतिः (स्त्री०) प्रवेश, समीप गमन, हानि, नाश ।

अपीनसः (पुं०) नाक की शुष्कता, घ्राण शक्ति का अभाव ।

अपुंस् (पुं०) वह जो पुरुष न हो, नपुंसक, नामर्द ।

अपुंस्का (स्त्री०) बिना पति की स्त्री ।

अपुच्छ (वि०) बिना पूँछ का, पूँछ-रहित ।

अपुण्य (वि०) अपवित्र, अशुद्ध, दुष्ट, दुरात्मा ।

अपुण्यकृत (वि०) दुष्टता से किया हुआ ।

अपुण्यवत् (वि०) पुण्य कार्य न करने वाला, अपुण्य-वान्, दुराचारी, पापी । योगदर्शन में चित्त को शांत करने या प्रसन्न रखने के लिए चार उपाय बताये गये हैं—सुखी के साथ मित्रता, दुःखी के प्रति करुणा, पुण्यवान को देखकर हर्ष और अपुण्यवान् के प्रति उपेक्षा । योगियों की बुद्धि परम पवित्र होती है । वे किसी को पापी नहीं कह सकते; क्योंकि पापी कहने से उसके किये पाप का स्मरण करना पड़ता है । उससे अपना ही चित्त पापमय हो जाता

है, उस पर उपेक्षा दिखाकर अपने चित्त को शांत करने के स्थान पर अपने ही चित्त को पापी बना डालना उन्हें पसन्द नहीं हैं। इस कारण योगी ने उसे अपुण्यवान कहा है अर्थात् उस पर उपेक्षा दिखाते समय अपने मन में उसकी चिंता अपुण्यवान के रूप में आती है अर्थात् उसका पुण्यस्थान खाली हैं। मन में इस प्रकार की भावना लाने से योगी को कोई हानि नहीं होती (मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्— योगसूत्र १।३३)।

अपुत्र (वि०) पुत्ररहित, जिसे पुत्र न हो, वंशधरशून्य, निःसन्तान, निर्वंश।

अपुत्रः (पुं०) वह जो पुत्र न हो।

अपुत्रक (वि०) पुत्ररहित, उत्तराधिकारीरहित।

अपुत्रिका (स्त्री०) पुत्रहीन पिता की वह कन्या जिसे अपना कोई पुत्र न हो।

अपुत्रीय (वि०) पुत्रहीन, संतानरहित।

अपुनर् (अव्य०) फिर नहीं, एक वार, सदा के लिए।

अपुनरन्वय (वि०) पुनः न लौटने वाला, मृतक।

अपुनरादानम् (न०) पुनः न लेना।

अपुनरावृत्तिः (स्त्री०) पुनः संसार में लौट न आना, पुनर्जन्म न होना, मुक्ति (गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः—गीता ५।१७) अर्थात् आत्मज्ञान से पाप दूर होने पर पुनर्जन्म नहीं होता। मृत्यु, जहाँ से कोई लौट नहीं आता (तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनम्, नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि तिष्ठेर्ममाग्रतः–भाग. १०।७७।१८)।

पुनर्जन्म होने के पक्ष में शास्त्रों के अनेक प्रमाण हैं तथा उसके न होने के पक्ष में भी शास्त्रीय प्रमाण हैं। युक्ति से पुनर्जन्म प्रमाणित नहीं किया जा सकता (जन्मान्तरम् देखिए)। वेदांत के मत में यह सृष्टि ब्रह्मशक्ति माया की कल्पना मात्र है। इसका दृष्टांत स्वप्न है। स्वाप्निक जीवों का जन्मांतर नहीं होता, क्योंकि स्वप्नद्रष्टा के मन के अतिरिक्त उनका अस्तित्व ही नहीं है, इसी प्रकार मायाकल्पित सांसारिक जीवों का भी जन्मांतर नहीं हो सकता। अज्ञानीजनों का शोक में सांत्वना देने के लिए जन्मांतर की कल्पना की गयी है (अज्ञानिजनबोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः—अपरोक्षानुभूति ९७)। किसी का पुत्र मर गया तो लोग उसे ढाढ़स देते हैं कि 'पूर्व जन्म में तुमने किसी का दिल मुखाया था उसी का यह फल मिला हैं अतः अब से किसी को भी दुःखी न बनाना। उस पुत्र के अन्न-जल का जितने दिन संपर्क रहा उसने दिनों तक ही वह तुम्हारे पास था। अब अन्न-जल समाप्त हो गया तो वह चला गया।' इस प्रकार पुनर्जन्म मानने से अज्ञानी जनों को अवश्य कुछ लाभ होता है। विशेषतया ऐसे लोगों में आत्मज्ञान न रहने से वे निराधार रहते हैं। उनके मन को प्रबोध देने के लिए जन्मांतर एक आधार बन जाता है। परंतु आत्मज्ञ पुरुष आत्मा रूप दृढ़ आधार पर स्थित होकर संसार को ही उड़ा देते हैं तो जन्मांतर की उनके सामने क्या स्थिति है ?

अपुनरुक्तिः (स्त्री०) पुनरावृत्ति-रहित, जन्मांतरशून्य।

अपुनर्भवः (पुं०) पुनर्जन्म या पुनरुत्पत्ति न होना (हेतौ लिंगे प्रशमने रोगाणामपुनर्भवे, ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजार्हो भिषक्तमः—चरक०); मुक्ति, निर्वाण (तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः—भाग० १।१८।१३)। आत्मज्ञान ; मुक्त पुरुष, मुक्ति।

अपुराण (वि०) जो प्राचीन न हो, नया, नवीन, आधुनिक।

अपुरोगव (वि०) बिना नेता का, नेतारहित।

अपुरोदन्तिन् (वि०) छेदन दंतरहित।

अपुष्कल (वि०) जो श्रेष्ठ न हो, नीच, जो अधिक न हो।

अपुष्ट (वि०) जो दुष्ट न हो, दुर्बल, मंद, कोमल, अप्रखर।

अपुष्पफलः (पु०) कटहल का वृक्ष ; बिना फूल के फलने वाला वृक्ष।

अपूजित (वि०) जो पूजित या सम्मानित न हो, अप्रतिष्ठित।

अपूज्य (वि०) जो पूज्य न हो, पूजा के अयोग्य, सम्मान के अयोग्य।

अपूत (वि०) जो पवित्र न हो, अपवित्र, अशुद्ध।

अपूपः (पुं०) एक प्रकार का पकवान, गेहूं, एक प्रकार की रोटी, मधुमक्खी का छत्ता।

अपूपीय (वि०) पूप के लिए उपयुक्त या योग्य।

अपूरणी (स्त्री०) शाल्मली वृक्ष, सेमर का वृक्ष।

अपूरुष (वि०) जीवनरहित, बेजान।

अपूर्ण (वि०) जो पूरा न हो, अधूरा, असमाप्त।

अपूर्णकालज (वि०) उचित या उपयुक्त समय से पूर्व उत्पन्न।

अपूर्णम् (न०) अधूरी संख्या, भिन्न।

अपूर्व (वि०) जो पहले न रहा हो, नया, असाधारण, अद्भुत (अपूर्वेयं हरेर्माया त्रिगुणा रज्जुरूपिणी—भक्तिरसामृतसिंधु); पूर्व-दिक्-देशकालभिन्न।

अपूर्वः (पुं०) परब्रह्म, परमात्मा।

अपूर्वपतिः (स्त्री०) वह लड़की जिसे पहले पति न रहा हो, कुमारी, अविवाहिता कन्या।

अपूर्वम् (न०) अदृष्ट, भाग्य, नियति, सुकृति-दुष्कृति, कर्म, करम, भाग, किस्मत, तक़दीर, कर्म और ज्ञान से उत्पन्न अंतःकरण में अंकित संस्कार या छाप, पाप-पुण्य संस्कार। कर्ममीमांसादर्शन के अनुसार यज्ञ, दान, तप, हिंसा, मिथ्याभाषण, चोरी आदि शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न अंतःकरणनिष्ठ संस्कार ही अपूर्व है। पूर्व में नहीं था, पश्चात् उत्पन्न हुआ इस कारण उसे अपूर्व कहते हैं। कर्म दिखाई पड़ता है किंतु यह सूक्ष्म संस्कार दिखाई नहीं पड़ता। इस कारण इसे अदृष्ट भी कहते हैं। योगदर्शन के मत में ये संस्कार तीन प्रकार के हैं—शुक्ल संस्कार (पुण्य), कृष्ण संस्कार (पाप) और शुक्लकृष्ण संस्कार (पापपुण्यमिश्रित संस्कार)। कर्म या क्रिया क्षणविध्वंसी है यानी जब कर्म किया जाता है तभी तक उसकी स्थिति है और क्रिया समाप्त होते ही उसका नाश हो जाता है, परंतु उससे उत्पन्न संस्कार चिरस्थायी है। उसी से मनुष्य का सुख-दुःख-भोग होता है। भोग से (अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि) तथा आत्मज्ञान से (ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा—गीता ४।३७। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे—मुण्डक० २।८) इन कर्मों का क्षय हो जाता है। यहाँ कर्म माने कर्म-संस्कार या अपूर्व है।

अपूर्वविधिः (स्त्री०) अन्य प्रमाणों से अप्राप्त अर्थ का विधान।

अपूर्व्य (वि०) प्रथम, पहला, अतुलनीय।

अपृक्त (वि०) न मिला हुआ, असंबद्ध, असंयुक्त।

अपृथक् (वि०) अभिन्न, भेदरहित, एक समान। संसार में सभी पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं, केवल सबका मूल कारण आत्मा ही अपृथक् अर्थात् एक है (अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत—गीता २।१८) अर्थात् नाशरहित अप्रमेय नित्यस्वरूप आत्मा के ये सब शरीर नाशवान हैं। हे भारत, तुम युद्ध करो। इस श्लोक में शरीरी आत्मा नित्य, नाशरहित, सर्वव्यापक है, ऐसा एक वचन के प्रयोग से अपृथक् प्रतीत होता है और विभिन्न जीव-शरीरों को "इमे देहाः" इस प्रकार बहुवचन से पृथक्-पृथक् रूप से व्यक्त किया गया है अर्थात् गीता के अनुसार अनेक देहों में एक ही आत्मा विराजमान है (अग्निर्यथैकोभुवनं प्रविष्टो रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च—कठोपनिषद् २।५।९) अर्थात् जिस प्रकार अग्नि या तेजतत्त्व एक है और भुवन में प्रविष्ट है किंतु ईंधन आदि की सहायता से प्रज्वलित होकर भिन्न-भिन्न रूपों से प्रतीत होता है, ठीक उसी प्रकार समस्त प्राणियों का अंतरात्मा एक है और भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न रूपों से प्रतीयमान होता है। यहाँ स्पष्ट रूप से आत्मा को अपृथक् अर्थात् एक माना गया है। समझ में न आने पर भी आत्मा की एकता वेदांत-सिद्ध है।

विभिन्न धर्मों वाले विभिन्न प्रकार से धार्मिक आचरणों से पृथक्-पृथक् फल प्राप्ति के लिए पृथक्-पृथक् धर्मों द्वारा जिनकी उपासना करते हैं, उस धर्म-स्वरूप आत्मा को मैं प्रणाम या नमस्कार करता हूँ (यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः। पृथक् धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः—महाभारत भीष्मस्तवराज)। यहाँ भी धर्म-स्वरूप आत्मा को एक बताया गया है।

अहं ब्रह्माऽस्मि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म, तत्त्वमसि—४ वेदों के इन ४ महावाक्यों से आत्मा की एकता सिद्ध होती है।

अपृष्ट (वि०) अजिज्ञासित। विना पूछे किसी को कुछ नहीं बताना चाहिए, अनुचित रीति से पूछने पर भी कुछ नहीं कहना चाहिए (नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयाद् न चान्यायेन पृच्छतः—मनु २।११०)। किंतु पुत्र और शिष्य को न पूछने पर भी उत्तमोत्तम ज्ञान की बातें बतानी चाहिए (अन्यत्र पुत्रात् शिष्याद् वा)। क्योंकि पिता या गुरु पुत्र या शिष्य को अपने से भी बड़ा करना

चाहते हैं। वे सर्वत्र विजय लाभ करना चाहते हैं, किंतु पुत्र या शिष्य से ही पराजय ही मांगते हैं (सर्वत्र विजयमिच्छेत् पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्)।

अपेक्षा (स्त्री०) आवश्यकता, आकांक्षा, आशा, कार्य और कारण का परस्पर संबंध, प्रतिष्ठा, ध्यान।

अपेक्षित (वि०) इच्छित, विचारित, देखा हुआ।

अपेक्षितव्य (वि०) विचारणीय, माननीय।

अपेक्षिन् (वि०) विचार करने वाला, विचारक, आदर करने वाला, इच्छा करने वाला, इच्छुक।

अपेत (वि०) गया हुआ, गत, रहित, मुक्त, वर्जित, त्यक्त। (जीवापेतं बाव किलेदं (शरीरं) म्रियते, न जीवोम्रियते — छन्दोग्य ६।११।३)।

अपेतकृत्य (वि०) कार्यरहित, कार्यशून्य।

अपेतभा (वि०) जिसका भय दूर हो गया हो, निर्भय, निडर।

अपेय (वि०) जो पीने के योग्य न हो, पानायोग्य।

अपेशल (वि०) अचतुर, अनिपुण।

अपैशुनम् (न०) पिशुनवृत्ति का अभाव, निंदादि न करना। यह एक दैवी सम्पद् है (अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत — गीता १६।२, ३)।

अपोगण्डः (पुं०) शरीर के किसी अवयव को अधिकता अथवा अल्पता, वयस्क, बालिग, बालक, भीरु।

अपोढ (वि०) परित्यक्त, हटाया हुआ, स्थानांतरित।

अपोदक (वि०) जो जलीय न हो, जलरहित।

अपोदका (स्त्री०) पूति नामक शाक।

अपोब्ध (वि०) सीमित, सीमाबद्ध।

अपोम्भनम् (न०) बेड़ी, जंजीर, शृंखला।

अपोहः (पुं०) स्थानांतरण, भगाना, शंका-समाधान, तर्कवितर्क, अविचारणीय विषयों का निराकरण, तर्क में दोषपूर्ण पक्ष का परियाग।

अपोहनम् (न०) तर्क-वितर्क करने की क्षमता, आलोचना।

अपोहनीय (वि०) हटाने योग्य, दूर करने योग्य।

अपोहवादः (पुं०) सामान्य या जाति को न मानने वाला सिद्धांत। न्याय और वैशेषिक दर्शन के अनुसार सामान्य या जाति एक वस्तु है किंतु बौद्ध दर्शन के अनुसार सामान्य कोई वस्तु नहीं है। इनके मत में सभी पदार्थ क्षणिक हैं। अतः क्षणिक पदार्थों में एक स्थिर जाति नहीं रह सकती। अनेक क्षणिक पदार्थों में अज्ञान के कारण एकता की मिथ्या प्रतीति होती है। उनका कहना है कि किसी एक पदार्थ का प्रत्यक्ष होते समय केवल उसी का ज्ञान होता है जाति का नहीं। इसी को अपोह कहते हैं। इसी से इस मत को अपोहवाद की संज्ञा भी मिली है।

अपोहित (वि०) हटाया हुआ, स्थानांतरित।

अपौरुष (वि०) अमानुषिक, अलौकिक, कायर, डरपोक।

अपौरुषम् (न०) अमानुषिक शक्ति, अलौकिकता, भीरुता।

अपौरुषेय (वि०) जो पुरुषकृत न हो।

अपौरुषेयतावादः (पुं०) वेद अपौरुषेय है ऐसा सिद्धांत। वेद ज्ञान-स्वरूप है और वह ज्ञान अनादिकाल से चला आ रहा है तथा अनंतकाल तक चलेगा। ऋषियों ने ऋतभरा प्रज्ञा के द्वारा उस नित्य ज्ञान की अंतर में उपलब्धि की और उसे विभिन्न व्यक्तियों ने विभिन्न प्रकार से व्यक्त किया। किसी पुरुष ने नहीं बनाया बल्कि ऋषियों ने केवल प्रकाशित मात्र कर दिया, इसी से वेद अपौरुषेय माना जाता है। आदिम युग में अक्षर से लिखने का प्रचलन नहीं हुआ था। लोग वृद्धों के मुख से वेद के मंत्रों को सुना करते थे। इसलिए वेद को श्रुति भी कहा गया है।

वेद में जो ऋषियों, राजाओं आदि की कथाएँ मिलती हैं वे जनसाधारण को समझाने के लिए बना ली गयी हैं (अर्थवादः देखिए)। इस कारण मनुष्य आदि का विवरण रहने पर भी वेद पौरुषेय नहीं हो जाता। श्रोताओं की हितैषिणी श्रुति उन्हीं की भाषा में समझाया करती है (तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोतुर्हितैषिणी— पंचदशी)।

अपौष्कल्पम् (न०) अपरिपक्वता, कच्चापन, क्षुद्रता।

अप्तु (वि०) छोटा, कोमल, मृदु।

अप्तूर्यम् (न०) जोश, उत्साह, क्रियाशीलता।

अप्तोर्यामः (पुं०), अप्तोर्यामन् (न०) एक यज्ञ, सामवेद की एक ऋचा, ज्योतिष्टोम यज्ञ का अंतिम भाग।

अप्नवाना [वेद] (वि०) पहुँचने वाला, कर्मस्थान तक बाहुओं की पहुँच होती है।

अप्नस् (न०) अधिकार, संपत्ति, कार्य, यज्ञीय कर्म।

अप्ययः (पुं०) समीप आगमन, प्रवेश, अंतर्धान, लय विनाश, ध्वंस, मृत्यु, प्रलय। सांसारिक समस्त व्यक्तियों का ही नाश होता है। नाश होने से जन्म भी सभी का मानना ही पड़ता है (जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः, ध्रुवं जन्म मृतस्य च—गीता १।२७)। (अद्वैतवादः देखिए)।

केवल अनादि अनंत सर्वव्यापक परमसूक्ष्म सच्चिदानंद अंतर्यामी आत्मा का ही विनाश नहीं है, क्योंकि वह अनादि है।

वैशेषिक दर्शन के मत में, अभाव एक पदार्थ है। उसमें प्रागभाव अनादि सांत है, क्योंकि घट आदि कोई वस्तु उत्पन्न होते ही उसका जो पूर्ववर्ती अभाव अनादि काल से चला आ रहा था उसकी समाप्ति हो जाती है। प्रध्वंसाभाव सादि और अनंत है अर्थात् घट आदि कोई वस्तु टूट जाय तो उसी क्षण उसके अभाव का जन्म होता है और ठीक वही वस्तु पुनः उत्पन्न न होने के कारण वह अभाव अनंतकाल तक चलेगा। अभाव वस्तु का ऐसा नियम होने पर भी भाव वस्तु अर्थात् सत्तावान पदार्थ में वह नियम नहीं लगता। अर्थात् जन्म होने से उसका नाश और नाश दिखाई पड़ने पर उसका जन्म अवश्य प्रमाणित होता है। केवल आत्मा ही जन्म-मृत्यु से रहित है।

वेदांत दर्शन के "जन्माद्यस्य यतः"—सूत्र में ब्रह्मसूत्र १।१।२) और भागवत के ('जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्' १।१) श्लोक में इस संसार-प्रपंच की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय एक ही आत्मा में होते हैं इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। जिस प्रकार जल में बुलबुलों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं अथवा मृत्तिका में घट आदि वर्तनों के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होते रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा में मायाशक्ति के द्वारा इस सृष्टि के उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय होते रहते हैं। इस प्रलय को ही अप्यय कहा गया है (भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया—गीता ११।२। श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जीवों के जन्म और मृत्यु विस्तार के साथ तुमने सुन लिया है)।

अप्पयदीक्षितः वा अप्पय्यदीक्षितः (पुं०) सिद्धांतलेशसंग्रह के प्रणेता। समय—ईसा की १६वीं शताब्दी। यह कांचीनगरवासी आचार्य दीक्षित के पौत्र एवं रंगराज के पुत्र थे। इनका जन्म अदयप्पलम् नामक ग्राम में हुआ था। वह आपस्तंब शाखाभुक्त भरद्वाजवंशीय कहलाते थे। इनका अध्ययन अपने पिता के समीप ही हुआ था एवं सुंदराचार्य से इन्होंने दीक्षा ली थी। अप्पय विजयानगर के राजा वेंकटदेव के सभापंडित भी रहे थे। 'नीलकण्ठचम्पू' के प्रणेता नीलकंठ दीक्षित इनके भाई के पौत्र थे। नीलकंठ ने पंडितराज जगन्नाथ की युक्तियों का खंडन कर अप्पय के समर्थन में 'चित्रमीमांसादोषधिक्कारः' नामक ग्रंथ लिखा था।

निर्गुण ब्रह्मवाद में शिक्षित होने पर भी अप्पय दीक्षित शिवभक्त दे। उन्होंने कल्पतरु पर परिमल एवं श्रीकंठभाष्य पर शिवार्कमणिदीपिका नामक रचनाएं भी हैं। शैव होने पर भी उनमें सांप्रदायिक भेदभाव नहीं था। उन्होंने कुछ वैष्णव ग्रंथों की भी टीकाएँ लिखी हैं। दाक्षिणात्य की सभाओं में अपना धर्ममत व्यक्त करते हुए अप्पयदीक्षित कहा करते थे—'महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि। न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्तु मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ॥' उनकी दृष्टि में शिव और विष्णु में कोई भेद नहीं था, अतः बहुत से वैष्णवमतावलंबियों ने भी उनको गुरु बनाया था। अप्पय दीक्षित के महोपनिषद् भाष्यादि देखने से यह पता चलता है कि बाहर से शैव होने पर भी यह अंदर से शाक्त थे।

अप्पयदीक्षित की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। व्याकरण में नक्षत्रवादावली एवं अलंकारशास्त्र में कुवलयानंद तथा चित्रमीमांसा इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इनके अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ विधिरसायन (पूर्वमीमांसा), शिवार्कदीपिका, परिमल और सिद्धांतलेशसंग्रह (उत्तरमीमांसा) हैं। दर्शन के क्षेत्र में वह सर्वतंत्रस्वतन्त्र थे।

अप्रकट (वि०) जो प्रकट न हो, अप्रकाशित।

अप्रकम्प (वि०) स्थिर, दृढ़, जिसका उत्तर न दिया गया हो, अनुत्तरित।

अप्रकम्पता (स्त्री०) स्थिरता, दृढ़ता, उत्तर देने की अक्षमता।

अप्रकम्पिन् (वि०) कंपायमान न होने वाला, स्थिर।

अप्रकरणम् (न०) वह जो मुख्य विषय न हो।

अप्रकर्षित (वि०) जो अद्वितीय न हो।

अप्रकर्षितः (पुं०) काक, कौआ।

अप्रकाण्डः (वि०) कांड या तना रहित, अप्रस्त।

अप्रकाण्डः (पुं०) छाड़ी।

अप्रकाश (वि०) प्रकाश-रहित, अंधकार-पूर्ण, जड़, अप्रकट, गुप्त, छिपा हुआ। मनुष्य की देह अत्यंत तुच्छ है, क्योंकि यह अप्रकाश तथा अविद्या के द्वारा कल्पित है। श्लेष्मा, रुधिर, विष्ठा, मूत्र, पीव, कृमि आदि से पूर्ण होने के कारण यह नरक-तुल्य है। यह रोग का आयतन, जरा, शोक, दुःख आदि से युक्त, अनित्य तथा पंचभूतात्मक है (अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणित-लेपनम्। चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपूरीषयोः। जरा-शोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्। रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत्—मनु ६।७६-७७)। जो इस शरीर में मुग्ध होकर विषयों के पीछे दौड़ता है वह ऊर्ध्वदृष्टि पथिक के समान गर्त में पतित होता है (देहोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रदृश्यते। मुह्यन्त इव धावन्ति गच्छन्तः श्वभ्रमुन्मुखाः—महाभारत, सनत्कुमारोपदेश १।१४)।

आशय यह है कि जो पथिक रास्ता न देखकर अंधे की तरह चलता है अतः वह कूएं में गिर जाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति आत्मा और अनात्मा का विचार न करके विषय-सुख के लिए लालायित रहता है उसे भी दुःख रूप गर्त में गिर जाना पड़ता है।

अप्रकाशमान (वि०) जो प्रकाशित न हो।

अप्रकाश्य (वि०) प्रकाशित या प्रकट करने के अयोग्य।

अप्रकृत (वि०) अयथार्थ, नकली, बनावटी, जाली, अप्राकृतिक।

अप्रकृतिः (स्त्री०) वह जो पैतृक संपत्ति न हो, आकस्मिक संपत्ति; प्रकृति-विरुद्ध, स्वभाव।

अप्रक्षित (वि०) कम न किया हुआ।

अप्रखर (वि०) जो तेज न हो, सुस्त, मंद, कोमल।

अप्रगम (वि०) इतना अधिक वेग से जाने वाला, जिसका अन्य लोग पीछा न कर सकें।

अप्रगल्भ (वि०) जो धृष्ट न हो, असाहसी, निरुद्यम, मंद, संकोची, शीलवान।

अप्रगाह (वि०) न रोका हुआ, अबाधित।

अप्रगुण (वि०) घबराया हुआ, विकल, व्यग्र, टेढ़ा-मेढ़ा।

अप्रचङ्कश (वि०) विना देखने की शक्ति वाला, जिसमें देखने की शक्ति न हो।

अप्रचुर (वि०) जो अधिक न हो, अल्प, थोड़ा।

अप्रचेतित (वि०) जो जाना हुआ न हो, अज्ञात।

अप्रचोदित (वि०) न चाहा हुआ, अनिच्छित, न पूछा हुआ, न कहा हुआ, अकथित।

अप्रच्छेद्य (वि०) अप्रवेश्य, दुर्बोध।

अप्रच्यावः (पुं०) अपतन, न गिरना।

अप्रच्युत (वि०) च्युत न होने वाला, न गिरने वाला, निरीक्षण करने वाला, अनुगमन करने वाला।

अप्रच्युतिः (स्त्री०) नाश न होना, क्षय न होना।

अप्रज (वि०) विना संतान का, संतानरहित, अनुत्पन्न, (स्थान) जो आबाद न हो, वीरान।

अप्रजज्ञि (वि०) जिसे अनुभव न हो, अचतुर।

अप्रजाता (स्त्री०) वंध्या स्त्री, बाँझ स्त्री।

अप्रज्ञ (वि०) न जानने वाला, अनजान।

अप्रज्ञात (वि०) न जाना हुआ, जो ज्ञात न हो।

अप्रणाशः (पुं०) क्षय न होना, नष्ट न होना।

अप्रणीत (वि०) धर्म कार्य के लिए पृथक न किया हुआ, घृणित, प्रणयन न किया हुआ।

अप्रतर्क्य (वि०) तर्क करने के अयोग्य, तर्कायोग्य।

अप्रतापः (पुं०) प्रभाव का अभाव, मंदता, नीचता, पद का अभाव।

अप्रति (वि०) जिसके बराबर कोई अन्य न हो, न रोकने योग्य, अप्रतिरोधनीय।

अप्रतिकर (वि०) विश्वास किया हुआ, विश्वस्त।

अप्रतिकर्मन् (वि०) ऐसा कर्म जिसकी समानता कोई न कर सके, अनिवार्य, अतिप्रबल।

अप्रतिकार (वि०) जिसका कोई उपाय न किया जा सके, जिसका बदला न चुकाया जा सके, असाध्य।

अप्रतिकारः (पुं०) प्रतिकार न करने वाला, बदला न लेने वाला। महाभारत के युद्ध के आरम्भ में अर्जुन ने कहा था कि गुरुओं को मारने की अपेक्षा यदि प्रतिकार न करने वाले शस्त्रहीन मुझे शस्त्रधारी धृतराष्ट्रपुत्र मार डालें तो वह मुझे श्रेयस्कर प्रतीत होता है (यदि मामप्रतीकारम् अशस्त्रं शस्त्रपाणयः। धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः तन्मे क्षेमतरं भवेत्—गीता १।४६)

प्रतिकार या विरोध न करके, आसक्ति-विरक्ति न रखकर समस्त दुःखों का सहन करना तितिक्षा है (सहनं सर्वदुःखानाम् अप्रतीकारपूर्वकम् । चिन्ताविलाप-रहितं सा तितिक्षा निगद्यते—वेदांतसंज्ञावली ४४) । (तितिक्षा देखिए) ।

अप्रतिकारिन् (वि०) औषधि का उपयोग न करने वाला, प्रतिकार न करने वाला, अप्रतिकारी ।

अप्रतिकूल (वि०) जो प्रतिकूल या विपरीत न हो, जो हठी या दुराग्रही न हो ।

अप्रतिख्यात (वि०) न देखा हुआ, जिसे देखा न गया हो ।

अप्रतिगृह्य (वि०) जो किसी दूसरे की कोई वस्तु स्वीकृत न करता हो ।

अप्रतिग्रहः (पुं०) प्रतिग्रह या ग्रहण का अभाव ।

अप्रतिग्रहणम् (न०) स्वीकार न करना, अस्वीकार, विवाह न करना ।

अप्रतिग्रहिन् (वि०) प्रतिग्रह या ग्रहण न करने वाला ; जो किसी से कुछ नहीं लेता, अप्रतिग्रही ।

अप्रतिग्राहक (वि०) स्वीकार न करने वाला ।

अप्रतिग्राह्य (वि०) स्वीकार करने के अयोग्य, जिसे स्वीकार न किया जा सके ।

अप्रतिघ (वि०) अभेद्य, जो नष्ट न किया जा सके, जो हटाया न जा सके, शांत ।

अप्रतिद्वन्द्वः (पुं०) जिसका कोई समान विरोधी व्यक्ति नहीं हैं ।

अप्रतिद्वन्द्विन् (वि०) अप्रतिद्वन्द्वी, प्रतिस्पर्धा न करने वाला, शत्रुरहित, महावीर, महान बलशाली ।

अप्रतिधृष्य (वि०) रोकने के अयोग्य, अप्रति-रोधनीय ।

अप्रतिपक्ष (वि०) विपक्षीरहित, शत्रुरहित, असदृश ।

अप्रतिपण्य (वि०) विनिमय के अयोग्य, जिसमें अदल-बदल न हो सके ।

अप्रतिपत्तिः (स्त्री०) अस्वीकृति, उपेक्षा, विह्वलता, ज्ञान का अभाव ।

अप्रतिपद् (वि०) घबराया हुआ, विकल ।

अप्रतिपन्न (वि०) जो पूरा न किया गया हो, अस्वीकृत ।

अप्रतिबन्ध (वि०) बाधारहित, विवादहीन, बिना झगड़े का ।

अप्रतिबन्धः (पुं०) बाधा या रुकावट का अभाव ।

अप्रतिबल (वि०) असमान बल का, जिसके समान कोई दूसरा बलशाली न हो ।

अप्रतिबोध (वि०) बिना चेतनता का ।

अप्रतिभ (वि०) शीलवान्, विनीत, लज्जालु, स्फूर्तिरहित, मंद, निर्बुद्धि, बुद्धिहीन ।

अप्रतिभट (वि०) जिसका सामना करने वाला कोई न हो, बेजोड़ ।

अप्रतिभटः (पुं०) ऐसा योद्धा जिससे कोई युद्ध न कर सके ; बेजोड़ शूर या योद्धा ।

अप्रतिम (वि०) अतुलनीय, अद्वितीय, असदृश, अप्रतिद्वंद्वी ।

अप्रतिमप्रभाव (वि०) अतुलनीय प्रभावशाली । प्रभाव शब्द का अर्थ है—अधिकार-प्रयोग । संसार में बड़े छोटे पर प्रभाव डालते हैं । अधिक शक्तिवाला अल्प शक्ति वाले पर अपने अधिकार का विस्तार करता है । परन्तु इस प्रकार के प्रभाव की सीमा है । असीम प्रभाव तो केवल परमात्मा का ही है । क्योंकि उन्हीं की माया शक्ति के द्वारा सभी प्रकार के प्रभाव-युक्त पदार्थों और व्यक्तियों का प्रभाव कल्पित है । कल्पित वस्तु से सत्य वस्तु की तुलना नहीं हो सकती । इस कारण परमात्मा के प्रभाव को अप्रतिम कहा गया है (न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिम-प्रभाव—गीता ११।४३) ।

अप्रतिमा (स्त्री०) लज्जाशीलता, कायरता, भीरुता, मंदता ।

अप्रतिमान (वि०) जिसकी तुलना न हो सके, अतुलनीय ।

अप्रतियोधिन् (वि०) रोकने के अयोग्य, अप्रतिरोध्य ।

अप्रतिरथ (वि०) जिसके समान कोई अन्य योद्धा न हो, अप्रतिभट ।

अप्रतिरथः (पुं०) विष्णु ।

अप्रतिरथम् (न०) युद्ध में प्रस्थान से पूर्व किया जाने वाला मंगलाचरण, सामवेद का एक भाग ।

अप्रतिरव (वि०) विवादरहित, तर्कशून्य ।

अप्रतिरूप (वि०) जिसके रूप का कोई दूसरा न हो, अनुपम, अतुलनीय ।

अप्रतिरूपकथा (स्त्री०) उत्तरहीन वचन या वाक्य।

अप्रतिवादिन् (वि०) जिसके विरुद्ध कोई कुछ कह न सके, जिसका निषेध न हो सके।

अप्रतिवीर्य (वि०) जिसके समान कोई दूसरा पराक्रमी न हो।

अप्रतिशासन (वि०) एक ही शासन में रहने वाला, शासन में कोई प्रतिद्वंद्वी न होने वाला।

अप्रतिषिक्त (वि०) जो तर या गीला न किया गया हो, जो उँडेला न गया हो।

अप्रतिषिद्ध (वि०) न मना किया हुआ, जिसका वर्जन न किया गया हो।

अप्रतिष्कुतः [वेद] (पुं०) जो कहीं पर किसी से न रोका गया हो, जिसका किसी से सामना न किया हो, अनाक्रान्त (ऋ० १-१-१४-१)।

अप्रतिष्ठ (वि०) अस्थायी, नश्वर, अलाभकर, व्यर्थ, असम्मानजनक, निराश्रय, अधार-रहित।

संसार में सभी वस्तुएँ किसी न किसी आधार पर प्रतिष्ठित हैं। कोई धर्म को आश्रय मानकर काम करता है तो दूसरा अधर्म को। धर्म में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, ध्यान, धारणा, समाधि, योग, तप आदि हैं। अधर्म में हिंसा, मिथ्या, चोरी, व्यभिचार आदि हैं। पुण्य का फल सुख और पाप का दुःख (सुखमाप्नोति पुण्येन पापेन दुःखमाप्नुयात्)। जिसे शुभ-अशुभ कोई भी आश्रय नहीं है उसके इह और परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं (कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति। अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥ गीता—६।३८)।

अप्रतिष्ठा (स्त्री०) अस्थिरता, नश्वरता, निन्दा।

अप्रतिष्ठानम् (न०) प्रौढ़ता या दृढ़ता का अभाव।

अप्रतिष्ठित (वि०) असम्मानित, असीम, निःसीम।

अप्रतिस्तब्ध (वि०) न रोका हुआ, अबाधित।

अप्रतिहत (वि०) अबाधित (गति); अनिवार्य, निर्विघ्न, प्रहाररहित, बलवान, जो निरुत्साह न हो।

अप्रतिहतनेत्र (वि०) जिसके नेत्र निर्बल न हों; जो क्षीण दृष्टि वाला न हो।

अप्रतिहार्य (वि०) जिसका निवारण न किया जा सके, अनिवार्य।

अप्रतीकार (वि०) प्रतीकार-शून्य, बदला न लेने वाला।

अप्रतीक्ष (वि०) पीछे न देखनेवाला, न जोहनेवाला।

अप्रतीत (वि०) जो प्रसन्न न हो, जिसकी बात समझ में न आवे, अस्पष्ट।

अप्रतीतिः (स्त्री०) अदर्शन, प्रत्यक्ष न होना, अननुभव। हमारी पंच ज्ञानेंद्रियों तथा मन से सब विषयों की प्रतीति नहीं हो सकते। अनेक विषयों में ही अप्रतीति रह जाती है। चक्षु रूप के अतिरिक्त शब्द, स्पर्श, रस, गंध का अनुभव नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य इंद्रियाँ भी स्वविषय से भिन्न विषयों को नहीं जान सकतीं। मन सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि का अनुभव कर सकता है, परंतु आत्मा के विषय में उसकी अप्रतीति ही रह जाती है (यन्मनसा न मनुते— केनोप १।५)।

मृत्तिका का तत्त्वज्ञ व्यक्ति उससे बने घट का रूप देखता है सही, पर उसका ध्यान मृत्तिका में ही रहता है, घट का रूप उसके सामने मिथ्या है (मिथ्या देखिए)। मिथ्या जानने पर भी उसके लिए घट की अप्रतीति नहीं हो जाती। सूत्रों का तत्त्वज्ञ व्यक्ति उनसे बने वस्त्र का रूप देखता है सही, पर उसका ध्यान सूत्रों पर ही रहता है, वस्त्र का रूप उसके सामने मिथ्या है। मिथ्या जानने पर भी उसके लिए वस्त्र की अप्रतीति नहीं हो जाती। ठीक इसी प्रकार आत्म-तत्त्वज्ञ पुरुष का ध्यान सर्वकारण-कारण आत्मा पर ही रहता है। संसार का रूप उनके लिए मिथ्या है; परंतु मिथ्या जानने पर भी उनके सामने संसार की अप्रतीति नहीं हो जाती। यदि संसार की अप्रतीति ही मोक्ष का कारण हो, तो सुषुप्ति, मूर्छा आदि में लोग बिना प्रयत्न के मुक्त हो जाते (नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किन्तु मिथ्यात्वनिश्चयः। नो चेत् सुषुप्तिमूर्छादौ मुच्येता-यत्नतो जनः—पंचदशी ६।१३)।

वेदांत के मिथ्या शब्द का अर्थ बंध्यापुत्र, आकाश-कुसुम, शशशृंग आदि की तरह अलीक नहीं है। कारण-सत्तातिरिक्त स्वतंत्र-सत्ता-रहित प्रतीयमान वस्तु ही मिथ्या है। जैसे—स्वप्न में दृष्ट हाथी, मृत्तिका में घट, सूत्रों में वस्त्र, ब्रह्म में जगत् है (यदसद् भासमानं तत् मिथ्या स्वप्नगजादिवत्—पंचदशी २।७०। असत्त्वे सति

भासभानत्वं मिथ्यात्वम्। असत् होकर जो दिखाई पड़े वह मिथ्या है (ब्रह्मसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावो मिथ्यात्वम्)। ब्रह्मसत्ता से भिन्न पृथक सत्ता न होना ही मिथ्या है।

सर्वकारण-कारण ब्रह्म से भिन्न सत्ता जगत में नहीं है। इस कारण जगत मिथ्या है। ब्रह्म की मूल सत्ता का ज्ञान होने पर भी प्रतीयमान जगत अदृश्य नहीं हो जायगा। इसका व्यवहार यथापूर्व होता रहेगा, केवल जगत्सत्यत्व-बुद्धि और आसक्ति चली जाएगी।

अप्रतीप (वि०) जो विरोधी न हो, जो हठी न हो।

अप्रतुलः (पुं०) भार की कमी, कमी, ह्रास।

अप्रत्यक्ष (वि०) जो दृष्टिगोचर न हो, अबोध्य, (अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति—शांकरभाष्य—अगम्यअनुपस्थित)।

अप्रत्ययः (पुं०) विश्वास न होना, संदेह, व्याकरण में प्रत्यय का न होना।

अप्रत्याख्यात (वि०) जो प्रतिकूल न हो, जो अस्वीकृत न हो।

अप्रत्याख्यानम् (न०) खंडन का अभाव, खंडन न होना।

अप्रत्याख्येय (वि०) खंडन के अयोग्य, अस्वीकार के अयोग्य।

अप्रथित (वि०) जो फैला न हुआ, अविस्तृत।

अप्रदक्षिणम् (अव्य०) बाईं ओर से दाहिनी ओर।

अप्रदग्ध (वि०) न जला हुआ, अदग्ध।

अप्रदत्त (वि०) न दिया हुआ।

अप्रदीप्ताग्नि (वि०) मंदाग्नि (रोग) से पीड़ित।

अप्रधान (वि०) अप्रमुख, गौण।

अप्रधानम् (न०) अप्रमुखता, आश्रित होने की अवस्था, अधीनता।

अप्रधृष्य (वि०) जो जीता न जा सके, अजेय।

अप्रपदनम् (न०) आश्रय का निकृष्ट स्थान।

अप्रपादः (पुं०) अकालोत्पत्ति का अभाव।

अप्रपादुक (वि०) जो निष्फल न हो, जो अधूरा न हो, पूरा, पूर्ण।

अप्रबल (वि०) जो प्रबल या प्रचंड न हो, निर्बल।

अप्रभ (वि०) प्रभाहीन, कांतिरहित, सुस्त, मंद।

अप्रभु (वि०) अशक्त, अयोग्य, जिसमें शासन करने की शक्ति न हो।

अप्रभूत (वि०) जो पर्याप्त हो, अपर्याप्त।

अप्रभूतिः (स्त्री०) अल्प उद्योग, लघु उद्यम।

अप्रभ्रंशः (पुं०) लोप न होना।

अप्रमत्त (वि०) प्रमाद-रहित, निरभिमानी (प्राप्यापदं न व्यथते कदाचित् उद्योगमन्विच्छन्ति चाप्रमत्तः। दुःखञ्च काले सहते महात्मा, धुरन्धरस्तस्य जिताः सपत्नाः। अप्रमत्तमविश्वासं पञ्चशिक्षेत वायसात्—चानक्य-नीति), ध्यान के द्वारा अप्रमत्त या अत्यन्त सावधान रहना चाहिए (अप्रमत्तो भवेद्ध्यानात्—पंच० २।७३); अध्येता अप्रमत्त रहने से ही अध्ययन की सफलता अर्जित कर सकता है। मदिरापान से मनुष्य प्रमत्त हो जाता है। उस समय उसके द्वारा कोई भी उत्तम कार्य साधित नहीं हो सकता। उसका मन सदा ही विक्षिप्त रहता है। वैज्ञानिक तल्लीन होकर ही अपने अविष्कार में सफल होता है। साधक अपने उपास्य देव में तन्मय होकर ही सिद्धिलाभ कर सकता है। आत्मज्ञ स्थितधी, स्थितप्रज्ञ, समाधिस्थ तथा आत्मसंस्थ होकर ही संसार को मिथ्या समझकर उड़ा देते हैं। अप्रमाद अमृत का, प्रमाद मृत्यु का पथ है। अप्रमत्त नहीं मरता, जो प्रमत्त है वह मृत के समान है (अप्पमादो अमतपदं पमादो मच्चुनो पदं। अप्पमत्ता न मीयन्ति ये पमत्ता यथा मता—धम्मपद अप्पमाद-वग्गो १)।

अप्रमत्ता (स्त्री०) वह कन्या जिसका अभी विवाह न हुआ हो, कुमारी कन्या।

अप्रमद (वि०) उत्साहहीन, हर्षरहित, उदास।

अप्रमा (स्त्री०) मिथ्याज्ञान, भ्रमज्ञान। वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्रमा है। जैसे, रजत में रजत का ज्ञान, किंतु यदि अल्पांधकार में पतित सीप के टुकड़े में रजत का ज्ञान हो तो वह अप्रमा कहलायगा। यथार्थ अनुभव प्रमा और अयथार्थ अनुभव अप्रमा है।

ज्ञाता ज्ञान के द्वारा ज्ञेय वस्तु को जानता है। यह ज्ञान यथार्थ भी हो सकता है और अयथार्थ भी। ऐसे ही प्रमाता प्रमा के द्वारा प्रमेय वस्तु को जानता है। यह प्रमा-ज्ञान यथार्थ ही होता है, यदि अयथार्थ हो तो वह अप्रमा कहलायगा।

अप्रमाण (वि०) अपरिमाण, असीम, जो प्रमाण स्वरूप न माना जाय, अविश्वस्त ।

अप्रमाणम् (न०) ऐसा नियम या विधान जो मानक न हो ।

अप्रमाद (वि०) सावधान, सतर्क, सचेत ।

अप्रमादः (पुं०) सावधानी, सतर्कता ।

अप्रमादिन् (वि०) सावधान, सतर्क ।

अप्रमित (वि०) अपरिमित, असीम, जो प्रमाणित न किया गया हो, अप्रमाणित, जो अधिकार द्वारा स्थापित न किया गया हो ।

अप्रमेय (वि०) जिसका परिमाप न हो सके, विशाल, अनंत, अपार, प्रमाण द्वारा सिद्ध न होने वाला (यतो निर्गुणादप्रमेया गुणास्ते.........सदा तं गणेशं नमामोभजामः—गणेणाष्टक १ ।

द्रष्टा दर्शन दृश्य, ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, ध्याता ध्यान ध्येय आदि त्रिपुटियों की तरह प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय हैं । दर्शन-शास्त्रों में प्रवल प्रमाण तीन ही माने गये हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान (युक्ति) और शब्द । इंद्रियों द्वारा विषय ग्रहण प्रत्यक्ष प्रमाण है । प्रत्यक्ष उदाहरण मिलने पर उसकी सहायता से समान हेतु देखकर अप्रत्यक्ष विषय में भी अनुमान किया जाता है (अनुमानम् देखिए) । भ्रम-प्रमाद-रहित आप्त पुरुष के द्वारा कथित वाक्य से जो निश्चित ज्ञान होता है उसे शब्द-प्रमाण कहते हैं, जैसे 'पाप का फल दुःख सभी भोगते हैं, रावण, कंस, हिरण्यकशिपु आदि को भोगना पड़ा था' । यहाँ पाप का फल दुःख प्रत्यक्ष नहीं हो रहा है । एक आप्त पुरुष के कहने से उसका ज्ञान हो गया । ये ही शब्द-प्रमाण-जनित निश्चित ज्ञान हैं ।

इन प्रमाणों से जो विषय जाने जाते हैं वे प्रमेय हैं और प्रमाण से जिसको ज्ञान प्राप्त होता है वह प्रमाता है । अगणित दृष्टांतों से प्रमाणित होता है कि प्रमेय मात्र ही नश्वर है ऐसे सच्चिदानंद आत्मा भी प्रमाण-ज्ञान का विषण होकर प्रमेय हो जाय तो वह भी नश्वर ही हो जायगा । न्यायदर्शन-परिकल्पित अनैकांतिक हेत्वाभास माना नहीं जा सकता । क्योंकि मनुष्य मरणशील है । इस साध्य के प्रतिपादन के लिए 'क्योंकि उसका जन्म हुआ है' इस प्रकार जो हेतु उपस्थित किया जाता है वह सारे सांसारिक पदार्थों में भी समान है । यदि इस हेतु को अनैकांतिक हेत्वाभास मान लिया जाय तो 'मनुष्य मरणशील हैं, यह अनुमान उनके मत में ठीक न होगा । फलस्वरूप मनुष्य अमरण-शील सिद्ध होगा, जो सर्वथा असंभव है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि आत्मा अप्रमेय हो अर्थात् कोई प्रमाण ही वहाँ न पहुँच सके तो उसका अस्तित्व कैसे माना जा सकता है क्योंकि प्रमाण से ही प्रमेय वस्तु की सिद्धि होती है (प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि—सांख्यकारिका ४) । इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार विना किसी दूसरे प्रकाश की सहायता के स्वयं-प्रकाश सूर्य को मानना पड़ता है, उसी प्रकार स्वयं-प्रकाश आत्मा को भी विना प्रमाण के ही मानना पड़ेगा ।

वौद्धों के अनुसार शून्य से सृष्टि उत्पन्न हुई और प्रलय में भी शून्य में ही लय प्राप्त करेगी । परंतु कोई भी बुद्धिमान पुरुष इस मत को स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि कारण से ही कार्य-वस्तुओं की उत्पत्ति सर्वलोकप्रत्यक्ष है । शून्य से घट, पट, मठ, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि किसी भी कार्य-वस्तु या व्यक्ति के उत्पन्न होते किसी ने कभी नहीं देखा है । विना दृष्टांत के अनुमान असिद्ध है । अतः मानना पड़ेगा कि इस ब्रह्मांड रूप कार्य-पदार्थ का कारण अवश्य था और इस विशाल ब्रह्मांड का कारण भी विशाल ही होगा । इस कारण हमारे शास्त्रों में जगत्-कारण को ब्रह्म अर्थात् बृहत् कहा है । आकारवान वस्तु का नाश देखकर उस अनादि कारण को निराकार सिद्ध किया गया है । इसी प्रकार संसारी वस्तुओं में विकारी, सगुण, क्रियाशील, स्थूल, क्षुद्र होने के कारण नाशवान देखकर आत्मा को अविकारी, निर्गुण, अचल, सूक्ष्म, महान, असीम, अनंत, अनादि आदि रूप से प्रतिपादित किया गया है ।

इस प्रकार के आत्मा को स्वयंप्रकाश होने के कारण किसी प्रमाण के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता (विज्ञातारमरे केन विजानीयात्—वृहदारण्यक ४।५।१५) महर्षि याज्ञवल्क ने निज पत्नी मैत्रेयी से कहा था—समस्त ब्रह्माण्ड के परिज्ञाता परब्रह्म को कौन जान सकता है? (यन्मनसा न मनुते—केनोपनिसद) । जिस ब्रह्म को

मन नहीं जान सकता, बल्कि मन को जो जानते हैं वे ही ब्रह्म हैं)। मन में आत्मा का जो प्रतिबिंब होता है, उसी से सांसारिक वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। परंतु वह आभास-चैतन्य बिंब रूप आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता। बल्कि उस महान प्रकाश में वह लीन हो जाता है। नमक का पुतला समुद्र को नापने तो उतरा लेकिन गल गया। इसी प्रकार मन में स्थित आभास-चैतन्य मूल चैतन्य में मिलकर तदाकार बन जाता है।

इन्हीं युक्ति-प्रमाणों से आत्मा अप्रमेय है, यह बात सिद्ध होती है।

अप्रपम् (न०) ब्रह्म।

अप्रमेयात्मन् (न०) शिव, महादेव।

अप्रमेयानुभाव (वि०) असीम शक्ति का, अनंत शक्ति वाला।

अप्रमोदः (पुं०) अप्रसन्नता, हर्षहीनता।

अप्रमोषः (पुं०) अचौर्य।

अप्रयत्न (पुं०) चेष्टा या उद्योग का अभाव।

अप्रयाणिः (स्त्री०) गमन न करना, उन्नति न करना।

अप्रयुक्त (वि०) जिसका प्रयोग न हुआ हो, अव्यवहृत, अनुचित रीति से प्रयुक्त, असाधारण, दुर्लभ, दुष्प्राप्य।

अप्रयोगः (पुं०) प्रयोग का अभाव।

अप्रयोजक (वि०) उद्देश्यरहित, लक्ष्यविहीन।

अप्रलम्बम् (अव्य०) विना देर किये।

अप्रवर्तक (वि०) कार्य से पृथक् रहने वाला, निश्चल, गतिहीन, न उभाड़ने वाला।

अप्रवीण (वि०) अपटु, अदक्ष।

अप्रवृत्त (वि०) क्रियाशून्य, आरंभ न करने वाला, उत्तेजित न करने वाला।

अप्रवृत्तिः (स्त्री०) क्रियाशून्यता, निश्चेष्टता, उत्तेजना का अभाव।

अप्रशस्त (वि०) जिसकी प्रशंसा न की गई हो, अप्रशंसित, अविख्यात।

अप्रसक्त (वि०) जो मिला न हो, असंयुक्त।

अप्रसक्तिः (स्त्री०) आसक्ति का अभाव, जुड़ा या मिला न होना।

अप्रसङ्गः (पुं०) संबंध का अभाव, अनुराग का अभाव, अनुपयुक्त समय।

अप्रसन्न (वि०) जो अनुकूल न हो, नाराज, जो स्वच्छ न हो, अस्वच्छ, गँदला।

अप्रसह्य (वि०) सहन करने के अयोग्य, असहनीय।

अप्रसाद्य (वि०) संतुष्ट करने के अयोग्य।

अप्रसिद्ध (वि०) अविख्यात, अज्ञात, साधारण।

अप्रसूता (स्त्री०) वह स्त्री जिसे संतान न होती हो, वंध्या स्त्री, बाँझ।

अप्रस्ताविक (वि०) अप्रासंगिक, असंगत।

अप्रस्तुत (वि०) प्रसंग-विरुद्ध, अर्थविहीन, नैमित्तिक, जो विद्यमान न हो, अविद्यमान, अप्रधान।

अप्रस्तुत-प्रशंसा (स्त्री०) वह अलंकार जिसमें अप्रस्तुत कथन के द्वारा प्रस्तुत का बोध कराया जाता है।

अप्रहत (वि०) अनाहत, न जुती हुई (भूमि), नया, नवीन (वस्त्र)।

अप्रहन् (न०) आघात या प्रहार न करना।

अप्रहृत (वि०) जो आहत न हो, जिसपर प्रहार न किया गया हो।

अप्राकरणिक (वि०) जो विषय या प्रकरण के अनुसार न हो।

अप्राकृत (वि०) जो प्राकृत न हो, अस्वाभाविक, असाधारण, विचित्र, विलक्षण।

अप्राग्र्य (वि०) अप्रधान, गौण।

अप्राचीन (वि०) जो पूर्वीय न हो, पश्चिमी, जो पुराना न हो, नया, आधुनिक।

अप्राज्ञ (वि०) अशिक्षित, मूर्ख, मूढ़।

अप्राणः (पुं०) प्राण या साँस का न होना, मृत्यु, मौत।

अप्रादेशिक (वि०) जो प्रादेशिक न हो।

अप्राधान्यम् (न०) अश्रेष्ठता, अधीनता, तुच्छता।

अप्राप्त (वि०) जो मिल न सके, न मिलने वाला, जो आया या पहुँचा न हो, जो अभी तक पूर्ण वृद्धि को न पहुँचा हो।

अप्राप्तकाल (वि०) विना अवसर का, विना ऋतु का, असमय का।

अप्राप्तप्राप्तिफलक (वि०) पूर्व-अज्ञात-विषय-ज्ञापक (यह एक प्रकार की वैदिक विधि है। जैसे—व्रीहीन् प्रोक्षेत्—चावलों पर पवित्र जल छिड़कना चाहिए)।

अप्राप्तयौवन (वि०) अपरिणतवयस्क, जिस बालक को अभी यौवन प्राप्त न हुआ हो, तरुण, कुमार।

अप्राप्तव्यवहार (वि०) अप्राप्तवयस्क, जो सयाना न हो।

अप्राप्तिः (स्त्री०) अलब्धि, वह जो घटित न हुआ हो।

अप्राप्य (वि०) प्राप्त होने के अयोग्य, न मिल सकने वाला, दुर्लभ।

अप्रामाणिक (वि०) जो प्रामाणिक न हो, प्रमाण-रहित, अविश्वस्त।

अप्रायुवः [वेद] (स्त्री०, पु०) बहुवचन, प्रमाद न करने वाले।

अप्रार्थक (वि०) विवाह में न माँगने वाला।

अप्रावृत (वि०) जो आच्छादित न हो, जो ढका हुआ न हो, अनाच्छादित।

अप्रशासनम् (न०) भोजन न करना।

अप्राशितृ (वि०) भोजन न करने वाला, न खाने वाला।

अप्राशित्रिय (वि०) जो भोजन के अनुपयुक्त या अयोग्य हो, अभक्षणीय।

अप्रासङ्गिक (वि०) प्रसंग-बहिर्भूत, असंगत, अनुचित।

अप्रिय (वि०) जो प्रिय या प्यारा न हो, अरुचि-कर, जो कृपालु न हो।

अप्रियः (पुं०) शत्रु, दुश्मन, एक यज्ञ।

अप्रियकर (वि०) अरुचिकर।

अप्रियभागिन् (वि०) जो भाग्यवान न हो, अभागा।

अप्रियम् (न०) अरुचिपूर्ण काम।

अप्रियवादिन् (पुं०) अप्रियवादी, कटु-भाषी, दुःख-दायक बात बोलने वाला। संसार में प्रियवादी लोगों की संख्या बहुत ही अल्प है। हमारे चारों ओर जितने मनुष्य हैं, प्रायः सभी कभी न कभी दूसरों के हृदयों को विद्ध करने वाली चुभती हुई बातें कहते हैं। फलस्वरूप बहुतों का हृदय जल जाता है। इसे वाचनिक हिंसा कहते हैं। हिंसा पाप है, पाप का फल दुःख है। इसे जानते हुए भी मनुष्य कटु शब्दों से दूसरों का दिल दुखाते हैं। क्रिया की प्रतिक्रिया होती है, फलस्वरूप कटुभाषी को किसी न किसी समय अपने पाप का फल दुःख भोगना ही पड़ता है। इस वाचनिक हिंसा से संसार व्याप्त है किंतु आश्चर्य की बात यह है कि अधिकांश मनुष्य कटुभाषण को हिंसा नहीं समझते। (हिंसा देखिए)। शारीरिक हिंसा सभ्य समाज में अब बहुत ही अल्प है। मन में दूसरों की अनिष्ट-चिंता मानसिक हिंसा है। यह यदि मनुष्य के मन में ही रह जाय, शरीर या वचन से प्रगट न हो, तो संसार को कोई हानि नहीं है। किंतु यही मानसिक हिंसा उन दोनों हिंसाओं का मूल है। क्योंकि मन में किसी की बुराई सोचे विना बाहर कार्य रूप में हिंसा प्रकट नहीं होती। मन में किसी की बुराई सोचते रहने से उसमें जलन होती है, यही मानसिक हिंसा का सद्यः फल है। मन के द्वारा जो कार्य किया जाता है वही यथार्थ कर्म है, शरीर से जो कार्य किया जाता है, वह उसके सामने नगण्य है (मनःकृतं कृतं लोके, न शरीरकृतं कृतम्—गोरक्षसंहिता ८४)। वृद्ध लोग कहते भी हैं—'वन का बाघ नहीं खाता, मन का बाघ खाता है।' महर्षि मनु ने और भी कहा है—सत्य बात बोलनी चाहिए, श्रोता को प्रिय प्रतीत हो, ऐसी बात बोलनी चाहिए, अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए। मिथ्या शब्द यदि श्रोता को प्रिय लगे तो उसे भी नहीं कहना चाहिए—यही सनातन धर्म है (सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यम् अप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः—मनु ४।१३८)।

गाली, धमकी, निंदा, परचर्चा आदि अप्रिम भाषण है और ये सभी वक्ता को ही दुःख देते हैं। ग्रामीण जनता में अभी भी शारीरिक हिंसा प्रबल है। क ने ख को गाली दी, दूसरे दिन सुबह क की लाश उसीके दरवाजे पर पड़ी मिलेगी। जमीन की सीमा या सीमा पर के पेड़ को लेकर दोनों पट्टीदारों में झगड़ा होने लगा। एक पक्ष के लोग दूसरे पक्ष के लोगों को कड़ी-कड़ी गालियाँ देने लगे, थोड़ी देर में दोनों के घरों से लांठी, बल्लम, गँड़ासे निकल आये। दोनों पक्षों में २-४ व्यक्ति मरे, १०-२० आदमी सक्त घायल हुए। अंत में मुकदमा चल गया, दोनों दलों के बहुत से बलवाइयों को जीवन भर के लिए कैद की सजा मिली। अप्रिम भाषण का कैसा मर्मांतिक परिणाम होता है! जमीन जहाँ की तहाँ पड़ी है, पेड़ जहाँ का तहाँ खड़ा है। जड़ वस्तुओं के लिए चेतन मनुष्यों की ऐसी कठोर शास्ति! यह बुद्धिमानी का परिचायक नहीं है।

गीता में वाङ्मय तप के विषय में लिखा है—किसी के हृदय में उद्वेग उत्पन्न न हो, सत्य, प्रिय और हितकर हो तो वैसा वाक्य ही वाङ्मय तप है (अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते—१७।१५)। दरिद्र होने पर भी गृहस्थ के घर में अतिथि के आने पर बैठने के लिए कुशासन, स्थान, पैर धोने और पीने के लिए जल, मधुर वाणी का अभाव सज्जन के घर में नहीं रहता (तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सुनृता। एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन—मित्रलाभ ६४)। संत कबीरदास जी कह गये हैं—"ऐसी वाणी बोलिये मन का आपा खोय। औरन को शीतल करे आपुहि शीतल होय।"

हमारे भारत में कुछ ऐसे मनुष्य भी हैं जिन्होंने जीवन भर में कभी किसी को दिल दुखाने वाली बात नहीं सुनायी, क्योंकि वे जानते हैं कि सभी प्राणियों के भीतर सर्वव्यापी ईश्वर विराजमान हैं। अतः किसी को गाली या धमकी देने से उन्हीं को दुःख होगा (एकात्मवादः देखिए)।

मुख के ८ स्थानों के संघातों से उत्पन्न शब्दों का कोई अर्थ नहीं है। एक-एक देश के मनुष्यों ने अपने-अपने शब्दों के विशेष-विशेष अर्थ मान लिये हैं, जो अन्य देश के लोगों के अबोध्य हैं। कुत्ते को कोई कुकुर, कोई सारमेय, कोई डाग कहते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी की २५००० भाषाओं के २५००० नाम कुत्ते के होंगे। कुत्ते के शरीर में हाथ फेरने पर एक भी नाम नहीं मिलता। सभी नाम लोगों के मुख के निरर्थक शब्द मात्र हैं। अग्नि, वायु, जल आदि ईश्वर के द्वारा सृष्ट हैं, उनका व्यवहार पृथ्वी भर के सभी जातियों के मनुष्य तथा पशु, पक्षी आदि समान रूप से करते हैं। यदि भाषा के शब्दों के अर्थ भी ईश्वर के बनाये होते तो सभी देशों के मनुष्य उनका अर्थ समझ लेते। दक्षिण देश के तामिल, तेलुगु, मलयालम और कनाड़ा भाषा-भाषी लोग जब उत्तर भारत में आकर अपनी भाषाओं में बातचीत करते हैं तो हमलोग कुछ भी नहीं समझते। हमारी हिंदी, बंगला, गुजराती, मराठी भाषाओं का अर्थ चीन, जापान, रूस, फ्रांस, अमेरिका आदि देशों के लोग कुछ भी नहीं समझते। अर्थात् सभी देशों की सभी भाषाओं के अर्थ कल्पित हैं।

इस प्रकार भाषा-तत्त्व का स्वरूप जानकर बुद्धिमान मनुष्य गाली, धमकी, निंदा आदि सुनकर हँस देते हैं। क्योंकि वे उन्हें निरर्थक शब्द मात्र समझते हैं।

किंतु अपनी-अपनी भाषा के अर्थहीन शब्दों को जोड़कर लोग पुस्तकें बनाते हैं और उनमें विभिन्न प्रकार के ज्ञान भर देते हैं। उन पुस्तकों को पढ़कर लोग यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा अपने जीवन को सफल बनाते हैं। इस मिथ्या संसार में मिथ्या का ही तो व्यवहार होता है। चोर को चोर जानकर घर में स्थान देने और उनका सेवा-यत्न करने से वह चोरी नहीं कर सकता, बल्कि जाते समय मित्र के समान उपदेश देकर जाता है। संध्या समय किसी ग्राम में एक मनुष्य पहुँचा। रात के अंधेरे में चलना कठिन समझकर एक गृहस्थ के घर में रात भर रहने के लिए उसने प्रार्थना की। गृहस्थ पहचान गये कि वह चोर है, कई बार सजा काट चुका है, किंतु एक परदेशी समझकर उसे उन्होंने घर में स्थान दिया, खिलाया-पिलाया और बाहरी कोठरी में उसके रहने का प्रबन्ध कर दिया; अपने घर के भीतर से ताला बन्द कर लिया, बत्ती जलाये रखी और पति-पत्नी रात भर जागते ही रहे। सुबह उठकर जाते समय उस चोर ने गृहस्थ से कहा—"आप बड़े सावधान हैं, परदेशी व्यक्ति को स्थान देने पर भी दरवाजे के भीतर से आपने ताला बन्द कर लिया, बत्ती जलाये रखी और बातचीत करते हुए रात भर जागते रहे। ऐसा करना ही चाहिए।" इस प्रकार मित्र के समान उपदेश देकर वह चला गया (परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये। विज्ञाय सेवितश्चौरो मैत्रीम् एति न चोरताम्—पंचदशी ७।१४८)। उसी प्रकार शब्दार्थों को मिथ्या जानकर जो उनका व्यवहार करते हैं, वे उनका मित्र बनकर सुख ही देते हैं, दुःख नहीं दे सकते; क्योंकि अपने लिए कथित गाली, धमकी, निंदा आदि सुनकर उन्हें अर्थहीन जानकर हँसते हुए उनपर उपेक्षा ही दिखाते हैं।

साधारण मनुष्य इस प्रकार शब्द-तत्त्व नहीं जानते, इस कारण कटु भाषण सुनकर अपने को दुःखी बनाते हैं, कभी तो उस कटु-भाषी को मारते-पीटते या हत्या ही कर डालते हैं, फलस्वरूप फाँसी पर लटक जाते या जीवन भर कारादण्ड का कष्ट भोग करते रहते हैं।

संसार में कैसा अज्ञान फैला हुआ है! शब्द-तत्त्व का विश्लेषण करके यदि विचारवान मनुष्य सभी शब्दों को निरर्थक जान जायँ, तो कभी उन्हें जीवन में कटु-वचनजनित दुःख-भोग नहीं करना पड़ेगा।

गृहस्थाश्रम में भार्या ही सबसे अधिक आनंददायक है। वह भार्या प्रियवादिनी हो तो गृहस्थाश्रम बहुत ही सुखकर होता है, किंतु प्रायः देखने में आता है कि अधिकांश भार्याएँ अप्रियवादिनी होती हैं। प्रशंसनीय भार्या के लिए "भार्या च प्रियवादिनी" कहा गया है। अप्रियवादिनी भार्या की निंदा करते हुए शास्त्रकार लिखते हैं—वन्ध्या होने पर आठ वर्ष के बाद पति दूसरा विवाह करे, संतान उत्पन्न हो होकर मर जाय तो दस वर्षों के बाद, केवल कन्यायें ही होती रहें तो ग्यारहवें वर्ष में पति पुनर्विवाह करे, किंतु यदि भार्या अप्रियवादिनी हो, सदा कटु भाषण से पति को दुःख दे, तो तुरंत दूसरा विवाह कर ले (बन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा। एकादशे स्त्री-जननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी—मनु ९।८१)।

इस श्लोक में महर्षि मनु ने अप्रियवादिनी भार्या की निंदा नहीं की है; बल्कि इस कठोर वाक्य की ध्वनि से उन्होंने भार्याओं को मधुरभाषिणी होने के लिए उपदेश दिया है। ऊपर के तीन उदाहरण उसकी पुष्टि के लिए तथा श्लोक पूर्ण करने के लिए उदाहरण रूप से दिखाये गये हैं। यथार्थ में वन्ध्या, मृतप्रजा और स्त्रीजननी की अवस्था में पति को दूसरा विवाह कर लेने की विधि नहीं दी गयी है। जो दम्पति ८, १०, ११ वर्षों तक आनंद से जीवन बिता रहे हों, उन्हें पुनर्विवाह की आज्ञा देना असभ्यता है। प्रधान धर्मशास्त्रकार महर्षि मनु ऐसा अशिष्ट आदेश नहीं दे सकते।

इस विषय को पुष्ट करने के लिए एक अन्य श्लोक उदाहरण रूप से विचारा जा सकता है। वह यह है कि किसी सींघ वाले पशु को देखकर १० हाथ दूर से चलना चाहिए, घोड़े को देखकर १०० हाथ दूर से तथा हाथी को देखकर १००० हाथ दूर से चलना चाहिए; किंतु दुर्जन को देखकर तुरंत वहाँ से हट जाना चाहिए (शृङ्गिणं दशहस्तेन शतहस्तेन वाजिनम्। हस्तिनन्तु सहस्रेण स्थानत्यागेन दुर्जनम्—हितोपदेश)। यहाँ भी अंतिम विषय ही प्रधान है; क्योंकि सींघवाले पशु, घोड़ा या हाथी देखकर लोग स्वयं ही दूर हट जाते हैं, उसके लिए शास्त्रीय विधि देने की आवश्यकता नहीं है। दुर्जन से दूर हट जाना चाहिए यही विधि है।

विवाह के अनंतर कुशंडिका हवन के समय सात बार अग्नि-प्रदक्षिणा करते हुए पति पत्नी से कहता है—"मेरे जीवन का जो व्रत है, उसी में तुम अपना हृदय का दान करो, मेरे चित्त के अनुसार तुम्हारा चित्त हो (मम व्रते ते हृदयं दधातु, मम चित्तं अनुचित्तं तेऽस्तु—विवाहपद्धति—पुरोहितदर्पण। इसी प्रतिज्ञा के अनुसार पत्नी यदि पति के अनुकूल कार्य तथा भाषण करती रहे तो दाम्पत्यजीवन परमसुखमय होता है। किंतु आजकल स्त्रियों की बुद्धि विवाहकाल की उस प्रतिज्ञा को भूल कर पति का विरुद्ध काम तथा भाषण करने लगती हैं। कहीं-कहीं तो पत्नी के कठोर भाषण से अत्यंत असंतुष्ट होकर पति आत्महत्या कर लेता है या घर छोड़कर साधु हो जाता है। वैसी अवस्था में स्त्री का बाकी जीवन दुःखमय हो जाता है।

धार्मिक सज्जनों का उपदेश है कि झगड़े के स्थान में जो हार मान लेता है, उसी को जीत और सुख मिलता है। आजकल प्रायः दिखाई पड़ता है कि पति यदि कोई बात कहे, तो पत्नी उसके विरुद्ध बोलने लगती है। इससे पति-पत्नी में विरोध होता है। वैसे विरोध के समय पत्नी यदि हार मान ले तो दोनों की एकवाक्यता होने से मिलन हो जाता है। मिलन में सुख और विच्छेद में दुःख होता है—यह स्वतः सिद्ध सिद्धांत है। आजकल पढ़ी-लिखी लड़कियों का विवाह होता है। कुमारी अवस्था में ही उनके कुछ मत स्थिर हो जाते हैं। विवाह हो जाने पर पति के साथ पत्नी का मत प्रायः विरुद्ध हो जाता है, फलस्वरूप दाम्पत्य-जीवन कंटकाकीर्ण हो जाता है।

महर्षि मनु ने उक्त श्लोक में भार्याओं को प्रिय-वादिनी होने का ही उपदेश दिया है, जिससे दाम्पत्य-जीवन सुखमय हो सके।

अप्रीतिः (स्त्री०) अरुचि, घृणा, विमुखता।

अप्रीतिकर (वि०) अरुचिकर, विपरीत, विरुद्ध।

अप्रीत्यात्मक (वि०) पीड़ा देने वाला, पीड़ादायक।

अप्रेत (वि०) न गया हुआ, न मरा हुआ, जीवित।

अप्रोक्षित (वि०) न छिड़का हुआ, न सींचा हुआ, असिंचित ।

अप्रोदित (वि०) जिसका उच्चारण असंस्कृत न किया गया हो, अनुच्चरित ।

अप्रोषित (वि०) न गया हुआ, अप्रस्थानित ।

अप्रौढ़ (वि०) जो धृष्ट न हो, भीरु, असाहसी, जो पूरा बढ़ा हुआ न हो ।

अप्रौढा (स्त्री०) अविवाहिता कन्या, वह कन्या जिसका विवाह न हुआ हो ।

अप्लव (वि०) विना जहाज का, न तैरने वाला ।

अप्लवेश (वि०) तैरने के अयोग्य ।

अप्लुत (वि०) अदीर्घीकृत (स्वर), अविलंबित ।

अप्वा [वेद] (पुं०) रोग, भय, औणादिक है जो पूर्ण न होने दे ; पूर्णता का वाधक ।

अप्सः [वेद] (पुं०) सुंदर रूप, (उशा हस्तेव निरिर्णीते अप्सः (ऋ० २-१-८-२) ।

अप्सरस्, अप्सराः (स्त्री०) स्वर्ग की वेश्या, गंधर्व की स्त्री, इंद्र की सभा में नाचने वाली देवांगना । मनुष्य मात्र इस लोक के सुख भोग से तृप्त नहीं होते इस कारण मरने के वाद अनंत सुखमय अनेक अप्सराओं से पूर्ण स्वर्ग की कल्पना करते हैं । विभिन्न देशों में स्वर्ग की कल्पना विभिन्न प्रकार की है । अति प्राचीनकाल में (अप्सु सरति गच्छतीति अप्सराः) जल में रहनेवाली परी को अप्सरा मानते थे । इन कल्पित सुंदरियों का कुप्रभाव युवकों में चित्त-विभ्रान्ति उत्पन्न कर देता था । इसी कारण यजुर्वेद में स्थान-स्थान पर इन अप्सराओं को नदी और समुद्र में जाकर रहने के लिए आदेश दिया गया है । कहीं तो समुद्र के भीतर वरुणदेव के महलों में रहने वाली परियों को अप्सरा कहा गया है । अथर्ववेद (४।३७।४) के अनुसार अप्सराएँ अश्वत्थ, बट आदि बड़े-बड़े वृक्षों में रहकर उनकी जलियों में झूला झूला करती हैं । ऋग्वेद (१०।९५) में उर्वशी प्रसिद्ध अप्सरा मानी गयी है । घृताची, रंभा, तिलोत्तमा, मेनका, कुंडा आदि अनेक अप्सराओं का वर्णन पुराणों में मिलता है । पुराणों में ऐसी भी कथाएँ आती हैं कि कोई राजा मृत्यु के वाद इंद्रत्व प्राप्त करने की अभिलाषा से तपस्या करने लगा । ईर्ष्या के कारण इंद्र ने किसी अप्सरा को उस राजर्षि की तपस्या को भंग करने के लिए वहाँ भेज दिया । कहीं-कहीं इंद्र को सफलता भी मिली । परंतु ऐसी कथाएँ अर्थवाद मात्र हैं । सुंदरी रमणी को देखकर मनुष्य अपने जीवन का धार्मिक व्रत न छोड़े यही उन कथाओं का उद्देश्य है ।

जल से इनकी उत्पत्ति होने के कारण इनका नाम अप्सरा पड़ा । देवासुर के द्वारा सिंधु-विमंथन के समय यह समुद्र के भीतर से अनेक परिचारिकाओं के साथ निकलीं । देव और दानव किसी ने भी इन्हें ग्रहण नहीं किया । इसलिए इन्होंने अपने को साधारण स्त्रीरूप में परिणत कर लिया । मनुसंहिता में ये सप्त मनुओं के द्वारा सृष्ट हैं—ऐसा उल्लेख पाया जाता है । इनकी संख्या ६० कोटि है । ये सुरंजना, सुमात्मजा आदि नामों से पुकारी जाती हैं । कामदेव अप्सराओं के राजा थे, ये नृत्यकला में पूर्ण निपुण होती थीं । रामायण और महाभारत में अप्सराओं को गंधर्वो की स्त्री वताया गया है । ये इंद्र की सभा में उत्सव के समय गंधर्वों के साथ नृत्य-गीतादि में योगदान किया करती थीं । देवगण भी इन्हें नाना भावों से नाना प्रकार के कार्यों के लिए नियुक्त करते थे । जव कोई मुनि या ऋषि तपस्या के बल से देवगण के स्वत्व को प्राप्त करने का प्रयत्न करता था उस समय भय से देवगण उनको लुभाकर तपस्या भंग करने के लिए अप्सराओं को भेज दिया करते थे । विश्वामित्र की तपस्या भंग करने के लिए मेनका को भेजा गया था जिसके फलस्वरूप शकुन्तला का जन्म हुआ । अप्सराओं के सौंदर्य और यौन आवेदन की वात पुराणादि में विशेष भाव से लिखी हुई है । अप्सराएँ अपने शरीर को परिवर्तित भी कर सकती थीं । वे ही मृत्युलोक में नाना भावों से लोगों की सहायता करती हैं । अप्सराओं में उर्वशी, मेनका, रम्भा, तिलोत्तमा, घृताची आदि प्रसिद्ध हैं । ये स्वर्ग की स्वतंत्र नारियाँ थीं ।

अप्सव (वि०) जल देने वाला ।

अप्सु (वि०) विना भोजन का; जल में ।

अप्सुचर (वि०) जल में जाने वाला, जल में विचरण करने वाला ।

अप्सुज (वि०) जल में उत्पन्न होने वाला, जलज ।

अप्सुसद (वि०) जल में रहने वाला ।

अप्सुसोमः (पुं०) जल से भरा हुआ प्याला ।

अफल (वि०) फलरहित, विना फल का, व्यर्थ, निरर्थक, अनुत्पादक, नपुंसक किया हुआ ।

अफलप्रेप्सु (वि०) फलाकांक्षा-रहित, कर्म-फल न चाहने वाला, निष्काम। सांसारिक मनुष्यों के लिए निष्काम भाव से कर्म करना संभव नहीं है। प्रत्येक कार्य के पीछे कुछ न कुछ कामना अवश्य रहती है। विद्यार्थी रात भर जगकर बहुत कष्ट से अध्ययन करता है। उसके मन में अंतिम परीक्षा में सफल होकर 'प्रचुर धन कमा सकूंगा' ऐसी आकांक्षा रहती है। निःस्वार्थ भाव से परोपकार करने वाले मनुष्य के मन में भी यश की कामना या आत्म-सुख की इच्छा बनी रहती है। कामना न रहने से कार्य में प्रवृत्ति ही नहीं होती।

उदर में अन्न-परिपाक, फेफड़ों में श्वास की प्रक्रिया, हृद्यंत्र से रक्त का संचार आदि स्वाभाविक कार्य निष्काम कहे जा सकते हैं।

आत्मज्ञानी संसार को तथा उसके भीतर के देहेंद्रियादि को माया-कल्पित मिथ्या जानते हैं। स्वप्न-कल्पित प्राणियों के समान माया-कल्पित शरीर-इंद्रियादि द्वारा जो कर्म होते रहते हैं उन्हें वह कभी अपने कर्म नहीं मानते। इस कारण उन कर्मों के पीछे कुछ भी कामना नहीं रहती। पेड़ की सूखी पत्ती जिस प्रकार वायु से उड़ती चलती है उसी प्रकार आत्मज्ञानी के देहेंद्रियादि कर्मसंस्कारवश चलते-फिरते रहते हैं। यथार्थ में इन्हीं के कर्मों को निष्काम कहा जाता है। अतः ऐसे आत्मज्ञानी व्यक्ति ही अफलप्रेप्सु हैं।

अपना स्वार्थ न रखकर जगत-कल्याणार्थ जो कर्म किये जाते हैं, उनके पीछे सात्त्विक कामना रहने के कारण उन्हें भी लोग निष्काम कर्म ही कहते हैं। ऐसे कर्म करने वाले व्यक्ति के मन में फल के प्रति लोभ न रहने के कारण उन्हें भी अफलप्रेप्सु कहते हैं (नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते —गीता १८।२३)।

अफलाकांक्षिन् (वि०) फलाकांक्षा-रहित। कर्म का फल होता है। फलप्राप्ति की आशा न हो, तो कोई काम ही नहीं करता। बालक पढ़ता है, उससे उसे कष्ट होता है, तिस पर भी वह पढ़ता है; क्योंकि पढ़ने से अंतिम परीक्षा में सफल होकर यथेष्ट धन कमा सकूंगा तथा सुख से जीवन बिताऊँगा ऐसी फलाकांक्षा उसके मन में रहती है। मनुष्य नौकरी करता है, उसमें उसे कष्ट होता है, परंतु महीने भर के बाद वेतन मिलेगा, इस फल की आशा से वह उस कष्ट को भी सहता है।

कर्म करने से फल तो अवश्य ही होगा—शुभ कर्म का शुभ फल और अशुभ कर्म का अशुभ फल। यह जानकर यदि मनुष्य जीवन भर शुभ कर्म ही करता रहे, तो उस पर कभी विपत्ति या दुःख नहीं आ सकता। फल की आकांक्षा न रखते हुए भी विचारवान मनुष्य कर्म कर सकते हैं। ऐसे मनुष्य को आशाभंगजनित दुःख नहीं भोगना पड़ता। कभी शुभ कर्म का भी शुभ फल किसी अज्ञात कारण से बाधा-प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति फलाकांक्षा रखकर कर्म करता है, उसकी आशा बाधा-प्राप्त हो जाय, तो उसे बड़ा कष्ट होता है।

फलाकांक्षारहित होकर कर्म का आचरण कर्मयोग कहलाता है (कर्मयोग: देखिए)। इस प्रकार अफलाकांक्षी रहकर जो शास्त्रविहित कर्म करता है वह सात्त्विक होता है (अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते। यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः—गीता १७।११)।

अफल्गु (वि०) जो व्यर्थ न हो, तुच्छ न हो, उत्पादक, लाभकारी।

अफुल्ल (वि०) न खिला हुआ, अविकसित।

अफेन (वि०) बिना झाग का, फेनरहित।

अफेनम् (न०) अफीम, अहिफेन।

अबण्ड (वि०) जो लँगड़ा या पंगु न हो।

अबद्ध (वि०) जो बँधा न हो, मुक्त, स्वतंत्र, निरर्थक, अर्थहीन, विरुद्ध, प्रतिकूल।

अबद्धमुख (वि०) गंदा मुंह वाला, गाली-गलौज बकने वाला, मुंहफट।

अबधिर (वि०) जो बधिर या बहरा न हो।

अबध्य (वि०) बध करने के अयोग्य, जिसका वध न किया जा सके।

अबन्धन (वि०) बिना बेड़ी का, बंधनरहित।

अबन्धु (वि०) बिना संबंधियों का, मित्ररहित।

अबन्धुर (वि०) जो ऊँचा-नीचा या ऊबड़-खाबड़ न हो, समतल, समधरातल।

अबन्ध्य (वि०) जो बेड़ी से न बाँधा जा सके, बेड़ी से बाँधने के अयोग्य, जो फलरहित न हो, उत्पादक।

अबल (वि०) निर्बल, दुर्बल, अशक्त।

अबलम् (न०) निर्बलता, शक्ति का अभाव।

अबला (स्त्री०) बलरहित या अल्प बलवाली स्त्री। पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों में शरीर या मन का बल अल्प होता है।

युद्ध के समय स्त्रियों को सेनापति का पद, जल-जहाज या हवाई जहाज तथा रेल चलाने का पद भी उन्हें नहीं दिया जाता। हिटलर के युद्ध के समय बहुत सी जर्मन स्त्रियाँ युद्ध क्षेत्रों में विभिन्न काम करने के लिए सम्मिलित हो गयी थीं। उनसे अनेक प्रकार की असुविधायें होते देखकर हिटलर ने आदेश दिया कि "सभी स्त्रियाँ रसोई खाने में लौट जायँ।"

स्त्रियों में बुद्धिशक्ति की प्रखरता विशेष-विशेष स्थानों में दिखाई पड़ती है।

उनके स्नेहप्रवण, दुर्बल हृदय कठोर वाक्य सहन नहीं कर सकता, यहाँ तक कि स्त्रियों के सामने कोई पुरुष दूसरे व्यक्ति को भी कड़ा बात न बोले, क्योंकि उससे उनके कोमल हृदय में बुरा प्रभाव पड़ता है। पाश्चात्य देशों में भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को 'दुर्वल श्रेणो' मानते हैं।

रावण जब ब्राह्मण के वेश में आकर सीतादेवी को चुरा ले गया, तब उनके स्थान में कोई पुरुष होता तो वह उस ब्राह्मण से लड़ जाता। रावण अपनी राक्षसी मूर्ति में प्रगट होता तो वह मनुष्य उससे लड़कर मर मिटता तो भी उसके वश में नहीं जाता। कौरव दुःशासन जब द्रौपदी को खींच लाकर राजसभा में उनका वस्त्र खींचने लगा तब वह रोते हुए भगवान से प्रार्थना करने लगीं। अबला होने के कारण वह क्षत्रिया दुःशासन से लड़ने का साहस नहीं कर सकीं।

अबलावल (वि०) जो दुर्बल हो न शक्तिशाली।

अबलावल: (पुं०) शिव, महादेव।

अबलीयस् (वि०) सबसे कमजोर, अत्यंत निर्वल।

अबल्यम् (न०) दुर्वलता, कमजोरी।

अबहिर् (अव्य०) भीतरी भाग में, हृदय में।

अवर्हिर्वासस् (वि०) विना ऊपरी पोशाक का।

अबहु (वि०) जो अधिक न हो, थोड़ा, कम, अल्प।

अबाध (वि०) बाधारहित, पीड़ारहित।

अबाध: (पुं०) रोक-टोक का अभाव, अखंडन।

अबाधित (वि०) न रोका हुआ, अखंडनीय, निरंतर।

अबाध्य (वि०) बाधा के अयोग्य, पीड़ा के अयोग्य, आज्ञा न मानने वाला।

अबान्धव (वि०) जो बंधुरहित हो, मित्ररहित।

अबाल (वि०) जो बालक न हो, युवक, पूर्ण, पूरा।

अबालेन्दुः (पुं०) पूर्ण चंद्रमा।

अबाह्य (वि०) जो बाहरी न हो, भीतर का।

अबिन्धनः (पुं०) समुद्र के भीतर की अग्नि, बाड़वाग्नि, बाड़वानल।

अबीज (वि०) बीजरहित, नपुंसक, नामर्द।

अबीजक (वि०) जो वेचा न गया हो, न बोया हुआ।

अबुद्ध (वि०) मूर्ख, नासमझ, जो देखा न गया हो।

अबुद्धत्वम् (न०) मूर्खता, नासमझी।

अबुद्धिः (स्त्री०) बुद्धि का अभाव, अज्ञानता, मुर्खता।

अबुद्धिपूर्व, अबुद्धिपूर्वक (वि०) अनजाना हुआ।

अबुद्धिपूर्वकम् (न०) अज्ञात भाव से।

अबुध (वि०) बुद्धिहीन, मूर्ख, अज्ञानी।

अबुध्य (वि०) न जागा हुआ।

अबुध्यमान (वि०) न जागने वाला।

अबोध (वि०) बोधरहित, अज्ञानी, मूढ़।

अबोधः (पुं०) बोध का अभाव, अज्ञानता, मूर्खता।

अबोधगम्य (वि०) समझ में न आने वाला।

अबोधनीय (वि०) जो समझने के योग्य न हो, जागाने के अयोग्य।

अब्ज (वि०) जल में उत्पन्न, जलोत्पन्न।

अब्जः (पुं०) शंख, चंद्रमा, धन्वंतरि।

अब्जजः (पुं०) ब्रह्मा, जल से उत्पन्न कमल आदि।

अब्जनाभः (पुं०) विष्णु।

अब्जबान्धवः (पु०) सूर्य, भास्कर।

अब्जभोगः (पुं०) कमल की जड़, भसीड़।

अब्जम् (न०) कमल, सौ करोड़ की संख्या।

अब्जवाहनः (पुं०) शिव, महादेव।

अब्जा (स्त्री०) सीप, घोंघा।

अब्जादः (पुं०) राजहंस, बत्तख।

अब्जिनी (स्त्री०) कमलों का समूह, कमल का पौधा।

अब्जिनीपतिः (पुं०) सूर्य, भास्कर।

अब्द (वि०) जल देने वाला, जलदाता।

अब्दः (पुं०) बादल, मेघ, वर्ष, एक पर्वत।

अब्दवाहनः (पुं०) शिव, इंद्र।

अब्दशतम् (न०) सौ वर्ष का समय, शताब्दी।

अब्दसारः (पुं०) एक प्रकार का कपूर।

अब्दार्धम् (न०) आधा वर्ष, छः महीने का समय।

अब्दुर्गम् (न०) झील से घिरा हुआ कोट या गढ़ ।

अब्धिः (पुं०) तालाब, झील, समुद्र, सात की संख्या।

अब्धिज (वि०) समुद्र में उत्पन्न ।

अब्धिजः (पुं०) चंद्रमा, शंख, सीप ।

अब्धिजा (स्त्री०) एक प्रकार की मदिरा या शराब, लक्ष्मी ।

अब्धिजीवनः (पुं०) मछुआ, मल्लाह ।

अब्धिझषः (पुं०) समुद्री मछली ।

अब्धिद्वीपा (स्त्री०) पृथ्वी, भूमि ।

अब्धिनगरी (स्त्री०) श्रीकृष्ण की राजधानी, द्वारकापुरी ।

अब्धिनवनीतकः (पुं०) चंद्रमा, शशि ।

अब्धिमण्डूकी (स्त्री०) सीप, घोंघा ।

अब्धिशयनः (पुं०) विष्णु ।

अब्धिसारः (पुं०) रत्न, मणि ।

अब्ध्यग्निः (पुं०) बड़वानल, वाड़वाग्नि ।

अब्बिन्दुः (पुं०) जलबिंदु, आँसू, अश्रु ।

अब्भक्ष (वि०) जल पीकर रहने वाला, जलपायी ।

अब्भक्षणम् (न०) जल पीकर रहना (यह एक प्रकार का व्रत है) ।

अब्रह्मचर्य (वि०) जो ब्रह्मचारी न हो, अपवित्र ।

अब्रह्मचर्यकम् (न०) ब्रह्मचर्य-राहित्य, मैथुन, संभोग ।

अब्रह्मचर्यम् (न०) ब्रह्मचर्य का अभाव ।

अब्रह्मण्य (वि०) जो ब्राह्मण के योग्य न हो, ब्राह्मण के लिए अनुचित ।

अब्रह्मण्यम् (न०) ब्राह्मण के लिए अयोग्य कर्म, (नाटक में) 'हत्या न करो' ऐसा आदेश, घोर अत्याचार।

अब्रह्मन् (वि०) ब्राह्मणों से भिन्न ।

अब्रह्मन् (न०) ब्राह्मणों का अभाव ।

अब्रह्मविद् (वि०) ब्रह्मज्ञान-रहित, ब्रह्म को न जानने वाला (माब्रह्मवित् कुले भवति) ।

अब्राह्मणः (पुं०) वह जो ब्राह्मण न हो ।

अब्राह्मण्यम् (न०) ब्राह्मण के लिए अयोग्य कर्म ।

अब्रुवत् (वि०) न बोलने वाला, जो न बोलता हो, शांत, मौन ।

अभक्त (वि०) जिसने अंश न ग्रहण किया हो, असंबद्ध, न खाया हुआ, अभक्षित ।

अभक्तरुचिः (स्त्री०) भूख का अभाव, क्षुधाराहित्य ।

अभक्तविघ्नः (पुं०) अभक्तों या ईश्वर-विमुखों अर्थात् पापियों को होने वाला विघ्न, आपत्ति, दुःख, शोक आदि (यतोऽभक्तविघ्नास्तथानेकरूपाः·········सदा तं गणेशं नमामो भजामः—गणेशाष्टक) ।

अभक्तिः (स्त्री०) श्रद्धा या भक्ति का अभाव, विश्वास का अभाव ।

अभक्षित (वि०) न खाया हुआ, भक्षण न किया हुआ ।

अभक्षिन् (वि०) निषिद्ध भोजन करने वाला, न खाने वाला ।

अभक्ष्य (वि०) जो खाने योग्य न हो, भक्षण के अयोग्य ।

अभक्ष्यम् (न०) निषिद्ध खाद्य वस्तु ।

अभग (वि०) भाग्यहीन, अभागा ।

अभग्न (वि०) जो भग्न या टूटा हुआ न हो, अखंडित, संपूर्ण, समूचा ।

अभग्नकाम (वि०) जिसकी आकांक्षाएँ भग्न न हुई हों ।

अभङ्गुर (वि०) जो टूटने वाला न हो, अपरिवर्तनीय, दृढ़, समतल ।

अभद्र (वि०) जो भद्र या सज्जन न हो, अशुभ, बुरा, दुष्ट ।

अभद्रजनोचित (वि०) अभद्र व्यक्ति के योग्य, भद्र पुरुष के अयोग्य, अशिष्ट (व्यवहार) ।

अभद्रम् (न०) बुराई, दुष्टता, दुःख, अशिष्टता ।

अभयः (पुं०) भयशून्यता, शंकाराहित्य, निडरपन । जीवमात्र में अनुकूल विषय में सुख और प्रतिकूल विषय में दुःख होता है । वह प्रतिकूल विषय यदि भयानक हो और उसका प्रतिरोध करने में अपने को असमर्थ समझे, तो उससे भय होता है । भय एक तामसिक वृत्ति है । उससे चित्त मोहाभिभूत हो जाता है । हृदय कंपित होता है, कभी-कभी मृत्यु तक हो जाती है ।

अभय एक दैवी सम्पद् है (अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञान-योगव्यवस्थितिः·········भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत—गीता १६।१-३) ।

जिसके मन में हिंसा-वृत्ति नहीं रहती, उसको किसी से भय नहीं होता । बालक भक्त ध्रुव भगवान की खोज में जंगल चला गया था । उसके सामने बाघ, सिंह, साँप

आदि हिंसक जंतु आये, परंतु उसे कोई भय नहीं हुआ। क्योंकि उसके मन में किसी के प्रति हिंसा का भाव ही नहीं था। छोटा बच्चा सामने आने पर साँप को भी पकड़ लेता है, क्योंकि भय क्या चीज है, वह जानता ही नहीं और हिंसा का भाव उसमें उत्पन्न ही नहीं हुआ।

सारे जीव पतन, प्रहार या मृत्यु के भय से भयान्वित हैं (सर्वं वस्तु भयान्वितं क्षितितले वैराग्यमेवाभयम्—वैराग्यशतक)। संसार में सर्वत्र ही भय है। दो की प्रतीति होने से हो भय होता है (द्वितीयाद् वै भयं भवति—वृहदारण्यक १।४।२)। आत्मज्ञान प्राप्त होने पर संसार मायाकल्पित मालूम होता है, तब आत्मातिरिक्त द्वितीय वस्तु की सत्ता ही नहीं रहती, इसी अवस्था में पूर्णतया अभय प्राप्त हो जाता है। संसार में मृत्यु-भय ही सबसे बड़ा भय है। स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर के वियोग का नाम मृत्यु है। आत्मा सर्वव्यापक तथा सर्वत्र पूर्ण है, उसका अभाव मृतक शरीर में भी नहीं है। उस आत्मा का प्रतिबिंब ग्रहण करने वाला मन चला जाय तो शव मात्र ही पड़ा रहता है। आत्मज्ञानी जानते हैं कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर जड़ पदार्थ हैं। अतः उनके वियोग से उन्हें कोई भय नहीं होता। महाराजा जनक से एक ऋषि पूछते हैं कि "तुम्हें अभय पद मिल गया है ? (अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि—वृहदारण्यक ४।२।४)।

संसार माया-कल्पित होने से स्वप्न के समान मिथ्या है अर्थात् स्वप्न की कल्पना करने वाले मन के अतिरिक्त स्वाप्निक जगत के किसी भी पदार्थ या व्यक्ति की पृथक् सत्ता नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मसत्तातिरिक्त संसार के किसी पदार्थ या प्राणी का पृथक् अस्तित्व नहीं है (अद्वैतवादः देखिए)। जब आत्मज्ञानी जान गये कि एकमात्र आत्मा ही नित्य और सत्य है तो मिथ्या वस्तुओं के परस्पर वियोग से उन्हें कोई भय नहीं होगा। दो सत्य पदार्थ हों तभी भय हो सकता है।

योगशास्त्र में संसार के भीतर तीन क्लेश बताये गये हैं—राग (आसक्ति), द्वेष (हिंसा) और अभिनिवेश (मरणत्रास) (रागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः—योगसूत्र-टीका)। जीवमात्र के लिए मरणभय अत्यंत क्लेशदायक है। ब्रह्मांड के सारे प्राणियों का एक ही आत्मा अविनश्वर है। गीता में लिखा है—यह आत्मा कभी जनमता या मरता भी नहीं, एकबार होकर पुनः लुप्त भी नहीं हो जाता, यह जन्मरहित, नित्य, शाश्वत तथा पुराण पुरुष है। शरीर के हत होने से यह हत नहीं होता (न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे—गीता २।२०) यहाँ आत्मा को एकवचन में बताया गया है अर्थात् सभी में आत्मा एक है। गीता में और भी लिखा है इस नाशरहित अनन्त नित्य-स्वरूप आत्मा के ये सारे शरीर नाशवान कहे गये हैं (अन्तवन्त इमे देहा नित्य-स्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत—२।१८)। इस श्लोक में शरीर के संबंध में चारों विशेषण बहुवचन में हैं जैसे—अन्तवन्तः, इमे, देहाः, उक्ताः—अर्थात् शरीर अनेक हैं; किंतु आत्मा के चारों विशेषण एकवचन में हैं जैसे—नित्यस्य, शरीरिणः, अनाशिनः, अप्रमेयस्य ; अर्थात् आत्मा एक है (एकात्मवादः देखिए)। मनुष्य में जब तक शरीर पर आत्मभाव रहता है तब तक वह मरणत्रास से मुक्त नहीं हो सकता ; किंतु यदि कोई बुद्धिमान मनुष्य नेति-नेति विचार से मेरा शरीर, मेरी इन्द्रियाँ, मेरे प्राण, मेरा मन, मेरा ज्ञान और अज्ञान इस प्रकार मुझ आत्मा से भिन्न इन सभी को अलग कर दे और नित्य आत्मा को अपना स्वरूप समझे तो जन्म-मृत्यु पर वह उपेक्षा दिखा सकता है। ऐसी अवस्था में आत्मज्ञानी को मृत्युभय नहीं रह सकता।

मृत्युभय से बचने के लिए अथर्ववेद में कुछ मंत्र ऐसे हैं कि हमारा अंतरिक्ष-लोक अभय हो, द्यूकोक और भूलोक दोनों ही अभय हों। पीछे और सामने अभय हो। ऊर्ध्व और निम्न भी अभय हों। बन्धु और शत्रु भी अभय हों, ज्ञात और अज्ञात भी अभय हों। रात्रि और दिवस भी अभय हों। हमारे चारों ओर मित्र हों (अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तराद्धरादभयं नो अस्तु॥ अभयं मित्राद् अभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ १९।१५।५-६)।

अभयङ्कर, अभयङ्कृत (वि०) जो भयंकर या भयानक न हो, निर्भयप्रद।

अभयडिण्डिमः (पुं०) युद्धढक्का, संग्रामपटह, लड़ाई का नगाड़ा, सैनिक ढोल, सुरक्षा का ढिंढोरा।

अभयदानम् (न०) किसी को भय से मुक्त करने का वचन देना ।

अभयवाक् (स्त्री०), अभयवाक्यम् (न०), अभयवाणी (स्त्री०) अभय-वचन, उत्साह-वाक्य ।

अभर्तृका (स्त्री०) अविवाहित स्त्री, वह स्त्री जिसका पति न हो, विधवा ।

अभवः (पुं०) सत्ता का अभाव, अनस्तित्व, विनाश, संसार की समाप्ति, प्रलय ।

अभव्य (वि०) जो होने को न हो, अनुचित, अशुभ, अभागा ।

अभाग (वि०) अविभक्त, जो बाँटा न गया हो ।

अभानम् (न०) अप्रकाश, भासित न होना । संसार के अनेक पदार्थ ही ज्ञान के सामने प्रकाशित होते हैं, परंतु बहुत से पदार्थ मनुष्य-ज्ञान के परे ही रह जाते हैं। प्रत्येक जीव में 'मैं हूँ' इस प्रकार अपने स्वरूप आत्मा का कुछ ज्ञान है । परंतु मैं क्या हूँ, मेरा असली स्वरूप क्या है, आत्मज्ञ पुरुष के अतिरिक्त अपने स्वरूप का विशेष ज्ञान किसी को नहीं रहता । अपने पुत्र के साथ जब अनेक बालक एक स्वर से वेद-पाठ करते हैं, तब अन्य वालकों के स्वर के साथ अपने पुत्र का स्वर भी पिता के कानों में पहुँचता है, परंतु वह अपने पुत्र के स्वर को पृथक् रूप से नहीं समझ सकता । उसका कारण है—अन्य बालकों का स्वर रूप प्रतिबंधक । उन बालकों का स्वर बंद करा दिया जाय तो पिता को अपने पुत्र का स्वर स्पष्ट रूप से सुनाई पड़ता है । इसी प्रकार सब जीवों में सामान्यतया आत्मज्ञान रहने पर भी सांसारिक कोलाहल रूप अनेक प्रतिबंधकों के रहने के कारण आत्मा का विशेष ज्ञान नहीं होता (अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत् । भानेऽप्यभानं भानस्य प्रतिबन्धेन युज्यते—पञ्चदशी १।१२ । तस्य हेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनिश्रुतौ । इहानादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबन्धनम्—१।१४) ।

जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूप-ज्ञान प्राप्त करने के लिए उपरोक्त कारणों से सांसारिक सभी पदार्थों में वैराग्य उत्पन्न करने का आदेश है । इंद्रियाँ तथा मन बहिर्मुख रहकर बाहरी भोग-सुखों का ही भोग करना चाहते हैं । इस कारण वे आत्मा को नहीं देख सकते । कदाचित् कोई धीर पुरुष ही इंद्रियों को भीतर की ओर लौटाकर मन को अंतर्मुख करके आत्मा को जानते हैं (कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्, आवृत्तचक्षुः अमृतत्व-मिच्छन्—कठोपनिषद २।४।१) ।

जीव अपने सुख के लिए ही सब कुछ करता है । परार्थ के लिए काम करने पर भी उसमें आत्मतृप्ति ही लक्ष्य है, क्योंकि आत्मा परमानंद-स्वरूप है । आत्मा के इस परमानंद-स्वरूप का बोध सामान्यतया सभी प्राणियों को है, परंतु सांसारिक प्रपंच बाधक होने के कारण उसका विशेष ज्ञान प्रायः किसी को नहीं होता । इसी कारण कहा गया है कि आत्मा की परमानंदस्वरूपता का भान होते हुए भी पूर्णतया भान नहीं होता (अतो भानेऽप्यभाताऽसौ परमानन्दताऽत्मनः—पञ्चदशी १।११) ।

अभावः (पुं०) सत्ता-शून्यता, अनस्तित्व, न होना । जो पदार्थ जहाँ न हो वहाँ उस पदार्थ का अभाव माना जाता है । वैशेषिक दर्शन के मत में अभाव मुख्यतः दो प्रकार के हैं—संसर्गाभाव तथा अन्योन्याभाव । संसर्गाभाव तीन प्रकार के हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यंताभाव (अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः । प्रागभावस्तथा ध्वंसोऽप्यत्यन्ताभाव एव च । एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते—भाषापरिच्छेद ९) । जो अभाव अनादि है और अपने प्रतियोगी (विरुद्ध) कार्य-वस्तु के उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है, वह प्रागभाव है (अनादिः सान्तः प्रागभावः—तर्कसंग्रह ७१) । जो अभाव कार्य-वस्तु के ध्वंस होते ही उत्पन्न होता है और अनंत काल तक रहता है वह ध्वंसाभाव है (सादिरनन्तः प्रध्वंसः—तर्कसंग्रह ७१) । किसी स्थान में किसी पदार्थ का रहना असंभव होनेपर अत्यंताभाव है, जैसे आकाश में रूप का । किसी पदार्थ में अन्य पदार्थ का अभाव अन्योन्याभाव है, जैसे घट में पट का और पट में घट का अन्योन्याभाव अर्थात् परस्पर अभाव है।

वेदांत मत में अभाव कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि चक्षुरिंद्रिय के साथ उसका संबंध नहीं होता । एकाधिक भाव-वस्तुओं में ही संबंध होता है, अभाव के साथ नहीं । अतः अभाव का प्रत्यक्ष नहीं हुआ । अभाव में लिंग की व्याप्ति न होने के कारण वह अनुमान-गम्य भी नहीं है । पदार्थ का केवल स्वरूप ही प्रत्यक्ष होता है । घट के प्रत्यक्ष होते समय उसमें घट से भिन्न अनंत कोटि वस्तुओं के अनंतकोटि अभावों की कल्पना भी नहीं होती ।

दर्शनशास्त्र में 'गौरव' युक्ति-विचार का एक दोष है। जहाँ अल्प मानने से काम चले वहाँ अधिक मानना गौरव है (अन्योन्याश्रयः देखिए)। घट को केवल घट मानने से ही जल आदि लाने का व्यवहार चल सकता है। वहाँ घट के ऊपर अगणित अन्य वस्तुओं के अगणित अभाव मानना गौरव है। इससे समय का अपव्यवहार तथा मन को नृथा भाराक्रांत करना होता है।

पातंजल योगदर्शन में अभाव का नाम मिलता है। वहाँ कहा गया है कि मन जब निद्राभिभूत हो जाता है, उस समय उसके सामने केवल अभाव का ही ज्ञान रहता है (अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा १।१०)। इस मत में मन निद्रा में भी रहता है, इसी कारण उसमें सांसारिक किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहता, केवल अभाव का ही प्रत्यक्ष होता है। किंतु मन के रहते हुए शरीर को अवश होकर गिर नहीं पड़ना चाहिए। इस कारण वेदांत में सुषुप्ति अवस्था में मन का अस्तित्व नहीं माना जाता। इसी से उस समय शरीर जड़ के समान पड़ा रहता है। योगशास्त्र की समाधि-अवस्था में मन रहता है। इसलिए शरीर भी खड़ा रह सकता है। इसी प्रकार मन की स्थिति गहरी निद्रा में नहीं रह सकती। यदि निद्रा में भी मन का अस्तित्व माना जाय तो उस मत में समाधि और निद्रा में कोई भेद नहीं रह जाता। वेदांत-मत में तीन शरीर माने जाते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। स्थूल शरीर खून-मांस का है। सूक्ष्म शरीर १७ अवयवों की समष्टि है—५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रिया, ५ प्राण, मन और बुद्धि। कारणशरीर केवल अज्ञानमात्र है, जो सर्वव्यापी मायाशक्ति का एक क्षुद्र अंशमात्र है। यह अज्ञान ज्ञान का अभाव ही नहीं है, बल्कि भाववस्तु है। सुषुप्ति में मन भावरूप इसी कारण शरीर में डूब जाता है। इस समय मन का अस्तित्व विलुप्त हो जाता है, इसीसे शरीर गिर पड़ता है। मन ही शरीर को खड़ा रख सकता है। इस विचार से निश्चित होता है कि अभाव कोई वस्तु नहीं है।

अभावना (स्त्री०) निर्णय का अभाव, यथार्थ ज्ञान का अभाव, ध्यान का अभाव।

अभावनीय (वि०) जो चिंतन या मनन के योग्य न हो।

अभावयितृ (वि०) न जानने वाला, ध्यान न करने वाला।

अभाव्य (वि०) जो भावना के योग्य न हो।

अभाषणम् (न०) न बोलना, चुप्पी, मौन, शांति।

अभि (अव्य०) एक उपसर्ग जिसे संज्ञावाची और क्रियावाची शब्दों में लगाने पर, तरफ, ओर, तक, ऊपर, पक्ष में, आरपार आदि का अर्थ देता है और विशेषणों में लगने पर इसके अर्थ, घनिष्ठता, उत्कृष्टता, सामिप्य, एक के बाद एक आदि होते हैं।

अभि+अञ्ज् (पर०) (अभ्यञ्जयति) तेल आदि लगाना, उबटन मलना, अंजन लगाना।

अभि+अर्च् (पर०) (अभ्यर्चयति) अर्चना करना, पूजा करना, सम्मान करना, (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः—गीता १८।४६)।

अभि+अर्थ् (आत्म०) (अभ्यर्थयते) प्रार्थना करना, माँगना।

अभि+अव+हृ (उभ०) (अभ्यवहरति, अभ्यवहरते) व्यवहार करना, भोजन करना, खाना।

अभि+अस् (पर०) (अभ्यस्यति) अभ्यास करना, आवृत्ति करना, घोखना, पुनः अनुष्ठान करना, बार-बार करना (रोमन्थमभ्यस्यति)

अभि+इ (पर०) (अभ्येति) सामने जाना, अभिमुख होना, प्राप्त होना।

अभि+उक्ष् (पर०) (अभ्युक्षति) अभ्युक्षण करना, चारों ओर जल छिड़कना।

अभि+उन+ईर् (पर०) (अभ्युनीरयति) कहना, बोलना।

अभि+उप्+गम् (पर०) (अभ्युपगच्छति) स्वीकार करना, मान लेना।

अभिक (वि०) कामुक, अभिलाषी, इच्छुक।

अभिकथनम् (न०) दोषारोषण, दृढ़ता के साथ कथन।

अभिकरणम् (न०) प्रतिनिधि का कार्यालय, साघन।

अभिकर्तृ (वि०) प्रतिनिधि, गुमाश्ता।

अभिकल्पना (स्त्री०) किसी योजना को कार्यरूप में परिणत करने के पूर्व उसके रूप-रेखा की कल्पना। किसी पूर्व निश्चित ध्येय की उपलब्धि के लिए तत्संबंधी विचारों एवं अन्य सभी सहायक वस्तुओं को क्रमबद्ध रूप से सुव्यवस्थित कर देना ही अभिकल्पना है। जैसे किसी नदी पर एक लोहे का पुल बनाने के लिए एक योजना बनाते हैं और इस योजना को रेखा-चित्रों में अंकित कर लेना

पुल की अभिकल्पना है। ऐसे आधुनिक सुशुक्षित वास्तुविद् भवन, कारखाना, नहर, सुरंग आदि बनाने के पूर्व प्रत्येक की अभिकल्पना कर लेते हैं, इससे कार्य में सुविधा हो जाती है।

अभि+काङ्क्ष् (पर०) (अभिकाङ्क्षति, अभि-काङ्क्षते) इच्छा करना, चाह करना।

अभिकाङ्क्षा (स्त्री०) आकांक्षा, इच्छा।

अभिकाङ्क्षित (वि०) इच्छा किया हुआ, इच्छित।

अभिकाङ्क्षिन् (वि०) इच्छा करनेवाला, आकांक्षा करनेवाला।

अभिकाम (वि०) इच्छुक, कामुक, स्नेहपात्र, प्रिय।

अभिकामः (पुं०) इच्छा, कामुकता, स्नेह, प्रेम।

अभि+कृष् (पर०) (अभिकृष्णाति) फाड़ना, खींचना।

अभिकेन्द्र (वि०) केंद्राभिमुखी, केंद्र की ओर झुका हुआ।

अभिक्रमः (पुं०) आक्रमण, आरंभ, चेष्टा, आरोहण।

अभिक्रमणम् (न०) समीप गमन, चढ़ाई।

अभिक्रान्तिः (स्त्री०) स्थानच्युति, स्थान बदलना, परिवर्तन।

अभिक्रिया (स्त्री०) परीक्षा, जाँच, समीक्षा, अजमाई।

अभिक्रोशः (पुं०) गाली, भर्त्सना, पुकार, चिल्लाहट।

अभिक्रोशक (वि०) गाली देने वाला, दुर्वचन कहने वाला, पुकारने वाला।

अभिख्या [वेद] (स्त्री०) शोभा, वृद्धि।

अभिख्या (स्त्री) पुकार, घोषणा, कथन, सौंदर्य, उपाधि, समानार्थवाची शब्द, शब्द, कीर्ति, प्रसिद्धि, ख्याति।

अभि+ख्या+णिच् (पर०) (अभिख्यापयति) ख्यापन करना, प्रकाशित करना, विज्ञापित करना।

अभिख्यात (वि०) जाना हुआ, ज्ञात, घोषित, विख्यात।

अभिख्यातृ (वि०) निरीक्षक, देख-भाल करने वाला।

अभिख्यानम् (न०) कीर्ति, प्रसिद्धि।

अभिगत (वि०) आगत, पहुँचा हुआ।

अभिगन्तृ (पुं०) वह जो समझता हो, वह व्यक्ति जो स्त्री से संभोग करता हो।

अभिगमः (पुं०), अभिगमनम् (न०) आगमन, पहुँच, मैथुन।

अभिगम्य (वि०) समीप आया हुआ, प्राप्तव्य।

अभिगर्जनम् (न०) भयानक गर्जना, घोर गर्जन।

अभिगामिन् (वि०) अभिगामी, स्त्री-प्रसंग करने वाला, पास जाने वाला।

अभिगुप्त (वि०) रक्षित।

अभिगुप्तिः (स्त्री०) रक्षण, रक्षा।

अभिगूर्ति (स्त्री०) स्तुति-गान, प्रशंसात्मक गीत।

अभिगृहीत (वि०) लिया हुआ, पकड़ा हुआ।

अभिगोप्तृ (पुं०) रक्षक, अभिभावक।

अभिग्रहः (पुं०) ग्रहण, पकड़, आक्रमण, किसी काम के लिए किसी को ललकारना, अधिकार, लूट-पाट।

अभिग्रहणम् (न०) लूटना, छीनना।

अभिग्रहितृ (वि०) लेने वाला, ग्रहण करने वाला।

अभिघर्षणम् (न०) घर्षण, रगड़, प्रेतावेश।

अभिघातः (पुं०) प्रहार, दंडादि द्वारा आघात, आक्रमण, विनाश, पूर्ण रूप से स्थानांतरण; दुःखशोकादि द्वारा क्लेशभोग। सांख्यदर्शन के प्रामाणिक ग्रंथ सांख्य-कारिका की प्रथम कारिका (श्लोक) में ईश्वरकृष्णजी ने लिखा है—आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक इन तीन प्रकार के दुःखों से मनुष्यों को क्लेश होता है; इस कारण जिज्ञासा होती है कि कैसे इन दुःखों से मुक्ति मिल सकती है? यदि कोई कहे कि दृष्ट अर्थात् लौकिक उपायों से ही दुःखनिवृत्ति होती है तो जिज्ञासा व्यर्थ है। नहीं; क्योंकि दृष्ट उपायों से दुःख की एकांत और अत्यंत निवृत्ति नहीं होती। अतः जिज्ञासा आवश्यक है (दुःख-त्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ। दृष्टे सापार्था चेद् न एकान्तात्यत्यन्ततोऽभावात् १)।

आध्यात्मिक दुःख है—ज्वर आदि रोग, भूख, आघात आदि से। औषधसेवन, उपवास आदि के द्वारा रोग दूर हो सकते हैं। आधिभौतिक दुःख है—बाघ, चोर आदि से। सुरक्षित मकान बनाने, जंगल में न जाने से वैसे दुःख नहीं हो सकते। वज्रपात, ग्रहदोष आदि से आदिदैविक दुःख से मुक्ति सुरक्षित स्थान में रहने, ग्रहशांति, स्वस्त्ययन आदि के द्वारा हो सकती है। तो जिज्ञासा का क्या प्रयोजन है?

इसके उत्तर में कहते हैं—नहीं। उन दृष्ट उपायों से एकांत और अत्यंत दुःखनिवृत्ति नहीं होती। एकबार औषध-सेवन से ज्वर आराम हो जाय तो दूसरी बार भी ज्वर हो सकता है। कभी घर से बाहर आने पर कुत्ता

काट लेता है, कभी सेंध लगाकर चोर चोरी कर ही लेता है, कभी न कभी वज्रपात या ग्रहदोष से कष्ट भोगना ही पड़ता है। इन कारणों से दुःखों की चिरनिवृत्ति नहीं हो सकती, इस विषय में विद्वानों से जिज्ञासा आवश्यक है।

अब सांख्यशास्त्र का प्रतिपादन आरम्भ होता है। इस मत में प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व हैं। प्रकृति जड़, त्रिगुणात्मक, परिणामधर्मी, व्यापक, तथा इस स्थूल-सूक्ष्म संसार की जननी है। पुरुष अगणित, सूक्ष्म, व्यापक प्रकृति-संसर्ग से मुक्त है। यदि कोई बुद्धिमान मनुष्य अपने को प्रकृति से पृथक समझ सके तो वह प्राकृतिक दुःखों से चिरमुक्त हो सकता है। इसी विषय को सांख्यशास्त्र में एक सुंदर उदाहरण देकर समझाया गया है। एक स्त्री नग्न होकर अपने कमरे में अकेली नाच रही थी। उसे ऐसा मालूम हुआ मानो कोई पुरुष जंगले के छेद में से उसे देख रहा है। वह तुरंत लज्जा से सिकुड़ कर शरीर में कपड़ा लपेटते हुए एक कोने में जा छिप गयी। इसी प्रकार संसार भर में उलंगिनी प्रकृति का उद्दाम नृत्य हो रहा है। सभी प्राणी उसी में आनंद प्राप्त कर रहे हैं। किंतु यदि कोई पुरुष प्रकृति को अपने से पृथक समझ सके तो वह फिर कभी निर्लज्जा प्रकृति की शोभा से मुग्ध नहीं होगा। सांख्यशास्त्र के अनुसार यही अवस्था पुरुष के लिए मुक्ति है। इस कारण हर एक बुद्धिमान मनुष्य को अपने भीतर पुरुष-शक्ति को जगाना चाहिए।

इसी विवेक-ज्ञान से पुरुष बराबर के लिए प्रकृति-बंधन से मुक्त हो जाता है।

अभिघातक (वि०) दूर हटाने वाला, पृथक् करने वाला।

अभिघातित (वि०) आघात-प्राप्त, क्षतिग्रस्त।

अभिघातिन् (वि०) आघात करने वाला, प्रहारक, हानि पहुँचाने वाला।

अभिघातिन् (पुं०) शत्रु, वैरी।

अभिघारः (पुं०) चारों ओर छिड़काव, हवन में घी की आहुति।

अभिघारणम् (न०) घी छिड़कने की क्रिया।

अभिघारित (वि०) घी जिड़का हुआ।

अभिघार्य (वि०) छिड़कने योग्य, घी छिड़कने योग्य।

अभिघृत (वि०) घी छिड़का हुआ, ऊपर चुवाया हुआ।

अभिघ्राणम् (न०) सूंघना, गंध लेना।

अभिचक्षणम् (न०) शपथपूर्वक वचन, सम्मोहन।

अभिचक्ष्य (वि०) प्रकाशित, प्रकटित।

अभि+चर् (पर०) (अभिचरति) अतिक्रम करना, लाँघना, उल्लंघन करना (पतिं या नभिचारति मनोवाग्देहसंयता, सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते—मनु० ५।१६५)।

अभिचरः (पुं०) अनुचर, सेवक।

अभिचरणम् (न०) किसी बुरे उद्देश्य से किया जाने वाला अनुष्ठान।

अभिचरणीय (वि०) जादू करने योग्य।

अभिचारः (पुं०) एक तांत्रिक अनुष्ठान। जैसे—मारण विद्वेषण, वशीकरण आदि प्रयोग।

अभिचारक (वि०) अभिचार करने वाला, तांत्रिक (व्यक्ति)।

अभिचारज्वरः (पुं०) अभिचार द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्वर।

अभिचारणीय (वि०) अभिचार करने योग्य।

अभिचारिन् (वि०) अभिचारक, जो अभिचार करता हो।

अभि+छद् (पर०) (अभिच्छादयति) ऊपर से ढकना।

अभि+जन् (आत्म०) (अभिजायते) जात होना, उत्पन्न होना (कामात् क्रोधोऽभिजायते—गीता २।६२। शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते—गीता ६।४१)।

अभिजनः (पुं०) वंश, जाति, उत्पत्ति, कुलीनता, कीर्ति, प्रसिद्धि, जन्मभूमि, सेवक, वंश का मुखिया, परिवार, कुटुंब, वंशज (विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनोमदः। मदा एते अवलिप्तानामेत एव सतां दमाः—वेदांततत्त्वविवेक ७१)।

अभिजनवत् (वि०) कुलीन या उत्तम वंश का।

अभिजयः (पुं०) विजय, जीत।

अभिजात (वि०) परिणाम-स्वरूप उत्पन्न, उत्पन्न, उत्तम वंश में उत्पन्न, विनीत, अनुकूल, योग्य, उपयुक्त, प्रसिद्ध, सुंदर, विद्वान्।

अभिजाततन्त्रम् (न०) धनी, ज्ञानी, मानी व्यक्तियों के द्वारा राज्य-शासन-प्रणाली। इस प्रथा में मध्यवित्त तथा दरिद्र जनता का कोई भाग नहीं रहता, बल्कि इन पर अत्याचार-मूलक कानून लादा जाता है। प्राचीन समय में

प्रायः राजतंत्र था। राजा विद्वानों के द्वारा मंत्रि-सभा बना लेते थे। यदि कोई मंत्री प्रजा पर अत्याचार करता तो राजा उसे राज्य से निकाल देता और कभी-कभी दंड भी देता था। जनतंत्र में जनता के द्वारा मनोनीत कुछ बुद्धिमान और विद्वान लोग राजधानी में जाकर अधिकांश की सम्मति से कानून बनाकर शासनकार्य चलाते हैं। राजा के मंत्री तथा जनतंत्र के प्रजाप्रतिनिधियों के द्वारा निर्वाचित मंत्री प्रायः धनी, मानी, ज्ञानी, कुलीन वर्ग के ही होते हैं। इस कारण इन्हें भी किसी अंश में अभिजाततंत्र ही कहा जायगा।

अभिजातिः (स्त्री०) कुलीन वंश में उत्पत्ति या जन्म।

अभिजित (न०) दिन का अष्टम मुहूर्त (जो श्राद्ध के उपयोगी है); एक नक्षत्र, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के अंतिम १५ दंड तथा श्रवण नक्षत्र के प्रथम ४ दंड ये १९ दंड अभिजित का समय है (अतिसुललितकान्तिः सम्मतः सज्जनानां, ननु भवति विनीतश्चारुकीर्तिः सुवेशः। द्विजवर-सुरभक्तो व्यक्तवाङ्मानवः स्यात्, अभिजिति यदि सूतिर्भूपतिः स्वस्ववंशे—कोष्ठीप्रदीप)। विष्णु, एक यज्ञ, गवामयन यज्ञ का एक भाग। (यजेत—अभिजिद्विश्वजिद्भ्यां वा—मनु० ११।७४)। पुनर्वसु का पुत्र (हरिवंश); पुनर्वसु का पिता (विष्णुपुराण)।

अभिजित् (वि०) विजयी, पराजित करने वाला (पराभिजिद्गन्धवाहः—रामा० ६।१०९।१२); विजय में सहायता देनेवाला; अभिजित् नक्षत्र में जन्म ग्रहण करनेवाला।

अभिजितिः (स्त्री०) विजय, जीत।

अभिज्ञ (वि०) विज्ञ, निपुण, दक्ष, प्रवीण, पटु, अनुभवी।

अभि+ज्ञा (उभ०) (अभिजानाति, अभिजानीते) स्मरण करना, याद करना, जानना (इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते—गीता ४।१४)।

अभिज्ञा (स्त्री०) वस्तु का ज्ञान (अभिज्ञा चाभिवदन-मुपादानन्तथैव च, तथा चार्थक्रिया चेति व्यवहारश्चतुर्विधः—वेदांत-संज्ञावलिः १३७)। स्मरण, पहचान (नामस्मृत्योर-भिज्ञा स्यात्—नानार्थ०। अभिज्ञावचने लृट्—पाणिनि० ३।२।११२)। अलौकिक शक्ति, जो प्रधानतया पाँच प्रकार की है—दूर-दर्शन, दूरश्रवण, किसी की भी मूर्ति धारण, दूसरे के मन में प्रवेश करना, उसकी अवस्था तथा पूर्व वृत्तांत जानना। ऐसी-ऐसी अलौकिक शक्तियाँ कल्पित हैं। योगसाधन में मनुष्य को प्रवर्तित करने के लिए ये अर्थवाद मात्र हैं (अलौकिकः देखिए)।

अभिज्ञानपत्रम् (न०) प्रमाण-पत्र, सनद।

अभिज्ञानम् (न०) स्मृति, पुनर्ज्ञान, पहचान, स्मारक चिह्न, चंद्रमंडल का काला भाग।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् (न०) महाकवि कालिदास रचित एक संस्कृत नाटक का नाम। इसका कथानक इस प्रकार है। प्राचीनकाल में हस्तिनापुर में दुष्यंत नाम का एक राजा राज्य करता था। एकबार वह शिकार खेलने के लिए घने जंगलों में पहुँच गया। वहाँ कण्व ऋषि का आश्रम था। राजा एक हरिण का पीछा करते हुए उस आश्रम के पास आया। वहाँ एक सुंदर युवती लड़की अपनी दो सखियों के साथ आसपास के पौधों में जल सींच रही थी। एक सखी का नाम प्रियंवदा और दूसरी का नाम अनुसूया था। राजा ने एक सखी से पूछा कि यह सुन्दर कुमारी कौन है? उस सखी ने राजा को प्रणाम करते हुए कहा—"महाराज, यह अप्सरा मेनका की कन्या शकुंतला है। ऋषि के द्वारा यह अपनी कन्या की तरह प्रतिपालित हो रही है।" राजा ने कहा—"इस अनुपम सुंदरी को मैं अपनी रानी बनाना चाहता हूँ।" उसी समय गंधर्व रीति से माला बदलकर दोनों का विवाह हो गया।

ऋषि आश्रम में नहीं थे। उस समय संध्या हो गयी थी, रात को राजा वहीं रह गया। सुबह उठने पर ऋषि के न रहने से शकुंतला का विदा नहीं किया जा सका, इस कारण राजा शकुंतला को एक अंगूठी देकर अकेले ही हस्तिनापुर लौट आया। पति के चले जानेपर शकुंतला के दिन बहुत दुःख से बीतने लगे। इसी समय एक दिन ऋषि दुर्वासा आश्रम में आये। शकुंतला राजा की चिंता मे तल्लीन हो बैठी थी। उसने ऋषि को प्रणाम तक नहीं किया। दुर्वासा ने क्रोध में आकर उसे शाप दिया कि "जिसकी चिंता में डूबकर तूने मुझे प्रणाम नहीं किया, वह तुझे भूल जायगा।"

शकुंतला की सखियों को इस प्रकार शाप की बात सुनकर बड़ा भय हुआ। उन्होंने दुर्वासा ऋषि को सारी बातें बतायीं और उनसे क्षमा माँगी। तबतक ऋषि का क्रोध शांत हो चुका था। उन्होंने कहा—मेरा शाप मिथ्या नहीं हो सकता। पर राजा की दी हुई अंगूठी उन्हें दिखाने पर राजा शकुंतला को पहचान लेंगे।"

आश्रम में लौट आने पर कण्व ऋषि को शकुन्तला के विवाह की बात ज्ञात हुई। इससे वह बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने दो शिष्यों के साथ शकुन्तला को राजा के पास भेज दिया। रास्ते में नदी पार करते समय शकुन्तला के हाथ से वह अँगूठी जल में गिर पड़ी। परंतु शकुंतला को इसका पता न लगा।

शकुन्तला हस्तिनापुर पहुँची। शिष्य उसे राजा के पास ले गये। दुर्वासा के शाप के कारण राजा ने उसे नहीं पहचाना। शकुन्तला को बड़ा कष्ट हुआ। उसने कुछ देर के बाद अपने को सँभाल कर कहा—"आपकी अँगूठी मेरे पास है।" यह कहकर उसने अँगूठी को दिखाना चाहा, किंतु अँगूठी कहाँ? हाथ खाली देखकर वह स्तब्ध हो गयी।

राजसभा से निकल कर शकुन्तला फूट-फूटकर रोने लगी। दोनों शिष्य भी उसे वहीं छोड़कर चले गये। उसी समय उसकी माता मेनका आकाश में उड़ती हुई उधर से निकली। अपनी प्यारी कन्या को रोते देखकर वह उसे अपने साथ ले गई। मेनका कश्यप ऋषि के आश्रम में रहती थी। शकुन्तला भी वहीं रहने लगी।

शकुंतला की अँगूठी एक बड़ी मछली निगल गयी थी। वह मछली एक दिन मछुओं के जाल में फंस गयी। उन्होंने जब उसका पेट चीरा, तब वह अँगूठी निकल आयी। उस अँगूठी को बेचने के लिए एक मछुआ नगर में गया। कोतवाल को पता लगा तो उन्होंने मछुए से अँगूठी ले ली और उसपर राजा का नाम अंकित देखकर उसे राजा के पास भेज दिया। अँगूठी देखकर राजा को शकुंतला और उसके साथ अपने विवाह की बात याद आई। इससे राजा को बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने शकुंतला को ढूँढ़ने के लिए चारों दिशाओं में आदमी भेज दिया। पर कहीं शकुन्तला का पता नहीं मिला।

कुछ दिनों के बाद राजा दुष्यंत देवताओं के राजा इंद्र की सहायता के लिए स्वर्ग में युद्ध करने गया। लौटते समय उनका रथ कश्यप ऋषि के आश्रम में रुका। वहाँ राजा ने देखा कि एक सुन्दर स्वस्थ बालक सिंह के बच्चे के साथ खेल रहा है। एक स्त्री उस बालक से कह रही है—"तू इस बच्चे को क्यों नहीं छोड़ देता? वह अपनी माँ का दूध पी रहा था तू इसे क्यों घसीट लाया।"

बालक ने उत्तर में कहा कि "मैं इसके दाँत गिनूंगा" स्त्री ने कहा, "अगर तू बच्चे को न छोड़ेगा तो उसकी माँ तुझपर उछल पड़ेगी।" बालक ने कहा, "आने दो। क्या मैं सिंहिनी से डरता हूँ। मैं बच्चे के दाँत गिनकर ही छोड़ूंगा।" बालक को मिट्टी का मोर देकर उस स्त्री ने सिंहिनी के बच्चे को छुड़ा दिया। सिंह के बच्चे के साथ पाँच, छः वर्ष के बालक को खेलते देखकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। खेलते समय बालक की बांह से खुलकर गंडा भूमि पर गिर पड़ा। राजा उसे उठाने के लिए झुका। स्त्री ने चिल्लाकर कहा—"मत उठाइये, मत उठाइये। अरे, क्यों उठा लिया?"

परंतु राजा ने गंडा उठाकर बालक की बाँह में बाँध दिया। राजा को देखकर स्त्रियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। उनमें से एक ने पूछा कि "क्या आप महाराज दुष्यंत हैं?" राजा ने कहा, "हाँ, पर आपलोगों को कैसे मालूम हुआ?"

एक स्त्री ने कहा—"यह बालक महाराजा दुष्यंत का पुत्र है। इसकी रक्षा के लिए कश्यप ऋषि ने इसकी बाँह में गंडा बाँध दिया है। माता-पिता के अतिरिक्त यदि कोई इस गंडे को छूता है तो यह साँप बनकर उसे काट लेता है। कई लोगों को यह काट भी चुका है। जब इस गंडे को छूने पर भी यह साँप बनकर आपको नहीं काटा तो हमने जान लिया कि आप महाराज दुष्यंत हैं!"

राजा ने पूछा—"इस बालक की माता का नाम क्या है? एक स्त्री ने कहा—"शकुन्तला है महाराज!" उनमें से एक स्त्री ने तुरंत जाकर पति के आने का समाचार शकुन्तला को दिया। शकुन्तला से मिलकर महाराज दुष्यंत के हर्ष की सीमा न रही। उन्होंने अपनी भूल की क्षमा माँगी और शकुन्तला से हस्तिनापुर चलने के लिए विनय की। इसके अनंतर आश्रम के निवासियों से विदा लेकर शकुन्तला पति और पुत्र के साथ हस्तिनापुर चली गई।

सिंह के बच्चों के साथ बचपन में खेलने वाला यह बालक भरत आगे चलकर बहुत बड़ा राजा हुआ। अनेक देशों को जीतकर वह चक्रवर्ती राजा बना और उसी के नाम से हमारे देश का नाम 'भारत' पड़ा।

अभिज्ञानाभरणम् (न०) वह आभूषण जो किसी बात के स्मृति-चिह्न के रूप में उपस्थित किया जाय (चूड़ामणिमभिज्ञानं ददौ—भट्टिः)।

अभितप्त (वि०) जला हुआ, संतप्त।

अभितस् (अव्य०) पास में, समक्ष, सामने, सब ओर से, चारों ओर से, वेग से, शीघ्रता से ।

अभिताड़ित (वि०) खटखटाया हुआ, प्रहार किया हुआ ।

..भितापः (पुं०) भीषण गरमी, उद्वेग, पीड़ा, कष्ट ।

अभिताम्र (वि०) बहुत लाल ।

अभित्रिपिष्टप (वि०) तीनों लोकों से ऊपर होने या रहने वाला ।

अभिदक्षिणम् (अव्य०) दाहिनी ओर ।

अभिदत्त (वि०) प्रदत्त, पहुँचाया हुआ ।

अभिदष्ट (वि०) पीटा हुआ ।

अभिदीप् (पर०) (अभिदीपयति) चमकाना, चमकीला करना ।

अभिदूषित (वि०) आघात-प्राप्त, घायल ।

अभिदोहनम् (न०) बाद में दुहना ।

अभिदोह्य (वि०) बाद के दुहने योग्य ।

अभिद्रवः (पुं०), अभिद्रवणम् (न०) आक्रमण, चढ़ाई ।

अभि+द्रुह् (पर०) अभिद्रुह्यति) अपकार करना, हानि पहुँचाना, द्रोह करना, वैर करना (शत्रूनपि महाप्राज्ञो नाभिद्रुह्येत् कदाचन) ।

अभिद्रुह (वि०) अपकारक, विद्रोही ।

अभिद्रुह्यमाण (वि०) आघात पहुँचाया हुआ, हानि किया हुआ ।

अभिद्रोहः (पुं०) हानि, अपकार, षड्यन्त्र, गाली ।

अभिधर्मः (पुं०) बौद्ध दर्शन का सिद्धांत ।

अभिधर्मकोशः (पुं०) एक बौद्ध धर्म-ग्रंथ का नाम । कोश शब्द रहने के कारण इसे शब्दकोश नहीं समझना चाहिए । यह धर्मोपदेशों का कोष अर्थात् भंडार है । बौद्धाचार्य वसुबंधु ने सर्वास्तिवाद-सिद्धांत के अनुसार अभिधर्मकोश नामक एक ग्रंथ की रचना की थी । इसके धार्मिक उपदेश इतने सरल और लोकोपयोगी है कि लोग तोते की तरह इसके श्लोकों को रट जाया करते थे । अपने सिद्धांत के अनुसार अन्य दर्शनों की समीक्षा भी उन्होंने की थी । ग्रंथ पर भी आचार्य ने भाष्य की रचना की थी । आगे चलकर उसकी टीकाएँ भी निकलीं । चीनी यात्री ह्वेनसांग ने चीनी भाषा में इस नाम का एक ग्रंथ भी लिखा है और वह उपलब्ध भी है ।

अभिधर्षणम् (न०) प्रेतावेश, अनाचार, अत्याचार ।

अभि+धा (उभ०) (अभिदधाति, अभिधत्ते) कहना, बोलना । (कर्मवाच्य में अभिधीयते) कथित होना । बुद्धिमान मनुष्य 'मैं कूटस्थ हूं' ऐसा ज्ञान प्राप्त करने के योग्य है, ऐसा श्रुति (वेद) ने कहा है (कूटस्थोऽस्मीति विज्ञातुम् अर्हतीत्यभ्यधात् श्रुतिः— पंच० ७।१८) (कूटस्थः देखिए) । साधारण मनुष्य में अपने शरीर रूप गौण आत्मा में जिस प्रकार संदेह-रहित तथा निश्चित आत्मज्ञान है उसी प्रकार असंदिग्ध तथा निश्चित ज्ञान सत्य आत्मा में हो इसीलिए श्रुति ने "अयम् आत्मा ब्रह्म" (मांडुक्य० २) यही आत्मा ब्रह्म है ऐसा कहा है (असन्दिग्धाविपर्यस्तबोधो देहात्मनीक्ष्यते । तद्वद्‌अत्रेति निर्णेतुम् अयम् इत्यभिधीयते— पंच० ७।१९) । जो मेरे इस परम गुह्य उपदेश को मेरे भक्तों से कहेगा वह मुझे ही प्राप्त करेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है (य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति । भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः—गीता १८।६८) ।

अभिधा (स्त्री०) उपाधि, नाम, शब्दों के वाच्यार्थ का बोध कराने वाली शाब्दी भावना (मीमांसा) ।

अभिधातव्य (वि०) कहने के योग्य, नाम लेने योग्य, प्रकट करने योग्य ।

अभिधाध्वंसिन् (वि०) अवना नाम नष्ट करनेवाला ।

अभिधाव्थ (न०) नामवाला, अल्प निरूपता, शब्द, भविष्यत् वाक्य, उपाधि, पद, भाषण, निश्चित रूप से कथित वाक्य ।

अभिधानमाला (स्त्री०) शब्दकोश ।

अभिधानी (स्त्री०) शरण, आश्रय ।

अभिधानीय (वि०) नाम देने योग्य, कहनेलायक ।

अभिधायक (वि०) नाम रखने वाला, परिचायक, सूचक ।

अभिधायिन् (वि०) प्रकाशक, निरूपक ।

अभि+धाव् (उभ०) (अभिधावति, अभिधावते) अभिमुख जाना, किसी के सामने की ओर दौड़ना (श्वानोऽभिधावति मृगयूथम्) । आक्रमण करना, धावा बोल देना (तं सीताघातिनं मत्वा हन्तुं रामोऽभ्यधावत— भट्टि० ६।४१) ।

अभिधावनम् (न०) दौड़, पश्चाद्धावन, धावा, आक्रमण (नोचितमभिधावनं पलायनपरानरीन्) ।

अभिधित्सा (स्त्री०) नाम-यश की इच्छा ।

अभिधेतन [वेद] (क्रियापद) आक्रमण करो, (जीवान्नो अभिधेतन,—ऋ० ६-४-५१,५) ।

अभिधेय (वि०) नाम करने योग्य, प्रकाशित करने योग्य, बोलने योग्य ।

अभिधेयम् (न०) अभिप्राय, भाव, अर्थ, निष्कर्ष, प्रकरण, किसी शब्द का अविकल अर्थ ।

अभिध्या (स्त्री०), अभिध्यानम् (न०) इच्छा, आकांक्षा, चाह, चिंतन, ध्यान ।

अभिध्यायिन् (वि०) ध्यान करने वाला, ध्याता ।

अभिनद्ध (वि०) चारों ओर से बँधा हुआ ।

अभि+नन्द् (पर०) (अभिनन्दति) अभिनंदन करना, प्रशंसा करना, अनुमोदन करना, कामना करना, प्रसन्न होना (यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् । नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता—गीता० २।५७) ।

अभिनन्दः (पुं०), अभिनन्दनम् (न०) हर्ष, प्रसन्नता, प्रशंसा, बधाई, इच्छा, प्रोत्साहन, वंदना, स्वागत, अनुमोदन ।

अभिनन्दनीय (वि०) अभिनंदन करने योग्य, प्रशंसा के योग्य ।

अभिनन्दित (वि०) आनंदित, प्रसन्न, नमस्कार किया हुआ, नमस्कृत ।

अभिनन्दितृ (वि०) आनंददायक, हर्षदायक ।

अभिनन्दिन् (वि०) इच्छा करने वाला ।

अभिनन्द्य (वि०) प्रशंसनीय, वंदनीय ।

अभिनभस् (अव्य०) आकाश की ओर ।

अभिनम्र (वि०) झुका हुआ, विनीत ।

अभिनयः (पुं०) किसी व्यक्ति या अवस्था का अनुकरण । आजकल मुख्यतः नाटक के प्रदर्शन को भी अभिनय कहते हैं । जैसे—'रावण-वध' नाटक में एक-एक व्यक्ति के द्वारा राम के अंश का अभिनय, रावण के अंश का अभिनय आदि । अभिनय में सफल अभिनेता वह है जो अपनी वाणी, शारीरिक चेष्टा, भावभंगी, मुख-मुद्रा और वेश-भूषा के द्वारा दर्शकों को शब्दों के भावों का परिज्ञान और रस की अनुभूति कराता है। राम के अंश का अभिनेता के अभिनय की अपेक्षा यदि हनुमान के अंश का अभिनेता दर्शकों को अधिक मोहित कर सके तो वही सफल अभिनेता कहलाता है ।

आजकल चल-चित्रों में जो अभिनय प्रत्यक्ष होता है उसके मूल में विभिन्न पात्रों के द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों में अभिनय ही है। उस प्रकार के अभिनय के समय आलोक-चित्र लिये जाते हैं, साथ ही साथ ध्वनिग्राहक यंत्रों में पात्रों के भाषणों का ग्रहण भी कर लेते हैं। उन आलोंकचित्रों को तीव्र विजली के प्रकाश के सामने से खींचते जाने पर उनकी छाया एक रजत-पट पर जा सिरती रहती है। साथ ही साथ उस ध्वनिसंग्राहक यंत्र में ध्वनिविस्तारक यंत्र लगा कर शब्दों को निकालते जाते हैं। इस कृत्रिम छाया और ध्वनि को ही लोग चलचित्र का अभिनय ही मानते है ।

एक ही व्यक्ति विभिन्न पशुओं और पक्षियों की बोली बोलता है। यह भी एक प्रकार का अभिनय ही है। एक ही व्यक्ति विभिन्न पात्रों का भाषण बदल बदल कर कर सकता है। कहीं ऐसा भी तो देखा गया है कि एक व्यक्ति अपने मुखमंडल के अर्धांश में शिव का तथा दूसरे अर्धांश में काली का चित्र वनाकर एक रूमाल को गले से ऊपर की ओर ले जाकर सिर के पीछे बाँध देता है और उससे मुख के एक ओर का आधा अंश ढक रखता है। खुले अंश में शिव का चित्र हो तो वह गंभीर स्वर से शिव के उपयोगी शब्द बोलता है और नाचते हुए रूपाल को दूसरी ओर ले जाकर काली वन जाता है और स्त्रियों जैसी सुरीली ध्वनि से काली के उपयोगी शब्द ही बोलता है। एक ही व्यक्ति के दो प्रकार के रूपों को देखकर और दो प्रकार के पात्रों के भाषण सुनकर दर्शक बहुत ही प्रसन्न हो जाया करते हैं।

बहुरूपिये विभिन्न प्रकार के पशुओं और मनुष्यों का स्वांग बना कर भी अभिनय ही करते हैं।

एक साधारण मनुष्य का वालक भाग्यवश राज-सिंहासन पर बैठ कर राजा का अभिनय करता हैं। कथावाचक अंग-भंगी के साथ कथा कह कर अभिनय ही करता है। राजनीतिक जन मन में कुछ भी क्यों न रहे अपने दल के पक्ष में गरज-गरजकर भाषण देते हुए मानो अभिनय ही किया करते हैं।

मनुष्य संसार में अकेला आया और अकेला ही चला भी जायगा। किसी के साथ उसका कोई संबंध नहीं

है। परंतु पत्नी-पुत्र, प्रभु-भृत्य आदि अनेक मनुस्यों के साथ विभिन्न प्रकार के संबंधों की कल्पना करके पति, पिता, भृत्य, प्रभु, पितमह, मातामह, मौसा, फूफा आदि के रूप में जीवन भर अभिकय ही करता है। नाटक के अभिनय के समान जो बुद्धिमान व्यक्ति जीवन को भी अभिनय ही समझते हैं वह किसी भी अभिनय के साथ लिप्त नहीं होते और सदा निर्लिप्त रह कर आनंदमय जीवन बिताते हैं।

एक भावुक कवि ने कविता रचकर गाया था—

इस भव-रंगालय में पहन नट का साज।
कोई रायबहादुर कोई राजा-महाराज॥

अभिनव (वि०) बिल्कुल नया, नवीन, ताजा, अनुभवहीन।

अभिनवगुप्तः (पुं०) काश्मीर-निवासी एक प्राचीन पंडित का नाम। इनके पिता का नाम नरसिंह गुप्त तथा पितामह का वराहगुप्त था। इनका कुल विद्वत्ता और तांत्रिक साधना के लिए कश्मीर में वहुत प्रख्यात था। लोगों में इनके घराने का नाम चुखुल या चुखुलक प्रसिद्ध था। अभिनवगुप्त में ज्ञान की इतनी तीव्र पिपासा थी कि उसकी तृप्ति के लिए यह कश्मीर के वाहर जालंधर आये। वहाँ आकर उन्होंने अर्ध त्रंबक-मत के प्रधानाचार्य शंभुनाथ से कौलिक मत के सिद्धांतों और उपासना-तत्त्वों का भली-भाँति अनुशीलन किया।

अभिनवगुप्त तंत्र-शास्त्र, साहित्य और दर्शन के महान आचार्य थे। इन तीनों विषयों पर इन्होंने ५० से अधिक मौलिक ग्रंथों, टीकाओं और स्तोत्रों की रचना की है। इनके रचित ग्रंथ वोधपंचदशिका, मालिनीविजय, कार्तिक, परात्रिंशिकाविवरण, तंत्रालोक, तंत्रोच्चय, तंत्रवटधानिका, काव्य-कौतुक-विवरण, ध्वन्यालोक-लोचन तथा अभिनवभारती, भगवद्गीतार्थसंग्रह, परमार्थसार, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिणी, तथा ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विवृत्ति-विमर्शिणी आदि हैं।

अभिनवगुप्त का व्यक्तित्व वड़ा ही रहस्यमय है। अलंकार शास्त्र में ही आपकी विद्वत्ता विशेष रूप से प्रकट हुई थी। आपने अलंकार-शास्त्र को दर्शन के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किया। परंतु यह केवल तार्किक और रसिक ही नहीं थे बल्कि साधन-जगत में बहुत उन्नत साधक भी थे।

अभिनवगुप्ताचार्यः (पुं०) ईसा की १०-११वीं सदी। 'लोचन-कार' अभिनवगुप्त काश्मीरवासी थे। काव्यकौतुक के प्रणेता भट्टतौत एवं मट्टेन्दुराज इनके गुरु थे। यह प्रत्यभिज्ञावादी एवं शैवमत के अनुयायी थे। इनके 'गीता-भाष्य' में स्पन्द-कारिकाकार कल्लन्टेदुमट्ट का मत विवृत है। वृहत्प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी या वृहती-वृत्ति, शिवदृष्ट्यालोचना, एवं ध्वन्यालोक पर लोचन-टीका इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। यह टीका, चन्द्रिका टीका के आधार पर लिखी गई है। चन्द्रिका टीका भी अभिनवगुप्त के ही किसी पूर्व पुरुष द्वारा लिखी गई थी। लोचन में चन्द्रिका से विभिन्न मतों का उपसंहार करते हुए अभिनवगुप्ताचार्य ने लिखा है—'अलं पूर्ववंशैः सह विवादेन'। भट्टतौत-प्रणीत 'काव्य-कौतुक' पर इन्होंने विवरण नामक एक टीका की रचना की थी। अभिनव गुप्त स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पलाचार्य के प्रायः समकालिक ही थे।

अभिनवयौवन (वि०) तरुण, जवान।

अभिनवोद्भिद् (पुं०) नयी कली, अविकासित कली।

अभिनहनम् (न०) आँखों पर बाँधने की पट्टी।

अभिनिधानम् (न०) ऊपर रखना, बाद में स्थापित करना।

अभिनियुक्त (वि०) कार्य में तल्लीन, काम में व्यस्त।

अभिनिर्णयः (पुं०) पंचों का फैसला।

अभिनिर्मुक्त (वि०) परित्यक्त, सूर्यास्त के समय सोने वाला।

अभिनिर्याणम् (न०) प्रस्थान, शत्रु-सेना पर धावा।

अभि+नि+विश् (पर०) (अभिनिविशते) मन लगाना, ध्यान देना, एकाग्र होना, निविष्ट होना, आश्रय करना, आग्रह करना।

अभिनिविष्ट (वि०) प्रविष्ट, लिप्त, कृतसंकल्प, दुराग्रही, अनुरक्त (मूंढोमुधास्ति विषयाभिनिविष्टचेताः)।

अभिनिविष्टता (स्त्री०) संकल्प, दृढ़ प्रतिज्ञा, अपने स्वार्थ में तन्मयता।

अभिनिवृत्तिः (स्त्री०) संपादन, समाप्ति, पूर्णता।

अभिनिवेशः (पुं०) एकाग्रता, अनुरक्ति, उत्सुकता-पूर्ण अभिलाषा, योग में, पाँच क्लेशों में से एक, मृत्यु, मौत, मरणत्राश (अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः—योगदर्शन २।३)।

अभिनिवेशित (वि०) मग्न, डूबा हुआ, घुसाया हुआ।

अभिनिवेशिन् (वि०) लीन, अनुरक्त, मन को ध्यान में लगाने वाला।

अभिनिष्क्रमणम् (न०) बहिर्गत निकास।

अभिनिष्ठानः (पुं०) वर्णमाला का एक अक्षर।

अभिनिष्पतनम् (न०) बहिर्धावन, द्रुत वेग से युद्ध के लिए प्रस्थान।

अभिनिष्पत्तिः (स्त्री०) पूर्णता, समाप्ति।

अभिनिह्नवः (पुं०) प्रत्याख्यान, अस्वीकृति, दुराव, छिपाव, गोपन।

अभि+नी (उभ०) अभिनयति, अभिनयते) अभिनय करना, नाटक खेलना, अनुकरण या नकल करना।

अभिनीत (वि०) अभिनय किया हुआ, निकट लाया हुआ, पूर्णता को पहुँचा हुआ, योग्य, उचित, दयालु, अनुकूल, कुपित, स्थिर चित्त वाला।

अभिनीतिः (स्त्री०) हाव-भाव, मैत्री, सभ्यता, अभिनय, शिष्टता।

अभिनेतव्य, अभिनेय (वि०) अभिनय करने योग्य, नाटक के योग्य।

अभिनेता (पुं०) अभिनेतृ।

अभिनेतृ (पुं०) नाटक का पात्र, अभिनेता।

अभिन्न (वि०) जो भिन्न न हो, अपृथक्, अपरिवर्तित।

अभिन्नात्मन् (वि०) अभिन्नात्मा, दृढ़, मजबूत।

अभिन्यस्त (वि) जमा किया हुआ, संचित, परित्यक्त, कृष्णार्पित।

अभिन्यासः (पुं०) संचय, न्यास, रक्षित धन।

अभि+पत् (पर०) (अभिपतति) पश्चाद्धावन करना, पीछे दौड़ना, आक्रमण करना, धावा बोल देना (श्योनोऽभ्यभ्यपतत् गिरिश्शृङ्गे)।

अभिपतनम् (न०) समीप गमन, आक्रमण, प्रस्थान।

अभिपत्तिः (स्त्री०) समीप गमन, समाप्ति।

अभि+पद् (आत्म०) (अभिपद्यते) प्राप्त करना, पाना।

अभिपद्म (वि०) जिसके चमड़े पर लाल धब्बे हों, त्वचा पर लाल धब्बों वाला।

अभिपन्न (व०) समीप गया हुआ, आगत, आया हुआ, भागा हुआ, वश में किया हुआ, वशीभूत, पकड़ा हुआ, विपद्ग्रस्त, स्वीकृत, अभागा।

अभिपरिप्लुत (वि०) निमग्न, डूबा हुआ, कंपित।

अभिपरिहार (वि०) चारों ओर घूमने वाला।

अभिपालः (पुं०) रक्षा करने वाला, रक्षक।

अभिपालनम् (न०) रक्षण, सुरक्षा, प्रतीक्षा।

अभिपिङ्गल (वि०) ललौंहा, भूरा, कुछ लाली लिये हुए भूरे रंग का।

अभिपीडित (वि०) पीड़ा पहुँचाया हुआ, कष्ट दिया हुआ।

अभिपुष्ट (वि०) अनुमोदित, मंजूर करना, दृढ़ करना।

अभिपुष्प (वि०) फूलों से अच्छादित।

अभिपुष्पम् (न०) सर्वोत्तम पुष्प।

अभिपूजित (वि०) सम्मानित, स्वीकृत।

अभिपूरण (वि०) विह्वलकारी, अतिप्रबल।

अभिपूरणम् (न०) भरना, पूर्ण करने का भाव।

अभिपूर्य (वि०) भरने योग्य, पूरा करने योग्य।

अभिपूर्वम् (अव्य०) क्रमशः, अनुक्रम से।

अभिपोषणम् (न०) अनुमोदन, अनुसमर्थन, द्वितीय बार पुष्ट करना।

अभिप्रक्षरित (वि०) व र उँडेला हुआ।

अभिप्रणत (वि०) नत, झुका हुआ।

अभिप्रणयः (पुं०) स्नेह, कृपा, तोषण, तुष्टि।

अभिप्रणयनम् (न ०) पवित्र मंत्रों से संस्कार करने की क्रिया।

अभिप्रणीत (वि०) संस्कारित, प्रतिष्ठित, लाया हुआ।

अभिप्रतप्त (वि०) पीड़ा या ज्वर से संतप्त।

अभिप्रथनम् (न०) बिखेरना, फैलाना, ऊपर से डालना या ढकना।

अभिप्रदक्षिणम् (अव्य०) दाहिनी ओर।

अभिप्रदर्शनम् (न०) निर्देश, प्रकाशन।

अभिप्रधर्षणम् (न०) पीड़ा देना, आघात पहुँचाना।

अभिप्रपन्न (वि०) आगत, प्राप्त, लब्ध।

अभिप्रभङ्गिन् (वि०) पूर्णतया टूटने वाला।

अभिप्रमथ् (पर०) (अभिप्रमन्थयति) पूर्णरूप से मथना।

अभिप्रयाणम् (न०) स्वदेश छोड़कर अन्य देश गमन, देश-परिवर्तन ।

अभिप्रयायिन् (वि०) निकट पहुँचने वाला, आने वाला ।

अभिप्रवृत्त (वि०) पूरा होने वाला, भरा हुआ ।

अभिप्रवेशः (पुं०) भीतर प्रवेश ।

अभिप्रशुध् (पर०) (अभिप्रशोधयति) अच्छी तरह से साफ करना ।

अभिप्रसूत (वि०) भरा हुआ, पूरित, अनुमानित, उत्पन्न ।

अभिप्रस्थित (वि०) जो यात्रा के लिए प्रस्थान कर चुका हो ।

अभिप्रहत (वि०) ऊपर से प्रहार करने वाला ।

अभिप्रहित (वि०) इधर भेजा हुआ ।

अभिप्राप्त (वि०) पहुँचा हुआ, लब्ध ।

अभिप्राप्तिः (स्त्री०) पहुँच, लब्धि ।

अभिप्रायः (पुं०) तात्पर्य, आशय, विचार, इच्छा, सम्मति, विश्वास, संबंध, संदर्भ ।

अभिप्रीत (वि०) प्रसन्न, आनंदित ।

अभिप्रीतिः (स्त्री०) प्रसन्नता, हर्ष ।

अभिप्रेत (वि०) अभिलषित, स्वीकृत, अनुकूल, प्रिय ।

अभिप्रेप्सु (वि०) प्राप्त करने का इच्छुक ।

अभिप्रेरक (वि०) अपराध में उत्साह देने वाला । अपराध के संपादन में सहयोग देने के कारण अभिप्रेरक भी दंडनीय होता है। इसके लिए दोनों का मनोभाव तथा उद्देश्य समान होने चाहिए। भारतीय दंडविधान में अभिप्रेरक तथा अपराध-कारक दोनों को समान रूप से दंड देने की व्यवस्था है (भारतीय दंडविधान धारा १०८) ।

अभिप्रेरणम् (न०) अपराध में सहायता प्रदान । एक व्यक्ति स्वयं अपराध करता है। दूसरा इच्छा न रहते हुए भी अन्य के द्वारा उसकाये जाने पर अपराध करता है। दोनों के मनोभाव और उद्देश्य समान होने पर दोनों को समान दंड दिया जाता है ।

प्रयोजनवश जीव कार्य में नियोजित किया जाता है। प्रयोजन की प्रेरणा ही अभिप्रेरणा है। पशुओं में अभिप्रेरण का मूल आधार शारीरिक प्रयोजन है। परंतु मनुष्यों में शारीरिक के अतिरिक्त सामाजिक और सांस्कृतिक प्रयोजन भी अभिप्रेरण का कारण है ।

अभिप्रोक्षणम् (न०) छिड़काव, छिड़कना ।

अभिप्लवः (पुं०) निमज्जन, दुःख, उपद्रव ।

अभिप्लुत (वि०) मग्न, डूबा हुआ, दमन किया हुआ ।

अभिबाधितृ (वि०) पीड़ा देने वाला, कष्ट-कारक ।

अभिबुद्धिः (स्त्री०) ज्ञानेंद्रिय ।

अभिभञ्ज (वि०) तोड़ने वाला, नाश करने वाला, नाशक ।

अभिभर्तृ (अव्य०) पति के सामने, पति की ओर ।

अभिभवः (पुं०) पराजय, बलप्रयोग, दबाव, रोक, अनादर, फैलाव, उभाड़, दुमन, प्राबल्य, आधिक्य ।

अभिभवनम् (न०) दमन, स्वयं वशीभूत होने की क्रिया ।

अभिभावक (वि०) दमन करने वाला, वशीभूत करने वाला, जीतने वाला ।

अभिभावनम् (न०) दमन, वशवर्ती करने की अवस्था ।

अभिभावनीय (वि०) दमन करने योग्य, पराजित करने योग्य ।

अभिभाविन् (वि०) अभिभावक ।

अभिभावकः (पुं०) वक्ता, वकील, व्याख्याता ।

अभिभाषणम् (न०) बोलने या कहने की क्रिया ।

उत्तम भाषण, सभा के लिए लिखित या मुद्रित व्याख्यान, यथार्थ घटना का कथन । यथार्थ घटना का कथन सर्वत्र सत्य नहीं होता । जिससे प्राणी का हित या कल्याण होता है वहीं यथार्थ सत्य है (सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्—महाभारत शांतिपर्व) ।

किसी मनुष्य को पुलिस के सिपाही पकड़ ले गये—इसे देखकर कोई इस सत्य घटना को मित्रों से कहता फिरे तो वह वाक्य किसी का हितसाधक न होने से वृथा हो जाता है। एक लड़का अपने पड़ोसी के घर में घुस कर कुछ लेकर भाग रहा था । इसे देखकर दूसरा लड़का चिल्लाने लगा—"वह चोर कोई चीज लेकर वह भागा जा रहा है।" सुनकर उस मकान का मालिक अपनी कलाई-घड़ी मेजपर न देखकर दौड़ा और चोर से अपनी घड़ी छीन लाया । यहाँ उस वाक्य से गृहस्थ का उपकार

हुआ। अतः वह सत्य हो गया। एक ग्रामीण व्यक्ति अपने घर के सामने बैठकर हुक्का पी रहा था। इतने में सामने के रास्ते से एक भद्रपुरुष बेहतासा दौड़कर चले गये। थोड़ी देर बाद एक दूसरा डाकू-सा आदमी ने एक मोटा डंडा हाथ में उठाये उस ग्रामीण के सामने आकर हाँफने हुए पूछा—''तुमने देखा है, एक आदमी इधर आकर किधर गया!'' ग्रामीण ने कहा—''वह मेरे मकान के पीछे के बाँस की झाड़ी की बगल से खेतों में उतर गया है।'' वह डाकू सुनते ही उन खेतों में जाकर उसे खोजने लगा। उस ग्रामीण का वह मिथ्या वाक्य उस भद्र पुरुष की प्राणरक्षा होने से यथार्थ सत्य हो गया।

निष्कर्ष यह हुआ कि दूरदर्शी विद्वान व्यक्ति को वृथा या मिथ्या वाक्य न कह कर सदा ही लोकहित का वाक्य ही बोलना चाहिए।

सत्य बोलना चाहिए, प्रिय लगे ऐसी बात बोलनी चाहिए, अप्रिय लगे ऐसी सत्य बात भी नहीं बोलनी चाहिए, प्रिय लगे ऐसी मिथ्या बात भी नहीं बोलनी चाहिए यही सनातन धर्म है (सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एवं धर्मः सनातनः—मनुसंहिता)।

अभिभाषित (वि०) कहा हुआ, कथित, उच्चारित।

अभिभाषिन् (वि०) कहने वाला, बोलने वाला।

अभिभाष्य (वि०) कहने योग्य, कथनीय, बोलने योग्य।

अभि+भू (पर०) (अभिभवति) पराजित होना, हार जाना, अभिभूत होना, वशीभूत होना।

अभिभूत (वि०) वशीभूत, पराजित, विनीत, क्षतिग्रस्त, हानिप्राप्त, घायल।

अभिभूतिः (स्त्री०) पराजय; वशवर्तीकरण, अपमान, अधिकता, सर्वोत्कृष्टता।

अभिभूयस् (न०) श्रेष्ठता, उत्तमता।

अभिमत (वि०) अभीष्ट, अनुकूल, सम्मत, स्वीकृत।

अभिमतः (पुं०) अभिमानी, वह जो प्यार करता हो।

अभिमतम् (न०) इच्छा, अभिलाषा, अभिमत, सम्मति, मत, ज्ञानविषय। जो कहता है कि आत्मा से अभिन्न ब्रह्म को जाना नहीं जा सकता वही ठीक जानता है, और जो कहता है कि 'आत्मा को मैं जानता हूं' वह नहीं जानता; ज्ञानी के लिए आत्मा अज्ञेय है, जो 'आत्मा को जानता हूं' कहता है वह अज्ञानी है (यस्यामतं तस्य मतं, मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्—केनोपनिषद २।३)।

जीव के अंतःकरण की चार अवस्थाएँ हैं—मन संदेह करता है, बुद्धि निश्चय करती है, चित्त स्मरण करता है और अहंकार अभिमान करता है। अधिक अध्ययन करने तथा विद्वानों के भाषण सुनने से मनुष्य की बुद्धि में एक मत दृढ़ हो जाता है। उस मत के विरुद्ध बात सुनते हैं। उस व्यक्ति के मन में क्रोध उत्पन्न होता है, जिससे विरोध, मारपीट तथा हत्या तक हो जाती है। हमारे धार्मिक भारत में राजनीति के लोगों के द्वारा वैसी ही विकट परिस्थिति आज सर्वत्र दिखाई पड़ती है। मत का मूल्य ही क्या है? वह तो अंतःकरण की एक वृत्ति मात्र है। दो मनुष्यों में वैसी वृत्ति दो प्रकार की हो तो क्या एक दूसरे को मार डालेगा? अनंतकोटि ब्रह्मांडों की तुलना में हमारी इस पृथ्वी का परिमाण एक बालू के कण से भी छोटा है। ऐसी छोटी पृथ्वी की तुलना में मनुष्य कितना नगण्य है! ऐसे क्षुद्रादपि क्षुद्र मनुष्य के अंतःकरण की नन्ही सी वृत्ति को महत्त्व देना कितना बड़ा अज्ञान है! एक मनुष्य दूसरे मृत व्यक्ति को जीवित नहीं कर सकता तो उसे दूसरे को मारने का अधिकार कैसे मिल सकता है? सबसे बड़ा पाप हिंसा है। उसका फल अकालमृत्यु और अपघातमृत्यु है।

ईसामसीह कहते थे—''कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम अपना दूसरा गाल उसकी ओर बढ़ा देना, ताकि वह उस गाल पर भी थप्पड़ मार सके।'' आशय यह है कि, सभी ईश्वर के संतान हैं, मेरे शरीर से सब लोग सुख प्राप्त करें तो मेरा जीवन धन्य हो जायगा। मैं तो सबको सुख नहीं दे सकता। उसने मेरे एक गालपर थप्पड़ मारकर कुछ सुख पाया है, अब दूसरा गाल भी उसी की ओर बढ़ा देने से उसपर थप्पड़ मारकर वह और भी अधिक सुख पा सकेगा। अपने शरीर से इतना ही लाभ मुझे मिला। ईसामसीह ने नहीं कहा है कि 'कोई तुम्हारे गालपर थप्पड़ मारे

तो तुम भी उसके गालपर थप्पड़ मार दो।' तो भी उन्हीं के अनुयायी ईसाई लोग बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़कर लाखों ईसाइयों को मार डालते हैं।

पाकिस्तान बनाने वालों के दिमाग में ऐसा ख्याल आया था कि 'हम अलग मुल्क बनाकर उसे पाकिस्तान कहेंगे (पाक शब्द का अर्थ है पवित्र)। बुतपरस्त हिंदुस्तान नापाक यानी अपवित्र रह जायगा।'

अभि+मन् (आत्म०) (अभिमन्यते) विचार करना, चिंता करना, गर्व करना, अभिमान करना (तथा स्वं च स्वतः पश्यन्नहमित्यभिमन्यने—वश्वदशी ६।३७)।

अभिमनस् (वि०) इच्छुक, उत्सुक।

अभि+मन्त्र् (आत्म० अभिमन्त्रयते) मंत्रणा या परामर्श देना, दीक्षा देना, कान फूँकना।

अभिमन्त्रणम् (न०) मंत्र आदि पढ़कर किसी वस्तु को पवित्र करना, टोना-टोटका करना, उपदेश देना, संबोधन करना।

अभिमन्त्रित (वि०) अभिमंत्रण किया हुआ।

अभिमन्युः (पुं०) तृतीय पांडव अर्जुन का सुभद्रा-गर्भजात पुत्र। विराटराजतनया उत्तरा के साथ इसका विवाह हुआ था। अपने पिता से अस्त्रविद्या सीखकर बचपन में ही यह महापराक्रांत वीर हो गया था। महाभारत युद्ध के समय इसका वयस केवल १६ वर्ष का था। प्रथम दिन के युद्ध में ही इसने अपूर्व समर-नैपुण्य दिखाकर प्रचंड विक्रम से सहस्रों कौरव-सैनिकों का संहार किया तथा महावीर भीष्म की रथ-ध्वजा काट डाली। त्रयोदश दिन के युद्ध में अर्जुन श्रीकृष्ण की नारायणी सेना के साथ बहुत दूर जाकर लड़ रहे थे। इस मौके पर द्रोणाचार्य ने चक्रव्यूह की रचनाकर पांडवों पर आक्रमण कर दिया। पाँडवों में एक अर्जुन के अतिरिक्त कोई दूसरा चक्रव्यूह के भेदन करने का कौशल नहीं जानता था। केवल अभिमन्यु ने अपने पिता से उस व्यूह का भेदनकर उसमें प्रविष्ट होने का कौशल सीख लिया था परंतु उससे निकल आने का उपाय नहीं सीखा था। अपने ज्येष्ठ पितृव्य युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर भीषण साहस के साथ युद्ध करते हुए अभिमन्यु चक्रव्यूह में घुस गया; परंतु जयद्रथ के द्वार-रक्षा करने के कारण भीमादि दूसरे पांडवों में कोई भी उसका अनुसरण नहीं कर सके। अभिमन्यु उधर ध्यान न देकर अकेले ही कौरव-सेना का संहार करने लगा। इससे भयभीत होकर द्रोण-कर्णादि सात महारथी एकसाथ अभिमन्यु को चारों ओर से घेरकर उससे भयंकर युद्ध करने लगे और इस प्रकार अन्याय समर में उन्होंने उसका निधन कर डाला। उस समय पत्नी उत्तरा गर्भवती थी; उस गर्भ से अभिमन्यु का परीक्षित नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ। अभि (गत या प्राप्त है) मन्यु (क्रोध) जिसे वह अभिमन्यु है अर्थात् युद्धकाल में जिसे बहुत अधिक क्रोध प्राप्त होता था, यही अभिमन्यु शब्द की व्युत्पत्ति है (महाभारत)।

विष्णुपुराण के अनुसार चाक्षुष मनु के पुत्र का नाम भी अभिमन्यु था। नचला के गर्भ से उसका जन्म हुआ था।

कहते हैं—श्रीमती राधिका के लौकिक पति आयान का भी पूर्व नाम अभिमन्यु था।

कश्मीर में अभिमन्यु नाम के दो राजा थे। प्रथम अभिमन्यु शकाब्द के २०० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुआ था। उस समय कश्मीर में बौद्ध धर्म प्रचलित था। परंतु महाराज अभिमन्यु स्वयं शिवलिंग स्थापित करके प्रतिदिन नियमित पूजार्चना किया करता था। नागार्जुन आदि बौद्ध पंडित प्रायः राजसभा में आकर राजपंडितों से धर्म के संबंध में शास्त्रार्थ करते थे तथा पुराणों की वृथा निंदा करते थे। इस कारण नागजाति के लोगों ने कुपित होकर अनेक बौद्धों को मार डाला। चांद्रव्याकरणकार सुप्रसिद्ध वैयाकरण चंद्राचार्य महाराज प्रथम अभिमन्यु के सभापंडित थे।

कश्मीर के द्वितीय अभिमन्यु ८८० शब्दाब्द में प्रादुर्भूत हुआ था। उसके पिता का नाम क्षेमगुप्त था। उसे बचपन में ही राज्यभार सँभालना पड़ा था।

अभिमरः (पुं०) विनाश, युद्ध, हत्या, विश्वासघात नेड़ी, मेघन।

अभिमर्दः (पुं०) रगड़, युद्ध, मदिरा, शत्रु द्वारा उजाड़ा हुआ प्रदेश।

अभिमर्दनम् (न०) पीसना, पूर्ण करना, घर्षण, युद्ध, लड़ाई।

अभिमर्दित (वि०) चूर्णित, घर्षित।

अभिमर्शः (पुं०), अभिमर्शनम् (न०) स्पर्श, आक्रमण, अत्याचार, संभोग, ।

अभिमर्शक, अभिमर्शिन् (वि०) स्पर्श करने वाला, बलात्कार करने वाला ।

अभिमर्षः (पुं०), अभिमर्षणम् (न०)=अभिमर्श ।

अभिमादः (पुं०) उन्माद, नशा ।

अभिमानः (पुं०) अहंकार, गर्व, घमंड, हठ (दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च । अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्—गीता १६।४) । गीता के अनुसार अभिमान आसुरी सम्पद् अर्थात् एक महान दोष है। अज्ञान के कारण जीव में यह दोष उत्पन्न होता है। जो शरीर को अपना स्वरूप समझता है, वही उसमें अभिमान करता है। अपने रूप का अभिमान, बल का अभिमान, बुद्धि का अभिमान, विद्या का अभिमान, धन का अभिमान, यश का अभिमान आदि अनेक प्रकार के अभिमान मनुष्यों में दिखाई पड़ते हैं। इनमें रूप, बल, धन, यश आदि का अभिमान स्थूल और बुद्धि, विद्या आदि का अभिमान सूक्ष्म शरीर से संबंधित है। जो व्यक्ति शरीर से पृथक् आत्मा को अपना स्वरूप समझता है, वह कभी इस प्रकार का अभिमान नहीं कर सकता। शरीर छोटा, जड़ और अनित्य है और आत्मा सर्वव्यापक, चेतन, निराकार और नित्य है। शरीर का अभिमान करने वाला सदा मृत्युभय से शंकित रहता है। आत्मा का जन्म नहीं है और न मृत्यु ही है (न जायते म्रियते वा कदाचित्—गीता २।२०) (आत्मन् देखिए) ।

जीव के अंतःकरण में आत्मा का प्रतिबिंब पड़ता है, इसी से वह चेतन की तरह कार्य करने लगता है। जैसे तपाये जाने पर लोहे में दाहिका शक्ति आती है, उसी प्रकार जड़ अंतःकरण में चेतन आत्मा का प्रतिबिंब पड़ने से वह चेतन की तरह सोचने, विचारने, सुख-दुःखादि का अनुभव करने आदि कार्यों का संपादन करता है। अंतःकरण में आत्मा के प्रतिबिंब को ही जीव कहते हैं (आभास एव च—ब्रह्मसूत्र २।३।५०) । जिस प्रकार दर्पण में मुख का आभास पड़ता है, उसी प्रकार अंतःकरण में सच्चिदानंद आत्मा का आभास पड़ता है। जैसे दर्पणस्थ मुख यथार्थ मुख नहीं है, वैसे ही अंतःकरणस्थ चिदाभास यथार्थ जीव नहीं है। जिस आत्मा का वह आभास है, वही जीव का यथार्थ स्वरूप हैं। दर्पणस्थ मुखाभास यदि ऐसा अभिमान करे कि 'देखो, मैं कितना सुंदर हूं, कैसी नोकीली मेरी नाक है, कैसा प्रशस्त मेरा ललाट है, आदि तो वह उसका मिथ्या अभिमान है। उसक कहना चाहिए कि 'तुम लोग मेरे भीतर जो सुंदरता देख रहे हो वह अपनी सुंदरता नहीं है, यह असली मुख से उधार ली हुई सुंदरता है, वदि यथार्थ सुंदरता क आधार देखना चाहो तो इस दर्पण के बाहर असली मुख की ओर ताको। ठीक इसी प्रकार जीव भी जब ऐसा अभिमान करने लगे कि देखो मैं कितना सुंदर हुँ, मेरे शरीर में कितना बल है, मुझमें कैसी अच्छी बुद्धि है, मैं महान विद्वान् हूँ, धनवान हूँ, यशस्वीं हूँ आदि तो वह उसका मिथ्या अभिमान होगा। उसको कहना चाहिए कि तुम लोग मेरे भीतर जो सुंदरता, बल, बुद्धि, विद्या, यश आदि का विकास देख रहे हो वे मेरे अपने नहीं हैं। यदि अथार्थ सुंदरता, विद्या, बुद्धि, ज्ञान आदि देखना चाहते हो तो इस अंतःकरण के भीतर उस असली आत्मा की ओर दृष्टि डालो।

शरीर की सुंदरता मनुष्य की दृष्टि का भ्रम है। वस्तु की छाया चक्षुओं पर पड़ने से रूप का ज्ञान प्राप्त होता है। छाया पड़ने के लिए प्रकाश की सहायता अपेक्षित है। प्रकाश में सात रंग हैं। सूर्य मानो अपनी सात रंगों की रश्मियों के रथ पर सवार होकर दौड़ता रहता है। इसी कारण सूर्य को 'सप्ताश्व-वाहन' कहा गया है (लोकशाक्षी त्रिलोकेशः कर्ता हर्ता तमिस्रहा। तपनः तापनश्चेव शुचिः सप्ताश्ववाहनः—साम्बपुराण, सूर्यस्तोत्र) । सात रंग ये हैं—बैंगनी, आसमानी, नीला, हरा, पीला, नारंगी और लाल। अंग्रेजी में इन सातों रंगों के आद्यक्षरों को मिलाने से 'विबजीअर' होता है, जैसे—वि वाचलेर बैंगनी, आइ इंडिगो आसमानी, बी ब्लू नीला, जी ग्रीन हरा, वाइ यलो पीला, ओ आरेंज नारंगी और आर रेड लाल। प्रकाश के साथ-साथ वस्तुओं पर सातों रंग गिरते हैं। वस्तुओं में ऐसी शक्ति है, कि इन रंगों में से कुछों को अपने में मिला लेती हैं और कुछों को छोड़ देती हैं जिस रंग को वह वस्तु छोड़ती है, चक्षु पर उसी रंग की छाया पड़ती है, और वह उसी रंग की प्रतीत होती है। यदि कोई वस्तु प्रकाश

के सातों रंगों को सोख ले तो वह काली प्रतीत होगी। यदि कोई वस्तु एक भी रंग को न सोख सके तो वह श्वेत प्रतीत होगी। बहुत तेज गर्मी के कारण मनुष्य का रंग काला हो जाता है, जैसे—हब्शी। मेरु प्रदेश के बर्फीले स्थान में सूर्य की रश्मि बहुत ही कम पहुँचती है, इस कारण वहाँ के मनुष्य श्वेत होते हैं। जैसे—लैपलैंड-निवासी। अत्यधिक सूर्य-रश्मि प्राप्त होने के कारण हब्शी उसके सातों रंगों को पचा लेते हैं, इस कारण वे काले प्रतीत होते हैं और अत्यंत अल्प सूर्य-रश्मि प्राप्त होने के कारण लैपलैंड निवासी उसके एक भी रंग को पचा नहीं सकते, इसलिए वे श्वेत प्रतीत होते हैं। इस कारण किसी पुरुष या स्त्री का गोरापन उसका अपना नहीं है। वह तो सूर्य-रश्मि की एक छाया मात्र है। छाया तो कोई वस्तु ही नहीं है। इसी कारण सुंदरता को चक्षु का भ्रम-ज्ञान मात्र ही कहा गया है।

सुंदरता में लावण्य, कांति, मोहकता भी आती हैं तो वह भी जीव के मन की कल्पना मात्र है। शूकर को युवती शूकरी कर्दमाक्त होने पर भी सुंदर प्रतीत होती हैं। छछुंदरी को छछुंदर सुंदर देखता है। सिंहनी सिंह के सामने सुंदर है। परंतु मनुष्य के सामने उनमें से एक भी सुंदर नहीं है और न कोई मनुष्य उन जंतुओं के सामने सुंदर है। इसी कारण लावण्य, कांति या मोहकता जीव के मन की कल्पना मात्र है।

इस प्रकार के विचार से बुद्धिमान मनुष्य शरीर की कल्पित सुंदरता के लिए अभिमान नहीं करते। साधारण मनुष्य ही सुंदरता को सत्य समझकर उसपर अभिमान करता है और उस अभिमान का बुरा फल भी उसे भोगना पड़ता है।

किसी सुंदरी स्त्री के चर्म, मांस, आँसू, जल, रक्त, अस्थि आदि को पृथक् करके देखो, यदि उनमें कुछ भी रमणीयता दिखाई पड़े तो आनंद प्राप्त करो; नहीं तो वृथा ही क्यों मुग्ध होकर परिताप-प्राप्त होते हो? (त्वङ्मांसवाष्पवार्यम्त्रु पृथक् कृत्वावलोकय। रमस्व यदि रम्यश्चेत् किं मुधैव प्रताम्यसि ?—वैराग्यशतक ४४)।

बल दो प्रकार के हैं—शरीर-बल (पशु-बल) और अंतःकरण का बल बुद्धि-बल। बल शक्ति मात्र है। शक्ति वस्तु का आश्रय लेकर रहती है, जैसे—अग्नि में दाहिका शक्ति, वायु में गति-शक्ति, जल में पिपासा-निवृत्ति की शक्ति। शक्ति कभी-कभी वस्तु में लुप्त भी हो जाती है। तेज-तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है, उसमें दाहिका शक्ति नहीं प्रतीत होती। काष्ठों के घर्षण से अग्नि की उत्पत्ति होने पर दाहिका शक्ति प्रगट होती है। फिर उस अग्नि को बुझा देनेपर वह दाहिका शक्ति व्यापक तेज-तत्त्व में लीन हो जाती है। स्थिर वायु में गति-शक्ति नहीं रहती। घड़े में वायु भरी है, उस घड़े का मुँह अच्छी तरह बंद कर देनेपर उस घड़े को इधर-उधर हिलानेपर भी भीतर की वायु में गति नहीं होगी। जल जमकर बर्फ हो जानेपर वह पिपासा नहीं बुझा सकता। बर्फ में जल की पिपासा बुझाने की शक्ति लुप्त हो जाती है। बर्फ पिघलकर पुनः जल हो जानेपर उसमें पिपासा-निवृत्ति की शक्ति फिर से आ जाती है। जो वस्तु उत्पत्ति-विनाश-विशिष्ट है, वह अनित्य अर्थात् मिथ्या है (आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा—मांडूक्य-कारिका २।३५)। आदि और अंत में जो वस्तु नहीं रहती वर्तमान में भी वह वैसी ही है, अर्थात् नहीं के समान है। प्रतिदिन निद्रा के समय शरीर के रहते हुए भी बल लुप्त हो जाता है। माया-कल्पित मिथ्या संसार में मिथ्या का ही व्यवहार होता है। बल को मिथ्या जानकर व्यवहार-क्षेत्र में उसका सदुपयोग करने से सुख ही रहेगा; मिथ्या वस्तु पर अभिमान करके दुःख भोगना नहीं पड़ेगा।

बुद्धि अंतःकरण की एक वृत्ति मात्र है। वेदांतमतानुसार अंतःकरण पाँच सूक्ष्म भूतों के समष्टि सात्त्विक अंशों से उत्पन्न हुआ है। सात्त्विक अंशों में भी तारतम्य है। अंतःकरण के सत्त्वगुण की सोलह कलाएँ मानी गयी हैं। प्रस्तर, तृण, कीट, मछली, पक्षी, चूहा, बिल्ली, कुत्ता, मृग, सिंह, गौ, मनुष्य आदि उद्भिज्ज, स्वेदज, अंडज, जरायुज इन चार प्रकार के जीवों में क्रमशः अंतःकरण के सत्त्वगुण में एक-एक कला की वृद्धि होकर सभ्य मनुष्यों तक आठ कलाओं का विकास होता है। आठ से अधिक कलाओं का विकास होने पर जीव अवतार कोटि में गिने जाते हैं। श्रीकृष्ण सोलह कलाओं से पूर्ण अवतार कहे जाते हैं (एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—भागवत)। अंतःकरण में सत्त्वगुण की अधिकता के कारण मनुष्य बुद्धिमान कहलाता है। बुद्धि अधिक हो या अल्प,

है तो वह प्राकृतिक सत्त्वगुण हो (सत्त्व लघु प्रकाशकम्—सांख्यकारिका १३)। सत्त्वगुण प्रकाश करता है अर्थात् वस्तु का ज्ञान प्राप्त कराता है। जिस अंतःकरण में सत्त्वगुण का विकास होता है, वह स्वयं माया-कल्पित है (कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्रचित्प्रतिबिम्बकः—पंचदशी ६।२३)। बुद्धि कूटस्थ आत्मा पर कल्पित है, अतः उस कल्पित बुद्धि पर, चाहे वह कितनी ही विकास-प्राप्त क्यों न हो, विचारवान पुरुष अभिमान नहीं करते।

समस्त ज्ञान-प्रचारिका विद्याएँ जीव-कल्पित हैं। आधुनिक वैज्ञानिकों के मत से सृष्टि के आरंभ में जो आदि मानव थे, जो नंगे रहते थे, गुफाओं में या पेड़ों पर निवास करते थे, पशुओं को मार-मार कर उनका कच्चा मांस खा जाते थे, वे अपने मुख के शब्दों से ही अपने मन का भाव प्रगट करते थे। वे सांकेतिक शब्द ही उनकी भाषा या विद्या थी। आजकल के कोल, भील, नागा, कूकी आदि जंगली जाति के मनुष्यों के सांकेतिक शब्द ही उसका प्रमाण है। मनुष्य जब क्रमशः सभ्य होने लगे तो उन भाव-प्रकाशक सांकेतिक शब्दों को श्रेणीबद्ध करके उन्होंने अपनी भाषा बना ली। ऐसी भाषाएं देश-भेद से विभिन्न हो गयीं। कालांतर में सभ्यता के विकास के साथ-साथ उन-उन देशों के लोगों ने विभिन्न प्रकार के अक्षर बनाकर उस भाषा को लिपी-बद्ध कर लिया। भाषाओं के उन सांकेतिक शब्दों के अर्थों को लोगों ने सत्य मान लिया है। यथार्थ में शब्दों का कोई निर्धारित अर्थ नहीं है, क्योंकि एक देश के लोगों की भाषा का अर्थ दूसरे देश के लोग नहीं समझते। यदि शब्दों का अर्थ ईश्वर का बनाया या प्राकृतिक होता तो ईश्वर-सृष्ट जल के द्वारा पृथ्वी भरके समस्त जीव-जंतुओं की पिपासानिवृत्ति होने के समान सभी देशों के लोग उन शब्दों का अर्थ समझ लेते। इस विचार से निश्चय हो गया कि भाषा मनुष्य-कल्पित है। ऐसी कल्पित भाषा की विद्या पढ़कर विचारशील पुरुष को उस पर अभिमान नहीं होता। बल्कि भाषा को मिथ्या जानकर उसका सदुपयोग कर सकने से मनुष्य को आनंद ही प्राप्त हो सकता है।

धन भी मनुष्य-कल्पित है। धातु की मुद्राएँ और कागज के नोट धन रूप में गिने जाते हैं। धातु एक प्रकार की मिट्टी ही है। कागज भी मिट्टी से बने घास, बाँस आदि पेड़-पौधों के तरल गुद्दे को सुखाकर बनाया जाता है। अतः कागज भी मिट्टी का ही विकार है। धातु के टुकड़ों और कागज के खंडों पर मोहर लगाकर एक-एक देश में रुपए-पैसे के नाम से चलाये जाते हैं। एक देश की मुद्रा या नोट दूसरे देश में नहीं चलते। इस विचार से स्पष्ट है कि एक-एक देश के लोगों ने मिट्टी और कागज के टुकड़ों पर मोहर लगाकर उसे विनियम के माध्यम रूप से धन मान लिया है। अतः धन मनुष्य-कल्पित अर्थात् मिथ्या है। मिथ्या वस्तु पर अभिमान करना अज्ञान के सिवाय और क्या है?

मकान, जमीन आदि को भी लोग संपत्ति मानते हैं। जमीन ईश्वर की है, उसे अपना कहना अज्ञान है। मृत्यु के समय कोई भी जमीन को साथ नहीं ले जा सकता। शरीर को ही छोड़ना पड़ता है, तो जमीन की क्या बात है? जब मनुष्य भूमिपर विचरण करता है तब वह देखता है कि चारों ओर की मेढ़ों से घिरा हुआ यह खेत मेरा है, और वह खेत दूसरे का है, तभी वह अपने खेत के लिए अभिमान करता है। यदि वह आकाश में दो-तीन मील भी चढ़ जाय तो उसे पृथक-पृथक खेत नहीं दिखाई देंगे; सारे खेत एक ही मालिक के प्रतीत होंगे। अतः जमीन-जायदाद पर विचार-शील पुरुष में ममत्वाभिमान नहीं रह सकता।

मकान तो कोई चीज ही नहीं है। ईंटों को खोल-खोल कर फेंकने से मकान के नाम और रूप लुप्त हो जाते हैं। जो चीज त्रिकाल में नहीं है उसपर ममत्वाभिमान करना बुद्धिमान मनुष्य को कभी शोभा नहीं देता।

यश भी कोई वस्तु नहीं है। यश लोगों के मुख के प्रशंसा-वाक्य मात्र हैं। मुख के दो दंत-पंक्तियाँ, दो ओष्ठ, जिह्वा, तालु, मूर्धा, कंठ इन आठ स्थानों के संघात से उत्पन्न शब्द-समष्टि ही वाक्य है। शब्दों के अर्थ मनुष्य-कल्पित हैं, यह विषय ऊपर 'विद्या' शब्द की व्याख्या में बताया गया है। ऐसे मिथ्या वाक्यरूप यशपर अभिमान करके अपने को फुला लेना विचारशील व्यक्ति को कदापि उचित नहीं है।

पितृत्व, पतित्व आदि का भी लोग अभिमान करते हैं। पुत्र का एक नाखून, चमड़े या हड्डी का एक टुकड़ा, एक बूंद खून पिता तैयार नहीं कर सकते तो वह पुत्र उसका अपना कैसे हो सकता है? अपने घर के किस स्थान में कौन चीज है मालिक जानता है। पुत्र के शरीर

या मन के भीतर कहाँ-कहाँ क्या-क्या चीजें या भाव हैं पिता नहीं जान सकते । पिता अपने इच्छानुसार कन्या या पुत्र नहीं उत्पन्न कर सकते । तो पिता कैसे दावा कर सकते हैं कि यह पुत्र मेरा है या वह पुत्री मेरी है ? ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति के नियम से हर एक देश और हर एक जाति में प्रायः समान संख्या में पुत्रकन्याएँ उत्पन्न होते हैं । केवल जड़ प्रकृति होती तो किसी देश या किसी जाति में केवल पुत्र उत्पन्न होते और दूसरे देश या जाति में केवल कन्याएँ उत्पन्न होतीं । विभिन्न जातियों में विवाह की प्रथा न रहने से सौ, दो सौ वर्षों में पृथ्वी जनशून्य हो जाती । चेतन ईश्वर के विधान से ही सर्वत्र सामंजस्य है ।

पति भी अपनी पत्नी पर ममत्वाभिमान नहीं कर सकता । सयोग से उसका विवाह इस मनुष्य के साथ हो गया है । दूसरे से भी वह ब्याही जा सकती थी । पत्नी को ईश्वर की धरोहर समझकर उसे यत्न से पालने और उसकी सुरक्षा करने से जीवन भर सुख ही मिलता रहेगा ।

इस प्रकार के विचार से निश्चय हुआ कि अभिमान मनुष्यों में अज्ञान के कारण ही होता है । आत्मज्ञान होने पर अभिमान नहीं रहता । यदि अभिमान करना ही हो तो नाशवान शरीर के गुणों पर अभिमान न करके अनादि अनंत सर्वव्यापक सच्चिदानंद आत्मा पर करना चाहिए कि—'मैं आत्मा हूँ, ब्रह्म हूँ, जन्म-मृत्यु से रहित हूँ ।' इस अभिमान से मनुष्य स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के सारे क्लेशों से उसी क्षण मुक्त हो सकता है । अष्टावक्र मुनि ने राजा जनक से कहा था—यदि देहं पृथक् कृत्वा चिति विश्राम्य तिष्ठसि । अधुनैव सुखी शान्तो बन्धमुक्तो भविष्यसि—अष्टावक्रसंहिता १।३ । यदि तुम देह को पृथक कर चैतन्य-स्वरूप आत्मा में विश्राम प्राप्त कर सको अर्थात् चेतन आत्मा को ही अपना स्वरूप समझ सको तो इसी क्षण सुखी, शांत और बंधन-मुक्त हो जाओगे । यदि कोई मनुष्य आत्मा को "यही पुरुष मैं हूँ" इस प्रकार जान सके, तो वह किसकी इच्छा से किसके लिए शरीर के पीछे दौड़कर दुःख पायेगा ? (आत्मानं चेद् विजानीयाद् अयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत्—बृहदारण्यक ४।४।१२) अर्थात् आत्मा को निज स्वरूप जान लेनेपर मनुष्य तुरंत शारीरिक शोक-दुखों से मुक्त हो सकता है । यही जीवन्मुक्ति है ।

शरीर पर अभिमान करने से दुःख, क्लेश, यातना, शोक, मृत्यु आदि का भोग करना पड़ता है और आत्मा पर 'अहं अभिमान' करने से मनुष्य उन क्लेशों से बराबर के लिए मुक्त हो जाता है । वेदांत में 'अहं' शब्द के तीन प्रकार के अर्थ बताये गये हैं । उनमें एक मुख्य और दो अमुख्य अर्थ हैं (एको मुख्यो द्वावमुख्यावित्यर्थस्त्रिविधोऽहमः—पंचदशी ७।६) । अल्पज्ञ व्यक्ति कूटस्थ आत्मा और अंतःकरण में उसका प्रतिबिंब तथा स्थूल सूक्ष्म शरीर इन सब में अन्योन्याध्यास के द्वारा एक में मिलाकर 'अहं' शब्द का प्रयोग करते हैं यही उसका मुख्य अर्थ है । स्वर्गसुखकामी तपस्वी व्यक्ति स्थूल शरीर के सुख की उपेक्षा करके केवल सूक्ष्म शरीर पर अहंअभिमान करते हैं । आत्मज्ञानी शरीरों को पृथक् करके शुद्ध कूटस्थ आत्मा पर ही 'अहं' अभिमान करते हैं । ये दोनों अहं शब्द के अमुख्य अर्थात् गौण अर्थ हैं । विरले ही महात्मा इस अंतिम प्रकार के अभिमान करते हैं । इसी कारण इन्हें गौण कहा गया है । यथार्थ में जीव आत्मा है, वह न मनुष्य है और न देवता या यक्ष ही, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृही, वानप्रस्थी या संन्यासी भी नहीं है, वह केवल निज-बोध-रूप आत्मा है (नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः । न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः—हस्तामलक २) अभिमान पतन का कारण है—सभी देशों के अनुभवी विद्वानों का यही अभिमत है । अपनी शक्ति का अभिमान किया था—रावण ने, शिशुपाल ने, कंश ने दुर्योधन ने, नेपोलियन और हिटलर ने, जिनका पतन संसार में प्रसिद्ध है । अपने चारों ओर हम भी अभिमानियों का पतन प्रतिदिन देखते रहते हैं । अतः सिद्धांत यह निकला कि दुःखों के कारण-रूप अज्ञान से ही अभिमान की उत्पत्ति होती है, जिसका परित्याग बुद्धिमान मनुष्य को सब प्रकार के प्रयत्नों से करना उचित है ।

अभिमानवत् (वि०) अभिमानवान, अहंकारयुक्त, अभिमानी, अधिष्ठाता । मनुष्य अपने धन, जन, विद्या, बुद्धि आदि का अभिमान करता है । साधारण मनुष्य जड़ शरीर पर चेतन आत्मा का अभिमान करता है कि यह शरीर ही मैं हूँ । ऐसा अभिमान बुद्धिमान मनुष्य को नहीं करना चाहिए (अभिमानः देखिए) ।

प्राणी में तीन शरीर माने गये हैं । स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर । स्थूल शरीर रक्त-मांस-

हड्डी-चमड़े का है। सूक्ष्म शरीर में १७ अंग हैं—पाँच कर्मेंद्रियाँ, पाँच ज्ञानेंद्रियाँ, पाँच प्राण, मन और बुद्धि। कारण शरीर केवल अज्ञानरूप है और आत्मा के प्रतिबिंब के अति समीप रहने के कारण यह आनंदमय है। सभी लोग कहते हैं कि शरीर मेरा है। मेरा पुत्र, मेरा मकान, मेरा वस्त्र आदि कहने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'मैं' और 'मेरा' अलग-अलग है। अतः जड़ शरीरों के धर्मों में चेतन आत्मा को अभिमान नहीं होना चाहिए। व्यवहार करते समय ज्ञानी को भी शरीरों का आश्रय लेना पड़ता है, परंतु वह पृथक् जानते हुए भी ऐसा अभिमान करते हैं। इस प्रकार स्थूल शरीर में अभिमानी आत्मा का नाम विश्व, सूक्ष्म शरीर में अभिमानी आत्मा का नाम तैजस और कारणशरीर में अभिमानी आत्मा का नाम प्राज्ञ है (सा कारणशरीरं स्यात् प्राज्ञस्तत्राभिमानवान्। प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते। तैजसा विश्वतां याता देवतीर्यङ्नरादयः—पंचदशी १।१७, २४, २८)।

साधारण मनुष्य आत्मा शरीरों से पृथक् है, यह न जानकर शरीरों में अभिमान करके शोक-दुःख भोगता रहता है। परंतु आत्मज्ञानी आत्मा को शरीरों से पृथक् जानकर व्यावहारिक क्षेत्र में प्रयोजनवश शरीरों में अभिमान करने पर भी उनके शोक-मोहादि धर्मों से अपने को लिप्त नहीं करते। इस प्रकार जीवित रहते हुए भी वे मुक्त हो जाते हैं (जीवन्नेव भवेन्मुक्तः इति वेदान्तडिण्डिमः—वेदांतसिद्धान्तमुक्तावलि)।

अभिमानशालिन् (वि०) घमंडी, गर्वीला।

अभिमानशून्य (वि०) आत्मश्लाघा से रहित, गर्वहीन।

अभिमानितम् (न०) मैथुन, संभोग।

अभिमानिन् (वि०) अहंकारी, घमंडी।

अभिमुख (वि०) सम्मुख, सामना करने वाला। युद्ध में शत्रु का सामना करके जो हत होता है, वह सूर्यमंडल का भेदन करके स्वर्ग पहुँच जाता है (द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमंडलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः—महाभारत, शांतिपर्व)।

अभिमुखम् (न०) सामने मुँह किये हुए।

अभिमुखीकरणम् (अव्य०) सामने की ओर मुँह घुमाना, भाषण देना।

अभि + मुच् (पर०) (अभिमुञ्चति) जाने देना, खोल देना। (आत्म०) धनुष से बाण छोड़ना।

अभि + मुह् (पर०) अभिमुह्यति) मोह प्राप्त होना, होश खो देना, अचेत हो जाना।

अभि + मृद् (पर०) (अभिमृद्नाति) पीसना, मलना, पीड़न करना, उच्छेद करना।

अभि + मृश् (पर०) (अभिमृशति) स्पर्श करना, छूना।

अभिमृष्ट (वि०) स्पर्श किया हुआ।

अभिमेथनम् (न०) अपमानयुक्त भाषण या कथन, अपमानजनक बोली।

अभि + या (पर०) (अभियाति) समीप जाना, पास पहुँचना, धावा बोलना, आक्रमण करना।

अभियाचनम् (न०), अभियाचना (स्त्री०) प्रार्थना, माँग, दावा।

अभियात (वि०) आक्रमण किया हुआ, धावित, समीप पहुँचा हुआ।

अभियातिः (स्त्री०), अभियातिन् (पुं०) शत्रु, दुश्मन।

अभियानम् (न०) समीप आगमन, सैनिक कार्य या खोज के लिए यात्रा, कूच, आक्रमण, चढ़ाई, धावा।

अभियुक्त (वि०) किसी काम में लगा हुआ, व्यस्त, पारदर्शी, विद्वान्, प्रतिवादी, नियुक्त।

अभियुक्तिः (स्त्री०) अभियोग, दोषारोप, इलजाम लगाना।

अभि + युज् (उभ०) (अभियुनक्ति, अभियुङ्क्ते) अभियोग करना, दोष लगाना, आक्रमण करना, उद्योग करना, उद्यम करना।

अभियोक्तव्य (वि०) दोषारोपण के योग्य, अभियोग लगाने के योग्य।

अभियोक्तृ (वि०) अभियोग उपस्थित करने वाला।

अभियोक्तृ (पुं०) वादी, शत्रु, आक्रमण करने वाला, वह व्यक्ति जो झूठा दावा या नालिश करता हो।

अभियोगः (पुं०) अर्जीदावा, नालिश, मनोनिवेश, अध्यवसाय, उद्योग, लगन, चढ़ाई, धावा।

अभियोगपत्रम् (न०) दोषारोपण का प्रार्थनापत्र, वादपत्र, अर्जीदावा।

अभियोगिन् (वि०) दोषी ठहराने वाला, आक्रमण करने वाला, मनोनिवेशित, संलग्न।

अभियोगिन् (पुं०) वादी, मुद्दई, शत्रु, विपक्षी।

अभियोजनम् (न०) उपयोगीकरण, युक्त करना, मिलाना, जोड़ना, अनुकूल बनाना।

अभियोज्य (वि०) वाद-योग्य, अभियोग करने योग्य, व्यवहार्य ।

अभियोज्यदोषः (पुं०) अभियोग करने योग्य अपराध। एक पेन्सिल चुराना अभियोज्य दोष नहीं है, किंतु एक घड़ी चुराना अभियोज्य दोष है।

अभि+रक्ष् (पर०) (अभिरक्षति) विशेष रूप से रक्षा करना, बचाना (भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि—गीता १।११)।

अभिरक्षणम् (न०), अभिरक्षा (स्त्री०) सर्वत्र रक्षण, रखवाली, जिम्मा ।

अभिरक्षित (वि०) रक्षा किया हुआ, शासित ।

अभिरक्षितृ (वि०) रक्षा करने वाला ।

अभिरक्ष्य (वि०) रक्षा के योग्य ।

अभिरञ्जित (वि०) रंगा हुआ, रंगीन ।

अभिरतिः (स्त्री०) हर्ष, आनंद, अनुराग, भक्ति ।

अभि+रम् (आत्म०) (अभिरमते) आसक्त होना, रम जाना, अनुरक्त या लीन होना (विद्यासु विद्वानिव सोऽभिरमे—भट्टि) ।

अभिरम्भित (वि०) आलिंगन किया हुआ, किसी के द्वारा पकड़ा हुआ ।

अभिराम (वि०) सुंदर, मनोहर, अनुकूल, मधुर, हर्षयुक्त ।

अभिरामता (स्त्री०) अनुकूल होने की स्थिति, प्रियता, सुंदरता ।

अभिरुचिः (स्त्री०) अभिलाषा, यश की आकांक्षा, प्रवृत्ति ।

अभिरुचित (वि०) प्रेम करने वाला, चाहने वाला, प्रेमपात्र, प्रसन्न करने वाला, आनंददायक ।

अभिरुत (वि०) शोर-गुल से परिपूर्ण ।

अभिरुतम् (न०) चिल्लाहट, हो-हल्ला, पक्षियों की चहचहाहट ।

अभिरुषित (वि०) अत्यन्त कुपित या क्रुद्ध ।

अभिरूप (वि०) सदृश, हर्षपूर्ण, प्रेमप्रात्र, बुद्धिमान, मनोहर ।

अभिरूपः (पुं०) चंद्रमा, शिव, विष्णु, कामदेव ।

अभिरूपपतिः (पुं०) वह स्त्री जिसका पति अनुकूल हो, एक व्रत जो अच्छा पति पाने के लिए किया जाता है। (अभिरूपपति कन्या प्रपन्ना शुभकर्मभिः) ।

अभिरूपवत् (वि०) सुंदर, रूपवान ।

अभिलक्ष् (पर०) (अभिलक्षयते) दिखाई देना ।

अभिलक्ष्य (वि०) निश्चित होने योग्य, जाहिर होने योग्य ।

अभिलङ्घनम् (न०) लाँघना, कूद जाना ।

अभिलङ्घिन् (वि०) उल्लंघन करने वाला, अतिक्रमण करने वाला ।

अभि+लप् (पर०) (अभिलपति) अपलाप करना, अस्वीकार करना, इन्कार करना ।

अभिलषणम् (न०) इच्छा, कामना ।

अभिलषित (वि०) वांछित, इच्छित ।

अभिलषितम् (न०) चाह, इच्छा, आकांक्षा ।

अभिलापः (पुं) भाषण, कथन, वर्णन, किसी धर्मानुष्ठान का संकल्प ।

अभिलावः (पुं०) खेत की निराई, कटाई ।

अभिलाषः, अभिलासः (पुं०) इच्छा, कामना, मनोरथ ।

अभिलाषिन्, अभिलासिन्, अभिलाषुक (वि०) इच्छुक, चाहने वाला, लालची, लोभी ।

अभि+लिख् (पर०) (अभिलिखति) चित्र खींचना, लकीरों से रूप या आकार बनाना; निविष्ट होकर लिखना ।

अभिलिखितम् (न०) लेख, लिखावट ।

अभिलीन (वि०) संलग्न, सटा हुआ, तल्लीन ।

अभिलेखः (पुं०) विशेष महत्त्व का लेख । प्रस्तर, धातु, ईंट, मिट्टी की तख्ती, काष्ठ, ताड़पत्र आदि कठोर पदार्थों पर उत्कीर्ण विज्ञप्ति, प्रचार, स्मृति आदि के लिए लेखों को अभिलेख कहा गया है । (अशोक का अभिलेख) । प्रस्तर आदि पर लौह शलाका से, हथौड़े से ठोंक-ठोंक कर अभिलेख लिखे जाते थे । आजकल मिट्टी की खुदाई से अनेक स्थानों में प्राचीन राजाओं के अनेक अभिलेख पाये गये और पाये जा रहे हैं । इन अभिलेखों से हम प्राचीन लेखन-पद्धति, उस समय के राजाओं के विवरण, सामाजिक अवस्थाओं के चित्रण, व्यवहृत होने वाले बर्तन, खिलौने आदि के गठन आदि जानते है ।

सार्वजनिक, वैयक्तिक, राजकीय या अन्य संस्था-संबंधी लिखित कागज, मानचित्र आदि भी अभिलेख कहलाते हैं । मकान आदि के क्रय-विक्रय संबंधी कागज-पत्र, जो रजिस्ट्री आफिस में दाखिल किये जाते हैं अभिलेख ही हैं ।

अभिलेखनम् (न०) प्रमाण के लिए लिख रखना या दर्ज कर लेना।

अभिलेखन्यायालयः (पुं०) अभिलेखाधिकरणम्।

अभिलेखाधिकरणम् (न०) सरकारी कागजात रखने की कचहरी, रजिस्ट्री आफिस।

अभिलेखित (वि०) लिखाया हुआ प्रमाण।

अभिवञ्चित (वि०) छल किया हुआ, धोखा दिया हुआ।

अभि+वद्+णिच् (आत्म०) (अभिवादयते) अभिवादन करना, प्रणाम करना। (तातः प्राचेतसान्तेवासी लवोऽभिवादयते—उतर० ६। भगवन्! अभिवादये—विक्रम० ५)।

अभिवदनम् (न०) संबोधन, प्रणाम, नमस्कार।

अभिवन्दनम् (न०) सम्मानपूर्वक प्रणाम।

अभिवर्षणम् (न०) वर्षा, वृष्टि।

अभिवादः (पुं०), अभिवादनम् (न०) आदरपूर्वक प्रणाम।

अभिवादक (वि०) प्रणाम करने वाला, विनम्र, सुशील।

अभिवादनम् (न०) प्रणाम, नमस्कार, जिसमें प्रत्युत्थान, पादोपसंग्रह भी हैं। वृद्धों का अभिवादन करने तथा सदा उनकी सेवा करने वाले को चार वस्तुओं की प्राप्ति होती है—आयु, विद्या, यश और बल (अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वारि संप्रवर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बालम्—मनु २।१५१)।

अभिवादनीय (वि०) नमस्कार-योग्य, अभिवादन करने के योग्य।

अभिवादयितृ (वि०) अभिवादन करने वाला, प्रणाम करने वाला।

अभिवादित (वि०) अभिवादन किया हुआ।

अभिवादिन् (वि०) कहने वाला, कथन करने वाला, वर्णन करने वाला।

अभिवाद्य (वि०) अभिवादन के योग्य, अभिवादनीय।

अभिविख्यात (वि०) जाना हुआ, प्रसिद्ध।

अभिविज्ञप्त (वि०) सूचित, सूचना दिया हुआ।

अभि+वि+ज्वल् (पर०) (अभिविज्वलति) प्रज्वलित होना, प्रकाशित होना (तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति—गीता० ११।२८)।

अभिविधिः (पुं०) व्याप्ति, मर्यादा, अंतर्भुक्त करने का भाव।

अभिविश्रुत (वि०) सर्वश्रेष्ठ, जगत्प्रसिद्ध।

अभिविहित (वि०) संपूर्णतया आच्छादित किया हुआ।

अभिवीक्षित (वि०) जाना हुआ, ज्ञात, देखा हुआ।

अभिवीर (वि०) योद्धाओं द्वारा घिरा हुआ, वीरों के बीच वीरता करने वाला।

अभि+वृत् (आत्म०) (अभिवर्तते) किसी की ओर जाना, आगमन करना।

अभिवृत (वि०) किसी के द्वारा घिरा हुआ, आवेष्टित।

अभिवृद्ध (वि०) बढ़ा हुआ, उत्थित, उन्नत।

अभिवृद्धिः (स्त्री०) बढ़ती, उन्नति, सफलता।

अभि+वृध् (आत्म०) (अभिवर्धते) वर्धित होना, बढ़ना (न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति, हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते–श्रुति०)।

अभिव्यक्त (वि०) प्रत्यक्ष, घोषित, स्वच्छ।

अभिव्यक्तिः (स्त्री०) प्रकाशन, घोषणा, उच्चारण, कारण में से कार्य वस्तु का अप्रत्यक्ष सूक्ष्म रूप से आविर्भाव जैसे—बीज से अंकुर (सांख्य)।

अभिव्यक्तिस्वातन्त्र्यम् (न०) स्वतंत्र देश में भाषण और लेख द्वारा अपना अभिमत प्रकाशित करने की स्वतंत्रता है, किंतु राष्ट्रविरोधी या सांप्रदायिक विद्वेष संबंधी भाषण अपराधजनक तथा दंडार्ह है।

अभिव्यञ्जक (वि०) प्रकाशक, निर्देशक, सूचक, बोधक (गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ—साहित्यदर्पण १)।

अभिव्यञ्जनम् (न०) प्रकाशन, प्रकटन, मनका भाव व्यक्त या सूचित करण।

अभिव्यादानम् (न०) दबा हुआ शब्द, एक ही शब्द का वार-वार उच्चारण।

अभिव्याघिन् (वि०) आघात करने वाला, चोट पहुंचाने वाला।

अभि+व्याप् (पर०) (अभिव्याप्नोति) व्याप्त करना, विस्तार करना, आच्छादित करना, अंतर्भुक्त करना, संमिलित करना, घेरना।

अभिव्यापक, अभिव्यापिन् (वि०) अच्छी तरह प्रचलित होने वाला, सम्मिलित, व्याप्त, अंतर्भुक्त। जैसे तिल में तेल अभिव्यापक है।

अभिव्याप्त (वि०) संलग्न, अंतर्भुक्त ।

अभिव्याप्तिः (स्त्री०) सर्वव्यापकता,, अंतर्भुक्तता ।

अभिव्याप्य (वि०) अंतर्भुक्त होने के योग्य, संयुक्त होने के योग्य ।

अभिव्याप्यम् (न०) नियम की वैधता ।

अभिव्याहरणम् (न०), अभिव्याहारः (पुं०) उच्चारण, कथन, नाम, उपाधि ।

अभिव्याहारिन् (वि०) कहने वाला, उच्चारण करने वाला ।

अभि + व्याहृ (पर०) (अभिव्याहरति) उच्चारण करना, कहना, उत्तम रूप से वर्णन करना ।

अभिव्याहृत (वि०) उच्चारित, कथित ।

अभिव्याहृत्य (वि०) जो कहा गया हो । (क्रि. वि.) कह कर ।

अभिव्लङ्गः (पुं) धावित होना, धावा करना, आक्रमण करना, हटाना, दूर करना (मासां तिस्रः पञ्चाशतोऽभिव्लङ्गैरपावपः—ऋग्वेद १।११३।४) ।

अभि + शंस् (पर०) (अभिशंसति) प्रशंसा करना, गुण बताना (किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि ?—रामा. २।२३।७) । निंदा करना, दोषारोप करना, कलंक लगाना (महापापोपपापाभ्यां योऽभिशंसेन्मृषा परम्—याज्ञवल्क्यस्मृति, प्रायश्चित्त ५।२८५) ।

अभिशांसक, अभिशंसिन् (वि०) दोषी ठहराने वाला, अपमान करने वाला, कलंक लगाने वाला ।

अभिशंसनम् (न०) आरोप, दोषारोप, निंदा, अपमान (पंचासद्ब्राह्मणो दण्ड्यः क्षत्रियस्याभिशंसने—मनु०८।२६८)। अपराध-निर्णय, दोषसिद्धि, इस बात का निर्णय या कथन कि अभियुक्त पर लगाया हुआ दोष प्रमाणित हो गया है और उसके फलस्वरूप उसे यथायोग्य दंड भी मिला है ।

अभिशंसित (वि०) न्यायालय में जिसका दोषी होना प्रमाणित हो गया है तथा उसके फलस्वरूप जिसे यथायोग्य दंड भी मिला है ।

अभिशङ्का (स्त्री०) संदेह, शक, चिंता, भय ।

अभिशङ्कित (वि०) जिसे संदेह हुआ हो, संशययुक्त ।

अभिशङ्किन् (वि०) संदेह करने वाला, चिंता करने वाला ।

अभिशङ्क्य (वि०) संदेह के योग्य ।

अभि + शप् (उभ०) (अभिशपति, अभिशपते) अभिशाप देना, सराप देना, कोसना, मिथ्या दोषारोप करना ।

अभिशपनम् (न०), अभिशापः (पुं०) शाप, सराप, बहुत बड़ा दोषारोपण, अपवाद, निंदा, बदनामी ।

प्राचीन समय में कोई ऋषि किसी निंदित कार्य करने वाले व्यक्ति को अभिशाप दिया करते थे और फलस्वरूप वह निंदित कार्य करने वाला व्यक्ति दुर्दशाग्रस्त भी हुआ करता था, ऐसा लिखा है । आजकल भी भारी कुकर्म करने वाले व्यक्ति को कोई व्यक्ति अभिशाप देते हैं । मनुष्य के मुख के वाक्य का कोई अर्थ नहीं है (अर्थः देखिए) । इस कारण उस अभिशाप-वचन का कोई सीधा फल नहीं होता । किंतु परोक्ष रूप में उसका बुरा फल होता है । उस अभिशाप-वचन को जिन लोगों ने सुना वे उस निंदित व्यक्ति की निंदा फैलाने लगे । उसे सुन कर आसपास के गावों और नगरों के मनुष्य उस व्यक्ति को देखते ही उसे धमकाने लगते हैं । इससे उसका जीवन ही दूभर हो जाता है । अभिशाप का यही फल होता है ।

बुद्धिमान मनुष्य इस प्रकार कुपरिणाम देखकर अकर्म कुकर्म करते ही नहीं । फलस्वरूप उन्हें निंदा या अभिशाप के कारण जीवन में कष्ट भोगना ही नहीं पड़ता ।

प्रशंसा पाना ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिए (उद्देश्य देखिए) ।

इसके विपरीत आशीर्वाद और शुभकामना का उत्तम फल होता है (आशीर्वादः देखिए) ।

अभिशप्त (वि०) शाप-प्राप्त, निंदित, तिरस्कृत ।

अभिशब्दित (वि०) घोषित, वर्णित, कथित ।

अभिशस्त (वि०) शापित, तिरस्कृत, आक्रांत, दुष्ट ।

अभिशस्तक (वि०) झूठा दोषी ठहराया हुआ, बदनाम किया हुआ, कलंकित ।

अभिशस्तिः (स्त्री०) शाप, अकोसा, दुर्भाग्य, विपत्ति, भर्त्सना, अप्रतिष्ठा, याचना, प्रार्थना ।

अभिशापः (पुं०) अभिशपनम् देखिए ।

अभिशापज्वरः (पुं) शाप के कारण होने वाला ज्वर या बुखार ।

अभिशीत (वि०) शीतल, ठंडा ।

अभिशोचनम् (न०) बहुत बड़ा कष्ट, पीड़ा या क्लेश ।

अभिशोभित (वि०) सजाया हुआ, सज्जित, चमकीला दिखाई पड़ने वाला ।

अभिश्रवणम् (न०) श्राद्ध के समय ऋचाओं की पुनरावृत्ति ।

अभिश्रुत (वि०) प्रसिद्ध, विख्यात ।

अभिश्लेषणम् (न०) एकाधिक वस्तुओं, शब्दों, वर्णों आदि का मिलन (विश्लेषण के विपरीत)। सृष्टि के आरंभ में आकाशादि सूक्ष्म पंचभूत उत्पन्न हुए । उनमें से इंद्रिय-शक्ति आदि की सूक्ष्म सृष्टि भी हुई । तदनंतर पंचीकरण के द्वारा पाँचों भूतों में अभिश्लेषण हुआ । पंचीकृत भूतों में अपना अर्धांश तथा अन्य चार भूतों के एक-एक अष्टमांश मिलते हैं। उसके पश्चात् जब जीव के स्थूल शरीर उत्पन्न हुए तो यहाँ भी चर्म, मांस, रुधिर, अस्थि आदि का भी अभिश्लेषण हुआ ।

क् के साथ अ मिलने से पूर्ण क होता है; क् ष् के साथ अ मिलने से क्ष होता है । नर शब्द के साथ इंद्र शब्द मिलने से नरेन्द्र होता है । ये वर्णात्मक अभिश्लेषण के उदाहरण हैं ।

अभिषङ्गः (पुं०) मिलन, ऐक्यता, पराजय, दमन, दुःख, आकस्मिक संकट, प्रेतावेश, आलिंगन, संयोग, शपथ, शाप, गाली, असम्मान, अप्रतिष्ठा, दोषारोपण, तिरस्कार ।

अभिषङ्गिन् (वि०) पराजित करने वाला, हराने वाला; अपराध का साथी, सह-अपराधी ।

अभिषवः (पुं०) सोमरस निकालने की क्रिया, शराब उतारने की क्रिया, धर्मानुष्ठान के पूर्व स्नानादि करना, प्रक्षालन, अवभृथ स्नान, बलिदान ।

अभिषवणम् (न०) स्नान, नहान ।

अभिषिक्त (वि०) अभिषेक किया हुआ, भींगा हुआ, तर, आर्द्र, गीला ।

अभिषेकः (पुं०) जल से सिंचना, जल का छिड़काव, ऊपर से जल छोड़कर किया जाने वाला स्नान । राजतिलक, नये राजा के राजसिंहासन पर बैठने का शास्त्रीय अनुष्ठान । वेद में राजसूय यज्ञ के समय पुरोहितों के द्वारा मंत्रपूत जल से राजा का अभिषेक किया जाता था (ऐतरेय ब्राह्मण ४।११।८।५–५ ११; १२-२०)।

पौराणिक मत में राजाओं के सिंहासनारोहण के समय अभिषेक किया जाता था । महाभारत के सभापर्व तथा शांतिपर्व में महाराज युधिष्ठिर के दो बार अभिषेक का वर्णन मिलता है ।

अभिषेक के समय राजमंत्री, साम्राज्ञी, हस्ती, शुक्ल अश्व, शुक्ल वृषभ, शुक्ल छत्र, शुक्ल चामर, सिंहासन, अजिनावृत, परमासन, अनेक स्थानों से संगृहीत जल से पूर्ण स्वर्णपात्र, मधु, दुग्ध, दधि, गूलर का दंड तथा अन्य भी अनेक मांगलिक वस्तुओं का रहना अपेक्षित समझा जाता है । विद्वान ब्राह्मणों के द्वारा वेदमंत्रों की ध्वनि और उनके आशीर्वाद के अनंतर राजा सिंहासन पर बैठता था ।

तंत्र मतानुसार वामपंथी संप्रदाय में गुप्त साधन के लिए गुरु के द्वारा शिष्य को अभिषिक्त किया जाता था, वह पूर्णाभिषेक कहलाता है ।

इष्ट देवता को पवित्र जल से स्नान करना भी अभिषेक है । सन्ध्योपासना में या अन्य समय मंत्रस्नान को भी अभिषेक कहते हैं ।

अभिषेचनम् (न०) राज्याभिषेक, जल का छिड़काव ।

अभिषेणनम् (न०) किसी शत्रु पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान ।

अभिष्टवः (पुं०) प्रशंसा, विरदावली ।

अभिष्यन्दः, अभिस्यन्दः (पुं०) बहाव, आँख आने का रोग, अत्यधिक वृद्धि ।

अभिष्वङ्गः (पुं०) संसर्ग, अत्यंत अनुराग या प्रेम ।

अभिष्वङ्गिन् (वि०) अत्यधिक आसक्त या अनुरक्त ।

अभिसंरब्ध (वि०) उत्तेजित, उभाड़ा हुआ ।

अभिसंरम्भः (स्त्री०) क्रोध, गुस्सा ।

अभिसंश्रयः (पुं०) शरण, आश्रय ।

अभिसंस्तवः (पुं०) बहुत बड़ी प्रशंसा ।

अभिसङ्गः (पुं०) = अभिषङ्गः ।

अभिसन्तापः (पुं०) युद्ध, लड़ाई, विग्रह ।

अभिसन्देहः (वि०) विनिमय, परिवर्तन, जननेंद्रिय ।

अभिसन्धः, अभिसन्धकः (पुं०) धोखेबाज, छली, निंदा करने वाला, निंदक ।

अभिसन्धा (स्त्री०) धोखा, छल, भाषण, शब्द, कथन, प्रतिज्ञा ।

अभिसन्धानम् (न०) भाषण, विचारित घोषणा, संकल्प ।

अभिसन्धिः (स्त्री०) घोषणा, प्रतिज्ञा, उद्देश्य, लक्ष्य, अभिप्राय; सम्मति, विश्वास, शर्तनामा; संमिश्रण ।

अभिसन्धिकृत (वि०) उद्देश्य पूर्वक किया हुआ ।

अभिसन्नद्ध (वि०) सुसज्जित, शस्त्रों से सुसज्जित।

अभिसन्निविष्ट (वि०) जो संयुक्त हुआ हो।

अभिसमय: (पुं०) एक बौद्ध धर्ममत। 'निर्वाण की साधना का मार्ग' इस अर्थ में ही विशेष रूप से अभिसमय शब्द का प्रयोग होता है। इस नाम के प्रसिद्ध ग्रंथ में निर्वाण के साधन का ही विशेष रूप से वर्णन है।

अभिसमय शब्द से निर्वाण भी समझा जाता है। बौद्ध महायान के शून्यवादी माध्यमिक सिद्धांत का ही प्रतिपादन इस ग्रंथ में विशेष रूप से किया गया है।

अभिसमवाय: (पुं०) ऐक्य, एकता।

अभिसमायुक्त (वि०) संबंधित।

अभिसमाहित (वि०) बँधा हुआ, आबद्ध, संबंधयुक्त।

अभिसमीक्ष्य (अव्य०) देखकर, जानकर, सोचकर, सूचितकर।

अभिसम्पराय: (पुं०) भविष्यत्।

अभिसम्पात: (पुं०) संगम, युद्ध, लड़ाई, शाप, सराप।

अभिसम्बन्ध: (पुं०) नाता, संबंध, संधि, संसर्ग, मैथुन, संभोग।

अभिसम्बुद्ध (वि०) [बौद्ध] पूर्णप्रज्ञ, परम ज्ञानी।

अभिसम्बोधनम् (न०) बोधि की प्राप्ति (बुद्ध)।

अभिसम्मत (वि०) पूजित, सम्मानित, प्रतिष्ठित।

अभिसम्मुख (वि०) आदरपूर्वक सामने की ओर देखने वाला।

अभिसम्मूढ (वि०) संपूर्णतया विमूढ़, पूर्णरूप से घबराया हुआ।

अभिसर: (पुं०) साथी, सहायक, अनुचर।

अभिसरणम् (न०) मिलाप, समीप आगमन, प्रेमी तथा प्रेमिकाओं का मिलन-स्थान।

अभिसर्ग: (पुं०) संसार की रचना, सृष्टि।

अभिसर्जनम् (न०) वध, हत्या, दान, भेंट।

अभिसर्पणम् (न०) समीप आगमन।

अभिसान्त्व: (पुं०), अभिसान्त्वनम् (न०) आश्वासन, सांत्वना, धीरज, प्रबोध।

अभिसान्त्वित (वि०) आश्वासन दिया हुआ, धीरज बँधाया हुआ।

अभिसायम् (अव्य०) संध्या के लगभग।

अभिसार: (पुं०) नायिका का किसी संकेत-स्थान में नायक के पास गमन अथवा किसी के द्वारा नायक को अपने पास आनयन। मदन का आवेश, सौदर्याभिमान, यौवन का मद तथा राग का उत्कर्ष अभिसार के मुख्य प्रेरक अंग हैं। प्रियतम से मिलने के लिए बेचैनी के कारण नायिका सिंह से भयभीत मृगी के समान अपनी चंचल दृष्टि इधर-उधर दौड़ाती हुई सावधानी से अग्रसर होती है। वह अपने अंगों को वस्त्रों से लपेट कर बहुत ही धीरे-धीरे कदम बढ़ाती है कि जरा भी आहट न हो। हर कदम पर शंका के कारण वह पीछे घूम कर देखती, थर-थर काँपती और पसीने से भींग उठती। सुनसान जंगलों में वह अकेली अर्ध-रात्रि के समय भी पैर बढ़ाते नहीं डरती। वृंदावन में राधिका के लीलाभिसार का वर्णन वैष्णव कवियों ने बहुत ही सुंदर ढंग से चित्रित किया है। जयदेवकृत गीतगोविंद जैसे संस्कृत काव्य में तथा सूरदास, विद्यापति, ज्ञानदास आदि हिन्दी कवियों ने इसका बहुत ही मंजुल वर्णन किया है। भारत के विभिन्न प्रांतों में बहुत ही सुदृश्य तथा आकर्षक अभिसार-चित्र अंकित किये गये हैं।

अभिसारिका (स्त्री०) अभिसार के लिए जाने वाली नायिका। नायिका स्वयं 'अभिसरेत्'—नायक के पास अभिसरण करे अथवा नायक को 'अभिसारयेत्' अपने पास बुलावे तो वह अभिसारिका कहलाती है (कामार्ताभिसरेत् कान्तं सारयेदेवाभिसारिका—दशोरूपक २।२७)। शृंगार-रस के कवियों के मत में अभिसारिका ही सारी नायिकाओं में अत्यन्त मधुर आकर्षक और प्रेमाभिव्यंजिका होती है (अभिसार: देखिए)। नि:शब्द-पदसंचरण एक कला है जो अभ्यास के द्वारा ही सीखी जा सकती है। नूतन नायिका या तो पैर की आहट उत्पन्न करेगी अथवा वस्त्रों की खसमसाहट। नूपुरों को जानु तक खींच तो लेती है परंतु असावधानी से दोनों पैर लड़ गये तो उतर कर शब्द कर बैठते हैं।

काव्यशास्त्र में अभिसारिका के तीन भेद बताये गये हैं—परांगना, वेश्या और प्रेष्या (दासी)। अवस्था-भेद से हर एक अभिसारिका के पाँच श्रेणियाँ भी होती हैं—ज्योत्स्नाभिसारिका—यह नायिका अपने प्रियतम से चाँद की चाँदनी में एक निर्दिष्ट स्थान पर समागम के लिए जाती है। इसके अभिसरण की सभी वस्तुएँ श्वेत रंग की होती हैं। इसीलिए

यह श्वेताभिसारिका या शुक्लाभिसारिका कही गयी है। दूसरे प्रकार की अभिसारिका को तमो-अभिसारिका कहा गया है। कृष्णपक्ष की अँधेरी रात में बहुधा अभिसरण करने वाली यह नायिका कृष्णाभिसारिका भी कही गयी है। दिवाभिसारिका वह अभिसारिका है जो दिन में स्वर्णमय आभूषणों से संयुक्त सूर्य के प्रकाश में लुप्तप्राय-सी अभिसरण के निमित्त चली जाती है। गर्वाभिसारिका अपने रूप के गर्व से इठलाती हुई नायक के पास अभिसरण के जाने वाली नायिका कही गयी है। कामाभिसारिका अपने रूप, यौवन, विलोलकटाक्ष, वस्त्राभूषण, हाव-भाव आदि के द्वारा नायक को आकर्षित कर संकेत के स्थान पर बुलाती है।

अभिसारिन् (वि०) अभिसार में जाने वाला, आगे बढ़ने वाला, आक्रमण करने वाला, वेगपूर्वक बाहर निकलने वाला (युद्धामिसारिणः—उत्तर० ५)। केन्द्रभिसारी, केन्द्राभिमुख। (स्त्री०) अभिसारिणी।

अभि+षिच् (उभ०) (अभिषिञ्चति) सेचन करना, सींचना, अभिषेक करना, राजतिलक करना।

अभिसिद्धिः (स्त्री०) प्रभावित होने की स्थिति।

अभि+सु (उभ०) (अभिषुणोति, अभिषुण्वते) स्नान करना, नहाना, (वारांस्त्रीनभिषुण्वते—अनर्घ २।२९)।

अभिसूचित (वि०) सूचित किया हुआ, सूचना-प्राप्त।

अभि+सृ (पर०) (अभिसरति) अग्रसर होना, आगे जाना, किसी के सामने जाना, किसी स्थान में जाना या पहुँचना (पुरोऽभिसस्रे सरसुन्दरीजनैः—किरात० ८।४); आक्रमण करना, धावा बोल देना, मिलने के लिए संकेत-स्थान में जाना (सुन्दरी अभिससार—काद० ५८। अभिससार न वल्लभमङ्गना—शिशु० ६।२६)।

अभि+सृ+णिच् (पर०) (अभिसारयति) मिलने के लिए जाना या विदिष्ट स्थान में पहुँचना (वल्लभानभिससारयुपुणाम् (शिशु० १०।२०।२१)।

अभिसृत (वि०) पास गया हुआ।

अभिसृतिः (स्त्री०) केंद्र की ओर झुकने की स्थिति या जाने की प्रवृत्ति।

अभिसेवनम् (न०) अभ्यास करना।

अभिस्थिरम् (अव्य०) अत्याधिक दृढ़ता से, अधिकता से।

अभिस्नेहः (पुं०) प्रेम, अनुराग, अभिलाषा।

अभिस्फुरित (वि०) पूर्ण रूप से विस्तृत, पूर्ण वृद्धि को प्राप्त।

अभि+स्यन्द् (आत्म०) (अभिस्यान्दते) स्रवित होना, चूना, क्षरित होना, बहना।

अभिस्रावणम् (न०) क्षरित करण, मोचन, चुआना, टपकाना।

अभिस्रावणी (स्त्री०) चुआने का यंत्र, शराब की भट्ठी।

अभिहत (वि०) आघात-प्राप्त, आहत, निहत, घायल, अवरुद्ध; गुणित (गणित में)।

अभिहतिः (स्त्री०) प्रहार, आघात, चोट, गुणा।

अभि+हन् (पर०) (अभिहन्ति) आघात करना प्रहार करना, बजाना।

अभिहरणम् (न०) समीप लाना, लूटना, हरण।

अभिहवः (पुं०) निमंत्रण, अह्वान, बलिदान।

अभिहस्य (वि०) हास्य-जनक, हँसी उत्पन्न करने वाला।

अभिहारः (पुं०) ले जाना, हरण, चुराना, आक्रमण, धावा, हथियार-धारण।

अभिहासः (पुं०) हास्य, हँसी-दिल्लगी, मजाक।

अभिहित (वि०) कहा हुआ, कथित, वर्णित, घोषित, संबोधित, आहूत।

अभिहितान्वयवादः (पुं०) हर एक शब्द का अपना स्वतंत्र अर्थ है ऐसा सिद्धान्त। कुमारीलभट्ट ने अपने मीमांसा-दर्शन-ग्रंथ में तथा न्यायदर्शन में इस मत का प्रतिपादन किया है। शब्द अपने वाच्य पदार्थ के बोधन के लिए दूसरे शब्द की अपेक्षा नहीं रखता। वैसे सार्थक शब्दों का समूह ही वाक्य कहलाता है। अपने वाच्यार्थं का बोध कराते हुए हर एक शब्द वाक्य में अन्वित होता है। इसी का नाम अभिहितान्यवाद है। यह अन्विताभिधानवाद का ठीक उल्टा है। इसके अनुसार शब्द वाक्य की एक कड़ी है। उपसर्गं और धातु तथा प्रकृति और प्रत्यय के पृथक्-पृथक् अर्थ होते हैं जैसे हृ धातु में आ उपसर्ग लगने से आहरण, प्र उपसर्ग लगने से प्रहार, परि उपसर्ग लगने से परिहार सम् उपसर्ग लगानेसे संहार, वि उपसर्ग लगने से विहार, उप उपसर्ग लगने से उपहार आदि होते हैं। धर्म—धार्मिक; व्यवहार—व्यवहारिक; अंशु—अंशुमान, कृपा—कृपालु, ब्रह्मन्—ब्रह्मनिष्ठ इत्यादि होते हैं।

अभिहितिः (स्त्री०) कथन, वर्णन, घोषणा, संबोधन, उपाधि।

अभिहूत (वि०) हवन के साथ उँडेला हुआ।

अभिहोमः (पुं०) अग्नि में घी की आहुति देने की क्रिया।

अभी (वि०) निर्भय, निडर।

अभीक (वि०) निडर, अभिलाषी, इच्छुक, कामुक, विलासी।

अभीके [वेद] (सप्तम्यन्त अव्यय) युद्ध में, (पराई वाज्रिवां दुरितादव्यीके, ऋ. १–८–२६–४)।

अभिक्षण (वि०) सतत, सदैव, दुहराया हुआ, अत्यधिक।

अभीक्षणम् (क्रि० वि०) प्रायः, बहुधा, अधिकता से, अविच्छिन्नता से; बारंबार।

अभीत (वि०) बिना डर का, निर्भय, निडर।

अभीतिवत् (अव्य०) निर्भिकता से, निर्भयता से।

अभीतिः (स्त्री०) निर्भयता, निडरपन।

अभीप्सित (वि०) अभीष्ट, इच्छित, मनोनीत, अभिप्रेत।

अभीप्सितम् (न०) आकांक्षा, मनोरथ।

अभीरः (पुं०) ग्वाला, अहीर।

अभीरपल्ली (स्त्री०) अहीरों का गाँव।

अभीरु, अभीरुक (वि०) न डरा हुआ, निडर, निर्भय।

अभीशवः [वेद] (पुं०) घोड़े की लगाम (अभिशूनां महिमानं पनायत—ऋ० सं० ५।१।२०।१); अंगुलियाँ, भूमितक पहुचने वाली देवताएँ।

अभीशुः (पुं०) लगाम, रास, प्रकाश की किरण, अभिलाषा, इच्छा, प्रेम।

अभीष्ट (वि०) चाहा हुआ, अभिलषित, प्रिय।

अभीष्टः (पुं०) परम प्रिय, अत्यन्त उभीष्ट व्यक्ति।

अभीष्टम् (नं०) इच्छित वस्तु, प्रार्थित पदार्थ।

अभीष्टा (स्त्री०) स्वामिनी, प्रेयसी।

अभुक्त (वि०) जिसने भक्षण न किया हो, न खाया हुआ, अभुक्त बेल, भुक्त ताल अर्थात् भोजन के पहले बेल खाना अच्छा है और भोजन के बाद ताल आदि अन्य फल खाना ठीक है। जिसने भोग न किया हो, व्यवहार न किया हुआ, अव्यवहृत।

अभुक्तपूर्व (वि०) जो पहले भोगा न गया हो।

अभुक्तवत् (वि०) जिसने न खाया हो।

अभुग्न (वि०) जो टेढ़ा न हो, जो झुका या मुड़ा हुआ न हो, सीधा, अच्छा, नीरोग, स्वस्थ।

अभुज् (वि०) जिसने उपयोग न किया हो, जिसने अनुभव न किया हो।

अभुज (वि०) भुजारहित, बाहुरहित।

अभुजिष्या (स्त्री) वह जो दासी न हो, स्वतंत्र स्त्री।

अभूः (पुं०) वह जो पैदा न हुआ हो, विष्णु।

अभूत (वि०) जो यथार्थ या सत्य न हो, जिसका अस्तित्व पहले न रहा हो, अविद्यमान।

अभूततद्भावः (पुं०) जो पहले नहीं था उसका उद्भव, रूपान्तरित अवस्था। अभूततद्भाव में चिप् प्रत्यय होता है (अभूततद्भावे चिप्) जैसे, द्रढ़ीकरण, मन्दीभूत, पंचीकरण। जो पाँच सूक्ष्म भूत थे इनमें पंचीकरण होने से पाँचों पंचात्मक हुए (पंचीकरणम् देखिए)। इन पंचीकृत पाँच महाभूतों से ही यह स्थूल सृष्टि बनी है।

वेदांत-मतानुसार उत्पन्न वस्तु असत् या मिथ्या है घट आदि अगणित मृत्तिका-निर्मित बर्तनों में मृत्तिका सत्य है, घट आदि मिथ्या हैं (यथा सौम्य, एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्—छान्दोग्य उप० ६।१।४)। आदिशंकराचार्य के दादागुरु गौड़पादाचार्य ने लिखा है—जो पदार्थ आदि और अंत में नहीं रहता, वह वर्तमान में भी वैसा ही है अर्थात् नहीं है (आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा—माण्डूक्यकारिका २।५।) जो अनादिकाल से स्थित है, उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और जो नहीं है उसकी भी उत्पत्ति नहीं होती (भूतं न जायते किञ्चित् अभूतं नैव जायते—माण्डूक्यकारिका ४।४)।

अभूतदोष (वि०) दोष-रहित। (अभूततद्भावे चिप्)।

अभूतपूर्व (वि०) जिसका अस्तित्व पहले न रहा हो, बेजोड़।

अभूतप्रादुर्भावः (पुं०) ऐसा प्रकाशन जो पहले कभी न हुआ हो।

अभूतशत्रु (वि०) जिसका कोई शत्रु न हो, शत्रुरहित ।

अभूमिः (स्त्री०) अनुपयुक्त स्थान या वस्तु, भूमि के अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ।

अभूमिज (वि०) भूमि से उत्पन्न होने के अयोग्य या अनुपयुक्त ।

अभूरि (वि०) कुछ, थोड़ा, अल्प ।

अभूष, अभूषित (वि०) न सजा हुआ, असज्जित ।

अभृत, अभृतक (वि०) जो किराये का न हो, जिसका किराया न दिया हो।

अभृश (वि०) जो अधिक न हो, थोड़ा, अल्प ।

अभेद (वि०) भेदरहित, अविभक्त, समान, सदृश ।

अभेदः (पुं०) अंतर का अभाव, अत्यंत समानता ।

अभेदक (वि०) विभाजन न करने वाला ।

अभेद्य (वि०) विभाजन के अयोग्य, वेधने के अयोग्य, फोड़ने के अयोग्य, बहकाने के अयोग्य ।

अभेद्यम् (न०) हीरा, वज्र ।

अभोक्तव्य (वि०) भोग या उपभोग करने के अयोग्य, व्यवहार में लाने के अयोग्य ।

अभोगः (पुं०) भोग का अभाव ।

अभोग्य (वि०) उपभोग के अयोग्य, संभोग करने के अयोग्य ।

अभोजनम् (न०) भोजन न करना, उपवास ।

अभोजित (वि०) न खाया हुआ, अभक्षित ।

अभोजिन् (वि०) न खाने वाला, भक्षण न करने वाला ।

अभोज्य (वि०) भोजन के अयोग्य, भक्षण के अयोग्य, अभक्षणीय ।

अभोज्यान्न (वि०) जो अन्न भोजन के लिए निषिद्ध हो ।

अभौतिक (वि०) जो भौतिक न हो ।

अभ्यग्र (वि०) निकट, समीप, ताजा, नया ।

अभ्यक्त (वि०) नवीन, चिह्नित, हाल में ही चिह्न लगाया हुआ ।

अभ्यङ्गः (पुं०) शरीर में तेल या उबटन लगाने की क्रिया ।

अभ्यञ्ज् (पर०) (अभ्यङ्क्ते) उबटन लगाना, मालिश करना, सजाना ।

अभ्यञ्जनम् (न०) उबटन, तैल आदि, आँखों में लगाने का सुरमा या अंजन ।

अभ्यञ्ज्य (वि०) उबटन लगाने योग्य, मालिश करने योग्य ।

अभ्यतीत (वि०) व्यतीत (समय), मरा हुआ, मृत ।

अभ्याधिक (वि०) अपेक्षाकृत अधिक, उच्चतर, अत्यधिक, असाधारण, मुख्य, प्रधान ।

अभ्यनुज्ञा (स्त्री०) अनुमति, आज्ञा, किसी तर्क की स्वीकृति ।

अभ्यनुज्ञात (वि०) स्वीकृत, प्रमाणित ।

अभ्यनुज्ञानम् (न०) स्वीकृति, आदेश ।

अभ्यनुक्त (वि०) हवाला देकर कहा हुआ या उच्चारित ।

अभ्यन्तर (वि०) बीच का, भीतरी, अति निकट संबंधी ।

अभ्यन्तरकः (पुं०) अंतरंग मित्र ।

अभ्यन्तरकला (स्त्री०) गुप्त कला, हाव-भाव दिखलाने की विद्या ।

अभ्यन्तरम् (न०) भीतरी भाग, बीच का भाग ।

अभ्यन्तरीकरणम् (न०) प्रथम संस्कार करना, अंतरंग जन बनाना, भीतर ले लेना ।

अभ्यमनम् (न०) आक्रमण, चोट, रोग ।

अभ्यमित (वि०) रुग्ण, बीमार, घायल ।

अभ्यमित्रम् (न०) शत्रु पर आक्रमण ।

अभ्यमित्रीणः (पुं०) वह योद्धा जो वीरता पूर्वक शत्रु का सामना करता हो ।

अभ्ययः (पुं०) आगमन, पहुँच, सूर्य के अस्त होने की अवस्था ।

अभ्यरि (अव्य०) शत्रु के सामने, शत्रु की ओर ।

अभ्यर्चनम् (न०), अभ्यर्चा (स्त्री०) पूजा, सजावट, श्रृंगार, सम्मान ।

अभ्यर्चित (वि०) पूजित, सम्मानित ।

अभ्यर्च्य (वि०) पूजा के योग्य, पूजनीय, सम्मान-के योग्य, माननीय ।

अभ्यर्ण (वि०) समीप, निकट, पास ।

अभ्यर्थनम् (न०), अभ्यर्थना (स्त्री०) प्रार्थना, विनती, स्वागत, अगवानी ।

अभ्यर्थनीय (वि०) अभ्यर्थना करने के योग्य, माँगने योग्य ।

अभ्यर्थित (वि०) माँगा हुआ, प्रार्थित, निवेदित ।

अभ्यर्थिन् (वि०) प्रार्थी, याचक, आवेदक, उम्मेदवार ।

अभ्यर्दित (वि०) कष्ट दिया हुआ, पीड़ा पहुँचाया हुआ, पीड़ित ।

अभ्यर्धयज्वा [वेद] (पुं०) थोड़ी वस्तु को बढ़ा कर देने वाला पूषा देवता (सिषक्ति पूषा अभ्यर्धयज्वा, ऋ० ४-८-८-५) ।

अभ्यर्धस् (अव्य०) अलग से ।

अभ्यर्पक (वि०) संपत्ति हस्तांतर करने वाला, विक्रेता ।

अभ्यर्पणम् (न०) संपत्ति हस्तांतर करना, विक्री ।

अभ्यर्पितिन् (वि०) जिसे कोई संपत्ति या स्वत्व दे दिया जाय, क्रेता ।

अभ्यर्ष [वेद] ढूँढ़ लेना (अभ्यर्षति सुष्टुतिंगव्यम, ऋ०) ।

अभ्यर्हणा (स्त्री०) पूजा, सम्मान, प्रतिष्ठा ।

अभ्यर्हणीय (वि०) पूजनीय, सम्माननीय ।

अभ्यर्हित (वि०) पूजित, सम्मानित, योग्य, उपयुक्त ।

अभ्यवकर्षणम् (न०) खींच कर बाहर निकालना ।

अभ्यवकाशः (पुं०) खुली जगह, खुला हुआ स्थान ।

अभ्यवकीर्ण (वि०) आच्छादित, ढका हुआ ।

अभ्यवस्कन्दः (पुं०), **अभ्यवस्कन्दनम्** (न०) वीरतापूर्वक शत्रु के सामने होना, ऐसा प्रहार करना जिससे शत्रु निकम्मा हो जाय ।

अभ्यागतः (पुं०) अभिमुख आगत, अपने सामने आने वाला मनुष्य, घर में आगत व्यक्ति । अभ्यागत को गुरु के समान सम्मान देना चाहिए (सर्वत्राभ्यागतो गुरुः) । सद्गृहस्थ के घर में अभ्यागत के लिए तृण (आसन), भूमि, उच्च स्थान, हाथ-पैर धोने और पीने के लिए जल तथा चौथी मीठी वाणी की कमी नहीं रहती (तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सुनृता । एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन —हितोपदेश) ।

सभी शिष्ट व्यक्ति अभ्यागत मनुष्य को प्रसन्न कर देते हैं । जो सभी अभ्यागतों को प्रसन्न कर देता है उसे कभी किसी के द्वारा अप्रसन्न या दुःखी नहीं होना पड़ता । जीवन में इससे बढ़कर सुख और क्या हो सकता है ? सभी मनुष्य, यहाँ तक कि सभी प्राणी समान हैं, क्यों कि सभी में एक ही आत्मा विद्यमान है (एकात्मवादः देखिए) । अभ्यागत का स्वागत न करना, उनसे दुर्व्यवहार करना या दुर्वचन कहना आसुरिक या पाशववृत्ति हैं । ऐसे मनुष्य को उस प्रकार के पापाचरण के फलस्वरूप दुःख भोगना पड़ता है ।

ऐसा देखा गया है कि दरवाजे के बाहर से किसी ने पुकारा तो गृहस्थ दरवाजा खोलकर ऐसे खड़ा हो गया कि अभ्यागत भीतर न घुस सके या द्वार पर खड़ा होकर देर तक बात ही करता रहा । यह अशिष्टता है । इस दुर्व्यवहार का फल बुरा होता है ।

जीवन का ध्येय होना चाहिए कि मैं कभी किसी को अप्रसन्न नहीं करूँगा । फलस्वरूप मुझे कभी किसी से अप्रसन्न नहीं होना पड़ेगा (अजातशत्रुः देखिए) ।

अभ्यागमः (पुं०) आगमन, भेंट, सामीप्य, आक्रमण, युद्ध, शत्रुता, बैर ।

अभ्यागमनम् (न०) समीप आगमन, भेंट, मुलाकात ।

अभ्यागारिकः (पुं०) वह जो परिवार के भरण-पोषण में लगा हो ।

अभ्यवहरणम् (न०) निक्षेप, भोजन करना, भक्षण, निगलना ।

अभ्यवहारः (पुं०) भोज्य पदार्थ, भोजन ।

अभ्यवहार्य (वि०) खाने योग्य, भक्षणीय ।

अभ्यवहार्यम् (न०) खाद्य वस्तु, भोज्य पदार्थ ।

अभ्यसनम् (न०) पुनरावृत्ति, निरंतर अध्ययन, किसी काम में लीनता ।

अभ्यसनीय (वि०) अभ्यास के योग्य, अध्ययन के योग्य, दुहराने योग्य ।

अभ्यसितव्य (वि०) अभ्यास करने योग्य ।

अभ्यसूयक (वि०) ईर्ष्यालु, डाही, निंदक ।

अभ्यसूया (स्त्री०) ईर्ष्या, क्रोध ।

अभ्यस्त (वि०) जिसका अभ्यास किया गया हो, बार-बार किया हुआ, पढ़ा हुआ, सीखा हुआ, अस्वीकृत, गुणा किया हुआ, गुणित ।

अभ्याकर्षः (पुं०) पहलवानों की तरह छाती ठोंक कर लड़ने के लिए ललकारना ।

अभ्याकांक्षितम् (न०) मिथ्या आरोप, मनोरथ, अभिलाषा, आकांक्षा ।

अभ्याख्यानम् (न०) झूठा दोषारोपण, अपवाद, निंदा ।

अभ्यागत (वि०) सामने आया हुआ, घर आया हुआ, अतिथि बना हुआ ।

अभ्याघातः (पुं०) आक्रमण, हमला, चढ़ाई, धावा ।

अभ्याघातिन् (वि०) आक्रमण करने वाला ।

अभ्याचारः (पुं०) चढ़ाई, पहुँच, दुर्घटना ।

अभ्याज्ञायः (पुं०) आदेश, आज्ञा ।

अभ्यात्मम् (अव्य०) अपनी आत्मा की ओर ।

अभ्यादानम् (न०) आरंभ, प्रारंभ ।

अभ्याधानम् (न०) रखना, डालना ।

अभ्यानन (वि०) जिसका मुख सामने की ओर घूमा हुआ हो ।

अभ्यान्त (वि०) रोगी, बीमार, रुग्ण ।

अभ्यापातः (पुं०) संकट, आपत्ति, दुर्भाग्य ।

अभ्याप्सित (वि०) इच्छित, स्वीकृत करने योग्य, प्रिय ।

अभ्यामर्दः (पुं०), अभ्यामर्दनम् (न०) युद्ध, लड़ाई, हमला ।

अभ्यारम्भः (पुं०) प्रारम्भ, फिर से आरम्भ करना, पुनरावृत्ति, दोहराने की क्रिया ।

अभ्यारोहः (पुं०), अभ्यारोहणम् (न०) चढ़ना, सवार होना, ऊपर गमन ।

अभ्यावर्तिन् (वि०) पास आने वाला, लौटने वाला ।

अभ्यावृत (वि०) पास आया हुआ, पहुँचा हुआ, सामने घूमा हुआ ।

अभ्यावृत्तिः (स्त्री०) पुनरावृत्ति, बार-बार आवृत्ति ।

अभ्याशः (पुं०) आगमन, पड़ोस, लाभ, परिणाम, भविष्य में लाभ होने की आशा ।

अभ्यासः (पुं०) किसी काम को बार-बार करने की क्रिया, आदत, बान, स्वभाव, रीति, पद्धति, पाठ, अध्ययन, आवृत्ति, कसरत, गणित में गुणा करने की क्रिया, संगीत में अस्थायी टेक ।

बचपन से ही ऐसा अभ्यास करना चाहिए, जिससे जीवन सुखमय हो । सत्य बोलना चाहिए । जिस बात से प्राणी का हित हो, वही यथार्थ में सत्य है । केवल यथार्थ घटना का भाषण ही सत्य नहीं है (सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्—नीतिसंदर्भ) । सत्य की जय होती है, मिथ्या की नहीं (सत्यमेव जयते, नानृतम्) । लोग कहते भी हैं कि साँच को आँच नहीं ।

किसी का दिल दुखाना हिंसा है। कटु वचन से किसी के मन में चोट पहुँचाना वाचनिक हिंसा है। मन में किसी की बुराई सोचना मानसिक हिंसा है (अहिंसा देखिए) । मानसिक हिंसा ही उन दोनों का मूल है । यदि मन की हिंसा मन में ही रह जाय तो उससे संसार को कोई हानि नहीं है, किंतु मन में हिंसा का भाव आते ही उसका संस्कार अंतःकरण में पड़ जाता है, । उस संस्कार का कुपरिणाम दुःख उसी को भोगना पड़ता है ।

बच्चों में परायी चीज चुराने का अभ्यास हो जाता है, यह बहुत ही बुरा कुअभ्यास है । मारने पीटने से यह नहीं छूटता । बल्कि बार-बार समझाने और समय-समय पर इनाम देने से यह छूट सकता है ।

कड़े व्यवहार से फल कभी अच्छा नहीं होता । मीठी-मीठी बातों से प्रेम के साथ समझाते रहने से बच्चे इन बुरे अभ्यासों को छोड़ सकते हैं ।

जिन कामों से अपने को दुःख होता है, वैसा काम दूसरों के साथ नहीं करना चाहिए (आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्—महाभारत) । मारने, गाली देने, निंदा करने से मुझे कष्ट होता है, इस कारण दूसरों को मैं नहीं मारूँगा, गाली नहीं दूंगा और निन्दा नहीं करूँगा—ऐसा अभ्यास प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए, जिससे जीवन में दुःख नहीं भोगना पड़ेगा ।

धर्म संयम सिखाता है । स्वादिष्ट चीज देखते ही खाने की इच्छा होती है, उस इच्छा को रोक लेना चाहिए ।

गुप्तांगों में बिना रोग हुए हाथ लगाना पाप है । पाप से दुःख होता है, परायी स्त्रियों को बुरे भाव से देखने से शरीर के जीवनदायक तरल पदार्थ का क्षय होता है किंतु वह उसी समय शरीर से नहीं निकलता । निद्रा के समय स्वप्न के साथ वह निकल जाता है । शुक्र के एक विन्दु के पतन से मृत्यु और विन्दु के शरीर में धारण कर लेने से जीवन है (मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्—पीठमालातंत्र) । मनुष्य को नीरोग

शरीर में शत वर्ष तक जीवित रहना चाहिए (अकाल-मृत्युः देखिए)।

शुभ कार्य का शुभ फल, अशुभ कार्य का अशुभ फल होता है। (शुभकार्यस्य शुभं फलम्, अशुभस्याशुभम्)। लोग सुख पाना चाहते हैं। किंतु करते हैं अधर्म, कुकर्म। इसी से अधिकांश मनुष्य दुःख झेलते रहते हैं। जब दुःख आता है, तो वे सोचते हैं कि फलाना आदमी मुझे दुःख देता है। कोई किसी को दुःख नहीं देता, मनुष्य अपने ही कर्म का फल भोगते हैं। संत कबीर कह गये थे—बोये पेड़ बबूर के आम कहाँ से खाय ?

मत-विरोध होने से ये लोग दूसरों को मारते, पीटते या हत्या तक करते हैं। अनंत कोटि ब्रह्मांडों में हमारी इस पृथ्वी का परिमाण एक बालू-कण के कोटिवें भाग से भी क्षुद्र है। ऐसी पृथ्वी की तुलना में एक मनुष्य के मत की गिनती ही क्या है ? इस पृथ्वी पर मनुष्य ही श्रेष्ठ प्राणी है। अतः किसी भी मनुष्य का दिल दुखाना उचित नहीं है।

वैदिक ऋषियों के मतानुसार सभी प्राणियों में एक ही आत्मा व्याप्त है (एकात्मवादः देखिए)। जब हम सब एकात्मक हैं तो एक दूसरे का दिल दुखाना उचित नहीं है। सुख चाहने वाला मनुष्य किसी को दुःख न दे।

क्रोध मनुष्य का बड़ा रिपु है। अत्यधिक क्रोध होने से मनुष्य अनेक सांघातिक कार्य कर डालते हैं (क्रोधः देखिए)। क्रोध होने से मनुष्य का चेहरा हिंसक पशु सा दीख पड़ता है। उस समय कोई उसकी फोटो खींच ले और शान्त होने पर उसे दिखावे तो वह अपना उस विकृत चेहरे को देख कर लज्जित हो जायगा। इस कारण किसी के भी दुराचरण से अपने मन को उत्तेजित नहीं करना चाहिए। अपने को संयत रखने का बार-बार अभ्यास करना चाहिए।

दूसरों के बुरे बर्ताव से जो असन्तुष्ट होता है, वह स्वयं ही अपना शत्रु बन जाता है। अपराध किया उसने और सजा भोगने लगा मैं, कैसी अनोखी बुद्धि ! असन्तोष शब्द का अर्थ है संतोष या सुख का अभाव, अर्थात् दुःख।

दूसरों का गुण ग्रहण करना चाहिए, दोष नहीं। गुण ग्रहण करने से गुण ही अपने भीतर आ जाता है। जो दोष ग्रहण करता है, उसके भीतर दोष ही प्रविष्ट हो जाता है। मक्खियाँ शरीर में जहाँ घाव होता है, वहीं आकर बैठती हैं। मधुमक्खियाँ फूलों से मधु ही खींच लेती हैं। इसी प्रकार सज्जन लोगों का गुण ही ग्रहण करते हैं, किंतु शास्त्रज्ञानहीन अशिक्षित (पामर) लोगों का दोष ही ग्रहण करते हैं (मक्खिकाः व्रण-मिच्छन्ति मधुमिच्छन्ति षट्पदाः। सज्जना गुणमिच्छन्ति, दोषमिच्छन्ति पामराः—सूक्तिसुधाकर)।

सज्जन के सामने कोई असज्जन नहीं रह सकता, क्योंकि वह किसी का दोष नही देखते। किसी के दोष के विषय में सोचने से वह स्वयं ही दोषयुक्त असज्जन हो जाता हैं। यह उन्हें इष्ट नहीं है।

महाजन वाक्य है—दूसरों के गुण और अपने दोष के विषय में अधिक सोचो, दूसरों के दोष और अपने गुण के विषय में कम सोचो। अपने दोष के विषय में सोचते रहने से उसका बुरा परिणाम जानकर मनुष्य में अपने दोषों का त्याग करने की इच्छा होगी। पराये गुणों के विषय में अधिक सोचने से वे गुण अपने भीतर आ जाते है जिससे मनुष्य अधिक गुणवान और सुखी हो सकते हैं।

जो कोई भी मनुष्य अपने सामने आवे, उसे उत्तम व्यवहार तथा मीठी बातों से प्रसन्न कर देना उचित है। इस नीति का अभ्यास करने वाले को अप्रसन्न करने वाला कोई मनुष्य नहीं रह जायगा।

यदि संसार को जीतना चाहो तो किसी की निंदा न करो, यह गोस्वामी तुलसीदासजी का उपदेश है।

बुरे आदमी बुरा काम करते हैं, इसलिए क्या भले आदमी भला काम छोड़ देंगे ? नहीं, उत्तम व्यक्ति जीवन भर उत्तम काम ही करते हैं।

प्रशंसा पाना ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। प्रशंसा पाने के लिए कोई निंदित काम नहीं किया जा सकता। श्रीरामचंद्र से गुरु वशिष्ठदेव ने कहा था—"हे रामचंद्र, सभी मनुष्य तुम्हारी प्रशंसा करते हैं। निंदित व्यक्ति का जीवन निरर्थक है (निरर्थकं हि जीवितं निन्दितानाम्—योगवासिष्ठ, वैराग्यप्रकरण)।

१८ पुराणों में लेखक वेदव्यासजी के दो ही उत्तम वचन हैं, परोपकार पुण्य है, और दूसरों को पीड़ित करना पाप है (अष्टादश-पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्, पुण्यं परोपकारं च पापं च परपीडनम्)। परोपकार करने से अपना ही उपकार होता है (स्वोपकाराय, न तु परोपकाराय—श्रीश्रीरामकृष्णोपदेशसाहस्री)।

क्षमा करना अच्छा काम है, बदला लेना अच्छा काम नहीं है। जो सहता है, वह पाता है।

विनयी होना अच्छा है। विद्या विनय देती है (विद्या विनयं ददाति—हितोपदेश)। जिस विद्या से घमंड बढ़ता है, वह विद्या नहीं है, अविद्या है। आजकल शिक्षा-निकेतनों में इसी अविद्या का राज है।

हर व्यक्ति को हर विषय और हर घटना से आनंद ही प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिए। यह सारा ब्रह्मांड सच्चिदानंद ब्रह्म से निकला हुआ हैं। इस कारण सर्वत्र आनंद व्याप्त है। बचपन से अभ्यास करने पर सभी से आनंद प्राप्त किया जा सकता है। इससे जीवन आनंदमय हो जाता है। एक उत्तम सूत्र है—"देखो और हंसो।" इस नीति का अभ्यास कर लेने से जीवन आनंदमय हो जाता है; कभी दुःख नहीं आ सकता और न कभी चेहरा मलिन ही होता है।

अभ्यासक्त (वि०) परस्पर जुड़ा हुआ, मिलित, संयुक्त।

अभ्यासयोगः (पुं०) बार-बार अभ्यासरूप योग अर्थात् एक ही आलंबन में चित्त का समाधान। संसार में हर एक कार्य के साधन में, धन, विद्या, यश आदि के उपार्जन में बार-बार अभ्यास की ही आवश्यकता है। चित्त बड़ा ही अशांत है, उसको संयत रखना प्राण-वायु का रोध करने के समान बहुत ही कठिन है (चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढ़म्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्—गीता ६।३४)।

मन चंचल है और इसका निरोध करना भी कठिन है, इसमें संदेह नहीं है। परंतु अभ्यास और वैराग्य से मन को संयत रखा जा सकता है (असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते—गीता ६।३५)। योगदर्शन में चित्तवृत्ति-निरोधरूप समाधि अवस्था प्राप्त करने के लिए बार-बार चित्त को निर्विषय करने का अभ्यास तथा दोष-दर्शन करके विषयों से वैराग्य उत्पन्न करना ही उत्तम साधन है—ऐसा लिखा गया है (अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः—१।१२)।

अभ्यास का विषय सुखजनक हो, तो उसमें क्लेश नहीं होता। संसार में क्लेशकर मिथ्या विषयों से वैराग्य होने पर परम सुखमय आत्मा के प्रति मुमुक्षु व्यक्ति को अत्यंत अनुराग होता है। आरंभ में विषयों से खींचकर चित्त को आत्मा में संलग्न करने में कुछ कष्ट होने पर भी, कुछ ही समय के अनंतर उन्हें आत्माभ्यास परम सुखकर प्रतीत होगा (तच्चिन्तनं तत्कथनं अन्योन्यं तत् प्रबोधनम्। एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः—पञ्चदशी ७।१०६)।

अभ्यासादनम् (न०) शत्रु का मुकाबला, शत्रु पर चढ़ाई या आक्रमण।

अभ्याहत (वि०) आहत, आघात प्राप्त, पकड़ा हुआ, पीड़ित।

अभ्याहननम् (न०) प्रहार, मार, अवरोध, बाधा।

अभ्याहारः (पुं०) समीप लाना, ढुलाई करना, लूटना।

अभ्युक्त (वि०) उच्चारित, वर्णित।

अभ्युक्षणम् (न०) जल का छिड़काव, प्रोक्षण, मार्जन।

अभ्युचित (वि०) साधारण, सामान्य, प्रचलित।

अभ्युच्चयः (पुं०) बढ़ती, वृद्धि, उन्नति।

अभ्युच्चित (वि०) बढ़ा हुआ, उन्नत।

अभ्युच्छ्रित (वि०) उत्थित, उठा हुआ, श्रेष्ठ।

अभ्युत्क्रोशनम् (न०) उच्च स्वर से चिल्लाना।

अभ्युत्थानम् (न०) किसी के स्वागतार्थ आसन छोड़कर उठने की क्रिया, प्रस्थान, पदोन्नति, उदय, समृद्धि।

अभ्युत्थायिन् (वि०) सम्मान के निमित्त आसन पर से उठने वाला।

अभ्युत्थित (वि०) सम्मानार्थ उठा हुआ, दृश्य।

अभ्युत्थेय (वि०) अभ्युत्थान के योग्य।

अभ्युत्पतनम् (न०) आक्रमण, उछाल, छलाँग।

अभ्युदयः (पुं०) अभि+उदय, उन्नति। उन्नति शारीरिक और मानसिक दो प्रकार की होती है। अन्न, जल, वायु, ताप आदि से शरीर की उन्नति तथा ज्ञान, विज्ञान, धार्मिक भावना, परोपकार की प्रवृत्ति आदि से मन की उन्नति होती है।

कणाद मुनि ने लिखा है—जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस मुक्ति मिलती है वही धर्म है (यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः—वैशेषिकदर्शन १।१।२)। शरीर बढ़ रहा है, उसे नियमित अन्न, जल आदि देते रहना धर्म है। निरर्थक उपवास करके शरीर को सुखा डालना अधर्म है। एक पौधा बढ़ रहा था, उसे काट डालना या

उसको डाल या पत्ती तोड़ना अधर्म है, क्योंकि उससे उसकी उन्नति में बाधा पहुँचती है। कोई मनुष्य बढ़ रहा था, उसे पीट कर, मार कर या अन्य प्रकार से हानि पहुँचा कर उसकी उन्नति में बाधा डालना अधर्म है या उसकी निंदा या तिरस्कार करके उसके मन की उन्नति में रुकावट डालना भी अधर्म है।

आयुर्वेद-शास्त्र के अनुसार शरीर की उन्नति ही प्राथमिक धर्मसाधन है (शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्—शुश्रुत-संहिता)। शरीर क्लिष्ट या रुग्ण रहे तो कोई धर्मसाधन नहीं होता। नियमित परिश्रम, व्यायाम आदि से शारीरिक स्वास्थ्य की उन्नति होती है। यौवन के आरंभ से ओज धातु वीर्य को रक्षा करते रहने से शरीर में कभी व्याधि नहीं होती तथा शरीर की उन्नति अव्याहत रहती है। अतः यह भी धर्म है।

धन जन को वृद्धि से यदि अशांति बढ़े तो उसे उन्नति नहीं कहते। एक बड़े धनिक के घर कुछ लड़के आवारा हो गये, घर में अशांति फैल गयी, तो यह कैसी उन्नति हुई? किसी के यहाँ ५० मुकदमे लगे हुए हैं। बूढ़े मालिक को रात में नींद नहीं आती, भोजन हजम नहीं होता। कहीं घर की स्त्रियों में दिन-रात झगड़े चल रहे हैं। दस बड़े-बड़े मकान हैं, तो कहीं बीस मोटरें चलती हैं, किंतु परिवार में सुख-शांति नहीं है। यह उन्नति नहीं कहलाती। संतोष रूप अमृत से जो सदा तृप्त हैं उनमें जो सुख है, वह सुख धनलुब्ध, बेचैनी से इधर-उधर दौड़ने वालों में कहा है? (सन्तोषामृततृप्तानां यत् सुखं शांतचेतसां। कुतस्तद्धनलुब्धानां इतश्चेतश्च धावताम्—हितोपदेश)।

गुरु वसिष्ठदेव ने रामचंद्र से कहा था—धन, दारा, पुत्रपरिवार आदि की वृद्धि से दुःख की वृद्धि समझनी चाहिए, क्योंकि मोहमाया की वृद्धि से कौन प्रसन्न हो सकता हैं? (धनदारेषु वृद्धेषु दुःखं युक्तं न तुष्टता। वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवान् इह—योगवासिष्ठ)।

अभ्युदय की अंतिम अवस्था से निवृत्ति आरंभ होती है। निवृत्ति का अभ्यास परिपक्व होने से जीवन्मुक्ति, उसके अनंतर विदेह-मुक्ति—यही धर्म की चरम परिणति है (मुक्तिः, विदेहमुक्तिः देखिए)।

आचार्य शंकर ने गीता-भाष्य के आरंभ में लिखा है—वैदिक धर्म दो प्रकार के हैं, प्रवृत्तिलक्षणयुक्त तथा निवृत्तिलक्षणयुक्त (द्विविधो हि वैदिको धर्मः, प्रवृत्तिलक्षणः निवृत्तिलक्षणश्च)। इसी निवृत्ति-धर्म की परा काष्ठा है निःश्रेयस या निर्वाण-मुक्ति।

अभ्युदायिन् (वि०) उदित होने वाला, उठने वाला, उन्नति को प्राप्त होने वाला।

अभ्युदाहरणम् (न०) किसी वस्तु का उलटा उदाहरण या दृष्टांत।

अभ्युदित (वि०) जो उदित हुआ हो, पदोन्नत, सूर्योदय के समय न सोया हुआ।

अभ्युदितशायिता (स्त्री०) सूर्य के उदय होने तक सोये रहने की अवस्था।

अभ्युद्गत (वि०) उगा हुआ, उठा हुआ, किसी से मिलने के लिए बाहर गया हुआ।

अभ्युद्गमः (पुं०), अभ्युद्गमनम् (न०) स्वागत, अगवानी, उदय, निकास, उत्पत्ति।

अभ्युद्धृत (वि०) लिया हुआ, खींचा हुआ।

अभ्युद्यत (वि०) उठाया हुआ, तैयार किया हुआ, आगे गया हुआ, अयाचित दिया हुआ, अयाचित प्राप्त।

अभ्युन्नत (वि०) उठा हुआ, उत्थित, ऊपर को निकला हुआ।

अभ्युन्नतिः (स्त्री०) अत्यंत पदोन्नति, शालोनता।

अभ्युपगमः (पुं०) निकट आगमन, स्वीकार, किसो बात को सत्य समझ कर मानना, वचन, प्रतिज्ञा, दोष-अंगीकार।

अभ्युपगमसिद्धान्तः (पुं०) न्याय का एक सिद्धांत, स्वीकृत प्रस्ताव।

अभ्युपगमित (वि०) स्वीकार द्वारा प्राप्त।

अभ्युपपत्तिः (स्त्री०) सहायतार्थ निकट गमन, दयालुता, अनुग्रह, सांत्वना, संरक्षण, स्वीकृति, प्रतिज्ञा-पत्र, स्त्री को गर्भवती करने की क्रिया (विशेषतः भाई की विधवा पत्नी को)।

अभ्युपपन्न (वि०) रक्षित, रक्षा के लिए प्रार्थित, स्वीकृत, आज्ञप्त।

अभ्युपस्थित (वि०) आया हुआ, पहुँचा हुआ।

अभ्युपागत (वि०) निकट आगत, पास आया हुआ।

अभ्युपायः (पुं०) वचन, प्रतिज्ञा, युक्ति, उपाय।

अभ्युपायनम् (न०) घूस, रिश्वत, लालच, सम्मानार्थ दिया जाने वाला भेंट या उपहार ।

अभ्युपेत (वि०) आया हुआ, पहुँचा हुआ ।

अभ्युपेत (अव्य०) आग्रह किये जाने पर, प्रतिज्ञा करने पर, प्रसन्न होने पर ।

अभ्युपेतव्य (वि०) स्वीकृत करने योग्य, मान लेने योग्य ।

अभ्युपेत्य (वि०) समीप आया हुआ, स्वीकृत ।

अभ्युषः (पुं०) एक प्रकार की रोटी ।

अभ्युषित (वि०) रहने वाला, निवासित ।

अभ्यूढ (वि०) संयुक्त, मिला हुआ ।

अभ्यूष (पुं०) एक प्रकार का भोज्य ।

अभ्यूहः (पुं०) तर्क, वाद-विवाद, अनुमान, त्रुटि की पूर्ति, कमी, शुद्धि, रमण ।

अभ्र (पर०) (अभ्रति; आनभ्र, अभ्रित) जाना, इधर-उधर घूमना-फिरना ।

अभ्रंकषः (पुं०) वायु, हवा, पर्वत, पहाड़, वायुयान, विमान ।

अभ्रंलिह (वि०) बादलों को छूने वाला अर्थात् अत्यंत उच्च (तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः—उ० मेघ) ।

अभ्रंलिहः (पुं०) पवन, वायु ।

अभ्रकम् (न०) अभ्रक, अबरक ।

अभ्रखः (पुं०) अभ्राकाश, मेघाकाश, मेघ के जलकणों में प्रतिबिंबित आकाश । व्यवहार के सुभीते के लिए आकाश को चार भागों में विभक्त किया गया है—महाकाश, घटाकाश, जलाकाश और अभ्राकाश । महाकाश सर्वव्यापक है । घट के भीतर सीमाबद्ध की तरह प्रतीयमान आकाश को घटाकाश कहते हैं । मठाकाश, गृहाकाश आदि इसी श्रेणी में आते हैं । यद्यपि अत्यंत सूक्ष्म आकाश को घट आदि स्थूल वस्तुएँ सीमाबद्ध नहीं रख सकतीं तथापि घटाकाश, मठाकाश आदि का व्यवहार है । घट को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाते समय वह पूर्व स्थान के आकाश को अपने भीतर बाँध कर नहीं ले आ सकता, बल्कि उसके शरीर से आकाश निकलता जाता और नये स्थान के आकाश से वह पूर्ण होता रहता है । स्थूल वस्तु अत्यंत सूक्ष्म वस्तु को सीमाबद्ध नहीं रख सकती । घट आकाश को और शरीर आत्मा को कभी सीमा-बद्ध नहीं रख सकते । जल में मेघ, चंद्र, नक्षत्र आदि सहित प्रतिबिंबित आकाश ही जलाकाश है । जल के भीतर जो मूल आकाश है उसकी गणना घटाकाश श्रेणी में की जाती हैं ।

अभ्र (मेघ) के उपादान जलकणों में प्रतिबिंबित आकाश को अभ्रख (अभ्राकाश) या मेघाकाश कहते हैं (यहाकाशस्य मध्ये यन्मेघमण्डलमीक्ष्यते, प्रतिबिम्बतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः, मेघांशरूपमुदकं तुषाराकारसंस्थितम् तत्र खप्रतिबिम्बोऽयं नीरत्वादनुमीयते—पंच० ६।२०-२१) ।

उक्त चार प्रकार में आकाश का विभाजन आत्मा के चार भाव दिखाने के लिए किया गया है । वे हैं—ब्रह्म, ईश्वर, कूटस्थ और जीव (कूटस्थो ब्रह्मजीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा, घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा—पंच ६।१८) । महाकाश के साथ ब्रह्म की, घटाकाश के साथ कूटस्थ की, अभ्राकाश के साथ जीव की और जलाकाश के साथ ईश्वर की तुलना की गयी है ।

अभ्रगङ्गा (स्त्री०) आकाशगंगा ।

अभ्रघन (वि०) बादलों से आच्छादित ।

अभ्रङ्कष (वि०) मेघ को आघात करने वाला, बहुत ऊँचा, गगनचुंबी ।

अभ्रङ्कषः (पुं०) वायु, पवन, हवा, वायुयान ।

अभ्रजा (स्त्री०) बादल से उत्पन्न, वृष्टि के कारण उत्पन्न ।

अभ्रपथः (पुं०) आकाश, वातावरण ।

अभ्रपिशाचः, अभ्रपिशाचकः (पुं०) राहु-ग्रह ।

अभ्रपुष्पः (पुं०) वेतस-लता, बेंत, एक प्रकार का काँटेदार लचीला नरकट ।

अभ्रपुष्पम् (न०) ख-पुष्प, आकाश-कुसुम, जल (अभ्रपुष्पमपि दित्सति शीतं सार्थिना विमुखता यदभाजि—नैषध०), कोई असंभव वस्तु ।

अभ्रभेदिन् (वि०) मेघ का भेदन करने वाला, बहुत ऊँचा, गगनचुंबी ।

अभ्रम् (न०) बादल, आकाश, अभ्रक, गणित में शून्य ।

अभ्रम [वेद] (न०) अंतरिक्ष, मेघ, द्युलोक, (उदभ्राणीव स्तनयन्नियार्त्तिः, ऋ० ४-७-१८-२) ।

अभ्रम (वि०) भ्रमरहित, अभ्रांत ।

अभ्रमः (पुं०) भ्रम-राहित्य, अपमान ।

अभ्रमातङ्गः (पुं०) ऐरावत, इंद्र का हाथी ।

अभ्रमाला (स्त्री०) बादलों की पंक्ति, मेघमाला ।

अभ्रमुः (स्त्री०) पूर्व दिशा के दिग्गज की हथिनी, इंद्र के ऐरावत हाथी की हथिनी।

अभ्रमुप्रियः (पुं०) ऐरावत हाथी।

अभ्ररोहम् (न०) वैदूर्यमणि, लहसुनियाँ नाम का रत्न।

अभ्रलिप्त (वि०) बादलों से भरा हुआ, मेघाच्छन्न।

अभ्रवाटिकः (पुं०) अम्रातक, एक कडुआ फल, अमड़ा।

अभ्राकाशः (पुं०) मेघाकाश (अभ्रखः देखिए)।

अभ्रातृक (वि०) भ्रातृहीन, बिना भाई का।

अभ्रान्त (वि०) भ्रम में न पड़ा हुआ, स्वच्छ, न घबराया हुआ।

अभ्रिः (स्त्री०) लकड़ी का एक उपकरण जिससे नाव की सफाई की जाती है, कुदाल, फावड़ा, खनती, रंभा।

अभ्रित (वि०) बादलों से युक्त या आच्छादित।

अभ्रिय (वि०) बादल-संबंधी, बादलों से उत्पन्न।

अभ्रीय (वि०) अभ्रक-संबंधी, अभ्रक से उत्पन्न।

अभ्रेषः (पुं०) न्याय, औचित्य, न्याय से अनुमोदित होने का भाव, अपतन, युक्तियुक्त बात।

अभ्रोत्थम् (न०) वज्र, कुलिश।

अम्व [वेद] (स्त्री०) बहुवचन, जल (आयोनो अम्व ईषते। ऋ० १-५-४-३)।

अम्वम् [वेद] (न०) जल (सनेम्यम्वं मरूतो जुनन्ति—ऋ० २-४-८-३)।

अम् (पर०) (अमति, अमितुं, अमित) किसी ओर जाना, सेवा करना, आदर करना, शब्द करना, आक्रमण करना, खाना, रोग से दुःखी होना, पीड़ित होना।

अम (वि०) कच्चा, अपरिपक्व।

अमः (पुं०) गमन, रुग्णता; बीमारी; सेवक, अनुचर।

अमङ्गल, अमङ्गल्य (वि०) अशुभ, अकल्याणकर, निकृष्ट, बुरा, अभाग्य।

अमङ्गलः (पुं०) एरंड या रेंड का वृक्ष, मंगलाभाव (अमङ्गलाभ्यासर्ति विचिन्त्य तम्—कुमार)।

अमङ्गलम् (न०) अकल्याण, अशुभ चिह्न (ददर्शामङ्गलं राजा पुरो वर्त्मनि वर्त्मनि—ब्रह्मवैवर्त-पुराण, अध्याय ३५)।

अमङ्गल्य (वि०) अमंगलसूचक, अमंगलजनक (अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलम्—पुष्प०)।

अमज्जक (वि०) बिना मज्जा का, मज्जारहित।

अमणिव (वि०) जिसके पास रत्न या मणि न हो।

अमण्ड (वि०) बिना सजावट का, आभूषणरहित, बिना माँड़ का।

अमण्डः (पुं०) एरंडवृक्ष, रेंड का पेड़।

अमण्डित (वि०) जिसका मंडन न हुआ हो, जो सजाया न गया हो।

अमत (वि०) असम्मत, अतर्कित, अविज्ञात, पसंद न किया हुआ, स्वीकार के अयोग्य।

अमतः (पुं०) समय, रोग, मृत्यु।

अमतदेय (वि०) मत या सम्मति देने के अयोग्य।

अमति (वि०) अचेतन, दुष्ट, चरित्रभ्रष्ट।

अमितिः (पुं०) बदमाश, चंद्रमा, समय, काल।

अमतिः [वेद] (स्त्री०) आत्म-विस्तार, आत्म-बुद्धि (ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्योतत, यजु०)।

अमतिपूर्व (वि०) संज्ञाविहीन, विवेकहीन, अनैच्छिक।

अमत्त (वि०) जो मत्त या मतवाला न हो, उन्माद-रहित, गंभीर।

अमत्रः [वेद] (पुं०) अहिंसित व्यक्ति, अपरिमित परिमाण (महाँ अमत्रो वृजने विरंपशो—ऋ० सं० ३।२।१९।४)।

अमत्रम् (न०) छोटा बरतन, शक्ति, ताकत, बल।

अमत्सर (वि०) जो ईर्ष्यालु न हो, अडाही।

अमत्सरम् (न०) ईर्ष्या या डाह का अभाव।

अमद (वि०) हर्षरहित, अप्रसन्न।

अमदनः (पुं०) शिव, महादेव।

अमद्यप (वि०) मादक पेय न पीने वाला।

अमधुः (पुं०) वह जिसमें मधुरता न हो, मिठास का अभाव।

अमध्यस्थ (वि०) जो मध्यस्थ न हो।

अमनः (पुं०) अबोधता, बाह्य वस्तु के ज्ञान का अभाव।

अमनस्, अमनस्क (वि०) जिसका मन स्थिर न हो, विवेकशक्ति-रहित, मनो-रहित, अमनोयोगी, स्नेह-रहित।

अमनाक् (अव्य०) अधिकता से, बहुलता से।

अमनुष्य (वि०) अमानुषिक, जहाँ मनुष्यों की बस्ती न हो।

अमनुष्यः (पुं०) वह जो मनुष्य न हो, राक्षस ।

अमनोज्ञ (वि०) जो मन के अनुकूल न हो, अप्रिय ।

अमनोयोगः (पुं०) वह जिसमें मन का योग न हो ।

अमनोहर (वि०) जो सुंदर न हो, अप्रसन्न-कारक, अप्रिय, प्रतिकूल ।

अमन्त्र, अमन्त्रक (वि०) वैदिक मंत्रों से रहित, जिसमें वैदिक मंत्रों की आवश्यकता न हो, जिसे वेद-पाठ का अधिकार न हो, वेद का न जानने वाला, जिसमें टोना-टोटका की क्रिया न हो ।

अमन्त्रविद् (वि०) जो वेद-मंत्रों का ज्ञाता न हो ।

अमन्द (वि०) जो मंद या सुस्त न हो, सक्रिय, उग्र, दृढ़, तीव्र, अत्यधिक ।

अमन्यमान (वि०) न समझने वाला, समझने में असमर्थ ।

अमम (वि०) बिना अहंभाव का, स्वार्थ से दूर, सांसारिक वस्तुओं के स्नेह से वंचित ।

अममता (स्त्री०), **अममत्वम्** (न०) अनासक्ति, स्वार्थराहित्य, उदासीनता ।

अमर (वि०) कभी न मरने वाला, अविनश्वर, अक्षय ।

अमरः (पुं०) देवता, पारद, स्वर्ण, तैंतीस की संख्या, अस्थि-समूह ।

देवता अमर कहे जाते हैं, यथार्थ में पुण्यकर्म के कारण मनुष्य को स्वर्ग में जाकर स्वर्ग-सुख भोग के अनंतर पुण्यक्षय हो जाने पर पुनः इस धरती पर लौट आना पड़ता है। अतः देवता अमर नहीं हुए । देवता नामक कोई प्राणी नहीं है। कर्ममीमांसा के अनुसार देवता मंत्रमय हैं (खर्वं स्थूलतनुं गजेन्द्रवदनं लम्बोदरं सुन्दरम् । प्रच्छन्नमदगन्धलुब्धमधुपव्या-लोलगंडस्थलं दन्ताघातविदारितारिरुधिरैः सिन्दूरशोभाकरं, वन्दे शैलसुतासुतं गणपतिं सिद्धिप्रदं कर्मसु । इस मंत्र के पढ़ने से जो मूर्ति हृदय में आविर्भूत होती है, वही गणपति देवता है। इसी प्रकार सभी देवताओं के प्रतिपादक मंत्र ही उनका स्वरूप है। साधकों के ध्यान के द्वारा चित्त स्थिर करने के लिए ही देवताओं की कल्पना की गयी है (साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणः रूपकल्पना —शिवसंहिता) ।

केवल जगत्कारण "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" ही अमर हैं । अत न रहने के कारण उनका जन्म भी नहीं है। शास्त्रों में देवताओं के जन्म का विवरण मिलता है। जन्म होने से मृत्यु निश्चित है (जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः—गीता २।२७) ।

अमरकण्टकम् (नं०) एक पर्वत जहाँ से नर्मदा नदी निकलती है, विंध्य-पर्वत के पूर्व की समतल भूमि, हिन्दुओं का एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान ।

अमरकोशः (पुं०) संस्कृत का एक प्रसिद्ध शब्दकोश । अमरसिंह इसके लेखक थे । आधुनिक शब्दकोशों की तरह यह अकारादि क्रम का कोश नहीं है । यह कोश छंदोबद्ध है। वह भी वर्ग-क्रम से लिखा गया है जैसे—अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः । सुपर्वाणः सुमनसस्त्रिदिवेशा दिवौकसः । आदितेया दिविषदो लेखा अदितिनन्दनाः । आदित्या ऋभवोऽस्वप्ना अमर्त्या अमृतान्धसः । बहिर्मुखाः ऋतुभुजो गीर्वाणा दानवारयः । वृन्दारका दैवतानि पुंसि वा देवता स्त्रियाम् । (स्वर्ग-वर्ग ७-९) । ये देवता-वाचक शब्द हैं। इस वर्ग में कुछ अल्प प्रचलित और कुछ अप्रचलित नाम भी आ गये हैं ।

इसी प्रकार दिग्वर्ग, कालवर्ग, नरकवर्ग, शैलवर्ग, वनौषधिवर्ग, मनुष्यवर्ग आदि वर्गक्रम से यह कोश लिखा गया है। इस कोश का नाम लेखक ने शब्दलिंगानुशासनम् लिखा है। लगभग ११०० ई० में यह जीवित थे । यह बौद्ध थे क्योंकि देवताओं के नाम के साथ सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः समन्तभद्रो भगवान्मारजिल्लोकजिज्जिनः इत्यादि लिखे हुए हैं ।

अमरकोश की टीकाओं में तथा अन्यत्र निम्नलिखित प्राचीन संस्कृत कोशों तथा कोशकारों के नाम पाये जाते हैं—१–अजयः, २–अनेकार्थध्वनिमंजरी, ३–अभिधानचिंतामणिः, ४–अभिधानमाला, ५-अमरदत्तः, ६–अमरमाला (अमरसिंहकृत), ७–अरुणः, ८–इंदुकोशः ९–उत्पलिनी १०–ऊष्मविवेकः, ११–एकाक्षरकोशः (जैनपुरुषोत्तमदेवकृत), १२–कलिङ्गः १३–कल्पतरुः, १४–कल्पद्रुः (केशवकृत), १५–कात्यः, १६–कात्यायनः, १७–कोशसारः, १८–गंगाधरः, १९–गोवर्धनकोशः, २०–चंद्रकोशः, २१–चरककोशः, २२–तारपालः २३–त्रिकांडशेषः (जैनपुरुषोत्तमदेवकृत), २४–त्रिविक्रमः, २५–दामोदरकोशः, २६–दुर्गकोशः, २७–देशिकोशः, २८–द्विरूपकोशः, २९–धनंजयः, ३०–धनपालः, ३१–धवंतरिः, ३२–धरणाकोशः, (धरणीदासकृत), ३३–धर्मदासः, ३४–नानार्थध्वनिमंजरी, ३५–नानार्थरत्नमाला (भास्करकृत), ३६–नामनिधानम्, ३७–नाम-

माला, ३८–नामलिङ्गनुशासनम् (अमरसिंहकृत), ३९–पदरत्नावली, ४०–पालकोशः, ४१–पुंद्गलकोशः ४२–भट्टमल्लः, ४३–भरतमाला, ४४–भागुरिकोशः, ४५–भुग्नकोशः, ४६–भोगिंद्रकोशः, ४७–मंखकोशः, ४८–महीपकोशः, ४९–माधवकोशः, ५०–मुकुटः, ५१–मुक्तावली (श्रीधरकृत), ५२–मुनिकोशः, ५३–मेदिनी, ५४–यादवः, ५५–रत्नकोशः, ५६–रत्नमाला, (दण्डाधिनायोपनामक इरुगप्पकृत), ५७–रत्नमाला, (हलायुधकृत) ५८–रंतिदेवः, ५९–रसभः, ६०–गजदेवः, ६१–राजमुकुटः, ६२–रुद्रकोशः, ६३–वररुचिः ६४–वाचस्पतिः, ६५–विक्रमादित्यः, ६६–विश्वकोशः, ६७–विश्वप्रकाशः, ६८–विश्वरूपः, ६९–विश्वलोचनः, ७०–वैजयंती, ७१–वो(वो)पालितः, ७२–व्याडिः, ७३–शब्दरत्नावली (मथुरेशकृत), ७४–शब्दार्णवः, ७५–शब्दार्थचिंतामणिः, ७६–शाश्वतः, ७७–शुभांकः, ७८–संसारावर्तः, ७९–सज्जनकोशः, ८०–सर्वधरः, ८१–साहसांकः, ८२–सुधा, ८३–सुभुतिकोशः, ८४–सोमनंदिः, ८५–हरकोशः, ८६–हारावली (जैन-पुरुषोत्तमदेवकृत)।

अमरगुरुः (पुं०) देवताओं में के गुरु, वृहस्पति, वृहस्पति ग्रह।

अमरता (स्त्री०), अमरत्वम् (न०) अविनश्वरता, अक्षयता।

अमरद्विजः (पुं०) वह ब्राह्मण जो किसी मंदिर में पूजा करता अथवा उस मंदिर का प्रबंध करता हो।

अमरद्विष् (पुं०) देवताओं का शत्रु, राक्षस, असुर।

अमरपुरम् (न०) स्वर्ग, देवलोक।

अमरपुष्पः (पुं०) स्वर्गलोक के कल्पवृक्ष का पुष्प।

अमरप्रभ (वि०) अमर के तुल्य, अविनाशी के समान।

अमररत्नम् (न०) स्फटिक, बिल्लौर।

अमरलोकः (पुं०) स्वर्ग, देवलोक।

अमरसिंहः (पुं०) कोशकार, समय ईसा की ५-६ शताब्दी। अमरकोष नामक इनकी सुप्रसिद्ध रचना है। ईसा की तेरहवीं सदी में पुरुषोत्तम देव ने अमरकोष के परिशिष्ट के रूप में त्रिकांडशेष की रचना की थी। अमरसिंह बौद्धमतानुयायी थे। अतः अपनी रचना अमरकोष में उन्होंने देवताओं के पर्यायवाची शब्द देने के बाद बौद्धों के पर्यायवाची शब्द भी दिये हैं। लोकप्रसिद्धि है कि उरुबिल्वा ग्राम में उन्होंने एक बौद्धमंदिर की स्थापना की थी।

कातन्त्रवृत्ति में 'शिवमेकमजं बुद्धमर्हदग्र्यम् स्वयम्भुवम्' इत्यादि श्लोक देखकर कुछ विद्वान अमरसिंह का ही नामांतर दुर्गासिंह मानते हैं। किंतु यह गवेषणीय है। समानता दोनों में केवल इतनी ही है कि दोनों ही बौद्ध पंडित थे।

एक लोकश्रुति के अनुसार अमरसिंह को कालिदास का समसामयिक माना गया है। मालूम पड़ता है इस जनश्रुति का आधार 'धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशङ्कु-वेतालभट्ट-घटकर्परकालिदासाः' इत्यादि श्लोक की है। यथार्थ में कालिदास अमरसिंह के पूर्ववर्ती थे और धंवंतरि कालिदास के भी पूर्ववर्ती थे। अतः उपर्युक्त श्लोक कालनिर्णय में प्रामाणिक नहीं है।

अमरातिः (स्त्री०) अमरावती, नाभिनाला, गर्भाशय।

अमराद्रिः (पुं०) देवताओं का पर्वत, सुमेरु-पर्वत।

अमराधिपः (पुं०) देवताओं के राजा, इंद्र, विष्णु, शिव।

अमरापगा (स्त्री०) स्वर्ग की नदी, गंगा।

अमरालयः (पुं०) स्वर्ग, देवलोक।

अमरावती (स्त्री०) इंद्रपुरी, देवराज इंद्र की राजधानी। यह स्वर्ग का एक नाम है। सुमेरु पर्वत के ऊपर देवताओं का निवास-स्थान माना गया है। इस स्थान पर शोक, ताप, जरा और मृत्यु कुछ भी नहीं रहता। इस स्थान पर नंदनकानन, पारिजात वृक्ष और सुरभि गाय पायी जाती है। यहाँ अप्सरा, गन्धर्व आदि के गान और नृत्य देवताओं को आनंदित किया करते हैं।

अमरी (स्त्री०) देवताओं की स्त्री, देवी, अप्सरा, इंद्र की राजधानी, इंद्रपुरी।

अमरुकः (पुं०) संस्कृत के एक नामी कवि : इन्होंने अमरुशतक नामक ग्रंथ में सौ से अधिक कविताएँ लिखी हैं। आनंदवर्धन ने अमरुक के श्लोकों की चमत्कृति तथा प्रसिद्धि का विस्तार के साथ उल्लेख किया है। इनका समय ई० नवीं सदीका मध्यकाल है। इससे कवि अमरुक का समय नवीं सदी से पूर्व ही सिद्ध होता है।

शंकर-दिग्विजय नामक ग्रंथ में अमरुक नामक राजा का उल्लेख मिलता है। आद्य शंकराचार्य ने कर्मकांडी मंडन-मिश्र को शास्त्र-विचार में हरा दिया। तय यह था कि जो हारेगा वह दूसरे का शिष्य बन जायेगा। मंडनपत्नी उभयभारती परम विदुषी थी। उन्होंने देखा कि पति

संन्यासी हो रहे हैं तो उन्होंने शंकराचार्य जी से कहा "मैं पति की अर्धांगिणी हूँ। मुझे शास्त्रार्थ में हराने पर ही आप मेरे पति को संन्यासी बना सकेंगे।" दोनों में शास्त्रार्थ होने लगा, अंत में उभयभारती ने संन्यासी के सामने काम-कला का प्रश्न उपस्थित किया। संन्यासी को काम-चिंता करना निषिद्ध है। इस कारण आचार्य ने उभयभारती से छ महीने का समय माँगा। निश्चय हुआ कि छ मास के अनंतर आकर कामशास्त्र का विवरण बतायेंगे। शिष्यों के साथ शंकराचार्य वहाँ से चल पड़े। कुछ दूर जाने पर एक मशान के पास देखा कि अमरुक राजा का शव दाह-संस्कार के लिए रखा हुआ है। उन्होंने शिष्यों से कहा कि मैं सूक्ष्म शरीर से इस राजा के शव में प्रविष्ट हो जाऊँगा और रानियों से काम-कला की शिक्षा प्राप्त कर पुनः अपने शरीर में आ जाऊँगा। तुम लोग तब तक इस पास वाली गुफा में ले जाकर मेरे शरीर की रक्षा करते रहो। उसके अनंतर अमरुक राजा जी उठे। सब लोग उन्हें राजधानी लौटा लाये। राजा के शरीर में आचार्य भोग-सुख में मत्त हो गये। शिष्यों ने राजदरबार में जाकर उनके रचित मोहमुद्गर स्तोत्र का बार-बार पाठ किया तो आचार्य को अपना वृत्तांत स्मरण हुआ और राजा का शरीर छोड़कर वह सूक्ष्म रूप में अपने शरीर में आ गये। वह मिश्रजी के घर आकर उभयभारती को कामकला के प्रश्न का उत्तर देने में प्रवृत्त हुए। उभयभारती ने कहा "यतिवर, आपके मुख से काम-कला की बातें सुनने से मुझे पाप स्पर्श करेगा। मैं हार मानती हूँ, आपकी विजय हुई। आप मेरे पतिदेव को संन्यास मंत्र में दीक्षित कर सकते हैं।

अमरुशतकम् (न०) अमरुक कवि के द्वारा रचित शृंगार-रस-पूर्ण एक संस्कृत काव्य-ग्रंथ। शतक शब्द रहने पर भी इसमें १६३ श्लोक हैं। इसमें प्रेम के जीते-जागते चटकीले अनेक सजीव चित्र खींचे गये हैं। साथ ही साथ प्रेमियों और प्रेमिकाओं की विभिन्न अवस्थाओं की शृंगार-रस-पूर्ण मनोवृत्तियों का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण है। कहीं पति को परदेश जाने की तैयारी करते देखकर कामिनी की हृदय-विह्वलता का चित्र है तो कहीं पति के आगमन का समाचार सुनकर पत्नी के हर्षोत्फुल्ल नेत्रों तथा स्मित हास्य का मंजुल चित्रण हैं। परवर्ती कवियों में अमरुक तक के रसीले पद्यों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि अनेकों ने तो इस छोटे से काव्य ग्रन्थ की विस्तृत टीकाएँ लिख डाली हैं। प्रसिद्ध कवि अर्जुन वर्मदेव ने 'रसिक संजीवनी' नाम से इस काव्य की बहुत ही उत्तम टीका लिखी है। आनंद-वर्धन ने छोटे होने पर भी बहुत ही सरस तथा भावपूर्ण होने के कारण इसे प्रबंध काव्य माना है। आलंकारिकों ने इसके अधिकांश पद्यों का उदाहरण देकर कवि की साहित्यिक सुषमा का परिचय दिया है। हिन्दी के महाकवि बिहारी और पद्माकर ने अमरुशतक के अनेक श्लोकों का सुंदर अनुवाद किया है।

अमरेन्द्रः (पुं०) इंद्र, विष्णु, शिव।

अमर्त्य (वि०) कभी नष्ट न होने वाला, अविनाशी, अक्षय।

अमर्त्यः (पुं०) देवता।

अमर्त्यभुवनम् (नं०) अमरलोक, स्वर्ग।

अमर्त्यापगा (स्त्री०) गंगा-नदी।

अमर्दित (वि०) जिसका मर्दन न किया गया हो, पैरों से न रौंदा हुआ, वशीभूत न किया हुआ।

अमर्मन् (वि०) जो मर्मस्थल का न हो।

अमर्मवेधिन् (वि०) मर्मस्थल को न बेचने वाला, कोमल।

अमर्याद (वि०) सीमारहित, अनुचित, असीम, असम्मानकारी।

अमर्यादा (स्त्री०) उचित सम्मान की अवहेलना।

अमर्ष (वि०) दूसरे का उत्कर्ष न सह सकने वाला। ईर्ष्यालु, अधीर।

अमर्षः (पुं०) असहनशीलता, अधैर्य, ईर्ष्या, ईर्ष्या से उत्पन्न होने वाला क्रोध।

अमर्षण, अमर्षिन् (वि०) असहनशील, अधीर, रुष्ट, प्रचंड, उग्र, दृढ़-प्रतिज्ञ।

अमल (वि०) मल-रहित, धब्बारहित, निष्कलंक, विशुद्ध, स्वच्छ, चमकीला।

अमलपत्रिन् (पुं०) जंगली हंस।

अमलम् (न०) स्वच्छता, विशुद्धता, अभ्रक, पर-मात्मा (अमलं धवलं पुण्यं पापन्तु मसीमयं स्मृतम्)।

अमलमणिः (पुं०) स्फटिक, बिल्लौर नामक मणि।

अमला (स्त्री०) लक्ष्मी, नाभिसूत्र, एक प्रसिद्ध वृक्ष, आँवला।

अमलात्मन् (वि०) विशुद्ध मस्तिष्क वाला।

अमलानन्दयतिः (पुं०) कल्पतरुकार। समय—ईसा की तेरहवीं शताब्दी। इनका जन्म महाराष्ट्र में हुआ था। वह

यादववंशीय महादेव, रामचन्द्र आदि राजाओं के एवं हेमाद्रि, बोधदेव आदि पंडितवर्ग के समकालिक थे। स्वामी अनुभवानंद इनके गुरु थे।

भामती पर 'वेदांत-कल्पतरु' नामक इनकी एक प्रामाणिक टीका है। इसी लिए सर्वतंत्रस्वतंत्र अप्पय दीक्षित ने भी इस पर अपनी टीका की है जिसका नाम 'परिमल' है। अद्वैतसिद्धि ग्रन्थ के टीकाकार ब्रह्मानंद सरस्वती आदि अद्वैतवादियों के मतानुसार ब्रह्मसूत्र, शारीरक भाष्य, भामती टीका, कल्पतरु एवं परिमल—ये पाँच ग्रंथ वेदांत के न्याय-प्रस्थान हैं।

अमलानंद अद्वैतवादी थे। वेदांत के प्रति उनका अकाट्य विश्वास निम्नलिखित श्लोक से व्यक्त होता है :—"वेदान्त-वाक्यजज्ञान-भावनाजाऽपरोक्षधीः। मूलप्रमाणदार्ढ्येन भ्रमत्वं न प्रपद्यते" कल्पतरु, इस संबंध में चित्सुखाचार्य ने भी कहा है—"वेदान्तवाक्यं निरपवादमेवाद्वितीयब्रह्मणि ज्ञान-मपरोक्षं जनयतीति निरवद्यम्"।)

अमलानंद का शास्त्रदर्पण नामक एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें पूर्वपक्ष का उत्थापन करके उत्तरपक्ष के द्वारा वेदांत के अधिकरण विशदरूप में व्याख्यात हैं। जिज्ञासाधिकरण में पूर्वपक्ष है—"जिज्ञास्यं धर्मवद् बुद्धिसन्दिग्धं सप्रयोजनम्। नासन्दिग्धमनर्थं च घटवत् करटाङ्गवत्॥ अहं धियात्मनः सिद्धेस्तस्यैव ब्रह्मभावतः। तज्ज्ञानादमुक्त्यभावाच्च जिज्ञासा नोपपद्यते॥" (शास्त्रदर्पण)। उत्तरपक्ष में इसका इस प्रकार समाधान किया है—श्रुतिमप्यात्मतत्त्वं हि नाहं बुद्ध्यावगम्यते। अविवेकादतो देहादारमन्यध्यस्तमिष्यताम्' (शास्त्रदर्पण)।"

अमलिन (वि०) जो मलिन या गंदा न हो, स्वच्छ, पवित्र, शुद्ध।

अमवान् [वेद] (पुं०) दंडदाता (या हि राजेवा-मवां इभेन, यजु०)।

अमसः (पुं०) रोग, मूर्खता, समय।

अमसृण (वि०) जो कोमल न हो, कड़ा, सूखा।

अमस्तक (वि०) सिररहित, मस्तकविहीन।

अमस्तु (वि०) बिना गाढ़ा किया हुआ, दूध-सा।

अमा (वि०) मापन के अयोग्य, मापरहित।

अमा (पुं०) आत्मा, जीव, अमावस्या तिथि।

अमा (अव्य०) साथ-साथ, सहित।

अमांस (वि०) जो मांस न हो, बिना मांस का, दुर्बल, क्षीण, पतला, मांसरहित।

अमांसभक्ष (वि०) मांस न खाने वाला, निरामिष-भोजी।

अमांसम् (न०) मांस के अतिरिक्त कोई भी वस्तु।

अमाङ्गल्य (वि०) अमंगलजनक, अशुभ।

अमात्यः (पुं०) मंत्री, सचीव, वजीर। राजा के परामर्शदाता को आमात्य कहते हैं। राज्य के विद्वान और बुद्धिमान व्यक्तियों को ही अमात्य-पद पर नियुक्त किया जाता था। मंत्रियों का परामर्श लेना राजा के लिए नितांत आवश्यक होता था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अमात्य शब्द का परीक्षण धर्म, अर्थ, काम और भय में मिलता है। यदि वह व्यक्ति इसमें विशुद्ध चरित्र वाले तथा न्याय-प्रिय सिद्ध हो तो उन्हें अमात्य के पद पर बैठने का अवसर दिया जाता रहा है। परंतु मंत्री के लिए कौटिल्य का मत कुछ इससे विशेषता लिये हुए अभिव्यक्त हुआ है। मंत्री के लिए राजभक्त होना चाहिए। वह आचारवान तथा विशुद्ध हो।

राज्य छोटा हो तो एक अमात्य से ही उनका काम चल सकता है। राज्य बड़ा हो तो अमात्य चार भी हो सकते हैं। सम्राट दशरथ के आठ मंत्री थे। महाराष्ट्र के छत्रपति शिवाजी ने भी आठ अमात्यों को अपने राज्य के लिए चुना था। प्राचीम भारत में मंत्रिसभा को तीन मुख्य भागों में बाँटा गया था—जिस मंत्रिमंडल में तीन या चार अमात्य होते थे उसे सर्वोपरि तथा विशेष महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। दूसरे मंत्रिमंडल में मंत्रिओं की संख्या सात आठ तक भी हो जाती थी और तीसरी में अमात्यों की एक विराट सभा का आयोजन होता था और उसमें विभिन्न राज्यों के तथा विभिन्न विभागों के उच्च अधिकारी सम्मि-लित होते थे। अमात्यों के लिए व्यक्तिगत गुणों की अपेक्षा राजनीति-ज्ञान विशेष महत्त्व का होता था।

महर्षि मनु कहते हैं—प्रपितामह, पितामह, पिता आदि सज्जन हैं, इस प्रकार मूल देखकर, शास्त्रज्ञ और बलवान वीर भी हो ऐसा जानकर, कुलशीलसम्पन्न हो, जाँचकर तथा विशेष परीक्षा लेकर सात या आठ सचिव नियुक्त करें (मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान् कुलोद्भवान्। सचिवान् सप्तचाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्—७।५४)।

अब राजा नहीं है। भारत में गणतंत्र-शासन चल रहा है। जन-गण ही राज्य के स्वत्वाधिकारी हैं। वे ही मत

देकर अपने हित के लिए कुछ सदस्य चुनते हैं। वे सदस्य बहुमत से विधि बनाते तथा देश का शासन करते हैं। मंत्री-मंडल गठित करना भी उन्हीं का काम है। शासन में इन मंत्रियों का दायित्व अधिक है। ये मंत्री ही अमात्य हैं।

प्राचीन समय में भारत में अनेक राजा होते थे। कदाचित् वे राजा एक सम्राट के अधीन भी रहते थे। उन दिनों ७ या ८ मंत्री राजा के सहायक होते थे। देश स्वतंत्र होते समय भारत में ६ सौ से भी अधिक राजा थे। गणतंत्र राज्य गठित करने के लिए वे राजा अपना-अपना राज्य छोड़कर साधारण प्रजा बन गये।

उन दिनों धर्म, अर्थ, काम और भय ये चार विषयों के लिए ही अमात्य नियुक्त किये जाते थे। प्रजा धार्मिक हों, होम-याग, पूजा-पाठ अध्ययन-अध्यापन करती रहे; अर्थागम का एकमात्र साधन था मालगुजारी, उत्तमोत्तम काम्य वस्तुएं प्रजा को मिलती रहें तथा सदा ही दूसरे राजाओं के आक्रमण का भय रहने से प्रवल सेना का संगठन हो। किन्तु इन दिनों शासन के विषय अनेक हैं। इस कारण अमात्यों की संख्या बढानी पड़ी।

विदेशी शिक्षा के प्रभाव से हमारे इस धार्मिक देश में दलबंदी बहुत बढ़ गयी है। राजनीति-क्षेत्र में अनेक विरोध हो रहे हैं, जिससे देशनिवासियों की कल्याण-कामना धीमी होती जा रही है, अपना स्वार्थ, दल का स्वार्थ प्रबल होते जा रहे हैं। फलस्वरूप मनु के लिखित लक्षण वाले मंत्री विरल होते जा रहे हैं और दुर्नीति फैलती जा रही है। आदर्श मंत्रियों को राज्य के हित के सामने अपने स्वार्थ की बलि चढ़ानी चाहिए।

अमात्र (वि०) जिसका मापन न हो सके, असीम, जो समूचा न हो, अमौलिक।

अमात्र: (पुं०) परब्रह्म, परमात्मा।

अमाननम् (न०), अमानना (स्त्री०) अनादर, अपमान।

अमानव (वि०) जो मनुष्य न हो, जो मनु का वंशज न हो।

अमानस्यम् (न०) पीड़ा, दर्द।

अमानित्वम् (नं०) अभिमान - शून्यता (अभिमानः देखिए)। अमानित्व एक दैवी सम्पद अर्थात महान गुण है (अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः—गीता १३।७)।

अमानिन् (वि०) अभिमान-रहित, अहंकार-शून्य, अमानी, विनम्र, विनीत। अभिमान आसुरी सम्पद् है। उससे दुःख होता है। अतः सुख चाहने वाले व्यक्ति को अभिमान नहीं करना चाहिए (अभिमानः देखिए)। वैष्णवों को तृण की अपेक्षा नीचा, तरु की अपेक्षा सहिष्णु तथा मान-शून्य होकर दूसरों को सम्मान देते हुए हरि-कीर्थन करना चाहिए (तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः—हरिभक्तिविलास ६।२१)।

अमानुष (वि०) जो मानुषिक न हो, अलौकिक।

अमानुष्य (वि०) अमानव, पशुका सा।

अमानुष्यता (स्त्री०) अमानवता, पशुता, राक्षसपन। मनुष्य में देवभाव भी है, पशु और राक्षस का भाव भी है। उत्तम कुल में जन्म, उत्तम संसर्ग और उत्तम शिक्षा से मनुष्य में देवभाव का विकास होता है। जिस शिक्षा से देवभाव का विकास होता है, वही उत्तम शिक्षा है। जिस शिक्षा से विरोध, हिंसा आदि राक्षसी वृत्ति बढ़ती है, उसे कुशिक्षा ही कहनी चाहिए। जब कोई मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को धमकाता या गाली देता है, तब उसका चेहरा हिंसक पशु या राक्षस की तरह दिखाई पड़ता है। उस समय यदि कोई उसकी फोटो खींच ले और उसके शांत भाव धारण करने पर उसे उस फोटो को दिखलाता है तो वह अपने उस विकृत चेहरे को देखकर लज्जित हो जायगा।

एक ब्राह्मण भिक्षा माँगकर अपनी जीविका चलाते थे। उसके घर में अपनी पत्नी, एक विधवा पुत्रवधु, दो विधवा कन्यायें और एक कुमारी कन्या थी। घर के काम-काजों के बारे में उन स्त्रियों के भीतर हर समय झगड़े हुआ करते थे। ब्राह्मण के मनाने पर भी वे नहीं मानती थीं। उनके झगड़े से ऊबकर ब्राह्मण एक दिन रात को अंधेरे में घर छोड़कर निकल गये। बहुत दूर जाने पर एक साधु से उनकी भेंट हुई। ब्राह्मण ने कहा—"साधु बाबा! मुझे शिष्य बना लो।' साधु उस ब्राह्मण को लेकर अपनी कुटिया में पहुँचे। साधु जो भिक्षा लाते थे, उसे दोनों बाँटकर खाते थे। कुछ महीनों के बीत जाने पर साधु ने एकदिन उन ब्राह्मण से कहा—"तुम एकबार घर जाओ। वहाँ मन लगे तो रह जाना और न लगे तो लौट आने पर मैं तुम्हें साधु बना लूंगा।" ब्राह्मण चलने लगे तो साधु ने उनके लम्बे केश में एक जड़ी बाँध दी। ब्राह्मण रास्ते में चलते हुए दोनों

ओर के खेतों में काम करते हुए उसे उनके मुख साँप, सियार, कुत्ता, बाघ, भालू आदि जानवर चिल्लाते दिखाई पड़े। आगे चलने पर एक नदी पड़ी, पार उतरने के लिए एक नाव मिली, उसमें बहुत से लोग सवार थे। ब्राह्मण ने मल्लाह से कहा—"मैं साधु हूं, मेरे पास पैसे नहीं हैं। कृपा करके मुझे उस पार ले चलो।" मल्लाह दयालु था, वह ब्राह्मण को भी ले चला। नाव में सवार होने पर उन लोगों को देखकर वे डर गये और खचकते हुए मल्लाह के पास पहुँचे। तो मल्लाह ने कहा—"बाबा, इधर मत आओ, नाव डूब जायगी।" ब्राह्मण ने घबड़ाते हुए कहा—"उधर के लोग बाघ, भालू, सियार साँप हैं, मुझे सब काट खायेंगे।" इस पर मल्लाह ने कहा—"मैं तो सबको मनुष्य ही देखता हूं, घबड़ाओ मत, अभी मैं तुमको उस पार उतार दूंगा।" अन्य लोगों के उतर जाने पर मल्लाह ने घाट के किनारे नाव को बाँध दिया। फिर वह ब्राह्मण के साथ ही चलने लगा। उस समय अंधेरा हो आया था, मल्लाह ने ब्राह्मण से कहा—"बाबा, अँधेरी रात में कहाँ भटकोगे, मेरे घर चलो, रात बिताकर सुबह चले जाना।" उसके घर में जाकर ब्राह्मण ने देखा—सभी का चेहरा मनुष्य जैसा ही है। घर के लोगों ने ब्राह्मण को रात के लिए भोजन पकाने को कहा। ब्राह्मण ने उत्तर दिया—"तुम लोग मनुष्य हो, मैं तुम्हारे हाथ का पकाया अन्न ही खाऊंगा।" सुबह उठकर ब्राह्मण अपने घर की ओर चले। घर में पहुँच कर वह छिपे रह कर अपने घर की स्त्रियों का हाल-चाल देखने लगे। उन्होंने देखा, किसी का मुख बाघ का, किसी का साँप का और किसी का भालू जैसा है। यह देखकर वह उल्टे पाँव चल कर साधु के पास पहुँच गये और अपनी बीती बतायी। तब साधु ने उन्हें चेला बना लिया।

अमामसी, अमामासी (स्त्री०) अमावास्या।

अमाय (वि०) निष्कपट, सच्चा, निश्छल, जो मापा न जा सके।

अमायम् (न०) ब्रह्म, परमात्मा।

अमाया (स्त्री०) कपट का अभाव, सच्चाई, परमात्मा का ज्ञान।

अमायामय (वि०) जो मायामय न हो, सत्य, यथार्थ। माया शब्द का लौकिक अर्थ है इंद्रजाल-विद्या (इन्द्रजालः देखिए)। वेदांत में सृष्टि की कल्पना करने वाली ब्रह्म-शक्ति को माया कहते हैं। अतः यह सारी सृष्टि मायामय है (अद्वैतवादः देखिए)। अतः आमायामय अर्थात् माया से परे एकमात्र ब्रह्म ही है। (अव्यक्तमायावैषम्याद् अमायामयतापिनी—पंचदशी २।८३)।

अमायिक, अमायिन् (वि०) निष्कपट, निश्छल, ईमानदार।

अमारः (पुं०) नाश का अभाव, निष्काम भाव।

अमारक (वि०) न मारनेवाला, वध न करनेवाला।

अमार्ग (वि०) पथ-रहित, मार्ग-विहीन।

अमार्गः (पुं०) खराब रास्ता, कुपथ, कुराह।

अमार्जित (वि०) न धोया हुआ, स्वच्छ न किया हुआ।

अमावस्या, अमावास्या (स्त्री०) चंद्रहीन रात्रि, अंधकारमय रजनी। जिस दिन रात को चंद्र का उदय और अस्त दिखाई न पड़े। प्रातःकाल सूर्योदय के साथ चंद्र का उदय और सूर्यास्त के समय चंद्र का अस्त हो जाने के कारण रात्रि को चंद्र नहीं दृष्ट होता किन्तु दिखाई नहीं पड़ता इस कारण उस समूचे दिन-रात को अमावस्या कहते हैं।

हमारे सौर-मंडल में सूर्य ही केंद्र है। बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि आदि ग्रह रूप गोलाकार जड़ पिंड सूर्य से क्रमशः दूर-दूर पर रहकर सूर्य की परिक्रमा करते हैं। आकाश में निरंतर घूमते रहने के कारण सारे ग्रह और उपग्रह आदि गोल हो गये हैं। पृथ्वी का उपग्रह चंद्र है। इसी प्रकार मंगल के कई उपग्रह हैं। उपग्रह ग्रह के चारों ओर घूमते हैं। ग्रह अपने उपग्रहों को लेकर अपनी धुरी पर चक्कर काटते हुए सूर्य की परिक्रमा करने के लिए आकाश में तीव्र गति से दौड़ते रहते हैं।

पृथ्वी गोल है और शून्य-मार्ग में बड़े वेग से चलती है। यह बात हमारे ज्योतिष शास्त्र में प्रतिपादित है (भूगोलः व्योम्नि तिष्ठति, चला पृथ्वी स्थिरा भाति—(भास्कराचार्य और आर्यभट्ट)।

चंद्रग्रहण के समय पूर्णिमा के दिन सूर्य और चंद्र पृथ्वी के विपरीत दिशा में रहते हैं अर्थात् संध्या को चंद्र

का उदय होते समय सूर्य का अस्त होता है; इस कारण पृथ्वी दोनों के बीच आ जाती है। पृथ्वी, चंद्रादि ग्रह और उपग्रह जड़ पिंड हैं। एक सौर-मंडल में केवल सूर्य ही ज्योतिष्मान है। अतः पूर्णिमा के दिन सूर्यास्त होने पर तीनों के एक ही सीध पर आ जाने से पृथ्वी की छाया चंद्र पर पड़ने से वह गोल दिखाई पड़ती हैं। इसी से पृथ्वी की गोलाई सिद्ध होती है।

चंद्र लगभग २८ दिनों में पृथ्वी की परिक्रमा करता है और सूर्य की परिक्रमा करने के लिए पृथ्वी को ३६५ दिन ६ घंटों का समय लगता है। पूर्णिमा के बाद प्रतिदिन लगभग दो-दो दंड चंद्र सूर्य से पिछड़ जाते हुए प्रतीत होता है। इस कारण चौदहवें और पन्द्रहवें दिन चंद्र सूर्य की सीध में आ जाता है और चंद्र की स्थिति पृथ्वी और सूर्य के बीच में रहती है इसी दिन को लोग अमावस्या कहते हैं। यही कारण है कि सूर्य के साथ-साथ एक सीध में रहकर शाम को सूर्य के साथ चंद्र का भी अस्त हो जाता है। अतितीव्र-ज्योतिष्मान सूर्य के प्रकाश के सामने जड़ पिंड चंद्र दिखाई नहीं पड़ता। फलस्वरूप अमावस्या की रात को आकाश में चंद्र नहीं दीखता।

अमाष (वि०) उरद या मूंग न उत्पन्न होने वाला, बिनामूंग का।

अमित (वि०) अपरिमित, बहुत अधिक, असीम। एक स्त्री को उसके पिता, भाई और पुत्र अल्प ही देते हैं किन्तु पति अपने तन, मन, धन आदि का अमित दान देते हैं। इस कारण प्रत्येक स्त्री को चाहिए कि अपने पति की पूजा करे अर्थात् सेवा, यत्न, मधुरवाणी, सद्व्यवहार आदि के द्वारा पति को सदा प्रसन्न रखे (मितं ददाति हि पिता, मितं भ्राता, मितं सुतः। अमितस्य तु दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ?—भृगुसंहिता ७।१३)।

प्रायः देखा जाता है कि पति जिसे पसंद करता है, पत्नी उसका विरोध करती है, फलस्वरूप परिवार में दुःख बढ़ जाता है। विवाह के बाद वाले कुशंडिका यज्ञ के समय ७ बार अग्नि की परिक्रमा भरते हुए पति पत्नी से कहता है—"मेरे जीवन का जो व्रत है, उसमें तुम अपने हृदय का दान करो, मेरे चित्त के अनुसार तुम्हारा चित्त हो (मम व्रते ते हृदयं दधातु, मम चित्तमनुचित्तं ते अस्तु—विवाहपद्धति)। अग्नि को साक्षी रख कर पत्नी जो प्रतिज्ञा करती है, जीवन भर उसे उसका पालन करना चाहिए। तभी दाम्पत्यजीवन सुखमय हो सकता है।

आजकल बड़ी-बड़ी लड़कियों का विवाह होता है। उनका एक दृढ़ मत पहले से ही बन जाता है। विवाह के थोड़े दिनों बाद ही वे अपने मत के अनुसार काम करने लगती हैं, जो सर्वत्र पति के अनुकूल नहीं होता। इस कारण पति-पत्नी में विरोध होने से उनका दाम्पत्यसुख नष्ट हो जाता है। इस लिए बचपन में ही कन्याओं को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए, जिससे वे पति-गृह में जाकर अपने स्वतंत्र मत के अनुसार कोई काम न करे। इसी से दाम्पत्य-सुख जीवन भर बना रह सकता है।

अमितद्युति (वि०) अत्यंत कांतिवाला।

अमितप्रभः (पुं०) जिसकी प्रभा सीमित न हो, (बौद्ध) एक बोधिसत्त्व का नाम। इनका रंग श्वेत और कभी लाल है। यह दाहिने हाथ से सिर पर अमृत-कलश धारण करते हैं और बायें हाथ से मुट्ठी बाँधकर कमर का स्पर्श करते हैं। इनका लाल रंग अमिताभ और श्वेत रंग वैरोचन का द्योतक है। इन रंगों के अनुसार यह अमिताभ सा वैरोचनकुल के अंतर्गत हैं।

अमितविक्रमः (पुं) असीम पराक्रम, विष्णु।

अमितवीर्य (वि) असीम शक्तिवाला।

अमितव्ययिन् (वि) वृथा व्यय करनेवाला, फजुल-खर्च, जो मितव्ययी न हो।

अमिताक्षर (वि) जो पद्यमय न हो, गद्यवत्।

अमिताचारः (पुं) अनर्गल व्यवहार, असंयम, आचार-भ्रष्टता, अधिक मदिरापान का अभ्यास।

अमिताभ (वि) असीम कान्तिवाला, अपरिमित तेजस्वी।

अमिताभः (पुं) (बौद्ध) गौतमबुद्ध का एक नाम। बौद्धों के महायान संप्रदाय के अनुसार स्वयंभू आदि बुद्ध की ध्यानशक्ति की पाँच क्रियाओं के द्वारा पाँच ध्यानी बुद्ध की उत्पत्ति होती है। जैसे—वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्न-संभव, अमोघसिद्धि और अमिताभ। उनके मत में अब तक तीन जगत नष्ट हो चुके हैं और आजकल चतुर्थ जगत चल रहा है। अमिताभ इस वर्तमान जगत के अधिपति हैं। अमिताभ शब्द का अर्थ है—अमित या अपरिमित आभा, ज्योति जिसकी है (अमिताः आभाः यस्य असौ अमिताभः)।

हिन्दूशास्त्रों के अनुसार जहाँ ईश्वर, ब्रह्मा, विस्णु और शिव माने जाते हैं, उसी प्रकार बौद्धशास्त्रों में आदि बुद्ध और ऊपर लिखित पाँच ध्यानी बुद्धों को संसार का अधिपति मानते हैं।

अमिताभ की उत्पत्ति 'संज्ञास्कंध' से हुई थी। 'आरोलिक' इनका मंत्रपद है। इनका वर्ण लाल तथा मुद्रा समाधि है। इनका वाहन दो मयूर तथा प्रतीक-चिह्न पद्म है

अमितौजस् (वि०) सर्वशक्तिमान, सर्वशक्तिसम्पन्न।

अमित्रः (पुं) वह जो मित्र न हो, दुश्मन, शत्रु।

अमित्रघातिन् (वि०) शत्रुओं का वध न करनेवाला।

अमित्रिन् (वि०) जो मित्र न हो, शत्रु, विरोधी, विपक्षी, प्रतिद्वंद्वी।

अमिथित (वि०) अनुत्तेजित।

अमिथ्या (अव्य०) सत्यता से, सच्चाई से।

अमिन (वि०) रुग्ण, बीमार।

अमिनः (पुं०) [वेद] अपरिमित, अहिंसित (उत द्विवहो अमिनः सहोभिः—ऋ० सं० ४।६।७।१)।

अमिश्रित (वि०) न मिला हुआ।

अमिषम् (न०) सांसारिक भोग्य वस्तु, मांस, सच्चाई, सत्यता।

अमीतवर्ण (वि०) अपरिवर्तित रंग वाला।

अमीमांसा (स्त्री०) मीमांसा का अभाव।

अमीवा (स्त्री०) रोग, बीमारी, कष्ट, दुःख,भय।

अमीवा (पुं०) [वेद] रोग या हिंसा (यस्ते गर्भमयीवा—ऋ० वे० ८।८।२०।२)।

अमीवाम् (न०) पीड़ा, कष्ट, चोट।

अमुक (वि०) एक सर्वनामीय विशेषण, फलाँ।

अमुक्त (वि०) जो मुक्त न हो, बंधनयुक्त, आबद्ध।

अमुक्तम् (न०) हाथ से पकड़ कर चलाया जाने वाला हथियार, शस्त्र।

अमुक्तहस्त (वि०) जो उदार न हो, कृपण, लोभी, अमितव्ययी।

अमुक्तिः (स्त्री०) छुटकारे का अभाव, मोक्ष न मिलने का भाव, बंधन।

अमुख (वि०) बिना मुँह का, मुखरहित।

अमुग्ध (वि०) जो मूर्ख न हो, जो मोहित न हो।

अमुतस् (अव्य०) वहाँ से, उस स्थान से, दूसरे लोक में, अगले जन्म में।

अमुथा (अव्य०) इस प्रकार, यों।

अमुष्मिन् (अव्य०) दूसरे लोक में।

अमुष्यकुल (वि०) एक ऐसे कुल का।

अमुष्यकुलम् (न०) एक प्रसिद्ध वंश।

अमुष्यपुत्रः (पुं०) प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न पुत्र।

अमूढ़ (वि०) न घबराया हुआ, अविकल, जो मूढ़ न हो, ज्ञानी, आत्मज्ञ (गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत्—गीता १५।५)।

अमूदृश् (वि०) इस प्रकार का, इस जाति का।

अमूर (वि०) जो मूर्ख न हो, समझदार, बुद्धिमान, तीक्ष्ण दृष्टि वाला।

अमूरः (वेद) (पुं०) अमूढ़, सर्वदा सावधान, हुशियार, चालाक (मूरा अमूर न वयं चिकित्वः'—ऋ० ७-५-३२-४)।

अमूर्त (वि०) आकार-रहित, मूर्ति-रहित।

अमूर्तः (पुं०) मूर्ति-रहित वस्तु, वायु, आकाश, काल, दिशा, जीवात्मा, ईश्वर, ब्रह्म।

अमूर्तगुणः (पुं०) वैशेषिक दर्शन में गुण, जैसे धर्म अधर्म आदि।

अमूर्तिः (स्त्री०) आकारहीनता, विष्णु।

अमूल, अमूलक (वि०) जड़रहित, निर्मूल, असत्य, जिसका कोई आधार या प्रमाण न हो, प्रमाण-रहित (न ह्यमूला जनश्रुतिः)।

अमूल्य (वि०) बिना मूल्य का, बहुमूल्य।

अमृक्त (वि०) जिसे चोट न लगी हो।

अमृजय (वि०) निर्दय, दयाहीन, निष्ठुर, निर्मम।

अमृणालम् (न०) एक सुगंधित तृण, उशीर, खस।

अमृत (वि०) अमर, मरण-रहित, न मरा हुआ, जीवित। संसार के सभी प्राणी मृत्युभय से त्रस्त हैं। मनुष्य चारों ओर प्रतिक्षण नाश, ध्वंस, मृत्यु आदि देखते हैं, इसी कारण अपने शरीर पर आघात लगाने और इसके छूट जाने के भय से सदा सशंकित रहते हैं। यदि वे अपनी क्षुद्र अहंभाव को छोड़ कर अद्वितीय परमात्मा ब्रह्म के साथ अपने को अभिन्न (अहं ब्रह्मास्मि—बृहदारण्यक १।४।१०) समझ ले तथा उन

पर तृष्टि निबद्ध रखें तो मृत्यु का भय नहीं रह सकता। जब तक मनुष्य अपने से पृथक वस्तुओं को देखता रहता है तब तक भय नहीं छूटता (द्वितीयाद् वै भयं भवति—वृहदारण्यक १।४।१)। सर्वकारण अद्वैत परमात्मा का आत्मा के साथ अभिन्न रूप से साक्षात्कार होने से द्वैतज्ञान लुप्त हो जाता है तथा भय मिट जाता है (अभयं वै जनकः प्राप्तोऽसि—वृहदारण्यक ४।२।४)। इस अभय पद का ज्ञान हो जाने से मनुष्य ब्रह्मस्वरूप हो जाता है (अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते—कठोप० २।३।१४)।

अमृत शब्द के अर्थ प्रिय, मनोहर आदि भी हैं, जैसे—छोटे बालक का भाषण अमृत के समान है (अमृतं बालभाषितम्)।

अमृतः (पुं०) देवता, धन्वंतरी, परमात्मा, ब्रह्म। ब्रह्मशक्ति माया की कल्पना से सारे जीव-जगत् की उत्पत्ति हुई है। इस कारण सभी जीव मानो उस अमृत ब्रह्म के पुत्र हैं। प्राचीन ऋषि कहते थे—विश्व में अमृत के पुत्र सुन रहे हैं (श्रृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य पुत्राः—श्वेताश्वतर उप० २।५)। आधुनिक गुरु शिष्यों से कहते हैं—"तुमलोग महापापी नराधम हो; बैठ-बैठे जप करो" इत्यादि। इस प्रकार हतोत्साह करने की अपेक्षा उत्साह देने से मनुष्य उन्नत तथा सुखी बन सकता है। अन्य ऋषि कहते हैं—उठो, जागो, वरणीय आचार्यों के समीप जाकर श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करो (उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान् निबोधत—कठ० उप० १।३।१४)।

अमृतकरः (पुं०) चंदमा, शशि।

अमृतकुण्डम् (न०) वह आधान या पात्र जिसमें अमृत हो।

अमृतगर्भः (पुं०) व्यक्तिगत आत्मा, परमात्मा।

अमृततरङ्गिणी (स्त्री०) चाँदनी, ज्योत्स्ना।

अमृतता (स्त्री०) अमरत्व, अमरता।

अमृतत्वम् (न०) निर्वाण-मुक्ति। आनंदमय ब्रह्म के साथ जीव का पूर्णतया मिलन, असीम आनंद की प्राप्ति। ऋषि लोग मायामय जान कर समस्त संसार का मन से परित्याग करके अमृतत्व प्राप्त हुए थे (त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः)। इस मायामय मिथ्या संसार के किसी पदार्थ पर मन में आसक्ति रहने से अमृतत्व-लाभ नहीं होता। धन, सम्पत्ति आदि वित्त के रहते हुए अमृतत्व या स्थायी आनंद की प्राप्ति की आशा नहीं है। वृहदारण्यक उपनिषद की कथा है कि महर्षि याज्ञवल्क्य ने वृद्धावस्था में गृहत्याग करने की इच्छा से अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी से कहा—"मैं संन्यास लेना चाहता हूं, तुम अपनी सौत कात्यायनी से मेरी सम्पत्ति का विभाजन कर लो"। मैत्रेयी ने पूछा,—"आपकी कौन कौन संपत्तियाँ हैं?" इसके उत्तर में महर्षि ने कहा—"भूसंपत्ति, बाग-बगीचे, शिष्य-प्रशिष्य आदि एक सम्पति और दूसरी है ब्रह्मविद्या।" इस पर मैत्रैयी ने फिर पूछा—"किस सम्पत्ति का क्या फल है, बता दीजिए।" इसके उत्तर में महर्षि ने कहा—"इस लोक की संपत्ति से इह लोक में सुख प्राप्त हो सकता है, किंतु वित्त से अमृतत्व की आशा भी नहीं है (अमृतत्वस्य तु नशास्ति वित्तेन—२।४।२)। सुन कर मैत्रेयी ने कहा कि "जिससे मैं अमृतत्व प्राप्त नहीं कर सकूंगी, उसे लेकर मैं क्या करूंगी?" (येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्? २।४।३)। इस बात को सुनकर महर्षि ने प्रसन्न हो कर कहा—"जीवन भर तुमने मेरे प्रिय कार्य किये हैं और अब इस अन्तिम समय में भी प्रिय प्रश्न किया है। मेरे पास शांत होकर बैठो, मैं तुम्हें विस्तार के साथ ब्रह्मविद्या बताऊंगा। हे मैत्रैयी! सभी के अंतःकरण में अनंत आनंद विराजमान हैं, उसी आनंद की तृप्ति के लिए पति प्रिय होता है, पति के सुख से लिए कोई पति को प्रिय नहीं समझती, अपने सुख के लिए पति प्रिय होता है (न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति—२।४।५)। इसी प्रकार जाया की प्रीति के लिए कोई जाया को प्रिय नहीं समझता, अपने सुख के लिए मनुष्य जाया को प्रिय समझता है। इसी प्रकार पुत्र, वित्त, ब्राह्मण, क्षत्रिय, इहलोक, परलोक, देवता आदि सभी के सुख के लिए कोई उन्हें प्रिय नहीं मानता, अपने सुख के लिए सबको प्रिय मानता हैं।"

सर्वश्रेष्ठ वृहदारण्यक उपनिषद के सर्वश्रेष्ठ महर्षि याज्ञवल्क्य के उपदेश से बुद्धिमान मनुष्य समझ सकेंगे कि वित्त का आकर्षण आत्मानन्द की प्राप्ति में बाधक है। अचल गृहक्षेत्र और बहुत अधिक संचित धन वित्त के अंतर्गत हैं। गृह मिथ्या वस्तु है, ईंट, काठ, पत्थर, लोहा आदि खोल देने पर गृह आकाश में मिल जाता है, जैसे

कि वस्त्र में से एक-एक सूत खींचकर निकाल फेंकने से वस्त्र हवा हो जाता है। बौद्धदार्शनिक कहते हैं कि कुछ लकड़ियों के अतिरिक्त रथ नामक कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि उन लकड़ियों को खोल डालने पर रथ नहीं रहता। इस विचार से गृह में किसी को आसक्ति नहीं रह सकती। शरीर को सुरक्षित रखने के लिए उत्तमोत्तम गृह बनाये जायँ, किंतु उन्हें केवल हवा ही समझना चाहिए। पैसे देकर कोई मकान खरीदता या बनवाता है, किंतु उसे अपना नहीं समझना चाहिए, क्योंकि इस लोक से प्रस्थान करते समय कोई उसे कंधे पर ढोकर ले नहीं जा सकता। कोई मासिक किराया देकर मकान में रहने का अधिकार खरीदता है, कोई २०।२५ वर्षों के रुपये देकर उस मकान में अपने जीवन भर और पुत्र-पौत्रादि के लिए रहने का स्थायी अधिकार खरीदता है। इस कारण कोई नहीं कह सकता कि यह मकान मेरा है। कवि गाया करते थे—"न घर तेरा, न घर मेरा, सिर्फ रैन बसेरा है।"

जब हम जमीन पर से चलते हैं तो देखते हैं कि चारों ओर मेढ़ से घिरा हुआ खेत एक का है, उधर भी इसी प्रकार मेढ़ से घिरा हुआ खेत दूसरे का है। किंतु जब हम विमान में बैठकर मील दो मील ऊपर चढ़ जाते हैं तो देखते हैं कि सभीं खेत एक के हैं।

धन तो मिट्टी है। सोने, चाँदी, ताँबे, निकेल आदि धातु के बने सिक्के मिट्टी के विकार हैं। आजकल सभी देशों में पेड़-पौधों की लुगदी से बने कागज के टुकड़ों पर सरकारी छाप लगाकर १, ५, १०, १००, १००० रुपयों के रूप में चलाये जाते हैं। वे भी मिट्टी के ही विकार हैं। यथार्थ में उनका कोई भी मूल्य नहीं हैं। क्योंकि उन कागजों को अन्य देश में ले जाने पर उनके बदले कोई कानी कौड़ी भी नहीं देगा; अन्य देश के लाखों रुपये के नोट चाय का जल गर्माने के लिए फूंक देगा।

मिथ्या जगत में मिथ्या का ही तो व्यवहार है (मिथ्या देखिए)। १ रुपये का कागज देने से जो वस्तु मिलती है, १० या १०० रुपये का कागज देने से उसके १० गुनी या १०० गुनी वस्तुयें मिलती हैं। इस कारण जीवनयापन करने के लिए इन रुपयों की आवश्यकता है। मिथ्या जानकर व्यवहार करने से धन के प्रति आसक्ति नहीं रह सकती। आसक्ति ही दुःख का निदान है।

धनिकों को धन, वित्त आदि पर इतना अधिक अभिमान होता है कि वे दरिद्रों को अपने सामने अति तुच्छ समझते हैं। इसे देखकर ईसा मसीह ने कहा था—"सूई के छेद में से ऊँट का चला जाना संभव होने पर भी धनी लोग स्वर्ग में नहीं जा सकते।" (अशोच्य देखिए)।

अमृतद्रव (वि०) अमृत बहाने वाला, अमृत चुआने वाला।

अमृतद्रवः (पुं०) अमृत की धार, अमृत का प्रवाह।

अमृतधारा (स्त्री०) एक प्रकार का छंद, जिसके प्रथम पद में २०, दूसरे में १२, तीसरे में १६ और चौथे में ८ अक्षर होते हैं; अमृत का प्रवाह।

अमृतपः (पुं०) अमृत-पायी, देवता, विष्णु, मद्यप, शराबी।

अमृतफला (स्त्री०) अंगूर का गुच्छा, द्राक्षा।

असृतबन्धुः (पुं०) देवता, घोड़ा, चंद्रमा।

अमृतभुज् (पुं०) देवता।

अमृतभू (वि०) जन्म-मरण से रहित, आवागमन से मुक्त।

अमृतम् [वेद] (न०) सुवर्ण, सोना (अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यममृतं दध्रे अधिमर्त्येषु'—अथर्व–१९।२६।१); परमात्मा (शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः–यजुःसंहिता); जल, 'अमृता ह्यापः' वह पद जो प्रलयपर्यन्त रहे 'आभूत-संप्लवं स्थानममृतत्वं प्रचक्षते' (अपाम सोमममृता अभूम —यजुःसंहिता)।

अमृतम् (न०) सुधा। एक कल्पित तरल वस्तु जिसके पान करने से जीव अमरत्व-लाभ कर लेता है। देवता भी इसी अमृत को पीकर अमर हो गये है। ऋग्वेद में देवताओं को अमृत कहा गया है (अमृता देवाः–शतपथ २।१।३।४)। प्राण को भी अमृत कहा गया है (अमृतं उ वै प्राणः—शतपथ ९।३।३।१३)। आदित्य भी अमृत संज्ञा से संयुक्त है (आदित्यो अमृतम्)। शत वर्ष की पूर्ण आयु की प्राप्ति मनुष्य के लिए अमृतत्व माना गया है (एतद् वै मानुषस्यामृतत्वम् यत् सर्वमायुरेति)। मन अमृत, शरीर मर्त्य है। अप्रमाद अमृत और प्रमाद मृत्यु है। अनृत और रोग मृत्यु के रूप हैं, ब्रह्मचर्य अमृत और रेतःपात मृत्यु है। प्रजातंतु अर्थात् पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि क्रम से वंश-वृद्धि का क्रम चलता रहे तो मनुष्य

अपने को अमर समझता है (प्रजातंतुं मा व्यवच्छित्सी)।

पुराणों के अनुसार देवता और असुरों ने समुद्र-मंथन किया था, जिसमें मंदार-पर्वत मंथन-दंड और अनंत-नाग मथने का रज्जु (मथानी) बना था। इस मंथन से लक्ष्मी, अमृत, विष, ऐरावत, उच्चैःश्रवा आदि की उत्पत्ति हुई थी। यह रूपक वर्णना है। प्रत्येक मनुष्य के अंतःकरण में देवभाव और असुरभाव वर्तसान हैं। दया, क्षमा, उदारता, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संयम, गर्वहीनता, सरलता आदि गुण देवभाव के द्योतक हैं। इसके विपरीत, निष्ठुरता, प्रतिशोध, कृपणता, हिंसा, मिथ्या, व्यभिचार, असंयम, घमंड आदि दोष असुरभाव के नमूने हैं। इस प्रकार के दो दलों में निरंतर संग्राम हो रहा है। कभी देवता जीतते हैं तो कभी असुर। प्रायः असुर के पराक्रम से देवताओं को पलायन करना पड़ता था। जिस मनुष्य में देवता की विजय होती है वह अमृत पीकर आनंदमय हो जाता है और जिसमें असुर जीतता है वह विष की जलन से संसार को प्रपीड़ित कर देता है।

होम के समय जो सामग्री अर्पित की जाती थी उसे भी अमृत ही कहा जाता है। विशेषतः सोमरस भी अमृत ही है। अमृत के निर्झर और पीयूष नाम थे।

अमृत की उत्पत्ति के संबंध में महाभारत में इस प्रकार की कथा कही गयी है। असुरों के साथ निरंतर युद्ध करने से देवताओं की शक्ति का ह्रास होता जा रहा था। अतः देवगण शक्ति और अमरत्व प्राप्त करने के लिए विष्णु के पास गये। विष्णु ने देवताओं को उपदेश दिया कि समुद्र-मंथन के द्वारा अमृत का संग्रह करो। विष्णु ने कूर्म का रूप धारण करके अमृत-मंथन में सहायता की। मंदराचल को मथनी और वासुकि को रस्सी बना कर समुद्र-मंथन किया गया, जिससे उसके गर्भ से अमृत निकला।

अमृत के संबंध में पुराणों में इस प्रकार का वर्णन मिलता है। राजा पृथु के उपदेश के अनुसार पृथ्वी को गाय और इंद्र को बछड़ा बनाकर देवताओं के द्वारा सोने के पात्र में दूध दूहा गया, जिससे अमृत उत्पन्न हुआ। दुर्वासा मुनि के शाप से यह अमृत समुद्र के गर्भ में गिर गया। इसके बाद इंद्र दुर्वासा से त्रस्त होकर विष्णु के पास आये। तब विष्णु ने कूर्म रूप धारण कर मन्दराचल को मथनी और वासुकी को रस्सी बनाकर समुद्र मंथन करवाया। जिससे अमृत, ऐरावत हाथी, उच्चैःश्रवा अश्व, आदि चौदह रत्नों की उत्पत्ति हुई।

वायु और मत्स्य पुराणों में इस प्रकार लिखा गया है—देवताओं और असुरों के द्वारा समुद्र-मंथन के परिणाम-स्वरूप अमृत की उपलब्धि हुई। इसी के साथ दधि, सुरा, सोमरस, लक्ष्मी, अश्व, कौतुभमणि, पारिजात और कालकूट विष की भी उत्पत्ति हुई। इसके बाद धन्वन्तरि का आविर्भाव हुआ। असुरों का नाश करने के लिए विष्णु ने मोहिनी रूप धारण कर उस अमृत को देवताओं में वितरित कर दिया। अमृत ग्रहण करते समय उन्हें राहु ने देख लिया। इसलिए उसका सिर काट दिया गया। इस प्रकार पराजित होकर असुरों ने देवताओं के विरुद्ध युद्ध प्रारंभ कर दिया।

अमृतमन्थनम् (न०) अमृत निकालने के लिए किया जाने वाला समुद्र का मंथन।

पौराणिक देवासुरों का समुद्र-मंथन कल्पित कहानी है। उससे दिखाया गया है कि इस संसार-समुद्र में सुधा (सुख), विष (दुःख) और धनाधिष्ठात्री लक्ष्मी हैं। सुधा के लेने वाले अनेक हैं, जो श्रेष्ठ और समर्थ हैं उन्हीं को सुधा (सुख) मिलती है। लक्ष्मी को विष्णु ने ले लिया। जब देखा गया कि विष का लेने वाला कोई नहीं है तो संसार का कल्याण चाहने वाले मंगलमय शिवजी ने उसे पी नहीं लिया, बल्कि कंठ में धारण कर लिया। इसी कारण वे नीलकंठ कहलाये। वे ऐसा न करते तो विष सारे संसार में फैलकर उसे जर्जरिव कर देता। इसी प्रकार ज्ञानी महात्मा सारे दुःखों को अपने भीतर समेट लेते हैं, ताकि अन्य लोग सुख-शांति में रहें।

अमृतमय (वि०) अमृतपूर्ण, आनंदमय, जिसमें प्रचुर आनंद हो (ममट् प्राचुर्ये)। स्त्री-रूप यंत्र को इस संसार में किसने बनाया, जो है विष, किंतु प्रतीत होता है अमृतमय और वह धर्म का नाशक भी है (स्त्रीयन्त्रं केन लोके विषममृतमयम् धर्मनाशाय सृष्टम्—उद्भट)। जैसे हृद्यंत्र हृदय है वैसे ही स्त्रीयंत्र शब्द का अर्थ है स्त्री। विष को अमृत समझने की तरह स्त्रीको अमृतमय समझना परम अज्ञान है। यह श्लोक वैराग्य उत्पन्न करने के लिए रचा गया है। आसक्ति से बंधन और वैराग्य से मुक्ति होती है। प्रमादरूप मदिरा को पीकर समस्त जगत उन्मत्त हो गया (पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरा-

मुन्मत्तभूतं जगत्—नीतिसंदर्भ)। (कामः देखिए)। ऐसे ऐसे कठोर वचन आसक्ति छोड़ने कें उद्देश्य से कहे गये हैं (संयमः, इन्द्रियग्रामः देखिए)। अतः इसमें स्त्री-निंदा नहीं की गयी है। शास्त्रकार किसी की भी निंदा नहीं कर सकते।

अमृतयोगः (पुं०) ज्योतिष में एक शुभ मुहूर्त।

अमृतरसः (पुं०) अमृत, पीयूष, ब्रह्म।

अमृतलतिका, अमृतलता (स्त्री०) वह लता जिससे अमृत निकले, गुडुच।

अमृतसारः (पुं०) घृत, घी।

अमृतसूतिः (पुं०) देवताओं की जननी, चंद्रमा।

अमृतसोदरः (पुं०) शशि सूर्य का उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा।

अमृतांशुः (पुं०) चंद्रमा, शशि।

अमृताशिन् (पुं०) वह जो अमृत पान करता हो, देवता।

अमृताहरणः (पुं०) गरुड़।

अमृतोत्पन्नम् (न०) एक प्रकार का सुरमा।

अमृतोत्पन्ना (स्त्री०) मक्षिका, मक्खी।

अमृतोपम (वि०) अमृततुल्य, परमानंदमय। अमृत आनंद आत्मा का स्वरूप है। आनंद से इस जीव-जगत की उत्पत्ति, आनंद में स्थिति और आनंद में ही लय होता है (अनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्ति अभिसंविशन्ति—तैत्तिरीय०, भृगु० ६)।

उसी आनंद की छाया अंतःकरण पर पड़ने से वह कुछ आनंद का अनुभव करता है। इंद्रियों के साथ अनुकूल विषयों का संस्पर्श होने पर मन में जो सुखानुभव होता है, वह इसी आत्मानंद का आभास मात्र है। दर्पण में जो मुख की छाया पड़ती है, उसे मुखाभास कहते हैं। उसी प्रकार अंतःकरण में चेतन आत्मा का जो प्रतिबिंब पड़ता है, उसे चिदाभास कहते हैं। इसी प्रकार अंतःकरण में जो सुख होता है वह सुखाभास मात्र है। आत्मा का सुख ही अमृत है।

अमृषा (अव्य०) निश्चयता पूर्वक, सत्यता से। (वि०) सत्य।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने रामचरितमानस क़े आरम्भ के मंगलाचरण में लिखा है—जिन परब्रह्म की माया के समस्त जगत् वशीभूत है, यहाँ तक कि ब्रह्मादि देवता और असुर भी वशवर्ती हैं, जैसे अल्पांधकार में रास्ते पर पड़ी हुई टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी में लोग सर्प का भ्रम देखते हैं उसी प्रकार जिन की सत्ता से यह सारा संसार (न+मृषा, मिथ्या नहीं) सत्य रूप से प्रतीत हो रहा है। जिनके चरण-पल्लव ही संसार-समुद्र से पार होने के इच्छुक मानवों का एकमात्र आश्रय है, उन समस्त कारणों के कारण रूप राम नामक ईश्वर हरि की मैं वंदना करता हूं (यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः। यत्पादपल्लवमेकं हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ।६।)।

अमृषाभाषित्वम् (न०) सत्य कथन, सत्य भाषण।

अमृष्ट (वि०) घर्षण न किया हुआ, न धोया हुआ, अस्वच्छ।

अमृष्यमाण (वि०) सहन न करने वाला, जो सहिष्णु न हो, असहिष्णु।

अमेदस्क (वि०) जो मोटा या स्थूल न हो, पतला, क्षीण, कृश।

अमेधस् (वि०) मूर्ख, निर्बुद्धि, अज्ञानी।

अमेध्य (वि०) यज्ञ के लिए अयोग्य या अनुपयुक्त, अशुद्ध, अपवित्र, गंदा, अस्वच्छ।

भर्तृहरि ने लिखा है—मनुष्य उच्च घन मांसपिंड को स्तन समझकर आलिंगन करता है, लाला से गंदे मुखको शराबी जिस प्रकार मदिरा-पात्र को चूसता है उसी प्रकार पीता रहता है, अपवित्र क्लेदयुक्त पथ में रमण करता है, महान् मोहांध व्यक्तियों के लिए क्या नहीं रमणीय प्रतीत होता है? (समाश्लिष्यत्युच्चैर्घनणिशितपिण्डं स्तनधिया, मुखं लालाक्लिन्नं पिबति चसकं सासवमिव। अमेध्यक्लेदार्द्रे पथि च रमते स्पर्शरसिको, महामोहान्धानां किमपि रमणीयं न भवति?—वैराग्यशतक)।

अमेध्यम् (न०) विष्ठा, मल; अपशकुन।

अमेध्यलेपः (पुं०) विष्ठा का लेपन, अपवित्र वस्तु का लेप।

अमेनः (पुं०) वह जिसे पत्नी न हो, विपत्नीक, विधुर।

अमेनि (वि०) निक्षेपण के अयोग्य।

अमेय (वि०) मापने के अयोग्य, मापरहित, असीम, अपार, अनंत।

अमेयात्मन् (पुं०) विष्णु।

अमेहः (पुं०) मूत्र की रुकावट, मूत्रावरोध।

अमोक्षः (पुं०) स्वतंत्रता का अभाव, मुक्ति न होना।

अमोघ (वि०) अचूक, अव्यर्थ।

अमोघः (पुं०) वह जो कभी निष्फल न हो, विष्णु।

अमोघकिरणम् (न०) सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त के पूर्व की किरण।

अमोघदण्डः (पुं०) वह जो दंड देने में कभी न चूकता हो, शिव, महादेव।

अमोघवर्षः (पुं०) राष्ट्रकूट के राजा का एक नाम। यह गोविंद तृतीय का पुत्र था। मृत्युशय्या पर पड़े पिता ने जब देखा कि पुत्र तो अभी वयस्क नहीं हुआ तो करकराज को राज्य-व्यवस्था के लिए उसके सहायक बना दिया। अनंतर मंत्री तथा सामन्त विद्रोह करने लगे और उनकी सहिष्णुता भी जाती रही। राज्य का एक प्रांत गंगबाड़ी स्वतंत्र भी हो गया और वेंगी के चालुक्य राजा दिजयादित्य द्वितीय ने युद्ध करके अमोघवर्ष को गद्दी से उतार दिया। तथापि राजा अमोघवर्ष ने आशा तथा साहस का पूरा परिचय दिया। कटकराज की सहायता से उसने चालुक्य राजा से अपने राज्य को पुनः अधिकार में कर लिया।

अमोघवर्ष के अंकित ताम्रपत्र-अभिलेख से उस समय की राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक अवस्था का अच्छा विवरण मिलता है। राजा अमोघवर्ष विद्याविनोदी था। धर्म का तो वह मानो अवतार ही था। लक्ष्मी जी का अनन्य उपासक राजा अंततोगत्वा जैनाचार्य के मृदुल उपदेश से जैन हो गये। अमोघवर्ष-रचित दो ग्रंथ उपलब्ध हैं—कविराजमार्ग और प्रश्नोत्तरमालिका। चतुर्थ आश्रम में आकर राजा एकदम विरक्त होकर रहने लगा। इसने ६८ वर्षों तक राज किया था।

अमोघवाच् (वि०) जिसके कथन निष्फल न होते हों।

अमोघविक्रमः (पुं०) शिव, महादेव।

अमोघसिद्धिः (पुं०) [बौद्ध] पंचध्यानी बुद्धों के एक का नाम। इनकी उत्पत्ति संज्ञा-स्कंध से हुई थी। प्रज्ञाधृक् मंत्र-पद से इनका आविर्भाव हुआ था, इनका रंग हरा तथा मुद्रा अभय है। इनका वाहन गरुड़ तथा प्रतीक-चिह्न विश्ववज्र है। इनका दूसरा नाम अमोघवज्र है।

अमोत, अमोतक (वि०) घर पर बुना हुआ, घर पर रक्षित या पालित।

अमोतपुत्रकः (पुं०) घर पर पालित बालक; जुलाहे का लड़का।

अमौत्रधौत (वि०) क्षार से न धोया हुआ (धोबी के द्वारा)।

अमौनम् (न०) मुनि न होने की स्थिति या अवस्था।

अम्ब् (पर०) (अम्बति) जाना; (आत्म०) (अम्बते) शब्द करना।

अम्बः (पुं०) पिता, जनक।

अम्बकम् (न०) शिव के नेत्र, नेत्र।

अम्बपाली (स्त्री०) बुद्ध के समय यह वैशाली की लिच्छवी की गणिका थी। जो बुद्ध के प्रभाव से उनकी शिष्या हो गई थी और अनेक प्रकार के धनों से संघ की सहायता की थी। महात्मा बुद्ध ने राजगृह जाते समय वैशाली में रुककर अंबपाली का आतिथ्य स्वीकार किया था। बुद्ध के जीवन-चरित पर प्रकाश डालने वाली जितनी घटनाएँ हैं उनमें से यह भी एक प्रसिद्ध घटना है। कहते हैं जब तथागत एक बार वैशाली में ठहरे थे तब जहाँ उन्होंने देवताओं की तरह दीप्यमान लिच्छवि-राज की भोजन के लिए प्रार्थना अस्वीकृत की थी। वहीं उन्होंने गणिका अंबपाली की निष्ठा से प्रसन्न होकर उसका आतिथ्य स्वीकार किया। इससे गर्विणी अंबपाली ने उन राजपुत्रों को लज्जित करते हुए अपने रथ को उनके रथ के बराबर हाँका। उसने संघ को आमों का अपना बगीचा भी दानकर दिया था जिसमें वह अपना चौमासा वहाँ बिता सके। सम्भवतः वह अभिजात कुलीना थी और इतनी सुन्दरी थी कि लिच्छवियों की परंपरा के अनुसार उसके पिता को उसे सर्वभोग्या बनाना पड़ा। संभवतः उसने गणिका-जीवन भी बिताया था और उसके कृपापात्रों में शायद मगध का राजा बिंबिसार भी था। बिंबिसार के द्वारा उससे एक पुत्र होना भी बताया जाता है। जो भी हो, बाद में वह बुद्ध और उनके संघ की अनन्य उपासिका हो गई थी।

अम्बम् (न०) जल, पानी, नेत्र ।

अम्बरः (पुं०) एक प्राचीन नगर का भग्नावशेष । यह राजस्थान की राजधानी जयपुर से ५ मील उत्तर स्थित है। यह नगर भग्नावशेष है। अति प्राचीन होने के कारण इसका ठीक-ठीक उल्लेख नहीं मिलता । हाँ, इतना अवश्य विवरण प्राप्त हुआ है जिसमें इस नगर की स्थापना का श्रेय मीनाओं को प्राप्त है। अरावली की घाटी में यह नगर बसा है। चारों तरफ पर्वत-मालाओं से आवेष्ठित यह नगरी आपदाओं से रक्षा पाने के लिए बड़े कौशलपूर्ण ढंग से बनायी गयी थी ।

प्राचीन ऐतिहासिक इस नगर की प्राकृतिक छटा दर्शनीय है। पर्वत-मालाओं के भीतर यह नगर एक अवर्णनीय रम्य चित्र उपस्थित करता है । इसके प्रासादों की रचना राजा मानसिंह ने कराई थी । यहाँ पर का बनाया गया दीवाने आम इसकी सौंदर्य-वृद्धि में कोई कसर नहीं छोड़ता है । अधुना इसे खंडहर के रूप में पाया गया है । बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ अब जीर्ण-शीर्ण तथा भग्न-प्राय: सी पायी गयी हैं ।

राजा मानसिंह ने बंगाल के राजा प्रतापादित्य को पराजित कर उनकी यशोहरेश्वरी प्रस्तरमयी काली मूर्ति को लाकर अंबर में स्थापित किया था। वह वहाँ के पूजक ब्राह्मण को भी तांत्रिक विधि से नित्य पूजा करने के लिए लाये थे । उनके वंशज अभी भी वहीं रहकर काली जी की नित्य पूजा करते हैं।

अम्बरचर: (पुं०) आकाश में विचरण करने वाली पक्षी, चिड़िया, विद्याधर, वायुयान ।

अम्बरदम् (न०) रूई, कपास ।

अम्बरनाथ—बंबई राज्य के थाना जिले के कल्याण तालुका का यह एक नगर है । यह बंबई से ३८ मील की दूरी पर स्थित है । यहाँ से एक मील की दूरी पर पूर्व की ओर एक प्राचीन हिंदू देवालय है जो प्राचीन शिल्प-कला का एक ज्वलंत उदाहरण है। इसके अंतर्गत १०६० ई० का एक पुराना शिलालेख पाया जाता है। यहाँ की मुख्य मूर्तियों में से एक भेमस्त की मूर्ति है जिसके घुटने पर एक नारी भी उपविष्ट है। शायद यह मूर्ति शिव-पार्वती को निरूपित करने के लिए बनवाई गयी थी । यहां पर माघ मास में शिवरात्रि के पर्व पर एक मेला लगता है।

अम्बरम् (न०) आकाश, अंतरिक्ष, व्योम, वियत् (अम्बरे चरति व्योमयानः); वस्त्र, पोशाक, रूई, पड़ोस, केसर, अभ्रक, एक सुगंधित पदार्थ ।

अम्बरमणिः (पुं०) सूर्य, भास्कर ।

अम्बरलेखि (वि०) आकाश छूने वाला, गगनस्पर्शी, बहुत ऊँचा ।

अम्बरस्थली (स्त्री०) पृथ्वी, भूमि ।

अम्बराधिकारिन् (पुं०) कार्यालय या कचहरी का निरीक्षक ।

अम्बरान्त: (पुं०) क्षितिज, पृथ्वी ।

अम्बरीष: (पुं०) यह इक्ष्वाकु से २८वीं अयोध्या का सूर्यवंशी राजा था । जो पशुश्रक का पुत्र था । पुराणों में इसे परम वैष्णव कहा गया है। विष्णु ने प्रसन्न होकर इसे सुदर्शन-चक्र प्रदान किया था । एक बार राजा ने वर्षव्यापी व्रत का उद्यापन किया और तीन दिन अनाहार व्रत रहा; द्वादशी के दिन वह पारण करने बैठा । उसी समय दुर्वासा मुनि ने आकर राजा से भोजन की प्रार्थना की। इसके बाद दुर्वासा स्नान करने चले गये, किंतु उनके आने में देर देखकर अंबरीष उपस्थित ब्राह्मणों से आज्ञा लेकर विष्णु-चरणादिक पान करने बैठा । दुर्वासा नदी से स्नान करके लौटे और इस सारी घटना को जानकर बहुत क्रोधित हुए । अपनी जटा तोड़ कर उन्होंने जमीन पर पटकी । उस जटा से प्रकांड दैत्यराज प्रगट होकर अंबरीष का नाश करने के लिए आगे बढ़ा । इसी समय भगवान विष्णु का सुदर्शन चक्र उस दैत्यराज को भस्म करके नाशार्थ दुर्वासा की ओर बढ़ा । निरुपाय हो कर त्रिभुवन छान डाला परंतु कहीं भी उन्हें शरण न मिली । अंत में विष्णु की शरण में गये । उसी अंबरीष के पास जाने के लिए भगवान ने कहा । अंत में वह उसके पास आये । शरणापन्न जानकर अंबरीष ने उनकी रक्षा की। इसके बाद अंबरीष पुत्र को राज्य देकर स्वयं जंगल में तपस्या करने के लिए चला गया ।

हरिवंश में अंबरीष को नाभाग का पुत्र माना गया है । वह दूसरा अंबरीष था। रामायण की परंपरा उसके विपरीत है । उस कथा के अनुसार जब (तीसरे) अंबरीष यज्ञ कर रहे थे तब इंद्र ने बलिपशु चुरा लिया । पुरोहित ने तब बताया कि अब उस प्रनष्ट यज्ञ का प्रायश्चित्त केवल

मनुष्य बलि से किया जा सकता है। फिर राजा ने ऋषि ऋचीक को बहुत धन देकर बलि के लिए उनके कनिष्ठ पुत्र शुनःशेप को खरीद लिया। ऋग्वेद में बालक की विनती पर विश्वामित्र के द्वारा वह मुक्त किया गया था।

अम्बरीषम् (न०) खेद, संतोष, युद्ध, जानवर का बच्चा, छोटा बच्चा, एक नरक, शिव, विष्णु, सूर्य, कड़ाही, भूँजे को भट्ठी।

अम्बरोकस् (पु०) स्वर्गवासी, देवता।

अम्बर्य (पर०) (अम्बर्यति) साथ लाना, संग्रह करना, संचय करना।

अम्बष्ठः (पुं०) संस्कृत और पाली साहित्य में अंबष्ठ जाति तथा देश का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। उसका एक गणतंत्र राज्य था और वह चिनाब के दक्षिणी तट पर निवास करती थी। आगे चल कर अंबष्ठों ने संभवतः चिकित्साशास्त्र को अपना लिया, जिसका परिज्ञान हमें मनुस्मृति से होता है।

अम्बष्ठा (स्त्री०) जूही, मल्लिका, पाठा आदि पौधे।

अम्बा (स्त्री०) माता, जननी, दुर्गा, राजा पांडु की माता।

काशिराज इंद्रद्युम्न की तीन कन्याओं में सबसे बड़ी, जिसकी छोटी बहनें अम्बिका और अंबालिका थीं। महाभारत की कथा के अनुसार भीष्म ने अपने भाई विचित्रवीर्य के लिए स्वयंबर में तीनों को जीत लिया। अंबा राजा शाल्व से विवाह करना चाहती थी, इससे भीष्म ने उसे उस राजा के पास भेज दिया; परंतु शाल्व ने उसे ग्रहण नहीं किया। तब भीष्म से बदला लेने के लिए वह तप करने लगी। शिव को तप द्वारा प्रसन्न कर उसने चितारोहण किया। शिव के वरदान से उस कथा के अनुसार, अगले जन्म में वह शिखंडी हुई जिसने भीष्म का महाभारत में बध किया।

अम्बालिका (स्त्री०) माँ, माता, भद्रमहिला, एक पौधा, राजा विचित्र-वीर्य की पत्नी।

यह काशीराज इंद्रद्युम्न की सबसे छोटी लड़की और अंबा तथा अंबिका की भगिनी थी। भीष्म ने स्वयंबर में इसे जीत कर अपने भाई विचित्रवीर्य से ब्याह दिया था। विधवा होने पर व्यास ने नियोग द्वारा उससे पांडवों के पिता पांडु को उत्पन्न किया।

अम्बासमुद्रम् (नं०) यह मद्रास राज्य के तिरुनेलवेली नगर से बीस मील की दूरी पर स्थित है। यह दक्षिणी रेलवे का एक स्टेशन भी है।

अम्बिका (स्त्री०) माँ, पार्वती, भद्र-महिला।

काशिराज की तीन कन्याओं में मझली, जिसे जीतकर भीष्म ने विचित्रवीर्य से ब्याह दिया था। पति के मरने पर उस विधवा से व्यास ने नियोग द्वारा कौरवों के पिता धृतराष्ट्र को उत्पन्न किया था।

अम्बिकापतिः (पुं०) शिव, महादेव।

अम्बिकापुत्रः (पुं०) कौरवों के पिता राजा धृतराष्ट्र।

अम्बिकेयः, अम्बिकेयकः (पुं०) गणेश, कार्तिकेय, धृतराष्ट्र।

अम्बु (न०) जल, पानी, जल का वह अंश जो रक्त में रहता है, एक प्रकार का छंद।

अम्बुकणः (पुं०) जल की बूंद, फुहार।

अम्बुकण्टकः (पुं०) ग्राह, घड़ियाल, मगर।

अम्बुकेशः अम्बुकूर्मः (पुं०) शिशुमार, सूँस।

अम्बुकेशरः (पुं०) नीबू का पेड़।

अम्बुक्रिया (स्त्री०) पितरों के निमित्त किया जाने वाला जलदान, तर्पण।

अम्बुघनः (पुं०) ओला।

अम्बुचर, अम्बुचारिन् (वि०) जल में विचरण करने वाला, जलजंतु संबंधी।

अम्बुज (वि०) जल में उत्पन्न होने वाला, जलज।

अम्बुजः (पुं०) चंद्रमा, शंख, कमल, सीप, कपूर, पद्म, सारस पक्षी, इंद्र का वज्र।

अम्बुजन्मन् (वि०) जल से उत्पन्न होने वाला, कमल, पंकज, पद्म, नीरज, जलज। देवता और गुरु के चरणों की कमल से उपमा दी जाती है, क्योंकि कमल जैसे कोमल उनके चरण होते हैं (नमः श्रीशंकरानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने—पञ्चदशी १।१)

अम्बुजम् (न०) इंद्र का वज्र, कमल, पद्म।

अम्बुतस्करः (पुं०) सूर्य, दिवाकर, भास्कर।

अम्बुद (वि०) जल देने वाला, जिसमें से जल निकलता हो, जलीय।

अम्बुदः (पुं०) बादल, मेघ।

अम्बुधरः (पुं०) मेघ, अभ्रक, अबरक।

अम्बुधिः (पुं०) जल का कोई आधान या पात्र, समुद्र, चार की संख्या।

अम्बुनिधिः (पुं०) समुद्र, सागर।

अम्बुप (वि०) जल पीने वाला, जल पीकर रहने वाला ।

अम्बुपः (पुं०) समुद्र, वरुण ।

अम्बुपतिः (पुं०) समुद्र, सागर, वरुण ।

अम्बुपर्णाशिन (वि०) जल और पत्ती खाने वाला । कुछ तपस्वी केवल जल पीकर या पेड़ की पत्ती खाकर ध्यान-धारणादि करते थे । परंतु उससे भी काम-क्रोधादि पशुवृत्तियाँ नहीं जाती थीं । महाम तपस्वी विश्वामित्र घोर जंगल में बैठकर केवल जल पीकर तथा पत्ती खाकर, तप कर रहे थे । उनका तप नष्ट करने के लिए स्वर्गराज इंद्र ने नर्तकी उर्वशी को भेजा । परम सुंदरी उर्वशी को देखकर तपस्वी का मन चल गया । उससे संगत होने से शकुन्तला का जन्म हुआ था । १८ पुराणों, १८ उपपुराणों तथा महाभारत आदि के रचयिता वेदव्यास जी के पिता अंबु-पर्ण खाने वाले पराशर मुनि एक बार गंगा पार जाने लिए एक नाव पर सवार हुए । नाव चलाने वाला मल्लाह दुपहर के समय अपनी लड़की सत्यवती को पारापार करने के लिए छोड़कर खाने के लिए घर चला गया था । सुंदर युवती को एकांत में पाकर मुनि का मन चंचल हो गया । उनके संसर्ग से वेदव्यास का जन्म हुआ था । आजकल जो लोग उत्तम बासमतीचावल का अन्न घी-दूध-दही के साथ खाते हैं उनका इंद्रियनिग्रह हो तो पंगुल भी सागर लंघन कर सकता है (विश्वामित्र-पराशर-प्रभृतयो ये चाम्बुपर्णाशनास्तेऽपि स्त्रीमुखपङ्कजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः । शाल्यन्नं सघृतं पयोदाधियुतं ये भुञ्जते मानवास्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेत् पङ्गुस्तरेत् सागरम्—वैराग्यशतक) । परंतु इससे निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि अभ्यास तथा वैराग्य अर्थात् विषयों की दोष-दृष्टि के द्वारा मन को वशीभूत किया जा सकता है (अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः—योगसूत्र १।१२ । अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येन च गृह्यते—गीता ६।३५) ।

अम्बुपातः (पुं०) धारा-प्रवाह, जल-प्रपात ।

अम्बुप्रसादः (पुं०) निर्मली, जिससे जल स्वच्छ किया जाता है ।

अम्बुभवम् (न०) कमल, पद्म ।

अम्बुभृत् (पुं०) बादल, समुद्र, अभ्रक ।

अम्बुमत् (वि०) जलयुक्त, जलीय, पनीला ।

अम्बुमात्रज (वि०) केवल जल में ही उत्पन्न होने वाला ।

अम्बुमात्रजः (पुं०) शंख, सीपी ।

अम्बुमुच् (न०) बादल, मेघ ।

अम्बुराजः (पुं०) वरुण, समुद्र ।

अम्बुराशिः (पुं०) समुद्र, सागर ।

अम्बुरुह् (न०) कमल, सारस पक्षी ।

अम्बुरुहः (पुं०) कमल, पद्म, अम्बुजन्मन् देखिए (तत्पादम्बुरुह-द्वन्द्वसेवानिर्मलचेतसाम्—पञ्चदशी १।२) ।

अम्बुरोहिणी (स्त्री०) कमल, पद्म ।

अम्बुवाहः (पुं०), अम्बुवाहिन् (न०) पानी ढोने वाला, बादल, झील ।

अम्बुवाहिनी (स्त्री०) काठ का बरतन, कठवत ।

अम्बुविहारः (पुं०) जल-क्रीड़ा, जल-विहार ।

अम्बुवेतसः (पुं०) नरकट, नरकुल ।

अम्बुसरणम् (न०) जल की धारा या वहाव, जल का प्रवाह ।

अम्बुसर्पिणी (स्त्री०) जोंक, जलौका ।

अम्बूकृत (वि०) मुँह वंद करके गुनगुनाया हुआ ।

अम्भ् (आत्म०) (अम्यते, अम्भित) शब्द करना ।

अम्भस् (न०) जल, स्वर्गीय जल, आकाश, ज्योतिष में लग्न से चौथी राशि ।

अम्भःपतिः (पुं०) वरुण, समुद्र ।

अम्भःसारः (पुं०) मोती, मुक्ता ।

अम्भसू (पुं०) धुआँ, धूम ।

जल में एक बूंद तेल डाल देने से वह फैल जाता है । इसी प्रकार मनुष्य का यश फैल जाता है । किंतु जल में एक बूंद घी डाल दिया जाय तो वह संकुचित हो जाता है (विस्तार्यते यशो लोके तैलबिन्दुरिवाम्भसि । संक्षिप्यते यशो लोके घृतविन्दुरिवाम्भसि—धर्मसिन्धु १२५) । वैसा ही कार्य करना चाहिए जिससे यश बढ़े । यशोहीन या निंदित व्यक्ति का जीवन निरर्थक है (निरर्थकं हि जीवितं निन्दितानाम्–रामायण) ।

अम्भृणः [वेद] (पुं०) परिपूर्ण, महान, विशङ्ग-भृष्टिमम्भृणम्–ऋ–सं० २।१।२२।५) ।

अम्भोज (वि०) जल का, जल में उत्पन्न होने वाला ।

अम्भोजः (पुं०) चंद्रमा, सारस पक्षी ।

अम्भोजम् (न०) कमल, पद्म ।

अम्भोजयोनिः (पुं०) ब्रह्मा की एक उपाधि ।

अम्भोजिनी (स्त्री०) कमलों का समूह, वह स्थान जहाँ कमल के पौधे अधिकता से उगे हों।

अम्भोदः (पुं०) बादल, मेघ।

अम्भोनिधिः (पुं०) समुद्र, सागर।

अम्भोराशिः (पुं०) समुद्र, सागर।

अम्भोरुह्, अम्भोरुहम् (न०) कमल, सारस पक्षी।

अम्मय (वि०) जलीय, जल का बना हुआ।

अम्यक् [वेद] (वि०) शत्रुओं पर चलाया जाने वाला बर्छे के प्रकार का शक्ति नामक अस्त्र, साथ रहने वाली शक्ति (अम्यक् सात इन्द्र ऋष्टिरस्मे— ऋ. २।४।८।३)।

अम्ल (वि०) जिसमें खटास हो, खट्टा।

अम्लः (पुं०) खटाई, खट्टी चीज, इमली, कच्चा आम, अमड़ा, कच्चा फालसा, कच्चा वेर, अंगूर, सिरका, चकोतरा का पेड़, डकार, आदि। ईमली तथा नमक की मात्रा बरावर करने से कुछ खटाई हल्की हो सकती है। तात्पर्य यह है—पृथक्-पृथक् दोनों का गुण हो जाता है। यह रुचि, पाचकाग्नि, रक्त, मांस को बढ़ाता, वायु का नाश और शरीर में शीतलता का संचार करता है। जिह्वा तथा दाँत के लिए अम्ल हानिकारक है। यह पित्त, श्लेष्मा वमन-कारक और कफ को भी बढ़ाने वाला है। तरकारी में अधिक मिर्चा डाला गया हो अथवा कोई अधिक मिर्चा खा भी जाय तो पुरानी इमली घोलकर तरकारी में मिला देने से तथा उस व्यक्ति को पिलाने से मिर्चे के कारण होने वाली जलन तथा उससे उत्पन्न झाग दूर हो जाता है।

अम्लकेशरः (पुं०) चकोतरा का वृक्ष।

अम्लजम्बीरः (पुं०) नीबू का पेड़।

अम्लता (स्त्री०) खट्टापन, खटास।

अम्लपित्तम् (न०) एक रोग जिसमें खाया हुआ पदार्थ पेट में पहुँच कर खट्टा हो जाता है, पाकाशय का खट्टापन।

अम्लफलः (पुं०) इमली का फल।

अम्लफलम् (न०) इमली का वृक्ष।

अम्लभेदनम् (न०) अम्ल वेंत नामक पौधा।

अम्लवेतसम् (न०) फलों से प्राप्त होने वाली एक प्रकार की मदिरा।

अम्लसारः (पुं०) नीबू का वृक्ष।

अम्लाक्त (वि०) अम्ल, खट्टा।

अम्लान (वि०) जो कुम्हलाया न हो, स्वच्छ, पवित्र, चमकीला, विना बादलों का।

अम्लानि (वि०) सबल, सतेज।

अम्लानिः (स्त्री०) ताजगी, उत्साह, सबलता।

अम्लानिन् (वि०) स्वच्छ, शुद्ध।

अम्लिका (स्त्री०) मुँह का खट्टापन, खट्टी डकार, इमली का वृक्ष।

अम्लिमन् (पुं०) खट्टापन, खटास।

अय् (उभ०) (अयते, अयांचक्रे, अयितुं, आयित) जाना, गमन करना।

अयः (पुं०) गमन, सौभाग्य, पूर्वजन्म के शुभ कार्म, खेलने का पासा।

[वेद] (न०) सुवर्ण, सोना (अयः शीर्षा मदे रघुः, ऋ. ८-१०१-३)।

अयक्ष्मम् (न०) रोगरहित अवस्था, स्वास्थ्य, तंदुरुस्ती, निरोगता (वि०) रोगरहित, नीरोग।

अयज्ञ (वि०) यज्ञ-रहित, हवन न करने वाला। यज्ञ प्रधानतया पाँच प्रकार के होते हैं—ब्रह्मयज्ञ (अध्यापन, शास्त्र पढ़ाना), पितृयज्ञ (तर्पण), दैवमज्ञ, (हवन), भूतयज्ञ (पशु-पक्षियों को भोजन देना) और नृजज्ञ (अतिथि-सेवा) (अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्। होमो दैवो वालिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्——गरुड़पुराण ११५)। (यज्ञः देखिए) इनमें से एक भी यज्ञ जो मनुष्य नहीं करता उसे अयज्ञ कहते हैं।

अयज्ञ मनुष्य इस लोक में प्रसंशा नहीं पाता और न सुख ही पाता है। परलोक की बात ही क्या है (नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम——गीता ४।३१)।

एक सभ्य मनुष्य के जीवित रहने के लिए हजारों मनुष्यों की सहायता आवश्यक है। एक वस्त्र के अपने हाथ तक पहुँचने के पूर्व कम से कम सौ व्यक्तियों के हाथ उसमें लगे होंगे। किसी खेत में रूई के पौधे लगे, उसमें रुई उत्पन्न हुई, उसमें से किसी ने विनौलों को निकाल कर सुखाया, फिर उसे बटोर कर रख लिया, उसके बाद नया खेत जोत कर तैयार किया गया और उन विनौलों को बो दिया गया, फिर खेत में पानी सींचा, पौधे उग आये, चिड़ियाँ कोमल पत्तियाँ चुग न जायँ, इसलिए पहरा वैठा दिया, पौधे वढ़े तो फलियाँ लगीं,

उनके पकने पर उन्हें चुन लिया गया। अब छिलकों के भीतर से रुई निकाल ली गई, गट्ठर बाँध कर कुलियों के सहारे उन्हें गाड़ियों में लादा गया, इस प्रकार रूई कपड़े में मिल में पहुँचाई गयी, सूत बने, उनसे वस्त्र बुना गया, उस पर मोहर लगी, गाँठ बाँधी गयी, फिर कुलियों के सहारे गाड़ी पर लाद कर महाजन की कोठी पर ले गये, वहाँ से फिर गाड़ियों के सहारे छोटे दुकनदारों के पास वह वस्त्र आया, तब उसे खरीद कर लाया गया। इस प्रकार अन्न, पादुका, पुस्तक, तेल आदि सैकड़ों वस्तुओं के विषय में भी हिसाब लगा लेना चाहिए। जब इतने आदमियों से मुझे उपकार मिलता है तो मुझे भी चाहिए कि मैं भी लोगों का कुछ उपकार करूँ। जो मनुष्य अपने लिए भोजन पकाता है और जो कुछ कमाता है अपने परिवार के लोगों को ही खिलाता है, वह पाप भोजन करता है (भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्--गीता ३।१३)। पाप का फल दुःख है। जो किसी को नहीं खिलाता या किसी का उपकार नहीं करता, वह पापी है, फलस्वरूप उसे दुःख ही भोगना पड़ता है। जब मैं दूसरों के घर भोजन करता हूँ तो मुझे भी चाहिए कि दूसरे लोगों को निमंत्रण देकर किसी कार्य अथवा उत्सव के बहाने उन्हें भोजन कराऊँ। ग्रहण से दान में हृदय की उदारता प्रकट होती है। उदारता सात्त्विक वृत्ति है। सत्त्वगुण सुख का कारण है (सत्त्वं सुखे संञ्जयति–गीता १४।९। सारांश यह है कि अपने उपार्जन का कुछ अंश दुसरों को भी देना चाहिए और तभी लोगों के ऋण से उऋण हो कर मनुष्य सुखी हो सकता है। शुभ कर्म से शुभ फल होता ही है (शुभकार्यस्य शुभं फलम्)।

कुछ विद्वान लोग वेदों और शास्त्रों को पढ़ाते हैं, यह भी एक यज्ञ है। स्थूल शरीर से उपकार न करके भी ज्ञानदान रूप अध्यापन से शुभ अदृष्ट तैयार होता है। पिता, माता आदि गुरुजनों की वृद्धावस्था में भोजन, वस्त्र आदि देकर उन्हें पालना तथा मृत पितरों के उद्देश्य से तर्पण, श्राद्ध आदि के द्वारा लोग पितृऋण से उऋण होते हैं। दैव शक्ति की कृपा से ही सुवृष्टि होने पर अन्न उत्पन्न होता है। अतः दैव से भी मनुष्य ऋणी हैं, इस कारण हवन आदि द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने की चेष्टा होती है। यह भी एक यज्ञ है। पशुओं को भोजन देना तथा अतिथि-सत्कार भी यज्ञ हैं, इनमें से एक भी यज्ञ जो नहीं करता वही अयज्ञ है।

अयज्ञः (पुं०) वह जो यज्ञ न हो, निकृष्ट यज्ञ।

अयज्ञनीय (वि०) यज्ञ करने के अयोग्य।

अयज्ञीय (वि०) यज्ञ के लिए अनुपयुक्त (जैसे उर्द), यज्ञ करने के अयोग्य (जैसे अनुपवीत बालक), दूषित।

अयत् (वि०) उद्योग न करने वाला, अनुद्यमी।

अयत (वि०) न रोका हुआ, अबाधित, असंयत।

अयतिः (पुं०) वह जो यति या तपस्वी न हो। (अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः—गीता ६।३७)।

अयते [वेद] (क्रिया) चलता है, जाता है।

अयत्न (वि०) जिसमें या जिसके लिए चेष्टा न करना पड़े।

अयत्नः (पुं०) चेष्टा का अभाव, सरल, सुगम।

अयत्नकृत (वि०) सुगमता पूर्वक किया हुआ, बिना चेष्टा का किया हुआ।

अयत्नज (वि०) सहज में उत्पन्न।

अयत्नवत् (वि०) जो क्रियाशील न हो, अक्रिय, सुस्त।

अयथा (अव्य०) जैसा होना चाहिए वैसा नहीं अयोग्यता से, भूल से।

अयथाकृत (वि०) अनुपयुक्त ढंग से किया हुआ।

अयथातथम् (अव्य०) जैसा चाहिए, वैसा नहीं।

अयथाबलम् (अव्य०) अपनी शक्ति के अनुसार नहीं।

अयथाभिप्रेत (वि०) अवांछित, अप्रिय, अरुचिकर।

अयथामात्रम् (अव्य०) मात्रा या परिणाम के अनुसार नहीं।

अयथामुखीन (वि०) घूमा हुआ मुख वाला।

अयथायथम् (अव्य०) जैसी आवश्यकता हो वैसा नहीं, अनुपयुक्तता से।

अयथार्थ (वि०) मिथ्या, भ्रम, अध्यास, अवास्तविक, अनुचित। रज्जु को सर्प रूप से जानना अध्यास ही अयथार्थ-ज्ञान है। धूम देखकर वहाँ अग्नि का अनुमान करना जहाँ होता है वहाँ यदि वाष्प को धूम समझा जाय तो वह अयथार्थ ज्ञान वा भ्रमज्ञान होगा और उससे अग्नि का अनुमान मिथ्या हो जायगा। जो वस्तु उससे भिन्न दूसरी वस्तु नहीं है उसमें उस दुसरी वस्तु का ज्ञान होना

भी अध्यास तथा अयथार्थ अनुभव ही है (अतस्मिन् तद्-बुद्धिः अध्यासः—ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्यभूमिका । अतद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः—न्याय०) ।

न्यायदर्शन में अयथार्थ अनुभव तीन प्रकार का माना गया है—संशय, विपर्यय और तर्क । अंधेरे में शाखा-पत्र-रहित वृक्ष देखकर लोग ठूँठ या आदमी न समझ सकने के कारण दुविधा में पड़ जाते हैं । इसी दुविधा-ज्ञान को संशय (संदेह) कहते हैं । यदि उसे भूत या चोर समझ लिया जाय तो वह विपर्यय-ज्ञान होगा । इसी प्रकार सीप में रजत का, मरुस्थल में जल का आदि भ्रमिक ज्ञान भी विपर्यय कहे गये हैं ।

तर्क के सात भेद माने गये हैं—जैसे आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रकापत्ति, अनवस्था, व्याघात, प्रमाण-बाधिता और गौरव (अन्योन्याश्रयः देखिए) ।

वेदांत में मायाकल्पित संसार के सभी पदार्थ अयथार्थ हैं (अद्वैतवादः देखिए) ।

अयथार्थानुभवः (पुं०) अनुचित या मिथ्या अनुभव, अन्य वस्तु में किसी अन्य वस्तु का होने वाला ज्ञान ।

अयथावत् (अव्य०) अनुचित रीति से, गलत ढंग से ।

अयथास्थित (वि०) जो क्रमबद्ध न हो, अव्यवस्थित ।

अययु [वेद] (पुं०) चलना, गमन करना ।

अययेष्ट (वि०) जो पर्याप्त न हो, अपर्याप्त ।

अयथोचित (वि०) जो उचित न हो, अनुचित, अनुपयुक्त ।

अयन (वि०) जाने वाला, गमन करने वाला ।

अयनम् (न०) गमन, गति (सेना की), व्यूह का मार्ग मर्यादा क्रम से अग्र, पश्चात् या पार्श्व में स्थिति का स्थान, व्यूहपथ, व्यूह प्रवेशमार्ग । महाभारत के युद्ध में कौरव पक्ष के प्रधान सेनापति व्यूह के मध्यस्थल में रहेंगे, अन्यान्य सेनापति उनके बगल से उनकी रक्षा करेंगे तभी सब सैनिक रक्षित होंगे । राजा दुर्योधन ने युद्ध-नीति की यह बात अपने सेनापतियों से कही थी (अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिता भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि—गीता १।११) । युद्ध के समय प्रधान सेनापति का विनाश करने के लिए विपक्षी लोग विशेष रूप से चेष्टा करते थे ।

सूर्य के सौर पौष के ११वें दिन या दिसंबर २५ से ६ मासों तक उत्तर दिशा में प्रतीत होने वाला गमन (पौषस्यै-कादशदिनात् षन्मासा उत्तरायणम्) उत्तरायण है तथा सौर असाढ़ के ११वें दिन या २५ जून से छ मास तक दक्षिण दिशा में प्रतीत होने वाला गमन दक्षिणायन है । यथार्थ में यह गमन सूर्य की गति नहीं है । गोल पृथ्वी शून्य-मार्ग में सूर्य की ओर आवर्तित होती हुई तीव्र गति से सूर्य की परिक्रमा करने के लिए दौड़ती है । पृथ्वी का उत्तरी ध्रुव पृथ्वी से बहुत दूर उत्तर दिशा में स्थित ध्रुव नामक एक महान ज्योतिष्मान नक्षत्र की ओर कुछ झुका हुआ है । इसी कारण अपने दोनों ध्रुवों के धुरे पर आवर्तित होकर दौड़ते समय पृथ्वी का एक ध्रुव छः मासों तक सूर्य के समीप और दूसरा ध्रुव दूर हटा रहता है । अगले छः मासों तक पृथ्वी के सूर्य की दूसरी ओर पहुँच जाने के कारण निकट का ध्रुव सूर्य से दूर और दूर का ध्रुव निकट हो जाता है । यही अयन का सिद्धांत है । यथार्थ में यह न सूर्य की और न पृथ्वी की गति है ।

अथायने ते नक्राद् कीटाच्च (ग्रहलाघवः त्रिप्रश्ना-धिकारः) अर्थात् मकर से लेकर ६ राशियों में ग्रह (सूर्य) रहने से उत्तरायण और कर्क से लेकर छः राशियों में रहने से दक्षिणायन होता है । शुभ कर्मों के संपादन के लिए उत्तरायण श्रेष्ठ माना गया है (यथा—अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् । तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः—गीता ८।२४) ।

अयनवृत्तम् (न०) क्रांतिवृत्त ।

अयन्त्रम् (न०) रुकावट न होना, बाधा का अभाव ।

अयन्त्रित (वि०) न रोका हुआ, जो वश में न किया गया हो, स्वेच्छाचारी ।

अयवः (पुं०) अँधेरा-पक्ष, कृष्ण-पक्ष ।

अयशः (पुं०) कलंक, अपकीर्ति, अपवाद ।

अयशस् (वि०) कलंकित, अपकीर्तित ।

अयशस्कर (वि०) अपमान-जनक, अकीर्तिकर ।

अयशस्य (वि०) अपमानित, कलंकित, अप्रतिष्ठित ।

अयःकिट्टम् (न०) लोहे का मोर्चा, जंग, मंडूर ।

अयःशङ्कुः (पुं०) कील, आला ।

अयःशूलम् (न०) लोहे का आला, कष्टदायक क्रिया ।

अयःशृङ्ग (वि०) लोहे के सींगों वाला ।

अयश्चक्र (न०) लोहे का चक्र (दूरादयश्चक्रनिभस्य तन्वी—रघुवंश) ।

अयस् (न०) (पुं०) लोहा, स्वर्ण, अगर की लकड़ी, अग्नि, आग।

अयस्कान्तः (पुं०) चुंबक पत्थर।

अयस्कामः (पुं०) लुहार।

अयस्कारः (पुं०) लुहार।

अयस्कुम्भः (पुं०) लोहे का बर्तन, लौहपात्र।

अयस्चूर्णम् (न०) लोहे का चूरा, लौहचूर्ण।

अयस्तुण्ड (वि०) लोहे की नोक वाला।

अयसमय (वि०) लोहे का बना हुआ, लौहनिर्मित।

अयस्मुखः (पुं०) लोहे की नोक, लोहे का तीर।

अयाचक (वि०) न माँगने वाला, याचना न करने वाला।

माँगना या याचना करना हीनता का द्योतक है। याचक तृण से भी लघु होता है (तृणादपि च याचकः)। दूसरों की सहायता माँगना भी याचना ही है। सभी को स्वावलम्बी होना चाहिए।

अयाचित (वि०) बिना माँगा हुआ, जिसके लिए याचना न की गयी हो, अप्रार्थित।

अयाचितम् (न०) बिना माँगी हुई भिक्षा।

अयाचितव्रतम् (न०) बिना मांगी हुई भिक्षा पर जीवन यापन करना।

अयाचिन् (वि०) न माँगने वाला, प्रार्थना न करने वाला।

अयाज्य (वि०) जिससे यज्ञ न कराया जा सके, जातिबहिर्भूत, पतित, भ्रष्ट।

अयात (वि०) जो न गया हो, न गया हुआ।

अयातयाम (वि०) जो दुर्बल न हो, मोटा-ताजा।

अयानम् (न०) गतिरोध, अवस्थिति, गमन न करना।

अयानयम् (न०) उत्तम या निकृष्ट भाग्य।

अयान्वित (वि०) भाग्यशाली, भाग्यवान।

अयामः (पुं०) मार्ग का न होना, वह जो मार्ग न हो।

अयाव (वि०) जो यव (अन्न) का बना हुआ न हो।

अयाशु (वि०) मैथुन के अयोग्य, संभोगायोग्य।

अयि (अव्य०) प्यार सूचक एक अव्यय। जैसे—हो, ऐ आदि।

अयुक्त (वि०) जो मिला न हो, असंयुक्त, पृथक, जो जुड़ा न हो, जो जुता न हो, अधार्मिक, असावधान, अयोग्य, अनुपयुक्त, अनुचित, असत्य, अनभ्यस्त, आत्मा से वियुक्त अर्थात् विमुख। जीव मन और इंद्रियों के द्वारा माया-कल्पित विषयों का ग्रहण करता रहता है, परंतु इसे संयोग नहीं कहते, क्योंकि दोनों ही मायाकल्पित हैं। संयोग सत्यवस्तु आत्मा के साथ ही हो सकता है। जब मन बाहरी विषयों को छोड़कर आत्मा में निविष्ट हो जाता है, तभी जीव योगयुक्त होता है। आत्मा को छोड़कर बाहरी विषयों से जब वह मन लिप्त होता है तभी उस अवस्था को अयुक्त कहते हैं।

इस प्रकार से अयुक्त, अशिक्षित, अहंकृत, धूर्त, दूसरों को हानि पहुँचाने वाला, शोकार्त, दीर्घसूत्री कर्त्ता तामसिक कहलाता है (अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः। विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते—गीता १८।२८)।

अयुक्तिः (स्त्री०) संयोग का अभाव, वियुक्ति।

अयुक्तियुक्त (वि०) युक्तिविरुद्ध, अनुपयुक्त, असंगत।

अयुग (वि०) पृथक, भिन्न, अकेला, अविभाज्य।

अयुगार्चिस् (पुं०) अग्नि, आग, वह्नि।

अयुग्बाणः (पुं०) मदन, कामदेव।

अयुग्म (वि०) जो युग्म या जोड़ा न हो, भिन्न।

अयुग्मनेत्रः (पुं०) शिव, महादेव।

अयुग्मशरः (पुं०) मदन, कामदेव।

अयुग्मसप्तिः (पुं०) सूर्य, भास्कर।

अयुज् (वि०) जिसका विभाजन न हो सके, अविभाजनीय।

अयुत (वि०) असंयुक्त, असम्बद्ध।

अयुतम् (न०) दस हजार की संख्या, अयुत।

अयुतसिद्धिः (स्त्री०) कुछ वस्तुएँ या विचार अभिन्न हैं—इस बात को प्रमाणित करने की क्रिया, स्वतः सिद्धि।

अयुताध्यापकः (पुं०) उत्तम शिक्षक या अध्यापक, श्रेष्ठ गुरु।

अये (अव्य०) क्रोध, आश्चर्य या खेद सूचक अव्यय।

अयोगः (पुं०) भिन्नता, पृथक्ता, बिलगाव, अयोग्यता, अवकाश, अनुचित मेल, विधुर, अरुचि, हथौड़ा, खाद्य वस्तुओं के शरीर में संयोग का अभाव, उससे शरीर में रोग उत्पन्न होता है (अंशूदकम् देखिए)।

अयोगवः (पुं०) शूद्र पिता और वैश्या माता से उत्पन्न संतान।

अयोग्य (वि०) जो योग्य न हो, अनुपयुक्त, अपात्र।

अयोगम् (न०) हथौड़ा, मूसल।

अयोद्धृ (वि०) न लड़ने वाला, युद्ध न करने वाला।

अयोध्य (वि०) जो आक्रमण करने योग्य न हो, अप्रतिरोधनीय।

अयोध्या (स्त्री०) सरजू नदी के तट पर स्थित एक प्रदेश जो प्राचीन काल में सूर्यवंशी राजाओं की राजधानी थी, अयोध्या नगरी।

अयोनि (वि०) नित्य, शाश्वत।

अयोनिः (स्त्री०) वह जिसकी उत्पत्ति न हो, ब्रह्म को एक उपाधि।

अयोनिज, अयोनिजन्मन् (वि०) जो गर्भ से उत्पन्न न हुआ हो, अगस्त्य मुनि, द्रोणाचार्य आदि।

अयोनिजा, अयोनिसम्भवा (स्त्री०) राजा जनक की कन्या, जानकी, सीता, द्रौपदी प्रभृति।

अयोमय (वि०) लोहे का बना हुआ, लौहपूर्ण।

अयोमलम् (न०) लौहमल, मुरचा, जंग, मंडूर।

अयोमुख (वि०) वाणादि अस्त्र, जिसकी नोक पर लोहा लगा या चढ़ा होता है।

अयोमुखम् (न०) नोक पर लोहा चढ़ा हुआ वाण।

अयोमुखी (स्त्री०) रामायण में उल्लिखित एक राक्षसी। सीता हरण के बाद क्रौंचारण्य में जिस समय राम और लक्ष्मण सीता की खोज में व्यस्त थे उस समय इस राक्षसी ने आकर लक्ष्मण से प्रेम-निवेदन किया था। इस पर लक्ष्मण ने उसे कठोर दंड देकर भगा दिया था।

अयौगपद्यम् (न०) समकालीनता का अभाव, युगपद् न होना।

अयौगिक (वि०) जिसकी उत्पत्ति शब्द-साधन-विधि से न हो, रूढ़ शब्द।

अरः (पुं०) पहिए की नाभि और उसके बीच की लकड़ी।

अरकः (पुं०) पहिए की तीली।

अरक्षणीय (वि०) जिसे रखा नहीं जा सकता।

अरक्षणीया (स्त्री०) जिस कुमारी को अविवाहित रखा नहीं जा सकता।

अरक्षित (वि०) जिसकी रक्षा न की गई हो, अयोषित।

अरघट्टः (पुं०) कुएँ से पानी निकालने का एक यंत्र, रहट, गहरा कुआँ।

अरज, अरजस् (वि०) धूलरहित, आसक्तिरहित।

अरजस्का (स्त्रि०) वह कन्या जो अभी रजस्वला न हुई हो।

अरज्जु (वि०) बिना रस्सी का, रस्सी से संबंध न रखने वाला।

अरणिः (स्त्री०) मन्त्रपूत काष्ठफलक, मंथन नाम की लकड़ी जिसे रगड़ने से अग्नि निकलती है। यज्ञादि कर्मों में यही अग्नि व्यवहृत होती है।

अरणिः (पुं०) सूर्य, अग्नि, चकमक पत्थर।

अरण्यकम् (न०) जंगल, वन।

अरण्यचर (वि०) जंगल में गया हुआ।

अरण्यचर (वि०) जंगल में रहने वाला, जंगली।

अरण्यज (वि०) वन में उत्पन्न होने वाला।

अरण्यतुलसी (स्त्री०) यह तुलसी की जाति का एक पौधा है जो ऊँचाई में चार से आठ फुट तक होता है। यह पौधा सीधा है और चारों ओर इसकी शाखाएँ लटकती रहती हैं। इस पौधे की छाल खाकी रंग की होती है। इसके पत्ते दो से चार इंच तक लंबे और चिकने होते हैं। इसके दो वर्ग हैं—श्वेत और काला। इसके पत्तों को हाथ से मलने पर सुगंध निकलती है। आयुर्वेद में इसके पत्तों को वात, कफ, मूर्छा, वमन, चक्षुरोग, प्रदाह, अग्नि, विसर्प और पथरी रोग में लाभदायी कहा गया है। इसके पत्तों का रस पिला देने से सुख-पूर्वक प्रसव हो जाता है। यह हृदय को भी शक्ति प्रदान करता है। आजकल इस पौधे से अनेक प्रकार की औषधियाँ तैयार हो रही हैं।

यह पौधा नेपाल, आसाम, बंगाल आदि में अधिकता से पाया जाता है।

अरण्यपण्डितः (पुं०) मूर्ख व्यक्ति, मूढ़ मनुष्य।

अरण्यम् (न०) जंगल, वन, रेगिस्तान, मरुस्थल।

अरण्यरक्षकः (पुं०) जंगल की रक्षा करने वाला व्यक्ति, वन का निरीक्षक, वनरखा।

अरण्यराजः (पुं०) सिंह, शेर।

अरण्यरुदितम् (न०), अरण्यरोदनम् (नं०) वन में रोना अर्थात् एसी रुलाई जिस पर कोई ध्यान देने वाला न हो।

अरण्यरोदनन्यायः (पुं०) जंगल में जाकर रोना, जहाँ कोई सुनने वाला या समवेदना दिखाने वाला नहीं है।

जहाँ अपना दुःख प्रगट करने पर भी कोई ध्यान न दे तो वैसे स्थलों में इस न्याय का व्यवहार होता है।

अरण्यवासिन् (वि०) जंगल में वास करने वाला, जंगली।

अरण्यवासिन् (पुं०) रीछ, तपस्वी।

अरण्यश्वन् (पुं०) भेड़िया।

अरण्याध्यक्षः (पुं०) वनाध्यक्ष, वन की देखरेख करने वाला अफसर।

अरण्यानी [वेद] (स्त्री०) ब्रह्मलोक में अर और ण्य नाम के दो समुद्र हैं। आध्यात्मिक में अर माने वैराग्य, ण्य माने ज्ञान, ज्ञान वैराग्य को जगाने वाली देवता का नाम अरण्यानी है (अरण्यान्यरण्यानि—ऋ० ८।८।४।१)

अरण्यानी (स्त्री०) महावन, विशाल जंगल, वन-देवी। सैंकड़ों कोसों तक फैले हुए जंगल को भी अरण्यानी कहते हैं। विन्ध्यारण्य, हिमालय के जंगल आदि भी अरण्यानी हैं।

वैदिक काल से ही प्राकृतिक विभागों को एक-एक दैवी शक्ति का आधार माना गया हैं। जैसे—जल के अधिष्ठाता देवता वरुण, वायु के अधिष्ठाता देवता को ऋग्वेद में वनदेवी या अरण्यानी कहा गया है। ऋग्वेद का एक पूरा ऋक ही (१०।१४६) अरण्यानी की स्तुति में कहा गया है। यह देवी मधुर गंध से सुरभित हैं। सारे वन्य पशुओं की यह माता है (मृगाणां मातरम्)। यह सारे जंगली जीवों को खाद्य प्रदान करती है तथा सबका पालन-पोषण भी किया करती है।

अरण्यायनम् (न०) वन में गमन, तपस्वी बनना।

अरण्यौकस् (पुं०) वनवासी, वाणप्रस्थी या संन्यासी।

अरत (वि०) मंद, सुस्त, विरुद्ध, असंतुष्ट।

अरतत्रप (वि०) जो रमण करने में संकोच न करे।

अरतत्रपः (पुं०) कुत्ता, जो सबके सामने मैथुन करता है।

अरति (वि०) चेष्टाविहीन, असंतुष्ट, मंद, सुस्त।

अरतिः (स्त्री०) भोग का अभाव, कष्ट, पीड़ा, चिंता, घबराहट, असंतोष, सुस्ती, चेष्टाहीनता, पेट का एक रोग।

अरतिज्ञ (वि०) आनंद न जाननेवाला, सुस्त, उत्साहहीन।

अरत्निः (स्त्री०) कोहनी, मुट्ठी बँधे हुए हाथ की एक नाप, कोना, मुट्ठी, घुंसा।

अरत्निकः (पुं०) हाथ और बाँह का मध्य-भाग, कोहनी।

अरथ (वि०) जिसके पास रथ या गाड़ी न हो, रथविहीन।

अरथिन् (पुं०) ऐसा योद्धा जो रथ पर सवार होकर युद्ध न करता हो, पैदल युद्ध करने वाला वीर।

अरपस् (वि०) जिसे आघात या चोट न लगी हो, सुरक्षित।

अरम् (अव्य०) तेजी से, फुर्ती से, तत्परता से।

अरमण (वि०) अप्रसन्नता-कारक, प्रतिकूल, अरुचिकर।

अरमणीय (वि०) जो सुन्दर न हो, जो रमण के योग्य न हो।

अररः (पुं०) मोचियों का एक उपकरण, राँपी।

अररम् (न०) कपाट, ढक्कन, आच्छादन, म्यान।

अररिः (पुं०) किवाड़ का पल्ला।

अररिन्दम् (न०) सोमरस के निमित्त व्यवहृत होने वाला पात्र।

अररिन्दानि [वेद] (न०) बहुवचन, जल।

अररे (अव्य०) अत्यंत शीघ्रता; घृणा-सूचक एक अव्यय।

अरव (वि०) बिना शब्द का, आवाजरहित।

अरविन्दः (पुं०) सारस पक्षी।

अरविन्ददलप्रभम् (न०) ताँवा, ताम्र।

अरविन्दनेत्रः (पुं०) कमल पुष्प के दल के समान दीर्घायत नेत्र हैं जिनके वह श्रीकृष्ण (वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्ब-फलाधरोष्ठात्। पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने—मधुसूदन-सरस्वती)।

अरविन्दम् (न०) कमल, नील कमल, ताँबा।

अरविन्दसद् (पुं०) ब्रह्मा।

अरविन्दाक्षः (पुं०) विष्णु।

अरविन्दिनी (स्त्री०) कमल का पौधा, कमलों का समूह, वह स्थान जहाँ कमलों की अधिकता हो।

अरश्मिक (वि०) बिना शासन का, बिना लगाम का।

अरस (वि०) जिसमें रस न हो, रसहीन, नीरस, निर्बल, अगुणकारी, मंद।

अरसाशिन् (वि०) रसहीन या शुष्क भोजन करने वाला।

अरसिक (वि०) जो रसिक न हो, जो प्रेमी न हो, कविता के भाव को न जानने वाला (अरसिकेषु रसस्य निवेदनं शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख)।

अराग (वि०) अनासक्त, पक्षपात-रहित, स्थिर।

अरागद्वेषः (पुं०) राग-द्वेष-राहित्य, आसक्ति-विरक्ति-शून्यता। सुखकर विषय में लोगों को आसक्ति होती है यही राग है (सुखानुशयी रागः—योगसूत्र २।७)। दुःखजनक विषयों में लोगों को द्वेष होता है (दुःखानुशयी द्वेषः—योगसूत्र २।८)। साधारण मनुष्य प्रायः सभी राग-द्वेष-युक्त हैं। इस कारण वे सुख, दुःख, शोक, मोह आदि सांसारिक उलझनों में ही फँसे रहते हैं। परंतु विरले ही महात्मा राग-द्वेष-रहित होकर देहेंद्रियमनो-बुद्धि से व्यवहार चलाते रहते हैं।

जहाँ दो या अधिक आदमी झगड़ा या मारपीट करते रहते हैं वहाँ वे अपना भला-बुरा नहीं समझ सकते, इस कारण वे दुःख ही भोगते रहते हैं। परंतु उनसे अलग तटस्थ व्यक्ति को उनके किये कर्मों की आँच तक नहीं लगती, बल्कि वह उन झगड़ालू आदमियों को शांत करके शांति के रास्ते पर ला सकते हैं। इस कारण वे राग-द्वेष से रहित होने पर सांसारिक सुख, दुःख, मोह आदि से मुक्त रहकर अपने आत्मस्वरूप में आनंदानुभव करते रहते हैं।

जो मनुष्य जिस संप्रदाय या जाति में उत्पन्न हुआ है उसके लिए कुछ करणीय कार्य नियत हो जाते हैं। वह यदि उन विहित कर्मों को रागद्वेष-रहित तथा फलाकांक्षा-शून्य होकर करता है तो वह सत्त्विक अर्थात् सर्वोत्तम कर्म हो जाता है (नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्। अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते। गीता—१८।२३)।

संसार को मिथ्या और आत्मा को सत्य जाने बिना पूर्णतया रागद्वेष-रहित होना संभव नहीं है। कर्म किये जायँ और उनका फल भोग न करना पड़े, इस प्रकार की अवस्था प्राप्त करने के लिए आत्मज्ञान का अनुशीलन करना आवश्यक है।

जो लोग अकांक्षा-वश अहंकार-पूर्वक बहुत प्रयत्न-साध्य कर्म करते हैं उनके कर्मों को राजसिक अर्थात् मध्यम श्रेणी का कर्म कहते हैं। और जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य का विचार न करके केवल अज्ञान के द्वारा विपरीत रूप से किये जाते हैं उन्हें तामसिक अर्थात् निकृष्ट कर्म कहते हैं। इन दोनों प्रकार के कर्म करने वालों को दुःख भोगना पड़ता हैं तथा वृथा आयु-क्षय होता है (सात्त्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः। तामसैर्नोभयं किंतु वृथाऽयुःक्षपणं भवेत्—पञ्चदशी २।१५)।

अतः सुख चाहने वाले बुद्धिमान मनुष्यों को राग-द्वेष-रहित होकर कार्य करना चाहिए।

अरागिन् (वि०) जो रंगीन न हो, रंगविहीन।

अराजक (वि०) राजारहित, निरंकुश।

अराजकता (स्त्री०) किसी देश में राजा के न रहने की अवस्था। शासक के अभाव के कारण सभी लोग स्वतंत्र हो जाते हैं। चोरी, डाका, मार-काट, परस्त्री हरण सर्वत्र होते रहते हैं। शिष्ट लोग भयभीत हो जाते हैं। इस कारण उनकी रक्षा के लिए राजा की सृष्टि होती है (अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्। रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः—मनु ७।३)।

आज-कल की शासन-प्रणाली में पृथ्वी के अनेक देशों से राजतंत्र मिटा दिया गया है। देश की जनता द्वारा निर्वाचित विद्वान, बुद्धिमान तथा गण्यमान्य पुरुषों की एक राज्य-सभा बनायी जाती है और यह सभा ही कानून बना कर देश की शांति-रक्षा करती हैं। इस सभा से सदस्यों द्वारा एक प्रतिष्ठित पुरुष पाँच या सात वर्षों के लिए राष्ट्रपति बना लिया जाता है। इस राज्य-सभा के कुछ लोग राष्ट्रपति के राज्य-शासन की सहायता के लिए मंत्री बनाये जाते हैं। मंत्री लोग अपने-अपने निर्दिष्ट विभागों का संचालन करते हैं और वे उस राज्य-सभा के समक्ष उत्तरदायी रहते हैं।

इस प्रणाली को गणतंत्र कहते हैं। राजा न रहने पर भी राजशक्ति राष्ट्रपति के ही हाथ में रहती है। राजतंत्र व्यवस्था में प्रायः राजा अत्याचारी होकर प्रजा को दुःख देते थे और वे प्रायः लड़ते-झगड़ते रहते थे। देश में सदा अशांति फैली रहती थी। इसी कारण आज-कल लोग राज्य-शासन के लिए जनतंत्र-व्यवस्था को ही अधिक पसंद करते हैं। १५ अगस्त सन् १९४७ ई० में भारत विदेशी अंग्रेजी शासन से मुक्त हुआ और २६ जनवरी १९५० में गणतंत्र घोषित हुआ। अब आसाम के उत्तर पहाड़ी नागा-प्रदेश को छोड़कर और कहीं अराजकता नहीं है।

अराजन् (पुं०) वह जो राजा न हो।

अराजभक्त (वि०) जो राजभक्त न हो, राजद्रोही।

अराजभोगीन (वि०) राजा के लिए अनुपयुक्त।

अराजस्थापित (वि०) जो राजा द्वारा प्रतिष्ठित न हो, विधि-विरुद्ध।

अरातिः (पुं०) शत्रु, वैरी, छः की संख्या।

अरातिदूषण (वि०) शत्रुता का विनाशक।

अरातिभङ्गः (पुं०) दुश्मन का पराजय।

अराधस् (वि०) अनुदार, कठोर, कड़ा, स्वार्थी।

अराल (वि०) मुड़ा हुआ, टेढ़ा, वक्र।

अरालः (पुं०) टेढ़ी बाँह, मतवाला हाथी।

अरालकेशी (स्त्री०) वह स्त्री जिसके बाल घुँघराले हों।

अरालपक्ष्मनयन (वि०) जिसकी पलकें टेढ़ी हों।

अराला (स्त्री०) दुराचारिणी स्त्री, वेश्या, कुलटा।

अरावन् (वि०) शत्रु, दुश्मन।

अरिः (पुं०) दुश्मन, शत्रु, गाड़ी का पहिया, छः की संख्या।

अरिकर्षण (वि०) शत्रु को वश के करने वाला।

अरिकुलम् (न०) शत्रु, शत्रु-समाज।

अरिक्त (वि०) जो खाली न हो, जो खाली हाथों न हो।

अरिक्थभाज् (वि०) जो पैतृक संपत्ति में अंश पाने का अधिकारी न हो।

अरिघ्न (वि०) शत्रु का नाश करने वाला।

अरिचिन्तनम् (न०), अरिचिन्ता (स्त्री०) शत्रु-संबंधी व्यवस्था, विदेशी शासन विभाग।

अरित्रम् (न०) लोहे का चूर्ण, कच्चा लोहा, नाव की डाँड या पतवार।

अरिनन्दन (वि०) शत्रु को प्रसन्न करने वाला, शत्रु को विजयी बनाने वाला, मूढ़ (निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम्। मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम्—महाभारत शाँतिपर्व)।

अरिभद्रः (पुं०) मुख्य शत्रु, प्रधान शत्रु।

अरिषम् (न०) मूसलाधार वर्षा, अत्यंत वृष्टि।

अरिष्ट (वि०) सुरक्षित, अविनाशी, पूर्ण।

अरिष्टः (पुं०) काक, गीध, शत्रु, लहसुन, एक मदिरा, (१) यह बालि नामक राक्षस का पुत्र था। (२) अरिष्ट राजा कंश का प्रिय पात्र था। कृष्ण का वध करने के लिए कंस ने इसे नंद के घर पर भेजा था। तब यही राक्षस बैल का रूप धारण करके कृष्ण के पास उपस्थित हुआ। कृष्ण ने अपने ऊपर इसे आक्रमण करने के लिए उद्यत देखकर इसके सींग पकड़कर इसे पटक दिया और बायाँ सींग उखाड़कर इसका वध कर डाला। (३) वैवस्वत मनु के पुत्र का नाम भी अरिष्ट था। इसका दूसरा नाम नाभाग भी था।

अरिष्टकः (पुं०) रीठा का वृक्ष, जिससे गरम वस्त्र आदि साफ किये जाते हैं।

अरिष्टगृहम् (न०) सूतिका-गृह, सौरी का घर।

अरिष्टताति (वि०) शुभ, मांगलिक।

अरिष्टतातिः (स्त्री०) सुरक्षा, सतत हर्ष।

अरिष्टनेमा (पुं०) महाभारत में वर्णित एक ऋषि। जनैक हैहय राजकुमार ने मृग के भ्रम से इनके पुत्र का वध कर दिया था। भ्रम दूर होने पर दुखित चित्त से मुनि-पुत्र के पिता का पता लगाते-लगाते महर्षि अरिष्ट के आश्रम में पहुँचे और उन्होंने देखा कि वही मुनि-पुत्र जीवित है। राजा के प्रश्न के उत्तर में ऋषि ने कहा—'वे लोग स्वधर्म का अनुष्ठान करते हैं जिससे ब्राह्मणों का मंगल होता है। इसे अतिथि-सेवा कहते हैं और ऋषियों के संसर्ग में रहते हैं; अतः उन्हें मृत्यु का भय नहीं रहता।

अरिष्टनेमिः (पुं०) १—यक्ष-विशेष। वर्ष के प्रतिमास में सूर्य के रथ में एक-एक आदित्य, ऋषि, गंधर्व, अप्सरा, यक्ष, नाग और राक्षस बैठे रहते हैं। पौष मास में सूर्य के रथ में आदित्य भग, ऋषि ऋतु,

गंधर्व उर्णायु, अप्सरा पूर्पचित्ति, यक्ष अरिष्टनेमि, नाग कर्केटिक और राक्षस स्कर्ज उपविष्ट रहते है। ऋषि वंदन करते हैं, गंधर्व गीत गाता है, अप्सरा नाचती है, राक्षस पीछे-पीछे चलता है, नाग अश्व सज्जित करता है और यक्ष लगाम लगाता है ।

२—जनैक प्रजापति का नाम भी अरिष्टनेमि था। इन्होंने दक्ष की चार कन्याओं से विवाह किया था।

३—यह एक बड़ा प्रतापी दैत्य था जिसने बैल का रूप घारण कर श्रीकृष्ण का सामना किया था और उनके हाथ से मारा गया था।

४—यह राजा बलि का पुत्र था।

५—इक्ष्वाकु-वंशीय निमि राजा की वंश-परंपरा में एक अरिष्टनेमि नाम का राजा हुआ था।

अरिष्टम् (न०) दुर्भाग्य, अशुभ लक्षण या अपशकुन, सूतिकागृह, सौभाग्य, हर्ष, शराव, मदिरा।

अरिष्टमथनः (पुं०) शिव, महादेव।

अरिष्टरथ (वि०) जिसका रथ क्षतिग्रस्त न हुआ हो।

अरिष्टशय्या (स्त्री०) सूतिका-शय्या (अरिष्टशय्यां परितो विस्साणि—रघुवंश)।

अरिष्टसूदनः (पुं०) विष्णु।

अरिहन् (वि०) शत्रु को मारने वाला ।

अरुः (पुं०) सूर्य, लाल खदिर का वृक्ष।

अरुग्ण (वि०) न टूटा हुआ, जो रोगी न हो।

अरुचिः (स्त्री०) अनिच्छा, घृणा, अग्निमांद्य रोग, भूख न लगना।

बहुत अधिक शुक्रक्षय या बहुत दिनों तक रोग भोगते रहने के कारण रक्तहीनता से अरुचि रोग उत्पन्न होता है। ऐसे व्यक्ति के सामने खाद्य वस्तु लाने से वह चिल्ला उठता है—'हटा ले जाओ, हटा ले जाओ'। वह खाद्य वस्तु खाना तो दूर की वात है, उसे देखना भी नहीं चाहता। ऐसा रोगी पुष्टई चीजों की कमी से अधिक दिनों तक नहीं बचता।

अरुचिकर (वि०) जो रुचिकर न हो, जो उपयुक्त न हो।

अरुचिर (वि०) जो मनोहर न हो, अमांगलिक, अशुभ।

अरुज् (वि०) रोगरहित, नीरोग, तंदुरुस्त, स्वस्थ, पीड़ा-रहित, कष्ट-रहित।

अरुण (वि०) लाल, व्याकुल, मूक, गूँगा।

अरुणः (पुं०) लाल रंग, प्रातःकालीन आकाश की रक्तिम आभा, सूर्य के सारथि का नाम ।

पूर्वाकाश की प्रातःकालीन लालिमा या बाल सूर्य की किरण को अरुण कहते हैं। सूर्य मानो सात रंगों की सात रश्मियों के रथ पर सवार होकर आकाश-मार्ग से चला जाता है। पृथ्वी पर इसका प्रथम प्रकाश अरुण के रूप षे पड़ता है। इस कारण शास्त्रों में अरुण का सूर्य के रथ के सारथि के रूप में वर्णन किया गया है। पुराणों के अनुसार अरुण के कमर के नीचे का शरीर नहीं है। प्राचीन मूर्तिकला में मंदिरों पर चित्रित सूर्य के रथ में अरुण के शरीर का ऊपर वाला आधा अंश ही दिखाई पड़ता है।

(१) महर्षि कश्यप के द्वारा विनता के गर्भ से अरुण का जन्म हुआ था। अंडे के रूप में यह गरुड़ के ज्येष्ठ भ्राता थे। यह सूर्य के सारथि के रूप में सात घोड़ों से खींचे जाने वाले रथ का संचालन करते हैं। अंड रूप में पैदा होने के बाद काफी दिनों तक अंडा नहीं फूटा। उनकी सौत कद्रु की संतान दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही थी। यह देख कर विनता ने असमय में ही अंडे को फोड़ डाला। जंघा-विहीन अरुण उस अंडे से पैदा हुआ। इसलिए उनका नाम अनूरु अर्थात् जंघा-विहीन पड़ा। अर्ध-पुष्ट अरुण के वाहर निकलकर माता को शाप दिया कि ५०० वर्षों तक वह सौत कद्रु की दासी रहेगी और असमय में अन्य अंडा न फोड़ा तो उस अंडे से उत्पन्न संतान इसे दासीत्व से मुक्त करेगी।

(२) रामायण के मत से अरुण की पत्नी श्येनी से जटायु और संपाती नाम के दो पुत्रों का जन्म हुआ था।

अरुणकमलम् (न०) लाल कमल, रक्तकमल।

अरुणकरः (पुं०) सूर्य, भास्कर।

अरुणचूडः (पुं०) मुर्गा, कुक्कुट।

अरुणज्योतिस् (पुं०) शिव, महादेव।

अरुणनेत्रः (पुं०) कबूतर पक्षी।

अरुणप्रिया (स्त्री०) सूर्य की पत्नी, छाया।

अरुणविम्बः (पुं०) वालारुण के समान लाल बिंबफल (एक प्रकार के पौधे के कोमल और स्वच्छ फल) के सदृश ओष्ठाधर हैं जिनके वह श्रीकृष्ण (……

पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने—मधु-सूदनसरस्वती। अरविन्दनेत्रः देखिए।

अरुणम् (नं०) लाल रंग, लाली।

अरुणरागरञ्जित (वि०) अरुण के सदृश लाल रंग से रंजित।

अरुणसारथिः (पुं०) सूर्य, सुवर्ण, केसर।

अरुणा (स्त्री०) कश्यप की पत्नी और दक्ष की कन्या कपिला से अरुणा, रंभा, तिलोत्तमा आदि का जन्म हुआ था।

अरुणात्मजः (पूं०) जटायु, शनि, कर्ण, सुग्रीव, यश, अश्विनी-कुमार।

अरुणात्मजा (स्त्री०) यमुना नदी, ताप्ती नदी।

अरुणित (वि०) लाल रंग का, लाल रंग में रंगा हुआ।

अरुणेक्षण (वि०) लाल नेत्रों वाला।

अरुणोदयः (पुं०) भोर, तड़का, सबेरा, प्रातःकाल।

अरुणोपलः (पुं०) चुन्नी नाम का रत्न।

अरुण्यः [वेद] (स्त्री०) बहुवचन, उषाकाल की किरणें (अरण्योगावउषसः, निरुक्त-विघण्टुः)।

अरुन्तुद (वि०) पीड़ादायक, कष्ट देने वाला।

अरुन्धती (स्त्री०) वसिष्ठ की पत्नी, धर्म की पत्नी; औषधि के काम में आने वाला एक पौधा, सप्तर्षि-मंडल का एक तारा।

कर्दम-प्रजापति के द्वारा देवहूति के गर्भ से अरुन्धती का जन्म हुआ था। यह वसिष्ठ की पत्नी थीं। यह अतीव विदुषी नारी थीं। नियमित तपस्या के कारण इनकी आध्यात्मिक शक्ति विशेष प्रकार से बढ़ी हुई थी। पतिभक्ति और पातिव्रत्य में यह आदर्श थीं। पतिव्रता नारियों की तुलना प्रायः अरुंधती से की जाती है। महाभारत के अनुशासन-पर्व में लिखा है कि पति-सेवा-रूपी धर्म-पथ का जो नारी अनुसरण करती है वह अरुंधती के समान स्वर्ग में भी पूजी जाती है। आकाश में नक्षत्र रूप में वसिष्ठादि के सप्तर्षि-मंडल में वसिष्ठ के पास अरुंधती विराजमान है। विवाह के कुशंडिका-काल में नववधू को मंत्रोच्चारण के साथ अरुंधती तारा दिखाया जाता है।

अरुन्धतीदर्शनन्यायः (पुं०) स्थूल वस्तु के द्वारा क्रमशः सूक्ष्म वस्तु को दिखाने के लिए अरुंधती-दर्शन का ढंग अपनाया जाता है। किसी बालक को आकाश के अगणित नक्षत्रों में अंगुली से दिखाकर अरुंधती नक्षत्र का पहचान कराना संभव नहीं है। इस कारण उस बालक को एक वृक्ष के नीचे ले जाकर दो मोटी डालियों की ओर उसकी दृष्टि आकर्षित की जाती है। उसके अनंतर उन दो डालियों के भीतर से नक्षत्रों का एक गुच्छा दिखाया जाता है। उसमें बालक की दृष्टि निबद्ध हो जाने पर उससे कहा जाता है कि देखो एक ओर चार नक्षत्र हैं और दूसरी ओर उसी के पास तीन नक्षत्र हैं। जब इन्हें वह देख लेता है तब उसकी दृष्टि उनमें से एक छोटे नक्षत्र पर खींची जाती है जो चार के पास वाले तीन में से एक है अब बालक से कहा जाता है कि यही अरुंधती नक्षत्र है। इस उपाय से बालक भी उस क्षुद्रतम नक्षत्र को पहचान लेता है।

इसी नियम से मुमुक्षु को आत्मदर्शन कराया जाता है। आत्मा व्यापक होने पर भी अत्यंत सूक्ष्म है। एका-एक किसी को भी उसका दर्शन नहीं कराया जा सकता। इसी कारण प्रथम स्थूल शरीर को ही आत्मा कहा गया है। जब विचार से उसने देख लिया कि यह शरीर जन्म-मृत्यु के अधीन है और आत्मा नित्य वस्तु, तो यह शरीर आत्मा कैसे हो सकता है? इस कारण उसने शरीर को आत्म-विचार से छोड़ दिया। अब उसे कहा गया कि शरीर नहीं मन ही आत्मा है, तो वह पुनः विचार में डूब गया। उसने विचार से देखा कि सुषुप्ति में मन नहीं रहता, परंतु जीव जीवित ही रहता है, इसी कारण पुनः वह जागृत भी हो जाता है। तो नाशवान यह मन आत्मा कैसे हो सकता है? दूसरी बात, मन छोटा है और आत्मा सर्वगत। इस विचार से उसने मन को भी अलग कर दिया। अब गुरु ने स्थूल सूक्ष्म वस्तुओं को हटा कर परम सूक्ष्म आत्मा का दर्शन करा दिया जो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में तथा शरीर के भीतर बाहर सर्वत्र पूर्ण चेतन और आनंदमय है। इस प्रकार आत्मा को अपना स्वरूप जानकर मुमुक्षु पुरुष जन्म-मृत्यु से मुक्त होकर नित्यानंद को प्राप्त होता है।

अरुष (वि०) जो कुपित न हो, चमकीला।

अरुषः [वेद] (पुं०) घोड़ा (हरिं मृजन्त्यरुषो न युज्यते—ऋ० ७।२।२७।१) ।

अरुषति [वेद] (क्रिया०) जाता है (प्रतीचीरग्नेऽरुषीरजानन्—ऋ० सं० १।५।१८।१०) (अरुषनिर्गतिकर्मा इति—स्कंदस्वामिभाष्य) ।

अरुषम् [वेद] (न०) रूप (वि धूममग्ने अरुषं मिपेध्य—ऋ० सं० १।३।८।४) ।

अरुषी [वेद] (स्त्री०) शुक्लवर्ण, गौरवर्ण (अश्वेन चित्रारुषी—ऋ० ३।८।३।२) ।

अरुष्ट (वि०) जो रूठा हुआ न हो, शांत ।

अरुस् (वि०) घायल, कष्टजनक ।

अरूस्कर (वि०) घायल करने वाला ।

अरूक्षित (वि०) कोमल, मुलायम ।

अरूप (वि०) रूपरहित, अकारहीन, कुरूप; असमान ।

अरूपकः (पुं०) बौद्धदर्शन के अनुसार योगियों की एक अवस्था, निर्वीज समाधि ।

अरूपम् (न०) रूपराहित्य, वेदांत में ब्रह्म ।

अरूपहार्य (वि०) जो सौंदर्य द्वारा वश में न किया जा सके ।

अरे (अव्य०) संबोधन-सूचक (अरे मैत्रेयि); अथवा ईर्ष्यासूचक एक अव्यय ।

अरेयस् (वि०) निष्पाप, निष्कलंक, स्वच्छ, पवित्र ।

अरेरे (अव्य०) एक संबोधनार्थक अव्यय जिसका प्रयोग क्रोध की दशा में किया जाता है ।

अरोक (वि०) जो चमकीला न हो, धुँधला ।

अरोग (वि०) रोगमुक्त, नीरोग, स्वस्थ ।

अरोगिन् (वि०) तंदुरुस्त, स्वस्थ ।

अरोचक (वि०) जो रुचिकर न हो, जो चमकीला न हो, स्वादरहित ।

अरोचकः (पुं०) क्षुधाहीनता, घृणा ।

अरोध्य (वि०) बाधा देने के अयोग्य, रोकने के अयोग्य ।

अरोषः (पुं०) क्रोध का अभाव, भद्रता, शिष्टता ।

अरौद्र (वि०) जो भीषण न हो ।

अर्क् (पर०) (अर्कयति) गरम करना, प्रशंसा करना ।

अर्कः (पुं०) किरण, रश्मि, सूर्य, अग्नि, बिजली की चमक, स्फटिक, मदार का पेड़ (अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्); रविवार, ताँबा, इंद्र, स्तुति, प्रशंसा, बारह की संख्या ।

अपनी दृष्टि मेघ के द्वारा आच्छन्न होने पर अत्यंत मूढ़ व्यक्ति जिस प्रकार अर्क (सूर्य) को आच्छन्न समझता है, उसी प्रकार मूढ़ व्यक्ति की दृष्टि में जो आत्मा बद्ध के समान प्रतीयमान होता है वह सदा उपलब्ध आत्मा ही मैं हूं (घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढ़ तथा बद्धवद्भाति यो मूढ़दृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहम् आत्मा—शंकराचार्यकृत-हस्तामलकस्तोत्र १२) ।

अर्क के पर्याय मेदनीकोष के अनुसार—सूर्य, इंद्र, ताम्र और स्फटिक हैं । शब्दरत्नावली के अनुसार—पंडितादंडादिनाथ के मत से ज्येष्ठ भ्राता । ज्योतिष् के मत से रविवार, एक विशेष वृक्ष । आकंद, मदार ये नाम भाषा में कहे जाते हैं । आकंद के पर्याय अनेक हैं, जैसे—क्षीरदल, पुच्छी, प्रताप, क्षीरकांडक, प्रविक्षीर, क्षीरी, खर्जुघ्न, शीतपुष्पक, जम्मन, क्षीरपर्णी, बिकीरण, सदापुष्प, सूर्याह्व, आस्फातक, तुलफल और शुकफल इत्यादि राजनिर्घंट मानता है । अमरकोष के मत से—वसुक, आस्फोत, गणरूप, मंदार और अर्कपर्ण—ये नाम आते हैं, श्वेत अर्क के पर्याय—अलर्क, राजार्क, प्रतापस, गणरूपी हैं । रक्तार्कपर्याय—विक्षोर, सदापुष्पी, रूपिका, आदित्यपुष्पिका, दिव्यपुष्पिका और अर्क ये नाम रत्नमाला के मतानुसार जानना चाहिए ।

इसके गुण राजनिर्घंट के मत से—कटुत्व, उष्णत्व, अग्निकारित्व, वातशोथनाशकत्व और कुष्ठकृमिनाशकत्व आदि माने गये हैं । इसके दूध के भी कफदोष-निवारण, कृमिदोष का नाश, व्रणनिवारण, कोढ़, बवासीर और उदर के रोगों में उपकारक आदि गुण हैं । रक्त अर्क के पुष्प कुछ कटुता के साथ मधुर होता है । यह कुष्ठकृमिनाशक, कफनिवारक, रक्तपित्त और बवासीर को भी नष्ट करता है । यह शोथ में भी उपकारी होता है और दस्तावर भी होता है, ऐसा भावप्रकाश का मत है ।

अर्कः [वेद] (पुं०) अन्न (निरुक्तेनिघन्टुः २।७) । वज्र (निघ० २।२०), इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैः—

ऋ० ३।२।१५।१), आँक का पेड़ (अर्कपर्णीजुहोत—ब्रा०) मन्त्र (अभ्यर्चन्त्यर्कैः—श्रुति)।

अर्ककान्ता (स्त्री०) सूर्य की पत्नी।

अर्कग्रहः (पुं०) सूर्यग्रहण।

अर्कचन्दनः (पुं०) लाल चंदन, रक्त चंदन।

अर्कजः (पुं०) सुग्रीव, कर्ण, यम, शनि।

अर्कतनया (स्त्री०) यमुना नदी, ताप्ती नदी।

अर्कत्विष् (स्त्री०) सूर्य का प्रकाश।

अर्कदिनम् (न०) रविवार; इतवार।

अर्कबन्धुः (पुं०) कमल, पद्म, बुद्ध।

अर्कमण्डलम् (न०) सूर्य का घेरा, सूर्य की परिधि।

अर्करिपुः (पुं०) राहु ग्रह।

अर्कवर्षः (पुं०) सौर वर्ष।

अर्काश्मन् (पुं०) सूर्यकांत मणि।

अर्केन्दुसङ्गमः (पुं०) अमावस्या तिथि।

अर्कोपलः (पुं०) सूर्यकांतमणि।

अर्गलः (पुं०) किवाड़ बंद करने की सिटकिनी, लहर, तरंग।

अर्कमधुन्यायः (पुं०) घर के पास मदार के वृक्ष में यदि मधु मिल जाय तो उसे खोजने के लिए पर्वत में जाने की आवश्यकता क्या है ? जो काम अनायास संपन्न हो सकता है उसके लिए बहुत आडंबर या परिश्रम करने की आवश्यकता क्या है ? ऐसा भाव प्रगट करने के लिए इस न्याय का प्रयोग किया जाता है।

अर्गला (स्त्री०) सिटकिनी; स्तोत्र-विशेष जो दुर्गा-सप्तशती के पाठ के पूर्व पढ़ा जाता है। ज्योतिष-शास्त्र में द्रष्टा-स्थान (राशि) या ग्रह के द्वितीय, चतुर्थ और एकादश स्थानों की तथा उनमें स्थित ग्रहों की अर्गला संज्ञा होती है अर्थात् किसी भी राशि से दूसरी, चौथी और ग्यारहवीं राशि अर्गला होती है। इसी प्रकार किसी भी ग्रह से दूसरे, चौथे वा ग्यारहवें स्थानों में एक या एकाधिक ग्रह हों तो उनकी भी अर्गला संज्ञा होती है। किसी भी ग्रह से तृतीय स्थान में यदि पाप-ग्रह अधिक हों तो भी अर्गला होती है। माना, प्रथम स्थान में कोई ग्रह नहीं और तृतीय स्थान में एक पाप-ग्रह हो तो अर्गला होगी, प्रथम स्थान में एक शुभ ग्रह और तृतीय स्थान में एक से अधिक पाप-ग्रह हों तो अर्गला होगी। इसी प्रकार यदि प्रथम स्थान में दो शुभ ग्रह हों तो तृतीय स्थान में दो से अधिक पाप-ग्रह होने पर ही अर्गला होगी। मंगल, शनि, रवि, क्षीणचंद्र, पाप-ग्रह से युक्त बुध, राहु और केतु ये पाप-ग्रह माने गये हैं। दसवें, बारहवें और तीसरे स्थानों में स्थित ग्रह क्रमशः चतुर्थ, द्वितीय और एकादश स्थानीय अर्गला के प्रतिबंधक होते हैं। किंतु प्रतिबंधकत्व तभी माना जायेगा जब प्रतिबंधक ग्रह अर्गलाकारक ग्रहों से संख्या और बल में अधिक हों। तृतीय स्थान की अर्गला का प्रतिबंध नहीं होता। इसी प्रकार नवम और पंचम स्थानों में स्थित ग्रहों से भी अर्गला होती है (जैमिनीयम् उपदेश-सूत्रम् १।१।४८)। पंचम स्थान की अर्गला का नवम स्थान प्रतिबंधक है (बृहत्पाराशरहोराशास्त्रम् ७।१७)। राहु और केतु की अर्गला विपरीत होती है। अर्थात् जहाँ अन्य ग्रहों का अर्गला-स्थान है वहाँ राहु और केतु का प्रति-बंधक और जो अन्य ग्रहों का प्रतिबंधक स्थान है, वह राहु केतु का अर्गला-स्थान होता है (जै० उ० सू० १।१।९)।

अर्गलिका (स्त्री०) छोटा अर्गल, छोटी सिटकिनी।

अर्गलित (वि०) सिटकिनी द्वारा फँसाया हुआ।

अर्गलीय (वि०) अर्गल-संबंधी।

अर्घ (पर०) (अर्घति, अर्घित) दाम लगाना, मोल लेना।

अर्घः (पु०) मूल्य, भाव, पूजन की सामग्री, षोडशोपचार पूजन में से एक उपचार।

अर्घपात्रम् (वि०) किसी अतिथि के आने पर उसे दिया जाने वाला जल।

अर्घबलाबलम् (न०) भाव का उतार-चढ़ाव, दाम का घटना-बढ़ना।

अर्घसंस्थापनम् (न०) दाम लगाने की क्रिया, किसी वस्तु का मूल्यांकन।

अर्घार्ह (वि०) भेंट देने योग्य, सम्मान करने योग्य।

अर्घीशः (पुं०) शिव, महादेव।

अर्घ्य (वि०) मूल्यवान, बहुमूल्य, कीमती, पूज्य।

अर्घ्यम् (न०) किसी देवता या प्रतिष्ठित व्यक्ति के सम्मानार्थ दिया जाने वाला भेंट या उपहार।

अर्च् (पर०) (अर्चति, अर्चिते, अर्चित) पूजा करना (रत्नपुष्पोपहारेण छायमानर्च पादयोः—रघु०

४।८४); सम्मान करना, प्रणाम करना, स्तुति करना, (दूरस्थो नार्चयेद् गुरुम्—मनु० २।२०२) श्रृंगार करना।

अर्चक (वि०) पूजा करने वाला, पूजक, श्रृंगार करने वाला, सजाने वाला।

अर्चकः (पुं०) पुजारी, श्रृंगारिया।

अर्चति [वेद] (क्रि०) पूजा करता है।

अर्चन (वि०) पूजा करता हुआ, पूजा में लगा हुआ, स्तुति करता हुआ।

अर्चनम् (न०), अर्चना (स्त्री०) पूजा, आदर-सत्कार, स्तुति, प्रशंसा।

अर्चनीय (वि०) पूजा करने योग्य, पूजनीय, सम्माननीय, वंदनीय।

अर्चा (स्त्री०) पूजा, पूजन करने की प्रक्रिया, श्रृंगार, सजावट।

अर्चाविधिः (पुं०) पूजा करने का नियम, श्रृंगार करने की विधि।

अर्चिः (पुं०) किरण, चमक, प्रकाश।

अर्चिः [वेद] (स्त्री०) प्रकाशमान, जलती हुई ज्वाला (अयोदंष्ट्रो अर्चिषः यातुधानान्—ऋ० ८।४।५।२)।

अर्चित (वि०) पूजित, वंदित, सम्मानित, प्रतिष्ठित।

अर्चितृ (पुं०) पूजा करने वाला, पूजक।

अर्चिष्मत्, अर्चिष्मान् (पुं०) सूर्य, अग्नि।

अर्चिस् (न०) अंगारा, आग का शोला, दीप्ति, आत्मा, किरण, अग्नि।

अर्चिसत् (वि०) चमकीला, देदीप्यमान।

अर्चिसत् (पुं०) अग्नि, सूर्य।

अर्ज् (पर०) (अर्जति, अर्जित) कमाना, उपार्जन करना (यदधमर्जति दाता—नैषध ५।८४)। (आत्म०) (अर्जते) जाना, दृढ़ता से खड़ा होना।

अर्जक (वि०) प्राप्त करने वाला, कमाने वाला।

अर्जकः (पुं०) एक वृक्ष, जिसके सूतों से रस्सी बटी जाती है।

अर्जनम् (न०) उपलब्धि, प्राप्ति, कमाना, संग्रह, उपार्जन।

अर्जनीय (वि०) अर्जन करने योग्य, कमाने योग्य।

अर्जित (वि०) अर्जन किया हुआ, कमाया हुआ, प्राप्त।

अर्जितधन (वि०) जिसने धन कमाया है, सम्पन्न, धनी।

अर्जितविद्य (वि०) जिसने विद्या अर्जित की है, विद्वान, पंडित, आत्मज्ञ, ब्रह्मवित्।

अर्जुन (वि०) श्वेत, शुभ्र, स्वच्छ, चमकीला, चाँदी का बना हुआ, रौप्यनिर्मित।

अर्जुनः (पुं) तृतीय पांडव। पाँडु की पत्नी कुंती के गर्भ से इंद्र के द्वारा अर्जुन का जन्म हुआ था। प्रथम कृपाचार्य और बाद में द्रोणाचार्य के निकट इन्होंने अस्त्रविद्या की शिक्षा पायी थी। इनके समान धनुर्विद्या में निपुण कोई नहीं था। पांडवों में ये सबसे श्रेष्ठ महामना, न्यायवान और मितभाषी थे। लक्ष्यभेद की परीक्षा में अर्जुन एकाग्रता के बल से उत्तीर्ण होकर श्रेष्ठ रूप से गण्य हुए थे। कौरव सभा में अस्त्रशिक्षा के प्रदर्शन के समय कर्ण के साथ इनकी प्रतिद्वंद्विता हुई थी। अर्जुन आचार्य द्रोण को प्रसन्न करके उनसे ब्रह्मशिर नामक एक अमोघ अस्त्र पा गये थे। गंधर्वराज अंगारपर्ण को पराजित करके उन्होंने चाक्षुसी विद्या प्राप्त की थी (जिसके प्रभाव से सभी पदार्थ दिखाई पड़े)। द्रुपद-कन्या दौपदी की स्वयंवर सभा में घूर्णितचक्र के छेद के भीतर से ऊपर लटकायी हुई मछली को वाण से विद्ध करके उन्होंने द्रौपदी को प्राप्त किया। और माता की आज्ञा से पाँचों भाइयों ने एक साथ मिलकर द्रौपदी से विवाह किया। इसके अनंतर द्रौपदी को लेकर भाइयों में विरोध न हो, इसलिए नियम कर लिया गया कि द्रौपदी के साथ एक मास जो भाई रहेगा, उस समय अन्य भाई वहाँ पहुँच जाय तो उसे ब्रह्मचर्य-व्रत ग्रहण करके १२ वर्षों तक वन में वास करना होगा। किंतु घटना-चक्र से अर्जुन को १२ वर्ष वन में रहना पड़ा था। इस समय उन्होंने परशुराम से अस्त्रविद्या सीखी थी। इसी समय उन्होंने नागकन्या उलुपी तथा मणिपुर-राजकन्या चित्रांगदा से विवाह किया था। उलुपी के गर्भ से इरावान और चित्रांगदा के गर्भ से बभ्रुवाहन का जन्म हुआ था। उसके अनंतर वे द्वारिका गये और श्रीकृष्ण के साथ बन्धुत्व स्थापित किया। वहाँ उन्होंने श्रीकृष्ण की बहिन सुभद्रा को हर ले जाकर उससे विवाह किया। इस विवाह के परिणाम में अभिमन्यु का जन्म हुआ।

युधिष्ठिर ने जब शकुनि के द्वारा पाँसे के खेल में हार कर राज्य खो दिया और भाइयों के साथ १३ वर्षों के लिए वन में चले गये, तब अर्जुन कौरवों को युद्ध में पराजित करने के लिए देवताओं को सन्तुष्ट करके अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र संग्रह करने के उद्देश्य से हिमालय-तीर्थ चले गये। वहाँ व्याध के वेशधारी महादेव के साथ उनका युद्ध हुआ, किन्तु व्याध का यथार्थ परिचय पाकर महादेव को पूजा और तप के द्वारा प्रसन्न करके उनसे उन्होंने सर्वश्रेष्ठ पाशुपत अस्त्र प्राप्त किया। उसके अनंतर इंद्र, वरुण, कुबेर और यम के साथ उनकी भेंट हुई। प्रत्येक देवता ने अर्जुन को अपने अपने विशिष्ट अस्त्र दे दिये। इसके बाद अर्जुन के पिता इंद्र पुत्र को स्वर्ग ले गये। कई सालों तक रह कर अर्जुन ने गंधर्वराज चित्रसेन से नृत्यगीतादि विद्या सीखी। स्वर्गवास के समय उर्वशी का प्रेम-निवेदन ठुकरा देने के कारण उसने अभिशाप दिया कि अर्जुन साल भर तक नपुंसक रहेंगे। अस्त्र-शिक्षा की गुरुदक्षिणा रूप से उन्होंने किरातकवच नामक ३ करोड़ दानवों का उनके समुद्र के भीतर वाले दुर्ग के साथ ध्वंस कर दिया और पौलोम तथा कालकेय असुरों का विनाश किया। इसके बदले में इंद्र ने उन्हें अभेद्य कवच, हिरण्मयी माला, देवदत्त शंख, दिव्य किरीट और दिव्य वस्त्राभरण दिये। वनवास के समय दुर्योधन जब सपरिवार द्वैतवन-स्थित सरोवर में गंधर्वराज चित्रसेन के द्वारा निगृहीत हुए थे तो अर्जुन ने चित्रसेन को परास्त करके दुर्योधन को मुक्त कर लिया था।

सिंधुराज जयद्रथ द्रौपदी को हर ले गया था। उस समय अर्जुन ने भीम के साथ मिलकर उसे सजा दी थी। मत्स्यराज के भवन में अज्ञातवास के समय अर्जुन बृहन्नला नाम से नपुंसक के वेश में विराटराज-कन्या उत्तरा के नृत्यगीत-शिक्षक के रूप में एक साल तक थे। अज्ञातवास के अंतिम समय दुर्योधन के द्वारा विराटराज का गोधन हर ले जाने पर बृहन्नला रूपधारी अर्जुन ने कौवर सेना को परास्त करके गोधन का उद्धार कर लिया था। अर्जुन का परिचय पाकर विराटराज ने अपनी कन्या उत्तरा के साथ अर्जुन का विवाह कर देना चाहा, किन्तु शिष्या को कन्या के समान समझ कर वे विवाह करने से अस्वीकृत हुए और अपने पुत्र अभिमन्यु के साथ उत्तरा का विवाह करा दिया। महाभारत के युद्ध में कृष्ण को उन्होंने उपदेष्टा सारथि रूप से पाया था। बाद में पांडवों और कौरवों में युद्ध हुआ। युद्ध के आरंभ में अर्जुन के स्वजनवध करने में अनिच्छुक होने पर कृष्ण ने उन्हें जो उपदेश देकर युद्ध में प्रवृत्त कराया था, वही श्रीमद्भगवद्गीता है। अर्जुन ही कुरुक्षेत्र-युद्ध के प्रधान वीर थे। युद्ध के दशम दिन अर्जुन के साथ युद्ध में भीष्मदेव शरशय्या पर गिर पड़े थे। द्वादश दिन के युद्ध में भगदत्त, चतुर्दश दिन के युद्ध में अभिमन्यु-वध के प्रतिशोध लेने के लिए उन्होंने जयद्रथ का वध किया। पंचदश दिन उन्होंने द्रोणाचार्य का निधन किया। षोड़श दिन के युद्ध में मगधराज दंडधार और सप्तदश दिन के युद्ध में अपने प्रतिद्वन्द्वी श्रेष्ठ वीर कर्ण का भी वध किया।

कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद राज्यलाभ होने पर युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के समय यज्ञाश्व की रक्षा के लिए अर्जुन रवाना हुए। त्रिगर्त, प्राग्ज्योतिशपुर, पौंड्रदेश की विजय करके मणिपुर में अपने पुत्र बभ्रुवाहन के हाथ से वह स्वयं निहत हुए। तब अर्जुन की पत्नी नागकन्या उलुपी ने नाग-लोक से संजीवन-मणि की सहायता से उन्हें जीवित कर लिया। यदुवंश-ध्वंस होने पर अर्जुन द्वारिका की स्त्रियों को इंद्रप्रस्थ लौटा लाये। रास्ते में आभीर डाकुओं ने यादव स्त्रियों को लूट लिया। कृष्ण की मृत्यु और अपनी दैवशक्ति की हानि के कारण वे डाकुओं को रोकने में असमर्थ रहे।

पांडव लोग अर्जुन के पौत्र परीक्षित को राजा बना कर महाप्रस्थान को चल दिये। रास्ते में लोहित सागर के तीर पर आने से अग्निदेव के अनुरोध से अर्जुन ने गांडीव धनुष और अक्षय तुणीर दोनों को जल में फ़ेंक दिया। हिमालय लाँघ जाने पर दौपदी, सहदेव और नकुल के पतन के अनन्तर अर्जुन गिरकर दिवंगत हो गये। भीम के प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा—अर्जुन ने एक समय कहा था कि मैं एक ही दिन में सारे शत्रु-सेना को विनष्ट करूँगा, किंतु वे अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा नहीं कर सके और अन्य धनुर्धरों की अवज्ञा करते थे, इस कारण उनका पतन हुआ। फलस्वरूप उनके लिए अपना शरीर लेकर स्वर्गारोहण संभव नहीं हुआ। अर्जुन के कुछ नाम इस प्रकार हैं—सब देशों की विजय करके धन-संग्रह करने के कारण धनंजय, युद्ध में विजय कर लौटने से विजय, शुभ्राश्व-योजित रथ

के कारण श्वेतवाहन, फल्गुनी नक्षत्र में जन्म होने के कारण फाल्गुनी, इंद्रदत्त किरीट के कारण किरीटी, युद्ध में वोभत्सता का परित्याग करने के कारण वीभत्सु। दोनों हाथों से वाण चला सकते थे इस कारण सव्यसाची, शुभ्र (निष्कलंक) वर्ण के कारण अर्जुन शुभ्र, शत्रुजयी होने के कारण जिष्णु, निद्राजयी होने से गुड़ाकेश, पृथा (कुन्ती) के पुत्र होने के कारण पार्थ।

अर्जुन एक वृक्ष का भी नाम है। जंगलों में तथा नदियों के किनारे अर्जुन-वृक्ष पाया जाता है। यह ६० से ८० फुट तक ऊँचा होता है। इसके पत्ते तीन से पाँच अंगुल तक चौड़े और एक वित्ता तक लंबे होते हैं तथा पत्तों के पीछे दो-दो गाँठें रहती हैं। फूल भी लगते हैं पर बहुत ही छोटे-छोटे और सफेद। इसका गोंद भी सफेद होता है और खाने तथा औषधि के काम में आता है। इसकी छाल का चूर्ण हृत्स्पंदन का अमोघ औषधि है। यह चूर्ण दूध के साथ दिया जाता है। नासूर तथा जला हुआ स्थान धोने के लिए इसकी छाल का क्वाथ (काढ़ा) उपयोग में लाया जाता है, यह कसैला, गरम, कफनाशक, व्रण-शोधक, पित्त, श्रम और तृष्णा का निवारक है। मूत्रकृच्छ्र में भी यह लाभदायक है। अर्जुन की लकड़ी से खेती के औजार, गाड़ी, नाव आदि वनाये जाते हैं और इसकी छाल रंगने के काम में भी आती है।

अर्जुनध्वजः (पुं०) हनुमान, जो अर्जुन की पताका पर रहते थे।

अर्जुनम् [वेद] (न०) उषा, शुक्ल वर्ण (अहश्च कृष्णमहरर्जुनञ्च — ऋ० ४।५।११।१)।

अर्जुनसखः (पुं०) श्रीकृष्ण।

अर्जुनी (स्त्री०) कुटनी या दूती स्त्री, गाय, गौ।

अर्जुनोपमः (पुं०) सागौन का वृक्ष, साखू का वृक्ष।

अर्णः (पुं०) साखू का वृक्ष, पत्र, वर्णमाला का एक वर्ण।

अर्णः [वेद] (पुं०) जल (अग्ने दिवो अर्ण मच्छा जिगासि—ऋ० ३।१।२२।३); वर्ण, अक्षर (ॐ नमः शिवाय इति षडर्णोमन्त्र इष्यते)।

अर्णवः (पुं०) समुद्र, सागर।

अर्णवनेमिः (स्त्री०) पृथ्वी, भूमि।

अर्णवपतिः (पुं०) वरुण।

अर्णवपोतः (पुं०) नाव, जहाज।

अर्णवमन्दिरः (पुं०) वरुण, विष्णु।

अर्णवोद्भवः (पुं०) चंद्रमा, शशि।

अर्णवोद्भवम् (न०) अमृत, पीयूष।

अर्णवोद्भवा (स्त्री०) लक्ष्मी।

अर्णस् (न०) जल, पानी।

अर्णस्वत् (वि०) जिसमें बहुत जल हो, अधिक जल वाला।

अर्णस्वत् (पु.०) सागर, समुद्र।

अर्णोदः (पुं०) बादल, मेघ।

अर्णोद्भवः (पुं०) शंख, शुक्ति, सीप।

अर्तनम् (न०) निंदा, कलंक, फटकार, भर्त्सना।

अर्तिः (स्त्री०) पीड़ा, कष्ट, धनुष का अग्रभाग।

अर्तिका (स्त्री०) बड़ी बहन, ज्येष्ठा भगिनी (नाटकमें)।

अर्थ् (आत्म०) (अर्थयते, अर्थित) माँगना, याचना करना, प्रार्थना करना, इच्छा करना।

अर्थः (पु०) उद्देश्य, प्रयोजन, हेतु, भाव, आधार, इच्छा, विष्णु, शब्दार्थ, धन। (किमर्थमागतोऽसि—किस उद्देश्य से आये हो? कोऽर्थः तव भाषणस्य ?—तुम्हारे बोलने का आशय क्या है ?)। मनुष्य के मुख के आठ स्थानों के संघात से जो ध्वनियाँ निकलती हैं उनका कोई अर्थ नहीं है। सभी देशों की सारी भाषाओं के अर्थ कल्पित हैं। क्योंकि एक देश की भाषा का अर्थ अन्य देश के लोग नहीं समझते। ईश्वर-सृष्ट मिट्टी, जल, अग्नि, वायु का व्यवहार सभी देशों के सभी लोग समान रूप से करते हैं। इसी प्रकार यदि मुख के मनुष्य, पशु, पक्षी, पेड़, पौधे, हट, भाग, गुरुजी, पाजी आदि शब्दों तथा घर जाओ, सड़क पर मत टहलो, आइये महाशय आपको देखकर मैं बहुत ही आनन्दित हुआ हूँ, साले क्यों आये जूता मार के निकाल दूँगा आदि वाक्यों को चीन, जापान, अमेरिका आदि देशों में जाकर कहने से कोई भी कुछ नहीं समझेगा। फिर उन देशों की भाषाओं का अर्थ हम नहीं समझेंगे। कोल, भील, नागा, कुकी आदि जंगली जाति के लोग भी अपनी-अपनी सांकेतिक भाषा का अर्थ समझ कर अपना काम चलाते हैं। एक कुत्ते को कोई कुकुर, कोई सारमेय, कोई डाग कहते हैं। इस प्रकार पृथ्वी भर की २५ हजार भाषाओं के २५ हजार शब्द कुत्ते के लिए बोले जाते होंगे। कुत्ते के शरीर पर हाथ फेरने से वहाँ एक भी नाम नहीं मिलेगा। सभी शब्द लोगों के मुख के निरर्थक ध्वनियाँ मात्र हैं।

इस प्रकार के अर्थहीन शब्दों को जोड़ कर लोग भाषा बनाते हैं। अतः वे भाषाएँ भी मिथ्या हैं। तिस पर भी उन भाषाओं में विद्वान लोग ज्ञान की अच्छी-अच्छी विद्याएँ भर देते हैं और उन्हें पढ़ कर लोग विद्वान होते तथा प्रचुर धन कमाते हैं। मिथ्या संसार में मिथ्या का ही तो व्यवहार है। मिथ्या जानकर उस विद्या की सेवा करने से सुख ही रहेगा, विद्या का घमंड नहीं होगा।

अर्थ शब्द का एक अर्थ धन भी है। धन तो एकदम मिथ्या वस्तु है। मुसलमानी अमल में शाइस्ता खाँ ने चमड़े की पट्टी पर छाप देकर रुपया रूप से चलाया था। उन दिनों उस प्रकार के एक रुपये के बदले ४७ मन चावल मिलता था। ऐसी हजारों पट्टियाँ जिसके पास होती थीं वह अपने को धनी मानकर डींग हाँकता था। उसके बाद ताँबे के पैसे, चाँदी के रुपये, सोने की गिन्नियाँ आदि प्रचलित हुए। अब तो निकेल के पैसे और कागज के रुपये चल रहे हैं। ताँबा, चाँदी, सोना आदि की तरह निकेल और कागज भी मिट्टी के ही विकार हैं। पेड़, पौधे, बाँस आदि को कुचल कर लुगदी बनायी जाती है, उसे साफ करके सफेद रस को कागज बनाने की मशीन में डालते जाते हैं और कागज बनता जाता है। हर एक देश की सरकारें उस कागज पर रुपये के अंक छाप कर नोट के रुपये चलाती हैं। उन छपे कागजों को रुपये मान कर लोग फूले न समाते हैं। दूसरे देश में वैसे दस-बीस लाख रुपयों के कागज ले जाने पर उनके बदले एक फूटी कौड़ी भी कोई न देगा, बल्कि वहाँ की लड़कियाँ वैसे कागजों को जला कर चुल्हा सुलगायेंगी।

लोग कहते हैं कि बिना उन छपे कागजों के काम ही नहीं चलता। ठीक है, वे कागज काम चलाने के लिए ही छाप कर चलाये गये हैं। धन मानने के लिए नहीं। अब बैंक चलाये जा रहे हैं। लोग अधिक नोट उनमें जमा करते हैं और बंक के पास-बुक में रुपये का अंक देखकर प्रसन्न होते हैं। कहीं मुनीम जी सेठ जी को दिन के अंत में सुना देते हैं कि आज फलाने बैंक में तेरह करोड़, बहत्तर लाख, पचपन हजार सात सौ तीस रुपये जमा हो गये हैं। इन दोनों के लिए पास-बुक का अंक और रोकड़ बही का अंक ही धन है; सामने वे कागज भी नहीं हैं। सेठ जी के लिए मुनीम जी के मुख के निरर्थक शब्द ही धन है; कागज तो दूर की बात है, पास-बुक और रोकड़ बही भी सामने नहीं है।

मिथ्या जगत में मिथ्या का ही व्यवहार होता है। मिथ्या जानकर व्यवहार करने से ऐसे मिथ्या धन पर अभिमान न होगा, फलस्वरूप उसके नाश या व्यय हो जाने से दुःख भी नहीं होगा। चोर को जान कर उसकी सेवा करने से वह चोरी तो कर ही नहीं सकता, बल्कि मित्र के समान उपदेश देकर जाता है। (विज्ञाय सेवितश्चौरः मैत्रीमेति न चौरताम्—पंच० ७।१४८)।

अर्थ के उपार्जन में क्लेश है, उसकी रक्षा करने में भी दुःख है, व्यय या क्षय में भी दुःख है, अतः ऐसे क्लेशदायक अर्थ को धिक्कार है (अर्थानामर्जने क्लेशः तथैव परिरक्षणे व्यये दुःखं नाशे दुःखं धिग् अर्थान् क्लेशकारिणः—पंच ७।१३)।

आचार्य शंकर का उपदेश है कि, अर्थ को अनर्थ समझना, उससे सुख का लेश भी नहीं है; पुत्र से भी धनिकों का भय रहता है—यह नीति सर्वत्र कथित है (अर्थमनर्थं भावय नित्यं, नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्। पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा कथिता नीतिः—मोहमुद्गर १३)। एक बैरिस्टर ने बहुत धन कमाया था। उन्होंने अपने पुत्र को भी विलायत भेज कर बैरिस्टर बनाया। पुत्र एक मेम को साथ लाकर घर लौट आया। मेम को देखते ही बाप ने पुत्र को घर से निकाल दिया। पुत्र के पास पैसे नहीं थे। वकालत से आरम्भ में पैसे मिलने की संभावना भी कम थी। होटल का खर्च सिर पर चढ़ रहा था। उसने तोन डाक्टरों को अधिक पुरस्कार देने का लालच देकर बाप को पागल करार देने की गवाही देने के लिए तैयार कर लिया, हाईकोर्ट में मुकदमा दायर करने और तीन डाक्टरों के गवाही देने से बाप पागल बन गये और बेटा सारे धन और सम्पत्ति का मालिक बन बैठा।

दिल्ली के मुसलमान बादशाहों के लड़के बाप के विरुद्ध विद्रोह करते थे। अन्य देशों में भी ऐसे उदाहरण मिलते हैं।

अर्थ का दोष दिखाने के लिए महाभारत का एक प्रसंग है। दुर्योधन की राजसभा में दुःशासन पांडव-घरणी द्रौपदी को खींच लाकर उनका वस्त्र खोलने लगा। द्रौपदी सहायता के लिए रो-रो कर चिल्लाने लगीं। युधिष्ठिर ने पितामह भीष्मदेव की ओर देखा तो उन्होंने कहा—"हे महाराज, मनुष्य अर्थ का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं है। यह सत्य है, मैं कौरवों के अर्थ से आबद्ध हूँ (अर्थस्य

पुरुषो दासः दासस्त्यर्थो न कस्यचित् । इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः) । (अभिमानः देखिए) ।

अर्थकर (वि०) लाभदायक, अर्थप्रप्तिकारक ।

अर्थकाम (वि०) धन-प्राप्ति के इच्छुक, धन चाहने वाला ।

अर्थकामार्थमुत्साहः (पुं०) धन तथा काम्य वस्तु प्राप्त करने के लिए उत्साह साधारण मनुष्यों में प्रायः सर्वत्र दिखाई पड़ता है। सांसारिक विषयों में आसक्ति भी अनेकों में हैं। आत्मज्ञान उत्पन्न होने पर वे दोनों ही लय प्राप्त हो जाते हैं तथा वैसे आत्मज्ञानी के सामने सारा संसार ही शांतिमय है। (असत्, आत्मन्, माया शब्दों को देखिए) । (अर्थकामार्थमुत्साहः संसारासक्तिरेव च । ज्ञानलाभे लयं यातः सर्वं शान्तिमयं जगत्-श्रीरामकृष्णोपदेश-साहस्री ६।३६) ।

अर्थकिल्बिषिन् (वि०) जो ईमानदार न हो, बेईमान ।

अर्थकृच्छ्रम् (न०) कठिन विषय, धन-संबंधी संकट, निर्धनता, गरीबी ।

अर्थकृत् (वि०) उपयोगी, लाभप्रद ।

अर्थकृत (वि०) विशिष्ट उद्देश्य से बना हुआ, उपयोगी, धनी बनाने वाला ।

अर्थकृत्यम् (न०) धन का लाभ कराने वाला कोई काम या व्यवसाय ।

अर्थकोविद (वि०) किसी विषय में निपुण, अनुभव-प्राप्त, अनुभवी ।

अर्थक्रिया (स्त्री०) किसी विशिष्ट उद्देश्य से संपादित किया हुआ कोई कार्य, प्रयोजन सिद्ध करने वाली क्रिया, परोपकार का कार्य ।

अर्थक्रियाकारित्वम् (न०) [बौद्ध] प्रयोजन सिद्ध करने की योग्यता, जैसे—जल लाने का प्रयोजन हुआ तो उस अर्थ (प्रयोजन) की सिद्धि के लिए घट से काम लिया गया—यही घट का अर्थक्रियाकारित्व है। किसी से जल लाने के लिए कहा गया तो वह दौड़ते हुए जाकर एक उत्तम बैल लाया, अब तो उससे वक्ता का प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ, इस कारण उसमें अर्थ-क्रियाकारित्व नहीं है ।

अर्थगतिः (स्त्री०) भाव को समझना या जानना ।

अर्थगृहम् (न०) खजाना, कोषागार, वह स्थान जहाँ धन सुरक्षित रूप में रखा जाता हो ।

अर्थगौरवम् (न०) अर्थ की गंभीरता ।

अर्थघ्न (वि०) धन का दुरुपयोग करने वाला, अपव्ययी ।

अर्थचित्त (वि०) धन की इच्छा करने वाला, धनाकांक्षी ।

अर्थचिन्तनम् (न०), अर्थचिन्ता (स्त्री०) धन की चिंता, धनागम के विषय में सोच-विचार ।

अर्थजात (वि०) अर्थ से युक्त या परिपूर्ण ।

अर्थजातम् (न०) वस्तुओं का संचय, धन की बहुत बढ़ी राशि ।

अर्थज्ञ (वि०) अर्थकोविद ।

अर्थतः (अव्य०) धन की प्राप्ति के लिए, इस कारण से, सचमुच में ।

अर्थतत्त्वम् (न०) किसी वस्तु का यथार्थ कारण या स्वभाव, असली बात ।

अर्थतन्त्र (वि०) स्वार्थी, केवल अपने ही लाभ के लिए काम करने वाला ।

अर्थतन्त्रः (पुं०) स्वार्थ, अपना मतलब, अपना उद्देश्य धन या लाभ (यदर्थतन्त्र न विहन्ति पौरुषम्—भागवत) ।

अर्थतन्त्रम् (न०) उयोगिता का मत या सिद्धांत; धन-वश्यता ।

अर्थद (वि०) लाभ-जनक, उपयोगी ।

अर्थदण्डः (पुं०) जुरमाना, वाद-व्यय, मुकदमे का खर्च ।

अर्थदूषणम् (न०) अपव्ययिता, अन्यायपूर्वक किसी की संपत्ति छीन लेना अथवा उसका रुपया न देना, किसी शब्द के अर्थ में दोष निकालना ।

अर्थदृष्टिः (स्त्री०) केवल लाभ की बात ही देखना या सोचना ।

अर्थना (स्त्री०) प्रार्थना, विनती, प्रार्थना-पत्र, आवेदन-पत्र ।

अर्थनाशः (पुं०) धन की क्षति या हानि ।

अर्थनिबन्धन (वि०) धन पर निर्भर रहने वाला, धन-गर्वित ।

अर्थनिर्वृत्तिः (स्त्री०) उद्देश्य की पूर्ति या पूर्णता ।

अर्थन्यायालयः (पुं०) वह न्यायालय या कचहरी जहाँ केवल धन या संपत्ति संबंधी वादों या मुकदमों का विचार होता है, दीवानी कचहरी ।

अर्थन्यून (वि०) दरिद्र, निर्धन, धनहीन ।

अर्थपतिः (पुं०) राजा, कुबेर, धनपति ।

अर्थपर (वि०) लालची, लोलुप, कृपण, कंजूस ।

अर्थपरिग्रहः (पुं०) धन का अधिकार ।

अर्थपिशाचः (पुं०) कृपण, कंजूस, धनलोलुप ।

अर्थप्रयोगः (पुं०) सूद या ब्याज पर रुपया लगाना ।

अर्थप्रसंख्या (स्त्री०) लक्ष्य का विचार ।

अर्थप्रसरः (पुं०) अर्थन्यायालय से निकली हुई आज्ञा या सूचना ।

अर्थबुद्धि (वि०) स्वार्थी, स्वार्थपरायण ।

अर्थबुद्धिः (स्त्री०) स्वार्थ, अधिक धन कमाने की बुद्धि ।

अर्थभाज् (वि०) संपत्ति में अंश ग्रहण करने वाला, संपत्ति में भागीदार ।

अर्थभ्रंशः (पुं०) भाग्य का विनाश, बरबादी ।

अर्थमत्त (वि०) धन से गर्व-युक्त, धनगर्वित ।

अर्थमन्त्रिन् (पुं०) अर्थमंत्री, राज्य के आर्थिक विषयों का देखभाल करने वाला मंत्री ।

अर्थमय (वि०) उपयोगी, लाभदायक ।

अर्थमात्रम् (न०), अर्थमात्रा (स्त्री०) धन-दौलत, संपत्ति ।

अर्थयुक्तिः (स्त्री०) प्राप्ति, उपलब्धि, लाभ, फायदा ।

अर्थलुब्ध (वि०) धन का लोलुप, अर्थलिप्सु ।

अर्थलोपः (पुं०) उद्देश्य के अस्तित्व का अभाव ।

अर्थवत् (वि०) अर्थयुक्त, अर्थवान, धनिक, धनवान । जिसकी धनतृष्णा विशाल है वही दरिद्र है और जिसका मन परितृप्त है उसके सामने कौन अर्थवान और कौन दरिद्र है ? (स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला । मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः—विष्णुपुराण) ।

अर्थवत्ता (स्त्री०) धन-दौलत, सम्पत्ति, अर्थ रहने की अवस्था ।

अर्थवादः (पुं०) किसी मत या सिद्धांत की पुष्टि के लिए प्रशंसावाक्य । किसी शास्त्र का तात्पर्य निर्णय करने के लिए छः लिंग या हेतु अपेक्षित हैं, यथा—१, उपक्रम-उपसंहार—आरंभ और समाप्ति में क्या कहा गया है । २. अभ्यास–बार-बार क्या कहा गया है । ३. अपूर्वता—किस विषय को अपूर्व या उत्तम कहा गया है । ४. फल—किस विषय का फल उत्तम बताया गया है । ५. अर्थवाद—किस विषय को पुष्ट करने के लिए कहानी आदि कह कर प्रशंसा की गयी है । ६. उपपत्ति—किस विषय के प्रतिपादन के लिए युक्ति दी गयी है (उपक्रमोपसंहाराअभ्यासा-पूर्वता फलं, अर्थवादोपपत्ती च लिंगं तात्पर्यनिर्णये—वेदान्तसार १०२) ।

कर्ममीमांसादर्शन में प्रशंसा और निंदा दोनों अर्थों में अर्थवाद शब्द का प्रयोग किया गया है । विहित विषय की प्रशंसा, जैसे—"वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः" इत्यादि के लिए "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" (वायु क्षेपक यानी उन्नतिः सम्पादक देवता हैं) तथा निषिद्ध विषय की निंदा, जैसे–"बर्हिषि रजतं न देयम्" (अग्निकार्य में रजत नहीं देना चाहिए), इत्यादि के लिए—रजतम् अश्रुप्रभवं, पुरास्य संवत्सराद् गृहे रुदन्ति यो वर्हिषि रजतं ददाति) ।

अर्थवाद पुनः तीन प्रकार के हैं, जैसे—गुणवाद, अनुवाद तथा भूतार्थवाद (गुणवादो विरोधे स्यादनुवादो-ऽवधारिते । भूतार्थवादस्तद्धानावर्थवादस्त्रिधा मतः–भट्ट०) । दूसरे प्रमाण से सिद्ध विषय के विरोध में जो प्रशंसा-वाक्य कहा जाता है वह गुणवाद है, जैसे—"आदित्यो यूपः"—यहाँ यूप-काष्ठ में आदित्य का होना प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है, ऐसे स्थल ने लक्षणा-वृत्ति द्वारा युप में आदित्य के समान उज्ज्वलत्वरूप गुण प्रतिपादित किया गया है । दूसरे प्रमाण से अवगत अर्थ के पक्ष में जो प्रशंसा-वाक्य कहा जाता है वह अनुवाद है, जैसे–"अग्निर्हिमस्य भेषजम्" (अग्नि हिम की औषध है) । यहाँ अग्नि हिम का विरोधी है यह प्रत्यक्ष प्रमाण से प्रमाणित है । प्रमाणांतर से बाधित नहीं है और न प्रमाणांतर से अवधारित ही है, ऐसे विषय का वाक्य भूतार्थवाद है । जैसे—"इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्" (इंद्र ने वृत्रासुर के ऊपर गिराने के लिए वज्र उठाया) । यहाँ इंद्र का वज्र उठाना प्रमाणांतर से बाधित नहीं है और न प्रमाणांतर से अवधारित ही है, अतः यह भूतार्थवाद है ।

अन्य प्रकार से अर्थवाद के चार भेद किये गये हैं, जैसे—प्रशंसा, निंदा, परकृति और पुराकल्प (स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः–गौतमसूत्र) प्रशंसा और निंदा का विवरण ऊपर दिया गया है । अन्य महापुरुष के द्वारा कृत अर्थवाद को परकृति अर्थवाद कहते हैं । जैसे—'अग्निर्वा अकामयत" (अग्नि ने कामना की थी) । अन्य के द्वारा आख्यानादि के प्रतिपादक अर्थवाद को पुराकल्प

अर्थवाद कहते हैं। जैसे--देवा वै मृत्योर्विभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन् (देवता मृत्यु से डरते हुए ऋक्, यजु, साम रूप त्रयी विद्या में प्रविष्ट हुए)। शास्त्रों में जहाँ-जहाँ फल-श्रुतियाँ हैं सभी अर्थवाद में अंतर्भुक्त हैं (रोचनार्था फलश्रुतिः)।

शास्त्रों के जहाँ-जहाँ कल्पित आख्यायिकाएँ लिख कर प्रतिपाद्य विषय की प्रशंसा की गयी है, वे भी अर्थवाद ही हैं। यदि आरम्भ में ही कहा जाय कि, आत्मा का जन्म नहीं है, मृत्यु भी नहीं है, तुम ब्रह्म हो, ब्रह्म को कोई जान नहीं सकता, आत्मज्ञानी को शोक नहीं होता आदि, तो कोई भी मनुष्य इन महान उपदेशों का अर्थ नहीं समझ सकता। इस कारण कोई उत्तम उपदेश देने के लिए ग्रंथ के आरंभ में ही कोई कल्पित कहानी रचकर लिख दी जाती है।

कठोपनिषद में यम और नचिकेता की कहानी है। उसका भाष्य लिखना आरंभ करके आचार्य शंकर ने लिखा है--आख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था अर्थात् यम और नचिकेता के वार्तालाप रुप कहानी इस ग्रंथ में कथित ब्रह्मविद्या की प्रशंसा के लिए रचित हुई। उद्देश्य यह है कि, मृत्यु के बाद वाली अवस्था जानने के लिए यमराज के मुख से उपदेश दिलाने से उस पर लोग विश्वास करेंगे। वह कहानी भी ऐसी असंबद्ध रूप से कल्पित हुई है कि कोई भी बुद्धिमान मनुष्य उस पर विश्वास नहीं कर सकते।

वाजश्रवा मुनि सर्वस्व-दान रूप यज्ञ कर रहे थे। उन ऋषि के बालक पुत्र नचिकेता ने देखा कि अत्यन्त वृद्धा जीर्ण गायों का भी दान किया जा रहा है। इससे उसके मन में धर्मबुद्धि उत्पन्न हुई। उसने सोचा, जिन गायों का दूध हम लोगों ने पिया है, अब ये दूध नहीं दे सकतीं, ऐसे समय उनका पालन-पोषण हमें ही करना चाहिए। जिन ब्राह्मणों को ऐसी गायें दी गयी है, उन्हें दूध तो मिलेगा ही नहीं, ऊपर से इनके पालन का बोझ उन लोगों पर लाद दिया गया है। इस प्रकार सोच कर बालक ने पिता के पास जाकर कहा--"पिताजी, मुझे किसे देंगे?" इस प्रकार दो-तीन बार कहने पर हवन-कार्य करने में निरत पिता ने क्रोधित होकर कहा--"तुझे यम को देता हूँ (मृत्तवे त्वा ददामि)।" बालक नचिकेता यमराज के घर में चला। वहाँ जाकर उसने देखा कि यमराज घर में नहीं हैं। राजा की रानियों और मंत्रियों ने बालक अतिथि को आदर से बिठाया और कुछ खाने के लिए कहा। बालक ने कहा--"जब गृहस्थ घर में नहीं है, तब मैं कुछ भी खा नहीं सकता।" इस प्रकार तीन रात्रियों तक वह वहाँ उपवासी बैठा रहा। उसके बाद यमराज के घर लौट आने पर उन्होंने सुना कि एक अतिथि ब्राह्मण-बालक तीन दिनों तक विना कुछ खाये-पिये बैठा हुआ है। तुरंत वहाँ जाकर उन्होंने कहा--"तीन रात्रियों तक तुम यहाँ उपवासी बैठे हो, इसके लिए तुम मुझसे तीन वर माँग लो (कठोपनिषद्- शब्द देखिए)।

कोई मनुष्य जीवित अवस्था में यमालय नहीं जा सकता। नचिकेता मरकर वहाँ गया था, ऐसी बात उस ग्रंथ में नहीं लिखी है। उसने और यमराज ने मनुष्य की भाषा में बातचीत कैसे की? तीन रात्रियों तक जो बालक उपवासी बैठा था, गृहस्थ को पहले ही उसे कुछ खिलाना-पिलाना आवश्यक था। उसके बदले वर देने की बात कही गयी। नचिकेता ने तीसरे वर में आत्मा का स्वरूप जानना चाहा। इसके आगे यमराज ने उस कठोपनिषद के अंत तक अनेक प्रकार से आत्मतत्त्व का प्रतिपादन किया। अंत में नचिकेता घर लौट आया या नहीं, इसे नहीं लिखा गया है। शिष्य के चित्त को आत्मतत्त्व की ओर आकृष्ट करने के लिए आरंभ में आख्यायिका कही गयी है, उपसंहार करने की आवश्यकता नहीं है। आख्यायिकाओं का स्वरूप भी ऐसा है कि उसका आरंभ तो है किंतु उपसंहार नहीं।

यमराज के आत्मविद्या का उपदेश देना आरंभ करते ही नचिकेता ने कहा--धर्माधर्म से भिन्न, कार्यकारण से रहित, भूत-भविष्य से पृथक जो तत्त्व आप देख रहे हैं, उसी को मुझे बताइए (अन्यत्र धर्मात् अन्यत्राधर्मात् अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्-पश्यसि तद्वद--१।२।१४)। इतनी बड़ी गूढ़ बात का नचिकेता जैसे बालक के मुख से निकलना संभव नहीं है। बालक कैसे जान गया कि यमराज जानते हैं कि ऐसी एक वस्तु है जो धर्माधर्म, कार्यकारण और भूतभविष्य से पृथक् है?

वृहदारण्यक उपनिषद में महर्षि याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी का वार्तालाप है। याज्ञवल्क्य ने पत्नी से कहा--"मैं गृहस्थ आश्रम छोड़ कर संन्यास आश्रम ग्रहण करना चाहता हूँ। इसलिए दूसरी पत्नी कात्यायनी और तुमको मैं अपनी संपत्ति का विभाजन कर देना चाहता हूँ।" सुनकर

मैत्रेयी ने पूछा—"आपकी कौन-कौन सी संपत्तियाँ हैं और उनसे क्या-क्या फल मिल सकता है ?" उत्तर में ऋषि ने कहा—"मेरे ये गृह-क्षेत्र, बाग-बगीचे, गाय-भैंस आदि इस लोक की संपत्तियाँ हैं, किंतु इनसे आनंद या मुक्ति प्राप्त करने की कोई संभावना नहीं है। मेरी दूसरी संपत्ति ब्रह्मविद्या है, इससे अमृतत्व-लाभ होता है।" यह सुन कर मैत्रेयी ने कहा—"जिससे मैं अमृत नहीं हो सकूँगी, उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? आप मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश दीजिए।" इसके अनंतर याज्ञवल्क्यजी ने ब्रह्म-विद्या का उपदेश देना आरंभ किया—"हे मैत्रेयी, पति की प्रीति के लिए पति पत्नी का प्रिय नहीं होता, बल्कि अपने सुख के लिए वह पति को प्रिय समझती है; पत्नी की प्रीति के लिए कभी पत्नी प्रिय नहीं होती, बल्कि अपने सुख के लिए पति को पत्नी प्रिय होती है; पुत्र की प्रीति के लिए कभी वह पिता का प्रिय नहीं होता बल्कि अपने सुख के लिए वह पिता का प्रिय होता है। धन की प्रीति के लिए कभी वह मनुष्य का प्रिय नहीं होता बल्कि अपने सुख के लिए ही मनुष्य उसे प्रिय समझते हैं।⋯⋯ संसार की सब वस्तुओं की प्रीति के लिए वे मनुष्य को प्रिय नहीं होती बल्कि अपने सुख के लिए ही मनुष्य उन्हें प्रिय समझते हैं। ऐसे परम प्रिय आत्मा को देखना चाहिए, उसके साधन रूप से श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। आत्मा का दर्शन करने से संसार के सभी पदार्थ और तत्त्व विदित हो जाते हैं (२।४।१-५)।

इसके अनंतर ब्रह्माभिन्न आत्मा का स्वरूप विस्तार के साथ वर्णित हुआ है। परंतु बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद का उपसंहार नहीं किया गया है। वास्तव में याज्ञवल्क्य जी ने संन्यास लिया है या नहीं यह भी नहीं लिखा गया है। आशय यह है कि यह आख्यायिका भी ब्रह्मविद्या के प्रतिपादन के लिए बनायी गयी है, इसी कारण यह अर्थवाद है।

छांदोग्य उपनिषद में श्वेतुकेतु और आरुणि का संवाद है। पिता आरुणि ने पुत्र श्वेतकेतु से गुरु-गृह में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए सभी शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए कहा। तदनुसार सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लौट आने पर, पिता पूछते हैं—'क्या तुम ऐसी वस्तु को जानते हो जिसके ज्ञान से सृष्टि के सारे पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है ?' पुत्र ने उत्तर दिया—'ऐसा होना संभव नहीं है। एक वस्तु को जानने से केवल उसी का ज्ञान होता है, दूसरे पदार्थों का ज्ञान नहीं।' तब पिता ने पुत्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश देना आरंभ किया—'हे श्वेतकेतु, जैसे एक मिट्टी के पिंड का तत्त्व जानने से मृत्तिका से बने सारे बर्तनों, भवनों आदि का तत्त्वज्ञान हो जाता है; जैसे एक सुवर्ण-पिंड का तत्त्व जान लेने से सुवर्ण से बने कुंडल, मुकुट आदि सभी स्वर्णालंकारों का तत्त्वज्ञान हो जाता है; जैसे एक लौह-पिंड का तत्त्व जान लेने से लोहे से बने कर्तरिका, दात्र, खनित्र आदि समस्त लौह-निर्मित यंत्रों का तत्त्वज्ञान हो जाता है उसी प्रकार एक आत्मा को जान लेने से संसार की सारी वस्तुओं का तत्त्वज्ञान हो जाता है। यथार्थ में कारण ही सत्य है, कार्य-वस्तुओं के नाम और रूप मिथ्या हैं। रूप के नष्ट हो जाने से नाम का भी लोप हो जाता है और कार्य, कारण में लय प्राप्त हो जाता है।

इसके अनंतर आत्मा का स्वरूप विस्तार के साथ वर्णित किया गया है। परंतु इस आख्यायिका का भी उपसंहार नहीं किया गया है (६।१-२-१६)।

छांदोग्य उपनिषद के अन्यत्र नारद-सनत्कुमार-संवाद है। एक नारद ऋषि ने महर्षि सनत्कुमार के पास जाकर ब्रह्मविद्या का उपदेश सुनने की प्रार्थना की। सनत्कुमार ने पूछा—"तुमने किन-किन शास्त्रों का अध्ययन किया है, उसे बताओ। उनके अनंतर उससे ऊपर की बात मैं बताऊँगा।" नारद ने उत्तर दिया—"हे भगवन, मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, देव-विद्या, भूतविद्या, सर्पविद्या आदि पढ़ चुका हूँ। मैं मंत्र-वित् हूँ, आत्मवित् नहीं। मैंने आपके समान महात्माओं से सुना है कि आत्मवित् व्यक्ति शोक से उत्तीर्ण हो सकता है, हे भगवन, मैं शोकार्त हूँ। आप मुझे शोक-समुद्र से पार उतारिये।"

इसके अनंतर ब्रह्मनिष्ठ सनत्कुमार ने भूमा, सुखस्वरूप आत्मा का वर्णन किया (७।१-२६)।

यहाँ भी आख्यायिका का उपसंहार नहीं है। इस कारण यह कहानी भी ब्रह्मविद्या की प्रशंसा के लिए बनायी गयी है।

उपनिषद् वेद का अंतभाग अर्थात् वेदांत है। वेद अपौरुषेय माने जाते हैं अर्थात् किसी मनुष्य ने इनकी रचना नहीं की है। वेद स्वयं-प्रमाण भी है तो वह मनुष्यों का

नाम ले-लेकर उपदेश क्यों देता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिन मनुष्यों को समझाने के लिए उपदेश दिया जाता है उनकी बुद्धि में प्रविष्ट होने के लिए उन्हीं के अनुरूप श्रेष्ठ मनुष्यों के मुख से उपदेश व्यक्त किया जाता है। अपौरुषेय वेद में भविष्य में होने वाले मनुष्यों के नामों की कल्पना करके आख्यायिकाएँ रची गयी हैं। उन कल्पित आख्यायिकाओं पर ध्यान न देकर उनके द्वारा कथित उपदेशों का ही पालन करना चाहिए।

गीतोक्त शुक्ल-कृष्ण-गति भी अर्थवाद ही है। ब्रह्मविद्या-प्रतिपादक ग्रंथ में उसका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है; ब्रह्मविद्या के साक्षात् फल का प्रतिपादन ही उसका उद्देश्य है। ब्रह्मविद्या की साक्षात् सद्य फल है जीवन्मुक्ति। मरणानंतर कृष्णगति से धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन आदि के मार्ग से तथा अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण के ६ मास के शुक्ल मार्ग से जीव की गति वेदांत में मानी नहीं जा सकती (जन्मान्तरम् देखिए)।

ब्रह्मज्ञानी की मृत्यु के अनंतर प्राणों का ऊर्ध्वगमन नहीं होता, इसी स्थान में वे ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं (न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ४।४।६)।

ब्रह्मविद्या-लाभ करने के इच्छुक मुमुक्षु से जब कहा जायेगा कि कृष्ण-गति से स्वर्ग में जाकर वहाँ से लौट आना पड़ेगा तो उसके प्रति उसके मन में उपेक्षा का भाव उत्पन्न होगा। जब उसे यह कहा जायेगा कि परोक्ष ब्रह्मविद्या के परिणाम में तुम ब्रह्मलोक में पहुँच जाओगे और एक एक ब्रह्मांड के नायक ब्रह्मा की आयु के उपरांत उनके साथ तुम ब्रह्म में लीन हो जाओगे तो उसमें भी उसे भय होगा, क्योंकि एक ब्रह्मा की आयु सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि इन चार युगों के हजार गुना समय ६४८००००००० वर्ष ब्रह्मा का एक दिन है और उतना ही समय रात्रि भी है। इस हिसाब से ३६५ दिनों का वर्ष और १०० वर्षों में एक ब्रह्मा का अंत होगा (सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः रात्रिं युगसहस्रान्तां—गीता ८।१७)। हिसाब लगाने पर ब्रह्मा की आयु का परिणाम तो निकल आयेगा परंतु उतने दिनों तक परोक्ष ब्रह्मविद्या लाभ करके भी ब्रह्मलोक में जाकर मुक्ति की प्रतीक्षा करते रहना मुमुक्षु को पसन्द नहीं है।

उन दोनों मार्गों पर उपेक्षा होने से ही मुमुक्षु का अपरोक्ष-आत्मविद्या में अत्यंत आग्रह होगा। इसी परम-कल्याण-दायक शुभ भाव को प्रोत्साहन देने के लिए निंदार्थवाद के रूप में उन दोनों मार्गों का वर्णन किया गया है।

इसी प्रकार पुराणों, रामायण-महाभारतादि ग्रंथों की असम्बद्ध कथाओं को भी अर्थवाद ही समझना चाहिए। भागवत में लिखा है—'मुनि १२ हजार योजन विस्तृत वटवृक्ष के नीचे बैठकर शिष्यों को उपदेश दे रहे थे। १२ मील में १ योजन होला है। इस हिसाब से उस वृक्ष का परिमाण १ लाख १४ हजार मील होता है। किंतु पृथ्वी पर उतना स्थान नहीं है। पृथ्वी को परिधि कुल २५ हजार मील है। वक्ता मुनि की महत्ता दिखाने के लिए वट वृक्ष को उतना विशाल बताया गया है, ताकि पाठकों और श्रोताओं पर प्रभाव पड़े। अमुकऋषि १० हजार वर्षों तक बिना कुछ खाये-पिये तप करते थे। यह असंभव बातें हैं। रावण के १० सिरों की कल्पना की गयी है। पृथ्वी पर ऐसा होना संभव नहीं है। रामचन्द्र की महत्ता दिखाना ही वैसी कल्पना का उद्देश्य है। वानर, राक्षस, देवता, निषाद आदि एक ही ढंग के संस्कृत अनुष्टुप छंद में बातें कहें, यह भी संभव नहीं है। ध्रुव, प्रह्लाद के अत्यंत छोटी उमर में वैसी भक्ति की कथाएँ भक्ति की प्रशंसा के लिए लिखी गयी हैं, नहीं तो उतने छुटपन में वैसी भक्ति होना संभव नहीं है। उनकी कथाएं लाखों बार कहने या सुनने से कोई लाभ नही है, बल्कि हृदय में बिंदुमात्र भक्ति-भाव उत्पन्न होने से मनुष्य का जीवन सुखी, शांत और चरितार्थ हो सकता है।

आधुनिक शिक्षित लोग आजकल उन असंबद्ध कहानियों पर अश्रद्धा दिखाते हैं तथा उनका पठन-पाठन भी निरर्थक समझते हैं। यथार्थ में वे अर्थवाद हैं, उत्तम जीवन यापन करने में सहायता देना ही उनका उद्देश्य है।

अर्थविकल्पः (पुं०) सत्य से डिगना, सत्य बात को बदलने की क्रिया।

अर्थविद् (वि०) अर्थकोविद, भाव को जानने या समझने वाला।

अर्थविधिः (पुं०) वह विधि या कानून जो राज्य की ओर से जनता के अधिकारों की रक्षा के लिए बनाया गया हो (आपराधिक विधि से भिन्न) दीवानी कानून।

अर्थविपत्तिः (स्त्री०) अपने उद्देश्य या लक्ष्य से होने वाली च्युति।

अर्थविवादः, अर्थव्यवहारः (पुं०) वह विवाद या मुकदमा जो केवल अर्थ या धन से संबंध रखता हो, दीवानी मुकदमा।

अर्थवृद्धिः (स्त्री०) धन का संचय, धन-संग्रह।

अर्थवैकल्यम् (न०) सत्य का अतिक्रमण, सत्य से हटना या डिगना।

अर्थव्ययः (पुं०) खर्च, व्यय।

अर्थशालिन् (वि०) धनवान, संपत्तिशाली।

अर्थशास्त्रम् (न०) सम्पत्तिशास्त्र। यह एक ऐसा शास्त्र है जिसमें मनुष्य के अर्थ-संबंधी प्रयोजनों का विवरण होता है। वह शास्त्र जिससे मनुष्य के अर्थसंबंधी प्रयोजन सिद्ध हों। अर्थ, विनिमय का एक माध्यम है। पुराने समय में चीजों की अदला-बदली हुआ करती थी। एक ने सेरभर जौ दिया तो दूसरे ने उसे दो सेर दूध दिया। कुछ दिनों के बाद इस प्रथा में कुछ गड़बड़ी होने लगी, तो लोगों ने कौड़ी आदि किसी वस्तु को माध्यम मान लिया। जो वस्तु अधिक मिलती थी उसको लेने के लिए कुछ कम कौड़ियाँ तथा जो चीज कम मिलती थी उसको लेने के लिए अधिक कौड़ियाँ देनी पड़ती थीं। उसके अनंतर धातु के टुकड़ों को विनिमय का माध्यम मान लिया गया। अब तो गिनने की सुविधा के लिए कागज छाप-छापकर अर्थ के रूप में माने जा रहे हैं। अतः अर्थ वस्तुतः कोई वस्तु नहीं है। धातु और कागज के टुकड़ों पर मोहर लगा कर उन्हें अर्थ मान लिया गया है। सभ्य समाज में इसका विशेष प्रयोजन है। जिसके पास अधिक अर्थ है वह उतनी ही अधिक सुख-साधन-सामग्री का संग्रह कर सकता है। इस कारण सारे मनुष्य अधिक से अधिक अर्थ कमाने के लिए प्राणपण चेष्टा कर रहे है।

हमारे देश में जब से अर्थ को विनिमय का माध्यम माना जाने लगा तब से इसके प्रयोग के अनेक नियम बनाये गये। उन नियमों को बृहस्पति, कौटिल्य आदि विद्वानों ने संगृहीत रूप में लिखकर ग्रंथों की रचना की। यही अर्थशास्त्र कहा गया। बृहस्पति का अर्थशास्त्र सूत्र के रूप में था, किंतु उसमें अर्थ-संबंधी सब प्रकार के नियम नहीं मिलते और कौटिलीय अर्थशास्त्र में अर्थ-प्रयोग के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के राजनैतिक विषयों तथा बृह्मचर्य, विवाह संबंधी नियम, दायभाग, शत्रुओं पर आक्रमण करने की विधि, दुर्ग-प्रबंध, नगर-प्रबंध आदि विषयों का भी विस्तारित विवरण है। राजनीति, दंडनीति, नीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र आदि विषयों की विषद व्याख्या भी उनके अर्थशास्त्र में है।

अर्थशास्त्र का एक ध्येय यह है कि एक स्थान में यह बहुत अधिक एकत्रित न हो जाय। उससे अन्य लोग दरिद्र हो जाते हैं। इस कारण कुछ लोग चाहते हैं कि समाज में धन का प्रायः बराबर विभाग हो जाने से मनुष्य-समाज सुखी हो सकता हैं। हमारे देश में बड़े लोग जो समय-समय पर यज्ञ, पूजा, श्राद्ध, विवाह आदि उत्सवों के समय सहस्रों व्यक्तियों को खिलाते-पिलाते हैं, नौकरों को पैसे और गरीबों को वस्त्रादि देते हैं, इससे एकत्रित धन कुछ अंशों में समाज के विभिन्न प्रकार के लोगों में वितरित हो जाता है।

हमारे शास्त्रों में एक स्थान में एकत्रित अनेक अर्थ पाप का स्थान माना गया है। कलि का नाम पाप है। जब कलि की सृष्टि हुई तब उसने ईश्वर से पूछा कि प्रभु, आपने मुझे बना तो दिया, परंतु रहने के लिए कोई स्थान बता दीजिए। उत्तर में ईश्वर ने बताया, जहाँ अधिक अर्थ एकत्रित देखोगे वहीं तुम्हारा निवास-स्थान होगा। यह रूपक वर्णना है। इससे उपदेश यही मिलता है कि अधिक अर्थ पाप से ही संचित होता है और जिसके पास वह रहता है उसे भी वह पापी बनाकर छोड़ता है। एक व्यक्ति साधु-वृत्ति से जीवन भर में कितना अर्थ कमा सकता हैं? परिवार का प्रतिपालन करके बहुत ही अल्प। अधिक अर्थ का संचय करने के लिए धनिक-वर्ग गरीबों का शोषण करते हैं।

मनुष्य सुख ही चाहता है, पत्नी, पुत्र, अन्न, वित्त आदि नहीं। जब तक ये सुख देते हैं तब तक मनुष्य इनका आदर करते हैं। दुःख देने लगते ही लोग इनका परित्याग कर देते हैं। अर्थ सुख नहीं देता, क्योंकि वह जड़ तथा कृत्रिम वस्तु है। धनिक को पुत्र से भी भय रहता है (पुत्रादपि धनभाजां भीतिः—मोहमुद्गर)। अर्थ दुःखकर है इसका ज्ञान होते ही प्राचीन राजा तथा बुद्धिमान मनुष्य संन्यासी हो जाते थे। ईसाइयों

की धर्म-पुस्तक बाइबिल में लिखा है कि सूई के छेद में से भले ही ऊँट चला जाय, परंतु धनी मनुष्य स्वर्ग में नहीं जा सकता। धन का मद ही इसका मुख्य कारण है। हमारे शास्त्र का कहना है कि वित्त से आनंद की आशा भी नहीं है (अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन—बृहदारण्यक ४।५।३)।

हमारे शास्त्र का कथन है कि अर्थ के उपार्जन में क्लेश, उसकी रक्षा करने में कष्ट, नाश या व्यय हो जाने से भी दुःख ही होता है। अतः ऐसे अर्थ को धिक्कार है (अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने। नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः—पञ्चदशी ७।१३६)।

अर्थ कृत्रिम, कल्पित, मिथ्या वस्तु है। परंतु मिथ्या जानकर भी उसका सदुपयोग कर सकने से सुख ही मिलता है। एक मनुष्य जो कुछ कमाता है यदि वह केवल अपने ही उपयोग में लावे और किसी को भी उसका अंश न दे तो वह परिवार में तथा समाज में निंदित ही होगा। फलस्वरूप जीवन में वह सुख नहीं पा सकेगा। जो व्यक्ति अपने ही लिए पकाता है वह पाप भोजन करता है (भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्—गीता ३।१३)। पाप भोजन करने वाला पाप का फल दुःख ही पाता है, सुख नहीं पा सकता। इस कारण उपार्जित धन का कुछ अंश बाँट देना होता है, जो किसी न किसी रूप में दूसरों के हाथ में पहुँचकर दाता को सुख भेज देता है।

मनुष्य की इच्छाओं की सीमा नहीं है। जितना धन वह प्राप्त करता है निरंतर उससे अधिक पाने की स्पृहा बलवती होती जाती है। इस प्रकार ये इच्छाएँ निरंतर बढ़ती रहती हैं। इस कारण ज्ञानियों का कहना है कि यदि शांति पाना चाहो तो इच्छाओं को संयत रखो। सहज में प्राप्त अर्थ और उसके द्वारा संगृहीत वस्तुओं में जो सुखी है धन के लालच में भटकने वालों को वह सुख कहाँ? (संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्। कुतस्तद् धनलुब्धानाम् इतश्चेतश्च धावताम्—हितोपदेश)।

अर्थसंस्थानम् (न०) खजाना, कोषागार।

अर्थसम्बन्धः (पुं०) किसी शब्द से उसके अर्थ का संबंध। (यदीच्छेद्विपलां मैत्रीं त्रीणि तत्र न विवर्जयेत् वाग्वादं चार्थसम्बन्धं परोक्षेदारभाषणम्)।

अर्थसारः (पुं०) विचारणीय संपत्ति।

अर्थसिद्धिः (स्त्री०) सफलता, मनोरथ की पूर्ति।

अर्थहारिन् (वि०) धन चुराने वाला, धन हरण करने वाला।

अर्थहीन (वि०) जिसका कोई अर्थ न हो, अर्थ-रहित, धनहीन, निर्धन।

अर्थागमः (पुं०) आमदनी, आय।

अर्थात् (अव्य०) अथवा, या।

अर्थाधिकारः (पुं०) कोषाध्यक्ष का पद।

अर्थाधिकारिन् (पुं०) खजानची, कोषाध्यक्ष।

अर्थान्तरन्यासः (पुं०) एक काव्यालंकार जिसमें प्रकृत अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ लाना पड़ता है।

अर्थान्तरम् (न०) किसी शब्द का भिन्न अर्थ, भिन्न उद्देश्य, नयी परिस्थिति।

अर्थान्वित (वि०) धनी, जिसका अर्थ पर अधिकार हो, गुरुतर।

अर्थापत्तिः (पुं०) एक प्रमाण। प्रमेय वस्तु की सिद्धि के लिए प्रधान प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इनके अतिरिक्त मीमांसा-दर्शन में अर्थापत्ति को भी एक छोटा सा प्रमाण माना गया है। इसका प्रयोग बहुत अल्प है। मोहन जीवित है, परन्तु घर में वह न मिला तो उसके बाहर रहने का निश्चय हो जाता है। यहाँ घर में खोज करने की अर्थक्रिया से बाहर रहने की आपत्ति अर्थात् प्राप्ति हो जाती है। यही अर्थापत्ति-प्रमाण है।

अर्थापत्ति शब्द का व्यवहार समास-भेद से 'फल' और 'कारण' अर्थों में होता है, जैसे—"अर्थस्य आपत्तिः या कल्पना" अर्थात् उद्देश्य की प्राप्ति (आपत्ति) अर्थ में अर्थापत्ति शब्द षष्ठी-तत्पुरुष समास के द्वारा कल्पना रूप फल के अर्थ में प्रयुक्त होता है। द्वितीयतः—"अर्थस्य आपत्तिः—कल्पना येन" अर्थात् जिसके द्वारा उद्देश्य की प्राप्ति होती है, इस बहुव्रीहि समास के द्वारा करण अर्थ में भी अर्थापत्ति शब्द का व्यवहार होता है।

यह करणार्थक अर्थापत्ति दो प्रकार की है—श्रुतार्थापत्ति और दृष्टार्थापत्ति। उपपाद्य के ज्ञान द्वारा उपपादक का ज्ञान (कल्पना) ही अर्थापत्ति है; जैसे 'यह मोटा ब्राह्मण दिन में नहीं खाता'—इस बात को

सुनकर (श्रुतार्थापत्ति) या देखकर (दृष्टार्थापत्ति) शोथादि-रोगशून्य स्थूलकाय यह ब्राह्मण दिन में नहीं खाता, किंतु भोजन के बिना शरीर की स्थूलता संभव न होने के कारण उसका रात्रि-भोजन निश्चित होता है। इस प्रकार रात्रि-भोजन की कल्पना अर्थापत्ति-प्रमाण-सिद्ध है।

जिसके बिना जो संभव नहीं होता वह उसका उपपादक है। यहाँ रात्रिभोजन उपपादक है। शरीर की स्थूलता यहाँ उपपाद्य है, जिसका ज्ञान अर्थापत्ति-प्रमाण में कारण है और उपपादक का ज्ञान ही फल है।

कर्ममीमांसा-दर्शन तथा वेतांत-दर्शन में अर्थापत्ति एक पृथक् प्रमाण रूप से स्वीकृत हुआ है।

अर्थापत्ति को न्यायदर्शन में अनुमान के अंतर्गत माना गया है। एक मनुष्य एक समय एक ही स्थान में रहता है, दूसरे स्थानों में नहीं। एक मनुष्य की एक स्थान में स्थिति-रूप 'व्याप्ति' का ज्ञान सभी को है। मोहन का बाहर रहना 'साध्य' है, घर में न मिलना 'हेतु' है, दूसरा मनुष्य 'उदाहरण' है। अतः जब मोहन घर में न मिला तो बाहर अवश्य है, ये 'उपनय' और 'निगमन' हैं (अनुमानम् देखिए)।

भोजन द्वारा शरीर की स्थूलता-रूप 'व्याप्ति-ज्ञान' सभी को है। मोटे ब्राह्मण का दिन में न खाना 'हेतु' है। उसका रात्रि-भोजन 'साध्य' है। अन्य मोटा व्यक्ति 'उदाहरण' है। अतः जब यह मोटा ब्राह्मण दिन में नहीं खाता तो रात में अवश्य खाता है—ये 'उपनय' और 'निगमन' हैं।

अर्थाभावः (पुं०) उद्देश्य का अभाव, धनाभाव।

अर्थार्जनम् (न०) धन का उपार्जन, धनार्जन।

अर्थार्थिन् (वि०) धन प्राप्त करने का इच्छुक, उद्देश्य सिद्ध करने का इच्छुक।

अर्थालङ्कारः (पुं०) काव्य में वह अलंकार जिसमें अर्थ की प्रधानता हो।

अर्थिकः (पुं०) चौकीदार, पहरेदार, भिखारी, भाट, चारण।

अर्थित (वि०) माँगा हुआ, अभिलषित।

अर्थितम् (न०) इच्छा, आकांक्षा, आवेदन-पत्र, अर्जी।

अर्थिन् (वि०) भिक्षुक, धनवान, अभिलाषी, सहायक, वादी।

अर्थोत्पत्तिः (स्त्री०) धनोपार्जन, धन कमाना।

अर्थोघिः (पुं०) धनराशि, खजाना, कोषागार।

अर्थोपक्षेपकः (पुं०) नाटक का आरंभिक दृश्य।

अर्थोपमा (स्त्री०) काव्य में वह उपमा जिसका संबंध शब्दार्थ या शब्द के भाव से रहता है।

अर्थोष्मन् (पुं०) धन की गरमी, धन के गर्व से गर्वित पुरुष।

अर्थ्य (वि०) अर्थ के योग्य, माँगने योग्य, प्रार्थनीय, धनवान, बुद्धिमान।

अर्थ्यम् (न०) गेरू, लाल खड़िया।

अर्द् (पर०) (अर्दति, अर्दन) पीड़ा पहुँचाना, कष्ट देना, अत्याचार करना, आघात करना, वध करना, प्रार्थना करना, माँगना (शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि—रघु० ५।१७)।

अर्दन (वि०) कष्टदायक, विनाशक, प्रलयकारी।

अर्दनम् (न०) पीड़ा, कष्ट, उत्तेजना, घबराहट।

अर्दना (स्त्री०) प्रार्थना, याचना, वध।

अर्दयति [वेद] (क्रि०) मारता है, पीड़न करता है।

अर्दित (वि०) प्रार्थित याचित, आघात पहुँचाया हुआ, वध किया हुआ, नाश किया हुआ।

अर्दितिन् (वि०) जवड़ों की ऐंठन वाला।

अर्ध (वि०) आधा, खंड किया हुआ, खंडित।

अर्धः (पुं०) आधा अंश (शिवे चार्धप्रदक्षिणम्) शिवजी या शिवमंदिर की आधी प्रदक्षिणा करनी चाहिए। (श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः। ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः—आत्मबोध २७)। कोटि-कोटि ग्रंथों में जो कहा गया है उसे मैं आधे श्लोक में बताऊँगा—ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं। छोटे-छोटे अर्थात् सीमित पदार्थों का आविर्भाव-तिरोभाव या उत्पत्ति-विनाश प्रत्यक्ष देखकर अनुमान कर लिया जाता है कि सभी छोटे पदार्थ उत्पत्ति-विनाश-शील हैं (यद् अल्पं तन् मर्त्यम्—छांदोग्य० ७।२४।१)। पृथ्वी, चंद्र, सूर्य, नक्षत्र कितने ही विशाल क्यों न हों सभी सीमाबद्ध होने से अनित्य हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिक पहले ९२ मौलिक नित्य पदार्थ मानते थे, जो हमारे न्यायदर्शन के १६ पदार्थों के समतुल्य कहे जा सकते हैं। कुछ वर्षों के बाद

वे वैज्ञानिक ७ मौलिक पदार्थ मानने लगे, जो हमारे सप्त-पदार्थ-वादी वैशेषिक-दर्शन के समतुल्य है। अब वे वैज्ञानिक इलेक्ट्रन और प्रोटन नामक दो प्रकार के परमाणुओं को मौलिक मान रहे हैं, जो हमारे सांख्यदर्शन और योगदर्शन के प्रकृति-पुरुष-वाद के समतुल्य है। इन दोनों दार्शनिक मतों में प्रकृति और पुरुष दोनों ही व्यापक, इस कारण नित्य हैं। प्रकृति जड़ और पुरुष चेतन हैं। चेतन पुरुष के समीप रहने से जड़ प्रकृति में परिणाम रूप क्रिया होती है, जिससे स्थूल संसार आविर्भूत हुआ है। सांख्यदर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल तथा योगदर्शन के लेखक पतंजलि जानते थे कि व्यापक वस्तु ही नित्य हो सकती है। ऐसा समय आयेगा जब आधुनिक वैज्ञानिक भी जान जायेंगे कि छोटा पदार्थ नित्य नहीं हो सकता, तब वे वेदांत का अद्वैत वाद मान लेंगे, जो एक ही और अद्वितीय है (एकमेवाद्वितीयम्—छांदोग्य० ६।२।१)।

इसी कारण हमारे ऋतंभरा प्रज्ञायुक्त ऋषियों ने जगत्कारण को अनादि और अनंत बताया है। वह बृहत् है, इस लिए उसे 'ब्रह्म' कहा गया है (बृहतेर्धातोर्निगमनात्—ब्रह्म-सूत्र-शांकरभाष्य-भूमिका)। अनादि पदार्थ ही अनंत हो सकता है। स्थूल वस्तुओं का नाश प्रत्यक्ष है, इस कारण ब्रह्म सूक्ष्म है। जड़ वस्तुओं का नाश भी सर्ववादिसम्मत है। इस कारण ब्रह्म चेतन है। इसी लिए वेदांत चेतनकारणवादी है। त्रिकाल में अबाधित (नाश-रहित) ब्रह्म वस्तु ही नित्य और सत्य है।

जगत्कारण ब्रह्म सत्य होने से जगत मिथ्या हो जाता है। संसार में दो सत्य पदार्थ नहीं रह सकते। क्योंकि एक दूसरे को वस्तु-कृत सीमा के द्वारा मिथ्या बना देता है। संसार के सारे पदार्थों के पाँच तत्त्व प्रतीयमान होते हैं—सत्ता, चिति (प्रकाश), आनंद नाम और रूप (अस्ति भाति प्रियं नाम रूपं पञ्चात्मकं जगत्। आद्यत्रयं ब्रह्म नाम जगद्रूपम् अतो द्वयम्—बृहज्जाबालोपनिषद्)। सत्ता सत्, चिति चित्, आनंद—ये तीन ब्रह्म का स्वरूप है और बाकी दो नाम और रूप जगत् का स्वरूप है। नाम और रूप कोई वस्तु ही नहीं हैं अर्थात् पूर्णतया मिथ्या है। घट का नाम है, उसका रूप भी दिखाई पड़ता है। तोड़ देने पर दोनों ही अदृश्य हो जाते हैं। उस घट के उत्पन्न होने के पूर्व जैसे नाम और रूप नहीं थे, टूट जाने पर भी वे नहीं रहते। इस कारण वर्तमान में दिखाई पड़ने पर भी वे नहीं है (आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा—मांडूक्यकारिका २।३५) इस युक्ति से संसार के समस्त सृष्ट पदार्थ मिथ्या हो जाते हैं।

किसी बड़े कमरे के चारों ओर की दीवालों में सौ दर्पण जड़े हुए हों और बीच में एक बत्ती जलाई जाय तो उसके प्रतिबिंब उन सभी दर्पणों में पड़ते हैं। इससे वह बत्ती अनेक नहीं हो जाती। समुद्र, नदी, झील, थाली या तृण के अग्र भाग में स्थित अतिक्षुद्र जल-बिंदु में प्रतिबिंबित चंद्र अनेक नहीं हो जाता। इसी प्रकार एक ही परमात्मा अनंतकोटि ब्रह्मांडों के अनंतकोटि जीवों के स्वच्छ अंतःकरणों में प्रतिबिंबित होकर स्थित है (एक एव ही भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्—आत्मबोध)।

ब्रह्म अनंत व्याप्त परमसूक्ष्म चेतन है और जीव अति क्षुद्र अन्तःकरण में प्रतिबिंबित ब्रह्म-चैतन्य है। दोनों की एकता होने के लिए कुछ विशेष विचार आवश्यक है। सूर्य में प्रकाश है, इस कारण वह संसार के सारे पदार्थों को प्रकाशित कर सकता हैं, किंतु दर्पण में सूर्य का प्रतिबिंब पड़ने से उसमें भी कुछ प्रकाश-शक्ति आ जाती है। इस कारण यदि दर्पणस्थ सूर्य-प्रतिबिंब को अंधेरे कमरे में फेंका जाय तो वहाँ कुछ प्रकाश हो जाता है। इसी प्रकार स्वयंप्रकाश ब्रह्म जीवों के अंतःकरणों में पड़ने से वह सांसारिक सुख-दुःख, ईर्ष्या-द्वेष, काम-क्रोध आदि भीतरी भावों तथा ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन विषयों को प्रकाशित कर सकता है। बिंब और प्रतिबिंब एक है। अतः अंतःकरण में प्रतिबिंबित ब्रह्म-चैतन्यरूप जीव और बिंबरूप ब्रह्म एक है (अद्वैतवादः तथा एकात्मवादः देखिए)।

वाणिज्य (व्यापार) में लक्ष्मी का निवास है अर्थात् वाणिज्य से अधिक धनागम होता है, कृषिकर्म में उसका आधा, राजसेवा (नौकरी) से उसका भी आधा धनागम होता है, किंतु भिक्षा में कुछ भी

नहीं (वाणिज्ये वसते लक्ष्मी, तदर्धं कृषिकर्मणि। तदर्ध राजसेवायां, भिक्षायां नैव नैव च—चाणक्य-नीति)। (पूर्वार्धः, उत्तरार्धः, परार्धः देखिए)।

अर्धक (वि०) आधा, अर्ध।

अर्धकस् (पुं०) पानी में रहने वाला साँप, डेड़हा।

अर्धकोटिः (स्त्री०) आधा करोड़, पचास लाख की संख्या।

अर्धगङ्गा (स्त्री०) कावेरी नदी; मुमुर्षु व्यक्ति का निचला आधा शरीर गंगा में डालने के बाद का कृत्य।

अर्धग्रस्त (वि०) चंद्रमा या सूर्य का आधा ग्रहण युक्त, 'ज्योतिष'।

अर्धग्रासः (पुं०) चंद्रमा या सूर्य का आधा ग्रहण।

अर्धघटिका (स्त्री०) आधा दंड, सवा दंड का समय।

अर्धचन्द्रः (पुं०) आधा चाँद, आधा वृत्त, गलहस्त, गरदनियाँ, मयूरपुच्छ की चंद्रिका, चंद्राकार वाण, सानुनासिक चिह्न जो ँ इस प्रकार लिखा जाता है।

अर्धचन्द्राकार (वि०) अर्ध चंद्र या अर्धवृत्त के आकार वाला।

अर्धचोलकः (पुं०) अँगिया, चोली।

अर्धजरतीयन्यायः (पुं०) लौकिक व्यवहार से अनभिज्ञ एक पंडित थे। धनाभाव से उन्हें बहुत कष्ट होता था। अंत में एक दिन वे अपना एकमात्र धन गाय को बेचने के लिए निकले। उन्होंने समझा कि जिस प्रकार मनुष्य बूढ़ा होने से उसका गौरव बढ़ जाता है, उसी प्रकार गाय का वयस अधिक होने से उसका भी मूल्य अधिक होगा, अतः लोगों के पूंछने पर वे अपनी गाय का वयस बढ़ा कर कहने लगे। बूढ़ी गाय को कोई नहीं खरीदना चाहता, क्योंकि दूध तो देगी नहीं उल्टे खाना खिलाने का बोझ अपने ऊपर आ जायगा, इस कारण वह गाय नहीं बिकी। बेचारे को इसके लिए हताश देखकर एक भले आदमी ने कहा कि पंडित जी, आप अपनी गाय को बुढ़िया न बतायें। पंडितजी तो विशिष्ट विद्वान थें ही, इस कारण उन्होंने मन में विचारा कि आत्मा तो कभी बूढ़ा नहीं होता अब से मैं अपनी गाय को आधी बूढ़ी और आधी जवान कहूंगा। तब से जब कोई बात दोनों पक्षों के लिए लागू होती है तो इस न्याय का प्रयोग किया जाता है।

अर्धजीवित (वि०) मरणासन्न, प्रायः मृत के समान।

अर्धदण्डः (पुं०) आधा दंड, १२ मिनट का समय।

अर्धनारीश्वरः (पुं०) शिव और दुर्गा की एकाकार मूर्ति को अर्धनारीश्वर कहते हैं। इस मूर्ति में भगवान शंकर का आधा अंग नारी का और आधा पुरुष अंग का है। ये त्रिनेत्र, चतुर्भुज हैं। चार हाथों में पाश, रक्त कमल, नर-कपाल और त्रिशूल लिये हैं।

सृष्टिकर्त्ता ईश्वर और उनकी शक्ति माया। सृष्टि के पूर्व केवल एक मात्र चेतन व्यापक सत्ता थी, जिसे शास्त्रों में ब्रह्म अर्थात् बृहत् कहा है। उसमें सृष्टि-कल्पना-कारिणी माया-शक्ति लुप्त थी। शक्ति और शक्तिमान अभिन्न हैं। रमेश और उसकी शक्ति को कोई पृथक नहीं मानता। व्यापक तेज में दाहिका शक्ति लुप्त रहती है और ईंधन आदि पाने पर वह प्रकट हो जाती है। ब्रह्म में सृष्टि-उन्मुखता रूप माया-शक्ति का विकास होने पर ईश्वर-भाव उत्पन्न होता है और माया उनकी शक्ति है। ईश्वर पुरुष और माया नारी है। यही अर्ध-नारीश्वर भाव है। इसी भाव का दिग्दर्शन कराने के लिए पुराणों में कहा गया है कि ईश्वर ने अपने को दो भागों में बाँट लिया, आधे में पुरुष हुए और आधे में नारी। उस नारी के ही सहयोग से उन्होंने इस विराट् ब्रह्मांड की कल्पना की (द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः—मनुसंहिता १।३२)।

इसी रूपक वर्णना से परवर्ती काल में विद्वानों ने एक ही मूर्ति के आधे में शिव और आधे में गौरी के रूप की वर्णना दी है। इसी के आधार पर भारतीय मूर्ति-कला में अर्धनारीश्वर मूर्तियाँ मिलती हैं। आजकल एलौरा के मंदिर में शिव की एक अर्धनारीश्वर मूर्ति मिली है। खुदाई से प्राप्त की गई मूर्तियों में इसका विकास मथुरा की कुषाण कालीन-कला में हुई थी।

अर्धनिमग्न (वि०) जल में आधा डूबा हुआ।

अर्धनिमीलित (वि०), अर्धमुद्रित (नेत्र), अध-खुली (आँख)।

अर्धनिर्मित (वि०) आधा बनाया हुआ, अधगढ़ा।

अर्धपञ्चाशत् (स्त्री०) पचीस की संख्या जो इस प्रकार लिखी जाती है—२५।

अर्धपथः (पुं०) आधा रास्ता, मार्ग का आधा अंश। (निद्रां विहारार्धपथेगतानाम्—रघु०)।

अर्धपरिस्फुट (वि०) अधखिला, आधा या अस्पष्ट उच्चारित।

अर्धभागिन् (वि०) अंश में आधा पाने वाला, आधे का भागीदार।

अर्धभाज् (वि०) आधे से संबंध रखने वाला।

अर्धभास्करः (पुं०) दोपहर, मध्याह्न।

अर्धभूमण्डलम् (न०) गोलार्ध, पृथ्वी का आधा अंश।

अर्धभेदः (पुं०) लकवा, पक्षाघात।

अर्धभोजनम् (नं०) आधा भोजन। लोग कहते हैं कि घ्राण से आधा भोजन हो जाता है (घ्राणे चार्धभोजनम्)। पुराने लोग प्रायः अल्पशिक्षित तथा अल्पबुद्धि के होते थे। एक ब्राह्मण जमींदार के घर कुछ भिन्नधर्म वाले मालगुजारी देने आये। वे लोग प्याज-लहसुन बहुत अधिक मात्रा में खाया करते हैं, उस कारण उनके मुँह से बहुत ही खराब गंध निकलती थी। उन लोगों के पास आने के कारण जमींदार ने कहा—"तुम लोग दूर हट जाओ, तुम्हारे मुँह से प्याज-लहसुन की गंध आती है। घ्राणे चार्धभोजनम्—गंध से आधा भोजन हो जाता है।" सुनकर उन्हें बहुत बुरा लगा। घर जाकर उनलोगों ने षड्यंत्र रचा। कुछ दिनों के बाद उनमें से कुछ लोग आ कर जमींदार से मिले। एक ने कहा—"हमारे यहाँ दो भाइयों में झगड़ा हो गया है, उनकी जमीन-जायदाद का बटवारा करना है। आप एक दिन हमारे यहाँ चलें और बीच-बिचाव करके दोनों का हिस्सा अलग-अलग कर देने की कृपा करें, ताकि दोनों भाइयों का झगड़ा निपट जाय।" जमींदार राजी हो गये। उस दिन वे उनसे विदा लेकर चले गये और कह गये कि "अगले रविवार को तीसरे पहर हमलोग आकर आपको ले जायेंगे।" निर्दिष्ट दिन वे आकर ब्राह्मण को ले गये; उन्हें अपने मकान के लम्बे-चौड़े आँगन में ले जाकर बिठाया। उन लोगों ने पहले से ही आँगन में बड़े-बड़े चार चुल्हों में लकड़ियों से आग जलाकर उन पर चार बड़ी-बड़ी हंडियों में हिन्दुओं का अखाद्य मांस खूब प्याज-लहसुन देकर चढ़ा दिया था और लोहे की बड़ी-बड़ी थालियों से उन हंडियों को तोप दिया था। अब इशारा पाते ही लोगों ने उन ढक्कनों को खोल दिया। साथ ही साथ उन हंडियों से अति तीव्र दुर्गंध आकर ब्राह्मण की नाक में घुस गयी। उन्होंने कपड़े से नाक को दबा लिया। परंतु वहाँ के सभी लोग चिल्ला उठे—"घ्राण से आधा भोजन हो गया। अब आप अपने दल में नहीं जा सकते, हमारे दल में ही रहना पड़ेगा।" ब्राह्मण अपनी बात से ही हार गये। उन्हीं लोगों में रह जाना पड़ा। इसी प्रकार तथा अन्य अनेक उपायों से उन्हीं का दल पुष्ट होता गया। फलस्वरूप आज पूर्वी बंगाल में उन्हीं लोगों का राज्य बन गया।

यथार्थ में घ्राण से आधा भोजन नहीं होता। खाद्य और पानीय अन्ननली से पाकाशय में जाते हैं, किंतु गंध साँसनली से फेफड़ों में पहुँचती है। अतः गंधग्रहण भोजन नहीं है। खराब गंध से शरीर अपवित्र नहीं होता और न मन पर ही उसका प्रभाव पड़ता है। परंतु भोजन पाकाशय में जाकर परिपाक-प्राप्त होता है। उससे रस, रुधिर, मांस, अस्थि आदि बनते हैं। उसका प्रभाव मन पर भी कुछ पड़ता ही है। इस कारण अपवित्र गंध सूँघने से अपनी जाति छोड़ देना बुद्धिमानी नहीं है।

अर्धमाणवकः (पुं०) बारह लड़ों का हार।

अर्धमात्रा (स्त्री०) औषधादि का आधा परिमाण, आकार, ईकार आदि मात्रा का आधा अर्थात् लघु रूप (अर्धमात्रा-लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः)।

अर्धरथः (पुं०) एक सेनापति का नाम। जो थोड़े सैनिकों से लड़ सके उसे अर्धरथ कहते हैं (रथी चैकेनयो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः—महाभारत)

अर्धरात्रम् (न०) मध्य-रात्रि, आधी रात, ज्ञान (रात्रञ्च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्—नारदपञ्चरात्र १।१)।

अर्धरात्रिः (स्त्री०) आधी रात, मध्य-रात्रि, गहरी निशा।

अर्धलक्ष्मीहरिः (पुं०) विष्णु की एक मूर्ति, जिसके आधे में लक्ष्मी और आधे में विष्णु हैं (ऋषिः प्रजापतिच्छन्दो गायत्री देवता पुनः, अर्धलक्ष्मीहरिः प्रक्तिः श्रीबीजेन षड्रूपकम्—गौतमीयतंत्र)।

अर्धलिखित (वि०) आधा लिखा हुआ, अर्धचित्रित।

अर्धवयस्क (वि०) आधा उमर का, मध्य-वयसी, अधेड़।

अर्धविक्षणम् (न०) कटाक्ष, तीरछी नजर, आधा देखना, सरसरी तौर पर देखना या पढ़ना।

अर्धवृत्तः (पुं०) गोलार्ध, वृत्त या गोल घेरे का आधा अंश।

अर्धवृद्ध (वि०) अर्धवयस्क, अधेड़।

अर्धव्यासः (पुं०) (ज्यामिति में) व्यासार्ध, त्रिज्या।

अर्धशतम् (न०) आधा सौ, पचास की संख्या जो इस प्रकार लिखी जाती है—५०, एक सौ पचास की संख्या जो इस प्रकार लिखी जाती है—१५०।

अर्धशब्द (वि०) मंद स्वर वाला।

अर्धशयान (वि०) तकिया आदि टेककर आधा लेटा हुआ।

अर्धस्पुट (वि०) अर्धपरिस्पुट।

अर्धहारः (पुं०) ६४ लड़ियों का हार।

अर्धांशः (पुं०) आधा अंश, आधा भाग।

अर्धाङ्गः (पुं०) शरीर का आधा भाग, आधे अंग का लकवा या पक्षाघात।

अर्धाङ्गा, अर्धाङ्गिनी, अर्धाङ्गी (स्त्री०) पत्नी, स्त्री, भार्या।

अर्धाधिक (वि०) आधे से अधिक।

अर्धार्धः (पुं०) आधे का आधा, चौथाई, चतुर्थांश।

आर्धावभेदकः (पुं०) आधे सिर का दर्द, आधासीसी, अधकपारी, सूर्यावर्त।

अर्धावशिष्ट (वि०) आधा छोड़ा हुआ, अर्धत्यक्त।

अर्धाशनम् (न०) अर्ध भोजन, आधा पेट खाना।

अर्धिक (वि०) आधा नापने वाला, जो आधा अंश या भाग पाने का अधिकारी हो।

अर्धिकः (पुं०) वर्णसंकर, दोगला।

अर्धिन् (वि०) जिसे आधा हिस्सा पाने का अधिकार हो।

अर्धोक्तम् (न०) आधा कहना, यह शब्द नाटकों में विशेष रूप से व्यवहृत हुआ है।

अर्धोच्चारित (वि०) आधा या अस्पस्ट उच्चारित, अर्धकथित।

अर्धोदयः (पुं०) (ज्योतिष में) रविवार को श्रवण नक्षत्र और व्यतीपात से युक्त एक योग, जब वह पौष या माघ की अमावस्या में हो; आधा उदय।

अर्धोन्मीलित (वि०) आधा खुला हुआ (अधोन्मीलितलोचनस्य पिवतः पर्याप्तमेकं स्तनम्) अर्थात् अधखुले नेत्रों से स्तनपान करने वाले शिशु के लिए एक स्तन ही यथेष्ट है।

अर्पणीय (वि०) देने या प्रदान करने योग्य, सौंपने लायक।

अर्पयितृ (वि०) अर्पण करने वाला, दाता।

अर्पित (वि०) प्रदत्त, दिया या सौंपा हुआ।

अर्पितकर (वि०) विवाहित।

अर्पिसः (पुं०) हृदय का मांस, हृदय, दिल।

अर्प्य (वि०) अर्पण करने योग्य, सौंपने योग्य।

अर्व् (पर०) (अर्वति, आनर्व, अर्वितुं) एक ओर जाना, वध करना, मारना।

अर्बुदः (पुं०), अर्बुदम् (न०) सूजन, शोथ, गुमड़ा, दस करोड़ की संख्या, आबू नाम का पर्वत, बादल, मेघ, साँप, मांस का ढेर, एक दैत्य, शरीर के अंदर मांस की गाँठ, अधिक मांस-पिंड। किसी प्रकार चोट लग जाने से जो सूजन-सी हो जाती है अथवा हड्डियों के टूट जाने से एक गाँठ के समान बन जाता है परंतु इन्हें अर्बुद नहीं कहते। अर्बुद साधारणतः उसे ही कहा जाता है जब शरीर की कोशिकाएँ अनियमित ढंग से बढ़ने लग जाती हैं। हमारे शरीर का निर्माण इन्हीं कोशिकाओं से हुआ है। चमड़ा, मांस, हड्डियाँ, दाँत आदि विभिन्न अवयव इन्हीं कोशिकाओं से बने हैं। जब ये ही कोशिकाएँ अनियमित ढंग से बढ़ने लगती हैं तो अर्बुद के रूप में परिणत हो जाती हैं। अभी तक इसके बनने के निश्चित कारणों का ज्ञान नहीं हो पाया है। मनुष्य की ये कोशिकाएँ तो स्वस्थ शरीर में बढ़ती ही रहती हैं। इनकी आयु सीमित होती है। बराबर नयी-नयी कोशिकाएँ उम्र के अनुसार बढ़ती रहती हैं।

कुछ व्यवसाय में लगे हुए मनुष्यों में अर्बुद की मात्रा विशेष होती है। इसी प्रकार कुछ-कुछ पारिवारिक व्यक्तियों में भी अर्बुद अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। संभवतः इन्हें पैतृक माना गया है। यह अर्बुद जब

शरीर में अधिक गहराई में होते हैं तब इनका पता ऊपर से देखने पर नहीं मिलता। ये कोशिकाएँ एक दूसरे को दबाती रहती हैं, फलस्वरूप शरीर सूख भी जाता है। ऐसा बहुधा कर्कट (कैंसर) रोग में होता है। अर्बुद के कारण अँतड़ी, पित्तनलिका और मूत्रनलिका में अवरोध भी उत्पन्न हो जाता है। जब ये अर्बुद पक जाते हैं तो मवाद भी निकलने लगता है। अगर अर्बुद खोपड़ी, छाती तथा हड्डियों में हो जाता है तो हृदय और मस्तिष्क पर इसका भयानक प्रभाव पड़ता है। हड्डियाँ टूट जाती हैं तथा और भी उपद्रव शरीर में होने लगते हैं। दृष्टिक्षीनता रोग भी अर्बुद से उत्पन्न हो जाता है।

अर्बुदिन् (वि०) अर्बुद या सूजन से पीड़ित।

अर्भक (वि०) सूक्ष्म, ह्रस्व, निर्बल, मूर्ख, युवक, अल्प (अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवञ्च—ब्रह्मसूत्र १।२।७)।

अर्भकः (पुं०) बालक, किसी पशु का बच्चा, मूर्ख व्यक्ति।

अर्भकम् [वेद] (न०) अल्प, छोटा (नमो-महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यः—ऋ० १।२।२४।३)।

अर्य (वि०) सर्वोत्तम, प्रतिष्ठित।

अर्यः (पुं०) मालिक, स्वामी, वैश्य (अर्यः स्वामिवैश्ययोर्षां—सू०)।

अर्यः [वेद] (पुं०) ईश्वर, मालिक, अधिपति (महिष्ठो अर्यः सत्पतिः—ऋ० ६।१।२५।६)।

अर्यमन् (पुं०) सूर्य, पितरों के मुखिया, मदार का पौधा, द्वादश आदित्यों में से एक, प्रिय मित्र, उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के अधिष्ठाता देवता (ज्योतिष)।

अर्यम्यः (पुं०) सूर्य, भास्कर।

अर्या (स्त्री०) स्वामिनी, वैश्य जाति की स्त्री, वैश्या।

अर्याणी (स्त्री०) वैश्य जाति की स्त्री, स्वामिनी।

अर्वन् (न०) घोड़ा, चंद्रमा के दस घोड़ों में से एक, एक प्रकार का प्राचीन माप जो गाय के दान के बराबर का होता है।

अर्वाः [वेद] (पुं०) अश्व, घोड़ा। (द्रून्नोवन्वन् क्रत्वा नार्वा—ऋग्वेद ४।५।१८।४)।

अर्वाके [वेद] (अव्यय०) पास में (पन्नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम्—ऋ० ५।८।३२।५)।

अर्वाक् (अव्य०) इस ओर, इस तरफ, किसी स्थान विशेष से, नीचे की ओर, पीछे से, पश्चात्।

अर्वाक्कुलम् (न०) नदी-तट के निकट।

अर्वाक्चत्वारिंश (वि०) चालीस से नीचे का।

अर्वाच् (वि०) इस ओर आता हुआ, घूमा हुआ, बाद का, पीछे का।

अर्वाचीन (वि०) आधुनिक, उलटा, विपरीत, विरुद्ध।

अर्वाचीनम् (अव्य०) अपेक्षाकृत पीछे ('सोऽर्वाचीनाति पश्यति'—म० भा०)

अर्शस् (न०) अर्श, बवासीर नामक रोग।

यह एक प्रकार का भयानक रोग है। गुदा का अंत भाग या भीतरी भाग इस रोग में फूल जाता है और उसमें विकृति आ जाती है। अर्श में विशेष पीड़ा होती है। कभी-कभी तो गुदा-द्वार से रक्त-स्राव भी होने लगता है। अर्श दो प्रकार के होते हैं—बाहरी और भीतरी। मलद्वार से बाहर जब यह होता है तो इसे बाहरी अर्श कहते हैं। गुदा के भीतरी भाग की शिराएँ जब फूल जाती हैं तो इन्हें भीतरी अर्श कहते हैं। इन्हें गुदादर्शक-यंत्र की सहायता से देखा जाता है। इसका कारण कोष्ठबद्धता होती है। जब यकृत में किसी प्रकार की खराबी होती है तो रक्त उसमें जमा होने लग जाता है और यही कुछ बाद में अर्श बन जाता है। आंतरिक (भीतरी) अर्श दो प्रकार के होते हैं—खूनी और बादी। बादी में मसे अधिक फूल जाते हैं।

अर्श अधिक दिन रहे तो कैंसर रोग में परिणत हो जा सकता है। उच्च रुधिर-चाप में रोगी की रक्षा के लिए रक्त को निकालना पड़ता है। वेगरोध, विषभाशन तथा रुक्ष एवं रक्त-प्रकोप-जनक वस्तुओं के सेवन से, कठोर आसन पर बैठने से, कब्ज के विकार से यह रोग होता है। लाल मिर्च इसमें अति अपथ्य है। घी विशेष लाभदायक है। बादी में कब्ज होकर पेट फूल जाता है, अनेक तरह के भयानक उपद्रव होते हैं, खूनी में शौच के समय अत्यधिक खून निकलने लगता है, जिससे बहुत कमजोरी आ जाती है बवासीर

के प्रकोप से प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान इन पाँचों वायुओं की विपरीत गति होती है। पित्त भी दूषित हो जाता है, कफके भी विकार होते हैं, मलद्वार के तीनों वलियों में भी दाहादि अनेक उपद्रव होते हैं ('पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्। सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे)। इनकी अस्त्रचिकित्सा होती है, जिससे मस्से काटकर गिरा दिये जाते हैं। अनुभवी वैद्यों की दवा से भी लाभ होता है। एक महात्मा ने कहा है कि, बवासीर कोई रोग नहीं है, बल्कि एक उत्तम प्रहरी है, जो जरा भी अपथ्य होने पर सावधान कर देता है, अन्यथा असावधानी से अनेक प्राणहर रोग हो सकते हैं। इस रोग में दूध, मट्ठा, सूरन आदि के अपनी अनुकूलता पूर्वक सेवन करने से लाभ होता है।

अर्शस (वि०) बवासीर रोग से पीड़ित।

अर्शोवर्त्मन् (न०) आँख के कोने में होनेवाला गुमड़ा।

अर्ह् (पर०) (अर्हति, अर्हतुं, आनर्ह, अर्हित) योग्य होना, अधिकारी होना, सदृश होना, समान होना। (दण्डमर्हति दुर्वृत्तः—सकं। अर्हति विप्रो वेदं पठितुम्–अक०)।

पिता बचपन में कुमारी की रक्षा करें, पति यौवन में पत्नी की रक्षा करें तथा वृद्ध होने पर पुत्र माता की रक्षा करें; स्त्री कभी स्वतंत्र होने योग्य नहीं है (पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने। रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति—मनुसंहिता ९।३)।

अर्ह (वि०) योग्य, उपयुक्त, पूज्य (पूजार्ह, सम्मानार्ह—ईषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन—गीता० २।४)।

अर्हः (पुं०) मूल्य, कीमत, इंद्र, विष्णु (अर्हः प्रशंसायाम्—पा० सू०)।

अर्हणम् (न०), अर्हणा (स्त्री०) पूजन, सम्मान, उपासना, आदरपूर्ण व्यवहार।

अर्हत् (वि०) उपयुक्त, योग्य, आराधनीय।

अर्हत् (पुं०) जैनियों के एक पूज्य देवता, बौद्धों में सर्वोच्च पद; ईश्वर (जैनमत में)। यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो, बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः। अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः सोऽयं वो विद्धातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः—(गीता मंगलाचरण)।

जैन मत में इस शब्द के पर्याय—जिन, पारंगत, त्रिकालवित्, क्षीणाष्टकर्मा, परमेष्ठी, अधीश्वर, शंभु, स्वयंभू, भगवान, जगतप्रभु, तीर्थंकर, तीर्थंकर, जिनेश्वर, वादी, अभयद, सार्व, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवली, देवादिदेव, बोधद, पुरुषोत्तम, वीतरागाप्त आदि हैं।

अत्यधिक पूज्य होने के कारण ही इन्हें अर्हत् कहा गया है (अर्ह् पूजायाम्)। मोहरूपी शत्रु तथा आठ प्रकार के कर्मों का नाश करने के कारण इन्हें अर्हत् भी कहा गया है। नमोकारमंत्र द्वारा सर्व प्रथम अर्हत को ही नमस्कार किया गया है। जैनियों के अनुसार एक युग में एक ही अरिहंत का जन्म होता है तथा सारी पृथ्वी पर इन्हीं का शासन चलता है। उनका ऐसा मत है कि तमाम जैन-शास्त्र इन्हीं अर्हतों द्वारा कथित हैं। जैनधर्म के मतानुसार महावीर चौबीसवें तीर्थंकर हैं।

अर्हता (स्त्री०) योग्यता, उपयुक्तता, गुण।

अर्हन्त (वि०) योग्य, उपयुक्त।

अर्हन्तः (पुं०) बौद्ध भिक्षुक, बौद्ध।

अर्हन्ती (स्त्री०) पूजा या उपासना करने के लिए अपेक्षित गुण।

अर्हा (स्त्री०) आराधना, उपासना या पूजा।

अर्हित (वि०) पूजित, सम्मानित।

अर्ह्य (वि०) प्रतिष्ठित, माननीय, उपयुक्त, स्तुत्य।

अल् (उभ०) (अलति, अलते, अलितुं, अलित) सजाना, योग्य होना, रोकना, बचाना।

अलकः (पुं०) घुंघराले बाल, केश, केसर आदि सुगंधित पदार्थों का शरीर पर लेपन, पागल कुत्ता। (हस्ते लीलाकमलकं बालकुन्दानुविद्धं—मेघ०)।

अलकनन्दा (स्त्री०) हिमालय पर्वत पर की एक नदी का नाम जो बद्रीनारायण के पास से बहती हुई देवप्रयाग में आकर गंगा से मिलती है। जोशी-मठ में तिब्बत से आती हुई विष्णुगंगा अलकनंदा से मिल गई है। इस कारण यह संगम विष्णु-प्रयाग कहलाता है। उसके कुछ नीचे पिंदर, नंदाकिनी और मंदाकिनी इस प्रकार तीन नदियाँ अलकनंदा से आ मिली हैं। इन संगम-स्थलों के

नाम क्रमशः कर्णप्रयाग, नंदप्रयाग और रुद्रप्रयाग हैं। ये पाँच प्रयाग उत्तराखंड के प्रधान तीर्थ हैं। देवप्रयाग से आगे गंगा और अलकनंदा का जल प्रवाहित होकर लक्ष्मण झूला, ऋषीकेश, हरिद्वार आदि स्थानों से होते हुए कानपुर के बगल से प्रयाग में आकर जमुना से मिल जाता है। काशी, पटना, भागलपुर आदि में हम अलकनंदा, गंगा और यमुना इन तीन नदियों का जल पाते हैं भागलपुर से आगे इस वृहत् नदी की एक छोटी शाखा दक्षिण की ओर फूटकर कलकत्ता होते हुए गंगासागर में जा मिली है। इसी को गौड़ देश में भागीरथी कहते हैं और इसी को यथार्थ गंगा भी मानते हैं। जहाँ से भागीरथी निकली है वहाँ से गंगा को विशाल धारा पूरब की ओर बहती है और इसका नाम पद्मा पड़ा है। आगे चल कर आसाम के उत्तर से बहता हुआ ब्रह्मपुत्र नद की विशाल जल-धारा आकर पद्मा से मिली है। इसके आगे उस विशाल जल-प्रवाह का नाम मेघना पड़ा है। इसका पाट इतना विस्तृत है कि एक किनारे से दूसरा किनारा दिखाई नहीं पड़ता। यही मेघना जाकर समुद्र में मिल जाती है।

अलकनंदा हिमालय के अनेक पहाड़ों के बीच से बहती हुई हिमालय के ऊपर ही देवप्रयाग में गंगा से मिल कर समाप्त हो जाती है। हिमालय को स्वर्ग और देवतात्मा माना जाता है इस कारण अलकनंदा स्वर्नदी या स्वर्ग-नदी कहलाती है।

अलका (स्त्री०) आठ और दस बरस के भीतर की लड़की, कुबेर की राजधानी; यक्ष-गंधर्वों की एक कल्पित नगरी का नाम। यह मेरु-पर्वत पर स्थित है। महाकवि कालिदास के मेघदूत के अनुसार यक्षों की यह नगरी कैलास पर्वत की ढाल पर बसी हुई है। यक्ष लोग बहुत ही विलासी होते हैं। मेघदूत का एक यक्ष किसी अपराध के कारण अभिशप्त हुआ कि एक वर्ष पर्यंत तुम्हें अपनी प्रिया से वियुक्त होकर भारत के रामगिरि पर्वत पर जा रहना होगा। इसी यक्ष की विरह-वर्णना मेघदूत-काव्य का आधार है।

अलक्तः, अलक्तकः (पुं०) लाख का रंग, महावर, जिसे स्त्रियाँ पैरों में लगाती हैं।

अलक्षण (वि०) जिसमें कोई चिह्न या निशान न हो, जिसके लक्षण निर्दिष्ट न हों, अशुभ, अमांगलिक, अप्रसिद्ध।

अलक्षणम् (न०) अशुभ चिह्न या लक्षण, वह जिसकी परिभाषा न हो।

अलक्षित (वि०) जो दिखाई न पड़ता हो, अदृश्य, अप्रकट, लुप्त, गायब।

अलक्ष्मीः (स्त्री०) धनाभाव, निर्धनता, दुर्भाग्य।

समुद्र-मंथन के समय लक्ष्मी की बड़ी बहिन अलक्ष्मी रक्तमाल्य और रक्तकमल से भूषित होकर समुद्र से निकली थी। देवासुरों में कोई भी उससे विवाह करने के लिए तैयार नही हुआ। दुःसह नामक एक महातपा मुनि ने उसको स्त्रीरूप में स्वीकार किया। उसका वस्त्र काला था, उसकी दो भुजाएँ तथा छोटे छोटे हाथ थे। वह लोहे के आभूषणों से भूषिता, गर्दभारूढ़ा, दुर्भाग्य की देवी और कंकड़ के चंदन से वह लिप्त थी।

अलक्ष्मी के बारे में एक कथा प्रचलित है कि एक राजा ने आदेश दिया था कि हमारे बाजार में जो चीज न बिके उसे राजकोश के धन से खरीद लिया जाय। एक दिन एक व्यक्ति एक अलक्ष्मी मूर्ति को बेचने के लिए उस बाजार में लाया। अलक्ष्मी का नाम सुनकर किसी ने उसे नहीं खरीदा। अंत में राजकर्मचारी ने उसे खरीद कर राजभवन में लाकर रख दिया। उसी दिन रात के समय राज्यलक्ष्मी ने आकर राजा से कहा—"महाराज, मैं जाती हूँ, जहाँ अलक्ष्मी है वहाँ मैं रह नहीं सकती।" राजा ने कहा "तो जाइये।" उसके बाद शिवजी भी चले गये; ब्रह्मा, विष्णु आदि प्रायः सभी देव-देवियाँ चली गयीं। अंत में धर्मराज आये। उन्होंने राजा से कहा—"महाराज, मैं भी जाता हूँ।" सुनकर राजा ने कहा—"आप कैसे जायेंगे? आपकी रक्षा के लिए ही तो मैंने अलक्ष्मी को खरीदा। मैंने आप की रक्षा अपने वचन की रक्षा के द्वारा की है। अतः आप नहीं जा सकते।" बात ठीक थी। धर्म नहीं जा सके। जहाँ धर्म है वहाँ से दूर कोई देवता नहीं रह सकते, वे सभी एक-एक करके उस राजा के घर में आ गये।

इस कहानी से एक और शिक्षा भी हमें मिलती है कि, कोई मनुष्य कोई चीज बेचने के लिए अपने घर के सामने आ जाय तो आवश्यकता न रहने पर भी उससे कुछ खरीद लिया जाय। क्योंकि उत्तम घर देख कर कुछ पैसे पाने के लिए वह यहाँ आया है, उसे वंचित करना उचित नहीं है।

अलक्ष्य (वि०) दिखाई पड़ने के अयोग्य, अदृष्ट, अज्ञात, अचिह्नित, विशेष चिह्नरहित, जिसका कोई बहाना न हो, छल विवर्जित, देखने में तुच्छ या हीन ।

अलक्ष्यगति (वि०) जो चलने के समय दिखाई न पड़े, अदृश्यता से गमन करने वाला ।

अलक्ष्यजन्मता (वि०) अज्ञात उत्पत्ति, अस्पष्ट उत्पत्ति ।

अलखनामिन् (पुं०) अलखनामी । यह एक श्रेणी का गोरखपंथी संप्रदाय है । ये लोग सिर पर जटा तथा शरीर में भस्म और गेरुआ वस्त्र धारण करते हैं । ये दरियाई नारियल का खप्पर फैलाकर भिक्षा माँगते समय अलख-अलख की ध्वनि लगाते हैं ।

अलखनामी संप्रदाय एक दूसरा भी है । भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों, विशेषकर बीकानेर तथा अंबाला के साधु भी अपने को इसी नाम से यानी अलखधारी या अलखधीर कहा करते हैं । ये अपने को लालवेग के अनुयायी मानते हैं । इनके अनुसार लालवेग शिव के अवतार हैं । इनका मूर्ति-पूजा में विश्वास नहीं है । ये अगम तत्त्व का ही ध्यान करते हैं । ये परलोक में विश्वास नहीं करते । इनका विचार है कि मनुष्य इसी जीवन में मृत्यु पर्यन्त अहिंसा, सहिष्णुता तथा परोपकारादि करते रहें । इनका जीवन बड़ा ही सरल है । ये किसी प्रकार का ढोंग नहीं करते । इनके यहाँ ऊँच-नीच जैसा वर्ग-भेद भी नहीं है तथा पूजा की भी कोई व्यवस्थित विधि नहीं है । इन्हें लोग विशुद्ध योगी मानते हैं । जब भी किसी से मिलते उससे यही कहते हैं कि 'अलख-अलख कहत रहो ।' साधारणतया ये टोपी और मोटे कपड़े पहनते हैं ।

अलखनामी कुछ साधु अयोध्या, नेपाल और हिमालय की तराइयों में घूमते पाये जाते हैं । ये हाथ में चिमटा तथा कौपीन पहने रहते हैं । प्रायः आकाश की तरफ देख कर ये अलख्य-अलख्य भी कहा करते हैं । इसी कारण लोग इन्हें अलख्य स्वामी भी कहा करते हैं ।

अलगदः (पुं०) पानी का साँप, डेड़हा ('अलगर्दो जलव्यालः—अ० कोश) ।

अलघु (वि०) जो लघु या हल्का न हो, भारी, बड़ा, लंबा, गंभीर, प्रचंड, प्रबल ।

अलघूपलः (पुं०) बहुत भारी पत्थर, चट्टान ।

अलघूष्मन् (पुं०) अत्यधिक ताप या गरमी ।

अलङ्करणम् (न०) सजावट, शृंगार, आभूषण, गहना ।

अलङ्करिष्णु (वि०) आभूषणों का शौकीन, सजाने में निपुण ।

अलङ्कर्तृ (वि०) सजावट करने वाला, शृंगारिया ।

अलङ्कारः (पुं०) आभूषण, विभूषण, मंडन, गहना, जेवर, सोने-चाँदी के जवाहरात । पुष्पों से भी अलंकारों की रचना होती है । इन सब अलंकारों से बढ़कर वाणी के भी अलंकार होते हैं । भर्तृहरि ने कहा है कि केयूर, हार, स्नान, उबटन, पुष्प, केशों का शृंगार पुरुष को उतना नहीं सजा सकते हैं जितनी सुंदर वाणी सजाती है क्योंकि वे सब आभूषण क्षीण हो जाते हैं, वाणी रूप आभूषण ही रुचिकर होते हैं (केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला; न स्नानं न विलेयनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः । वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्) ।

भूषित वाणी ही काव्य मानी जाती है । काव्य में दो प्रकार के अलंकार होते हैं । एक शब्दालंकार, दूसरा अर्थालंकार । शब्दालंकारों में यमक, अनुप्रास आदि हैं, जिनमें एक ही तरह के अक्षरों का बार-बार प्रयोग होने से माधुर्य बढ़ जाता है । जैसे—'लड़के, लड़के, लड़के आते हैं' । प्रथम लड़का का अर्थ पाँत है, दूसरे लड़के का अर्थ बालकों के रूप से है, तीसरे लड़के का अर्थ 'लड़ कर' होता है । इसी बात को यदि कहा जाय कि, पाँत के लड़के लड़ाई करके आते हैं तो वह माधुर्य नहीं रह जाता । इसलिए 'लड़के-लड़के-लड़के आते हैं, इस तरह के अलंकार यमक कहे जाते हैं । 'जामवंत के वचन सुहाए, सुनि हनुमान हृदय अतिभाए' इसमें आए-आए ध्वनिका अन्त्यानुप्रास है । 'भाई भतीजा भानजा भाट भाँड़ भुइँहार' इसमें भ भ के बार-बार आने से भी एक अनुप्रास होता है । संस्कृत में 'केशः काशस्तबकविकासः' 'कमलिनी मलिना मलिनालिना' इत्यादि अनुप्रासों के अनेक उदाहरण हैं ।

इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के अर्थालंकार भी माने गये हैं, जैसे—

(१) अक्रमातिशयोक्ति—कारण के साथ ही कार्य की भी उत्पत्ति बतायी जाना । उदाहरण—राजन् आपके वाण चलाने के साथ ही शत्रु भी गिर गये ।

(२) **अतद्गुण** संगति से अप्रभावित होना। उदाहरण—मेरे सरस हृदय में निरंतर रहती हुई भी तू सरस न हुई।

(३) **अत्यन्तातिशयोक्ति**—विलंब से होने लायक कार्य का भी कारण के भविष्य रहते हो जाना। उदाहरण—नायक के 'मैं जाऊँगा' कहते ही नायिका की अँगूठी चूड़ी हो गयी।

(४) **अत्युक्ति**—गुणों का अद्भुत रूप में वर्णन। उदाहरण—आपके दान के समय कल्पतरु भी याचक बन जाते हैं।

(५) **अधिक**—आधार से आधेय को बड़ा कहना। उदाहरण—जिस जल में ब्रह्मांड भी डूबे हुए हैं उसमें आपके गुण नहीं अँटते।

(६) **अनन्वय**—किसी वस्तु की उपमा उसी वस्तु से देना। उदाहरण—राम-रावण का युद्ध राम-रावण के युद्ध के समान ही हुआ था (रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव)।

(७) **अनुकूल**—विपरीत कार्य का भी अनुकूल परिणाम होना। उदाहरण—रावण ने विरोध करके भी राम का महत्त्व बढ़ाया था।

(८) **अनुगुण**—पूर्वसिद्ध वस्तु भी किसी के गुण से बनायी हुई बताई जाना। उदाहरण—इन घोड़ों से ही मन में भी चंचलता पायी है।

(९) **अनुज्ञा**—गुणदृष्टि से दोष को भी स्वीकार कर लेना। उदाहरण—भगवान भक्तों के ऋणी बने रहना ही स्वीकार करते हैं।

(१०) **अनुमान**—किसी चिह्न से उसके कारण को ताड़ लेना। उदाहरण—इसके हृदय में किसी का मुखचंद्र रहने लगा है, इसी से यह पीली पड़ती जा रही है।

(११) **अन्योन्य**—एक से दूसरे की परस्पर उपकारिता। उदाहरण—रात से चंद्रमा, चंद्रमा से रात सुहाती है।

(१२) **अपह्नवातिशयोक्ति**—किसी के गुण को छिपाकर किसी दूसरे को बताना। उदाहरण—अमृत आपकी वाणी में है भ्रम से लोग उसे चंद्रमणि समझते हैं।

(१३) **अप्रस्तुत-प्रशंसा**—अप्रकृत वस्तु की वार्त्ता से प्रकृत में उपयोग होना। उदाहरण—पक्षियों में वही प्रशंसनीय है जो इंद्र को छोड़ अन्य से नहीं मांगता।

(१४) **अभिधाहेतु**—कार्य-कारण का अभेद बताना। उदाहरण—आपका क्रोध शत्रुओं की विपत्ति है।

(१५) **अर्थान्तिरन्यास**—सामान्य बात कह कर विशेष या विशेष कह कर सामान्य बात बताना। उदाहरण—हनुमान ने समुद्र लाँघा, महान क्या नहीं कर सकता? बड़े के संग से छोटा भी बड़ा बन जाता है, पुष्प के साथ चींटी भी देवता के मस्तक पर चढ़ जाती है (कीटोऽपि सुमनस्सङ्गात् आरोहति सतां शिरः)।

(१६) **अर्थापत्ति**—बड़ी शक्ति बताकर छोटे कार्य का अनायास होना बताया जाना। उदाहरण—जिस धार में हाथी भी बह जाते हैं वहाँ गधे को कौन पूछे।

(१७) **अल्प**—आधेय से आधार का न्यूनत्व बताना। उदाहरण—स्तन पर्वतों का आधार मध्य भाग एक मृगलतंतु रूप में पाया जाता है।

(१८) **अवज्ञालङ्कृति**—किसी कार्य के न होने पर भी कारण को निर्दोष बताना। उदाहरण—कुत्ता आकंठ जल में पहुँच कर भी केवल जीभ से उसे चाट पाता है, चंद्रमा को देखकर यदि कमल कुम्हला जाते हैं तो इसमें चंद्रमा की क्या हानि है।

(१९) **असङ्गति**—कार्य और कारण का अलग-अलग रहना अर्थात् कारण अन्यत्र हो और कार्य अन्यत्र। उदाहरण—रावण ने सीता-हरण किया और समुद्र बाँधा गया।

(२०) **असदर्थनिदर्शना**—एक की क्रिया से किसी दूसरी बात को समझना। उदाहरण—चंद्रमा क्षीण होकर बताता है कि कलंकियों का क्षय होता है।

(२१) **असम्भव**—किसी कार्य की असंभवता का समर्थन करना। उदाहरण—कौन कल्पना कर सकता है कि एक साधारण बालक पहाड़ उठा लेगा?

(२२) **आवृत्तिदीपक**—अनेकों में एक ही क्रिया को बताना। उदाहरण—मेघ जल बरसाता है, ओस बरसाती है, सज्जन उपकार बरसाता है।

(२३) **आक्षेप**—स्वयं कहे हुए का विचार-पूर्वक निषेध करना। उदाहरण—हे भगवन आप मुझ पर कृपादृष्टि करें, अथवा कोई आवश्यकता नहीं, आप स्वयं कृपामय हैं।

(२४) **उत्प्रेक्षा**—एक वस्तु की दूसरे रूप में वर्णना। उदाहरण—आपकी बातें वज्र सी लग रही हैं।

(२५) **उत्तर**—किसी गुप्त अभिशाप से गुप्त रूप में उत्तर देना। उदाहरण—हे पथिक, जहाँ ये वेंत के पेड़ हैं वहाँ नदी थाह जलवाली है (इसमें कुलटा का गुप्त अभिप्राय है कि, उसी रास्ते हमलोग भाग चलें)।

(२६) **उदात्त**—किसी वस्तु की अत्यंत समृद्धि का वर्णन करना। उदाहरण—वाणी में वह शक्ति है कि दिन को रात, रात को दिन बना सकती है।

(२७) **उपमा**—दो की समानता बताना। उदाहरण—मुख चंद्रमा के समान है।

(२८) **उपमेयोपमा**—यदि बारी-बारी से दो परस्पर उपमान और उपमेय बताये जायँ। उदाहरण—आप के विचार आपके बचनों के समान और आपके वचन आप के विचारों के समान सुंदर है।

(२९) **उल्लास**—एक के गुण-दोष से दूसरों का प्रसन्न होना। उदाहरण—मेघ के आगमन से मोर नाच पड़ा। सूर्य के अस्त हो जाने से दिशाएँ मलिन हो गयीं।

(३०) **उल्लेख**—एक वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भिन्न भिन्न रूप में वर्णन। उदाहरण—बोलने के समय आप वृहस्पति, आज्ञा देने के समय ब्रह्मा और दंड देने के समय आप यम रूप में दीख पड़ते हैं।

(३१) **एकावली**। उदाहरण—किसी वस्तु का अन्य वस्तु से संबंध बताकर उसका दूसरे से, दूसरे का तीसरे से इत्यादि रीति से बढ़ाते जाना। आपकी आँखें कान तक और कान पर प्रार्थना सुनने तक और वे प्रार्थनायें अभिलाषा-पूर्ति करने तक पहुँच रखती है।

(३२) **कारक-दीपकम्**—एक कारक का क्रमशः अनेक क्रियाओं से संबंध बताना। उदाहरण—पथिक जाता है, फिर लौटता है, फिर उसे देखता है और पूछता है।

(३३) **कारण-माला**—किसी कार्य का कारण, उसका कारण, फिर उसका भी कारण इत्यादि कारणों की परंपरा बताना। उदाहरण—नीति से लक्ष्मी, लक्ष्मी से दान और दान से यश होता है।

(३४) **काव्यलिङ्ग**—प्रोक्त अर्थ का समर्थक वाक्य-विन्यास। उदाहरण—ऐ काम, तू पराजित हो जायेगा, मेरे हृदय में शिव निवास करते हैं।

(३५) **काव्यार्थापत्तिः**—किसो बात की अनायास सिद्धि। उदाहरण—तुम्हारे मुख से यदि चंद्रमा भी लजा रहा है तो कमलों की क्या गणना है?

(३६) **कैतवापह्नुति**—किसी के बहाने दूसरी वस्तु को छिपाना। उदाहरण—उसके कटाक्ष के बहाने काम के वाण निकलते हैं।

(३७) **गूढ़ोक्ति**—दूसरे के उद्देश्य से किसी के प्रति कुछ कहना। उदाहरण—अरे वैल! भाग, खेत वाला आ रहा है (चोर के साथी वैल के बहाने चोर को भागने का आदेश दे रहा है)।

(३८) **चपलातिशयोक्तिः**—प्रसिद्ध पौर्वापर्यक्रम को उल्टी तरह से बताना। उदाहरण—दुष्ट अपने पापों से स्वयं ही नष्ट हो चुका रहता है, उसके बाद कोई उसे दंड देता है।

(३९) **चित्र**—इस प्रकार की रचना जिसे कमल, छल, धनु, गोमुत्रिका, सर्वतोभद्र, आवृत्ति, अनुलोमविलोमा-वृत्त रूप में दिखाया जा सके। उदाहरण—अनुलोमविलोमा-वृत्त का उदाहरण—देवं नन्दनन्दनं वन्दे—इसके सीधे बाँचने पर और उल्टा बाँचने पर भी एक ही वाक्य होगा।

(४०) **छेकापह्नुति**—किसी की शंका से किसी वस्तु को छिपा लेना। उदाहरण—उसको पाप-पुण्य का कुछ भी विचार नहीं है। प्रश्न—आप ऐसी निंदा क्यों करते हैं? उत्तर—मैं निंदा तो नहीं करता, किंतु इनकी प्रशंसा कर रहा हूँ कि वे इतने ऊँचे स्तर पर पहुँच गये हैं कि उनको विचार की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

(४१) **तद्गुण**—अपने गुण को छोड़ कर अन्य के गुण का ग्रहण करना। उदाहरण—उसकी नासिका-भूषण का मोती अधर की कांति से माणिक्यमणि-सा मालूम होता है।

(४२) **तुल्ययोगिता**—अनेक तरह के तत्वों का एक समान संबंध बताना। उदाहरण—तुम्हारी कोमलता देखने पर मालती, चंद्र, कदलीस्तंभ इत्यादि में कठोरता का अनुभव होने लगता है।

(४३) **दीपक**—प्रकृत अप्रकृत पदार्थों के एक तरह के गुणों को बताना। उदाहरण—आपका प्रताप ही शत्रुओं का दमन करता है। सूर्य का उदय ही तम का नाशक है।

(४४) **दृष्टान्त**—एक वाक्यार्थ को यदि दूसरे वाक्यार्थ के प्रतिबिंब के रूप में दिखाया जाय। उदाहरण—समुद्र ही सब नदियों का गंतव्य स्थान है, तथा सभी स्तुतियों का गंतव्य स्थान ईश्वर ही हैं।

(४५) **निदर्शना**—समान वाक्यार्थों का एकता-निरूपण। उदाहरण—दाता की सौम्यता, चंद्रमा का निष्कलंक होना है।

(४६) **निरुक्ति**—व्युत्पत्ति-विशेष से नामों के अर्थ का परिवर्तन करना। उदाहरण—आप इस प्रकार के चरित्रों द्वारा दोषाकर सचमुच सिद्ध होते हैं (दोषा माने रात्रि उसको करने वाले चंद्रमा दोषाकर, एक अर्थ दूसरे दोषों का आकर माने वान)।

(४७) **परिकर**—गंभीर अभिप्राय प्रगट करने वाले विशेषणों का प्रयोग। उदाहरण—अमृतांशु (चंद्र) से शोभित ललाट वाले शिव आपके संतापों का हरण करें।

(४८) **परिकराङ्कुर**—विशेस्य का अभिप्राय-गर्भित होना। उदाहरण—चतुर्भुज चारों पुरुषार्थों के दाता हैं।

(४९) **परिणाम**—उपमेय को उपमान की क्रिया करना। उदाहरण—प्रसन्न नयन-कमल से मदिरेक्षणा देखी जाती है।

(५०) **परिवृत्ति**—बढ़ी-घटी वस्तुओं का विनिमय। उदाहरण—एक वाण छोड़कर उसने रिपुरमणी के कटाक्षों को पाया।

(५१) **परिसंख्या**—किसी वस्तु को एक जगह से निषिद्ध करके अन्यत्र स्थापित करना। उदाहरण—स्त्रियों के हृदय में न होकर दीपकों में स्नेह (तैंल वा प्रेम) का क्षय होता था।

(५२) **पर्यायापह्नुति**—आरोग्य विषय का स्थान-परिवर्तन। उदाहरण—यह सुधांशु नहीं, किंतु स्त्री-मुख ही सुधांशु है।

(५३) **पर्याय**—एक वस्तु का बारी-बारी से आश्रय बदलना। उदाहरण—उसके मुख की शोभा पद्म को छोड़कर चंद्रमा में पहुँची है।

(५४) **पर्यायोक्त**—वचन-कौशल से किसी की बात कह कर उससे दूसरा अर्थ निकालना। उदाहरण—उसे नमस्कार है, जिसने राहु-स्त्री के कुचमंडल को व्यर्थ कर दिया (अर्थात् राहु का सिरश्छेद कर दिया)।

(५५) **पिहित**—पर्दे में रखते हुए किसी की साभिप्राय चेष्टा का वर्णन करना। उदाहरण—आज सवेरे कांति के उपस्थित हो जाने पर कांता ने विस्तर सजाया।

(५६) **पुनरुक्तवदाभास**—भिन्न आकार के उन शब्दों का जो कि अनेकार्थ में प्रयुक्त होते हुए भी एकार्थ-वाचक प्रतीत होते हों। उदाहरण—शुभ्र-किरण, शीत-किरण, चंद्र को देखो।

(५७) **पूर्वरूप**—किसी कारण से विकृति-प्राप्त वस्तु का पुनः प्रकृतिस्थ हो जाना। उदाहरण—श्यामवर्णा सुंदरी विरह-पांडु होने पर भी कस्तूरी-लेपन से पुनः श्यामवर्णा ही प्रतीत होती है।

(५८) **प्रतिवस्तूपमा**—दो वाक्यों की एक-सदृश रचना। उदाहरण—सूर्य ताप से प्रज्वलित होता है एवं शूर-ताप से प्रज्वलित होता है तथा शूरताप से चमकता है।

(५९) **प्रतिषेध**—प्रसिद्ध निषेध का कीर्तन करना। उदाहरण—अरे चालबाजो! यहाँ जूआ नहीं है, बल्कि तीखे वाणों का खेल है।

(६०) **प्रदीप**—उपमान की उपमेय रूप में कल्पना। उदाहरण—कमल तेरे लोचन के समान हैं।

(६१) **प्रत्यनीक**—बलवान शत्रु के किसी एक सहयोगी का विजय करना। उदाहरण—तुम्हारे कार्य से पराजित होकर सिंह तुम्हारे स्तनों के समान हाथी के कुंभस्थल पर आक्रमण करता है।

(६२) **प्रस्तुताङ्कुर**—अप्रस्तुत से प्रस्तुत अर्थ को झलकाना। उदाहरण ऐ भौरे, मालती के रहते हुए काँटेदार केतकी का क्या प्रयोजन है?

(६३) **प्रहर्षण**—बिना यत्न से किसी अभीष्ट अर्थ की सिद्धि। उदाहरण—रोगी जो चाहता रहा। वैद्य ने वैसे ही वस्तु के सेवन की आज्ञा दी (जो रोगिया के मनवाँ भावे सोई बैदा बतलावे)।

(६४) **प्रौढ़ोक्ति**—किसी गुण के उत्कर्ष के हेतु में उसकी हेतु की कल्पना करना। उदाहरण—ये तमाल के वृक्ष यमुना-तीर में पैदा होने के कारण अत्युत्तम स्निग्ध श्यामल कांतिमान है।

(६५) **भाविकम्**—भूतभावि अर्थ का साक्षात् रूप में वर्णन करना। उदाहरण—वृंदावन के कुंजों में अभी भी नुपुरों की झंकार सुनाई पड़ती है।

(६६) **भाषासम**—एक ही रचना में भिन्न-भिन्न भाषाओं में अर्थ-प्रतीति। उदाहरण—गावों विशुद्धतम राग सुने त्रिताल। रोमन्थ का मधुर घार विचार वाला। हिन्दी मंच हिंदी में मधुर घार विचार वाला मन रोकर थका है। अतः विशुद्धतम राग गावो, हम त्रिताला सुने, संस्कृत में पागुर की इच्छा करने वाले बैलों और विचरण करने

वाले बछड़ों से युक्त एवं विशुद्धतम राग वाले और ताल बजाते हुए ग्वालों से युक्त गाय—यह अर्थ होता है।

(६७) **भेदकातिशयोक्ति**—अभिन्न में भी भिन्न की कल्पना। उदाहरण—आपकी वीरता तो कोई दूसरी ही चीज है।

(६८) **भ्रान्तापह्नुति**—भ्रम के बहाने किसी विषय को छिपाना। उदाहरण—ऐ मित्र! आप इतनी जल्दी में पड़े हैं, कहीं आपको कोई चीज लूटनी है या विदेश में जाना है।

(६९) **भ्रान्तिमान**—गुण-साम्य से किसी वस्तु में भ्रम का वर्णन करना। उदाहरण—आपको देखते ही शत्रुओं को भ्रम हो जाता है कि साक्षात् दंडधर यम ही तो नहीं आ पहुंचे।

(७०) **मालादीपक**—दीपक और एकावली के योग से मालादीपक होता है। उदाहरण--काम ने उसके हृदय में स्थिति की है और उसके हृदय में तेरी स्थिति है।

(७१) **मिथ्याध्यवसित**--किसी वस्तु को मिथ्या सिद्ध करने के लिए उसी के जोड़ की दूसरी मिथ्या की कल्पना करना। उदाहरण--आप बड़े ही वीर हैं इसीलिए आप ने उस दिन प्रचंड सिंह को खरहों से नोचवा डाला।

(७२) **मीलित**--एकदम सादृश्य से किसी वस्तु का भान न होना। उदाहरण--सफेद चाँदनी में चाँदी के बर्तन में रखा हुआ दूध वहाँ नहीं देख पाये।

(७३) **मुद्रा**--सरल शब्दों से अपने तात्पर्य को सरल रूप में प्रगट करना। उदाहरण--आपने मुझपर बहुत उपकार किये हैं। अत: मैं आपका बहुत ही चिर-कृतज्ञ हूँ।

(७४) **यथासंख्य**--क्रम से बतायी हुई चीजों को क्रम-पूर्वक, बाद में बताये जाने वाली चीजों से समन्वय करना। उदाहरण--शत्रुओं, मित्रों एवं विपत्तियों को जीतो, प्रसन्न करो और तोड़ो।

(७५) **युक्ति**--गोप्यार्थ के गोपन के लिए दूसरे को धोखे में डालना। उदाहरण—तुम पर अनुरक्ता नायिका ने तुम्हारे चित्र लिखते हुए बीच में आयी हुई किसी दूसरी स्त्री को देखकर तुम्हारे हाथ में पुष्पमय धनुर्बाण का चित्रण किया।

(७६) **रत्नावली**--अप्रकृत अर्थों का क्रमश: कीर्तन। उदाहरण--हे राजन्! आप ही चतुरास्य, चार मुँह वाले चतुर्वक्ता, लक्ष्मीपति और सर्वज्ञ हैं अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं।

(७७) **रूपक**--किसी वस्तु को दूसरी वस्तु के तादरूप्य में उपस्थित करना। उदाहरण--गुरुर्ब्रह्मा, गुरु-र्विष्णुः, गुरुर्देवो महेश्वरः, यह मुख साक्षात् निष्कलङ्क चंद्रमा है।

(७८) **रूपकातिशयोक्ति**--रूपक का भेद ही इसको भी समझना चाहिए।

(७९) **ललित**--प्रस्तुत में विवक्षित वस्तु के प्रतिबिंब का वर्णन। उदाहरण--पानी बह जाने पर यह बाँध बनाना चाहता है।

(८०) **लुप्तोपमा**--यह भी उपमा का एक भेद है।

(८१) **लेश**--गुण का दोष रूप में और दोष का गुण रूप में वर्णन करना। उदाहरण--हे शुक! सब पक्षियों के स्वतंत्र रहते हुए तुम्हारा पिंजड़े में बंधन तुम्हारी मधुरवाणी का ही फल है। ग्रह उपद्रवी होने पर ही पूजे जाते हैं।

(८२) **लोकोक्ति**--लोक-प्रचलित भाषा का प्रयोग करना। उदाहरण--आँखें मूँदकर कुछ महीने बिता लो।

(८३) **वक्रोक्ति**--श्लेष और काकु के प्रयोग से अपूर्व अर्थ की कल्पना। (मुञ्चमानं दिनं प्राप्तं नेह नन्दी हरान्तिके)। दिन आ गया इसलिए मान छोड़ो। उत्तर—यहाँ शिवका नंदी नहीं है। उत्तर—दाता ने पूर्वोक्त वाक्य का यह अर्थ लगाकर उत्तर आक्षेप किया कि नन्दिन प्राप्त मामुञ्च अर्थात् पहुँचे हुए नंदो को मत छोड़ो। उदाहरण—क्यों वह यहाँ अकेला आया है? हाँ, हमने उससे पूछा था तो उसने कहा मुझे केले के साथ आने को नहीं कहा गया था।

(८४) **विकल**—वैकल्पिक रूप में परस्पर विरुद्ध पक्षों को उपस्थित करना। उदाहरण—हे विरोधी राजाओ! विलंब न करते हुए तत्काल या तो सिर नवाओ या धनुध नवाओ।

(८५) **विकस्वर** जिसमें सामान्य और विशेष का विशेष गुण बताया जाय। उदाहरण—वह उन्हें न जीत सका, क्योंकि महान लोगों पर दृष्टि उठाना भी कठिन है।

(८६) **विचित्र**—किसी फल की इच्छा से उसके विपरीत प्रयत्न करना। उदाहरण—सज्जन लोग आत्मो-न्नति के लिए अतीव नम्र होते हैं।

(८७) विधि—सिद्ध वस्तु का ही साधन करना। उदाहरण—वसंत के समय में कोकिल कोकिल के रूप में आ जाता है।

(८८) विनोक्ति – किसी वस्तु के बिना किसी महत्त्वपूर्ण वस्तु की सिद्धि बताना। उदाहरण— विनय के बिना विद्या भी अविद्या ही है।

(८९) विभावना—बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति। उदाहरण—चाँदनी और दक्षिणानिल से सेवित होते हुए भी वह संतप्त हो रहा है।

(९०) विरोध—विरुद्ध बातों का भी, जो परस्पर विरुद्ध हैं, एकसाथ संभव बताना। उदाहरण—आप अजन्मा होते हुए भी जन्म-ग्रहण करते हैं।

(९१) विरोधाभास—अविरुद्ध विषयों को भी परस्पर विरुद्ध रूप से प्रगट करना। उदाहरण—हार से नित्य सुशोभित होने वाला, आपका हृदय क्षणकाल के लिए भी हार नहीं स्वीकृत करता। (पहले हार का अर्थ पहने जाने वाला आभूषण है, दूसरा हार पराजय है, इस प्रकार परस्पर विरुद्ध न होने पर भी वचन-वैचित्र्य से विरोध झलकाया गया है)।

(९२) विकृतोक्ति—श्लेष से गोपन करते हुए, किसी वस्तु को स्पष्ट कहना। उदाहरण—ऐ बैल! दूसरे के खेत की ओर मत बढ़ो। (खेत शब्द से यहाँ कामिनी का अभिप्राय है, जो कि श्लेष के द्वारा गुप्त हो रही है)।

(९३) विशेष—बिना आधार के ही आधेय की स्थिति का वर्णन। उदाहरण—सूर्य के अस्त होने पर भी सूर्य की किरणें ही अंधेरे को निवृत्त कर रही हैं।

(९४) विशेषोक्ति—कारणों के रहते हुए भी कार्य का उत्पन्न न होना। उदाहरण—स्मर-संगीत को सुनते हुए भी योगी योगभ्रष्ट न हुआ।

(९५) विषम—बेमेल वस्तुओं का सहयोग बताना। उदाहरण—आप का अशांत क्रोध विश्वशांति का कारण है।

(९६) विषादन—इष्ट-विरुद्ध विषय का एकाएक हो जाना। उदाहरण—दवा पहुँचते-पहुँचते रोगी मर चुका था।

(९७) व्याघात—लक्षण-इष्ट पदार्थों से भी अनिष्ट करना एवं अनिष्ट पदार्थों से भी इष्ट करना। उदाहरण—जिनसे सभी आनंदित होते हैं, उन्हीं पुष्पों से कामदेव हिंसा करते हैं।

(९८) व्याजनिन्दा—निंदा करते हुए प्रशंसा कर डालना। उदाहरण—ऐ ब्रह्मा! वह अवश्य निंदनीय है जिसने आपके एक ही शिर का छेदन किया।

(९९) व्याजस्तुति—स्तुति का भी जहाँ निंदा से अभिप्राय हो। उदाहरण—आपके इन उत्तम वचनों का वज्र से भी अधिक मूल्य है।

(१००) व्याजोक्ति—किसी बहाने से आकार को छिपाना। उदाहरण—हे सखी! आँधी से यहाँ पर अर्थात् घर में भी मेरे ऊपर उड़कर धूल पड़ गयी है (इससे वह अपना बाहर जाना छिपा रही है)।

(१०१) व्यतिरेक—उपमानोपमेय में कुछ विषमता का भी उल्लेख करना। उदाहरण—सज्जन पहाड़ की तरह उन्नत होते हैं, किंतु स्वभावत: कोमल होते हैं।

(१०२) शुद्धापह्नुति—आरोपित अर्थ से किसी वस्तु को छिपाना। उदाहरण—यह चंद्रमा नहीं, किंतु आकाश-गंगा का खिला कमल है।

(१०३) श्लेष—एक शब्द की अनेकार्थ-प्रतिपादकता से वाक्य को चमत्कृत करना। उदाहरण—कनक का नशा बड़ा उन्मादक होता है, इसीलिए धनी लोग नशे में बुत रहते हैं (कनक माने सोना या धतूरा)।

(१०४) सदर्थनिदर्शना—समृद्धिशालियों का मित्रों को अनुगृहीत करना। उदाहरण—उदय होते ही सूर्य कमलों को श्री-संपन्न कर देता है।

(१०५) सन्देह—स्मरण, भ्रम और सन्देह इन तीनों के द्वारा एकसाथ या अलग-अलग संदिग्धावस्था का वर्णन। उदाहरण—यह चंद्रमा है या कमल, इसका निर्णय करना कठिन है।

(१०६) सम—दो अनुकूल वस्तुओं का मिलन। उदाहरण—यह तो साक्षात् गंगा और सागर का मिलन है। जल से उत्पन्न होने के कारण लक्ष्मी की नीच गति स्वाभाविक है।

(१०७) समाधि—किसी दूसरे कारण के आ पहुँचने से कार्य में सुगमता। उदाहरण—मैं उसे यात्रा से रोक रहा था, उसी समय घन-घोर वर्षा प्रारंभ हो गयी।

(१०८) समासोक्ति—किसी समान व्यवहार द्वारा उस पर दूसरी वस्तु का आरोप करना। उदाहरण—जाड़ा की यह वायु अंतःपुर की नायिकाओं तक को नहीं छोड़ती।

(१०९) समुच्चय—एक में एक के बाद दूसरी अन्य कई क्रियाओं का भी उल्लेख करना। उदाहरण—शत्रु जब आपको देखते हैं, घबड़ाते भी हैं और भाग भी जाते हैं।

(११०) सम्बन्वातिशयोक्ति—संबंध में असंबंध और असंबंध में संबंध की कल्पना। उदाहरण—इस नगर के मकान चंद्रमंडल का भी स्पर्श करते हैं और हे राजन, आप के दान के आगे हम लोग कल्पद्रुम को भी तुच्छ समझते हैं।

(१११) सम्भावन—यदि ऐसा होता तो यह हो सकता। उदाहरण—यदि शेष वक्ता होते तो अपने गुणों का पूर्ण कीर्तन कर सकते।

(११२) सहोक्ति—किन्हीं वस्तुओं के साथ होने का सुन्दर वर्णन। उदाहरण—आपकी कीर्ति आपके शत्रुओं के साथ दूर-दूर दिगन्तों में पहुँच गयी है।

(११३) सामान्य—प्रकृत अर्थ का अप्रकृत रूप में वर्णन करना। उदाहरण—इस चाँदनी में अभिसारिकाएँ श्वेत वस्त्रों, श्वेत अलंकारों से चाँदनी से अलग न मालूम होती हुई सुख-पूर्वक जा रही हैं।

(११४) सार-लक्षण—एक से एक बढ़कर वस्तुओं का उल्लेख। मधु मधुर हैं, उससे अधिक अमृत मधुर है, उससे भी अधिक कवि की वाणी मधुर है।

(११५) सूक्ष्म—इशारे से किसी वस्तु का संकेत करना। उदाहरण—नायिका मे पूछा कि अजहुल के फूल (शेफालिका) किस समय विकसित होते हैं, इसका मुझे परिज्ञान नहीं है (शेफालिका आधी रात को विकसित होती है। अतः आधी रात ही संकेत-काल है)।

(११६) स्तोकोक्ति—प्रसिद्ध लोकोक्ति से अपना अभिप्राय प्रगट करना। उदाहरण—साँप के पैर साँप ही पहचानते हैं।

(११७) स्वभावोक्ति—किसी वस्तु का प्राकृतिक वर्णन। उदाहरण—सूर्योदय के समय पक्षी कलरवगान कर रहे थे, गायें दुही जा रही थीं, घाटों पर स्नानार्थियों की भीड़ जमा थी इत्यादि।

(११८) स्मृतिमान—स्मृति, भ्रम या संदेह से किसी वस्तु के स्फूरण का वर्णन। उदाहरण—खिले कमलों को देखते हुए मुझे उसके मुखचंद्र की स्मृति हटाना दुस्तर कार्य था।

(११९) हेतु—किसी कार्य के हेतु का निश्चित रूप से उल्लेख करना। उदाहरण—अपनी अभीष्ट-सिद्धि तो भगवान की अनुकूलता पर ही निर्भर है।

(१२०) हेत्वपह्नुति—युक्ति, पूर्वक किसी वस्तु के गुण को छिपाना। उदाहरण—चंद्रमा तापकर नहीं होता और रात को सूर्य नहीं आता। अतः यह बड़वानल का ही अंगार है।

अलङ्कारकः (पुं०) आभूषण, गहना, जेवर।

अलङ्कार्य (वि०) सजाने योग्य, सज्जित करने योग्य, भूषित करने के योग्य।

अलङ्कृतिः (स्त्री०) आभूषण, सजावट, सज्जा।

अलङ्क्रिया (स्त्री०) सजाने की क्रिया, शृंगार करने का काम।

अलङ्घनीय (वि०) लंघन के अयोग्य, अनतिक्रमणीय।

अलजः (पुं०) एक प्रकार का पक्षी।

अलञ्जरः (पुं०) घड़ा, मिट्टी का कलश।

अलम् (न०) बिच्छू का डंक, हरताल।

अलम् (अव्य०) पर्याप्त, काफी, व्यर्थ, निरर्थक (अलं महीपाल तव श्रमेण—रघु०। अलमतिविस्तरेण)।

अलम्कर्मीण (वि०) निपुण, प्रवीण, पटु, दक्ष, कुशल।

अलम्धूमः (पुं०) अत्यधिक धूआँ।

अलम्पट (वि०) शुद्ध चरित्र वाला, चरित्रवान।

अलम्पशु (वि०) पशु रखने योग्य।

अलम्पुरुषीण (वि०) मनुष्य के लिए पर्याप्त, मनुष्योचित।

अलम्बुषः (पुं०) वमन, कै, हाथ की हथेली, एक राक्षस।

जटासुर राक्षस का पुत्र। कुंती के पुत्रों ने जटासुर को मार डाला था। इसलिए वह पांडवों से बहुत कोधित था। दुर्योधन के आदेश से इसी राक्षस ने भीम के लड़के घटोत्कच से युद्ध किया था। घटोत्कच ने कई बार इससे युद्ध किया। अंत में छल युद्ध से इसे परास्त कर इसका सिर काट दिया था।

अलम्बुषा (स्त्री०) स्वर्ग की एक अप्सरा, गोरख-मुंडी, किसी का आगमन रोकने के लिए खींची हुई रेखा, लज्जालू नाम का पौधा।

अलम्भूष्णु (वि०) प्रवीण, योग्य, कुशल।

अलयः (पुं०) स्थायित्व, उत्पत्ति।

अलर्कः (पुं०) पागल कुत्ता, सर्फेद मदार, एक राजा।

सत्ययुग में दंश नामक एक महासुर भृगुमुनि के शाप से आठ पैर विशिष्ट, अति तीक्ष्णा दाँत वाला भयंकर आकृति धारण कर अलर्क कीट के नाम से प्रसिद्ध हुआ। एक बार परशुराम परिश्रांत होकर अपने शिष्य कर्ण की गोद में सो रहे थे। उस समय यही अलर्क कीट कर्ण की जाँघ को भेदकर ऊपर उठने लगा। कर्ण ने गुरु के निद्राभंग होने के भय से उस कीट को न तो मारा और न तो दूर करने का ही साहस किया। वह धैर्य के साथ कीट की दंश-वेदना को सहन करने लगा। कर्ण की जांघों का रक्त परशुराम के शरीर में लगा। तो निद्रा भंग हो गयी और वे खून के बहने का कारण पूछने लगे। कर्ण की बात सुनकर परशुराम के दृष्टिपात करते ही वह कीट प्राण त्याग, असुर रूप धारण करके मुक्त हो गया।

अलवालम् (न०) वृक्ष का थाला, जिसमें पानी भरा जाता है, आलवाल; थाँवला।

अलस् (वि०) जो चमकीला न हो, न चमकने वाला।

अलस (वि०) अक्रिय, निश्चेष्ट, आलसी, सुस्त, (अलसस्य कुतो विद्या अविद्यस्य कुतोधनम् अधनस्य कुतो मित्रममित्रस्य कुतः सुखम्—हितोपदेश)। मंद, श्रांत, कोमल, मृदु।

अलसक (वि०) अकर्मण्य, सुस्त, मंद, एक प्रकार का अजीर्ण जिसमें वमन दस्त न हो।

अलसगमनम् (न०) मंथर गति से जाना, धीरे-धीरे जाना या चलना, धीरे-धीरे चलने वाला।

अलातः (पुं०), अलातम् (न०) जलती हुई लकड़ी, अधजली लकड़ी।

अलातचक्रः (पुं०) किसी लकड़ी के सिरे पर आग लगाकर बहुत द्रुत गति से घुमाने से अग्नि का एक चक्र सा प्रतीत होता है, जो यथार्थ में भ्रम ही है। दृष्य वस्तु की छाया आँख पर पड़ती है, उस छाया का स्थिति-काल आठ सेकेंड माना गया है। लकड़ी का प्रज्वलित अंश एक ही स्थान में रहता है। आगे जाकर भी उसकी स्थिति एक ही स्थान में होती है, परंतु द्रुत चलाने से अग्नि की छाया आँख पर से हटने के पहले ही दूसरे स्थान की छाया आ पड़ती है। इस प्रकार जब तक उस घूमती हुई लकड़ी में आग रहेगी तब तक अग्नि की गोल छाया ही आँख पर पड़ती रहेगी। उस छाया में कभी विराम या छेद नहीं होगा।

इसी सिद्धांत पर से सिनेमा का आविष्कार हुआ है। लोग जो स्टूडियों में तथा विभिन्न क्षेत्रों में जो अभिनय करते हैं उसकी बहुत द्रुत फोटो खींच ली जाती है। उन्हीं चित्रों को बहुत तेज बिजली की बत्ती के सामने से बिजली के यंत्रों द्वारा खींच ली जाती है। फलस्वरूप उन चित्रों की छाया दर्शकों के सामने लटकते हुए शुक्ल पट पर गिरती रहती है। एक चित्र की छाया आँख पर से हटने के पहले ही दूसरे चित्र की छाया आँख पर आ पड़ती है। इस से अलातचक्र के सिद्धांत के अनुसार पट पर लोग चलते-फिरते तथा बात-चीत करते देखते-सुनते रहते हैं।

अलातशान्तिः (स्त्री०) अलातचक्र का विवरण ऊपर बताया गया है। यदि जलती हुई लकड़ी की गति को रोक दिया जाय तो वह चक्राकार अग्नि भी शांत हो जाती है। वेदांत के मतानुसार यह माया-कल्पित संसार भी अलातचक्र के समान भ्रम-मात्र ही है। यह जगत प्रतिक्षण अति द्रुत गति से हमारी इंद्रियों के सामने से चलता चला जाता है (गच्छति इति जगत्)। एक व्यक्ति ने गंगा-स्नान करते हुए एक डुबकी लगाई। प्रवाह के कारण वहाँ का जल सरक गया, थोड़ी देर में उसने दूसरी डुबकी लगाई, वह जल भी वहाँ से हट गया, फिर उसने तीसरी डुबकी लगाई, वह जल भी हट गया। परंतु वह अज्ञान-वश यही सोचता है कि मैं एक ही गंगा में नहा रहा हूं। इसी प्रकार संचरणशील जगत भी प्रतिक्षण सरकता चला जाता है, परंतु मनुष्य समझता है कि मेरे सामने संसार स्थिर ही है। यही माया की लीला है। आत्मज्ञ पुरुष इस विलास को छोड़कर नित्य स्थिर आत्मा में ही चित्त को निविष्ट रखते हैं। इससे उनके लिए संसार

का अलातचक्र शांत हो जाता है। इस अलात-शांति का अनेक वर्णन बौद्ध ग्रंथों में भी मिलता है।

अलातृणः [वेद] (पुं०) वहूदक मेघ (अलातृणो वलइन्द्र व्रजोगोः—ऋ० ३।२।२।५)।

अलाबुः (स्त्री०) तुंबी, तुंबी का बना हुआ पात्र।

अलायुधः (पुं०) यह वकराक्षस का भाई था। भीम ने इसके आत्मीय क्रिमीर और हिडंब को मारा था। यह प्रतिशोध के लिए राक्षसों की एक विशाल सेना लेकर महाभारत के युद्ध में दुर्योधन से जा मिला और घमासान युद्ध में भीम के लड़के घटोत्कच के हाथ से मारा गया था।

अलारम् (न०) दरवाजा, द्वार।

अलास्य (वि०) नृत्य न करने वाला, न नाचने वाला।

अलिः (पुं०) भ्रमर, भौंरा, काक, बिच्छू, मदिरा, शराब, कोयल, कोकिल।

अलिकस् (पुं०) माथा, मस्तक।

अलिकलम् (न०) भौरों का झुंड, भ्रमरावली।

अलिजिह्वा (स्त्री०) उपजिह्वा, गले की घंटी।

अलिञ्जरः (पुं०) पानी का घड़ा, जल का कलश।

अलिनी (स्त्री०) शहद की मक्खियों का समुदाय, मधुमक्षिकाओं का झुंड।

अलिन्दः (पुं०) मकान के सामने का चबूतरा।

अलिपकः (पुं०) शहद की मक्खी, मधुमक्षिका, कोयल, कुत्ता।

अलिप्सा (स्त्री०) इच्छा से मुक्ति, इच्छा की निवृत्ति।

अलीक (वि०) अप्रसन्न-कारक, अरुचिकर, अप्रिय।

अलीकम् (न०) झूठ, असत्य, मिथ्या, मस्तक, अप्रसन्न करने वाली वस्तु।

अलीकसुप्तकम् (न०) सोने का बहाना, नींद का बहाना।

अलीकिन् (वि०) मिथ्या; असत्य, धोखा देने वाला, अरुचिकर, अप्रिय।

अलुः (पुं०) एक छोटा जलपात्र।

अलुप्त (वि०) जो काटा न गया हो, जो वर्तमान हो।

अलुप्तशक्तिक (वि०) जिसमें शक्ति का कभी लोप नहीं होता। ब्रह्मशक्ति माया से प्रकट होने के कारण सृष्टि के सभी पदार्थों में शक्ति आ गयी है। परंतु हर समय हर वस्तु में शक्ति प्रकट नहीं होती। जैसे—तेज-तत्त्व में दाहिका शक्ति लुप्त है, ईंधन आदि के संयोग से अग्नि उत्पन्न होने पर दाहिका शक्ति प्रकट होती है। छोटी वस्तुओं में ही इस प्रकार शक्ति का लोप संभव है। सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान ब्रह्म की शक्ति कभी भी लुप्त नहीं होती। इसी कारण उसे अलुप्तशक्तिक कहते हैं (निर्द्वन्द्वनिर्मोहमलुप्तशक्तिकं तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्—अवधूतगीता २।३१)।

अलुब्ध (वि०) जो लोभी न हो, लालच न करने वाला, निर्लोभ।

अलूक्ष (वि०) कोमल, नम्र, (अलूक्षा धर्मकामाः स्युः—तैत्तिरीय उपनिषद—शिक्षा० ११।४) अर्थात् धार्मिक व्यक्ति विनयी होगा।

अलेपक (वि०) दागरहित, निष्कलंक।

अलेपकः (पुं०) ब्रह्म की एक उपाधि।

अलेश (वि०) जो थोड़ा न हो, अधिक, वहुत।

अलोक (वि०) जो दिखाई न पड़े, अदृश्य, जिसमें कोई मनुष्य न हो, ऐसा प्राणी जो मृत्यु के पश्चात् किसी लोक में न जाता हो।

अलोकः (पुं०) वह जो लोक न हो, संसार की समाप्ति या नाश।

अलोकदृष्टिः (स्त्री०) अतींद्रिय विषय की दर्शन-शक्ति, अलौकिक दृष्टि।

अलोकनम् (न०) अदृश्यता, लुप्तता, न देखना।

अलोकम् (न०) मनुष्यों का अभाव।

अलोकसामान्य (वि०) असाधारण, असामान्य।

अलोप्य (वि०) लोप या नाश करने के अयोग्य, अपराजेय, अखंडनीय, अव्यर्थ।

अलोमिन् (वि०) इच्छा न करने वाला, चाह न करने वाला।

अलोमहर्षण (वि०) जो रोमांचकारी न हो।

अलोल (वि०) स्थिर, ठहरा हुआ, दृढ़, अचंचल, पिपासारहित, कामनारहित।

अलोलुप (वि०) जो लोलुप न हो, इच्छा-रहित।

अलोलुप्त्वम् (न०) लोभराहित्य, लालचशून्यता। यह एक दैवी सम्पद् है (दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्········· भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत—गीता १६।२-३)।

अलोह (वि०) जो लौहनिर्मित न हो, लोहे का न बना हुआ।

अलोहित (वि०) जिसमें रक्त न हो, रक्तविहीन, जो लाल न हो।

अलौकिक (वि०) विलक्षण, लोकोत्तर, अद्भुत, अमानुषी, इस लौक में अविदित। इस लौकिक संसार में कुछ भी अलौकिक नहीं हो सकता। किसी मुनि ने तपस्या करके क्रोध की दृष्टि से किसी पक्षी की ओर देखा और वह भस्म हो गया। वही मुनि किसी गृहस्थ के घर के सामने जाकर क्षुधा की निवृत्ति के लिए भिक्षा माँगने लगे। गृहिणी पति-सेवा में संलग्न थी, पति के निद्रित होने पर कुछ समय के अनंतर बाहर आकर मुनि का स्वागत करते हुए उसने कहा—"क्षमा कीजिएगा मुनिजी, मैं पति-सेवा कर रही थी, इस कारण मुझे कुछ समय लगा। अब आज्ञा दीजिए कि कैसे मैं आपकी सेवा करूँ?" विलम्ब होने के कारण मुनि का क्रोध चढ़ रहा था। उन्होंने शाप देने की इच्छा से हाथ उठाया देखकर उस स्त्री ने कहा—"सती के लिए पति-सेवा के अतिरिक्त कोई अन्य धर्म नहीं है। मैं पक्षी नहीं हूं कि आपकी क्रोधभरी दृष्टि से देखते ही भस्म हो जाऊंगी।"

यह कल्पित कहानी है। मनुष्य के मन या नेत्र में ऐसी अलौकिक शक्ति नहीं आ सकती। किसी वन में कोई पक्षी भस्म हो गया या नहीं, यह भी कोई मनुष्य दूर के स्थान में रह कर नहीं जान सकता। कोई ऋषि अनाहार रह कर १० हजार वर्षों तक तपस्या कर रहे थे। कोई बन्दर का बच्चा जन्म होते ही आकाश में सूर्य को देखकर उसे लाल पका फल समझ कर उछलते हुए आकाश से उस सूर्य को बगल में दबाये नीचे उतर आया। एक राजा अपनी कन्या का विवाह-योग्य कोई उत्तम वर न पाकर स्वर्ग में ब्रह्माजी से पूछने के लिए पहुँचे। वहाँ अप्सराओं के नृत्य-गीत हो रहे थे। बहुत समय के बाद वहाँ का उत्सव समाप्त होने पर राजा ने ब्रह्माजी से कहा—"पृथ्वी पर कोई भी वर मैं अपनी कन्या के लिए नहीं पाया।" साथ-साथ राजा ने पृथ्वी पर के अनेक राजाओं और राजपुत्रों के नाम सुनाये और पूछा कि इनमें से कौन मेरी कन्या के योग्य है, आप बता दीजिए।" ब्रह्माजी ने कहा—"राजन, आप स्वर्ग में बैठे हुए हैं, यहाँ जितना समय बीता है, उसके भीतर पृथ्वी पर लाखों वर्ष बीत चुके हैं। जिन राजाओं के आपने नाम लिये हैं, उनमें अब कोई भी जीवित नहीं हैं। सत्य और त्रेतायुग बीत गये हैं, द्वापर का भी अंत हो रहा है। इस समय द्वारिका में कृष्ण के भाई बलराम सुपुरुष और महान बलवान हैं। उनसे जाकर अपनी कन्या का विवाह कर दीजिए।" राजा ने पृथ्वी पर उतर आकर वैसा ही किया। बलराम जी जब विवाह करने आये तो कन्या को २१ हाथ ऊँचा देखकर अपने हलास्त्र से राजकुमारी के गले को खींच कर उन्होंने अपने समान छोटा बना लिया। ऐसी ऐसी कहानियाँ असम्बद्ध हैं, क्योंकि पृथ्वी पर लाखों वर्ष बीत जाने पर भी राजकन्या कुमारी ही रह गयी थी और कोई मनुष्य यहाँ २१ हाथ लम्बा हो भी नहीं सकता तथा गले को खींचकर किसी मनुष्य को छोटा भी नहीं बनाया जा सकता :

किसी राक्षस के १० सिर थे। दूसरा राक्षस छः महीनों तक सोता था। कोई राजा छू देता था और पत्थर जल में तैरने लगता था। किसी रानी के गर्भ से एक कुष्मांड निकला। समय आने पर वह फूटा और उसमें से १०० राजपुत्र पैदा हुए।

ऐसी-ऐसी अलौकिक घटनायें आख्यायिका अर्थात् कल्पित कहानियाँ मानी जाती हैं। आचार्य शंकर ने कठोपनिषद् की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यम और नचिकेता की आख्ययिका ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए लिखी गयी है (आख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था)। भगवद्गीता की टीका लिखते हुए मधुसूदन सरस्वती जी ने लिखा है कि श्रीकृष्णार्जुन-संवाद रूप आख्यायिका ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिए है (श्रीकृष्णार्जुनसंवाद-रूपा चाख्यायिका ब्रह्मविद्यास्तुत्यर्था)।

वेदान्त-दर्शन में एक सूत्र है, जिसमें कहा गया है कि तपस्वी, योगी या ज्ञानी कितनी ही अधिक लौकिक शक्ति उपार्जित क्यों न करें, जगत के

व्यापार में हाथ नहीं डाल सकते (जगद्व्यापारवर्जम्—४।४।१७)।

अणिमा शरीर को अणु के समान छोटा कर लेना, लघिमा (शरीर को रूई के समान हल्का कर लेना), प्राप्ति (जिस शक्ति से सभी वांछित पदार्थ मिल सकते हैं), प्राकाम्य (जिस शक्ति से मन का संकल्प अप्रतिरोधनीय हो जाता है), महिमा (जिस शक्ति से मन की इच्छा को व्यापक बनाया जा सकता है), ईशित्व (ईश्वर के समान शक्ति प्राप्त होना), वशित्व (पृथ्वी भर के सभी व्यक्तियों तथा प्राणियों को वश में कर लेने की शक्ति) तथा कामावशायिता (संसार के सभी पदार्थों को अपने वश में कर लेने की शक्ति)। योग की स्तुति के लिए ये सिद्धियाँ रुचि उत्पन्न करने के लिए लिखी गयी हैं। इस प्रकार की फल-श्रुतियाँ रुचि उत्पन्न करने के लिए ही वतायी जाती हैं (रोचनार्थां फलश्रुतिः—अत्रिस्मृति)। अपने प्रतिपाद्य विषय के समर्थन के लिए ऐसी फल-श्रुतियाँ अर्थवाद मात्र हैं (अर्थवादः देखिए)।

भारत से विदेशी शासकों को निकाल बाहर करने के लिए कुछ लोगों ने विप्लव किया था। राजशक्ति की प्रबलता के सामने अपने विप्लव को सफल न बना सकने के कारण एक श्रेष्ठ विप्लवी लगभग ६० वर्षों तक एकान्त स्थान में रह कर कुछ अलौकिक शक्ति प्राप्त करने के लिए साधन करने लगे थे, जिससे विदेशी सत्ता को फुफकार से उड़ा दिया जा सके; किन्तु मानसिक शक्ति के अतिरिक्त अलौकिक शक्ति की एक रत्ति का सहस्रांश भी वे प्राप्त नहीं कर सके।

प्रह्लाद विष्णुभक्त थे। उनके पिता दानवराज हिरण्यकशिपु अपने को संसार के एकच्छत्र राजा मानते थे। शास्त्रोल्लिखित विष्णु के वे विरोधी थे। अपने पुत्र को विष्णुभक्त जानकर वे बालक पर बड़े-बड़े अत्याचार करने लगे। एक दिन ऊँचे पहाड़ से बालक प्रह्लाद को मारने के लिए ढकेल दिया गया, पुराण में लिखा है कि संसार के पालनकर्त्ता भगवान विष्णु ने उस पहाड़ के नीचे मनुष्य रूप में आविर्भूत होकर प्रह्लाद को गोदी में लेकर बचा लिया। बालक ध्रुव सौतेली माता के कटुभाषण से दुःखित होकर अपनी माँ के उपदेश के अनुसार जंगल में जाकर भगवान हरि के ध्यान में लवलीन हो गये। पुराण के वर्णन के अनुसार भगवान हरि मनुष्य रूप में वहाँ आविर्भुत हुए। उन्होंने ध्रुव को वर देना चाहा, किन्तु ध्रुव ने हाथ जोड़कर कहा—"हे प्रभु, पिता से बड़े राज्य प्राप्त करने के उद्देश्य से मैं तपस्या करने बैठा था, किन्तु मुनिश्रेष्ठों के द्वारा गुह्य आपको मैं पा गया हूं। काँच खोजते हुए दिव्य रत्न प्राप्त हुआ। हे स्वामी! मैं कृतार्थ हो गया हूं, वर नहीं माँगता (स्थानाभिलाषी तपसि स्थितोऽहं त्वां प्राप्तवान् देवमुनीन्द्रगुह्यम्। काचं विचिन्वन् आप दिव्यरत्नं स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे—हरिभक्तिसुधोदय—७।२८)। ऐसी-ऐसी कहानियाँ भक्ति की स्तुति के लिए बनायी गयी हैं।

शास्त्र का तात्पर्य उपदेश में है, कहानियों में नहीं। लाखों बार ध्रुव-प्रह्लाद की कहानियाँ कहने और सुनने पर भी कोई लाभ नहीं होता। विन्दु मात्र भक्ति का भाव भी मन में उत्पन्न हो जाय तो मनुष्य का जीवन कृतार्थ हो जाता है।

(इस कोश में प्राचीन ऋषियों, राजाओं, देवताओं, आदि के जीवन-चरित्र लिखते समय जैसा शास्त्रों में लिखा है वैसा लिखा गया है)।

अल्प (वि०) कम, थोड़ा, तुच्छ, हीन, थोड़े दिनों का, दुर्लभ (अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्—रघुवंश)।

धर्म का अल्प भी महान मृत्युभय से मनुष्य को बचा लेता है। (स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्—गीता २।४०)। जो ज्ञानी व्यक्ति शास्त्रवाक्य अल्प ही कहते हैं, धर्म के पथ पर सदा विचरण करते हैं, राग, द्वेष, मोह का परिहार करके ज्ञान की समाप्ति में जिनका मन विमुक्त हो गया है, ऐसे विषयहीन व्यक्ति इस लोक और परलोक में कल्याणभागी होते हैं (अप्पम्पि चे सहितं भासमानो ध्वमस्स होति अनुधम्मचारी। रागञ्च दोसञ्च पहाय मोहं सम्मप्पजानो सुविमुत्तचित्तो। अनुपादियानो इध वा हुरं वा स भणवा सामञ्‌जस्स होति॥—धम्मपद, यमकवग्गो २०)।

जो अल्प है वह मरणशील है (यदल्पं तन्मर्त्यम्—बृहदारण्यक उपनिषद्)। हम अपने चारों ओर छोटे

जीवों तथा पदार्थो का नाश देखकर अनुमान कर लेते हैं कि सभी छोटे नाशवान हैं 'इसी अनुपात से सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि नाशवान हैं'—यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। एक मात्र असीम अनंत सच्चिदानन्द पर-ब्रह्म ही नाशरहित हैं।

अल्पः [वेद] (वि०) छोटा (अल्पा एनं पशवो मूज्जन्त उपतिष्ठेरन्—श्रुति)

अल्पक (वि०) थोड़ा, कम, घृणा करने योग्य।

अल्पक्रीत (वि०) थोड़े धन में खरीदा हुआ, सस्ता, थोड़ा खरीदा हुआ।

अल्पगन्धम् (न०) लाल कमल, रक्त-कमल।

अल्पज्ञ (वि०) अल्प-ज्ञानी, मूर्ख, मूढ़।

अल्पतनु (वि०) छोटे शरीर वाला, खर्वाकार, बौना।

अल्पदृष्टि (वि०) संकुचित विचार वाला, संकीर्ण चित्त वाला, अल्प देखने वाला।

अल्पधी (वि०) दुर्वल चित्त वाला, मूर्ख, अज्ञानी। (चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पाधियामपि—साहित्य-दर्पण)।

अल्पपद्मम् (न०) लाल कमल, रक्त कमल।

अल्पपायिन् (न०) पर्याप्त मात्रा में न चूसने वाला (जोंक)।

अल्पप्रमाण (वि०) अल्प भार का, अल्प मान का, अल्प अधिकार का।

अल्पप्रयोग (वि०) जिसका प्रयोग या व्यवहार कभी-कभी अथवा कदाचित् होता है।

अल्पप्राण (वि०) कृपण, अनुदार, संकुचित चित्तवाला, (अल्पप्राणोऽयं घनिकः); अल्प समय तक जीने वाला, अल्पजीवी (जैसे, फतिंगे, कृमि, केचुए आदि), क्षणस्थायी।

अल्पवल (वि०) थोड़ी शक्ति का, दुर्बब, निर्वल।

अल्पबुद्धि (वि०) जो समझदार न हो, दुर्बल चित्त का, छोटी बुद्धि वाला, क्षुद्रचित्त, अनुदार, संकीर्ण विचार वाला। अंतःकरण की चार वृत्तियाँ हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार (अहंकारः देखिए)। यहाँ बुद्धि शब्द से समूचा अहंकार समझा जाता है। अंतः-करण की वृत्ति प्रायः वाहरी विषयों में ही जाती है। विषय सभी छोटे-छोटे हैं। इसी कारण वैषयिक बुद्धि को अल्पबुद्धि कहा गया है। नैयायिकों के आकाश, काल, दिक्, आत्मा आदि व्यापक होने पर भी भिन्न-भिन्न होने के कारण वस्तुओं से सीमाबद्ध हैं इस कारण यह भी छोटे ही हुए। अतः उनकी बुद्धि भी अल्प ही है। इस प्रकार की बुद्धि अनेक शाखाओं में विभक्त हैं (वहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्—गीता २।४१)। वहु शाखाएँ और अनंत होने के कारण साधारण लोगों की वृद्धि अल्प (छोटी-छोटी) ही है।

विचारवान पुरुष इंद्रियों के साथ अंतःकरण को वाहरी विषयों से मोड़कर सर्वव्यापक सच्चिदानंद अनंत आत्मा की ओर अभिमुखी कर लेते हैं। ऐसी स्थिति से अंतःकरण की जो आत्माकार बुद्धि उत्पन्न होती है, वह महान् और व्यापक है। उस बुद्धि में आत्मानंद की छाया पड़ जाने से वह भी आनंदमय हो जाती है। विषय-जनित दुःख, शोक आदि ऐसे आत्मज्ञानी को छू भी नहीं सकते और वह जीवन्मुक्त कहलाते हैं।

कृपण भी अल्पबुद्धि है, क्योंकि धन-संचय करने से उसकी रक्षा के लिए प्रयत्न में कष्ट है। धननाश की आशंका से बेचैनी है, उसका जीवन ही अशांतिमय है। धन संचित रखने से उसके मन में जो थोड़ा-बहुत सुख है, यदि वह उचित व्यय करता, तो उससे शत-गुना अधिक सुख पाता।

अल्पभाग्य (वि०) जो भाग्यवान न हो, अभागा।

अल्पभाषिन् (वि०) बहुत कम बोलने वाला, मितभाषी।

अल्पमतम् (न०) थोड़े से लोगों का मत (बहुमत का उलटा)।

अल्पमध्यम (वि०) पतली कमर वाला, क्षीण कटिवाला।

अल्पमात्रम् (न०) अल्प समय, अल्प क्षण।

अल्पमेधस् (वि०) कम समझ वाला, निर्बुद्धि, मूर्ख।

अल्पम्पच (वि०) थोड़ा पकाने वाला।

अल्परुज (वि०) जो कष्टदायक न हो, पीड़ारहित।

अल्पवादिन् (वि०) थोड़ा वोलने वाला, अल्प-भाषी, मितभाषी।

अल्पविद् (वि०) थोड़ा जानने वाला, अल्पज्ञ।

अल्पविद्य (वि०) अल्प पढ़ा-लिखा; मूर्ख, मूढ़ ।

अल्पशः (अव्य०) थोड़े अंश में ।

अल्पश्रुत (वि०) अल्प-पठित, कम पढ़ा-लिखा, अल्पविद्य, अपंडित । वेद का २।४ मंत्र या श्लोक पढ़ कर प्रायः लोग अपने को वेदज्ञ कहलाते हैं । वेद मानो उनसे डरता है कि वह मुझपर प्रहार करेगा अर्थात् अर्थ का अनर्थ कर डालेगा (बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदः माम् अयं प्रहरिष्यति—ब्रह्मवैवर्त० १२२।६३) (इन्द्रशत्रुः देखिए) ।

अल्पसंख्यकवर्गः (पुं०) किसी देश के निवासियों में जो संप्रदाय या जाति संख्या में अल्प हो ।

अल्पस्व (वि०) थोड़ी संपत्ति वाला ।

अल्पाकाङ्क्षिन् (वि०) थोड़ी इच्छा वाला, थोड़े में संतुष्ट होने वाला ।

अल्पायुस् (वि०) थोड़े दिन जीवित रहने वाला, जिसकी आयु बहुत थोड़ी हो ।

अल्पायुस् (पुं०) बकरी ।

अल्पारम्भः (पुं०) शुभकर्म के आरंभ में थोड़ा काम करना मंगलजनक है (अल्पारम्भा क्षेमकरी०) ।

अल्पाल्प (वि०) बहुत ही अल्प, अत्यंत थोड़ा ।

अल्पाहार, अल्पाहारिन् (वि०) अल्प भोजन करने वाला, थोड़ा खाने वाला ।

अल्पीकरणम् (न०) निंदा करना, मान घटाना, हीन करना, चूर्ण बनाना, सूक्ष्म बनाना ।

अल्पीयस् (वि०) अपेक्षाकृत कम या छोटा, बहुत छोटा या कम ।

अल्पेच्छु (वि०) थोड़ी इच्छा वाला, अल्पाकांक्षी ।

अल्ला (स्त्री०) माता, माँ, जननी ।

अव् (पर०) (अवति, आवित) बचाना, रक्षा करना (अवतु वो गिरिजासुता—रघु० । अवतु मामवतु वक्तारम्—तैत्तिरीयशान्ति०); सहारा देना, प्रसन्न करना, संतुष्ट करना, (न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी—रघु० १।६५) । पसंद करना, इच्छा करना, कृपा करना, उन्नति करना ।

अव (अव्य०) दूर पर, फासले पर, नीचे।

अवः (पुं०) [वेद] कृपा, अनुग्रह, (अवो अधा बृणीमहे—ऋग्वेद) ।

अवः [वेद] (पुं०) अन्न (अग्निर्गिरोऽवसा वेतु धीतिम्—ऋ० १।५।२५।४) ।

अवंश्य (वि०) वंश या परिवार से संबंध न रखने वाला ।

अव+आप् (पर०) (अवाप्नोति) प्राप्त करना, लाभ करना, पाना ।

अव+इ (पर०) (अवैति) जानना, ज्ञात होना ।

अव+ईक्ष् (आत्म०) (अवेक्षते) परिदर्शन करना, आलोचना करना, देखना (स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि—गीता० २।३१०) ।

अवकट (वि०) प्रतिकूल, विरुद्ध, नीचे की ओर का ।

अवकटम् (न०) प्रतिकूलता, विरुद्धता ।

अवकरः (पुं०) धूल, गरदा, रज ।

अवकर्तः (पुं०) टुकड़ा, खंड, धज्जी ।

अवकर्तनम् (न०) कटा हुआ अंश, कतरन ।

अवकर्षणम् (न०) बाहर निकलने की क्रिया, खींचने की क्रिया, बहिष्करण ।

अवकलित (वि०) अवलोकन किया हुआ, जाना हुआ ज्ञात, ग्रहण किया हुआ, गृहीत, प्राप्त ।

अवकाशः (पुं०) अवसर, खाली समय, छुट्टी, स्थान, खाली स्थान, अंतर ।

अवकाशग्रहणम् (न०) राजकार्य से सेवा निवृत्ति ।

अवकाशप्राप्त (वि०) राजकार्य से सेवानिवृत्त, अवसरप्राप्त ।

अवकाशस्वभाववत् (वि०) अवकाश-स्वरूप-युक्त, शून्य-स्वभाव वाला । पंचभूतों में आकाश ही अवकाश-स्वरूप वाला है। वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी में कुछ रोकने का तत्त्व है । वायु में शब्द उत्पन्न कर देने पर वह वायु-स्तरों में धक्के खाते-खाते आगे बढ़ता है । जल में ढेला फेंक देने पर उसके चारों ओर गोल होकर लहरें उठती हैं और आगे की ओर फैलती जाती हैं, उसी प्रकार शब्द उत्पन्न होते ही चारों ओर गोल होकर वायु की लहरें उत्पन्न होती हैं और वे दूर तक क्रमशः धीमी होकर पहुँचती हैं (वीचि-तरङ्गन्यायेन शब्दस्य शब्दान्तरोत्पत्तिः—तर्कसंग्रह ६२) । इसी कारण शब्द के पहुँचने में समय लगता है और दूर के शब्द सुनाई नहीं पड़ते; परंतु आकाश ही अवकाश-

स्वरूप है। आजकल के रेडियों-यंत्र से आकाश में जो शब्द उत्पन्न कर दिये जाते हैं वे उसी क्षण हजारों मील दूर के रेडियों-यंत्र में सुनाई पड़ते हैं।

घर के दरवाजे-जंगले में तथा खुले स्थान में अवकाश है। इसी कारण वहाँ लोग अनायास चल-फिर सकते हैं। आकाश के अवकाश-स्वरूप होने के कारण ही ऐसा होना संभव होता है। वेदांत के अनुसार आकाश माया की प्रथम कल्पना है (आद्योविकार आकाशः सोऽवकाश-स्वरूपवान्—पंचदशी २।६०)।

अवकाशात्मक (वि०) अवकाश ही जिसका आत्मा यानी स्वरूप है। आकाश ही इस सृष्टि में अवकाशात्मक है (अवकाश-स्वभाववत् देखिए) (अवकाशात्मकं तच्चेदसत्तदिति चिन्त्यताम्—पंचदशी २।६६)।

अवकिरणम् (न०) बुहारने की क्रिया।

अवकीर्ण, अवकीर्णिन् (वि०) धर्म से च्युत, धर्मभ्रष्ट, आच्छादित, भरा हुआ, उँड़ेला हुआ।

अवकीर्णी (पुं०) वह ब्रह्मचारी जिसने अपना ब्रह्मचर्य भंग कर दिया हो।

अवकीलकः (पुं०) खूँटी।

अवकुञ्चनम् (न०) खिंचाव, वक्रता।

अवकुण्ठनम् (न०) घिराव, घेरने की क्रिया या भाव, खिंचाव।

अवकुण्ठित (वि०) घिरा हुआ, खिंचा हुआ।

अवकुलपतिः (पुं०) विश्वविद्यालय के कुलपति के निम्नस्थ अधिकारी, प्रोचांकलर।

अव+कृ (पर०) (अवकिरति) आच्छादित करना, ढांकना, आवृत करना; गिराना, उड़ेलना, बिखेरना, छोड़ना, त्यागना।

अवकृष्ट (वि०) नीचे गिराया हुआ, अधःपातित, स्थानांतरित, निकाला हुआ, जाति-बहिष्कृत।

अवकृष्टः (पुं०) वह सेवक जो नीच काम करता है।

अवक्लृप् (उभ०) (अवकल्पयति, अवकल्पयते) उचित होना, उचित कल्पना करना (धर्मधर्मित्वं व्यत्ययेनावकल्पयेत्—पंच० २।६३)।

अवक्लृप्तिः (स्त्री०) उपयुक्तता, संभावना।

अवकेश (वि०) जिसका केश नीचे लटकता हो।

अवकेशिन् (वि०) फलरहित, अनुपजाऊ, बंजर।

अवकोकिल (वि०) कोकिल के द्वारा गिराया हुआ, कोकिल के द्वारा तिरस्कृत अर्थात् कोकिल से निकृष्ट।

अवक्तव्य (वि०) अकथनीय, कहने के अयोग्य।

अवक्तृ (वि०) जो न बोलता हो, मौन, चुप।

अवक्त्र (वि०) मुखरहित, बिना मुँह का, जिसमें मुँह न हो।

अवक्र (वि०) जो टेढ़ा न हो, सीधा, सरल।

अवक्रचेतस् (पुं०) अकुटिल व्यक्ति, अवक्र या सरल सूर्यप्रकाश की तरह सदा एक ही रूप में स्थित चित्त (विज्ञान) हैं जिसको वह अवक्रचेता अर्थात् नित्य ज्ञान-प्रकाश स्वरूप परमात्मा जो जन्मरहित है (पुरमेकादशद्वारम् अजस्यावक्रचेतसः—कठोपनिषद २।२।१)।

अवक्रन्द (वि०) धीरे-धीरे रोता हुआ, गर्जन करता हुआ, हिनहिनाता हुआ।

अवक्रन्दनम् (न०) जोर से रोने की क्रिया।

अवक्रमः (पुं०) उतार, ढाल।

अवक्रमणम् (न०) गर्भाधान, गर्गधारण, मकान का किराया।

अवक्रयः (पुं०) प्रतीकार, बदला, मूल्य, मजदूरी, किराया, राजस्व, किराये पर देने की क्रिया।

अवक्रान्तिः (स्त्री०) समीप आगमन, ढाल, उतार।

अवक्रिया (स्त्री०) छूट, भूल, चूक; निकृष्ट कर्म, खराब काम।

अवक्रीतम् (आत्म०) (अवक्रीणीते) अपने लिए खरीदना, किराये पर लेना, घूस देना, (न०) मकान का किरायादार।

अवक्रेता (पुं०) मकान जमीन आदि का मालिक जो किराये पर दूसरे को उन्हें देता है।

अवक्रेय (वि०) किराये पर देने योग्य।

अवक्रोशः (पुं०) आक्रोश, शाप, झिड़की, फटकार।

अवक्लेदः (पुं०) बूँद-बूँद टपकने की क्रिया, घाव में से निकलने वाला तरल पीब आदि पदार्थ।

अवक्षयः (पुं०) क्रमिक क्षय या ह्रास, नाश, हानि, सड़ने की क्रिया या भाव सँड़ाध।

अवक्षिप् (पर०) (अवक्षिपति) निक्षेप करना, फेंक देना, नीचे गिराना।

अवक्षिप्त (वि०) निक्षिप्त, फेंका या गिराया हुआ।

अवक्षेपः (पुं०) धमकी, निंदा, दोषदर्शन, नीचे निक्षेप, तलछट।

अवक्षेपणम् (न०) नीचे निक्षेप।

वैशेषिक दर्शन के मत में कर्म पाँच प्रकार के हैं—१. उत्क्षेपणम्—ऊपर निक्षेप, २. अवक्षेपणम्—नीचे निक्षेप, ३. आकुञ्चनम्—संकोचन, सिकुड़न, ४. प्रसारणम्—फैलाव, विस्तार, ५. गमनम्—गमन, चलना, (उत्क्षेपणं ततोऽवक्षेपणम् आकुञ्चनं तथा। प्रसारणञ्च गमनं कर्माण्येतानि पञ्च च—भाषापरिच्छेद ५); दोषारोपण, वशवर्ती करण, भर्त्सना, तिरस्कार, फटकार।

अवक्षेपणी (स्त्री०) लगाम, रास।

अवखण्डनम् (न०) विभक्त करने की क्रिया, विभाजन, नाश करने की क्रिया।

अवखातम् (न०) गहरा गड्ढा या खाई।

अव+गण् (पर०) (अवगणयति) अवज्ञा करना, अनादर करना, तुच्छ समझना।

अवगणनम् (न०) अवज्ञा, तिरस्कार, अवहेलना, दोषारोपण, अपमान।

अवगणित (वि०) अवज्ञात, अपमानित, अनादृत, जो अनावश्यक समझ कर गिना न गया हो, तुच्छ, नगण्य।

अवगण्डः (पुं०) व्रण, फोड़ा, मुँहासा, अबोध शिशु।

अवगत (वि०) ज्ञात, जाना हुआ, विदित, प्रतिपन्न, मत, प्रतीत।

अवगतिः (स्त्री०) निश्चयात्मक ज्ञान, समझ।

अवगध (वि०) प्रातःस्नान, जिसने सुबह स्नान किया है, प्रातःस्नान करने वाला, प्रातःस्नायी।

अवगदित (वि०) न कहा हुआ, अकथित।

अवगन्तव्य (वि०) जानने योग्य, समझने योग्य (आत्मा अवगन्तव्यः)।

अव+गम् (उभ०) (अवगच्छति, अवगम्यते) जानना (यद् यद् विभूतिमद् सत्त्वं श्रीमद् उर्जितमेव वा तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्—गीता १०।४१। एकादशेन्द्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यवगम्यते—पञ्च २।१८)।

अवगमः (पुं०), अवगमनम् (न०) ज्ञान, अनुभूति, शिक्षा, ऊपर से नीचे उतरने की क्रिया।

अवगमक (वि०) बोधक, शिक्षक, आशय-प्रकाशक।

अवगमयित (वि०) अवगत करने वाला, समझाने वाला, जुहाने वाला।

अवगम्य (वि०) समझने योग्य।

अवगर्हित (वि०) घृणित, निंदित, तुच्छ।

अवगाड (वि०) डूबा हुआ, घुसा हुआ, प्रविष्ट, ढीला, गहरा, जमा हुआ।

अवगादः (पुं०) जलद्रोणी, नौकाजल सेचन का पात्र।

अवगाध (वि०) स्नात, स्नान किया हुआ, निमज्जित।

अव+गाह् (आत्म०) (अवगाहते) स्नान करना, नहाना, डूबना, घुसना, लवलीन होना।

अवगाहः (पुं०), अवगाहनम् (न०) निमज्जन, स्नान, पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने की क्रिया।

अवगीत (वि०) बिना सुर का गाया हुआ, निकृष्ट रीति से गाया हुआ, शापित, दुष्ट, निंदित, गर्हित।

अवगीतम् (न०) लोकापवाद, निंदा, बदनामी।

अवगीर्ण (वि०) निगला हुआ, गलाधःकृत।

अवगुणः (पुं०) दोष, त्रुटि।

अवगुण्ठनम् (न०) ढकने की क्रिया, छिपाने की क्रिया, घूँघट, परदा।

अवगुण्ठनवत् (वि०) घूँघट से आच्छादित।

अवगुण्ठनवती (स्त्री०) घूँघटवाली, लज्जाशीला स्त्री।

अवगुण्ठिका (स्त्री०) स्त्रीमुखावरण, घूँघट, परदा।

अवगुण्ठित (वि०) घूँघट न निकाला हुआ, ढका हुआ, छिपा हुआ।

अवगुण्डित (वि०) चूर्ण किया हुआ, चूर्णित।

अव+गुर (उभ०) (अवगूरयति, अवगूरयते) मारने के लिए डंडा उठाना (यो ब्राह्मणायावगूरेद् तं शतेन यातयेत्, यो निहन्यात् तं सहस्रेण—शास्य-दीपिका। अवगूर्य चरेत् कृच्छ्रमतिकृच्छ्रं निपातने—मनु० ११।२०८। तस्मात् ब्राह्मणान् नावगूरयेत् न हन्यात् न लोहितं कुर्यात्—प्रायश्चित्ततत्त्व)।

अवगूरणम् (न०) मार डालने के उद्देश्य से हमला करने की क्रिया, हथियार से आक्रमण करने की क्रिया।

अवगूर्ण (वि०) मार डालने की धमकी के साथ आक्रांत।

अवगूह् (पर०) (अवगूहति) छिपाना, भीतर रखना, आलिंगन करना।

अवगूहनम् (न०) छिपाव, दुराव, घूरना, आलिंगन, गले लगाना।

अवगृह्य (वि०) विभक्त करने योग्य, विभाजनीय।

अवगोरणम् (न०) मारने के लिए दंडोत्तोलन (दण्ड-निपात-प्रायश्चित्तेनैव गुरुणा तन्नान्तरीयकावगोरण-प्रायश्चित्तमपि सम्पद्यते—प्राय० विवेक)।

अव+ग्रह् (पर०) (अवगृह्णाति) पीड़न करना, सताना, धमकाना, शाप देना, कोसना, जाने देना, ढीला करना, विभक्त करना, अनुभव करना।

अवग्रहः (पुं०) वृष्टिरोध, सूखा, बाधा, रोक, रुकावट, अड़चन, गजसमूह, ज्ञानविशेष, शाप, स्वभाव, पदच्छेद, अक्षरविन्यास, बोध, हाथी का सिर, गाली, हस्तियुथ, अंकुश, अनुग्रहाभाव, अकृपा, चोरी, दंड, सजा।

अवग्रहणम् (न०) प्रतिरोध, रोक, अनादर, अपमान, घृणा, उपेक्षा, अश्रद्धा, अपसारण।

अवग्राहः (पुं०) वृष्टिरोध, सूखा, शाप, हाथी का ललाट, रोक, रुकावट, विलगाव,।

अवघट्टः (पुं०) गुफा, खोह, अनाज पीसने की चक्की, हिलाकर एक में मिलाने की क्रिया।

अवघट्टनम् (न०) घर्षण, रगड़, ढकेलना।

अवघट्टित (वि०) घर्षण किया हुआ, घर्षित।

अवघर्षणम् (न०) रगड़, पीसने की क्रिया, रंग आदि मल कर साफ करना।

अवघातः (पुं०) प्रहार, आघात, चोट, वध, हत्या, अपमृत्यु।

अवघूर्णनम् (न०) चक्कर, घुमटा।

अवघूर्णित (वि०) कंपित, आन्दोलित।

अवघोषणा (स्त्री०) ढिंढोरा, मुनादी, राजसूचना।

अव+घ्रा (पर०) (अवजिघ्रति) सूंघना (अवजिघ्रान्ति पुष्पं लोकाः)।

अवघ्राणम् (न०) सूँघने की क्रिया।

अवघ्रात (वि०) चूमा हुआ, चुंबित।

अवघ्रेय (वि०) सूँघने योग्य।

अवचन (वि०) न बोलने वाला, शांत, मौन।

अवचनम् (न०) वचन का अभाव, मौनता, दोषारोपण, डाँट-फटकार, झिड़की।

अवचनीय (वि०) बोलने के अयोग्य, कहने के अयोग्य, अनुचित।

अवचयः (पुं०) संग्रह, संचय (फूलों आदि का)।

अवचस्कर (वि०) मौन, शांत, चुप, न बोलता हुआ, कहना न मानने वाला।

अवचाकशत् (क्रि) [वेद] प्रकाशित किया (जनानां धेना अवचाकशद् वृषा—ऋ० ७।८।२५।१)।

अवचादिन् (वि०) संग्रह करने वाला, चुननेवाला, इकट्ठा करने वाला।

अवचारः (पुं०) दुराचरण, खोटी चाल-चलन, बुरा बरताव, दुश्चरित्रता।

अवचारणम् (न०) किसी काम में लगाने की क्रिया, आगे बढ़ने की विधि।

अवचारित (वि०) लगाया हुआ, संयोज्य।

अवचित (वि०) संग्रह किया हुआ, संग्रहीत, एकत्रित।

अवचूडः, अवचूलः (पुं०) ध्वजा की सजावट के लिए लटकाया हुआ कलँगी या गुच्छा।

अवचूरिः (स्त्री०) टीका, संक्षिप्त व्याख्या।

अवचूर्णनम् (न०) पीसना, पीसकर चूर्ण बनाना, घाव आदि पर दवा की बुकनी या चूर्ण छिड़कना।

अवचूर्णित (वि०) विशेष रूप से चूर्ण किया हुआ, विचूर्णित।

अवचूलकः (पुं०), अवचूलनम् (न०) चौरी, जिससे मक्खियाँ उड़ाई जाती हैं और जो गाय की पूंछ अथवा मोर के पर से बनायी जाती है।

अवचेतन (वि०) अर्धचेतन, वृक्ष-लतादि भी अवचेतन हैं।

अवच्छदः (पुं०) ढक्कन, आवरण।

अवच्छन्न (वि०) ढका हुआ, छाया हुआ, आच्छादित।

अवच्छिन्न (वि०) काटकर पृथक किया हुआ, विभाजित, सीमित, घिरा हुआ, निश्चित किया हुआ, संशोधित किया हुआ।

राजा भगीरथ हिमालय के वरफाच्छन्न शिखर पर बैठकर तपस्या द्वारा पतितपावनी गंगा को पृथ्वीपर उतार लाये थे। वह शंख फूंकते हुए पहाड़ी मार्ग से गंगा को देवप्रयाग तक लाये थे। यहाँ स्वर्गगंगा अलकनंदा वदारिकाश्रम से आकर गंगा से मिल गयी और वह गंगा

बन गयी। वहाँ से हृषीकेश होकर गंगा हरद्वार तक उतर आयी। यहाँ से राजा भगीरथ के खोदे हुए नाले से गंगा काशी होकर पूर्व समुद्र में जा मिली (भगीरथखातावच्छिन्न-जलप्रवाहो गंगा)।

अवच्छुरित (वि०) मिला हुआ, मिश्रित।

अवच्छुरितम् (न०) अट्टहास्य, ठहाका, खिलखिलाहट।

अवच्छेद: (पुं०) खंड. टुकड़ा, भाग, सीमा, विशेषता, निश्चय, वियोग, लक्षण, चिह्न, निर्णय, सीमाबद्धकरण।

अवच्छेदक (वि०) भेदने या छेदने वाला, सीमाबद्ध करने वाला, पृथक करने वाला।

अवच्छेदक: (पुं०) असाधारण धर्म, जैसे अग्नि की उष्णाता, जल की शीतलता, घट का घटत्व।

अवच्छेदनम् (न०) छेदन करना, काटना, विभक्त करना।

अवच्छेद्य (वि०) छेदन करने योग्य, विभक्त करने योग्य।

अव+छद् (उभ०) (अवछादयति, अवछादयते) आच्छादित करना, ढाकना, गुप्त रखना।

अवजय (पुं०) पराजय, हार।

अवजित (वि०) विजित, जीता हुआ।

अवजिति: (स्त्री०) विजय, जीत।

अवज्ञा (स्त्री०) धृणा, अनादर, अप्रतिष्ठा; द्वैत पर अवता (अनास्था) सुस्थित होने से अद्वैतबुद्धि स्थिर होती है (द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैतधीः स्थिरा भवेत्—पंच २।१०२)।

अवज्ञात (वि०) अनादृत, घृणित, अप्रतिष्ठित।

अवज्ञा या निंदा आसुरी संपद है। इससे मनुष्य को हानि पहुँचती है। किसी मनुष्य या वस्तु को आदर के साथ ग्रहण करने या उनकी प्रशंसा करने से चित्त प्रसन्न हो जाता है, मुखमंडल पर आनंद की लहरें उमड़ने लगती हैं। यह दैवी संपद का परिणाम है और इसी से मनुष्य को लाभ है। दूसरी ओर किसी की अवज्ञा, अपमान, निंदा या तिरस्कार करने से अपना ही चित्त खिन्न हो जाता है, चेहरे पर झुर्रियाँ आ जाती हैं, मुखमंडल काला हो जाता है, यह आसुरी संपद का परिणाम है और इससे मनुष्य को हानि होती है (दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मताः—गीता १६।५)। अर्थात् दैवी संपद मुक्ति के लिए तथा आसुरी संपद बंधन के लिए है।

अवज्ञानम् (न०) अवज्ञा, अनादर, असम्मान।

अवज्ञेय (वि०) घृणा करने योग्य, अनादर के योग्य, अप्रतिष्ठा के योग्य. तिरस्करणीय।

अवज्योतनम् (न०) चमक, द्युति, प्रकाश।

अवट: (पुं०) छिद्र, रंध्र, सुराख, छेद, गह्वर, गड्ढा, कूप, खाल, चमड़ा, शरीर का कोई निचला भाग।

अवटकच्छप: (पुं०) गढ़े का कछुआ अर्थात् वह व्यक्ति जिसे संसार का कोई भी अनुभव न हो।

अवटविरोधनम् (न०) एक नरक का नाम।

अवटि: (स्त्री०) जमीन में किया हुआ गढ़ा, सुरंग, तहखाना।

अवटीट (वि०) चिपटी नाक वाला।

अवटु: (पुं०) (स्त्री०) सुरंग, कूप, गरदन का पृष्ठ भाग, शरीर का कोई दबा हुआ अंश या भाग।

अवटुम् (न०) सूराख, छिद्र, दरार।

अवडङ्ग: (पुं०) बाजार, हाट।

अवडीनम् (न०) उड़ान, नीचे की ओर उड़ना।

अवतंस: (पुं०), अवतंसनम् (न०) गले का हार, अगूँठी के आकार का एक गहना, कर्णभूषण, मुकुट की कलँगी, ताज।

अवतंसित (वि०) माला या हार वाला।

अवत: (पुं०) कूआँ (द्रोणाहावमवतमश्मचक्रम्—ऋ० ८।५।१६।१)।

ववतक्षणम् (न०) किसी वस्तु का टुकड़ा-टुकड़ा करना, खंड-खड करना।

अवतत (वि०) फैला हुआ, विस्तृत, छाया हुआ, आच्छादित, उतरा हुआ।

अवततधन्वन् (वि०) जिसका धनुष झुका हुआ न हो।

अवतति: (स्त्री०) फैलाव, विस्तार, आच्छादन।

अव+तन् (उभ०) (अवतनोति, अवतनुते) व्याप्त होना, फैल जाना।

अवतप्त (वि०) गरम किया हुआ, प्रकाशित।

अवतमसम् (न०) धुँधला अंधकार, अँधेरा, धुंध।

अवतर: (पुं०) उतार, पतन, ह्रास।

अवतरणम् (न०) स्नान करने के लिए जल में उतरना, प्रादुर्भाव, जन्मग्रहण करना, पार उतरने की क्रिया, अनुवाद, उल्था, भूमिका, प्रतिकृति, नकल, अनुकरण।

अवतरणिका (स्त्री०) ग्रंथ की भूमिका, प्रस्तावना, रीति, परिपाटी ।

अवतर्पणम् (न०) शांत करने वाला उपाय या युक्ति ।

अवतल (वि०) नतोदर, कड़ाही के आकार का, जिस बर्तन का मध्य स्थान नीचा हो (कान्केव) ।

अवताड़नम् (न०) कुचलना, रौंदना, आघात, प्रहार, मारण ।

अवतानः (पुं०) फैलाव, विस्तार, झुके हुए धनुष को सीधा करने की क्रिया, परदा, ढक्कन ।

अवतापिन् (वि०) ऊपर से गरमी पहुँचाया हुआ (सूर्य के द्वारा) ।

अवतारः (पुं०) उतार, उत्पत्ति, आगमन, प्रादुर्भाव, जलाशय, भूमिका, अनुवाद, किसी देवता या स्वयं ईश्वर का पृथ्वी पर जन्मग्रहण ।

पुराणों के अनुसार पूर्ण ब्रह्म भगवान के रूप में या अंश रूप में जीवदेह में संसार में अवतरित होते हैं और वे अधर्म का नाश, धर्म की स्थापना तथा जीवों का उद्धार करते हैं । तैत्तिरीय संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण में अवतार का विवरण मिलता है । शतपथ ब्राह्मण में प्रजापति या ब्रह्मा के शूकर, कूर्म और मत्स्य अवतारों के द्वारा पृथ्वी की रचना और रक्षा की जाने का उल्लेख मिलता है । पृथ्वी की रक्षा के लिए विष्णु ने अनेक वार अवतार के रूप में जन्म-ग्रहण किया है । दुष्कर्म के दमन तथा धर्म के स्थापन के लिए उन्हें वार-वार जन्म लेना पड़ा है । श्रीकृष्ण ने गीता में कहा भी है कि साधुओं के परित्राण, दुष्टों के विनाश तथा धर्म के संस्थापन के लिए मैं हर युग में प्रकट होता हूँ । महाभारत-काल में जब विष्णु सर्व-श्रेष्ठ देवता माने जाते थे तब से अवतार रूप से उनकी प्रसिद्धि हुई । पुराणकाल में विष्णु दस अवतारों में पूर्ण प्रकाशमान हुए, जैसे—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, रामचंद्र, बलराम, बुद्ध और कल्कि (मत्स्यकूर्म-वराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा । रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्किस्तथैव च—पद्मपुराण) ।

सर्वव्यापक निराकार परमात्मा का किसी स्थूल लौकिक रूप धारण करके संसार में प्रकट होना एक अपूर्व विषय है । इस लिए अवतार के विषय में अनेक प्रकार की शंकाएँ तथा अनेक प्रकार की चिंताएँ हुआ करती हैं । इच्छा-रहित भगवान के अंतःकरण में संसार में प्रकट होकर संसारी की तरह लीला करने की आकांक्षा कैसे हो सकती है ? माया-निर्मुक्त निराकार परमात्मा मायामय स्थूल शरीर कैसे ग्रहण कर सकते हैं ? देश काल वस्तु के द्वारा सीमा-रहित जो परमात्मा पहले ही सर्वत्र विद्यमान हैं वे कहीं से कहीं आ कैसे सकते हैं । क्योंकि यदि वे कहीं होते और कहीं न होते तो, जहाँ हैं वहाँ से जहाँ नहीं थे वहाँ आ सकते थे । परंतु जब परमात्मा पहले से ही सर्वत्र विराजमान हैं तो, किसी स्थान से स्थानांतर में जाना-आना उनके लिए कैसे संभव हो सकता है ? और यदि किसी कारण उनका आना संभव ही मान लिया जाय तो भी यह संदेह नहीं निवृत्त होता कि उनको इस प्रकार से स्थूल शरीर के चक्र में आने का प्रयोजन क्या हो सकता है ? क्योंकि जब वे सर्वशक्तिमान हैं तो विना स्थूल शरीर धारण किये ही इच्छा मात्र से दुष्टदमन तथा संसार की रक्षा कर सकते हैं । परंतु भक्तों के प्रार्थनानुसार प्रख्यात होने के लिए श्रीभगवान माया के संयोग से जीव, अवतार आदि अनेक रूप धारण करते हैं । उनके शत-शत रूप हैं, उनमें से १० अवतारों के १० रूप मुख्य हैं (रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश—ऋग्वेद मं० ६ अ० ४ सू० ४७ म० १८) ।

यजुर्वेद में भी लिखा है—प्रजापति भगवान स्थूल गर्भ में उत्पन्न होते हैं, उनका कोई भी वास्तविक जन्म न होने पर भी वह अनेक रूपों में उत्पन्न होते हैं । धीर योगी ही उनके इस प्रकार के अवतारादि रूपों की महीमा तथा स्वरूप को जान सकते हैं और समस्त विश्व उन्हीं में स्थित है (प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो वहुधा विजायते । तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः तस्मिन् हिं तस्थुर्भुवनानि विश्वा—यजु० अ० ३१ म० १९) । श्रीमद्भागवत में लिखा है—चराचर संसार की रक्षा के लिए ज्ञान-स्वरूप परमात्मा रूप धारण कर आते हैं, उनका अवतार धार्मिकों के लिए सुखकर और अधार्मिकों के लिए नाशकर होता है (स्कं० १० अ० २) । गीता में लिखा है—अजन्मा अव्यय और भूतों के ईश्वर होने पर भी माया के आश्रय से परमात्मा संसार में अवतार रूप से उत्पन्न होते हैं । धर्म की ग्लानि और अधर्म की वृद्धि जिस-जिस काल में होने लगती है, उसी समय भगवान अवतार धारण करते हैं । साधुओं की रक्षा, पापियों का नाश और युगानुसार

धर्म-व्यवस्था के लिए युग-युग में परमात्मा का अवतार होता है (अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानाभीश्वरोऽपि सन् प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममापया। यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानमर्धस्य तदात्मानं सृजाम्गहम्। परित्राणाय साधूनां विनाशय च दुष्कृतां धर्म-संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे—४।६-८)।

परमात्मा की सत्ता के विभु होने से वे सर्वत्र व्याप्त हैं। इसलिए कहीं से कहीं आना जाना इनके लिए अवश्य हो असंभव तथा विज्ञान-विरुद्ध है। परंतु इससे अवतार होना असंभव है —यह बात ठीक नहीं है। "अवतार" कहीं से कहीं आ जाने पर या उतर आने का नाम नहीं है, परंतु सर्वव्यापक परमात्मा की किसी विशेष केंद्र द्वारा शक्ति प्रकट होने का नाम अवतार है। अवतार शब्द द्वारा जो अवतरण अर्थात् नीचे उतर आने का भाव प्रकट होता है उसका तात्पर्य भावमूलक है। उनकी विशेष शक्ति का माया के द्वारा संबंधित होना और ऐसा होकर प्रकट होना ही भावराज्य में अवतरण कहा जा सकता है। इसीलिए शक्ति के प्राकट्य को "अवतार" शब्द से कहा गया है। अब इस प्रकार से भगवान की शक्ति का विकास कैसे हो सकता है ? परमात्मा के सर्वव्यापक होने से उनकी शक्ति भी सर्वव्यापिनी है। उनके आश्रय पर आधारित जड़-चेतनात्मक दृश्य संसार के द्वारा उनकी वह शक्ति विकास-प्राप्त होती है। इसलिए जड़ चेतनात्मक समस्त संसार में जो कुछ शक्ति देखी जाती है वह इन्हीं की शक्ति है। जब शक्ति के आधारभूत महाशक्ति जगदंबा ही उनकी शक्ति-स्वरूपिणी है तब संसार में विकासशील समस्त शक्तियाँ उन्हीं की होंगी इसमें सन्देह ही क्या है ? (एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा—दुर्गाशप्तशती १०।५)।

केनोपनिषद् में इंद्रादि देवताओं के अहंकार-नाश के छल से इस भगवत्-शक्ति की परम-महिमा तथा सबके निदान होने का प्रमाण है। समस्त श्रुतियों में जिस प्राण-शक्ति को जगत की क्रियाओं का मूल कारण कहा गया है (परमात्मा—"प्राणस्थ प्राणः"—केनोपनिषद् १।२)।

श्रीमद्भागवत में लिखा है—जिसके श्वास अर्थात् शक्ति की प्रेरणा से समस्त संसार-स्थित जीवों की प्राण-क्रिया चलती है, जिसकी चित्सत्ता को प्रेरणा होने पर जगत के जीवों में चेतना तथा ज्ञान का विकास होता है, समस्त विश्व सर्षप (सरसों) की तरह जिस पर घूमता रहता है, अनंत-मस्तक-युक्त, अनंत-शक्तिमान उस परमात्मा को नमस्कार है। परमात्मा की यह शक्ति विश्व-जगत में किस प्रकार विस्तार प्राप्त होती है, इस संबंध में श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है—अद्वितीय एकरस एक-वर्ण परमात्मा की शक्ति के संयोग द्वारा ही द्वैतमय अनेक रसों, अनेक वर्णों वाली सृष्टि का विस्तार हुआ है। उनकी वह शक्ति अग्नि में, जल में, ओषधियों में, वनस्पतियों में तथा समस्त संसार में व्याप्त हो रही है (य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति। यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश। य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाप नमोनमः—४।१, २।१७)।

इस शक्ति का प्रकाश कैसे होता है इस विषय में पंचदशीकार ने लिखा है कि—अद्वितीय ब्रह्म में शक्ति पूर्ण है। इस शक्ति का दृश्य के आश्रय से जब विकास होता है, तभी दृश्य जगत में इसका प्रकाश होता है। विकास-प्राप्त वह शक्ति शास्त्रों में 'कला' नाम से कही जाती है और १६ शब्द पूर्णता का प्रकाशक होने से जहाँ पूर्ण-शक्ति का विकास हो वहाँ १६ कलाशक्तियाँ प्रकट हुई (सर्वशक्तिमयं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम्। यथोल्लसति शक्त्यासौ प्रकाशमधिगच्छति—पंचदशी १२।२१)।

जिस प्रकार पूर्णचंद्र षोड़शकलापूर्ण कहा जाता है उसी प्रकार पूर्ण शक्ति भी षोडश कलाओं की शक्ति कही जाती है। इसलिए परमात्मा में पूर्ण शक्ति के विद्यमान रहने से परमात्मा षोड़शकलाओं से पूर्ण है। प्रश्नोपनिषद में लिखा है—सर्वदर्शी सर्वशक्तिमान परमात्मा में षोड़शकलायुक्त शक्ति शोभायमान है (एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोड़शकलाः पुरुषायणाः ६।५) छान्दोग्योपनिषद में लिखा है—परमात्मा षोड़शकला-शक्ति से युक्त हैं। परमात्मा की यह १६ कलाशक्तियाँ जड़चेतनात्मक समस्त जगत में व्याप्त हैं और जीव अपनी योनि में जितना उन्नत होता जाता है, परमात्मा की यह कला उतनी ही जीव के आश्रय से विकास-प्राप्त होने लगती है। कला-विकास का तारतम्य ही जीव-योनि की उन्नति या अवनति का सूचक है।

एक योनि का जीव अन्य योनि के जीव से उन्नत इसलिए है कि उसमें अन्य योनि के जीवों से भगवत-कला का विकास अधिक है। सृष्टि में उद्भिज्ज सृष्टि ही प्रथम है। इसमें षोड़शकलाओं में से एक कला का विकास केवल अन्नमय कोष युक्त उद्भिज्ज में ही होगा। छांदोग्योपनिशद्

में लिखा है—षोड़शकलाओं में से एक कला अन्न में मिलाकर अन्नमयकोष द्वारा प्रकट हुई। समस्त योनियों में से उद्भिज्ज योनी द्वारा भगवद्-शक्ति की एक कला प्रकट होती है।

इसी क्रम के अनुसार परवर्ती जीव-योनि स्वेदज में दो कलाओं, अंडज में तीन कलाओं और जरायुज के अंतर्गत पशु-योनि में चार कलाओं का विकास होता है। तदनंतर मनुष्य-योनि में आकर साधारण मनुष्य से विभूतियुक्त मनुष्य पर्यंत पाँच कलाओं से आठ कलाओं तक भगवत-शक्ति का विकास होता है। इस प्रकार से एक कला से ले कर आठ कलाओं तक शक्ति का विकास लौकिक रूप से होगा, अर्थात् पूर्णकलाओं के आधे तक लौकिक कोटि है। तदनंतर नव कलाओं से लेकर षोड़शकलाओं तक शक्ति का विकास जिन केंद्रों द्वारा होगा वह, आधे से अधिक होने से अलौकिक कोटि के अंतर्गत है। इसलिए नव कलाओं से सोलह कलाओं तक जीव-कोटि न हो कर अवतार कोटि कहलाती हैं। अर्थात् जिन केंद्रों के द्वारा भगवान की शक्ति नव कलाओं से लेकर सोलह कलाओं तक विकास को प्राप्त होगी वे सब केंद्र जीव न कहला कर अवतार कहलायेंगे। चाहे वे सब केंद्र ऊपर के मनुष्य अथवा मनुष्य-योनि के नीचे के जीवों के शरीर की तरह क्यों न दिखें, तथापि अलौकिक शक्ति का आधार होने से, वे सब असाधारण केंद्र हैं; साधारण मनुष्य अथवा उसके नीचे के जीवों के केंद्र नहीं हैं; क्योंकि, साधारण तथा विभूति पर्यंत जीव-शरीरों में इस प्रकार की अलौकिक शक्ति धारण करने की योग्यता या उपादान नहीं है।

अतः ये सब अवतार के ही केंद्र हैं—ऐसा आर्य शास्त्रों में सिद्धांत-निश्चय किया गया है। नव कलाओं से लेकर पन्द्रह कलाओं तक अंशावतार और षोड़शकला से पूर्ण केंद्र ही पूर्णावतार का केंद्र है। पंचकोशों में से अन्नमय कोश का उद्भिज्ज योनि में अपूर्व रूप से प्रकट होना एक कला के विकास का ही फल रूप है। ओषधि, वनस्पति, वृक्ष तथा लताओं में जो संसार के जीवों की प्राण धारण करने वाली तथा पुष्टि देने वाली शक्ति है वह भगवत शक्ति की एक कला के विकास का ही फल-रूप है। स्वेदज, अंडज, जरायुज, पशु, मनुष्य तथा देवता पर्यंत की तृप्ति अन्नमय कोश द्वारा उद्भिज्ज ही किया करते हैं। संसार की मनोहारिता ब्रह्मांड-प्रकृति में स्थिति-दशा की अपूर्व शोभा, विष्णु भगवान का अनेक वैचित्र्य-पूर्ण रूप-विलास—ये सभी उद्भिज्ज जगत में ईश्वरीय एक कला के विकास का मधुर फल-रूप है। केवल एक कला का विकास होते ही उद्भिज्जों में जीव-भाव का विकास तथा समस्त इंद्रियों की क्रिया तक देखने में आती है—जो आजकल वैज्ञानिक यंत्रों द्वारा भी प्रमाणित हो चुकी है। महाभारत के शांति-पर्व में वर्णन किया गया है—गरमी के दिनों में गरमी लगने से वृक्षों के पर्ण, त्वचा, फल, पुष्प आदि मलिन तथा शीर्ण हो जाते हैं; अतः उद्भिज्जों में स्पर्शेंद्रिय विद्यमान है। प्रबल वायु, अग्नि तथा वज्र के शब्द से वृक्षों के फल पुष्प शीर्ण हो जाते हैं। कान के द्वारा शब्द सुनने से ही ऐसा होता है, अतः उद्भिज्जों में श्रवणेंद्रिय भी विद्यमान है। लता वृक्षों को वेष्टन करती हुई सर्वत्र जाती है। आँख से देखे बिना मार्ग का निर्णय नहीं हो सकता, अतः उद्भिज्जों में दर्शनेंद्रिय भी विद्यमान है।

अच्छी-बुरी गंध तथा नानाप्रकार के धूपों की गंध से वृक्ष नीरोग और पुष्पित होने लगते हैं। अतः उद्भिज्जों में सूँघने की शक्ति वर्तमान है। पाँव (जड़) के द्वारा जलपान, रोग होना तथा रोग का आराम होना भी उनमें देखे जाते हैं। अतः उद्भिज्जों में रसनेंद्रिय भी विद्यमान है। डंडी के मुख द्वारा जिस प्रकार से कमल ऊपर की ओर से जल ग्रहण करता है उसी प्रकार वायु से संयुक्त होकर पाँव के द्वारा भी वृक्ष जलपान करता है—यही सब उद्भिज्जों में रसनेंद्रिय का अस्तित्व सिद्ध करता है। उद्भिज्जों में जो सुख-दुःख के अनुभव करने की शक्ति देखने में आती है, टूट जाने पर पुनः नूतन शाखा-पत्रादि को भी जो उत्पत्ति देखी जाती है इससे प्रमाणित होता है कि उद्भिज्जों में जीवत्व है, वे अचेतन नहीं हैं। उद्भिज्जों में सुख-दुःख के ग्रहण की शक्ति के विषय में मनुसंहिता में लिखा है—कर्म-जनित अनेक प्रकार के तमोभावों द्वारा उद्भिज्ज के आवृत रहने पर भी भीतर ही भीतर सुख-दुःख का बोध इनको अवश्य होता रहता है (तमसा बहुरूपेण वेष्टिता कर्महेतुना। अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः—मनु० १।४९)।

कई बार जंगलों में ऐसी घटना देखी गयी है कि किसी ऊँचे वृक्ष के काटने के समय उसकी छाया में

स्थित छोटा वृक्ष 'मुझे भी काट डालेगा' इस प्रकार की चिंता करके डर से सूखने लग गया। उद्भिज्ज संबंधी ऐतिहासिकों ने यह प्रमाणित कर दिखाया है कि बहुत दिनों तक यदि किसी वृक्ष के नीचे ताजे वृक्षों को लाकर चीरा जाय तो वह वृक्ष कुछ दिनों के बाद अपने आप ही सूख जाया करता है। ये सब उद्भिज्जों में सुख-दुःख अनुभव करने के लक्षण हैं।

हाथ के स्पर्शमात्र से लजवंती लता आदि का संकुचित होना तो प्रत्यक्ष हो है, जिससे स्पर्शेंद्रिय की शक्ति उद्भिज्जों में प्रमाणित होती है। मनुष्य की तरह दिन में जागना और रात को सो जाना, यह वृक्षों के विषय में आज-कल के वैज्ञानिकों ने प्रमाणित कर दिया है। रात को निद्रित वृक्षों पर अस्त्र चलाना स्मृति-शास्त्र में पाप बताया गया है। वृक्ष श्वास-प्रश्वास लेते हैं और दिन में आक्सीजन गैस तथा रात को कार्बन गैस श्वास-प्रश्वास द्वारा त्याग करते हैं—यही विषय आजकल वैज्ञानिक पुरुषों ने भी देख लिया है। ये सभी उद्भिज्जों में भगवत-शक्ति की एक कला के विकास के फल हैं।

पृथिवी के गंध-गुण का विकास उद्भिज्जों के द्वारा जितना होता है उतना और किसी जीव से नहीं होता। प्रायः समस्त प्रकार के सुगंध द्रव्यों की उत्पत्ति उद्भिज्जों के रस तथा गंधों से ही होतो है। जीव-शरीर को रोगो तथा नीरोग बनाने की शक्ति उद्भिज्जों में अपूर्व है; जिस कारण उनसे कितने ही चिकित्साशास्त्रों की उत्पत्ति हो गई है। आयुर्वेद-शास्त्र का तो सिद्धांत ही है कि कोई भी उद्भिज्ज औषध के गुण से शून्य नहीं है। अपनी गंध तथा गैस से हँसाने की, रुलाने की, मूर्छित कर देने की, रोगी या अरोगी बनाने की शक्ति उद्भिज्जयोनि में अपूर्व है। संसार में ऐसी-ऐसी विषलताएँ विद्यमान हैं जिनके पास से होकर निकलने से मनुष्य आकृष्ट और मूर्छित होकर मर जाता है। अफ्रिका आदि देशों के कई एक स्थानों में कीट खानेवाले, पक्षी खाने वाले, पशु खाने वाले तथा मनुष्य खाने वाले वृक्ष भी देखने में आते हैं। इन सब वृक्षों के ऊपर खुले हुए पत्तों के भीतर कोई भी जीव यदि अचानक आ जाय तो तुरंत खुले पत्ते जीव समेत बंद हो जाते हैं और कुछ देर के बाद पत्तों के खुल जाने से देखा जाता है कि इसके अंतर्गत जीव का रक्त मांस आदि सब उस वृक्ष ने ग्रास कर लिया है; केवल कंकाल मात्र बाकी रह गया है।

श्रीभगवान की एक कला मात्र को पाकर उद्भिज्ज योनि में इतनी शक्ति आ जाती है। श्रीभगवान पतंजलि ने औषधियों से योग-सिद्धियों का उदय होता है—ऐसा योग-दर्शन में बताया है। यथा—जन्म से, ओषधियों के द्वारा, मंत्र, तप और समाधि के द्वारा भी सिद्धियों की प्राप्ति होती है (जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः—योगदर्शन ४।१)। अतः दैव जगत में भी उद्भिज्ज-योनि की महिमा है। यही सब उद्भिज्ज-योनियों में एक कला के विकास का फल है। श्रीभगवान ने भी उद्भिज्जः योनि में अपनी विभूति का परिचय दिया है (अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्—गीता १०।२६)।

तदनंतर स्वेदज योनि में भगवत-शक्ति की दो कलाओं का विकास होता है। जिससे अन्नमय और प्राणमय दोनों कोशों का विकास स्वेदजों में देखने में आता है। उद्भिज्जों में प्राणमय कोश का विकास न रहने से उद्भिज्ज चल फिर नहीं सकते; परंतु स्वेदजों में इस कोश का विकास होने से स्वेदज योनि के जीव अच्छी तरह से चल-फिर सकते हैं। उनमें प्राण-शक्ति का कहीं-कहीं अपूर्व विकास भी देखने में आता है। दीमक आदि कीटों में अद्भुत गृह-निर्माण की शक्ति देखने में आती है। विशूचिका (हैजा) ग्रंथि-ज्वर (प्लेग) आदि रोगों में जो स्वेदज कीटों की प्राण-शक्ति द्वारा बड़े-बड़े शक्तिमान मनुष्यों के प्राणतक क्षणभर में ही काल के ग्रास में पतित होते हुए देखने में आते हैं। जीव-शरीर के भीतर उत्पन्न स्फोटक (फोड़े) आदि के कीटों में शरीर, मन, प्राण को अनंत दुःख-सागर में डाल देने की शक्ति देखी जाती है। रक्त के भीतर के कीटों में रोग उत्पन्न करने वाले कीटों के साथ भीषण युद्ध करके शरीर रूपी दुर्ग की रक्षा करने की सामर्थ्य विद्यमान है। वीर्य के कीटों में जीव-शरीर उत्पन्न करने तथा जीवात्मा को आकृष्ट करके गर्भाशय में ले आने तक की अपूर्व शक्ति है, वे सब स्वेदज योनि में भगवत-शक्ति की दो कलाओं के विकास का ही अपूर्व फल रूप जानना चाहिए।

तदनंतर अंडज योनि में तीन कलाओं की भगवत-शक्ति का विकास होता है, जिससे अन्नमय और प्राणमय कोशों के साथ मनोमय कोश का भी विकास अंडज योनि में हो जाता है। मनोमय कोश का विकास होने से अंडज योनि में मानसिक प्रेम आदि बहुत सी वृत्तियाँ देखने में आती

हैं। कपोत-(कबूतर) कपोती, शुक-सारिका, चक्रवाक-(चकवा) चक्रवाकी का प्रेम मनुष्यों में भी दुर्लभ है। पक्षियों में मनोमय कोश का विकास होने से ही वात्सल्य-भाव का अपूर्व विकास देखने में आता है। पक्षी जाति बहुत ही प्रेम के साथ अपनी संतानों का प्रतिपालन करती है और स्वयं पिपद्ग्रस्त होकर भी अपनी संतानों को विपत्ति से बचाती है। यह पक्षियों में भगवत-शक्ति के विकास का ही लक्षण है कि, श्रीभगवान ने अंडज योनि में अपनी विभूति बताई है (वैनतेयश्च पक्षिणाम्—गीता १०।३०)।

भुजंग में भयंकर प्राणघातिनी शक्ति, मकरादि जलज जंतुओं की प्रचंड शक्ति, शुक, शारिका आदि पक्षियों में मनुष्यों की तरह बोलने की शक्ति, कोयल आदि चिड़ियों में कलगान के द्वारा संसार को मुग्ध करने की शक्ति, पारावत (कबूतर) में दूत की तरह युद्ध-क्षेत्र में संवाद देने की शक्ति, बाज आदि पक्षियों में शिकार करने की शक्ति, तीतर आदि क्षत्रिय पक्षियों में संग्राम करने की अद्भुत शक्ति, काक, गीध, श्येन, उलूक आदि शकुन के पक्षियों में महाप्रकृति से इंगित प्रकट करने की शक्ति, चटक (बया) आदि पक्षियों में अद्भुत गृह-निर्माण की शक्ति, हंस में जल और दूध के पृथक करने की शक्ति, विशाल शरीर वाले तिमिंगल आदि मत्स्यों में अपूर्व शक्ति, रोहित, पाठिन आदि मत्स्यों में जल के बीच के रोग-कीटों का नाश तथा जल-शोधन करने की शक्ति, रेशम-कीट आदि अंडजों में बिजली प्रकट करने की शक्ति, मोर आदि पक्षियों में संसार को सुशोभित तथा धनधान्य-पूर्ण करने की शक्ति इत्यादि सभी शक्तियाँ अंडज योनि में श्रीभगवान की तीन कलाशक्तियों के विकास का ही फल-रूप हैं।

तदनंतर जरायुज के अंतर्गत पशु-योनि में भगवत्शक्ति की चार कलाओं का विकास होता है। चार कलाओं का विकास होने से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोशों के साथ विज्ञानमय कोष का विकास पशु-योनि में देखने में आता है। निकृष्ट पशु, उत्कृष्ट पशु, दोनों प्रकार के जीव ही निज-निज अधिकार के अनुसार बुद्धि की चालना कर सकते हैं। उत्कृष्ट पशुओं में तो कहीं-कहीं बुद्धि का इतना विकास देखने में आता है कि वे बहुत से कर्म मनुष्य की तरह करने लगते हैं। मनोमय कोष का विशेष विकास होने से प्रेम करना, प्रेम समझना, स्नेह बताना तथा समझना आदि कार्य पशुओं में विशेष देखने में आते हैं।

इतिहासों में अनेक उदाहरण इस प्रकार के मिलते हैं—प्रभु-भक्त अश्व ने कितनी बार घोर विपत्ति से प्रभु की रक्षा की है, प्रभु के लिए अपना प्राण आनंद के साथ समर्पण कर दिया है, मृत प्रभु के पास अनाहार-व्रत धारण करके दिनरात खड़ा रहकर अंत में प्राण-त्याग कर दिया है। ये सब बातें अश्वयोनि में भगवान की चार कलाओं के मधुर विकास के ही फलरूप हैं। बुद्धिमान हस्ती में इंगित समझने की असाधारण शक्ति विद्यमान हैं, अपने प्रभु को वे प्राण से भी प्रिय समझते हैं, अपने पद की मर्यादा को प्राण दे कर भी रक्षा करते हैं। उड़ीसा देश पर जब मुसलमानों का आक्रमण हुआ था, तब उस समय राजध्वजाधारी हस्ती ने ध्वजा की मर्यादा रखने के लिए समस्त सैन्यों के भाग जाने पर भी किस वीरता के साथ युद्ध किया था। सिकंदर बादशाह के साथ युद्ध में पुरुराज जिस समय पराजित हो गये थे, उस समय उनके हस्ती ने पुरुराज को अपने पेट के नीचे छिपा कर किस वीरता के साथ युद्ध किया था इत्यादि-इत्यादि। अनेक दृष्टांत हस्ती की योनि में चार कलाओं के मधुर विकास के ही फलरूप हैं। इसी भाँति सिंह, गौ, कुत्ते आदि पशुओं में अनेक अद्भुत बातें देखने को मिलती हैं। प्रकृति की तामसिक धारा की अंतिम योनि के वानर होने के कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य—ये छः ही दुर्वृत्तियाँ वानर में पूर्ण मात्रा में देखने में आती हैं; जो अन्य पशुओं में नहीं दिखाई पड़तीं। वानरी इतनी मोह-युक्त होती है कि मृत संतान जब तक सड़ गल कर गिर न जाय, तबतक उसे नहीं छोड़ती।

दुष्ट-बुद्धि मनुष्यों की तरह नकल करने की शक्ति, काम और क्रोध की तीव्रता तो वानर में सब पशुओं से अधिक ही है। सिंह में गंभीरता ऐसी होती है कि बलवान और दुर्बल—दोनों जीव एक-साथ चले—यथा हस्ती और मनुष्य—तो सिंह पहले बलवान जीव हस्ती पर ही आक्रमण करेगा और मनुष्य को छोड़ देगा तथा क्षुधा न होने पर वृथा हिंसा कभी नहीं करेगा। इन सब अपूर्व गुणों के कारण ही श्रीभगवान ने गीता में पशुयोनि में भी अपनी दिव्य विभूति का परिचय दिया है—पशुओं में मैं सिंह हूँ (मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहम्—गीता १०।३०)।

आधिभौतिक अर्थात् स्थूल शक्ति पर विचारने से पशु-योनि में इसका सबसे अधिक विकास देखने में आता है। सिंह में साहस, पराक्रम और शक्ति, व्याघ्र में भयंकर शक्ति, हस्ती की शरीर-संपत्ति तथा अपने से भी अज्ञात अपूर्व शक्ति, गंडार, रीछ, वनमहिष, वनवानर आदि में भीषण शक्ति, गौ-माता में क्षीरधारा के बहाने की अपूर्व शक्ति, अश्व में क्षत्रियोचित साहस, युद्ध-कौशल तथा दौड़ने की शक्ति, मृग में मनोमोहिनी दृष्टि-शक्ति तथा दौड़ने और कूदने की अद्भुत शक्ति, भेंड़ में लड़ाई लड़ने की विशेषशक्ति, वनवराह में स्थूल शरीर की अपूर्व शक्ति, कुत्ते, सियार आदि में शकुन प्रकट करने की विशेष शक्ति, छाग, गर्दभ आदि में क्षय, चेचक आदि रोगनाशक शक्ति, कस्तूरी मृग में असाधारण सुगंध-युक्त कस्तूरी उत्पन्न करने की शक्ति, ऊँट की जाति में विषाक्त वायु के आघ्राण द्वारा भीषण मरुभूमि में प्रभु की प्राण-रक्षा करने की शक्ति तथा महीनों तक भोजन और जल के विना भी दुर्गम पथ पर चलने की शक्ति इत्यादि सभी शक्तियाँ जरायुज पशु-योनि में श्री भगवान के चार कलाओं के विकास को प्रमाणित करती हैं।

तदनतर मनुष्य योनि में आने से भगवद्-शक्ति की पंच कलाओं का विकास होता है। पंच कलाओं के विकास के कारण ही मनुस्य-योनि में अन्नमय कोष से लेकर आनंदमय कोष पर्यंत पंचकोषों का विकास हो जाता है, जिससे मनुष्य में स्वतंत्र बुद्धि के परिचालन, हास्य, आनंद और सभी प्रकार की उन्नति करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। पंचकोषों के विकास के कारण ही मनुष्य में कर्म की स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है। मनुष्य यदि चाहे तो पुरुषार्थ द्वारा पंचकोषों को पूर्ण विकसित करके पूर्ण मानव तथा मुक्त भी बन सकता है। बुद्धि-वृत्ति की चालना करके अलौकिक कार्य का संपादन, दैव तथा आध्यात्मिक जगत से संबंध-स्थापन, सभी प्रकार की आध्यात्मिक उन्नति और उच्चकोटि की सिद्धि पर्यंत प्राप्त कर सकता है। अपनी इंद्रियों पर स्वामित्व-संबंध, तीनों शरीरों के साथ आत्मा का अभिमान-संबंध, उसी अभिमान के अनुसार इंद्रिय-सुख के लिए पुरुषार्थ करके कर्मसंस्कार का संचय करना इत्यादि सभी शक्तियाँ मनुष्य-योनि में आने से जीव के भीतर उत्पन्न हो जाती है। ये सभी मनुष्य-योनि में पाँच कलाओं के विकास के ही फल-रूप हैं।

तदनंतर क्रमोन्नति द्वारा मनुष्य जितना-जितना उन्नत होता जाता है, ईश्वरीय कलाओं का विकास उसमें उतना ही अधिक होता जाता है। ब्रह्मभाव में निष्क्रियता और ईश्वर-भाव के साथ द्वैतमय सृष्टि का संबंध रहने से जीव के द्वारा जो कलाओं का विकास होता है, वह ईश्वरीय कला है, ब्रह्मकला नहीं। इसलिए इस कला-विकास में ऐश्वर्यमय दैवी शक्ति का संबंध अधिक है, ज्ञानशक्ति का संबंध कम है। अतः मनुष्य-योनि में क्रमोन्नति के अनुसार तथा अवतारों में भी जो शक्ति का विकास होता है, वह ईश्वर-शक्ति है, ब्रह्मशक्ति नहीं, क्योंकि अवतार ब्रह्म का नहीं होता, ईश्वर का ही होता है और उसमें भी धर्मरक्षा तथा अधर्मनाश के लिए भगवदवतार की आवश्यकता होने से विष्णु भगवान के साथ ही भगवदवतार का प्रधान संबंध माना गया है। ऋषि देवता और ईश्वरीय शक्ति की गरिमा विलक्षण ही है। यथा—ब्रह्मांड के लिए उस ब्रह्मांड के ब्रह्मा, विष्णु, महेश ही सगुण ब्रह्म या ईश्वर हैं। उन त्रिमूर्तियों में से रक्षा और पालन धर्म के अनुसार विष्णु भगवान का प्राधान्य है। अतः रक्षा-संबंध से युक्त सब अवतार ही विष्णु-शक्ति प्राप्त होगे।

सृष्टि, स्थिति और लय—इन तीनों के असाधारण कार्यों के सुसिद्ध करने के लिए इन तीनों देवताओं के ही अवतार हुआ करते हैं। परंतु जहाँ सगुण ब्रह्म अर्थात् जगत-रक्षा-शक्ति से विशिष्ट अवतार का संबंध है, वहाँ रक्षा शक्ति का ही प्राधान्य होने से, भगवदवतारों के साथ विष्णु-शक्ति का ही साक्षात् संबंध है। अतः भगवदवतारों का प्रकट होना विष्णुलोक से ही संभव है।

मनुष्य-कोटि में जीव की उन्नति के तारतम्यानुसार इस ईश्वरीय कला का विकास ५ से ८ तक हो सकता है। पाँच कलाओं से मनुष्य की साधारण शक्ति का विकास हो जाता है और छः कलाओं से विशेष शक्ति का विकास होने लगता है, जिसको शास्त्रों में विभूति कहा गया है। श्रीभगवान ने गीता में कहा है—संसार में जो कुछ ऐश्वर्य-युक्त, श्रीयुक्त अथवा शक्तियुक्त पदार्थ हैं सभी श्रीभगवान की शक्ति के विकास द्वारा उत्पन्न हुए हैं। श्रीभगवान की विशेष शक्ति से प्राप्त विभूतियों के द्वारा संसार में धर्म-संबंधीय अनेक कार्य हुआ करते हैं और ऐसा भी कहा जा

सकता है कि जबतक प्रकृति-राज्य में अवतार के आने की आवश्यकता नहीं है, तबतक इस प्रकार की विभूतियों के द्वारा हो सामयिक रूप से धर्म की रक्षा हुआ करती है। विभूतियों में आंशिक अर्थात् अपूर्ण शक्ति होने के कारण उनके द्वारा धर्म-जगत में जो कुछ कार्य होते हैं, वे भी उन सब आंशिक देश-कालों के अनुकूल ही होते हैं, अत: उन कार्यों के द्वारा धर्म-जगत में स्थायी कल्याण नहीं हो सकता, बल्कि बहुत वार ऐसा भी हो जाता है कि जिस देशकाल में किसी विभूति ने धर्म-कार्य किया था उस देश-काल के गत होने के अनंतर अन्य देश-काल में वह धर्म-कार्य देशकाल-विरुद्ध तथा हानिकर हो जाता है। जिससे किसी दूसरी विभूति द्वारा पूर्वोक्त कार्य का खंडन भी हो जाता है और नूतन देशकालानुसार नवीन रूप से धर्म की रक्षा होतो है।

भारतवर्ष में जितने प्रसिद्ध नेता तथा धर्माचार्य आज तक उत्पन्न हुए हैं वे सभी भगवद्‌विभूति की कोटि में गिने जा सकते हैं। उनमें से किसी में ६ कलाओं, किसी में उससे अधिक, किसी में ७ कलाओं और किसी-किसी में ८ कलाओं तक भगवत-शक्ति का विकास हुआ था और इस प्रकार कला-विकास के अनुसार उनसे धर्म-रक्षा-मूलक बड़े-बड़े कार्य भी हुए थे, जिनके लिए आर्य-जाति का इतिहास तथा वे सब संप्रदाय प्रत्यक्ष साक्षी रूप हैं। जिस महात्मा में एक संप्रदाय या पंथ चलाने की शक्ति है, जिसको वाणी तथा ज्ञान-शक्ति द्वारा अनेक मनुष्य वशीभूत और शिष्य हो सकते हैं, चाहे वह संप्रदाय या पंथ कैसा ही क्यों न हो और उसका भविष्य परिणाम धर्मजगत में चाहे अनुकूल या प्रतिकूल ही क्यों न हो, उस प्रकार के संप्रदाय या पंथ के प्रवर्त्तक महात्मा में भगवत-शक्ति का विभूति रूप से विशेष विकास हुआ है। इसी तरह अन्य देशों में अन्य धर्मावलंबियों के भीतर जो महापुरुष या उपधर्म के प्रवर्तक महापुरुष उत्पन्न होते हैं, वे भी विभूति की श्रेणी में लिये जा सकते हैं। क्योंकि एक धर्ममत की उत्पत्ति के द्वारा अनेक जीवों को आध्यात्मिक उन्नति के लिए पथ-प्रदर्शन जो महात्मा कर सकते हैं, वे चाहे कहीं क्यों न उत्पन्न हों, भगवान की विशेष शक्ति उनके द्वारा कार्य करती है।

अन्य देश तथा अन्य जाति में भगवान के अवतार अर्थात् ९ कलाओं से १६ कलाओं तक शक्तिमान पुरुष उत्पन्न नहीं हो सकते। इसका गूढ़ कारण यह है कि— ईश्वर के राज्य में कोई भी वस्तु विना प्रयोजन वृथा उत्पन्न नही हो सकती। इसलिए किसी केन्द्र के द्वारा भगवत-शक्ति का अंश रूप में या पूर्ण रूप में विकास तभी हो सकता है, जब यह शक्ति जिस प्रकृति में, जिस देश-काल में, जिस जाती में और जिस धर्म-मत की रक्षा के लिए उत्पन्न होगी, वह प्रकृति, देश, काल, जाति या धर्म-मत उस शक्ति के उत्पन्न होने का प्रयोजन सिद्ध करता हो।

जिस देश की प्रकृति अपूर्ण है, उस देश में पूर्ण धर्म का विकास नहीं हो सकता। पूर्ण धर्म का विकास न होने से उसके फलरूप निःश्रेयस अर्थात् मुक्तिपद की प्राप्ति उस देश में उत्पन्न जातियों की धर्मसेवा का लक्ष्य नहीं हो सकता। अर्थ-काम की उस देश की जातियों के धर्ममतों का लक्ष्य होगा और मुक्ति-लक्ष्य कहीं-कहीं होने पर भी वह मुक्ति आर्यशास्त्र के सिद्धांतानुसार नहीं होगी; परंतु किसी प्रकार बहुत काल तक लगातार प्राप्त वैषयिक भोग ही मुक्ति रूप से बताया जायगा। जब तक प्रकृति में पूर्ण धर्म का विकास ही न हुआ हो, इस कारण धर्म को आंशिक रक्षा के लिए अवतार की उत्पत्ति होने का कोई भी प्राकृतिक कारण वहाँ नहीं होगा। केवल सामान्य रूप के समय के अनुकूल धर्म-रक्षा के लिए कभी-कभो कुछ-कुछ विभूतियों के आने का ही प्रयोजन रहेगा। पूर्णावतार तो कभी वहाँ आ ही न सकेंगे। अधिकंतु अंशावतार के आने का भी अनुकूल वहाँ के देश, काल और वहाँ प्रकट धर्म की प्रकृति कभी नहीं होगी। यही कारण है कि सिवाय भारत के और सिवाय आर्यधर्म की रक्षा के लिए और किसी देश या किसी धर्म को रक्षा के लिए पूर्णावतार तथा अंशावतार की उत्पत्ति वहाँ नहीं हो सकती। इसलिए ईसामसीह, मोहम्मद साहब, आदि उपधर्मों के प्रवर्तक श्रीभगवान की विभूति-श्रेणी में ही गिने जा सकते हैं, अवतार-श्रेणी में नहीं।

अन्य देशीय उपधर्मों की तरह एतद्देशीय संप्रदायों तथा पंथों के प्रवर्तक भी विभूति की श्रेणी में हैं। इन सब आचार्यों के द्वारा समयानुसार धर्म-रक्षा अवश्य होती है। जिस समय भारत में यवन-साम्राज्य के विस्तृत होने से सनातन धर्म की बहुत ही हानि होने लगी थी, उस समय नानक देव, गुरु गोविंदसिंह, तुलसीदास, रामदास, कबीर, हरिदास आदि विभूतियों के उदय होने से भारत के समस्त

प्रांतों में धर्म की विनेष रक्षा हुइ थी। उसी प्रकार रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, माध्वाचार्य आदि सांप्रदायिक आचार्यों के द्वारा भी समय-समय पर धर्म की विशेष रक्षा हुई है। आधुनिक समय में भी ईसाई धर्म के प्रलोभन से आर्य जाति की रक्षा के लिए कई एक विभूतियों का विकास हुआ था। वंग-देश में जिस समय ईसाई धर्म का विस्तार होने लगा था और हिंदू जाति की श्रद्धा सनातन धर्म की ओर शिथिल होने लगी थी, उस समय राजा राममोहन राय ने ब्राह्म समाज स्थापित करके ईसाई धर्म का प्रवाह वंग-देश में शांत करा दिया था और परवर्ती काल में केशवचंद्र सेन ने भी उनका अनुसरण करके अनेक हिंदू भ्राताओं को ईसाई होने से वचा लिया था; परंतु ब्राह्म समाज के सनातन धर्म का एक पंथ मात्र होने से सनातन धर्म के अनेक मौलिक सिद्धांतों का विरोध ब्राह्म समाज में हुआ था, इसलिए कुछ काल के बाद जब ब्राह्मसमाज का कार्य समयानुकूल नहीं रहा और विरोध प्रकट होने लगा तो, उस प्रतिकूल अवस्था से वंग देश को बचाने के लिए महात्मा रामकृष्ण परमहंस देव का उदय हुआ, जिन्होंने अपनी विशेष विभूति की सहायता से वंग-देश-वासियों को ब्राह्मसमाज के अदूर-दर्शितापूर्ण सिद्धांतों से बचाया।

इसी प्रकार पंजाब-प्रदेश में भी जब सनातनधर्म के तत्त्व को न जानने के कारण बहुत लोग ईसाई होने लग गये थे, उस समय महात्मा दयानंद सरस्वती ने अपनी विभूति के द्वारा पंजाब-प्रदेश-वासियों को ईसाई होने से रोककर सनातनधर्म का परम कल्याण साधन किया था। परंतु परवर्ती काल में जब ईसाइयों का उस प्रकार आक्रमण न रहा और आर्य लोग अपने धर्म की मर्यादा तथा उत्तमता को जानने लगे तो, दयानंदीय-पंथ के प्रचार के अनुकूल देशकाल भी न रहे; क्योंकि पंथ होने के कारण इसमें सनातन धर्म के मूल सिद्धांतों से अनेक विषयों में मतभेद था, जो विकार के रोग में विष-प्रयोग की तरह परवर्ती काल में देशकाल तथा आर्यजाति की प्रकृति के प्रतिकूल हो गया। इसलिए श्रीभगवान की आज्ञा से अनेक विभूति-संपन्न महात्मा प्रकट हुए, जिन्होंने अपनी विशेष शक्ति के द्वारा दयानंदीय पन्थ की प्रतिकूलता से आर्यजाति की रक्षा की। श्रीभगवान की कृपा से उन्हीं के स्वरूप सनातन धर्म के प्रभाव को युगानुकूल रखने के लिए समय-समय पर ऐसी सहस्रों विभूतियों का उदय हो चुका है और भविष्यत् काल में भी होता रहेगा। ये सभी सनातन धर्म के कल्याण के लिए होते हैं। इसलिए इन सब संप्रदायों तथा पंथों के प्रति और उनके प्रवर्तक विभूतियों के प्रति द्वेषयुक्त न होकर कृतज्ञता के साथ उनके उपकार को स्वीकार करना ही उदार सनातन धर्म का कर्त्तव्य होगा। अवश्य उन सब संप्रदायों तथा पंथों की समयानुकूलता की ओर दृष्टि रखना बुद्धिमान निष्पक्ष पुरुषों का कर्त्तव्य होगा।

यदि इनमें से कोई संप्रदाय अथवा पंथ समयानुसार अपना कार्य कर चुके हों और वर्तमान देशकाल उनके लिए अनुकूल न हों तो उनके विषय में पुनः पक्षपात रखना और इसी पक्षपात के कारण सत्य वस्तु के प्रति उपेक्षा या द्वेषयुक्त होना धर्म नहीं होगा, प्रत्युत अधर्म, अकर्तव्य और अनुदार चित्त का कार्य होगा। यही धर्मरक्षा के लिए अष्टकला पर्यंत विभूतियों के विकास का विज्ञान है।

षोड़श कलाओं से पूर्ण-शक्तिमान श्रीभगवान की ८ कला पर्यंत शक्ति लौकिक मनुष्यादि के केन्द्रों द्वारा प्रकट होती रहती है, परतु अष्टकला से अतिरिक्त शक्ति धारण करना किसी लौकिक केंद्र द्वारा संभव नहीं हो सकता। इसलिए ९ कलाओं से लेकर १६ कलाओं तक भगवान की शक्ति का विकास मनुष्य-पशवादि जिन अलौकिक केंद्रों के आधार से होता है, उन केंद्रों का नाम अवतार है। श्रीमद्-भागवत में लिखा है—लोकपालक भगवान देव, तिर्यक्, मनुष्यादि शरीर के आधार से लीलावतार धारण करके सत्त्वगुण के द्वारा ही संसार की रक्षा करते हैं। इस प्रकार के अवतार कितने होते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीमद्-भागवत के प्रथम स्कंध के तृतीय अध्याय में लिखा है—जिस प्रकार अगाध-जल-युक्त सरोवर से सहस्रों जल-नालियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार सत्त्वगुणाश्रय भगवान से भी अनंत अवतारों की उत्पत्ति होती है। अनेक ऋषियों, मनुष्यों, देवताओं, महातेजा मनुपुत्रों, प्रजापतियों में भगवत्-कला का विभूति-रूप से विशेष विकास है। अन्यान्य अवतारों में भगवान की आंशिक शक्ति का विकास है, परंतु श्रीकृष्ण में पूर्ण भगवत्-शक्ति का विकास होने से श्रीकृष्ण स्वयं भगवद्-रूप हैं।

दैत्यों से पीड़ित संसार की रक्षा के लिए ही युग-युग में अंशावतारों तथा पूर्णावतारों की उत्पत्ति होती है।

श्रीभगवान की इस प्रकार को अवतार-रूप से रहस्य-पूर्ण जन्म-कथा का भक्ति के साथ सायंकाल, प्रातःकाल कीर्तन करने से मनुष्य समस्त दुःखों से मुक्त हो सकता है। निराकार चित्स्वरूप परमात्मा का अवतार रूप से इस प्रकार का रूप-धारण महत्तत्त्व आदि माया के गुणों के द्वारा होता है। इस प्रकार से अनंत अवतारों की उत्पत्ति-कथा बताकर श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध के तृतीय अध्याय में इन अवतारों में निम्नलिखित अवतारों की प्रधानता बतायी गयी है। यथा—महत्तत्त्व आदि के आश्रय से श्रीभगवान ने प्रथमतः षोड़श-कला-पूर्ण रूप ग्रहण किया। यह वही रूप है जो प्रलयकाल में योग-निद्रा में था और जिनके नाभिकमल से प्रथम सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई थी। इसी विराट् रूप के भिन्न-भिन्न अंगों के द्वारा अनेक लोकों की कल्पना हुई है। श्रीभगवान का यह रूप रजोगुण-तमोगुण से रहित अतितेजोमय शुद्ध सत्त्व है।

योगी लोग ज्ञान-चक्षु के द्वारा इस रूप का दर्शन करते हैं। यह रूप सहस्र पादों, सहस्र ऊरुओं, सहस्र हस्तों, सहस्र मुखों, सहस्र मस्तकों, सहस्र कर्णों, सहस्र चक्षुओं, सहस्र नासिकाओं, सहस्र वस्त्रों और सहस्र कुंडलों के द्वारा शोभायमान है। वही रूप नाना अवतारों का कारण और अव्यय बीज-स्वरूप है। इसी के अंशों से देव तिर्यक् नरादि अनेक योनियों की सृष्टि होती है। इसी आदिदेव ने प्रथमतः सनत्कुमारादि रूप ब्राह्मण-शरीर धारण करके अखंड ब्रह्मचर्य का पालन किया। अतः सनत्कुमार इनका प्रथम अवतार है।

इनका द्वितीय अवतार वराहावतार है, जिसमें श्री भगवान ने पाताल-लोक में निमज्जित पृथिवी का उद्धार किया था। इनका तृतीय अवतार नारद हैं, जिन्होने देवर्षित्व प्राप्त करके कर्म-बंधन के नाशकारी मुक्तिप्रद तंत्रों का कथन किया था। इनके चतुर्थ अवतार नरनारायण ऋषि हैं, जिन्होंने मनोवृत्ति के दमन के लिए कठिन तप किया था। इनके पंचम अवतार सिद्धेश्वर कपिल हैं, जिन्होंने आसुरी नामक ब्राह्मण को २५ तत्त्वों के निर्णयकारी सांख्यशास्त्र का उपदेश किया था। इसके षष्ठ अवतार दत्तात्रेय हैं जिनने अत्रि के पुत्रत्व से प्रह्लाद आदि को आत्मविद्या का उपदेश दिया था। इनके सप्तम अवतार यज्ञ हैं, जो रुचि और आकूति से उत्पन्न होकर यामादि निज पुत्र देवताओं के साथ स्वायंभुव मन्वंतर में इंद्र हुए थे। इनके अष्टम अवतार नाभि के द्वारा मेरु देवी में उत्पन्न ऋषभदेव हैं, जिन्होंने संसार को परमहंस अवस्था का आदर्श दिखाया था। इनके नवम अवतार पृथु हैं। जिन्होंने राजदेह धारण कर पृथिवी का दोहन किया था, जिससे ओषधि आदि वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है। पृथिवी के दोहन के हेतु यह अवतार उत्तम है। इनके दशम अवतार मत्स्य हैं, जिन्होंने खंडप्रलय की जलमग्न-दशा में वैवस्वतमनु तथा सृष्टि-बीज की रक्षा की थी।

इनके एकादश अवतार कूर्म हैं, जिन्होंने समुद्र-मंथन के समय कूर्म रूप धारण करके मंदर पहाड़ को पीठ पर धारण किया था। इनके द्वादश अवतार धंवंतरि और त्रयोदश अवतार मोहिनी मूर्ति है, जिन्होंने असुरों को मुग्ध करके देवताओं को अमृत पान करा दिया था। इनका चतुर्दश अवतार नृसिह रूप हैं। जिनके द्वारा हिरण्यकशिपु का वध हुआ था। इनके पंचदश अवतार वामन हैं, जिन्होंने बलि नामक असुर के यज्ञ में जाकर ३ पाद भूमि ग्रहण करके छल से त्रिलोक को ग्रहण किया था। इनके षोड़श अवतार परशुराम जी हैं, जिन्होंने इक्कीस बार पृथिवी को निःक्षत्रिय कर दिया था। इनके सप्तदश अवतार पराशर और सत्यवती द्वारा उत्पन्न वेदव्यास जी हैं, जिन्होंने जीवों को अल्पबुद्धि देखकर वेद को शाखाओं में विभक्त कर दिया था। इनके अष्टादश अवतार नरदेव-रूप रामचंद्र हैं, जिन्होंने देवकार्यों के लिए रावणादि का वध और समुद्र का दमन आदि किया था। इनके उन्नीसवें और बीसवें अवतार बलराम और श्रीकृष्ण जी हैं, जिन्होंने यदुवंश में जन्म लाभ करके संसार-भार हरण किया था। इनके एकविंश अवतार कीकट प्रदेश में शुद्धोदन-पुत्र बुद्ध होंगे जो कलियुग में असुरों को मुग्ध कर के देवताओं का कल्याण करेंगे। इनके बाइसवें अवतार जगत्पति "कल्कि" नाम से होंगे, जो कलियुग के अंतःकाल में, जिस समय राजा और राज्यशासक दस्युओं की तरह प्रजापीड़न करेंगे उस समय वे विष्णुयशा के गृह में उत्पन्न होंगे। यह सर्वशक्तिमान श्रीभगवान के अंशों तथा पूर्ण कलाओं द्वारा प्रकट अवतार हैं।

अन्यत्र श्रीमद्भागवत में इन अवतारों की चौबीस संख्याएँ बतायी गयी हैं। यथा—द्वितीय स्कंध के सप्तम अध्याय में, वराह, यस, कपिल, दत्तात्रेय, कुमारचतुष्टय, नरनारायण, ध्रुव, पृथु, ऋषभ, हयग्रीव, मत्स्य, कूर्म, नृसिंह,

हरि, वामन, हंस, मन्वंतर अवतार, धंवंतरि, परशुराम श्रीराम, श्रीकृष्ण, व्यास, बुद्ध और कल्कि ।

पुनः इन चौबीस अवतारों में से मुख्य १० ही अवतार हैं, जिनके साथ अवतार संबंधीय विज्ञानों तथा लीलाओं का संबंध विशेष रूप से पाया जाता है; इसलिए आर्यशास्त्रों तथा वेदों में इन्हीं के विषय में वर्णन मिलते हैं । यथा — मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण-बलराम, बुद्ध और कल्कि (मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा । रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्किर्दश स्मृताः— ब्रह्मवैवर्तपुराण २७।६७)

साधारण रूप से शास्त्रों में प्रायः १० या २४ अवतारों का उल्लेख मिलता है, पर श्रीभगवान के अवतार अनेक हैं । सगुण-पंचोपासना के अनुसार इन अवतारों के कई भेद हैं । शैव-पुराण में शिवावतारों का वर्णन, गणेश-पुराण और गाणपत्य तंत्रों में अनेक गणपति-अवतारों का वर्णन है । शक्ति-पुराण और शक्ति-प्रधान-तंत्रों में शक्ति के अनेक अवतारों का दिग्दर्शन है । अतः पंचोपासना के सिद्धांतानुसार विष्णु, शिवादिकों के अवतार होने के प्रमाण शास्त्रों में उपलब्ध हैं ।

जगत्कारण जगदीश्वर भगवान के एक ही होने पर भी और उनके अवतार-तत्त्व का रहस्य एक ही होने पर भी पंच सगुणोपासकों की उपासनाओं के महत्त्व से पंचोपासना के स्वतंत्र भावों से पूर्ण स्वतंत्र-स्वतंत्र कलाओं में श्रीभगवान के ऐसे अवतार समय-समय पर प्रकट हुए हैं । और होते रहते हैं । चाहे महाविष्णुभाव को लेकर अवतार हों, चाहे महाशक्तिभाव को लेकर अवतार हों, चाहे महादेव भाव को लेकर अवतार हों और चाहे महासूर्य भाव को लेकर अवतार प्रकट हों, सभी सर्वशक्तिमान अद्वितीय सगुण ब्रह्म के अवतार कहलायेंगे और सभी ब्रह्मा, विष्णु, महेश में से विष्णु-शक्ति के द्वारा जगत के रक्षणार्थ अवतीर्ण होंगे ।

अवतार किसी एक जीव के कल्याण के लिए नहीं, बल्कि समष्टि जीवों के कल्याण के लिए होते हैं । इस प्रकार समष्टि जीवों का कल्याण श्रीभगवान की अवतार रूप में प्रकट शक्ति द्वारा पाँच प्रकार से होता है । अतः अवतार पाँच प्रकार के होते हैं। यथा दैवीमीमांसादर्शन में लिखा है—कलाभेद से पूर्णावतार और अंशावतार होते हैं । ६ कलाओं से १५ कलाओं तक अंशावतार कहलाते हैं और १६ कलाओं के अवतार पूर्णावतार कहलाते हैं । निमित्त-भेद से विशेष अवतार और अविशेष अवतार भी होते हैं । अंतःकरण में प्रकट श्रीभगवान का नित्यावतार होता है । इस प्रकार से पूर्णावतार, अंशावतार, विशेषावतार, अविशेषावतार और नित्यावतार—ये ५ प्रकार के अवतार हुए ।

अवतार प्रकट होने का कारण इस प्रकार है—अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीनों कारणों से अवतार का आविर्भाव होता है । इनमें से अध्यात्म कारण यह है कि प्रत्येक युग में धर्म का विकास उस युग में उत्पन्न जीवों के समष्टिकर्मानुसार रहा करता है । यही प्रकृतिराज्य में धर्माधर्म का सामंजस्य है । जब तक इस सामंजस्य के नियमों में किसी प्रकार की बाधा नहीं रहती, तब तक संसार में अवतार रूप में अलौकिक शक्ति के प्रकट होने की कोई भी आवश्यकता नहीं पड़ती और यदि यथा तथा कहीं पर कुछ असामंजस्य का आभास कभी देखने में आता हो तो आठ कलाओं तक भगवद्-विभूति द्वारा ही उस विषमभाव के नष्ट होने पर पुनः समष्टि प्रकृति का सामंजस्य हो जाता है और युगानुसार धर्म का विकास भी अटूट रहता है । परंतु यदि किसी कारण वश ऐसा हो जाय कि युगानुसार धर्म का विकास न होने पावे—जैसे कि कोई असुर या राक्षस उत्पन्न होकर कठिन तपस्या आदि द्वारा शक्ति लाभ करे और उसी शक्ति द्वारा जीव के समष्टि कर्म पर प्रभाव डालकर युगानुसार अवश्य होने वाली धर्म की धारा को रोक देवे या दुर्बल कर देवे और वह रोकना इस प्रकार का बलवान हो कि ८ कलाओं तक की विभूतियों के द्वारा धर्म का प्रवाह ठीक न हो सके तो, उस समय समष्टि प्रकृति के नियमानुसार या भगवान के जगत-रक्षाकारी नियम के अनुसार यह आवश्यकता प्रकृति-राज्य में उत्पन्न होती है कि अष्ट कलाओं से अधिक भगवत-शक्ति किसी अलौकिक केंद्र के द्वारा प्रकट होकर युगानुसार धर्म की धारा को—जो कि आसुरी या राक्षसी विरुद्ध शक्ति के द्वारा रोकी गयी थी—युगानुसार पुनः प्रवाहित कर देवे । यह जो प्राकृतिक नियमानुसार धर्म की धारा को युगानुसार ठीक करने के लिए अंश या पूर्ण रूप में अवतार के प्रकट होने का कारण है, इसी को आध्यात्मिक कारण कहते हैं । इस प्रकार के आध्यात्मिक कारण के विषय में अनेक प्रमाण हैं । यथा—राक्षसराज रावण के वध के लिए रामावतार के विषय में रामायण के बालकांड

के १५ वें और १६ वें सर्ग में लिखा है—राक्षसराज रावण ने दीर्घकाल तक कठिन तपस्या की थी, जिससे संतुष्ट होकर आदि पुरुष ब्रह्माजी ने उसे यह वरदान दिया कि "मनुष्यों के सिवाय अन्य प्राणियों से उसको कोई भय नहीं होगा।" इस प्रकार वरदान से गर्वित होकर रावण समस्त संसार तथा स्त्रियों पर बहुत ही अत्याचार करने लगा, जिससे संसार में धर्म की धारा नष्ट होने लगी। अतः मनुष्यों के द्वारा ही उसका वध होना निश्चित था।

रावण समस्त लोकों, सती स्त्रियों, संपत्तिशाली पुरुषों तथा इंद्र पर्यंत देवताओं को पीड़ित करता था। ऋषि, यक्ष, गंधर्व, ब्राह्मण, असुर आदि सभी को वरदान से मुग्ध रावण ने दबा लिया। उसे देखकर डर से सूर्य भी अधिक ताप नहीं देता, वायु भी अधिक हिल नहीं सकता और तरंग-युक्त समुद्र भी कंपित नहीं होता। इस राक्षस से सुर नर सभीको विशेष भय हुआ था। इसलिए श्रीभगवान से प्रार्थना है कि इसका वध करके संसार में धर्म की धारा को पुनः प्रवाहित करें। यह रावण उद्धत, उग्रतेज, मदमत्त, देवराज इंद्र का द्वेषी, त्रिलोकी को रुलाने वाला और तपस्वियों का कंटक था। इसके नाश से तपस्वी साधुओं की रक्षा और अधर्म का नाश होगा। यही सब अवतार प्रकट होने का आध्यात्मिक कारण है।

अवतार प्रकट होने का दूसरा कारण अधिदैव है। स्थूल संसार के संचालक देवता हैं। कर्म का प्रेरण कर्मानुसार जीव को उन्नत या अवनत योनि प्रदान, स्थूल संसार में पंचभूतों का ठीक-ठीक संचालन और धर्म-व्यवस्था की ठीक-ठीक रक्षा देवताओं के द्वारा हुआ करती है। इसलिए जिस समय कोई असुर या राक्षस तपोबल से दैत्य-राज्य पर अधिकार जमा लेता है और देवताओं को पीड़ित तथा अपने अधिकारों से च्युत करने लगता है, उस समय दैवराज्य में विशृंखला हो जाने से समस्त संसार में भी विशृंखला फैल जाती है। क्योंकि कर्म के संचालक तथा संसार के रक्षक देवता ही जब हीन-बल तथा पराजित हो गये, तब संसार में धर्म की व्यवस्था कैसे ठीक रह सकती है? इसलिए इस प्रकार से पीड़ित होने पर इंद्रादि देवता, मुख्य देवता विष्णु की शरण लेते हैं और श्रीभगवान विष्णु को अवतार धारण करके असुर या राक्षस का नाश तथा दैवराज्य का शृंखला-स्थापन करना पड़ता है। यही अवतार प्रकट होने का अधिदैव कारण है।

कृष्ण-बलराम अवतारों के प्रकट होने के विषय में इस प्रकार के अधिदैव कारण का वर्णन श्रीमद्भागवत के स्कंध १० के अध्याय १ में मिलता है—अत्याचारी राजा नामधारी कंसादि अनेक दैत्य तथा उनके लक्षों दुष्ट असुरों के द्वारा पृथिवी देवी ने अत्यंत भाराक्रांता होकर भारहरण के लिए श्रीब्रह्मा जी की शरण ली और गौ-रूप धारण करके रोती-रोती अपने समस्त दुःखों को उनसे निवेदित किया। पृथिवी की अधिष्ठात्री देवी पृथिवी माता की बातें सुनकर ब्रह्मा जी अन्यान्य देवता तथा पृथिवी को साथ लेकर क्षीरसमुद्र में श्रीभगवान विष्णु जी के पास गये और स्तुति द्वारा उनको प्रसन्न करके असुरों के अत्याचारों के विषय में सब कुछ कहा, जिससे उन्होंने कृष्ण-बलराम अवतार धारण करके पृथिवी के भार हरण का वचन दिया।

इसी प्रकार नृंसिहावतार के विषय में अधिदैव कारण श्रीमद्भागवत के स्कंध ७ के अध्याय ४ में बताया गया है। हिरण्यकशिपु की तपस्या से संतुष्ट होकर ब्रह्माजी ने उसे दुर्लभ वर प्रदान किया। वर-प्राप्त हिरण्यकशिपु सोने की तरह शरीर धारण करके अपने भ्राता हिरण्याक्ष के वध का स्मरण करके श्रीभगवान के प्रति द्वेष करने लगा। प्रचंड असुर हिरण्यकशिपु ने निज तेज से दश दिशाओं तथा त्रिलोकों की जय करके देव, असुर, मनुष्य, लोकपति, गंधर्व, गरुड़, उरग, सिद्ध, चारण, विद्याधर, ऋषि, पितर, मनु, यक्ष, रक्ष, पिशाच, भूत, प्रेत-पति और समस्त जीवों के पतियों को अपने वश में कर लिया तथा लोकपालों के स्थानों को भी हरण कर लिया। उसके उग्र दंड से पीड़ित होकर समस्त जीव, देवता तथा लोकपालों ने अन्यत्र शरण न पाकर श्रीभगवान विष्णु की शरण ली और वे उनके ध्यान में मग्न हो गये।

तदनंतर दश दिशाओं को व्याप्त करके मेघगर्जन की तरह साधुओं को अभय देनेवाली आकाशवाणी हुई—"हे देवताओ, भय मत करो। सबका कल्याण होगा, क्योंकि मेरा दर्शन भूतों के सकल प्रकार के कल्याण के लिए ही होता है। हिरण्यकशिपु का अत्याचार मुझे ज्ञात है और मैं उसकी शांति भी कर दूंगा। तुम सब केवल काल की प्रतिक्षा करो। वह जिस समय देवता, वेद, गौ, विप्र, साधु, धर्म और मेरे प्रति विद्वेष करेगा, उसी समय उसका नाश होगा। जिस समय द्वेषभाव-शून्य, प्रशांत, महात्मा, निज पुत्र प्रह्लाद के साथ वह शत्रुता करेगा, उसी समय मैं

हिरण्यकशिपु का नाश करूंगा ।'' येही सब अवतार के प्रकट होने में अधिदैव कारण हैं ।

अवतार के प्रकट होने में तृतीय कारण अधिभूत है । जब समष्टि जगत में धर्म की धारा को ठीक करने के लिए श्रीभगवान का अवतार रूप में आविर्भाव होता है । जब अवतार प्रकट होने का कारण साधुओं का परित्राण और असाधुओं का विनाश है, जब संसार में पापियों द्वारा धर्म का ह्रास होने लगेगा और अधर्म की वृद्धि होने लगेगी तो उस समय संसार में पापियों द्वारा धर्म का ह्रास होने लगेगा और अधर्म की वृद्धि होने लगेगी तो उस समय संसार में स्थित महात्माओं के हृदय में स्वतः ही अवतार प्रकट होने के लिए प्रेरणा उत्पन्न होगी और वे सब एकाग्रचित्त होकर श्रीभगवान से प्रार्थना करेंगे कि शीघ्र करुणानिधान संसार के नियंता सर्वशक्तिमान श्रीभगवान प्रकट हों और पापियों का नाश कर के धर्म की धारा को पुनः प्रवाहित कर दें । विपत्ति के समय समस्त माहात्माओं के हृदय की एकरस प्रार्थना-शक्ति के बल से गिराकर भगवान भी साकार रूप में आकृष्ट होते हैं ।

अवतार प्रकट होने का तृतीय अर्थात् आधिभौतिक कारण है—अवतार प्रकट होना ब्रह्मांड-प्रकृति का अनुकूल व्यापार है । श्रीपरमात्मा में इच्छा-शक्ति है, इसलिए वह स्वयं स्वेच्छा से अवतार ग्रहण करते हैं—यह बात परमात्मा के स्वरूप के विरुद्ध है । ब्रह्मांड-प्रकृति में आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक—इस प्रकार त्रिविध प्रेरणाएँ हैं जो परमात्मा के अवतार होने के कारण हैं । जिस प्रकार किसी अत्याचारी असुर के उत्पन्न होते समय ब्रह्मांड प्रकृति में कुलक्षण देखने में आते हैं—जिससे उस असुर के द्वारा भावी अशुभ की सूचना होती है उसी प्रकार धर्म तथा ब्रह्मांड-प्रकृति की रक्षा के लिए अवतार प्रकट होने के समय भावी शुभ की सूचना के रूप से ब्रह्मांड-प्रकृति में अनेक शुभ लक्षणों की सूचना होने लगती है । प्रकृति-माता आनंद से हास्य तथा नृत्य करने लगती है, प्रकृति की मनोमोहिनी, माधुरी, दशों दिशाओं में प्रकाशित विचित्र शोभा उनके आनंद की छटा के रूप से संसार को मुग्ध करने लगती है । यही सब अवतार के उदय होने में प्राकृतिक अनुकूलता के लक्षण हैं ।

श्रीभगवान् कृष्णचंद्र ने षोड़श कलाओं में प्रकट होने के समय भी ब्रह्मांड-प्रकृति में इस प्रकार के सुलक्षणों का उदय हुआ था । श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के तृतीय अध्याय में लिखा है—श्रीभगवान कृष्णचंद्र के प्रकट होते समय काल समस्त शुभ गुणों से युक्त और सुशोभित हो गया । उस समय रोहिणी नक्षत्र का प्रभाव रहा और अश्विनी आदि नक्षत्र तथा ग्रह शांत रहे । दश दिशाएँ प्रसन्न और आकाश निर्मल ताराओं से सुशोभित हो गया, समस्त संसार के नगरों तथा ग्रामों में मंगल हो गया । समस्त नदियाँ प्रसन्नजलयुक्ता, समस्त सरोवर कमलों की शोभा से सुशोभित और समस्त वन मधुर पुष्पों से युक्त तथा भ्रमरों के गुंजन से परिपूर्ण हो गया, शीतल सुखकर पवित्र सुगंधित पवन प्रवाहित होने लगा और ब्राह्मणों की होमाग्नि अत्युत्तम तेज के साथ प्रज्वलित होने लगी । असुर-द्रोही साधुओं के अंतःकरण प्रसन्न हो गये और स्वर्ग में दुंदुभि बजने लगी । किन्नर, गंधर्व लोग गान करने लगे । सिद्ध, चारण लोग स्ववन-पाठ करने लगे । अप्सराओं के साथ विद्याधरियाँ नृत्य करने लगीं । सभी मुनि और देवता परम प्रसन्न हो कर पुष्प-वृष्टि करने लगे । मेघमालाओं को मृदुमंद गर्जन होने लगा । ये ही सब अवतार के प्रकट होने के समय ब्रह्मांड-प्रकृति में अनुकूलतामूलक आनंद तथा सुलक्षणों का विकास है ।

इसी प्रकार रामावतार के प्रकट होते समय भी प्रकृति में आनंद का लक्षण देखने में आया था । यथा—गंधर्व लोग कलनाद से गान करने लगे, अप्सराएँ नृत्य करने लगीं, देवलोक में दुंदुभि बजने लगी और स्वर्ग से पुष्प-वृष्टि होने लगी । इस प्रकार से समष्टि-जगत के कल्याण के लिए, समष्टि-प्रकृति को प्रफुल्लित करते हुए अवतार का अविर्भाव होता है ।

मत्स्यावतार दश अवतारों में से प्रथम है, जिसका अविर्भाव नैमित्तिक प्रलय में सृष्टि-बीज की रक्षा के लिए होता है । नैमित्तिक प्रलयकाल में समस्त सृष्टि जलमग्न हो जाती है । इसका प्रमाण श्रुति में भी मिलता है । यथा—सृष्टि होने के पहले समस्त संसार जलमग्न था (आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्—तैत्तिरीयसंहिता ७।१।५।१) । नैमित्तिक प्रलय के पश्चात् सृष्टि के पहले समस्त संसार जलमग्न था (आपो वा

इदं सर्वं विश्वभूतान्यापः—तैत्तिरीय आरण्यक १०।२२)। अथर्ववेद-संहिता के द्वितीय कांड का प्रथम मंत्रार्ध इस प्रकार है—

गुहा-रूपी आदित्य-मंडल में जो जल है, जिस जल से नैमित्तिक प्रलय-काल में समस्त विश्व एकाकार हो जाता है, उसको वेन अर्थात् मेघ की अधिष्ठात्रा देवता ने देखा था (वेनस्तदपश्यत् परमं गुहायद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्)। इस प्रकार से नैमित्तिक प्रलय में संसार के जलमग्न होने का प्रमाण श्रुतियों में भी मिलता है। श्रीमद्भागवत में मत्स्यावतार के विषय में लिखा है—गौओं, ब्राह्मणों, देवताओं, साधुओं, वेदों एवं धर्म तथा अर्थ की रक्षा के लिए श्रीभगवान अवतार रूप से स्थूल शरीर धारण करके प्रकट होते हैं। उन्नत या अवनत योनियों में भ्रमण करने पर भी वायु की तरह श्रीभगवान को दोष स्वर्श नही करता।

पूर्व कल्प के अंत में जब ब्रह्मा जी के रात्रिकाल में नैमित्तिक प्रलय हुआ था, तब पृथिवी आदि समस्त लोक समुद्रजल से प्लावित हो गये थे। कालानुसार जब ब्रह्मा जी को निद्रा आने लगी और उन्होंने शयन करने की इच्छा की, तो हयग्रीव नामक बलवान असुर ने ब्रह्मा जी के मुख से निकले हुए वेदों को हरण कर लिया। हयग्रीव की इस चेष्टा को जानकर उसका बध करके वेदों का उद्धार करने के लिए श्रीभगवान को मत्स्यावतार धारण करना पड़ा। इसके विषय में अग्निपुराण में लिखा है—पूर्व कल्प के अंत में नैमित्तिक प्रलय का उदय होने पर पृथ्वी आदि लोक जलमग्न हो गये थे। उस समय के कुछ पहले वैवस्वत मनु भोग और मोक्षके लाभ के लिए कठिन तपस्या करते थे। एक दिन कृतमाला नदी में मनु तर्पण कर रहे थे। इतने में तर्पण-जल के साथ एक छोटा सा मत्स्य मुनि की अंजली के बीच में आ गया। मनु जी के उसे नदी में परित्याग करने की इच्छा करने पर उस मत्स्य ने कहा—"राजन्। मुझे नदी में मत फेंको, क्योंकि मैं मगर आदि जल-जन्तुओं से बहुत डर रहा हूं।" ऐसा सुनकर मनु जी ने उसे एक कलसे के भीतर रखा। थोड़ी ही देर में वह मत्स्य बढ़ गया और मनु जी से कहा—"मुझे रहने के लिए इससे बड़ा स्थान चाहिए।" मनु जी ने ऐसाही किया। तदनंतर और भी बढ़कर अन्य स्थान के लिए प्रार्थना करने पर मनु जी ने उस मत्स्य को एक सरोवर में डाल दिया। परंतु उसमें भी वह इतना बढ़ गया कि उसके लिए सरोवर में रहना मुश्किल हो गया। फिर उसकी प्रार्थना पर मनु जी ने उस मत्स्य को समुद्र में डाल दिया। थोड़ी देर के बीच में उस मत्स्य का लक्षयोजनव्यापी बृहत शरीर हो गया जिससे आश्चर्य-चकित होकर मनु जी ने कहा—"हे भगवन्, आप कौन हैं? आप नारायण विष्णु हैं......आपको नमस्कार। आप मुझे माया-जाल में मुग्ध क्यों कर रहे हैं?" मनु का वाक्य सुनकर मीनरूपी भगवानने कहा—"मैं दुष्ट के दमन और धार्मिकों की रक्षा के लिए मत्स्य रूप से अवतीर्ण हुआ हूं। आज से सातवें दिन समस्त संसार सागर जल में निमग्न हो जायगा। उस समय तुम्हारे पास एक नाव आवेगी। उसमें ओषधि आदि तथा भावी जीवों के बीज रखकर सप्तर्षियों के साथ तुम निवास करना और इस प्रकार से ब्रह्मा के रात्रि के काल तक रह जाना। मैं जिस समय आऊँगा—मेरे सींग में उस नाव को नाग-पाश द्वारा बाँध देना।" इदना कहकर मीनरूपी भगवान अंतर्धान हो गये। मनु जी भगवान के कहे हुए काल की प्रतीक्षा करने लगे। तदनंतर यथासमय समुद्र उछल पड़ा और साथ ही साथ एक नाव आ गयी। सप्तर्षियों के साथ मनु जी उस नाव में विराजमान हो गये तथा भावी बीजों को भी उसमें भर लिया।

तदनन्तर दश लक्ष योजन तक विस्तृति एक सींग वाले सोने की तरह देहधारी मत्स्य-भगवान का दर्शन हुआ। मनु जी ने उनके सींग में उस नाव को बाँधकर नानाप्रकार से भगवान की स्तुति की। समस्त ब्राह्मी रात्रि तक मत्स्य-भगवान ने उस नाव को आकर्षण करते हुए विचरण किया और मनु आदि भी उसी में रहे। पाप-नाशक मत्स्य-पुराण की कथा मनु जी ने इसी मत्स्य-भगवान से सुनी। तदनंतर वेद-नाशक हयग्रीव नामक दानव को मार कर श्रीभगवान ने वेदों की रक्षा की।

कूर्मावतार दश अवतारों में से द्वितीयावतार हैं। इस अवतार का अविर्भाव देवता और असुरों के द्वारा समुद्र-मंथन के समय हुआ था। श्रीभगवान ने कूर्म रूप धारण करके मंथनदंडरूप मंदर पर्वत को पीठ पर धारण किया था। और देवासुरों ने समुद्र के मंथन द्वारा

अमृत-लाभ किया था। समुद्र में अमृत की स्थिति के विषय में अथर्ववेद-संहिता में एक मंत्रांश मिलता है— जल के मध्य में मृत्युनाशकारी देवताओं का भोग्य पीयूष है, जिसे अमृत कहते हैं (अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्— अथर्व १।१।४)। समुद्रमंथन के द्वारा इस अमृत की प्राप्ति हुई थी। इसके संबंध में अग्निपुराण में लिखा है—पूर्वकाल में असुरों के साथ देवताओं का युद्ध हुआ था। जिसमें देवता परास्त हो गये। तदनन्तर महर्षि दुर्वासा के अभिसंपात से वे और भी श्रीहीन हो गये थे। दुर्दशाग्रस्त दैवलोक से च्युत देवताओं ने भी अंत में अन्य कोई उपाय न देखकर श्रीभगवान विष्णु की शरण ली और स्तुति-पूर्वक असुरों से रक्षा के लिए प्रार्थना की। श्रीभगवान ने स्तुति से प्रसन्न हो कर ब्रह्मादि देवताओं से कहा—देवतागण! असुरों से संधि स्थापन करो, जिससे दोनों मिलकर अमृत तथा श्रीप्राप्ति के लिए क्षीरसमुद्र का मंथन कर सकोगे। यह एक नीति है कि कार्य की कठिनता उपस्थित होने पर शत्रुओं से भी संधि करना उचित है।

समुद्र-मंथन द्वारा जो अमृत की उत्पत्ति होगी वह मैं तुम सबों को पिलाऊंगा, असुरों को नहीं पीने दूंगा। अतः मंदराचल को मथन-दंड तथा नागराज वासुकी को मंथन-रज्जु बनाकर परिश्रम के साथ समुद्र-मंथन में प्रवृत्त हो जाओ, मैं इसमें सहायता करूंगा। श्रीभगवान विष्णु की इस प्रकार की आज्ञा पाकर देवताओं ने असुरों के साथ संधि की और तदनंतर दोनों ने मिलकर समुद्र-मंथन करना प्रारंभ कर दिया। असुरों ने वासुकी के मुख की तरफ पकड़ा और देवताओं ने पूंछ की तरफ। सर्पराज के निःश्वास से संतप्त होने पर श्रीभगवान हरि ने उनको शांति प्रदान किया। मंथन का कार्य प्रारंभ होने पर मंदर पर्वत के नीचे कुछ आधार न होने से वह नीचे की ओर दबने लगा। ऐसा देखकर श्रीभगवान विष्णु जी ने कूर्म रूप धारण करके अपने पृष्ठ पर मंदरपर्वत को धारण कर लिया। तदनंतर मथे जाने वाले क्षीर-समुद्र से हलाहल (नोला) विष उत्पन्न हुआ। देवाधिदेव शंकर ने देवताओं से प्रार्थित होकर उस हलाहल को कंठ में धारण कर लिया, जिस कारण उनको नीलकंठ कहते हैं।

तदनंतर क्रमशः क्षीरसमुद्र से वारुणी देवी, पारिजात, कौस्तुभ, गौ और अप्सराएँ निकलीं। तदनंतर लक्ष्मीदेवी क्षीर-समुद्र से निकलीं और उन्होंने श्रीभगवान हरि का आश्रय लिया। देवता लोग जो श्रीहीन हो गये थे लक्ष्मी का संदर्शन तथा स्तव-पाठ करके पुनः श्रीयुक्त हो गये। सबके अंत में विष्णु के अंश-स्वरूप आयुर्वेद के प्रवर्त्तक धंवंतरि जी हाथ में अमृत-पूर्ण कमंडलु लेकर समुद्र से उठे। असुरों ने उनके हाथ से कमंडलु छीन लिया और देवताओं को अर्धांश देकर, शेष अमृत ले जाने लगे। इसको देखकर विष्णु भगवान ने मोहिनी स्त्री का रूप धारण किया। उनके मनोमोहन रूप को देखकर सभी दैत्य मुग्ध हो गये और कहने लगे—"वरानने। तुम हमारी स्त्री हो जाओ और अपने हाथ से हमको अमृत पान कराओ?" प्रच्छन्न रूपी हरि ने "तथास्तु" कहकर असुरों के हाथ से अमृत के कमंडलु को ले लिया; परंतु असुरों को न पिला-कर देवताओं को पिला दिया।

असुर ताकते ही रह गये—उनके सौन्दर्य के प्रति मोह के कारण किसी से कुछ नहीं कहा गया। विष्णुजी ने एक पंक्ति देवताओं की और दूसरी असुरों की लगायी तथा देवताओं की पंक्ति में ही सब अमृत बाँट दिया। समस्त अमृत के बट जाने पर श्रीभगवान ने स्त्री-रूप परित्याग करके निज रूप धारण कर लिया। तदनंतर अमृतपान से वंचित होकर असुर बहुत क्रुद्ध हुए और देवताओं के साथ युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया। परंतु अमृतपान द्वारा अमर तथा तेजस्वी देवताओं ने अब असुरों को सम्पूर्ण रूप से परास्त कर दिया और अपने स्वर्गराज्य को असुरों के हाथ से छीन लिया। इस प्रकार से कूर्मा-वतार द्वारा असुरों का पराजय तथा दैवराज्य की स्थिति के द्वारा श्रीभगवान ने धर्म की रक्षा की थी। कूर्मावतार के इतिहास द्वारा अध्यात्म जगत में एक अपूर्व शिक्षा मिलती है। क्षीर-समुद्र जो कि समस्त सृष्टि का मूल कारण है—उसको मथित करके लक्ष्मी, अमृत आदि की प्राप्ति देवता केवल निज शक्ति द्वारा नहीं कर सकते थे। क्योंकि, विरुद्ध शक्ति के साथ संघर्ष (टक्कर) के बिना किसी प्रकार की क्रिया की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए दैवी शक्ति और उसके विपरीत आसुरी शक्ति—दोनों साथ मिलाकर जब कार्य करने लगीं तभी अमृत, विष तथा लक्ष्मी आदि की प्राप्ति क्षीरसागर से हुई।

संसार में भी जीव को संपत्ति तथा लक्ष्मी की प्राप्ति तभी हो सकती है जब जीव विरुद्ध शक्ति के साथ लड़ाई करने में प्रस्तुत हो। दुःख के साथ युद्ध किये बिना सुख की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। दरिद्रता के साथ लड़ाई लड़े बिना संपत्ति की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती, अँधेरे के साथ युद्ध किये बिना प्रकाश की प्राप्ति कदापि संभव नहीं है। अविद्या के साथ कठिन संग्राम किये बिना विद्या की प्राप्ति कदापि संभव नहीं है और अज्ञान के साथ संग्राम किये बिना ज्ञान का प्रकाश कदापि नहीं हो सकता। परंतु इसमें देवताओं एवं असुरों की परस्पर विरुद्ध शक्तियों के संघर्ष से महान क्रिया की उत्पत्ति और महान फल की प्राप्ति तभी हुई थी जब दोनों शक्तियों की रक्षा तथा सामंजस्य का स्थापन करने वाली कूर्म-भगवान की धर्मशक्ति सहायक रूप से दोनों के नीचे विद्यमान थी। अन्यथा दोनों शक्तियाँ परस्पर टकराकर बीच ही में समाप्त हो जातीं और समुद्र का मंथन कदापि नहीं हो सकता था। इसी प्रकार संसार में भी धर्म को लक्ष्य में रखकर यदि दोनों विरुद्ध शक्तियों का संघर्ष हो, तभी अंत में उत्तम फल की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा धर्म-लक्ष्य न होने पर दोनों शक्तियाँ लड़ती ही रह जायेंगी और लड़-लड़ कर अंत में दोनों ही समाप्त हो जायेंगी अर्थात् प्रलय के गर्भ में प्रवेश कर जायेंगी।

पृथिवी में जितने धर्म-संप्रदाय तथा उपधर्म परस्पर संग्राम में प्रवृत्त हैं—उन सबों में यदि कोई धर्म-सिद्धांत लक्ष्य रहेगा तब तो इन संग्रामों के द्वारा अंत में कोई सुफल उत्पन्न होगा, जिसको विज्ञानशास्त्र में शक्ति-समूह का परिणाम कहा जाता है, नहीं तो ये सब परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ यदि लक्ष्य-भ्रष्ट होकर ईर्ष्या-द्वेष के वशीभूत हो परस्पर को काटने तथा नष्ट करने की चेष्टा करेंगी तो समस्त विरुद्ध शक्तियों के परस्पर टक्कर खाने पर अंत में कुछ भी शेष नहीं रहेगा और संसार श्मशान हो जायेगा। अतः सामंजस्य करने वाली समस्त क्रियाओं की फलरूपिणी धर्मशक्ति को लक्ष्य में रखकर विरुद्ध शक्तियों के बीच में संग्राम होना चाहिए। इसी से संसार का कल्याण तथा धर्म की रक्षा है। राम-रावण का संग्राम न होता तो रामचरित्र की मधुरता संसार में प्रचारित न होती, पापी दुर्योधन आदि कौरवों के साथ युधिष्ठिर आदि पांडवों का युद्ध न होता तो धर्मपक्ष की रक्षा न होती। इसी प्रकार कूर्मावतार की कथा के द्वारा अध्यात्म-राज्य में नित्य शिक्षा प्राप्त होती है। पुराणों की हर एक वर्णना से लोक-शिक्षा होती है। उनकी कहानी-अंश में तात्पर्य नहीं है, तात्पर्य है उपदेश में (अर्थवादः देखिए)।

वराहावतार—दश अवतारों में तृतीय स्थानीय है। इस अवतार का आविर्भाव पाताल को गयी हुई पृथ्वी के उद्धार के लिए हुआ था। इसके विषय में श्रीमद् भागवत में लिखा है—जय और विजय नामक विष्णुलोक-निवासी विष्णु के दो द्वारपालों ने सनकादि कुमारों के शाप से विष्णुलोक से च्युत होकर दिति के गर्भ से जन्म-ग्रहण किया। उनमें से एक का नाम हिरण्याक्ष और दूसरे का नाम हिरण्यकशिपु हुआ। हिरण्याक्ष पृथ्वी पर अधिकार जमाकर उसे रसातल को ले गया। श्रीभगवान विष्णु ने वराहरूप धारण करके जलमग्न रसातलगत पृथ्वी का उद्धार किया और हिरण्याक्ष का बध करके स्वर्ग-राज्य का भी उद्धार किया।

श्रीमद्भागवत में लिखा है—हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के जन्मकाल में स्वर्गलोक, पृथिवीलोक तथा अंतरिक्ष में भय-जनक अनेक अनिष्ट होने लगे। पर्वतों के साथ पृथ्वी काँपने लगी, दशों दिशाओं में अग्नि प्रज्वलित हो गयी, उल्कापतन और वज्रपात होने लगे, दुःख देने वाले केतुओं का उदय हो गया। प्रबल वायु भीषण शब्द करती हुई बहने लगी, आँधी चलने लगी, धूलि उड़ने लगी और बड़े-बड़े वृक्ष उखड़कर गिरने लगे, हँसती हुई बिजली से परिपूर्ण घोर घनघटा से आकाश के आच्छन्न हो जाने पर चंद्र-सूर्य-नक्षत्रादि—सभी छिप गये और इधर-उधर कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं हो सका। समुद्र में ऊँची-ऊँची तरंगमालाएँ चलने लगीं, समुद्र में स्थित मगर आदि जंतु सागर के साथ उछलने लगे और तड़ागों, कूपों तथा सरोवरों के भी कमल सूख गये, अमंगलकारी सियार और उलूक ग्रामों के भीतर ही मुख से अग्नि-वमन करते हुए विकट शब्द करने लगे। कठिन खुरों से पृथ्वी को विदीर्ण करते हुए गर्दभ उन्मत्त की तरह चारों ओर चीत्कार करते हुए भागने लगे। गौओं के स्तन से दूध के बदले खून की धारा निकलने लगी, मेघ जल के बदले पूय (पीव) की वृष्टि करने लगे, देवमूर्तियाँ मानो रोदन करने लगीं और बिना वायु के वेग के ही वृक्ष जहाँ-तहाँ गिरने लगे। बृहस्पति-शुक्रादि शुभ ग्रहों को मंगल, शनि आदि क्रूर

ग्रहों ने दबा लिया और वक्र गति के साथ वे उनसे लड़ने लगे। इस प्रकार त्रिलोक में अशांतिकर कुलक्षणों के साथ उत्पन्न होकर भुजाओं के बल तथा ब्रह्माजी के वर के प्रताप से हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु ने समस्त स्वर्ग-राज्य पर अधिकार जमा लिया और देवताओं को निकाल दिया।

ब्रह्माजी से वर प्राप्त तथा भुजबल से उद्धत और मृत्यु-रहित होकर हिरण्यकशिपु ने तीनों लोकों तथा लोकपालों को अपने वश में कर लिया। हिरण्याक्ष भी हाथ में गदा लेकर कनिष्ठ भ्राता का प्रिय कार्य करने के लिए देवताओं के साथ युद्ध की इच्छा से स्वर्ग में जा पहुँचा। उसके दुःसह वेग, शब्द करता हुआ सोने का आभूषण, नूपुर, वैजयंतोमाला, भीषण गदा, शूरता, वीरता तथा ब्रह्मा जी से वर प्राप्ति के कारण अहंकार और निर्भय भाव को देखकर समस्त देवता, गरुड़ के भय से भीत सर्प की तरह, उसके भय से दब गये और भाग गये। अपने तेज से इंद्र प्रमुख समस्त देवताओं को भागते हुए देखकर दैत्यराज हिरण्याक्ष पुनः पुनः हुंकार करने लगा। तदनंतर वहाँ से निवृत्त होकर खेलने की इच्छा से भीषण गर्जन करता हुआ उसने मदमत्त हाथी की तरह समुद्र में प्रवेश किया। उसके समुद्र में प्रवेश करने पर सभी भयभीत हो युद्ध के बिना ही भाग गये। इस प्रकार से स्वर्गलोक, वरुणलोक आदि लोकों पर अधिकार जमाकर हिरण्याक्ष ने पृथ्वीलोक को भी जय कर लिया और उसे रसातल में ले जाकर जल के भीतर रख दिया।

तदनंतर सृष्टि में विश्रृंखला देखकर ब्रह्माजी के मन में चिंता हुई। श्रीमद्भागवत में लिखा है—ब्रह्माजी ने पृथ्वी को जलमग्न तथा दुःखित देखकर 'कैसे पृथ्वी का उद्धार किया जाय' इस प्रकार के ध्यान में मग्न हो गये। 'सृष्टि करते-करते ही पृथ्वी जलमग्न होकर रसातल को चली गयी। अतः इस विषय में सृष्टि-कार्य में नियुक्त मेरे लिए क्या अनुष्ठान करने योग्य है, इसका निर्णय, जिनके हृदय से हम उत्पन्न हुए हैं, वे ईश्वर ही करें।' इस प्रकार की चिंता करते-करते ब्रह्मा जी के नाक के छेद से अंगूठे के बरावर छोटा एक वराह-शिशु निकल आया। देखते-देखते वह छोटा वराह क्षणकाल के भीतर ही बृहदाकार हस्ती की तरह हो गया। इस प्रकार के अद्भुत रूप को देखकर ब्रह्मा जी सोचने लगे—'थोड़ी देर पहले यह अंगुष्ठ की तरह था। क्षण में ही स्थूल पत्थर के समान हो गया। मेरे चित्त में यह भावना होती है कि यह सामान्य वराह नहीं है; परंतु साक्षात् यज्ञपुरुष भगवान विष्णु वराहरूप में आये हैं। मरीचि आदि अपने पुत्रों के साथ इस प्रकार की मीमांसा करते ही वराहरूपधारी यक्षपुरुष भगवान सिंह की तरह गंभीर गर्जन करने लगे। जिससे दशों दिशाएँ गूँजने लगीं और ब्रह्माजी तथा मरीचि आदि की इस बात को जानकर परम संतोष प्राप्त हुआ कि साक्षात् भगवान ही पृथ्वी के उद्धार के लिए वराहावतार धारण करके आये हैं।

मायामय शूकर-देहधारी भगवान का देवताओं की दुःखनाशक घर्घर ध्वनि को सुनकर जन, तप और सत्यलोकवासी सभी मुनि तीन वेदों के मंत्रों से उनकी स्तुति करने लगे। वेद मंत्रों से स्तुति-प्राप्त वराह-भगवान उन सब स्तुति करनेवाले मुनियों के गुणगान को सुनकर पुनः पुनः नाद करते हुए उनको आश्वासन देकर जलक्रीड़ाशील हस्ती की तरह जल में प्रवेश कर गये। स्वयं यज्ञरूप होने पर भी वे वराहरूप में प्रच्छन्न होने के कारण पशु की तरह घ्राण लेते हुए पृथ्वी का अन्वेषण करने लगे। वे कराल-दंत वराह-भगवान करुणादृष्टि द्वारा स्तुति-परायण मुनियों के प्रति दृष्टिपात करते हुए जल में घुस गये। तीखे वाण की तरह तीव्र खुरों के द्वारा जलराशि को विदीर्ण करके भीतर जाकर वराह-भगवान ने देखा—जिस प्रकार प्रलय-काल में पृथिवी उनके उदर में लीन रहती है, उसी प्रकार अब भी रसातल में अवस्थित है। ऐसा देखकर उन्होंने अपने विशाल दंत द्वारा उसी समय पृथिवी को रसातल से ऊपर उठा लिया और वे जल से बाहर निकलकर सुशोभित हुए। दैत्यराज हिरण्याक्ष ने अपने सामने पृथ्वी का इस प्रकार से उद्धार करते हुए देखकर अत्यंत क्रोध किया और गदा लेकर वराह-भगवान पर आक्रमण कर दिया। परंतु अनंत शक्तिशाली होने पर भी मृगराज जिस प्रकार हस्ती को मार दिया करता है, उसी प्रकार वराहभगवान ने हिरण्याक्ष को अनायास ही मार डाला। जिस प्रकार पहाड़ को फाड़कर हस्ती गैरिक लाल रग से अपने गंडस्थल को सुशोभित करता है, उसी प्रकार हिरण्याक्ष को मारकर उसके रक्त की धारा से श्रीभगवान सुशोभित होने लगे।

नृसिंहावतार दस अवतारों में से चतुर्थ अवतार है। यह अवतार हिरण्याक्ष के कनिष्ठ भ्राता हिरण्यकशिपु को मारकर पृथ्वी में धर्म का उद्धार तथा स्वर्गराज्य को निरापद करने के लिए हुआ था। हिरण्याक्ष वध के पश्चात् भ्रातृवध

के कारण हिरण्यकशिपु श्रीविष्णु-भगवान पर बहुत ही द्वेष-भाव-युक्त हो गया और ब्रह्माजी के वर से गर्वित होकर समस्त स्वर्गराज्य पर अधिकार जमा लिया तथा देवताओं को स्वर्गलोक से निकाल दिया।

देवताओं ने विष्णु-भगवान से प्रार्थना की, जिस पर उन्होंने कहा कि "जब वह वेद, धर्म तथा अपने धार्मिक भगवद्भक्त पुत्र पर अत्याचार करेगा, तब हिरण्यकशिपु का निधन श्रीभगवान स्वयं करेंगे। हिरण्यकशिपु को ब्रह्मा जी ने यह वर दिया था कि न नर से और न पशु से उसका नाश होगा। इसलिए श्रीभगवान को अर्ध-नर और अर्ध-सिंह का रूप धारण करके हिरण्यकशिपु को मारना पड़ा था। दैत्यपति हिरण्यकशिपु के ४ पुत्र हुए। उनमें से प्रह्लाद उत्तम गुणवान और श्रीभगवान विष्णु के परम भक्त बने। हिरण्यकशिपु विष्णु-द्वेषी था। इसलिए विष्णुभक्त महात्मा प्रह्लाद के साथ भी उसने द्वेष और द्रोह करना प्रारंभ किया।

एक समय गुरुगृह से आये हुए प्रह्लाद से हिरण्यकशिपु ने पुछा "गुरुगृह में क्या पाठ पढ़ा है?" प्रह्लाद ने कहा—"हे असुरपति, मिथ्या संसार के प्रति मोह के कारण चंचल-चित्त जीवों के लिए मैं यही अच्छा समझता हूँ कि आत्मा को हीन करने वाले अंधकूप के सदृश संसार को छोड़कर वन में जाकर श्रीभगवान विष्णु की शरण लेवें।" पुत्र प्रह्लाद के मुख से शत्रु विष्णु के विषय में इस प्रकार की प्रशंसा सुनकर हिरण्यकशिपु वहुत ही क्रुद्ध हो गया और गुरुपुत्र को बुलाकर कहा—"तुमने प्रह्लाद को इसप्रकार निंदित शिक्षा क्यों दी?" गुरुपुत्र ने कहा—"हे इंद्रशत्रु दैत्यराज, आपका यह पुत्र न हमारा पढ़ाया हुआ विषय कहता है और न दूसरे का पढ़ाया हुआ विषय। इसकी यह भगवान के प्रति निष्ठा स्वाभाविक है। इस लिए हम पर आपको क्रोध नहीं करना चाहिए।"

तदनंतर हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद से पूछा—"गुरुपुत्र ने जो बात कही वह सत्य है कि नहीं?" इस पर प्रह्लाद ने कहा—"संसारासक्त जीवों का चित्त श्रीभगवान के चरण-कमलों में किसी भी प्रकार से आसक्त नहीं होता। वे सव चर्वित-चर्वण की तरह इंद्रियासक्त हो पुनः पुनः संसार-पंक में निमग्न हो जाते हैं। दुराशा के द्वारा वद्ध तथा स्थूल विषय में आसक्त होकर जीव सर्वव्यापक विष्णु को जान नहीं सकते और जिस प्रकार अंध के द्वारा चालित अंध गर्त्त में पतित हो जाता है उसी प्रकार वे भी कठिन संसार-पाश में वद्ध हो जाते हैं।" प्रह्लाद के इस प्रकार कहने पर हिरण्यकशिपु ने अतिक्रुद्ध होकर पुत्रको अपनी गोद से नीचे फेंक दिया और कोप से अपनी आँखों को लाल करके राक्षसों से कहा—"इस दुष्ट का शीघ्र वध करो। यह मेरे भ्राता का घातक है, क्योंकि भ्रातृघाती विष्णु की दासवत् पूजा करता है। इसके भोजन में विष देकर तथा अन्य सब उपायों से इसका वध करना चाहिए। यह मित्र-वेषधारी शत्रु है। इसलिए जिस प्रकार मुनि लोग दुष्ट इंद्रिय का निधन करते हैं उसी प्रकार इसका भी नाश करना चाहिए। अनेक उपायों का आश्रय लेते-लेते वह स्वयं वध करने के लिए उद्यत हो गया। इस प्रकार निज पुत्र परम भागवत प्रह्लाद को कटु बचन द्वारा पीड़ित करके महासुर हिरण्यकशिपु हाथ में तलवार लेकर सिंहासन से कूद पड़ा और स्तंभ पर सवेग मुष्टिप्रहार किया।

उसके मुष्टि-प्रहार करते ही एक अति भीषण शब्द निकला, मानो ब्रह्मांड-कटाह फटने लगा, जिससे ब्रह्मादि देवता संसार का प्रलय मानने लगे। तदनंतर अपने भृत्य प्रह्लाद के वाक्य को सत्य करने के लिए तथा समस्त बिश्व में अपनी व्यापक सत्ता को जताने के किए श्रीभगवान अपूर्व न मृग न मनुष्य—इस प्रकार नृसिंह रूप धारण करके सभास्थल में स्तंभ के ऊपर प्रकट हो गये। तपे हुए सोने की तरह कराल उनके नेत्र थे, जटा और केशर से उनका मुखमंडल चमकता था, दाँतों की लहरें अति भयानक थीं। तलवार की तरह चंचल तथा तीखी उनकी जिह्वा थी और भौहों की लहरों से भयानक उनका मुख था। नृसिंह भगवान का इस प्रकार का भीषण आकार देखने पर भी दुष्ट पराक्रमी हिरण्यकशिपु के हृदय में भय उत्पन्न नहीं हुआ। 'मायावी हरि ने इस प्रकार से मेरा वध करना सोचा होगा, इससे क्या'—ऐसा कहकर वह हाथ में गदा लेकर नृसिंह-भगवान के प्रति प्रहार करने को उद्यत सुआ।

तदनंतर भयानक वेग से गदा प्रहार करनेवाले हिरण्य-कशिपु को गदा के साथ गदाधर हरिने, गरुड़ जिस प्रकार सर्प को अनायास पकड़ता है, ऐसे ही पकड़ लिया। इंद्र के वज्र से भी जिसकी त्वचा भिन्न नहीं होती थी इस प्रकार का प्रचंड हिरण्यकशिपु नृसिंह भगवान से पकड़े जाने पर विवश होकर चारों ओर हाथ-पाँव पटक कर

तड़फने लगा और जिस प्रकार ब्रह्मा जी से उसने वर माँगा था कि भीतर-बाहर मैं नहीं मरूँगा, भूमि या अकाश में भी नहीं, अस्त्र के द्वारा नहीं, दिवा-रात्रि किसी समय भी नहीं मरूँगा, इन वरों को स्मरण करके, सर्प जिस प्रकार चूहे को पकड़ता है, उसी प्रकार नृसिंह-भगवान ने हिरण्यकशिपु को पकड़ सभा के बीच में अपने ऊरुके ऊपर रख लिया और गरुड़ जिस प्रकार महा-विषधर सर्प को मार देता है, उसी प्रकार अपने नखों के द्वारा संध्या के समय अनायास ही उसको फाड़कर मार डाला। हिरण्य-कशिपु को मार कर उसकी अँतड़ियों को नृसिंह-भगवान ने गले में धारण कर लिया और उसके रक्त से केश और मुख को रंग लिया। तदनंतर उसके अन्य सब अनुचरों को मार दिया और क्रोध से तीनों भुवनों को भय दिखाने-वाला भीषण गर्जन करने लगे। दैत्य के नाश से देवता प्रसन्न हो गये और ब्रह्मा, इंद्र, ऋषि, पितर, सिद्ध, विद्या-धर, मनु, प्रजापति, गंधर्व, चारण, यक्ष, किंपुरुष आदि सब उनके पास आकर हाथ जोड़ स्तुति करने लगे। परंतु किसी तरह से उनका क्रोध शांत नहीं हुआ। तदनंतर महाभागवत प्रह्लाद ने आकर साष्टांग दंडवत किया और हाथ जोड़ अनेक स्तुति की। भक्तवत्सल भगवान प्रह्लाद की स्तुति से प्रसन्न हो गये। उनका समस्त क्रोध शान्त हो गया और प्रह्लाद को स्थूल धन आदि संपत्ति के लिए वर माँगने की आज्ञा दी। प्रह्लाद ने सांसारिक कुछ भी वर नहीं माँगा, केवल कहा :—"हे भगवन्! यदि आप मुझे कोई वर देना चाहते हैं, तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदय में वासना की उत्पत्ति कभी न हो।" (यदि दास्यसि मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ। कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृषे वरम्—मार्कण्डेय-पुराण। "तथास्तु" कहकर भगवान ने कहा—"इस लोक में तुम परम ऐश्वर्य के अधिकारी होकर, मृत्यु के अनंतर मुझे प्राप्त करोगे।"

तदनंतर प्रह्लाद ने श्रीभगवान के प्रति द्वेष करने से पिता को जो पाप हुआ है, उसकी निवृत्ति के लिए भगवान से प्रार्थना की। जिस पर श्रीभगवान ने कहा—"केवल तुम्हारा पिता ही नहीं। परन्तु इक्कीस पुरुष तक तुम्हारे वंश में उत्पन्न पितृगण उद्धार हो जायेंगे। जिनके वंश में तुम जैसे साधु पुत्र उत्पन्न हुए हो।" इस प्रकार उपदेश प्रदान करके देव-द्विज-मानवों के द्वारा स्तुति-प्राप्त होकर श्रीभगवान नृसिंह अंतर्धान हो गये। इसके बाद प्रह्लाद को मुनियों ने पिता के राज्य में अभिषिक्त किया।

वामन-अवतार दस अवतरों में से पंचम है। इस अवतार में श्रीभगवान ने दैत्यराज बलि को त्रिलोक से च्युत करके सुतल-लोक में भेज दिया था और दैत्यराज का उद्धार किया था। दैत्यराज्य बलि ने अपने पराक्रम द्वारा स्वर्गराज्य पर अधिकार विस्तार करके इंद्रादि देवताओं को स्वर्गच्युत तथा राज्य-च्युत कर दिया था, जिसके कारण ब्रह्मांड-प्रकृति में विश्रृंखलता और धर्मराज्य में हानि होने लग गयी थी। इसलिए परम दानी और सत्यव्रत होने पर भी ब्रह्मांड-प्रकृति की व्यवस्था के निमित्त श्रीभगवान को वामनावतार धारण करके दैत्यराज बलि से भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक छीन लेना पड़ा था। इस प्रकार से बलि को राज्यच्युत करके श्रीभगवान ने देवताओं को निरापद कर दिया और तत्पश्चात् बलि की सत्यप्रतिज्ञा तथा दान-धर्म के पुरस्कार के रूप से उनके द्वार पर द्वारपाल का कार्य दिया और परवर्ती कल्प में बलि जो इंद्रत्व प्रदान किया। यही वामनवतार में दोनों ओर की सामंजस्य-रक्षा के द्वारा ब्रह्मांड-प्रकृति की व्यवस्था तथा धर्मस्थापन का रहस्य है।

परशुरामावतार दस अवतारों में से षष्ठ है। दस अवतारों में श्रीभगावान ने क्षत्रियशक्ति को बुरी तरह से प्रबल तथा ब्राह्मणशक्ति के प्रति विद्वेष-युक्त और नाशेच्छु देख कर इक्कीस बार पृथिवी को क्षत्रियहीन कर दिया था, संसार की स्थिति के तथा ब्रह्मांड-प्रकृति के नियमानुसार धर्म की रक्षा तभी हो सकती है जब ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति दोनों में समता रहे और एक दूसरे का नाश करनेवाली न हो। (मनुसंहिता के नवम अध्याय में लिखा है:—ब्रह्मशक्ति के बिना क्षात्रशक्ति पुष्ट नहीं हो सकती है और क्षात्रशक्ति के बिना ब्रह्मशक्ति वृद्धि कोप्राप्त नहीं हो सकती और दोनों की समता अर्थात् सामंजस्य के द्वारा ही संसार का कल्याण साधन होता है (नाब्रह्म क्षत्रमृघ्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते, ब्रह्म क्षत्रञ्च सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते—मनु ९।३२२)। परंतु त्रेतायुग में ऐसा एक समय आया था जिस समय क्षत्रियशक्ति और ब्रह्मशक्ति के बीच का सामंजस्य नष्ट हो गया था और क्षात्रशक्ति के धर्मभावविहीन हो जाने से संसार में धर्मनाश, ब्राह्मणों पर

अत्याचार आदि होने लग गये थे। दत्तात्रेय के वर से उन्मत्त सहस्रबाहु कार्तवीर्यार्जुन आदि प्रबल पराक्रांत क्षत्रिय-नरपतियों ने अपनी क्षत्रियशक्ति को धर्मनाश तथा ब्रह्मनाश के कार्य में लगा दिया था, जिससे संसार में बड़ी ही अव्यवस्था फैल गयी थी। इसलिए श्रीभगवान को उस समय अवतार धारण करके अधार्मिक क्षत्रियशक्ति के नाश द्वारा संसार में शांति-स्थापन और धर्म की रक्षा करनी पड़ी थी। यही परशुराम-अवतार धारण करने का तात्पर्य है। इसका संक्षेप वर्णन अग्निपुराण से उद्धृत किया जाता है।

परशुराम-अवतार को कथा यह है। क्षत्रियों को उद्धत तथा अधर्माचारी देख कर उनके भार से पीड़ित पृथ्वी के उद्धार के लिए देव-द्विजरक्षक श्रीभगवान ने पिता जमदग्नि के द्वारा माता रेणुका के गर्भ से परशुरामरूप में अवतार धारण किया था। अनेक शस्त्र-विद्याओं में परशुराम पारंगत थे। उसी समय कार्तवीर्यार्जुन नामक एक नृपति ने दत्तात्रेय की उपासना के द्वारा सहस्रबाहु प्राप्त किये थे और अपने पराक्रम से समस्त पृथिवी का आधिपत्य लाभ किया था। किसी समय मृगया में जाकर कार्तवीर्यार्जुन वन के बीच में क्लांत हो पड़े, जिस पर महर्षि जमदग्नि ने उनको निमंत्रण देकर अपने आश्रम में बुलाया और अपनी कामधेनु के प्रभाव से परम संतोष के साथ कार्तवीर्यार्जुन को भोजन कराया। कामधेनु का इस प्रकार का प्रभाव देख कर राजा ने महर्षि से उसको माँगा; किन्तु महर्षि ने उसको देने से इनकार किया; जिस पर राजा कार्तवीर्यार्जुन बलपूर्वक कामधेनु को छीन ले गया। जब परशुराम को यह अत्याचार सुनने में आया तो, वे कार्तवीर्यार्जुन के पास पहुँचे और उसे युद्ध में पराजित कर और अपने परशु के द्वारा उसका सिर काट कर कामधेनु को अपने आश्रम पर लौटा लाये। तदनंतर कार्तवीर्यार्जुन के पुत्रों ने पितृ-हत्या को स्मरण करके, जिस समय परशुराम वन में गये हुए थे, उस समय जमदग्नि के आश्रम में आकर महर्षि जमदग्नि को मार डाला। परशुराम ने आश्रम में आकर पिता की मृत्यु का संवाद सुना और क्रुद्ध होकर इसी को निमित्त करके दुर्दांत क्षत्रियों द्वारा पीड़ित पृथिवी का भार हरने के लिए इक्कीस बार पृथिवी को क्षत्रियहीन कर दिया और क्षत्रियों के रक्त से कुरुक्षेत्र में पाँच कुंड निर्माण करके उनमें पितरों का तर्पण किया तथा महर्षि कश्यप के हाथ पृथिवी को समर्पण करके महेंद्र पर्वत पर चले गये।

श्रीमद्भागवत के नवम स्कन्ध के १६ वें अध्याय में लिखा है कि अमर होने के कारण आज तक परशुराम जी महेंद्र पर्वत में विराजमान हैं। सिद्ध, गंधर्व और चारण लोग उनके अपूर्व चरित्र का गान करते रहते हैं। श्रीभगवान के रामावतार धारण करने पर परशुराम की अवतारशक्ति रामचंद्र में खिंच गयी थी। इसका वर्णन रामायण में मिलता है। जैसे परशुराम के द्वारा प्रदान किये वैष्णव धनु में बाण की योजना करते ही वैष्णवी शक्ति परशुराम को छोड़कर रामचंद्र में आ गयी। देवता इस दृश्य को देखने लगे। यही संक्षेप से परशुरामावतार का इतिहास है।

रामावतार दश अवतारों में से सप्तम है। परशु-रामावतार के बाद ब्रह्मांड-प्रकृति में इस अवतार के प्रकट होने का विशेष प्रयोजन हुआ था। इसलिए रामावतार के द्वारा संसार में जो आदर्श जीवन का दृष्टांत स्थापित हुआ है, इससे मनुष्य-लोक में अनंतकाल तक अनेक प्रकार के कल्याण-साधन हो सकेंगे, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। रामावतार में श्रीभगवान विष्णु किस प्रकार से चार भागों में प्रकट हुए थे, इस विषय में रामायण के बालकांड के १८ वें सर्ग में वर्णन है :—

अयोध्यापति महाराजा दशरथ के तीन रानियाँ थीं। उनमेंसे कौशल्या नामिका रानी ने दिव्य लक्षणों से युक्त रामचंद्र को प्रसव किया, जो विष्णु-भगवान के अर्धांश थे। दूसरी रानी कैकेयी ने सत्यविक्रम, सर्वगुण-संपन्न भरत को प्रसव किया, जो विष्णु भगवान् के चतुर्थांश थे। तीसरी रानी सुमित्रा ने वीर, सकल अस्त्र में निपुण लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामक दो पुत्र प्रसव किये, जो विष्णु भगवान के दो अष्टमांश थे। इस प्रकार से रामावतर में अर्धांश, चतुर्थांश और दो अष्टमांश मिलकर विष्णु भगवान का पूर्णरूप में अवतरण हुआ। माया परमात्मा की नित्यसंगिनी हैं। इसलिए महामाया ने भी सीतादेवी रूप से नारी-जीवन का पूर्ण आदर्श संसार में प्रकट करने के लिए श्री भगवान रामचंद्र की अर्द्धांगिनी बनकर अवतार धारण किया। रामोत्तर-तापिन्युपनिषद के अनुसार परमात्मा-रूपी श्रीराम के सान्निध्य से जगत् की आधार-रूपिणी सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारिणी मूलप्रकृतिरूपा श्रीसीतादेवी हैं।

रामावतार में नरदेव रूप से भगवान का अवतार आदर्श-मानव-जीवन बताने के लिए और नर-देवीरूप से प्रकृति माता का सीतारूप अवतार आदर्श नारी-जीवन का दृष्टान्त संसार में स्थापन करने के लिए हुआ था। इसलिए समस्त अंशावतारों में से रामावतार मुख्यतम है और इसीलिए संसार में रामावतार की इतनी पूजा है

महर्षिवाल्मीकि ने देवर्षि नारद से सुनकर रामायण की रचना की। पुत्र की इच्छा से सूर्यवंशीय महाराजा दशरथ ने महर्षि ऋष्यश्रृंग के द्वारा यज्ञ कराया था। उसी यज्ञ में प्राप्त हुए पायसान्न से राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—ये चार पुत्र श्रीभगवान विष्णु के अंशों से उत्पन्न हुए। वे सभी अपूर्व गुणों से युक्त थे और श्रीरामचन्द्र जी की गुणावली अलौकिक थी। चंद्रकला की तरह वे सब पुत्ररत्न दशरथगृह में दिन-दिन वर्धित होने तथा शिक्षा पाने लगे। एक समय महर्षि विश्वामित्र ने यज्ञ-विघ्न दूर करने के लिए दशरथ से राम-लक्ष्मण को माँगा। प्रार्थना करने पर महाराजा ने दोनों पुत्रों को ऋषि-कार्य के लिए भेज दिया। उस समय रामचंद्र जी ने महर्षि विश्वामित्र के पास अनेक अस्त्र-शस्त्र-विद्या की शिक्षा प्राप्त की। तदनंतर यज्ञविघ्न को दूर करने के लिए रामचंद्रजी ने ताड़का नाम्नी राक्षसी को मारा; अस्त्र के आघात से मारीच नामक राक्षस को भी भगा दिया और यज्ञनाशक सुबाहु नाम के राक्षस को मारकर सिद्धाश्रम में आ गये। वहाँ से धनुर्यज्ञ के दर्शनार्थ विश्वामित्र के साथ दोनों भ्राता राजर्षि जनक की राजधानी मिथिला में पहुचे। महाराजा जनक की श्रीराम से हरधनु का भंग करने के लिए प्रार्थना करने पर उन्होंने उसको तोड़ दिया, जिससे सीता के साथ श्रीरामचंद्र का शुभ विवाह हुआ। तदनंतर जनक की दूसरी कन्या उर्मिला के साथ लक्ष्मण का और जनक के भ्राता कुशध्वज की दो कन्याएँ मांडवी और श्रुतकीर्ति के साथ भरत और शत्रुघ्न का विवाह हुआ। सब मिलकर अयोध्या की ओर चले। रास्ते में परशुराम के साथ विरोध होने पर उनको भी रामचंद्र जी ने हीन-तेज तथा पराजित कर दिया। तदनंतर भरत मातुलगृह में जाकर रहे और श्रीरामचंद्र जी पिता की सेवा में अयोध्या आये। कुछ समय गत होने पर महाराजा दशरथ की इच्छा हुई कि सर्वगुणाधार राम को राज्य में अभिषिक्त करें। मंत्रियों ने भी इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। रामचंद्र जी को सूचित करने पर उन्होंने सहर्ष पितृ-आज्ञा के पालन का अनुमोदन किया और राज्याभिषेक की व्यवस्था होने लगी। इतने में महारानी कैकेयी को दासी मंथरा ने षड्यंत्र रचा और कैकेयी को बहकाया। वह षड्यंत्र यह था कि रामचंद्र के बदले भरत को राजा बनाया जाय और राम को वन में भेज दिया जाय। इस षड्यंत्र के अनुसार कैकेयी को दुष्टा मंथरा ने समझाया कि "तुम महाराजा से पहले स्वीकार किये हुए दो वर माँगो। एक वर में भरत राजा हों और दूसरे में १४ वर्षों तक रामचंद्र वन में रहें।" कैकेयी ने ऐसा ही किया। कैकेयी के मर्मभेदी निष्ठुर वाक्य को सुनकर महाराजा दशरथ मूर्च्छित हो गये; परंतु सत्य पाश से बद्ध होने के कारण वे उसको टाल न सके। तदनंतर कैकेयी ने रामचंद्र से भी यह बात कही; जिस पर मातृ-पितृ-भक्त साधुचरित्र रामचंद्र जी ने निःसंकोच पितृ-सत्यपालन के लिए वनवास स्वीकार किया और पिता-माता से विदा होकर कनिष्ठ भ्राता लक्ष्मण तथा भार्या सीता के साथ वन की ओर यात्रा की। समस्त अयोध्यावासियों में हाहाकार मच गया। वे सब राम के पीछे-पीछे रोते चले। रामचंद्र जी ने सीता और लक्ष्मण के साथ प्रथम रात्रि तमसा नदी के तीर पर काटी और दूसरे दिन अयोध्यावासियों को न जनाकर वहाँ से चल दिये। नगरवासी हाहाकार करते हुए अयोध्या लौट आये। जटा-वल्कलधारी रामचंद्र सीता और लक्ष्मण के साथ श्रृंगवेर पुर में पहुँचे। वहाँपर व्याधपति परममित्र गुह के पास रात्रि काटी। दूसरे दिन सारथि सुमंत्र को बिदा करके नौका से गंगापार होकर वे प्रयाग पहुँचे। वहाँ ऋषिवर भरद्वाज से मिले और वहाँ से चित्रकूट में जाकर मंदाकिनी के तट पर वास करने लगे। इधर पुत्रशोकातुर दशरथ के राम-विरह में प्राण चले गये, जिस पर मातुलालम (नाना के घर) से राज्यशासन के लिए मंत्रियों ने भरत को बुलाया। भरत ने अयोध्या में आकर सब बातें सुनीं और माता को तिरस्कार करके पिता की मृत्यु तथा भ्राता के वनवास के हेतु परम शोक प्रकट किया तथा ज्येष्ठ के वर्तमान रहते राज्य ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। तदनंतर भरत ने अपने अनुचरों के साथ श्रीरामचंद्र को अयोध्या में लौटाने के लिए वनयात्रा की और रामचंद्र के पास पहुँच कर पिता का मृत्यु-संवाद दिया और पुनः प्रार्थना की कि आप अयोध्या में आकर राज्य पालन करें, मैं आपकी आज्ञा लेकर वनवासकरूँगा।

पिता का मृत्यु-संवाद सुनकर रामचंद्र जी ने बहुत शोक प्रकट किया। तदनंतर पिता का श्राद्ध-तर्पणादि करके भरत से कहा कि पितृसत्य-रक्षा करना हमारा धर्म है, इसलिए चतुर्दश वर्ष मैं वनवास करूँगा। तुम अयोध्या का राज्य करो। इस पर भी भरत ने वारंवार प्रार्थना की। परंतु जब रामचंद्र जी किसी प्रकार से भी सम्मत न हुए तो उनकी पादुका (खड़ाऊँ) ग्रहण कर अयोध्या लौट आये और सिंहासन पर उस पादुका को रखकर नित्य उसकी पूजा और तपस्वी वेश में नंदीग्राम में रह कर राज्य पालन करने लगे। तदनंतर रामचंद्र जी ने उस स्थान को त्याग करके महर्षि अगस्त के प्रसाद से लब्ध धनु और खड्ग ग्रहण कर दंडकारण्य में प्रवेश किया। वहाँ गोदावरी नदी के तट पर स्थित पंचवटीवन में कुटी बनाकर राम सीता और लक्ष्मण के साथ निवास करने लगे। एक समय वहाँ पर शूर्पणखा नाम्नी एक राक्षसी आयी। श्रीरामचंद्र का सुंदर रूप देखकर काममुग्धा हो उसने राम से कहा—"तुम मेरे पति हो जाओ; मैं तुम्हारे साथ की स्त्री और पुरुष को मैं ग्रास कर लेती हूँ।" ऐसा कह कर जब उसने सीता को ग्रास करने का उद्योग किया तो, राम की आज्ञा से लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काट लिये। नासा-कर्ण-हीना शूर्पणखा ने अपने भ्राता खर के पास जाकर दुःख-कथा कह सुनायी। जिस पर खर ने राम को मारने के लिए दूषण, त्रिशिरा और १४ हजार राक्षस सेनाओं के साथ रामचंद पर आक्रमण किया। परंतु भगवान के तीक्ष्ण वाणों से अल्प समय के भीतर सभी मारे गये।

शूर्पणखा लंका में पहुँची और रावण से सब वृत्तांत बताकर सीता-हरण के लिए प्रार्थना की। दशानन ने शूर्पणखा की बात सुनकर मारीच से कहा कि "तुम स्वर्ण-मृग का रूप धारण करके सीता के सामने से निकलो, तुम्हारी सुंदर मूर्ति देखकर राम-लक्ष्मण तुम्हें मारने के लिए आश्रम से बाहर जायँगे। उस समय मैं सीता का हरण करूँगा। यदि मेरी बात न मानोगे तो, तुम्हें मार डालूँगा।" मृत्यु के भय से मारीच को स्वर्णमृग का रूप धारण करके सीता के पास जाना पड़ा और सीता की प्रार्थना से रामचंद्र ने आश्रम से बाहर जाकर उसको मार दिया। मरते समय मारीच राम के कंठस्वर से "हा सीते, हा लक्ष्मण ! तुम कहाँ रहे।"—ऐसा उच्च स्वर से कहता हुआ मर गया। दूर से राम-कंठ का इस प्रकार का विलाप सुनकर राम पर कोई आपत्ति आयी है—ऐसा सोच सीता जी ने लक्ष्मण को भेज दिया। तदनंतर आश्रम में एकाकी देख कर रावण ने छल से सीता को हरण कर लिया। रास्ते में गृध्रराज जटायु के साथ, सीता के उद्धार के लिए, रावण का घोर युद्ध हुआ और अंत में रावण ने जटायु के पंख काटकर उसको नीचे गिरा दिया तथा सीता को लेकर लंका में पहुँचा। पति के वियोग से दुःखिता सीता को रावण अशोक कानन में रख कर प्रलोभन द्वारा अपनी स्त्री बनाने के लिए बहुत प्रयत्न करने लगा। इधर मारीच को मारकर लौटते समय रामचंद्र जी ने रास्ते में लक्ष्मण को देखा और पूछा कि 'सीता को अकेली आश्रम में क्यों छोड़ आये ?' लक्ष्मण ने छोड़ने का कारण बताया। पीछे दोनों ने आश्रम में आकर देखा कि सीता नहीं हैं। सीता को चोरिता (खोई) जानकर रामचंद्र जी ने बहुत शोक प्रकाश किया। तदनंतर दोनों भाई जानकी की खोज में चारों ओर भ्रमण करने लगे। भ्रमण करते-करते रास्ते में मृतप्राय जटायु के साथ साक्षात्कार हुआ। जटायु ने रावण का सीता हरण, उसके साथ अपनी लड़ाई आदि समस्त विषय वर्णन करके अपने प्राण परित्याग किये। रामचंद्र जी ने यथाविधि जटायु का मृत-संस्कार किया और थोड़ी दूर पर जाकर एक शापभ्रष्ट कवंध (सिर से हीन प्रेत) को मार दिया। रामचंद्र के हाथ से निहत होकर कवंध शापमुक्त हो गया और रामचंद्र जी से सुग्रीव के साथ मैत्री स्थापन करने के लिए अनुरोध करके अपने स्थान पर चला गया। तदनंतर शोकग्रस्त रामचंद्र पंपा-सरोवर में जाकर शबरी से मिले और हनुमान के साथ उनका साक्षत्कार हुआ। हनुमान जी रामचंद्र जी को सुग्रीव के निकट ले गये। रामचंद्र जी ने सुग्रीव के साथ मैत्री की और उसके भाई बाली को मारकर सुग्रीव को किष्किधा के सिंहासन पर बिठाया। किष्किधा-पति सुग्रीव ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपने आधीनस्थ हनुमान आदि वानरों को सीता के अन्वेषण के लिए चारों ओर भेज दिया। समस्त वानर सीता का पता न पाकर लौट आये। केवल हमुमान को जटायु के भ्राता संपाति नामक पक्षी से सीता का पता चला कि सीता लंकापुरी के बीच अशोक कानन में वास कर रही है। हनुमान समुद्र पार कर लंका में पहुँचे और समस्त लंका ढूँढ कर अशोक वन स्थित एक वृक्ष के मूल में राक्षसियों के द्वारा घिरी हुई सीता को देखा। उस समय वहाँ पर रावण सीता को मनाने के लिए

आया था। परंतु जब निराश होकर चला गया, तब वृक्ष के ऊपर से हनुमान जी ने सीता के साथ बात की और रामचंद्र जी के पास से आने का संवाद और उसका प्रमाण-स्वरूप राम के द्वारा दी हुई अंगूठी सीता को दी। सीता जी ने प्रसन्न होकर अपने परिचय का चिह्न-स्वरूप एक मणि हनुमान को दिया और शीघ्र अपने उद्धार के लिए राम के पास प्रार्थना करने को कहा। पश्चात् हनुमान जी ने लंका दग्ध की और अनेक राक्षसों को मारा तथा रावण के बागीचों को उजाड़ कर रामचंद्र के पास लौट आये और सीता का संवाद तथा सीता के द्वारा दिया गया मणि दिया। इस प्रकार से सीता का संवाद मिलने पर राम, लक्ष्मण और असंख्य वानर सैन्यों के सहित सुग्रीव लंका-यात्रा के लिए समुद्रतट पर पहुँचे। उस समय रावण के भ्राता विभीषण भी रामचंद्र के पास आकर उनके शरणापन्न हुए और कहा कि "सीता को राम के हाथ में लौटा देने के लिए अनुरोध करने पर रावण ने उनको लंका से निकाल दिया है। अब रामचंद्र से मिलकर विभीषण पापी रावण का वंशनाश करावेगा।" इसके पीछे समुद्र को वश में करके भगवान रामचंद्रजी ने नल नामक वानर के द्वारा समुद्र पर पुल बनवाया और ससैन्य लंका में पहुँचे। इस तरह श्रीरामचंद्रजी ने दूत-रूप से रावण के पास अंगद नामक वानर को भेजा और यह कहलाया कि 'यदि मृत्यु से भय हो तो शीघ्र ही सीतादेवी को प्रत्यर्पण करो।' दुर्दांत रावण ने सीता को लौटा देने से अस्वीकार किया। तब युद्ध के सिवाय और उपाय न रहा। हनुमान, जांबवान, नल, नील, अंगद, सुग्रीव, गवाक्ष आदि असंख्य वानर-सैन्यों के और लक्ष्मण, विभीषण के साथ रावण और उसकी राक्षसी सेनाओं से घोर संग्राम प्रारंभ हुआ। इस घोर संग्राम की भीषणता की तुलना नहीं हो सकती।

इस घोर संग्राम में रावणपुत्र महावीर इंद्रजित ने एक बार राम लक्ष्मण को नाग-पाश से बद्ध और मूर्छित कर दिया था। विनतानंदन गरुड़ का आवाहन करने पर दोनों नाग-पाश से मुक्त हो गये। रावण के भ्राता दीर्घ निद्रावाले महावीर कुंभकर्ण के साथ राम का भीषण संग्राम हुआ और अंत में रामचंद्रजी ने उसका सिर काट दिया। महाबीर लक्ष्मण जी ने निकुम्भिला के यज्ञगृह में इंद्रजित को मार दिया। उस पर क्रुद्ध होकर रावण ने लक्ष्मण को शक्ति-शेल के प्रयोग द्वारा मूर्च्छित कर दिया। महावीर हनुमान जी ने विशल्य-करणी नामक औषधि लाकर लक्ष्मण को उसके प्रयोग से आराम कर दिया। अंत में रामचंद्रजी के साथ रावण का घोरतर संग्राम हुआ, जिससे राक्षस-पति रावण का निधन हुआ। इस प्रकार से रावण का सवंश नाश करके श्रीभगवान रामचंद्रजी ने सीता का उद्धार, संसार में धर्म का स्थापन और दैव जगत को निरापद किया। विभीषण को लंका का राज्य सौंपकर सीता और लक्ष्मण के साथ रामचंद्र अयोध्या लौट आये।

रामावतार का चरित्र शिक्षा का भंडार है। भगवान विष्णु के अंश से उत्पन्न राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न इन चारों भाइयों ने अपने-अपने चरित्र से संसार में अपूर्व आदर्श स्थापित किया।

रामावतार में जो बड़े-बड़े वानर लंका विजय में सहायक हुए थे वे भी विभिन्न देवताओं के अवतार थे। रामायण के बालकांड के १७ वें सर्ग में लिखा है कि महाराजा दशरथ के चार पुत्र रूप में भगवान विष्णु से उत्पन्न होने के अनंतर स्वयंभू ब्रह्मा ने समस्त देवताओं से कहा—हमारे हित के लिए विष्णु ने मनुष्य शरीर धारण किया है, इस कारण आप लोग उनकी सहायता के लिए कामरूपी जीवों को उत्पन्न कीजिए। अप्सराओं, गंधर्वियों, यक्ष-कन्याओं, विद्याधरियों, किन्नरियों और वानरियों के गर्भ से आपलोग बलवान वानर रूप से उत्पन्न हो जाइये।" तदनुसार इंद्र ने बालिको, सूर्य ने सुग्रीव को, कुबेर ने गंधमादन नामक वानर को, विश्वकर्मा ने नल को, पवनदेव ने महा-पराक्रमी वज्रतुल्य हनुमान को उत्पन्न किया। अतः ये वानर मामूली जीव नहीं थे विभिन्न देवताओं के अंशों से उत्पन्न अवतार ही थे।

रामचंद्र की धर्म-पत्नी सीतादेवी विष्णु-शक्ति लक्ष्मी की ही अवतार थी। पातिव्रत्य ही स्त्री-जाति की मुक्ति का एक मात्र उपाय होने से स्त्री-चरित्र की पूर्णता पातिव्रत्य की पूर्णता से ही होती है। माता सीता के समस्त जीवन में पातिव्रत्य धर्म की पराकाष्ठा हो गयी थी, जिसकी तुलना संसार में दुर्लभ है। पाति सती के

प्राण हैं। जिस प्रकार प्राण को छोड़कर जीव जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार पति को छोड़कर पत्नी नहीं रह सकती। रामचंद्र के वनगमन के समय ससुर, सास, पति, देवर आदि के बहुत मना करने पर भी सती सीता पति के साथ वन को चली गयी। रावण के द्वारा चुरायी जाकर लंका की अशोक-वाटिका में राक्षसियों के पहरे के भीतर रखी जाने पर भी सती ने पति का ध्यान करते हुए किसी प्रकार अपने जीवन की रक्षा की। उनका ध्यान कितना गंभीर था उसका दिग्दर्शन नीचे लिखित एक श्लोक में वर्णित किया गया है। लंका की अशोक-वाटिका में सीता जी के पहरे के लिए अनेक राक्षसियाँ नियुक्त थीं। उनमें से त्रिजटा नाम की राक्षसी सीताजी पर बहुत ही स्नेह रखती थी। उससे एक दिन सीताजी ने कहा "हे त्रिजटे! जिस प्रकार तैलपायी कीट (तिलचट्टा) भ्रमर के द्वारा पकड़े जाने पर भय से भ्रमर की भावना करते हुए भ्रमर बन जाता है उसी प्रकार मैं भी निरंतर रघुनंदन की चिंता करती हुई रघुनंदन बन जाऊँगी, इस कारण हमारा दांपत्य-सुख चला जायगा।" इसके उत्तर में त्रिजटा ने उन्हें सांत्वना देते हुए कहा—"हे मैथिलेंद्रतनये, तुम शोक मत करो। वह भी ध्यानयोग कर रहे हैं, तुम्हारी चिंता में तल्लीन हैं इसलिए हे सरले, मैं कहती हूं कि वह भी सीता बन जायेंगे तो तुम दोनों का दांपत्य-सुख बना रहेगा" (कीटोऽयं भ्रमरीभवत्यतिनिदिध्यासाद् यथाहं तथा स्यामेवं रघुनन्दनोऽपि त्रिजटे, दाम्पत्यसौख्यं गतम्। शोकं मा वह मैथिलेन्द्रतनये तेनापि योगः कृतः, सीता सोऽपि भविष्यतीति सरले तन्मे मतं जानकि—भक्तिरसामृत-सिंधु ८।१०६)।

अयोध्या में पति के साथ कुछ काल तक सुख-भोग करने के अनंतर सीताजी पति के द्वारा पुनः बनवास भेज दी गयीं। उस समय वह गर्भवती थीं। वाल्मीकि मुनि के आश्रम में उन्हें दो पुत्र-रत्नों की प्राप्ति हुई। पति के अनुरूप पुत्र पाकर उनका पालन-पोषण करते हुए सीता जी पति के ध्यान में ही लवलीन रहती थीं। उनके हृदय में पति को छोड़कर अन्य किसी पुरुष की छाया तक नहीं पड़ी। वह अपने से अधिक वयस के पुरुषों को पिता के समान, समवयस्क पुरुषों को भाई के समान और अपने से छोटे व्यक्तियों को पुत्र के समान देखती थीं।

समय आने पर जब सीताजी फिर से अयोध्या बुलायी गयीं और पति रामचंद्र ने उनसे अग्नि में प्रविष्ट होकर अपने सतीत्व की परीक्षा देने को कहा तो पति-परायणा सती-शिरोमणि सीताजी के सिर पर मानो ब्रज्रपात हुआ। जीवन भर उन्होंने पति में जो एकाग्रता की साधना की थी उसके प्रभाव से उन्होंने वहीं गिरकर प्राण त्याग दिये। सतीत्व की चरम परीक्षा हो गयी।

इस प्रकार सीताजी के पुण्य-चरित्र पर विचार करने से विदित होता है कि सीताजी भगवान विष्णु की शक्ति लक्ष्मी के साक्षात् अंश रूप से उत्पन्न आर्यजाति में आदर्श स्त्री और पतिव्रताओं में शिरोमणि हुई हैं।

कृष्ण-बलराम दस अवतारों में से अष्टम हैं। इन दोनों में बलराम के भीतर अंशकला का विकास और कृष्ण में पूर्णकला का विकास हुआ था। श्रीमद्भागवत में लिखा है कि, भगवान श्रीकृष्ण के प्रिय कार्य करने के लिए विष्णु के अंश रूप सहस्र-मुख वाले अनंतदेव बलराम रूप से पहले ही उत्पन्न होंगे (वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्। अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया—भागवत १०।१।१७)।

अन्य सब अंशावतार हैं, कृष्ण पूर्णावतार होने से साक्षात् ईश्वर-रूप हैं (एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—भागवत)। कला के विकास के क्रम से अंशावतारों और पूर्णावतार के स्वरूप तथा कामों में भेद पाये जाते हैं—अंशावतारों में प्रयोजन के अनुसार भगवान की शक्ति को कलाओं से पंद्रह कलाओं तक विकास को प्राप्त होती है और पूर्णावतार में सोलह कलाओं का पूर्ण विकास हो जाता है। अंशावतार और पूर्णावतार दोनों ही का उदय समष्टि जीवों के कल्याण के लिए होने पर भी अंशावतार द्वारा अंशरूप से समय के अनुकूल कल्याण होता है और पूर्णावतार के द्वारा पूर्ण तथा सब समयों में उपकार करने वाला कल्याण होता है। परंतु पूर्णावतार में भगवान की आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक विविध शक्तियों की पूर्णता रहने पर भी अंशावतार के कार्यों की उपकारिता उस देश-काल के लिए अधिक आवश्यक और उपयोगी

हुआ करती है। इसी कारण अंशावतारों की महिमा से पुराणशास्त्र पूर्ण हैं। इसी कारण दस अवतार तथ चौबीस अवतारों में भगवान कृष्ण का नाम न होकर प्रायः बलरास का नाम ही पाया जाता है। अंशवतार परशुराम, बुद्धदेव आदि के द्वारा आंशिक और उस समय के योग्य कल्याण हुआ था और पूर्णावतार श्रीकृष्ण के द्वारा सब जीवों का जो कल्याण हुआ है वह नित्य पूर्ण और सदा फल देने वाला कल्याण है। अंशावतार के दारा केवल उस समय के अनुकूल कल्याण होने से उसमें कभी-कभी यह भी हो सकता है कि एक देश और काल में जो कल्याण करने वाला हो वही अन्य देश और काल में अमंगल करने वाला हो जाय और उसके सुधार के लिए दूसरे अवतार का प्रयोजन हो जाता है।

दृष्टान्त रूप से समझा जा सकता है कि अंशावतार परशुराम ने संसार को क्षत्रियविहीन करके उस थोड़े समय के लिए भले ही हित किया था, किंतु आगे के समयों के लिए उस प्रकार क्षत्रियों का नाशरूपी कार्य संसार का अनिष्ट करने वाला हो गया था। इस कारण श्रीभगवान को रामावतार धारण करके आगे के समयों के लिए उस अमंगल का निवारण करना पड़ा था। उसी प्रकार अंशावतार बुद्धदेव जी ने अहिंसा के प्रचार के द्वारा जो समष्टिजीव का कल्याण किया था, वह केवल उसी समय के थोड़े देश और काल के लिए था। परंतु आगे के समयों में बुद्धानुयायियों के द्वारा वेद और ईश्वर का खण्डन अत्यंत अमंगल करने वाला हो जाने पर फिर भी श्रीभगवान शिव को शंकराचार्य रूप में प्रगट होकर वेद और यज्ञ का मंडन करना और अमंगल करने वाले बौद्धों को भारतवर्ष से निकाल देना पड़ा। परंतु श्रीभगवान के पूर्णावतार कृष्ण के द्वारा जो कल्याण किया गया था वह उस प्रकार उसी थोड़े समय के लिए कल्याण नहीं था। वह कल्वाण सब देशों, सब कालों में और सभी जीवों के लिए था। यही अंशावतार के साथ पूर्णावतार के कामों में भेद है। अंशावतार में अंशकला का विकास रहने से उनके सभी काम किसी एक भाव कीं प्रधानता को लेकर होते हैं। परंतु पूर्णावतार सब भावों से परे होने से उनके कामों में किसी भी भाव का अवलंबन नहीं होता है। इसमें और भी विशेषता यह रहती है कि अंशावतार में एक भाव की प्रधानता रहने से दूसरे भाव तथा कभी-कभी ज्ञान-विचार आदि की गौणता हो जाती है। परंतु पूर्णावतार भाव के बाहर होने से उनमें आवश्यकता के अनुसार और प्रकृति की प्रेरणा के अनुसार सभी भाव आ जाते हैं और ज्ञान-विचार में कोई भी कमी नहीं रहती।

श्रीरामचंद्र में अंशकला का विकास रहने से उनके सभी कार्य केवल मर्यादा के भाव की प्रधानता को लेकर होते थे और उस मर्यादा के भाव की रक्षा के लिए ज्ञानविकास भी कभी-कभी गौण हो जाता था, जैसे कि सीतादेवी को ठीक निर्दोष जानने पर भी उन्होंने केवल लोकमर्यादा की रक्षा के लिए वनवास दिया था और ज्ञानविचार को गौण करके महर्षि वाल्मीकि के आग्रह करने पर भी लेने को अस्वीकार किया। उसी प्रकार अंशावतार बुद्धदेव से भी अहिंसा भाव की प्रतिष्ठा के लिए ज्ञानविचार को गौण करके आस्तिकता का भी त्याग कर दिया था। और वे योग्य-अयोग्य स्त्री-पुरुष सभी को गृहत्यायी संन्यासी बनाने लग गये थे। परंतु पूर्णावतार के काम में इस प्रकार किसी एक भाव का पक्षपात नहीं पाया जाता। वे भावराज्य के बाहर होने से केवल संसार के कल्याण करने की बुद्धि से प्रेरित होकर सभी भावों के काम करने में लग जाते हैं। उनके जीवन में लौकिक भाव या अभाव, धर्म या अधर्म, कार्य या अकार्य, पुण्य या पाप, सत्य या असत्य किसी का भी पक्षपात नहीं रहता है। वे सभी भावों में रम जाने पर भी किसी भाव में बाँधे नहीं जाते। उनकी भावातीत पूर्णस्थिति में लौकिक परस्पर विरोधी सभी भावसमुद्र में नदियों की तरह लय हो जाते हैं और केवल संसार के कल्याणमूलक पूर्णज्ञान का विचार उनकीं क्रियाओं में रहता है। यही भाव-राज्य में अंशावतार के कामों के साथ पूर्णावतार के कार्यों का भेद है।

अंशावतार में अंशकला का विकास होने से उनमें कभी-कभी किसी-किसी भाव का उन्माद भी हो सकता है और इसी उन्माद के कारण दूसरे भावों को वह अवतार तुच्छ दृष्टि से भी देख सकते है। परंतु पूर्णावतार भाव के अतीत होने से उनमें सब भावों की समता और किसी भी भाव का उन्माद नहीं रहता

है। वे आवश्यकता के अनुसार सभी भावों से काम लेते हैं और किसी पर भी चित्त का अभिमान नहीं रखते।

श्रीभगवान सत् चित् और आनंद रूप हैं। इसलिए पूर्णावतार में इन तीनों सत्ताओं का पूर्ण विकास होने के कारण पूर्णावतार के जीवन में कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों की लीला पूर्णरूप से देखने में आती है और उनमें इन तीनों की समता भी रहती है। परंतु अंशावतार में अशकला के विकास के कारण कर्म, उपासना और ज्ञान की लीला पूर्णरूप से विकास को प्राप्त नहीं होती। अंशावतारों में से किसी में कर्म का, किसी में उपासना का और किसी में ज्ञान का प्राधान्य देखने में आता है। वामनावतार में ज्ञान का प्राधान्य था, परंतु परशुराम अवतार में इतना नहीं था। यह ज्ञान के अप्राधाण्य का ही कारण है कि परशुरामजी श्रीरामचंद्र को देखकर भी पहचान न सके और उद्दंडता के साथ उनसे लड़ने में प्रवृत्त हो गये थे। ज्ञान, कर्म और उपासना मे सामंजस्य न रहने के कारण ही श्रीरामचंद्र आत्मा को भूलकर साधारण जनों की तरह अनेक कार्य करते थे और बुद्धदेव ने आस्तिकला के विरुद्ध अनेक कार्य किये। ईश्वर में ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों शक्तियों का पूर्ण समावेश रहता है। इसलिए पूर्णावतार में भी ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों शक्तियों का पूर्ण विकास रहता है। परंतु अंशावतार में अंशकला का विकास रहने से इन दोनों शक्तियों की पूर्णता नहीं हो सकती। रामावतार में ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों का विशेष विकास था, परंतु किसी का भी पूर्ण विकास नहीं था। नृसिंह और वामनावतार में ऐश्वर्य का विशेष विकास था और माधुर्य का कम विकास था। बुद्धावतार में माधुर्य का विशेष विकास था परंतु ऐश्वर्य का कम विकास था। परशुराम में ऐश्वर्य का विशेष विकास था परंतु माधुर्य का नाममात्र का विकास था। पूर्णावतार में स्वरूप का पूर्ण विकास होने के कारण उनमें प्रकृति छिप जाती है और छिपी प्रकृति तमोमयी होने के कारण पूर्णावतार कृष्णवर्ण होते हैं। अंशावतार के साथ प्रकृति का प्रत्यक्ष संबंध रहने के कारण उसी विकास के क्रम के अनुसार अंशावतार में अलग-अलग वर्ण होते हैं और कोई भी कृष्णवर्ण नहीं होते हैं प्राकृतिक समता ही सौंदर्य का लक्षण है। जिस पुरुष या स्त्री में अंग-प्रत्यंग की जितनी समता होती है वे उतने ही सुंदर दीखते हैं। उसी प्रकार मानसिक विरुद्ध वृत्तियों की समता द्वारा मन की सुंदरता और आत्मा के विविध भावों की समता द्वारा आत्मा की सुंदरता प्रकाशित होती है। पूर्णावतार में आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक त्रिविध पूर्णता होने से उनमें स्थूल शरीर के अंग-प्रत्यंगों की पूर्ण समता, मानसिक वृत्तियों की पूर्ण समता, तथा आत्मा-संबंधी भावों की पूर्ण समता होना विज्ञानानुकूल और अवश्यंभावी है।

इसलिए पूर्णावतार का स्थूल शरीर पूर्ण सुंदर, मन पूर्ण सुंदर और आत्मा पूर्ण सुंदर होते हैं। अंशावतार में कलाभेदानुसार इन विविध सुंदरताओं का तारतम्य होता है। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीनों भाव भगवान के हैं। श्रीभगवान इन तीनों की पूर्णता से पूर्ण हैं। इस लिए उनके पूर्णावतार में भी इन तीनों का पूर्ण विकास होना स्वाभाविक है। आधिभौतिक पूर्णता होने से सौंदर्य और ब्रह्मचर्य की पूर्णता, आधिदैविक पूर्णता होने से शक्ति और ऐश्वर्य की पूर्णता और आध्यात्मिक पूर्णता होने से ज्ञान की पूर्णता होना पूर्णावतार में स्वतः सिद्ध है। अंशावतार में कला-विकास के तारतम्यानुसार उक्त त्रिविध भावों के विकास में भी तारतम्य रहेगा। यही कारण है कि पूर्णावतार श्रीकृष्णचंद्र अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीनों भावों से पूर्ण थे और अन्यान्य अवतारों में इन भावों के विकास का तारतम्य था। येही सब पूर्णावतार और अंशावतार के स्वरूप तथा लीला में विकास का तारतम्य है।

द्वापर युग का अंत और कलियुग का प्रारंभ रूप संधि का समय इतना भयानक हो गया था कि उस समय श्रीबलराम अवतार के कला रूप से प्रकट होने पर भी पूरा कार्य न होते हुए देखकर श्रीभगवान कृष्णचंद्र के रूप में सोलह कलाओं से युक्त पूर्णावतार के प्रकट होने की भी आवश्यकता हुई थी। सत्त्वगुण से तमोगुण का प्रभाव बढ़ जाता है, धर्म का स्रोत घट कर अधर्म का प्रभाव जब अधिक रूप से प्रवाहित होता है, दैवी शक्ति से आसुरी शक्ति की जब प्रबलता देखने में आती है तभी भगवान को अवतार रूप से प्रकट होने की आवश्यकता होती है। परंतु यह साधारण नियम

है। ऐसे साधारण नियम के अनुसार श्रीभगवान के कलावतार अपने नौ से पंद्रह तक की कलाओं को धारण कर तम के विनाश द्वारा सत्व का विकास, धर्म के स्थापन द्वारा अधर्म का नाश और आसुरी शक्ति के पराजय द्वारा दैवी शक्ति की स्थापना किया करते हैं। परंतु यह द्वापर और कलियुग की संधि का समय इतना विकट था कि जिस समय के सुधारने के लिए एक कलावतार के साथ पूर्णावतार के प्रगट होने की आवश्यकता हुई थी। इस काल के विकट होने का साधारण लक्षण ऊपर कहा गया है। परंतु सूक्ष्म विचार द्वारा और भी कहा जा सकता है। उस समय तम के द्वारा सत्त्व गुण किस प्रकार ढँक गया था और अधर्म के द्वारा धर्म की मर्यादा किस प्रकार दबायी गयी थी इसके उदाहरण ऊपर दिये गये हैं। अब संक्षिप्त रूप से उस काल की अत्यंत ही अधिक भयंकरता के विषय में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि उस समय जो देवताओं के अवतार उत्पन्न हुए थे, यथा—वसु के अवतार भीष्मदेव, सूर्य के अवतार कर्ण इत्यादि, वे भी काल की करालता के कारण असुर अवतार दुर्योधन आदि के घोर पक्षपाती बन गये थे और इनकी असावधानी से तथा असुरावतारों के अत्याचारों से कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों कांडों में ही हेरफेर उत्पन्न हो गया था। यही सब अंशावतार के साथ श्रीभगवान के पूर्ण कला में प्रकट होने का संक्षिप्त रहस्य है। इसीलिए कौरवों के पिता अंध धृतराष्ट्र ने अपने वंश के नाश के विषय में संजय को भविष्यवाणी सुनायी थी। जैसे—धृतराष्ट्र ने कहा—'हे संजय ! जब मैंने सुना कि अत्यंत रोती हुई एकवस्त्रा, दुःखिता, रजस्वला, सनाथा द्रौपदी अनाथा की तरह सभा के बीच में बल-पूर्वक खींचकर लायी गयी, उसी समय मैंने विजय की आशा छोड़ दी थी। जिस समय मैंने सुना कि दुर्बुद्धि धूर्त महापापी दुःशासन सभा के बीच में द्रौपदी के अंग से वस्त्र खींच रहा था। परंतु वस्त्र बढ़ता ही जाता है, समाप्त नहीं होता और न दुःशासन ही मरता है तभी मैंने विजय की आशा छोड़ दी थी। जब मैंने सुना की भगवान श्रीकृष्ण लोक-कल्याण के लिए मेल कराने का प्रस्ताव करने को दुर्योधन के पास आकर विफल-मनोरथ हो गये हैं और कर्ण तथा दुर्योधन के उनको बाँधने की चेष्टा करने पर वे विश्वरूप दिखलाकर सबको मूर्छित करके चले गये है तभी मैंने विजय की आशा छोड़ दी थी जब, मैंने सुना की सप्तमहारथियों ने अर्जुन को मारने में असमर्थ होकर सुकुमार स्नेह-पात्र बालक अभिमन्यु को निरस्त्र असहाय रूप से निष्ठुरता के साथ मारकर पाप-हृदय में संतोष प्राप्त किया है तभी मैंने विजय की आशा छोड़ दी थी। जब मैंने सुना की अश्वस्थामा आदि कुछ पुरुषों ने इकट्ठे होकर रात्रि को निद्रित पांचालगण तथा द्रौपदी के साथ सोये हुए उसके पाँच पुत्रों को मारकर अत्यंत घृणित निंदनीय और वीभत्स कार्य किया है, तभी मैंने विजय की आशा छोड़ दी थी। जब मैंने सुना की महापराक्रमीं भीम ने पुत्रों की मृत्यु से क्रुद्ध होकर द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा का पीछा किया है और अश्वस्थामा ने मन्त्र से पवित्रित ऐषीक नाम के अस्त्र को फेंककर अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा के गर्भ को नष्ट करने का प्रयत्न किया तभी मैंने विजय पाने की आशा छोड़ दी थी। जब मैंने सुना कि वामनावतार के समय पृथिवी को जिन्होंने एक पद में अधिकार किया था, वही वासुदेव भगवान श्रीकृष्ण सब प्रकार से पांडवों का हित साधन कर रहे हैं तभी मैंने विजय की आशा छोड़ दी थी। जब मैंने नारद के मुख से सुना कि कृष्ण और अर्जुन नारायण और नर के अवतार हैं और उनको देवर्षि नारद जी ने ब्रह्मलोक में देखा है तभी मैंने विजय की आशा छोड़ दी थी।

इस प्रकार से दूरदर्शी राजा धृतराष्ट्र ने अपने वंश में होने वाले पुत्रों के महापाप के कारण कौरववंश के नाश की आशंका की थी और इन्हीं महापापों के भार से पीड़ित पृथिवी के उद्धार के लिए ही भगवान का पूर्णकला में अवतार हुआ था। इस विषय को महाराज धृतराष्ट्र भी जानते थे और इसीलिए ऊपर-लिखित भविष्यत् चिंताओं के साथ उन्होंने संजय को यह भी बता दिया था। यह सब श्रीभगवान का पूर्णावतार और अनंतदेव का बलराम रूप में उनकी सहायता के लिए अवतार धारण करने का गूढ़ रहस्य है।

महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में भगवान श्रीकृष्णने पाण्डवों के परम शत्रु दुर्योधन को दानाध्यक्ष बनाया। वह शत्रु का धन समझ कर खूब लुटा देगा और फलस्वरूप युधिष्ठिर का यश बढ़ेगा। श्रीकृष्णने

स्वयं अपने लिए ब्राह्मणों के पैर धोने का काम ले लिया; विनय की पराकाष्ठा का परिचय दिया।

महाभारत युद्ध के प्रारम्भ में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निमित्त बनाकर श्रीमद्भगवदगीता में जो उपदेश सुनाये थे वे हमारे शास्त्रों में सर्वोत्कृष्ट रत्न रूप हैं (गीता देखिए)।

बुद्धावतार—दस अवतारों में से नवम है। इस अवतार के विषय में बौद्धशास्त्रों तथा श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण आदि में अनेक प्रमाण मिलते हैं—श्रीमद्भागवत में लिखा हैं कि बुद्धावतार कलियुग में हुआ था। कीकट प्रदेश में (वर्तमान गोरखपुर जिले में) शुद्धोदन के पुत्र रूप में बुद्ध भगवान हुए थे। उनके प्रकट होने के विषय में दैव कारण यह था कि वेद बल से बलवान होकर असुरों ने देवताओं को परास्त कर दिया था, जिस कारण माया द्वारा वेदमार्ग-रहित उपदेश करके उन असुरों को पथभ्रष्ट कर देना और इस प्रकार से उन्हें हीन-बल करके देवताओं की विजय कराना उस समय के लिए समष्टि प्रकृति के अमुकूल कार्य था। इसी कार्य के साधनार्थ अंशाअतार रूप श्रीभगवान का बुद्धावतार हुआ। उन्होंने औपधर्म के उपदेश द्वारा असुरों को वेदमार्ग से च्युत करके देवताओं का विजय-साधन कराया। यही दैव कारण था। इसी से अग्नि-पुराण में बुद्धावतार को माया-मोहावतार कहा गया है। यथा—पूर्वकाल में देवताओं के साथ असुरों का बुद्ध हुआ; जिसमें देवता पराजित होकर प्राणरक्षा के लिए श्रीभगवान की शरण में आये थे।

तदनंतर देवताओं की रक्षा के लिए महामोहस्वरूप में श्रीभगवान राजा शुद्धोदन के पुत्र बुद्ध-रूप में प्रकट हुए थे। बुद्ध ने अवतार धारण करके असुरों को माया-मुग्ध कर दिया और वेद तथा आस्तिकताविहीन बौद्धधर्म का उपदेश किया। उनके उपदेश से असुरों ने जब वेद का परित्याग किया तो वेदबल-विहीन असुरों को परास्त करना देवताओं के लिए सहज हो गया। देवताओं ने इस प्रकार से दैवराज्य का उद्धार किया। बुद्धावतार के होने से पूर्व समष्टि जगत में विशेष हलचल उत्पन्न हो गयी थी। उपासना और ज्ञानहीन कर्मकाड का प्रचार तथा दुष्ट उपयोग इतना बढ़ गया था कि मनुष्य वैदिक यज्ञ तथा ईश्वर के नाम से लक्षों पशुओं की बलि तथा नर-बलि तक प्रदान करने लग गये थे। इस प्रकार से जीव-हत्या अत्यंत बढ़ जाने पर समष्टि जगत की धर्मधारा में बाधा उत्पन्न हो गयी थी। जो उस समय के देशकाल के लिए बहुत ही हानिकर तथा आसुर भाव की बृद्धि करनेवाली थी। इसीलिए श्रीभगवान को बुद्धावतार धारण करके पशु-हत्या से उत्पन्न अधर्म की धारा को रोकना और असुरभाव को नष्ट करके दैवभाव को पुष्ट करना पड़ा था।

श्रीभगवान के अवतार रूप में वेद और ईश्वर-सत्ता के विरोधी धर्म का प्रचार किया था इसके मूल में भी वैज्ञानिक तत्त्व है उस समय वैदिक यज्ञ तथा ईश्वर के नाम से अनेक हत्या होने के कारण, समष्टि जगत में धर्मधारा की रक्षा के लिए बुद्ध को वेद तथा ईश्वर का निषेध करना पड़ा था, बल्कि उस विषमय देशकाल में वेद और ईश्वर के उड़ाने के सिवाय और कोई उपाय नहीं था। जिस प्रकार विष के प्राणघातक होने पर भी औषधि का काम करके प्राण-रक्षाका कारण बन जाता है, ठीक उसी प्रकार बुद्ध के अवतार-काल में जीव-हत्या-रूपी अति कठिन जातीय रोग उत्पन्न होने के कारण नास्तिकतारूपी विष का प्रयोग बुद्ध-भगवान को उस कठिनतम रोग के नाश के लिए करना पड़ा था। उन्होंने इस प्रकार विष-प्रयोग द्वारा उस समय के लिए धर्म की रक्षा कर दी थी और अहिंसा तथा ज्ञान-मूलक बौद्ध धर्म का उपदेश करके जीवों को हत्यारूपी पाप से हटा दिया था। विकार के रोग में विष औषधि का काम करने पर भी वही विष विष ही रहता है। परन्तु वही विष नीरोग अवस्था में खाने पर प्राणघातक होता है। ठीक उसीं प्रकार बुद्ध के द्वारा चलाये हुए वेद तथा ईश्वर के विरोधी बौद्धधर्म ने उस समय के लिए धर्म की रक्षा कर दी थी; परंतु परवर्तीकाल में वेद-विहीन नास्तिक प्रजाओं में अवैदिकता तथा नास्तिकता के कारण बहुत ही पाप बढ़ने लग गया। तब ऐसे अवतार की आवश्यकता प्रकृतिराज्य में हुई कि जिनके द्वारा वेद-मर्यादा, सत्य-यज्ञ-मर्यादा तथा ईश्वरभाव की महिमा का प्रचार संसार में हो सके।

इसलिए श्रीभगवान शंकर की कला से भगवान शंकराचार्य का अवतार हुआ, जिन्होंने अपने प्रचंड वैदिक ज्ञान के प्रभाव से नास्तिक बौद्धों को भारतवर्ष से

निकाल दिया और शांकरी ज्ञान के प्रभाव से वैदिक धर्म, वैदिक यज्ञ तथा ईश्वरभाव की पुनः प्रतिष्ठा कर दी। जीवन-चरित्र के विषय में बौद्धग्रथों में कुछ इतिहास मिलते हैं। ललितविस्तरसूत्र, लंकावतारसूत्र, अवदान-कल्पलता आदि संस्कृत ग्रंथों, महावंश, महानिर्वाणसूत्र, जातक आदि पालि ग्रन्थों और अणेक चीनीय, तिब्बतीय तथा जापानीय ग्रंथों मे बुद्ध के इतिहास प्राप्त होते हैं।

बुद्धदेव ने मुख्यतया अहिंसा धर्म का प्रचार किया था। वह हमारा ही शास्त्रोक्त धर्म है। वेद का आदेश है—"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि"—किसी प्राणी की हिंसा न करो। महर्षि पतंजलि के योगदर्शन में—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ऐसे अष्टांग योग का विधान है। सर्वश्रेष्ठ धर्म समाधि तक पहुँचने के लिए 'यम' प्रथम सीढ़ी है। यम के पाँच विभाग या अंग हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (किसी से कुछ भी ग्रहण न करना)। अतः अहिंसा ही धर्म की प्रथम सीढ़ी है (अहिंसा देखिए)। इसी अहिंसा पर समस्त बौद्ध धर्म प्रतिष्टित है। किंतु कराल काल के प्रभाव से चीन, जापान, वियतकांग आदि देशों के बौद्ध हिंसा करने पर तुले हैं। अहिंसा के मूल आविष्कारक हमारे इस भारत में भी हिंसा का साम्राज्य फैला हुआ है। सर्वत्र विरोध, झगड़े, मारपीट, हत्या आदि हो रहे हैं। ये सभी तो हिंसा के कार्य हैं।

ईसाई और इस्लाम धर्मों में भी अहिंसा है। ईसा-मसीह का उपदेश है कि, कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो तुम उसके सामने अपना दूसरा गाल बढ़ा देना। क्रुस में लोहे की कीलों से मरते समय वह कह गये कि, हे स्वर्गीय पिता, इन्हें क्षमा कीजिए, ये नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। कोरान का भी उपदेश है कि, "अगर तुम्हारे गाल पर कोई थप्पड़ जमा दे और बदले में तुम भी उसके गाल पर थप्पड़ मार दो तो तुममें और शैतान में क्या फर्क रह गया ?"

कल्कि अवतार दस अवतारों में से अंतिम अवतार का नाम है। इस अवतार का आविर्भाव अभी तक नहीं हुआ है। अभी कलियुग के पाँच हजार से कुछ ऊपर वर्ष बीत चुके हैं और पूर्ण कलियुग ४ लक्ष ३२ हजार (४,३२,०००) वर्ष का है। इसलिए अभी कल्कि अवतार के प्रकट होने में बहुत त्रिलंब है।

अभी तक देश-काल उनके प्रकट होने योग्य नहीं हुआ है। अभी तक सामयिक धर्मस्थापन तथा पाप-नाश के लिए अनेक भगवद्-विभूतियों, आवेशावतारों, ऋषियों तथा देवताओं के अवतार आदि द्वारा ही कार्य चल सकेगा। इसीलिए अभी तक कल्कि भगवान के आने का समय तथा प्रयोजन उपस्थित नहीं हुआ है। कल्कि अवतार के संबंध में श्रीमद्भागवत-पुराण में इस प्रकार लिखा मिलता है—बलवान काल के प्रभाव से दिनों दिन धर्म, सत्य, शौच, क्षमा, दया, आयु, बल, स्मृति आदि सब नष्ट होते जायेंगे। कलियुग में जिन मनुष्यों के पास धन होगा, वेही उत्तम जन्म वाले शुद्धाचारी और सद्गुणयुक्त कहलावेंगे, धर्म और न्याय की व्यवस्था में बल ही कारण होगा। स्त्री-पुरुषों के विवाह के संबंध में परस्पर की रूचि ही कारण हो जायगी, कुल, गोत्र आदि से कुछ प्रयोजन नहीं रहेगा, क्रय-विक्रय आदि व्यवहार में कपट ही प्रधान रहेगा। स्त्रीत्व और पुरुषत्व में केवल रति की पटुता ही कारण होगी और ब्राह्मणत्व मे केवल यज्ञोपवीत का ही पहनना रह जायगा, गुण-कर्म नहीं।

आश्रम की पहचान में दंडादि चिह्न मात्र ही कारण होगा और चिह्न बदलना ही आश्रम वदलने का हेतु होगा, आश्रमानुकूल आचारादि नहीं। धनहीनता मुकदमे हारने का कारण होगा, अपराधों की सत्यता नहीं। बातों की चपलता ही पांडित्य में प्रधान कारण होगा, शास्त्राध्ययन नहीं। दंभ करना ही साधुता में कारण होगा, सदाचार नहीं। स्वीकार कर लेना मात्र ही विवाह में कारण होगा, विधि नहीं। स्नान करना मात्र ही प्रसाधन होगा। दूर का जल ही तीर्थ समझा झायगा, यथार्थ तीर्थ नहीं। केश धारण ही सौंदर्य का हेतु होगा, पेट भरना ही स्वार्थ कहलावेगा, धृष्टता ही सत्यता में गिनी जायगी।

कुटुंब का पालन करना ही चतुराई होगी, यश के लिए ही धर्म किया जावेगा। इस प्रकार की दुष्ट प्रजाओं से जब पृथ्वी भर जायगी तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इनमें जो बली होगा वही राजा हो जायगा और चोरों के सदृश धर्मवाले होंगे। निर्दयी लोभी राजा

अपनी प्रजा के स्त्री-धनादि छीन लेंगे और इसी भय से प्रजाएँ पर्वत, वन आदि में जा बसेंगी और शाक, मूल, आमिष, मधु, फल, फूल, बीज आदि से अपने भोजन का निर्वाह करेंगी।

वृष्टि न होने से दुर्भिक्ष और कर से पीड़ित होकर तथा शीत, गर्मी, वात, हिम आदि द्वारा पीड़ित होकर प्रजाएँ नष्ट होने लग जायेंगी। क्षुधा, तृष्णा व्याधि, संताप और चिंता से अनेक लोग नष्ट हो जायँगे। ३० वर्ष, २० वर्ष पर्यंत आयु ही बड़ी आयु कहलावेगी। इस प्रकार जब कलियुग के दोषों से देहधारियों के शरीर क्षीण होने लगेंगे और वर्णाश्रम-धर्म तथा वेदमार्ग का नाश हो जायगा। धर्म जब पाखंड से पूर्ण होगा, राजा चौर-प्राय हो जायँगे और चोरी, मिथ्या, वृथा हिंसा व्यसन आदि मनुष्यों की वृत्ति हो जायगी; जब सब वर्ण शूद्र-प्राय, गौएँ छाग-प्राय, आश्रम गृहप्राय और योनि-संबंधी मात्र ही बंधु हो जावेंगे, ओषधियाँ अणु-प्राय, वृक्ष शगी-प्राय, वर्षा केपल विद्युन्मात्र, गृहस्थों के गृह शून्य-प्राय और मनुष्य गर्धव-प्राय हो जावेंगे।

कलि के दुर्गुणों का विवरण इस लिए दिया गया कि धार्मिक लोग अपने को तथा शिष्ट व्यक्तियों को उन दुर्गुणों से बचावें, उस समय चराचर-गुरु भगवान श्रीविष्णु का अवतार कल्कि रूप में साधु और धर्म के त्राण करने के लिए होगा। संभल नामक ग्राम में विष्णुयशा नामक परमधार्मिक ब्राह्मण के गृह में श्रीभगवान कल्कि प्रगट होंगे। देवों के दिये हुए शीघ्रगामी घोड़े पर बैठ कर अष्टैश्वर्यशाली श्रीकल्कि भगवान अपने तीक्ष्ण तलवार से करोड़ों राज-वेशधारी दस्युयों का नाश कर देंगे। तदनंतर श्रीभगवान का अंग-स्पर्श होने से समस्त देश और वायु पवित्र हो जायेंगे जिससे प्रजाओं का मन भी निर्मल होगा। ऐसा होने पर प्रत्येक के हृदय में श्रीभगवान विराजमान हो जायेंगे जिससे पुनः सत्ययुग का उदय हो जायगा और समस्त प्रजा सत्ययुग की तरह सात्त्विक भावापन्न हो जायगी।

जब चंद्र, सूर्य और बृहस्पति का पुष्य नक्षत्र के साथ योग होगा तभी सत्ययुग का उदय होगा, जिस समय भगवान श्रीकृष्णचंद्र निज धाम को चले गये, उसी समय से संसार में कलियुग का प्रवेश हुआ। क्योंकि उसी समय से ननुष्यों का चित्त पाप में रमने लगा। जब तक श्रीभगवान के चरण-कमल संसार में विचरते रहे, तबतक कलि का प्रवेश नहीं हो सका। जिस समय से सातों देवर्षि मघा नक्षत्र पर विचरण करते हैं, तभी से १२०० वर्ष देवायु-व्यापी कलियुग प्रवृत्त होता है। जब ये सप्तर्षि मघा से पूर्वाषाढ़ानक्षत्र पर जायेंगे, तब नंदों के अभिषेक समय से कलि की वृद्धि होगी।

पंडितजन यही कहते हैं कि जिस दिन भगवान कृष्णचंद्र पृथ्वी-लोक से चले गये, उसी दिन से कलियुग का आरंभ हुआ। कलियुग की आयु बीत जाने पर पुनः सत्ययुग का उदय होगा, और मनुष्यों का अंतःकरण धर्म में सन्निविष्ट होगा। शांतनु महाराज के भ्राता चंद्रवंशीय राजा देवाषि और इक्ष्वाकुवंशीय राजा मरु ये दोनों महायोग-युक्त होकर 'कलाप' ग्राम में निवास कर रहे हैं। ये दोनों वासुदेव के द्वारा शिक्षा प्राप्त होकर कलियुग के अंत में कल्कि भगवान की सहायता से वर्णाश्रम धर्म की शास्त्रानुकूल प्रतिष्ठा करेंगे। इसी प्रकार से सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—ये चार युग क्रमानुसार प्रवर्तित होते हैं।

देवी-भागवत में २८ ऋषि-अवतारों का भी वर्णन है—वेदव्यास के प्रथम अवतार स्वयंभू हुए और द्वितीय अवतार प्रजापति, तृतीय उशना, चतुर्थ बृहस्पति, पंचम सविता, षष्ठ मृत्यु, सप्तम मघवा, अष्टम वशिष्ठ, नवम सारस्वत, दशम त्रिधामा, एकादश त्रिवृष, द्वादश भारद्वाज, त्रयोदश अंतरिक्ष, चतुर्दश धर्म, पंचदश त्रय्यारुणि, षोडश धनंजय, सप्तदश मेधातिथि, अष्टादश वृत्ति, ऊनविंश अत्रि, विंश गौतम, एकविंश उत्तम, द्वाविंश वेन, त्रयोविंश वाजस्रवा, चतुर्विंश सोम, पंचविंश तृणविंदु, षड्विंश भार्गव, सप्तविंश जातुकर्ण्य, अष्टाविंश कृष्णद्वैपायन अवतार हैं। यही महर्षियों का अंश तथा पूर्णकला में अवतार होने के दृष्टांत हैं।

इनके सिवाय ब्राह्मण से नीचे के वर्णों में भी जो अनेक मंत्र-द्रष्टा ऋषि उत्पन्न हो गये हैं, तथा अनेक स्त्रियाँ भी मंत्र-द्रष्ट्री हो गयी हैं, ये सब महर्षियों के आवेशावतार की कोटि में गिनने योग्य हैं।

अब भगवद्-अवतार ऋषि-अवतार तथा देवता-अवतार के विषय में कई एक रहस्य-पूर्ण विषयों के प्रकट करने की आवश्यकता है, जिससे अवतार-तत्त्व के समझने

में और भी अधिक सुगमता होगी। प्रत्येक ब्रह्मांड में, उस ब्रह्मांड के ब्रह्मा, विष्णु, महेश ही प्रकारांतर से सगुण ब्रह्म हैं।

सगुण ब्रह्म का संबंध वहीं है जहाँ सृष्टि है। इस: कारण अनन्त कोटि ब्रह्मांडों में समान रूप से परिव्याप्त सगुण ब्रह्म ईश्वर हैं। वे ही गुण-त्रय-विभाग के अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूप से प्रत्येक ब्रह्मांड में गुणत्रय का कार्य किया करते या कराया करते हैं। जगदीश्वर सगुण ब्रह्म कारण-रूप हैं, परंतु कार्य करते समय वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों में से किसी के रूप में कार्य किया करते हैं। उसी प्रकार वे ही सगुण ब्रह्म पुनः अपने अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भावत्रयानुसार ऋषि, देवता और पितृरूप में कार्य करते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक ब्रह्मांड में उस ब्रह्मांड के ब्रह्मा, विष्णु और महेश के मिलन से उनका स्वरूप प्रकट होता है, ठीक उसी प्रकार नित्य ऋषियों, नित्य देवताओं और नित्य पितरों के मिलन से भी उनका स्वरूप प्रकट होता है। इस कारण ये सब शक्तियाँ परस्पर संबंध-युक्त हैं। पूर्णावतार में ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिविध शक्तियाँ और ऋषि, देवता, पितरों की त्रिविध शक्तियाँ यथावश्यक पूर्णरूप से विद्यमान रहती हैं। इसी कारण श्रीभगवान कृष्णचंद्र जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों कार्यों में ही पूर्ण दक्षता दिखा गये हैं। उनके जीवन में असाधारण प्रजासृष्टि की योग्यता, पालन में देवासुर-शक्तियों के समन्वय करने की योग्यता और संहार में महाभारत का घनघोर युद्ध जगत्प्रसिद्ध है। ठीक उसी प्रकार उनके जीवन में श्रीमद्भगवद्-गीता ही यथेष्ट है। दैवी शक्ति तो उनके द्वारा किये हुए अनेक दैवकार्यों से सुसिद्ध ही है।

संसार का स्वास्थ्य-विधान और अगणित प्रजोत्पत्ति के द्वारा उनमें पितृशक्ति सुसिद्ध होती है। अंशावतारों में इन शक्तियों का समन्वय रहने पर भी पूर्णता नहीं रहती। इसी कारण किसी अंशावतार में इन छः प्रकार की शक्तियों में से कोई शक्ति कम और कोई अन्य शक्ति अधिक प्रकाशित होती है। यहाँ तक कि किसी-किसी अंशावतार में इन शक्तियों से कोई-कोई शक्ति नाम मात्र रहती है, परंतु यह तो निश्चित ही है कि सगुण ब्रह्म की ओर से साक्षात् रूप में जो भगवदवतार का आविर्भाव होता है उनमें इन छओं शक्तियों का कुछ संबंध रहना अवश्यंभावी है और यह तो निश्चित ही है कि भगवदवतार में वैष्णवी शक्ति का यथेष्ट आविर्भाव अवश्य होगा। क्योंकि रक्षा ही अवतार का प्रधान कार्य है और यह भी निश्चय ही है कि भगवदवतार में अधिदैव शक्तिरूपी देवताओं की अलौकिक शक्ति तो अवश्य ही यथावश्यक रूप से प्रकट होगी, जैसे कि वैष्णवी शक्ति और अलौकिक शक्ति का पूर्ण विकास मत्स्य-कूर्मादि अवतारों में निहित है।

पितरों के अवतार नही होते हैं। न उनके स्वतंत्र अवतार होने की आवश्यकता ही है, परंतु जगत्कल्याण के लिए नित्य ऋषि और नित्य देवताओं के अवतार होने की आवश्यकता संसार में प्रायः सदा ही रहती है तथा पूर्णप्रकृतियुक्त कर्मभूमि एकमात्र भारतवर्व ही है। उसी प्रकार अन्तर्दृष्टिसंपन्न योगियों की यह सम्मति हैं कि यद्यपि ऋषियों के कृपापात्र उन्नत ज्ञानी मनुश्य पृथ्वी के अन्य खंडों में भी जन्मग्रहण करते रहते हैं। परंतु ऋषियों के प्रत्यक्ष अवतारों का जन्म इसी ज्ञानजननी पुण्यभूमि भारतवर्ष में ही हो सकता है। परंतु देवताओं के शक्तिशाली अवतार जिस प्रकार भारतखंड में हो सकते हैं उसी तरह पृथ्वी के अन्य भूखंडों में भी हो सकते हैं। ऋषियों के या भगवान के अवतार के लिए पृथ्वी के अन्य खंडों में जो बाधाएँ हैं, देवताओं के प्रकट होने के लिए पृथ्वी के अन्य खंडों में ऐसी बाधाएँ नहीं हैं। भगवदवतार और ऋषियों के शक्तिशाली अवतारों के प्रकट होने के लिए भूमि की शुद्धि और माता-पिता के शरीर की शुद्धिरूपी आधिभौतिक शुद्धि की सबसे बड़ी आवश्यकता है। जिस प्रकार त्रिविध शुद्धि-युक्त सच्चा ब्राह्मण उत्पन्न होने के लिए माता-पिता के वंश-परंपरा से प्राप्त रजोवीर्य की शुद्धि की आवश्यकता है ठीक उसी प्रकार भगवान के और ऋषियों के शक्तिशाली अवतारों के प्रकट होने के लिए कर्मभूमि की शुद्धि और माता-पिता के शरीर संबंधी आर्यजनोचित शुद्धिरूपी आधिभौतिक शुद्धि होने

की सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह वैज्ञानिक सिद्धांत इतना अटल और अकाट्य है कि दार्शनिक-बुद्धि-संपन्न पुरुष मात्र ही इसे थोड़ा ध्यान देने पर जान सकेंगे।

अवतार अनेक प्रकार से होते हैं। कोई अवतार ऐसे होते हैं, जिनमें केवल अलौकिक अधिदैव शक्ति का विकास होता है। वे उन्नत मनुष्य जिनमें इस प्रकार की दैवी शक्ति का प्रकाग होता है, वे केवल उसी देवता के अवतार समझे जाते हैं, जिस देवता की कला उनमें विद्यमान है। अवतार इस प्रकार के भी होते हैं कि एक ही उन्नत महापुरुष में कई देवताओं की कलाएँ विद्यमान रहती हैं। अवतार ऐसे भी होते हैं कि जिनमें केवल एक नित्य ऋषि अथवा केवल कई नित्य ऋषियों की कलाएँ विद्यमान रहती हैं। वे सब ऋषियों के अवतार कहलाते हैं। अवतार ऐसे भी होते हैं कि एक ही महापुरुष में दैवी कला या कलाओं और ऋषियों की कला या कलाओं का समान रूप से आविर्भाव होता है। ऐसे महापुरुषों में ज्ञानशक्ति लोकोत्तर क्रियाशक्ति का एक साथ आविर्भाव दिखाई पड़ता है। इन दोनों शक्तियों के एकसाथ विकास के लिए श्रीभगवान शंकराचार्य की जीवनी जगत्प्रसिद्ध है। ऐसे ही द्विविध शक्तियाँ और जिन-जिन महापुरुषों में पायी जाती हैं, वे इसी श्रेणी के अवतार समझे जायेंगे। अवतार अनंत हैं और उनकी भावमयी लीलाएँ भी अनंत हैं। आर्य-शास्त्रों में नाना अवतारों का अपूर्व रहस्यपूर्ण तत्त्व है। भागवत में तो यहाँ तक लिखा है कि अवतार असंख्य हैं (अवताराः ह्यसंख्येयाः हरेः स्वत्त्वनिर्वेर्यथा)।

अवतारक (वि०) अवतरित, प्रादुर्भूत, उत्पन्न।

अवतारणम् (न०) उतारने की क्रिया, अनुवाद, भूमिका, श्रृंगार, पूजन, प्रेतावेश।

अवतारणा (स्त्री०) भूमिका, प्रस्तावना।

अवतारवादः (पुं०) ईश्वर जीव रूप में संसार में जन्म लेते हैं ऐसा मत, संसार में धर्म का ह्रास तथा अधर्म का प्रादुर्भाव होने से, साधुओं के परित्राण, असाधुओं के विनाश तथा धर्म की पुनः स्थापना के लिए भगवान अवतार धारण करते हैं (परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे—गीता ४।८)। भागवत के अनुसार भगवान अवतरित होते हैं, जीवों के साक्षात् मुक्ति प्रदान करने के लिए (नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो भुवि। अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः—भागवत १०।२९।१४)।

अवतारवादिन् (पुं०) अवतारवादी, अवतारवाद का अनुयायी या समर्थक।

अवतारित (वि०) अवतार लिया हुआ, ऊपर से नीचे आया हुआ, संपादित, उतारा हुआ।

अवतारिन् (वि०) अवतार लेने वाला, उत्पन्न होने वाला।

अवतिरति (क्रि०) मारता है, हत्या करता है (अवतिरज्ज्योतिषाग्निस्तमांसि—ऋ० ४।५।११।१)।

अवतीर्ण (वि०) उतरा हुआ, नीचे आया हुआ, स्नान किया हुआ, स्नात, पार किया हुआ।

अवतोका (स्त्री०) वह स्त्री या गाय जिसका गर्भ किसी दुर्घटना के कारण गिर गया हो, गर्भस्रावी।

अवत्तिन् (वि०) विभाजित करने वाला, बाँटने वाला, विभाजक।

अवत्सीय (वि०) बछड़े के लिए अनुपयुक्त।

अवदंशः (पुं०) कोई चरपरा या तीक्ष्ण खाद्य पदार्थ, उत्तेजक वस्तु।

अवदग्ध (वि०) जलाया हुआ।

अवदन्तस् (पुं०) बच्चा, दंत-रहित शिशु।

अवदलित (वि०) फटा हुआ, पददलित।

अवदाघः (पुं०) उष्णता, ताप, गरमी, गरमी की ऋतु, ग्रीष्म-काल।

अवदात (वि०) सुंदर, स्वच्छ, साफ, चिकना किया हुआ, पीला, पीत।

अवदातः (पुं०) चितकबरा, सफेद या पीला रंग।

अवदानम् (न०) पवित्र या शास्त्रविहित कार्य, गौरवपूर्ण कार्य, टुकड़े-टुकड़े करने की क्रिया, शूरता, किसी अद्भुत कहानी का कोई दृश्य।

अवदानसाहित्यम् (न०) बौद्धों का संस्कृत भाषा में लिखित जीवनचरितमूलक साहित्य, जातक। जातक में केवल बुद्ध के जन्मों का विवरण है; परन्तु अवदान-साहित्य में बुद्धोपासकों की जीवनियाँ हैं। इस साहित्य का प्रधान ग्रंथ है अवदानशतक, जो दश वर्गों में विभक्त है और प्रत्येक वर्ग में दस-दस कथाएँ हैं। दिव्यावदान,

कल्पद्रुमावदानमाला, रत्नावदानमाला, अशोकावदानमाला, द्वाविंशत्यवदान, भद्रकल्पावदान, व्रतावदानमाला, विचित्रकर्णिकावदान, सुभोगावदान—इस साहित्य के प्रमुख ग्रंथ हैं।

अवदारणम् (न०) खनन, चीर-फाड़ करने की क्रिया, विभाजन, कुदाल, फावड़ा।

अवदारित (वि०) फाड़ा हुआ, विदीर्ण किया हुआ।

अवदावद (वि०) तर्क न किया हुआ, अतर्कित, झगड़ा या विवाद न किया हुआ।

अवदाहः (पुं०) गरमी, उष्णता, जलन।

अवदीर्ण (वि०) टूटा हुआ, भग्न, पिघला हुआ, फटा हुआ।

अवदेय (वि०) विभाजन करने योग्य, विभाजनीय।

अवदोहः (पुं०) दूध, दुग्ध, दूध दुहने की क्रिया।

अवद्य (वि०) पापिष्ठ, निंद्य, गर्हित, त्याज्य, निकृष्ट, कुत्सित।

अवद्यम् (न०) दोष, त्रुटि, अपराध, पाप, दुष्कर्म, भर्त्सना, कलंक, निंदा।

अवद्यवत् (वि०) अनादरणीय, निंदनीय, शोकयोग्य।

अवद्योतक (वि०) स्वच्छ करने वाला, प्रकाश करने वाला, द्युतिमान।

अवद्योतनम् (न०) प्रकाश, चमक, दीप्ति।

अवध (वि०) जो वध के योग्य न हो, आघात न करने वाला।

अवधः (पुं०) वध का अभाव (तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः—मनु० ४।३९)।

अवधातव्य (वि०) ध्यान देते योग्य।

अवधानम् (न०) मनोयोग, संलग्नता, सावधानी।

अवधानिन (नि०) ध्यान देने वाला, सावधान।

अवधायक (पुं०) किसी कार्य का भार या अधिकार प्राप्त व्यक्ति, पदाधिकारी।

अवधारण (वि०) सीमाबद्ध करने वाला।

अवधारणम् (न०) निश्चय, आवश्य होना। वेदांत की दृष्टि से यह संसार माया-कल्पित है, इस कारण किसी पदार्थ में अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। माया स्वयं ही ब्रह्माश्रित है, उस ब्रह्म की सत्ता के आश्रय से ही ब्रह्मांड सत्तावान प्रतीत हो रहा है। इस कारण सांसारिक किसी वस्तु में अवधारण नहीं हो सकता, केवल ब्रह्म पर ही अवधारण हो सकता है (सदेव सौम्य इदमग्रे आसीत् एकमेवाद्वितीयम्—छान्दोग्य ६।२।१)। इस मंत्र में 'एव' शब्द दो स्थानों में है, यही यथार्थ में अवधारण है अर्थात् इस सृष्टि के पूर्व केवल सत् ही था और वह 'एकं एव अद्वितीयम्' है। एक ही अर्थात् द्वितीय-रहित है। इसमें 'एक' शब्द से ऐक्य, 'एव' शब्द से निश्चय ही (यही अवधारण है) और वह अद्वितीय है, यह द्वैत का प्रतिषेध है (ऐक्यावधारणाद्वैतप्रतिषेधस्त्रिभिः क्रमात्—पञ्चदशी) अद्वैतवादः देखिए।

अवधिः (स्त्री०) सीमा, पराकाष्ठा, निर्धारित समय, नियुक्ति, भाग्य, विभाग, गढ़ा, गड्ढा।

अवधिज्ञानम् (न०) जैन मत के अनुसार आत्ममात्रसापेक्ष ज्ञान का एक भेद। परमाणुपर्यंतरूपी पदार्थ इस ज्ञान का विषय है; विभंगज्ञान इसके विपरीत है। यह सहज ज्ञान भवप्रत्यय है और पंचेंद्रिय-लब्ध ज्ञान क्षयोपशयिक या गुणप्रत्यय है। अवधि-ज्ञान के छः भेद माने गये हैं—१. अनुगमिक, २. अनानुगमिक, ३. वर्धमान, ४. हीयमान, ५. अवस्थित और ६. अनवस्थित।

अवधिदर्शनम् (न०) गड़ी, छिपी या दबी हुई चीजें दिखाई देना (जैन)।

अवधिमत् (वि०) सीमित, सीमाबद्ध।

अवधीर+णिच् (पर०) (अवधीरयति) अवज्ञा करना, हीन समझना (अवधीरयति साधुमसाधुः)।

अवधीरणम् (न०) अवज्ञापूर्वक व्यवहार।

अवधीरणा (स्त्री) असम्मान, अपमान, अनादर, हार, पराजय।

अवधीरित (वि०) अपमानित, अनादृत, उल्लंघित।

अवधूत (वि०) कंपित, अस्वीकृत, अपमानित, घृणित, विस्मृत, स्पर्श किया हुआ, स्पर्शित।

अवधूतः (पुं०) संन्यासी, उदासी साधु, अवधूत। चार प्रकार के अवधूत हैं—(१) ब्रह्मावधूत, जो सदाचारी तथा ब्रह्मोपासक है; (२) शैवावधूत, जिसने विधिपूर्वक संन्यासाश्रम ले लिया है तथा जो शिवकी उपासना करता है; (३) वीरावधूत, जिसके सिर के बाल लंबे तथा बिखरे हैं, गले में हाड़ या रुद्राक्ष की माला, कमर में कौपीन, शरीर पर भस्म या रक्त-चंदन, हाथ में काष्ठदंड, परशु और डमरू तथा साथ में मृगचर्म है;

(४) कुलावधूत, जो कुल यानी गृहस्थाश्रम में रह कर कुलाचार में अभिषिक्त है। इन चार अवधूतों में जो श्रेष्ठ हैं उन्हें परमहंस या केवल हंस कहते हैं (चतुर्णामवधूतानां तुरीयो हंस उच्यते। हंसो न कुर्यात् स्त्रीसङ्गः न वा धातुपरिग्रहम्, प्रारब्धमश्नन् विहरेत् निषेधविधिवर्जितः—महानिर्वाणतन्त्र १४।१६७-१६८।)

वैष्णव रामानंदजी के शिष्यों में एक प्रकार के अवधूत हैं। इन के सिर पर वड़े-वड़े बाल, गले में स्फटिक की माला, शरीर पर कंथा तथा दरियाई खप्पर हैं।

नाथपंथ में अवधूत की स्थिति बहुत उच्च कोटि की मानी जाती है। 'गोरक्ष-सिद्धांत-संग्रह' ग्रंथ के अनुसार वह काम-क्रोध, सुख-दुःख, शीत-उष्ण, मान-अपमान आदि द्वंद्वों को समान रूप से सहन करते हैं। इस संप्रदाय की 'अवधूतगीता' वेदांत का उत्तम ग्रंथ हैं।

कुछ विरक्त स्त्रियाँ 'अवधूती' या 'अवधूतानी' कहाती हैं। ये पुरुष संन्यासी के वेश में रहती हैं औंर भस्म, रुद्राक्षादि धारण करती हैं तथा भिक्षा माँग कर खाती हैं।

सुषुम्ना नाड़ी का भी एक नाम 'अवधूती' है। इस कारण उन अवधूतानियों के मार्ग को भी 'अवधूती मार्ग' या 'अवधूतिका' नाम दिया गया है।

अवधूतगीता (स्त्री०) श्रीदत्तात्रेय-विरचित वेदांत का एक अति उत्तम ग्रंथ। इसका सारांश यह है—मरुस्थल के बालू में जल-भ्रम के समान यह पंचभूतात्मक विश्व भ्रम-कल्पना मात्र है। अहा, मैं अकेला निरंजन हूं! अतः किसे नमस्कार करूंगा? (३)। आत्मा ही सब कुछ है, भेद का अभेद नहीं है (४)। वेदांत का सार-सर्वस्व ज्ञान और विज्ञान हैं। मैं स्वभाव से ही सर्वव्यापी निराकार आत्मा हूं (५)। जो आकाश के समान सर्वात्मक निष्कल देव हैं, जो स्वभाव से ही निर्मल और शुद्ध हैं, वही मैं हूं, इसमें कोई संदेह नहीं है (६)। मैं अव्यय, अनंत, शुद्धज्ञानस्वरूप हूं, सुख-दुःख किसे कैसे होते हैं मैं नहीं जानता (७)। मानसिक शुभाशुभ कर्म मेरे नहीं हैं, शारीरिक शुभाशुभ कर्म मेरे नहीं हैं, वाचनिक शुभाशुभ कर्म भी मेरे नहीं हैं, मैं ज्ञानामृतस्वरूप, शुद्ध और अतींद्रिय हूं (८)। तुम जन्मे नहीं हो, मरोगे भी नहीं, कभी तुम्हारा देह-संबंध भी नहीं हुआ, अनेक वेदमंत्र सभी को ब्रह्म कहते हैं, यह बात प्रसिद्ध है (१३)। संयोग-वियोग न तुम्हारे हैं और न मेरे। तुम नहीं हो, मैं भी नहीं हूं, सर्वत्र केवल आत्मा ही हैं (१५)। जन्म, मृत्यु, वित्त, बंधन मोक्ष, शुभ और अशुभ तुम्हारे नहीं हैं तो क्यों रो रहे हो? नाम-रूप न तुम्हारे हैं, न मेरे (१७)। तुम ही विकार-रहित तत्त्व हो तथा अचल, एक, विमोक्ष-स्वरूप हो। तुममें राग और द्वेष नहीं है, तो क्यों सांसारिक वस्तुओं की कामना करके संतप्त हो रहे हो? (१९)। तुम्हारे माता, पिता, बंधु, पत्नी, पुत्र या मित्र नहीं हैं, तुममें पक्षपात या विपक्षपात भी नहीं हैं, तो तुम्हारे चित्त में यह संताप कैसे आता है? (६३)। भूत, भविष्य तथा वर्तमान कर्म मैं नहीं करता और न उनका फल-भोग ही करता हूं—ऐसी ही मेरी निश्चल बुद्धि है (७२)।

अवधूननम् (न०) आंदोलन, हिलाने की क्रिया, कम्पन।

अवधूरणम् (न०) निंदा, बदनामी, कुत्सा, कलंक, अपवाद, अख्याति।

अव+धृ+णिच् (प०) (अवधारयति) अवधारण करना, निश्चय करना, निर्णय करना।

अवधेय (वि०) ध्यान देने योग्य, विचारने योग्य।

अवध्य (वि०) वध करने के अयोग्य, पवित्र, विशुद्ध, जिसका वध नहीं किया जा सकता। शरीर का वध किया जा सकता है। सांसारिक दूसरी वस्तुओं का भी निधन होता है। परंतु आत्मा अवध्य है। शरीर का वध होने से आत्मा का वध नहीं होता (देही नित्यम् अवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत—गीता २।३०)। अर्थात् हे अर्जुन, सभी के शरीर में आत्मा सदा ही अवध्य है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः—गीता २।२३। अर्थात् इस आत्मा को शस्त्रादि नहीं काट सकते और इसको आग नहीं जला सकती, इसे जल नहीं गीला कर सकता और न वायु इसे सूखा सकता है।

हत्याकारी यह समझे कि, मैंने हत्या की है, और हत व्यक्ति यह समझे कि मैं हत हो रहा हूं, तो उन दोनों में से कोई भी आत्मतत्त्व को नहीं जानता (हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो

नायं हन्ति न हन्यते—कठोपनिषद् १।२।१९)। इन प्रमाणों से आत्मा का वध नहीं होता, या हिंसा भी नहीं होती। जो आत्मनिष्ठ है वह किसी प्राणी को मारने पर भी हिंसक नहीं कहलाता (यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निवध्यते—गीता १८।१७)। इस नियम से तो किसी भी हत्यारे को दंड नहीं दिया जा सकता। परंतु उसमें दो विशेषण लगा दिये गये हैं—'यस्य नाहंकृतो भावः' और 'बुद्धिर्यस्य न लिप्यते'। आत्मज्ञानी शरीर-इंद्रियादि के कार्य को अपने द्वारा कृत कर्म नहीं समझते, देहेंद्रियाँ अपना-अपना काम करती हैं, इसे जानकर तटस्थ रहते हैं, और उनके कामों में अपने को लिप्त नहीं करते। हत्या के कारण उनके चेहरे का रग भी मलिन नहीं होता (न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया, न हास्य पापं न च मुखं नीलं कृशं वा—कौषितको १।३।१)। जिसमें अहंकार-भाव है अर्थात् जो मैं हत्या कर रहा हूं, ऐसा समझता है और उस हत्या में जिसकी बुद्धि लिप्त हो जाती है अर्थात् जो भय से व्याकुल होता है, उसे वध-जनित दंड भी भोगना ही पड़ता है।

अवध्यात (वि०) अवमानित, तिरस्कृत।

अवध्यायिन् (वि०) अनादर करने वाला, अपमान करने वाला।

अवध्वंसः (पुं०) त्याग, उत्सर्ग, चूर्ण, धूल, रज, असम्मान, कलंक, भर्त्सना।

अवध्वस्त (वि०) छिड़का हुआ, दागयुक्त, त्यक्त, चूर्णित।

अवनत (वि०) झुका हुआ, झुकाया हुआ, विनीत।

अवनतकाय (वि०) शरीर झुकाने वाला।

अवनतमस्तक (वि०) लज्जा या शंका से जिसका सिर नीचा हो गया हो।

अवनतमुख (वि०) नीचे मुख किया हुआ, अधोमुखी।

अवनतिः (स्त्री०) झुकाव, अस्त होने की क्रिया, प्रणाम, धनुष की तरह झुकने की क्रिया, नम्रता।

अवनद्ध (वि०) बना हुआ, गड़ा हुआ, बँधा हुआ, आबद्ध, जुड़ा हुआ, संयुक्त।

अवनद्धम् (न०) ढोलक नाम का बाजा।

अवनम् (प०) (अवनमति) अवनत होना, झुकना, नीचे गिरना।

अवनम् (न०) रक्षा, बचाव, इच्छा, कामना, हर्ष, संतोष।

अवनम्र (वि०) झुका हुआ, विनत।

अवनयः (पुं०) गिराने की क्रिया, अधःपात, नीचे उतरने की क्रिया, उतराव।

अवनयः [वेद] (स्त्री०) नदियाँ (आसिञ्चन्तीरवनय समुद्रम्—ऋ ४।४।३१।१); अँगुलियाँ (नि० घ० २।५) (सनात् सनीला अवनीखाताः—ऋ ८।४।३०।२)।

अवनाट (वि०) चिपटी नाक वाला, नकबैठा।

अवनामः (पुं०) झुकाने की क्रिया, पैर पड़ने की क्रिया।

अवनामित (वि०) नीचे झुका हुआ, नत।

अवनामिन् (वि०) नीचे झुकाने वाला।

अवनायः (पुं०) देखो अवनयः।

अवनाहः (पुं०) बाँधने की क्रिया, रखने की क्रिया।

अवनिः (स्त्री०) पृथ्वी, भूमि, धरती, जमीन।

पृथ्वी गोल है, किंतु चौरस मालूम होती है। एक बड़े मटके के पेट पर से एक छोटी चींटी चलती हुई घूम आती है, किन्तु उसे उसकी गोलाई नहीं मालूम होती। वह जब जहाँ रहती चारों ओर चौरस ही देखती है। एक चीटीं के लिए मटका जितना बड़ा है, एक मनुष्य के लिए यह पृथ्वी उस से लाखों गुने बड़ी है। इस कारण जब कोई मनुष्य पैदल या रेल से एक स्थान से दूर के किसी स्थान में जाता है तो हर स्थान में उसे अपने चारों ओर का स्थान चौरस ही प्रतीत होता है। समुद्र में यह परिस्थिति बहुत ही स्पष्ट प्रतीत होती हैं। रात्रि के समय अपने जहाज पर स्थित व्यक्ति अपने चारों ओर के जल को चौरस ही देखते हैं। कुछ समय के बाद दूर पर जल से सटी एक बत्ती दिखाई पड़ी। धीरे-धीरे वह बत्ती ऊपर उठती हुई प्रतीत होने लगी और कुछ समय के बाद उस बत्ती के नीचे डेक पर की अनेक बत्तियाँ दिखाई पड़ीं। और भी कुछ समय के अनंतर पूरे जहाज का लोहे का बना विशाल तना दिखाई पड़ा। गोल पृथ्वी की तरह उस पर के जल की गोलाई भी अनुभव में आती है। पहाड़ पर से नीचे के मनुस्य छोटी-

छोटी गुड़ियों की तरह मालूम होते हैं। सूर्य पृथ्वी से ६ करोड़ गुने बड़ा होने पर भी एक छोटी थाली-सा प्रतीत होता है। सूर्य के भीतर १४ लाख पृथ्वी समा सकती है। सूर्य कैसे या कब बना है कोई अनुमान भी नहीं कर सका है, किंतु उस विशाल अग्निपिंड के सौ दो सौ करोड़ मील निकट किसी समय कोई दहुत बड़ा नक्षत्र या धूमकेतु आ गया होगा, जिसके तीव्र आकर्षण के कारण सूर्य से तरल अग्निमय विशाल पदार्थ निकल आया होगा। वह सिगार की तरह दो ओर सँकरा तथा बीच का अंश मोटा था। वह भी सूर्य के साथ ही साथ घुमने लगा। करोड़ों वर्षों तक घुमते रहने से वह सिंगार-नुमा अंश टूट-टूट कर खंड-खंड हो गया। लगातार घूलते रहने से वे सभी पिंड गोल हो गये। सूर्य से क्रमशः दूर पर के पिंडों के नाम हैं—बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, बृहस्पति, शनि, नेपचुन, युरेनस। सूर्य के सब से निकट के ग्रह का नाम बुध है। वह सबसे छोटा है। शुक्र बुध से कुछ बड़ा, उससे पृथ्वी दड़ी, फिर बृहस्पति पृथ्वी से बड़ा, उससे शनि बड़ा, उससे नेपचुन छोटा और युरेनस उससे भी छोटा है। इसी कारण सिगार के साथ इस ग्रह-शृंखला की तुलना की गयी है।

सूर्य के चारों ओर घूमने वाले ये सभी पिंड ग्रह कहलाते हैं। ग्रहों के चारों ओर घूमने वाले कुछ उपग्रह भी हैं, जैसे—पृथ्यी का चंद्र, बृहस्पति के ४ और शनि से ८ उपग्रह हैं। उपग्रह ग्रहों से छिटक कर निकल गये थे। पृथ्वी से चंद्र के निकल जाने से पृथ्वी पर बहुत बड़ा गड्ढा बन गया। वही बाद में महासागर बना है। करोड़ों वर्षों तक निरंतर घूमते रहने से ग्रहों तथा उपग्रहों का ऊपरी स्तर ठंढा हो गया। इस प्रकार क्षिति, अप, तेज, मरुत्, व्योम इन पाँच भूतों के पंचीकरण से पृथ्वी पर जल, अग्नि, वायु का विकास हुआ है और इन्हीं पाँच तत्त्वों से जीव-शरीरों की उत्पत्ति हुई तथा उनके स्वच्छ अंतःकरणों में सर्वव्यापक चेतन आत्मा का प्रतिबिंब पड़ने से जीव-शरीर में चेतना का सचार हुआ।

ग्रहों का ऊपरी स्तर ठंढा और कड़ा होने पर भी भीतरी भाग में तरल अग्निमय पदार्थ भरा हुआ है। कभी-कभी वह ज्वालामुखी पर्वत की चोटी फोड़कर बाहर निकल आता है।

पृथ्वी ३६५ दिन ६ घंटे में सूर्य की एक बार परिक्रमा भरती है। इसी को हम वर्ष मानते हैं। मौसम के बदलने से ६ ऋतुओं तथा १२ मासों का विभाजन किया गया है।

पृथ्वी अपने धुरे पर चक्कर काटती हुई सूर्य की परिक्रमा भरने के लिए निरंतर दौड़ती रहती है। इस प्रकार चक्कर काटने से इसका जो भाग सूर्य के सामने आ जाता वहाँ दिन तथा पिछले भाग में रात होती है।

पृथ्वी अपने धुरे पर लगभग २४ घंटों में एक बार घूम आती है, जिसका गति-वेग विषुवत रेखा पर प्रति मिनट प्रायः १७ मील है। किंतु उसका सूर्य की परिक्रमा करने का गति-वेग प्रति सेकंड लगभग १६ मील है।

जब हम नाव, जहाज या रेल से जाते हैं तो हमें ऐसा लगता है मानो हम स्थिर बैठे हुए हैं और पास के पेड़-पौधे, मकान आदि पीछे की ओर दौड़ते हुए भागे जा रहे हैं। ऐसे ही पृथ्वी तीव्र गति से घूमती जाती है और उस पर सवार हम लोग समझते हैं कि हम तो स्थिर हैं बल्कि सूर्य ही पूर्व दिशा में उदित होकर दुपहर को हमारे सिर के ऊपर आ जाता है और आगे बढ़कर पश्चिम दिशा में अस्त हो जाता है।

पृथ्वी और अन्य ग्रहों की तुलना में सूर्य स्थिर है। किंतु अनंत ब्रह्मांडों में कोई भी स्थिर नहीं रह सकता। यदि कोई पिंड स्थिर रहे तो वह निकट के बहुत बड़े पिंड के आकर्षण से खिंच कर उस पर जा गिरेगा। वह भी तीसरे पर—इस प्रकार सारा ब्रह्मांड ही टूट-फूटकर नष्ट हो जायगा। सूर्य भी अपने सौर जगत के सारे ग्रहों तथा उपग्रहों को लेकर किसी महान नक्षत्र की परिक्रमा भरने के लिए बिजली के वेग से दौड़ता जा रहा है।

पृथ्वी २४ घंटों में अपने धुरे पर जो चक्कर काटती है वह उसकी आह्निक गति है। साल भर में वह जो सूर्य के चारों ओर घूम आती है वह उसकी वार्षिक गति है। सूर्य के साथ दौड़ते रहने की गति उसकी सौर गति कहलाती है। दक्षिणायन और उत्तरायण में सूर्य की जो गति प्रतीत होती है, वह न सूर्य की गति है और न पृथ्वी की (अयनम् देखिए)।

अवनिक्त (वि०) धोया हुआ, साफ किया हुआ।

अवनिचर (वि०) इधर-उधर घूमने वाला, घुमक्कड़, स्वेच्छाचारी।

अव+निज् (पर०) (अवनेजक्ति) प्रक्षालन करना, धोना।

अवनिजः (पुं०) मंगल ग्रह।

अव+निन्द् (पर०) (अवनिन्दति) निंदा करना, कलंक लगाना।

अवनिपतिः, अवनिपालः (पुं०) राजा, भूपति, भूपाल।

अवनिभृत् (पुं०) पर्वत, पहाड़, राजा।

अवनिमण्डलम् (न०) पृथ्वी की गोलाई, पृथ्वीमंडल, समूची पृथ्वी।

अवनिरूहः (पुं०) वृक्ष, पेड़।

अवनीः (स्त्री) पृथ्वी, भूमि, अवनि।

अवनीत (वि०) नीचे उडेला हुआ, आगे ढकेला हुआ।

अवनीय (वि०) नीचे या बाहर उँडेलने योग्य।

अवनिशः, अवनीश्वरः (पुं०) राजा, महीपाल।

अवनेजनम् (न०), अवनेजनी (स्त्री०) स्नान, प्रक्षालन, धौतकरण, मार्जन ; श्राद्धवेदी पर कुशों से जल छिड़कना (पितुरवनेजनं मूलदेशे, पितामहप्रपितामहयोस्तु अवनेजनं मध्यदेशाग्रदेशयोः, मातामहादीनामप्येवम्—ब्रह्मपुराण)। पिंडों या कुशों पर जल-प्रक्षेप (तेभ्य संस्रवपात्रेभ्यो जलेनैवावनेजनम्—ब्रह्मपुराण)। धोने का जल (ऋतं हस्तावनेजनम्—अथर्व०। आपः पादावनेजनीः—ऐतरेय ब्रा०। आपस्तेऽङ्घ्र्यवनेजन्यस्त्रींल्लोकान् शुचयोऽपुनन्—भागवत १०।४१।१५)।

अवन्तिः, अवन्ती (स्त्री०) एक प्रदेश, आधुनिक उज्जैन का नाम, प्राचीन मालव देश की राजधानी। अन्य अनेक स्थानों का नाम भी अवन्ति है (यथा—प्राग्ज्योतिषाः कामरूपा मालवाः स्थूरवन्नयः। अनुपास्तुण्डिकेराश्च वीतिहोत्रा अवन्तयः एते जनपदाः ख्याता विन्ध्यपृष्ठनिवासिनः—मत्स्यऽपुराण ६५ अध्याय)। इस नाम की एक नदी भी है।

अवन्तिवर्धनः (पु०) अवंती राज्य के एक राजा का नाम। उन दिनों मगध का राजा बहुत प्रतापी था। अवंती राज्य मालवा में था। इन दोनों राज्यों के बीच में वत्सों का राज्य था। बहुत दिनों तक मगध, कोशल, वत्स और अवंती में मित्रता थी। किसी समय इनमें अनबन हो जाने के कारण अवंती राजा ने वत्स राजा को जीत लिया। मगध के राजा ने जब देखा कि अवंती नरेश बढ़कर हमारे द्वार पर आ गया है तो उसने अवंती पर चढ़ाई कर दी। इस युद्ध में अवंतिवर्धन मारा गया और उसका राज्य मगध में मिला लिया गया। ऐतिहासिकों का कहना है कि उन दिनों शिशुनाग मगध का राजा था।

अवन्तिवर्मन् (पुं०) कश्मीर के एक राजा का नाम। इसका समय लगभग ८५५ ई० से ८८३ ई० तक था। उन दिनों कश्मीर के राजाओं और जमींदारों में जब-तब लड़ाई होती थी। दो-दो चार-चार ग्रामों का एक राजा हुआ करता था। जमीदारों के अत्याचारों से प्रजाओं को अशेष दुःख भोगना पड़ता था। जीवन और धन की रक्षा करना कठिन था। लड़ाई झगड़े से अवकाश न मिलने के कारण खेती का काम ठीक से नहीं हो पाता था। अन्न की कमी के कारण अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। अवंतिवर्मन गद्दी पर बैठ कर देश में शांत्ति स्थापित करने की चेष्टा करने लगा। एक-एक कर सभी छोटे-बड़े जमींदारों को उसने दबा दिया और देश में सर्वत्र नहरें खुदवा कर सिंचाई का प्रबंध करके उसने अधिक अन्न उपजाने की व्यवस्था की। उसने अपने कुल के नाम से उत्पन्न राजवंश चलाया। अवंतिपुर में उसने अपनी राजधानी बनवाई जो आज तक वंतपोर के नाम से प्रसिद्ध है। वह पंडितों का बहुत आदर करता था। उसी के दरबार के प्रसिद्ध पंडित आनंदवर्धन ने ध्वन्यालोक नामक ग्रंथ लिखा था। अवंतिवर्धन ने अपने राज्य में अनेक मंदिर बनवाये और उनके संचालन के लिए अनेक जमीनों का दान भी किया।

अवन्ती (स्त्री०) आधुनिक मालव-राज्य का प्राचीन नाम। इसकी राजधानी उज्जैनी थी। उसका दूसरा नाम अवंतिका भी था। महाभारत के युद्ध में अवंतीनरेश ने कौरवों की सहायता की थी। बौद्धकाल में अवंती राज्य बहुत प्रबल हो गया था। उन दिनों वहाँ प्रद्योतों का कुल राज करता था। चंड प्रद्योत महासेन उस कुल का सबसे अधिक प्रतापशाली राजा था। उसने वत्स के राजा उदयन को कपट गज के द्वारा

बंदी बना लिया था; परंतु उदयन ने राजा की कन्या वासवदत्ता को हर लिया। कुछ दिनों बाद अवंती राजा ने वत्स राज्य को जीत लिया। परंतु उसके अनंतर मगध राज्य से संघर्ष होने पर अवंती राज्य भी मगध में मिल गया। तब से उज्जैनी में मगध का प्रतिनिधि शासन करता था। महाराज अशोक बचपन में बहुत दिनों तक अवंती में ही रहे थे।

अवन्ध्य (वि०) जो वन्ध्या न हो, ऊपजाऊ, उर्वर।

अवपतनम् (न०) नीचे गिरने की क्रिया, नीचे उतरने की क्रिया।

अवपतित (वि०) नीचे गिरा हुआ, अधःपतित।

अवपाक (वि०) बुरी तरह से पकाया हुआ।

अवपातः (पुं०) नीचे गिरना, अधःपात, उतार, छिद्र, हाथी फँसाने के लिए खोदा हुआ गढ़ा।

अवपातनम् (न०) ढोकर लाने की क्रिया, नीचे गिराने की क्रिया।

अवपात्रित (वि०) जाति-भ्रष्ट, जाति-च्युत।

अवपादः (पुं०) गिरना, अधःपतन।

अवपाशित (वि०) जाल में फँसा हुआ।

अवपीडः (पुं०) दबाव, चाप, सुंघनी, जिसे सुंघने से छींक आती है।

अवपीडनम् (न०) खाने की क्रिया, भक्षण, छींक लाने वाली वस्तु।

अवपीडना (स्त्री०) हानि, खंडन, उत्पात।

अवपीडित (वि०) दबाया हुआ, कष्ट पहुँचाया हुआ।

अवपुञ्जित (वि०) छोटा ढेर या राशि के रूप में संचित।

अवपोथिका (स्त्री०) खड़खड़ाने की वस्तु।

अवपोथित (वि०) खड़खड़ाया हुआ, नीचे फेंका हुआ।

अवप्लुत (वि०) टूटा हुआ, मग्न, कूदा हुआ, प्रस्यानित।

अवबद्ध (वि०) ऊपर रखा हुआ (जैसे—दीप) ऊपर बाँधा हुआ, संयुक्त, संलग्न।

अवबाहुकस् (पुं०) भुजा की अकड़न या ऐंठन।

अवबुद्ध (वि०) शिक्षित, विद्वान।

अवबुद्धविषय (वि०) ज्ञातविषयक। अनुभूतविषय संबंधी स्मृति को अवबुद्धविषय कहते हैं, क्योंकि ज्ञात विषय की ही स्मृति होती है (स्मृतिरनुभवपूर्विका इति व्याप्तिः लोके दृष्टा)। परंतु स्मृति उसी को कहा जायगा, जिसमें अनुभूत विषय का कुछ अंश चुराकर न रख लिया गया हो और न किसी दूसरी घटना से कुछ अंश चुरा लाकर उसमें जोड़ दिया गया हो (अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः—योगसूत्र १।११)। जिस विषय का जैसे अनुभव किया गया है, ठीक उसी प्रकार के स्मरण को ही स्मृति कहते हैं। उसमें कुछ बढ़ाने-घटाने से वह स्मृति नहीं होगी, बल्कि वह कल्पना हो जायगी।

मनुष्य के जीवन में प्रतिदिन तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। जागरण काल में इंद्रियों के द्वारा विषयों की उपलब्धि होती है (इन्द्रियैर्विषयोपलब्धिर्जागरणम्)। जागरणकाल के अनुभव-जनित संस्कार मन में पड़ जाते हैं। निद्रित होने पर मनुष्य का अंतःकरण अज्ञान से आच्छन्न हो जाता है। उस समय यदि उसे अपना साधारण ज्ञान रह जाय कि मैं अमुक मनुष्य हूं, परंतु विशेष ज्ञान न रहे कि मैं कहाँ हूं, जागता हूं या निद्रित, इस समय रात है या दिन, तो इस अर्धजागृत अवस्था को स्वप्न कहते हैं। स्वप्न-काल में जागरण काल के संस्कारों से विषयों का ज्ञान होता है। वहाँ के विषय मिथ्या होने पर भी प्रतिभासित होते हैं (जागरितसंस्कारजप्रत्ययसविषयः स्वप्नः)। निद्रित होने पर मनुष्य का अंतःकरण अपने कारण अज्ञान में यदि पूर्णतया डूब जाय तो उस अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं। इस अवस्था में अंतःकरण न रहने पर भी कारण शरीर रूप अज्ञान की अतिसूक्ष्म वृत्तियों के द्वारा आत्मानंद का तथा सारे विषयों के अभाव का ज्ञान होता है (अतिसूक्ष्माभिः अज्ञानवृत्तिभिः आनन्दम् अनुभवतः—वेदांतसार)।

जिस दिन सुनिद्रा होती है, स्वप्नजनित विक्षेप नहीं रहता, उस दिन मनुष्य जागृत होकर कहता है—'आज मुझे बड़ी अच्छी निद्रा हुई, कोई स्वप्न नहीं हुआ। मैं आनंद से सोया था। सांसारिक किसी भी विषय का ज्ञान नहीं था इत्यादि (सुखमहम् अस्वाप्सम्, न किञ्चिद् अवेदिषम्)।

जागरित व्यक्ति का ऐसा ज्ञान स्मृति है क्योंकि वह सुषुप्ति-काल में अनुभूत विषय का ही स्मरण है। सुषुप्ति-काल में आनंद था और किसी विषय का ज्ञान नहीं था—इसका अनुभव उस व्यक्ति में था, इसी कारण वह जोर देकर कह सकता है कि आज मैं बहुत ही शांति से सोया था। उस समय किसी भी विषय का ज्ञान नहीं था। यहाँ तक की पैर के घाव का क्लेश भी उस समय अनुभूत नहीं होता था। मैं पुत्र-कन्यओं का पिता हूं इसका ज्ञान भी नहीं था (सुषुप्तिकाले रोगी अरोगी भवति, पिता अपिता भवति)।

ऐसी स्थिति में यदि हजारों, लाखों आदमी चिल्लाकर कहें 'नहीं, तुम्हें बड़ी बेचैनी की नीद हुई थी, निद्रा में तुम्हें बिल्कुल शांति नहीं मिली थी, तो वह किसी का कहना नहीं मानेगा, क्योंकि उसने उस दिन सुषुप्तिकाल में आनंद का, सब विषयों के ज्ञान के अभाव का प्रत्यक्ष अनुभव किया था। जिसने बंबई नगर प्रत्यक्ष देखा है, उससे यदि कोई कहता है कि बंबई में सभी घास-फूस के मकान हैं, पक्का मकान एक भी नहीं है, तो वह कभी नहीं मानेगा। क्योंकि वह वहाँ जाकर प्रत्यक्ष अनुभव कर आया है कि वहाँ के सभी मकान पक्के हैं।

इसी कारण जागृत पुरुष के सुषुप्तिकालीन उस प्रकार के अनुभव की स्मृति को 'अवबुद्धविषया' कहा गया है (सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमोबोधो भवेत्स्मृतिः। सा चावबुद्धविषयाऽवबुद्धं तत्तदा तमः—पंचदशी १।५)।

अव+बुध् (पर०) (अवबुध्यति) जानना, समझना।

अवबोधः (पुं०) जागना, ज्ञान, सूक्ष्म विवेचन, उपदेश, शिक्षा, सूचना।

अवबोधक (वि०) जगाने वाला, सिखाने वाला, पढ़ाने वाला, समझाने वाला।

अवबोधकः (पुं०) सूर्य, भाट, बंदीजन, अध्यापक।

अवबोधनम् (न०) ज्ञान, प्रतीति, शिक्षण, सूचना।

अवबोधनीय (वि०) पुनः स्मरण कराने योग्य, समझाने योग्य।

अवबोधित (वि०) जागा हुआ, जाग्रत।

अवभङ्ग (वि०) टूटा हुआ, भग्न।

अवभङ्गः (पुं०) टूटना (धनुष का), जीतने की क्रिया, पराःस्तकरण।

अवभञ्जनम् (न०) तोड़ना, फाड़ना।

अवभर्जित (वि०) नष्ट किया हुआ, भूना हुआ।

अवभाषणम् (न०) किसी के विरुद्ध कहना या बोलना, विपरीत कथन।

अवभाषित (वि०) विरुद्ध कथित, किसी के प्रतिकूल कहा हुआ।

अवभासः (पुं०) चमक, प्रकाश, ज्ञान, दर्शन, भाव, प्रकटन, स्थान, पहुँच, मिथ्या बोध, भ्रम (परत्र पूर्वदृष्टावभासः—वेदान्तसूत्र-शांकर-भाष्य १।१।१)।

अवभासक (वि०) तेजोमय, प्रकाशक।

अवभासकम् (न०) परब्रह्म, परमात्मा।

अवभासित (वि०) चमकता हुआ, चमकीला, प्रकाशयुक्त।

अवभासिन् (वि०) चमकने वाला, प्रकाशित करने वाला, प्रकट करने वाला।

अवभिन्न (वि०) घुसा हुआ, धँसा हुआ, टूटा हुआ, क्षतिग्रस्त।

अवभुग्न (वि०) नीचे झुका हुआ, विनत।

अवभृथः (पुं०) यज्ञ के अन्त में स्नान, मार्जन का जल, प्रधान यज्ञ के बाद किया जाने वाला कोई छोटा यज्ञानुष्ठान।

अवभृथस्नानम् (न०) यज्ञ के पश्चात् किया जाने वाला स्नान।

अवभेदक (वि०) भेदन या छेदन करने वाला।

अवभेदिन् (वि०) फाड़ने वाला, विभाजन करने वाला, विभाजक।

अवभ्रः (पुं०) बलात् अपहरण, भगा ले जाने की क्रिया या भाव।

अवभ्रट (वि०) चिपटी नाक वाला, नतनासिक, नकबैठा।

अवम् (वि०) तुच्छ, नीच, अधःपतित, तिरस्करणीय, अपकृष्ट, घनिष्ठ, अंतिम (वय में)।

अवमः (पुं०) सबसे छोटा परिमाण, न्यूनतम संख्या, अधम, अंतिम।

अवमत (वि०) अवमान-प्राप्त, अवमानित। बुद्धिमान व्यक्ति अवमानित होने पर भी अपने चित्त को खिन्न नहीं करते। वह सुख से सोते हैं और जागते हैं, इस लौकिक जगत में वह सुख से ही विचरण करते हैं, किंतु अवमान करने वाला व्यक्ति नाश-प्राप्त हो जाता है (सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेऽस्मिन् अवमन्ता विनश्यति—मनु २।१६३)।

अवमताङ्कुशः (पुं०) मतवाला हाथी, मत्त हस्ती।

अवमतिः (स्त्री०) अवहेलना, अवज्ञा, घृणा, पति, स्मानी।

अव+मन् (आत्म) (अवमन्यते) अवज्ञा करना, तुच्छ समझना।

अवमन्तव्य (वि०) अनादर करने योग्य, घृणित।

अवमन्तृ (वि) अवमानकारी, अवमंता।

अवमर्दः (पुं०) कुचलना, बरबादी, नाश, अत्याचार, पदप्रहार, शत्रुद्वारा प्रहार।

अवमर्शः (पुं०) स्पर्श, संसर्ग।

अवमर्षः (पुं०) अन्वेषण, खोज, विचार, किसी नाटक के पाँच प्रधान भागों में से एक, आक्रमण, चढ़ाई।

अवमर्षणम् (न०) असहनशीलता, असहिष्णुता, स्मृति से हटा देने की क्रिया, अधीरता, विस्मरण।

अवमानः (पुं०) असम्मान, अनादर, अहंकार, घृणा।

अवमाननम् (न०), अवमानना (स्त्री०) अप्रतिष्ठा, अपमान, गाली, कुवाच्य।

अवमाननीय (वि०) अनादरणीय, अपमानित करने योग्य।

अवमानित (वि०) असम्मानित, अप्रतिष्ठित, अपमानित, विस्मृत, भूला हुआ।

अवमानिन् (वि०) अवहेलना करने वाला, घृणा करने वाला।

अवमान्य (वि०) अवमाननीय (या रोगिणी स्यात्तु हिता सम्पन्ना चैव शीलतः। सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित्—मनु ९।८२)।

अवमूत्रित (वि०) ऊपर पेशाब किया हुआ, मूत्र द्वारा भींगा हुआ (पक्षी, कीड़े आदि के द्वारा)।

अवमूर्धन् (वि०) सिर झुकाया हुआ, नतमस्तक।

अवमूर्धशय (वि०) औंधा मुँह करके लेटा हुआ।

अवमूर्धशायः, अवमूर्धशायिन् (वि०) औंधा लेटा हुआ, नीचे की ओर मुँह करके पड़ा हुआ।

अवमूल्यनम् (न०) किसी वस्तु के मूल्य के कम होने अथवा घटने की अवस्था या भाव, आधुनिक अर्थशास्त्र में विनिमय के काम के लिए मुद्रा या सिक्कों का मूल्य कम करने या कम होने का भाव।

अवमे (वि०) पासका, निकट, समीप (अस्मै बहूनामवमापसख्ये—ऋ० २।७।२४।२)।

अवमेरुदेशः (पुं०) उत्तरी या दक्षिणी ध्रुव के समीप का देश।

अवमेहनम् (न०) ऊपर पेशाब करना।

अवमोचनम् (न०) मुक्ति, छोड़ने की क्रिया, ढीला या शिथिल करने की क्रिया, छुड़ाव।

अवयवः (पुं०) किसी वस्तु का अंश या अंग, अविच्छिन्न अंश। जैसे—विश्व के पृथ्वी जल तेज और वायु के परमाणु आदि, शरीर के हस्त पद मस्तक आदि, वृक्ष के शाखा, पत्र, फल, फूल आदि अवयव हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शनों के मत में अनुमान के ५ अवयव माने गये हैं। जैसे, पर्वत में धूम देखकर अग्नि का अनुमान कर लिया जाता है और वह अनुमान प्रमाणित भी हो जाता है, क्योंकि वहाँ जाने पर अग्नि मिल जाती है। अनुमान दो प्रकार के हैं—स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। स्वार्थानुमान में वाक्य-प्रयोग न करने से भी काम चल सकता है। परंतु परार्थानुमान में ५ प्रकार के वाक्यों के प्रयोग करने की आवश्यकता होती है। जैसे—१. (इस) पर्वत (पक्ष) में अग्नि है (प्रतिज्ञा या साध्य), २. (क्योंकि वहाँ) धूम है (हेतु), ३. (जहाँ जहाँ धूम है वहाँ वहाँ अग्नि है जैसे रसोईघर (दृष्टांत या उदाहरण), ४. यह पर्वत भी वैसा है अर्थात् धूमवान है (उपनय), ५. इसलिए वैसा ही है अर्थात् वहाँ भी अग्नि है (निगमन) (तच्चानुमानं परार्थं न्यायसाध्यमिति, न्यायस्तदवयवाश्च—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि निरूप्यन्ते—तत्त्वचिन्तामणि)।

प्राचीन न्याय में १० न्यायावयव माने गये हैं। जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन, संशयव्युदास तथा ऊपर-कथित ५ अवयव। परंतु न्यायदर्शनकार महर्षि गौतम ने प्रतिज्ञादि पाँच को ही न्यायावयव माना है (प्रतिज्ञा-

हेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः—न्यायदर्शन १।१।३२)। उक्त न्यायदर्शन-सूत्र के वात्स्यायन-भाष्य की विश्वनाथ वृत्ति में प्राचीन न्याय के उक्त जिज्ञासादि पाँचों का खंडन किया गया है। क्योंकि जिज्ञासादि पांच न्यायजन्य बोध के अनुकूल होने पर भी न्यायरूप उक्त महावाक्य का घटक न होने के कारण न्यायावयव नहीं हो सकते। न्यायरूप महावाक्य के केवल अनुकूल होने के कारण यदि वे न्यायावयव स्वीकृत हों तो अवयव के एक देश में अतिप्रसंग या अतिव्याप्ति दोष आ जाता है अर्थात् अवयव का प्रत्येक अंश भी अवयव हो जाता है (एतेषां च न न्यायावयवत्वं न्यायाघटकत्वात्, न वा न्यायजन्यबोधानुकूलत्वे नैवावयत्वमेकदेशे अतिप्रसङ्गात्—न्यायदर्शन, विश्वनाथवृत्ति १।१।३२)।

कर्ममीमांसा-दर्शन के मत में, प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण अथवा उदाहरण, उपनय और निगमन (उदाहरणादिकम्) ऐसे तीन को हो न्यायावयव माना है। (ते तु पञ्चतटयं केचित्, द्वयमन्ये, वयं त्रयम्)।

जैन नैयायिक मत में प्रतिज्ञा और हेतु इन दो को ही न्यायावयव स्वीकृत किया है (द्वावयवौ प्रतिज्ञा-हेतुश्च)।

बौद्ध संप्रदाय ने उदाहरण और उपनय को ही न्यायावयव कहा है (सौगतास्तु सोपनीतिमुदाहृतम्—तार्किक-रक्षाग्रन्थे वरदराजः)।

विष्णुधर्मोत्तर-स्मृति-ग्रंथ में भी पंचावयव का समर्थन मिलता है (प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तावुपसंहार एव च तथा निगमनञ्चैव पञ्चावयवमिष्यते)।

महाभारत सभापर्व के नारदगुणवर्णन-प्रसंग में अनुमान-प्रमाण के पाँच अवयवों का ही उल्लेख मिलता है (पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित्)।

इन मतमतांतरों की पर्यालोचना से निष्कर्ष यही निकलता है कि महर्षि-गौतम-प्रोक्त न्याय-पंचावयव ही बहुजन-सम्मत हैं (अनुमानम् देखिए)।

अवयवधर्मः (पुं०) किसी अंश या भाग का गुण।

अवयवशस् (अव्य०) खंड-खंड करके, टुकड़ा-टुकड़ा करके।

अवयवार्थः (पुं०) किसी शब्द के एक अंश का अर्थ या आशय।

अवयवावयविभावः (पुं०) अंगांगिभाव, गौणमुख्यभाव, उपकार्योपकारकभाव, अनुग्राह्यानुग्राहकभाव। जिसके अंग या अवयव हैं वही अंगी या अवयवी है। हाथ, पैर, सिर आदि अंग हैं और शरीर अंगी; कपाल, कपालिका अवयव हैं और घट अवयवी।

बौद्ध दार्शनिकों के मत में घट अवयवी अपने उपादान कारण परमाणुओं का समूह मात्र है। किंतु न्यायदर्शन के मतानुसार घट अवयवों से उत्पन्न एक पदार्थ है, अवयवों का संघात मात्र नहीं। बौद्धों का कहना है कि अप्रत्यक्ष परमाणुओं का पुंज होने पर भी घट अप्रत्यक्ष नहीं है, जैसे, दूरस्थित एक छोटा केश भले ही प्रत्यक्ष न हो परंतु सामने आने पर वह या केशों का गुच्छा प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही एक परमाणु अप्रत्यक्ष होने पर भी उनका समूह या पुंज प्रत्यक्ष हो सकता है। परंतु न्याय-मत में परमाणु और केश एक श्रेणी के पदार्थ नहीं हैं। परमाणु परम सूक्ष्म होने से अप्रत्यक्ष है। इस कारण उसका समूह भी अप्रत्यक्ष ही रहेगा क्योंकि कारण का गुण कार्य-वस्तु में आता है। केश अप्रत्यक्ष वस्तु नहीं है। दूरत्व के कारण वह दिखाई न भो पड़ सकता है पर सामने आने पर प्रत्यक्ष होता है। अदृश्य परमाणुओं से कोई भी वस्तु उत्पन्न क्यों न हो वह अदृश्य ही रहेगी। अतः यदि घट केवल परमाणुओं का समूह मात्र हो तो वह कभी प्रत्यक्ष नहीं होगा। किंतु घट प्रत्यक्षीभूत है, इस कारण अवयवों से पृथक् अवयवी का स्वतंत्र अस्तित्व मानना ही पड़ता है और यही युक्तियुक्त मत है।

अवयविन् (वि०) जिसके अवयव हैं, अवयवी, अंशों या अंगों वाला, उपादानयुक्त। परमाणुओं द्वारा गठित पृथ्वी, जल, तेज और वायु अवयवी हैं—यह न्याय और वैशेषिक दर्शनों का मत है। हस्त, मस्तक, पद आदियुक्त शरीर अवयवी है, शाखा-पत्र-फल-फूल आदि विशिष्ट वृक्ष अवयवी है।

मृत्तिका, घट, पट, देह, वृक्षादि पार्थिव अवयवी हैं। व्यवहार-योग्य वाष्प जल बरफ तथा वरुण-लोक के जलीय शरीर आदि जलीय अवयवी हैं (जलीयशरीरमयोनिजं वरुणलोके प्रसिद्धम्—सिद्धान्तमुक्तावली)। अग्नि, सुवर्ण के अलंकार, धातु-पात्र आदि तैजस अवयवी हैं। वृक्षादि के कंपनकारक वायु और निःश्वासप्रश्वास आदि वायवीय अवयवी हैं।

अवयवी के विषय में मतभेद है। बौद्ध दार्शनिकों का मत है कि अवयवी नाम से कोई पृथक् पदार्थ नहीं है;

परमाणुपुंज ही घट, पट, शरीर आदि रूप से दिखाई पड़ता है। वे अवयव से पृथक् कोई अवयवी पदार्थ नहीं। परंतु न्याय और वैशेषिक दर्शनों के मत से परमाणु रूप उपादान कारण द्वारा द्यणुकादि क्रम से पृथिवी, जल, तेज और वायु के अवयवी रूप द्रव्यांतर उत्पन्न हुए हैं। बौद्ध संप्रदाय के उस मत का खंडन न्यायदर्शन प्रणेता महर्षि गौतम ने युक्तितर्कों से करने के लिए कहा है कि, अवयवी की असिद्धि होने से किसी वस्तु का ग्रहण या ज्ञान ही नहीं हो सकता (सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धे :—न्यायदर्शन२।१। ३२)। आशय यह है कि, परमाणु अतींद्रिय हैं, चक्षु से देखे नहीं जा सकते। उनके संयोग से कोई पदार्थ बनने पर भी वह अदृश्य ही रहेगा। इस कारण घट, पट, जल, अग्नि आदि कभी प्रत्यक्ष नहीं हो सकेंगे और वे प्रत्यक्ष हो रहे हैं इसी से अवयव के अतिरिक्त अवयवी को मानना ही पड़ता है।

अवयवी (वि०) संपूर्ण, समूचा, अंगीभूत, जिसके बहुत से अवयव हों।

अवयस्क (वि०) अप्राप्त-वयस्क, १८ वर्ष से अल्प वयस का।

अवयानम् (न०) नीचे जाना, अधोगमन, संतुष्ट-करण।

अवयुन (वि०) अस्पष्ट, धुंधला, अंधकार, अंधेरा।

अवर (वि०) छोटा (वय में), बाद का, पिछला, अपेक्षाकृत नीचे का, अपकृष्ट, हीन, नगण्य, तुच्छ, अंतिम, सब से कम (परिमाण में)।

अवरज (वि०) अपेक्षाकृत छोटा (वय में)।

अवरजः (पुं०) छोटा भाई, कनिष्ठ भ्राता।

अवरजा (स्त्री०) छोटी बहन, कनिष्ठा भगिनी।

अवरतिः (स्त्री०) विराम, समाप्ति, निवृत्ति, वैराग्य।

अवरपुरुषः (पुं०) वंशज, संतान।

अवरम् (न०) हाथी की जाँघ का पिछला भाग।

अवरवर्णः, अवरवर्णकः (पुं०) शूद्र, चतुर्थ वर्ण का व्यक्ति।

अवरव्रतः (पुं०) सूर्य, तपन, भास्कर, दिवाकर।

अवरशैलम् (न०) अस्ताचल-पर्वत।

अवरसेवा (स्त्री०) राजकीय अथवा लोक-सेवा का वह अंग जिसमें निम्न वर्ग के कर्मचारी काम करते हैं।

अवरस्तात् (अव्य०) पीछे, नीचे, नीचे की ओर।

अवरा (स्त्री०) दुर्गा, भगवती, कनिष्ठा भगिनी, बहिन।

अवरार्धः (पुं०) कम से कम भाग, शरीर का पिछला भाग, दो समान भागों में से पिछला आधा भाग या अंश, शेषार्ध।

अवरावपतनम् (न०) गर्भपात, गर्भस्राव।

अवरावर (वि०) सबसे नीच, अत्यंत अपकृष्ट।

अवरीण (वि०) पतित, गिरा हुआ, घृणित, निंद्य।

अवरुग्ण (वि०) बीमार, टूटा हुआ, भग्न, फटा हुआ।

अवरुदित (वि०) जिसके आँसू नीचे गिरे हों।

अव + रुध् (आत्म०) (अवरुध्यते) अवरोध करना, रोकना, घेरना।

अवरुद्ध (वि०) छिपा हुआ, रोका हुआ, रुद्ध, बंद किया हुआ, आच्छादित, लपेटा हुआ, कारागार में डाला हुआ, कैद किया हुआ, प्राप्त, उपलब्ध, घेरा हुआ।

अवरुद्धिः (स्त्री०) रोक, रुकावट, घिराव, प्राप्ति।

अवरुद्धिका (स्त्री०) भीतरी भागों में अकेली रहने वाली स्त्री।

अव + रुध् (आत्म०) (अवरुध्यते) अवरोध करना, घेरना, रोकना।

अव + रुह् (पुं०) (अवरोहति) अवरोहण करना, उतरना।

अवरूप (वि०) कुरूप, भद्दा, बदशकल।

अवरोक्त (वि०) अंतिम नाम वाला।

अवरोचकः (पुं०) भूख का नाश, भोजन में अरुचि, क्षुधाराहित्य।

अवरोधः (पुं०) रुकावट, बाधा, घेरा, कारागार, अंतःपुर, जनानखाना, चौकीदार, कलम, लेखनी।

अवरोधक (वि०) रोकने वाला, घेरा डालने वाला।

अवरोधकः (पुं०) पहरेदार, चौकीदार।

अवरोधकम् (न०) घेरा, हाता, रुकावट।

अवरोधनम् (न०) बाधा, अड़चन, रोक, अंतःपुर, प्राप्ति, उपलब्धि।

अवरोधिक (वि०) बाधक, रुकावट डालने वाला।

अवरोधिकः (पुं०) अंतःपुर का प्रहरी।

अवरोधिका (स्त्री०) वह स्त्री जो अंतःपुर की देख-रेख या रक्षा करती हो।

अवरोधिन् (वि०) छिपाने वाला, ढाकने वाला, लपेटने वाला, बाधा डालने वाला, घेरा डालने वाला।

अवरोपणम् (न०) पौधा लगाने की क्रिया, उखाड़ने की क्रिया, उतारने की क्रिया, वंचित करना, ले जाना, कम करने या घटाने की क्रिया ।

अवरोपित (वि०) रोपा हुआ, उतारा हुआ, घटाया या कम किया हुआ, लुप्त किया हुआ ।

अवरोप्य (वि०) रोपण करने योग्य, उतारने योग्य, घटाने या कम करने योग्य ।

अवरोहः (पुं०) उतार, ढाल, संगीत में उच्च स्वर से निम्न स्वर में आना, पर्वतारोहण, स्वर्ग, आकाश, बरगद की डाल ।

अवरोहणम् (न०) उतार, पतन, आरोहण, चढ़ना, नीचे आना ।

अवरोहशाखिन् (पुं०) वट वृक्ष, बरगद का पेड़ ।

अवरोहिका (स्त्री०) सीढ़ी, निसेनी ।

अवर्चस् (वि०) उत्साहहीन, साहसरहित ।

अवर्जनीय (वि०) वर्जन के अयोग्य ।

अवर्ण (वि०) वर्ण या रंग से रहित ।

अवर्णः (पुं०) कलंक, धब्बा, आरोप ।

अवर्णनीय (वि०) वर्णन करने के अयोग्य ।

अवर्णवादः (पुं०) निंदा, कलंक ।

अवर्णसंयोगः (पुं०) किसी भिन्न जाति के साथ संबंध या मेल-मिलाप ।

अवर्मन् (वि०) जिसके पास कवच न हो, कवच-रहित ।

अवर्षम् (न०) वर्षा का अभाव, सूखा, अकाल ।

अवर्षिन् (न०) न बरसने वाला ।

अवलक्ष (वि०) उज्ज्वल, शुभ्र, धवल, सफेद ।

अवलक्षः (पुं०) सफेद रंग, श्वेत वर्ण ।

अवलग्न (वि०) सटा हुआ, चिपका हुआ, संलग्न ।

अवलग्नः (पुं०) शरीर का मध्य भाग, कटि, कमर ।

अवलङ्घित (वि०) बीता हुआ, व्यतीत (समय) ।

अव + लम्ब् (आ०) (अवलम्बते) आश्रय या अवलंबन करना ।

अवलम्ब (वि०) नीचे लटकता हुआ, आश्रित ।

अवलम्बः (पुं०) आश्रय, सहारा, शरण, किसी गिरती हुई चीज को सहारा देने वाली लकड़ी ।

अवलम्बक (वि०) नीचे लटकता हुआ ।

अवलम्बनम् (न०) सहारा, सहायता ।

अवलम्बित (वि०) लटका हुआ, आश्रित, रक्षित, सटा हुआ, स्थापित ।

अवलिप्त (वि०) लीपा या पोता हुआ, क्रोधी, अभिमानी, घमंडी ।

अवलीढ (वि०) भक्षित, चबाया हुआ, चर्वित, चाटा हुआ, नष्ट किया हुआ ।

अवलीला (स्त्री०) खेल-कूद, अवहेलना, तिरस्कार ।

अवलुञ्चनम् (न०) काटने की क्रिया, उखाड़ने की क्रिया, जड़ से उखाड़ने की क्रिया, निर्मूलन ।

अवलुण्ठनम् (न०) लुढ़कने की क्रिया; लूट-पाट ।

अवलुण्ठित (वि०) लुढ़का हुआ; लूटा हुआ ।

अवलेखः (पुं०) खरोंच, छीलना, तराशना ।

अवलेखा (स्त्री०) किसी व्यक्ति को सजाने की क्रिया, घर्षण, रगड़ ।

अवलेपः (पुं०) गर्व, अहंकार, क्रोध, आक्रमण, अपमान, अनादर, आभूषण, गहना, लेपन, संग-साथ, मलहम ।

अवलेपनम् (न०) लीपने या पोतने की क्रिया, उबटन, तैल, अभिमान का वर्ताव या व्यवहार ।

अवलेहः (पुं०) चाटने की क्रिया, चाटने योग्य वस्तु, चटनी ।

अव + लोक् (आत्म०) (अवलोकते) अवलोकन करना, दर्शन करना, देखना ।

अवलोकः (पुं०) देखना, नजर, दृष्टि ।

अवलोकक (वि०) देखने का इच्छुक, दर्शनेच्छुक ।

अवलोकनम् (न०) देखने की क्रिया, जाँच-पड़ताल, निरीक्षण, दृष्टि, चितवन, कटाक्ष ।

अवलोकनीय (वि०) अवलोक्य ।

अवलोकयितव्य (वि०) देखने योग्य, अवलोकन करने योग्य, अवलोकनीय ।

अवलोकयितृ (वि०) जो देखता हो, देखने वाला ।

अवलोकित (वि०) देखा हुआ, निरक्षण किया हुआ, निरीक्षित ।

अवलोकितम् (न०) चितवन, दृष्टि, नजर ।

अवलोकितेश्वरः (पुं०) (बौद्ध) एक बोधिसत्त्व का नाम । इनका रंग श्वेत है । यह दाहिने हाथ से वरद मुद्रा का प्रदर्शन करते हैं और बायें हाथ से पद्मधारण करते हैं । यह ध्यानी बुद्ध अमिताभ के कुल में उत्पन्न हुए थे ।

अवलोकिन् (वि०) देखने वाला, अवलोकन करने वाला ।

अवलोक्य (वि०) अवलोकन करने योग्य, अवलोकनीय ।

अववदनम् (न०) कुवाच्च बोलना, कुभाषण ।

अववदित (वि०) सिखाया हुआ ।

अववदितृ (पुं०) वह जो अपनी निश्चित राय देता हो ।

अववरक (पुं०) खिरकी, झरोखा, छिद्र, छेद ।

अववाद: (पुं०) अवहेलना, भर्त्सना, विश्वास, समर्थन, आज्ञा, आदेश, बदनामी ।

अवश (वि०) जो वश में न हो, स्वतंत्र, मुक्त, जो पालतू न हो, असंयमी, स्वेच्छाचारी, शक्तिहीन ।

अवशप्त (वि०) शापित, आक्रोशित ।

अवशातनन् (न०) मुरझाने की क्रिया, नाश करने की क्रिया, काटना ।

अवशिन् (वि०) जो किसी के वश में न हो ।

अवशिरस् (वि०) जिसका सिर नीचे को घूमा हुआ हो ।

अवशिष्ट (वि०) बचा हुआ, उच्छिष्ट ।

अवशीभूत (वि०) न रोका हुआ, अबाधित, स्वतंत्र, मुक्त ।

अवशेष: (पुं०) बाकी बचा हुआ अंश ।

अवशेष्य (वि०) छोड़ने योग्य, अवशेष के योग्य ।

अवशेषित (वि०) छोड़ा हुआ, बाकी बचा हुआ ।

अवश्य (वि०) जिसे वश में न रखा जा सके, अनिवार्य, आवश्यक ।

अवश्यकर्मन् (वि०) कोई आवश्यक कृत्य या क्रिया ।

अवश्यपुत्र: (पुं०) ऐसा पुत्र जिसे पढ़ाना-लिखाना या अपने वश में रखना संभव न हो ।

अवश्यम् (अव्य०) निश्चित रूप से, निस्संदेह ।

अवश्यम्भाविन् (वि०) अवश्य होने वाला, होनहार । अवश्य होने वाली विपत्ति का यदि प्रतिकार होता तो राजा नल, राम, युधिष्ठिर आदि को दारुण दु:ख न भोगना पड़ता (अवश्यम्भाविभावानां प्रतिकारो भवेद् यदि । तदा दु:खैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिरा:—हितोपदेश ९६) ।

अवश्या (स्त्री०) पाला, कुहरा, ओस ।

अवश्याय: (पुं०) कुहरा, पाला, अभिमान, गर्व, घमंड ।

अवश्रयणम् (न०) किसी वस्तु को आग से बाहर निकालने की क्रिया ।

अवष्टब्ध (वि०) घिरा हुआ, पकड़ा हुआ, ऊपर लटकता हुआ, अवलंबित, निकट, समीप, रुका हुआ, बँधा हुआ, झुका हुआ ।

अवष्टम्भ: (पुं०) झुकने की क्रिया, झुकाव, सहारा, क्रोध, अभिमान, खंभा, प्रारंभ, ठहराव, साहस, हिम्मत, मूर्च्छा, बेहोशी, लकवा, पक्षाघात, स्वर्ण, सोना ।

अवष्टम्भनम् (न०) सहारा लेने या देने की क्रिया, खंभा ।

अवष्टम्भमय (वि०) सुनहला, स्वर्ण-निर्मित, संस्पर्शित ।

अवसक्त (वि०) लटकता हुआ, स्थापित ।

अवसक्थिका (स्त्री०) पिंडलियों और घुटनों में बाँधने की पट्टी, पट्टी ।

अवसण्डीनम् (न०) पक्षियों का झुंड में उड़ते हुए ऊपर से नीचे की ओर आना या उड़ना ।

अवसथ: (पुं०) निवास-स्थान, गाँव, पाठशाला, विद्यालय ।

अवसथ्य (वि०) घर से संबंध रखने वाला, घरेलू ।

अवसथ्य: (पुं) विद्यालय, पाठशाला, स्कूल ।

अवसन्न (वि०) निमज्जित, समाप्त, अवनत, रहित, विहीन ।

अवसर: (पुं०) अवकाश, मौका, सुयोग, समय (आसुप्तेरामृते: कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया । दद्यान्नावसरं किञ्चित् कामादीनां मनागपि—पंचदशी) । जब तक निद्रा न आवे और मृत्यु उपस्थित न हो तब तक निरंतर वेदांत की चिंता में समय व्यतीत करना चाहिए । काम-क्रोधादि को क्षण भर के लिए भी अवसर देना उचित नहीं है । पाश्चात्त्य विद्वानों का कहना कि मौका या अवसर के कपाल के सामने एक गुच्छा केश है । सुअवसर सामने आते ही उस केश-गुच्छे को पकड़ लो, नहीं तो वह आगे बढ़ गया तो पीछे से उसे पकड़ नहीं सकोगे (आपर्चुनिटि हैज ए लाक अव हेयर आन इट्स् फोरहेड) ।

अवसरवाद: (पुं०) भागने या काम से अवसर लेने का मौका खोजना ।

अवसरवादिन् (वि०) अवसरवादी, भागने या काम से अवसर लेने का मौका खोजने वाला (मनुष्य) ।

अवसर्गः (पुं) ढीलापन, शिथिलता, स्वतंत्रता, स्वेच्छा से कार्य करने की अनुमति प्रदान।

अवसर्जनम् (न०) छुटकारा, मुक्ति।

अवसर्जित (वि०) जिसे त्याग दिया गया हो, त्यागा हुआ, परित्यक्त।

अवसर्पः (पु०) राजदूत, भेदिया, जासूस, गुप्तचर।

अवसर्पणम् (न०) नीचे उतारने की क्रिया या भाव, अधोगमन।

अवसादः (पु०) थकावट, क्लांति, नाश, हानि, हार, पराजय, समाप्ति, निमज्जन।

अवसादक (वि०) थकाने वाला, मूर्छित करने वाला, विफल करने वाला।

अवसादनम् (न०) अवनति, ह्रास, अत्याचार, हानि।

अवसादित (वि०) क्लांत, थका हुआ, असफल।

अनसानम् (न०) समाप्ति, उपसंहार, मृत्यु, सीमा, रुकावट, विराम, आवास-स्थान, विश्राम-स्थान।

अवसाय: (पुं०) अवशिष्टता, संपूर्णता, संकल्प, निर्णय, समाप्ति।

अवसिक्त (वि०) छिड़का हुआ, सिंचित।

अवसित (वि०) जाना हुआ, ज्ञात, समाप्त, पूर्ण, निश्चित किया हुआ, एकत्रित, संग्रहीत, बंधा हुआ, संयुक्त, संलग्न।

अवसीद् (पर०) (अवसीदति) अवसन्न होना, दुःखी होना। जो मनुष्य जितना कमाता है उसमें से कुछ-कुछ बचाये रखना चाहिए, जो विपद, आपद, रोग, शोक आदि विपत्ति के समय काम आवे (सञ्चयी नावसीदति)।

अवसृष्ट (वि०) शिथिल किया हुआ, फेंका हुआ, निक्षिप्त।

अवसेक: (पुं०) छिड़काव, सिंचन।

अवसेचनम् (न०) सींचने की क्रिया, रोगी के शरीर से पसीना निकालने की क्रिया, रक्त निकालने की क्रिया।

अवसेचित (वि०) छिड़का हुआ, सिंचित, अवसिक्त।

अवसेय (वि०) सीखने योग्य, जानने योग्य, नाश करने योग्य।

अव+सो (पर०) (अवस्यति) अवसान करना, नाश करना, मार डालना।

अव+स्कन्द् (पर०) (अवस्कन्दति) आक्रमण करना, हमला करना।

अवस्कन्दः (पुं०), अवस्कन्दनम् (न०) आक्रमण, चढ़ाई, ऊपर से नीचे आने की क्रिया, शिविर, छावनी, खेमा।

अवस्कन्दित (वि०) आक्रमण किया हुआ, नीचे आया हुआ, नहाया हुआ, स्नात, अपराध किया हुआ, अपराधी, दोषी।

अवस्कन्दिन् (वि०) आक्रमण करने वाला, बलात्कार करने वाला।

अवस्कर: (पु०) विष्ठा, मल, शौचालय, बुहारन।

अव + स्तम्भ् (पर०) (अवस्तम्भयति) अवलंबन करना, विरोध करना, रोकना।

अवस्तरणम् (न०) बिछौना, बिस्तर, कंबल।

अवस्तात् (अव्य०) नीचे, नीचे की ओर।

अवस्तार: (पुं०) परदा, आच्छादन, चटाई।

अवस्तीर्ण (वि०) ढका हुआ, आच्छादित।

अवस्तु (न०) सच्चिदानंद अद्वय ब्रह्म ही वस्तु है, तद्भिन्न संसार के सभी पदार्थ अवस्तु हैं। अवस्तु इसलिए हैं कि किसी वस्तु में ब्रह्मसत्ता से पृथक् अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। कारण की सत्ता से पृथक् कार्यवस्तु की सत्ता नहीं है। जैसे—सूत्रों की सत्ता पर वस्त्र, सुवर्ण की सत्ता पर कुंडल, लौह की सत्ता पर तोप, मिट्टी की सत्ता पर घड़ा है; वस्त्र, कुंडल, तोप, घड़ा आदि की कारणातिरिक्त पृथक् सत्ता नहीं है, उसी प्रकार सर्वकारणकारण ब्रह्म से भिन्न सत्ता किसी वस्तु में नहीं है। अतः वे सभी अवस्तुएँ हैं। रज्जु में सर्प, सीप में रजत, सूखे वृक्ष में पुरुष, मरुस्थल में जल की तरह सूत्रों में वस्त्र, सुवर्ण में कुंडल, लौह में तोप, मिट्टी में घड़ा नहीं है। कारण ही है, कार्य वस्तु नहीं है, कारण का संस्थान-विशेष ही कार्य है। सूत्रों को एक एक करके निकाल लेने पर वस्त्र का अस्तित्व ही नहीं रहता। आदि और अंत में जो नहीं रहता, वर्तमान में भी वह नहीं है (आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा—माण्डुक्यकरिका २।३५)। स्वप्न-दृष्ट हाथी स्वप्न के पहले नहीं था, स्वप्न टूट जाने पर भी नहीं रहता, इस कारण स्वप्न-काल में दिखाई पड़ने पर भी वह नहीं है। इस दृष्टांत से प्रमाणित होता है कि जो दिखाई पड़ता है वह आदि और अंत में न रहने के कारण वर्तमान में भी नहीं है। इसी कारण मूल कारण ब्रह्म से भिन्न प्रतीयमान होने वाले सभी पदार्थ अवस्तुएँ हैं (ब्रह्मैव नित्यं वस्तु ततोऽन्यदखिलमनित्यम्—वेदान्तसार १६)।

अवस्तुत्वम् (न०) वस्तु का मिथ्या स्वरूप। रज्जु में सर्प का ज्ञान होने पर यदि कोई प्रकाश लाकर दिखा दे, तो सर्प की अवस्तुत्व सिद्ध होता है। स्वप्न में अनेक जीवजगत् भाषित होते हैं, उनके व्यवहार आदि भी उस समय प्रत्यक्ष होते हैं। उस काल में सभी सत्य के समान प्रतीत होते हैं परंतु जाग्रत होते ही स्वप्नजगत का अवस्तुत्व प्रत्यक्ष अनुभूत होता है। महामाया की कल्पना से विकसित ब्रह्मांड उनके कल्पनाकाल में सत्य के समान प्रतीयमान होते हैं। परंतु जिस समय विचारवान पुरुष माया का स्वप्नजाल छिन्न कर माया से परे आत्मा को अपना स्वरूप जानकर प्रबुद्ध होते हैं, तब उनके सामने सारे ब्रह्मांड तथा जीवों के व्यवहारों का अवस्तुत्व अनुभूत होता है (अवस्तुता देखिए)।

घर कोई चीज नहीं है, क्योंकि ईंटों के संस्थान-विशेष ही घर है। ईंटों को अलग-अलग कर देने से घर का नाम और रूप विलुप्त हो जाते हैं। इस प्रकार मिथ्या जानकर भी तत्त्वज्ञानी घर में निवास कर सुख ही प्राप्त करते हैं। वस्त्र का तत्त्व रूई है यह जानकर भी वस्त्रतत्त्वज्ञ व्यक्ति सुखपूर्वक वस्त्र का व्यवहार करते हैं। उसी प्रकार संसार का मूलतत्त्व ब्रह्म है। मायाकल्पित सांसारिक सभी पदार्थों के नाम-रूप मिथ्या हैं यह जानकर भी ब्रह्मज्ञपुरुष आनंद से इनका व्यवहार करते हैं।

अवस्तुता (स्त्री०) मिथ्यात्व, अलीकता। वेदांत के मतानुसार किसी वस्तु में वस्तुता अर्थात् स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हैं। एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान हैं। विभिन्न वस्तुएँ माया के द्वारा प्रतीयमान मात्र होती हैं। जैसे—स्वप्न में अगणित जीव-जगत प्रतीयमान होते हैं, यथार्थतः किसी वस्तु या व्यक्ति में वस्तुता अर्थात् स्वप्नद्रष्टा के मन के अतिरिक्त पृथक् सत्ता नहीं है (अद्वैतवादः देखिए)।

वस्तु में वस्तु का धर्म रहता है। ब्रह्म धर्मों और गुणों से रहित हैं। वह वाक्य और मन के अगोचर भी हैं। किसी वाक्य से उनका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म लक्षित चार वेदों के इन चार महावाक्यों से ब्रह्म मात्र होते हैं। लक्षित होने में भी दोष आ जाता है; क्योंकि जो लक्षित है उसमें लक्षितत्व धर्म (गुण) मानना ही पड़ता है। सगुण वस्तुओं का नाश देखकर सगुण ब्रह्म का भी नाश मानना पड़ेगा और यथार्थ मे वह निर्गुण है।

गुण या धर्म विकल्प है, क्योंकि वह वस्तु के स्वरूप को विकृत कर दिखाता है। यदि ब्रह्म महावाक्यों से लक्षित हों, तो उनमें लक्षितत्वरूप विकल्प आ जायगा। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यह लक्षितत्वरूप विकल्प सविकल्प ब्रह्म में है अथवा निर्विकल्प ब्रह्म में? यदि कहा जाय कि सविकल्प ब्रह्म में लक्षतत्वरूप विकल्प है तो लक्ष्य ब्रह्म में सांसारिक गुणवान पदार्थों के समान अवस्तुता आ जायगी। और यदि निर्विकल्प ब्रह्म में कहा जाय तो यह संभव ही नहीं हो सकता। क्योंकि निर्गुण पदार्थ में कभी किसी ने गुण नहीं देखा और न उसमें गुण का रहना संभव ही है (सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्यादवस्तुता। निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च संभवि—पंचदशी १।४९)। इसमें व्याघात दोष आता है। इसके उत्तर में पहले प्रश्नकर्ता के प्रश्न पर दोष दिखाकर 'जाति' अर्थात् असत् उत्तर दिया जाता है। निर्विकल्प वस्तु में विकल्प नहीं रह सकता यह सिद्धांत तुमने ही स्वीकार किया है, अब बताओ तुमने जो सविकल्पस्य विकल्पः इस प्रकार सविकल्प ब्रह्म में विकल्प की कल्पना की है वहाँ (विकल्पेन सह वर्तते इति सविकल्पः) इस तृतीया-विभक्ति-युक्त विकल्प और तुम्हारा प्रथमा विभक्ति युक्त विकल्प एक है या दो? यदि दोनों विकल्पों को एक कहो, तो 'आत्माश्रय' दोष आ जाता है, क्योंकि तृतीया-विभक्ति-युक्त विकल्प के ऊपर प्रथमा-विभक्ति-युक्त विकल्प बैठा हैं और दोनों को तुमने एक कहा है। अपने ऊपर कोई बैठ नहीं सकता। यदि दो कहो तो प्रश्न होगा तुम्हारा वह तृतीया-विभक्ति-युक्त विकल्प भी तो विकल्प ही है तो वह निर्विकल्प ब्रह्म में है या सविकल्प ब्रह्म में? निर्विकल्प वस्तु में विकल्प रह नहीं सकता, यह पहले ही बता दिया गया है। अतः यह तृतीय विकल्प भी सविकल्प ब्रह्म में होना चाहिए। अब प्रश्न होगा कि यह तृतीय विकल्प प्रथम विकल्प के साथ एक है या भिन्न? एक हो, तो अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है क्योंकि प्रथम विकल्प का आश्रय तृतीया-विभक्ति-युक्त विकल्प और उसका आश्रय यह तृतीय विकल्प हो जाता है और जब तृतीय और प्रथम एक है, तो द्वितीय का आश्रय भी पहला विकल्प ही हुआ। राम का आश्रय श्याम और श्याम का आश्रय राम इस प्रकार परस्पर आश्रय-आश्रयिभाव संभव नहीं है। यदि प्रथम से तृतीय विकल्प को भिन्न कहो तो वह भी तो सविकल्प ब्रह्म में ही रहेगा। अब यह चौथा

विकल्प प्रथम के साथ एक है या भिन्न ? एक होने से 'चक्रकापत्ति' दोष आ जाता है, क्योंकि प्रथम का आश्रय द्वितीय, द्वितीय का आश्रय तृतीय और तृतीय का आश्रय चतुर्थ है । अब तुमने प्रथम और चतुर्थ को एक माना है तो प्रथम का आश्रय द्वितीय, द्वितीय का आश्रय तृतीय और तृतीय का आश्रय चतुर्थ हुआ और प्रथम और चतुर्थ एक हो गया तो तृतीय का आश्रय प्रथम ही हुआ इस प्रकार प्रथम का आश्रय द्वितीय, द्वितीय का आश्रय तृतीय और तृतीय का आश्रय प्रथम, इस प्रकार आश्रयाश्रयि-भाव निरंतर चलता ही रहेगा, कभी स्थिति नहीं होगी । यदि चतुर्थ विकल्प को प्रथम से भिन्न कहो, तो वह भी तो विकल्प रूप ही है और वह भी सविकल्प ब्रह्म में ही रहेगा । अब यह पंचम विकल्प प्रथम के साथ एक है या पृथक ? एक होने से 'चक्रकापत्ति' दोष आ जायगा । और पृथक होने से पंचम का आश्रय षष्ठ, षष्ठ का आश्रय सप्तम इस प्रकार 'अनवस्थादोष' आ जायगा, इसमें भी कभी स्थिति नहीं होगी । अतः इस प्रकार के दोषों से युक्त विचार माना नहीं जा सकता । (अन्योन्याश्रयः देखिए) (विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत् । आद्ये व्याहतिरन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः—पंचदशी १।५०) ।

इसी प्रकार न्याय और वैशेषिक दर्शनों में स्वीकृत द्रव्य से भिन्न, गुण, क्रिया, जाति और संबंध पर भी उपर्युक्त चारों दोष आ जाते हैं । इस कारण लक्ष्यत्व गुण क्रिया जाति संबंध आदि को वस्तु का स्वरूप मान लेना ही उचित होगा (इदं गुण-क्रिया-जाति-द्रव्य-सम्बन्धवस्तुषु समम् । तेन स्वरूपस्य सर्वमेतदितीष्यताम्—पञ्चदशी १।५१) ।

यही उस प्रश्न का सदुत्तर है, क्योंकि ब्रह्म को महावाक्य के लक्ष्य कहने से उनमें लक्ष्यत्वरूप धर्म उत्पन्न नहीं हो जाता, केवल मनुष्यों को समझाने के लिए लक्ष्य, व्यापक, जगत्कारण आदि शब्द कहे जाते हैं । कारण कहने से भी कारणतारूप धर्म ब्रह्म में आ जायगा । धर्मविशिष्ट पदार्थों का नाश हम प्रतिदिन प्रत्यक्ष देखते हैं । इन दृष्टांतों से अनुमान किया जायगा कि ब्रह्म में यदि कारणताधर्म आ जाय तो वह भी नाशवान होंगे । नाशवान वस्तु का जन्म अवश्य मानना पड़ेगा । अतः इस प्रकार के आदि-अंत-विशिष्ट ब्रह्म से सृष्टि का विकास नहीं हो सकता । क्योंकि जन्म मानने से किससे जन्म हुआ ऐसा प्रश्न उठ खड़ा होगा और उसका कारण, उसका कारण इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा । इसी कारण ब्रह्म को ही अनादि, अनंत माना गया है । सृष्टि माया की कल्पना है जो स्वप्नवत् प्रतीयमान होने पर भी यथार्थ में कोई वस्तु ही नहीं है । यदि सृष्ट वस्तुएँ सत्य होतीं तो ब्रह्म कारण भी होते । अतः उनमें कारणता जैसा कोई भी धर्म नहीं है । यही वेदांत का यथार्थ सिद्धांत है ।

यथार्थं में विकल्प और उसके अभाव के साथ असंस्पृष्ट आत्मवस्तु में विकल्पितत्व, लक्ष्यत्व, संबंध आदि मनुष्यों के द्वारा कल्पित हैं (विकल्पतदभावाभ्याम् असंस्पृष्टात्मवस्तुनि । विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसम्बन्धाद्यास्तु कल्पिताः—पञ्चदशी १।५२) ।

अवस्तु (न०) तुच्छ या हीन पदार्थ, अवास्तविकता, अयथार्थता ।

अवस्त्र (वि०) बिना कपड़ों का, वस्त्ररहित, नंगा ।

अव+स्था (आ०) (अवतिष्ठते) अवस्थित रहना, बैठना, विद्यमान रहना ।

अवस्था (स्त्री०) स्थिति, दशा, स्थिरता, समय, काल, आयु, वय ।

अवस्थाचतुष्टयम् (न०) मनुष्य-जीवन की चार अवस्थाएँ—बाल्य, कौमार, योवन, वार्धक्य (आपञ्चदशवर्षं बाल्यम् । आविंशतिवर्षं कौमारम् । आपञ्चाशद्वर्षं यौवनम् । पञ्चाशत ऊर्ध्वं वृद्धत्वम्—वैद्यक०) । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय (मांडूक्य०) । ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास (मनु०) ।

चित्रपट में भी चार अवस्थाएँ हैं—स्वाभाविक शुभ्र वस्त्र 'धौत' कहलाता है । उस पर माड़ी का लेप लगाने पर उसका नाम 'घट्टित होता है, उस पर रेखाओं से मूर्ति, पर्वत, वृक्ष आदि का खाका खींचने पर वह 'लांछित' कहलाता है और रंग भर देने से उसका नाम 'रंजित' हो जाता है (स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद्घट्टितोऽन्नविलेपनात् । मत्याकारैर्लांछितः स्याद्रञ्जितो वर्णपूरणात्—पंचदशी ६।३) ।

ठीक इसी प्रकार परमात्मा में भी चार अवस्थाएँ कल्पित हैं । सृष्टि के पूर्व शुद्ध ब्रह्म का नाम 'चित्' है,

जब उनमें माया का आवेश सृष्टि-कल्पना के लिए होता है तब वह अवस्था 'अंतर्यामी' या 'ईश्वर' कहलाती है। जब माया की कल्पना से सूक्ष्म पंचभूतों का विकास हुआ तथा उनसे सूक्ष्म शक्ति रूप ज्ञानेंद्रियाँ, कर्मेंद्रियाँ, पंच प्राण तथा अंतःकरण विकसित हुए, तो उस सूक्ष्म सृष्टि के अभिमानी व्यापक चैतन्य को 'सूत्रात्मा' या 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं। स्थूल सृष्टि होने पर सर्वाभिमानी चैतन्य का नाम 'विराट' या, विश्वरूप हुआ (स्वतश्चित् अन्तर्यामी तु मायावी, सूक्ष्मसृष्टितः सूत्रात्मा, स्थूलसृष्ट्यैव विराट् इत्युच्यते परः—पंचदशी ६।४)।

यथार्थ में परमात्मा के भीतर अवस्थांतर नहीं होता। सृष्टिस्थ मनुष्यों को समझाने के लिए चित्रपट की चार अवस्थाओं से इनकी उपमा दी गयी है।

माया-रूप मेघ जगत्-रूप नीर को कैसे ही क्यों न बरसे, उससे चिदाकाश का कोई भी हानि या लाभ नहीं होता, यही वेदांत का सिद्धांत है (मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः—पंचदशी ८।७५)।

अवस्थात्रयम् (न०) वेदांत के अनुसार मनुष्य की तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति।

अवस्थाद्वयम् (न०) जीवन की दो दशाएँ—सुख और दुःख।

अवस्थानम् (न०) स्थिति, स्थान, निवास-स्थान, रुकने या ठहरने की अवधि।

अवस्थायिन् (वि०) ठहरने वाला, रहने वाला।

अवस्थित (वि०) ठहरा हुआ, स्थित, अवलंबित, आश्रित, टिका हुआ, दृढ़।

अवस्थितिः (स्त्री०) रहने की स्थिति, डेरा, विद्यमानता, वर्तमानता।

अवस्नात (वि०) (जल) जिसमें किसी ने स्नान किया हो, नहाया हुआ।

अव+स्यन्द् (आत्म०) (अवस्यन्दमान) नीचे बहना या प्रवाहित होना।

अवस्यन्दनम् (न०) क्षरण, नीचे गिरने की क्रिया, टपकने या चूने की क्रिया, टपकाव।

अवश्यम्भाविन् (वि०) अवश्यम्भावी, अवश्य होने वाला, होनहार। अवश्यम्भावी भाव का यदि प्रतिकार होता तो नल, राम, युधिष्ठिर को दुःख न भोगना पड़ता (अवश्यम्भाविभावानां प्रतिकारो भवेद् यदि । तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः)।

अवस्रंसनम् (न०) नीचे गिरना, अधःपात।

अवस्रस्त (वि०) नीचे गिरा हुआ, अधःपतित।

अवस्रुत (वि०) नीचे टपकाया या चुआया हुआ।

अवस्वन्य (वि०) गरजता हुआ, गर्जन करने वाला।

अवहन (वि०) पछोड़ा हुआ, फटका हुआ (अन्न)।

अवहतिः (स्त्री०) पछोड़ने की क्रिया, फटकना, कूटना।

अव+हन् (पर०) (अवहन्ति) ओखली में धान आदि कूटना।

अवहनम् (न०) भूसी या छिलका निकालने की क्रिया, बायाँ फेंफड़ा।

अवहन्तृ (पुं०) वह जो पछोड़ या फटक कर अलग करता हो।

अवहरणम् (न०) अपहरण, स्थानांतरण, निक्षेप, चोरी, लूट-पाट, कुछ समय के लिए युद्ध स्थगित करने की क्रिया, अस्थायी संधि।

अव+हस् (पर०) (अवहसति) उपहास करना, हँसी उड़ाना, ताना मारना।

अवहस्तः (पुं०) हाथ का पिछला अंश या भाग।

अवहानिः (स्त्री०) हानि, क्षति, घाटा।

अवहारः (पु०) अस्थायी संधि, आमंत्रण, स्वधर्म का परित्याग, फिर से मोल लेना, चोर, लुटेरा, समुद्री डाकू, शार्क मछली।

अवहारक (वि०) युद्ध बंद कर देने वाला।

अवहारकः (पुं०) शार्क मछली।

अवहार्य (वि०) लेने योग्य, स्थानांतरित करने योग्य, दंडनीय, अर्थदंड के योग्य, पुनः क्रीत।

अवहालिका (स्त्री०) दीवाल।

अवहासः (पु०) हँसी, मजाक, उपहास, खिल्ली।

अवहास्य (वि०) खिल्ली उड़ाने योग्य, उपहास करने योग्य।

अवहित्यम् (न०), अवहित्था (स्त्री०) मानसिक भावों का गोपन।

अवहेलनम् (न०) अवहेलना, अवहेला (स्त्री०) तिरस्कार, अपमान, अप्रतिष्ठा ।

अवहेलित (वि०) अवहेलना किया हुआ, अपमानित, तिरस्कृत, अप्रतिष्ठित ।

अवाक् (अव्य०) नीचे की ओर, दक्षिण की ओर ।

अवाक (वि०) वाणी-रहित, ज बोल न सकता हो ।

अवाक्शाखः (पुं०) जिस संसार-वृक्ष की शाखाएँ नीचे की ओर हैं । साधारण-वृक्ष की शाखाएँ ऊपर की ओर रहती हैं । परंतु यह संसार-वृक्ष उल्टा है । ब्रह्म से निःसृत है । इस कारण मानो ये शाखाएँ नीचे की ओर आ गयी हैं, उच्यावस्था से निम्नावस्था में आयी हैं, यही इसका भावार्थ है (ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः—कठोपनिषद् २।३।६ । ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्—गीता १५।१) । शरीर भी अवाक्शाथ है क्योंकि हाथ, पैर आदि शाखाएँ नीचे की ओर हैं (अधःशाखः शब्द देखिए) ।

अवाक्शिरस् (वि०) नीचे की ओर सिर किया हुआ ।

अवाक्ष (वि०) अभिभावक, रक्षक ।

अवाग्गतिः (स्त्री०) नीचे की ओर गति, नीचे का मार्ग ।

अवाग्भागः (वि०) नीचे का भाग या अंश, भूमि ।

अवाग्र (वि०) जिसका नोक या सिरा नीचे की ओर घूमा हुआ हो, झुका हुआ, प्रणाम करता हुआ ।

अवाग्वदन (वि०) जिसका मुँह नीचे की ओर घूमा हुआ हो ।

अवाङ्नाभि (अव्य०) नाभि के नीचे ।

अवाङ्मनसोगोचर (वि०) वाक्य-मन के अगोचर, मन से जानने या वाणी से व्यक्त करने के अयोग्य । सृष्टि के सभी पदार्थ वाक्य और मन के गोचर हैं, केवल परमात्मा ही अवाङ्मनसोगोचर है (अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसोगोचरम् । आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये । यद् वाचानभ्युदितम्···यन्मनसा न मनुते—केनोपनिषद् १।३-४) ।

अवाङ्मुख (वि०) नीचे की ओर मुख किया हुआ, नीचे देखने वाला ।

अवाच् (वि०) जो बोल न सके, मूक, गूंगा ।

अवाच् (न०) ब्रह्म ।

अवाचनीय (वि०) जो पढ़ने के योग्य न हो ।

अवाची (स्त्री०) दक्षिण दिशा ।

अवाच्य (वि०) ऊच्चारण के लिए अनुचित ।

अवाच्यता (स्त्री०) गाली, कुवाच्य, दुर्वचन ।

अवाच्यदेशः (पुं०) योनि, भग, प्रसवद्वार ।

अवाञ्चित (वि०) झुका हुआ, नम्र, विनत ।

अवात (वि०) जो सूखा न हो, ताजा ।

अवातम् (न०) वायुरहित वातावरण ।

अवादिन् (वि०) न बोलने वाला, झगड़ा या विवाद न करने वाला ।

अवानः (पुं०) श्वास-प्रश्वास, साँस ।

अवान्तर (वि०) मध्यवर्ती, अंतर्गत, सम्मिलित, गौण, फालतू, व्यर्थ ।

अवान्तरदेशः (पुं०) वह स्थान जो बीच के लोक में स्थित हो, मध्यलोक में स्थित प्रदेश ।

अवान्तरभेदः (पुं०) मध्यवर्ती भेद, उपविभाग, शाखाओं तथा प्रत्यंगों में भेद ।

अवाप् (पर०) (अवाप्नोति) प्राप्त करना, पाना, मिलना, सहन करना (ऋषयो दीर्घसन्घत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः—ऋषि लोग दीर्घकाल तक संध्याबंदन करने के कारण दीर्घायु प्राप्त करते थे । संध्यावंदन में प्राणायाम ही प्रधान है । प्राण का आयाम यानी विस्तार ही प्राणायाम है । प्राणायाम में प्राणवायु की पूरक, कुम्भक तथा रेचक क्रियाएँ हैं । बायें हाथ की मध्यमा ऊँगली से नाक के दाहिने छेद को दबाकर—ओं भूर्भुवः स्वः, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ओं"—इस प्रकार गायत्री मंत्र का १ बार पाठ करके उसके बाद उस ऊँगली को दबाये रखकर ही बायें हाथ के अंगूठे से नाक के बायें छेद को दबाकर उसी गायत्री मन्त्र का २, ३, ४ या अधिक बार पाठ करे । तदनंतर अंगूठा दबाये रखकर ही मध्यमा ऊँगली छोड़ कर १ बार उस मन्त्र को पढ़ते हुए वायु को क्रमशः छोड़ते जायँ । ये ही पूरक है, कुम्भक के समय ५।७ बार भी वह मन्त्र पढ़ा जा सकता है । उससे फेफड़े फैल जाते हैं तथा स्वास्थ्य की उन्नति और दीर्घायु की प्राप्ति होती है (प्राणः देखिए) ।

अवाप्त (वि०) जिसने प्राप्त किया है, प्राप्त, उपलब्ध ।

अवाप्तव्य (वि०) प्राप्त करने योग्य, पाने योग्य (न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेसु किञ्चन । नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि—गीता ३।२२) ।

अवाप्तिः (स्त्री०) प्राप्ति, लाभ, उपलब्धि । मनुष्य जो कुछ प्राप्त करता है सभी के मूल में कर्म है। धन की प्राप्ति कर्म करने से होती है, विद्या की प्राप्ति अध्ययन आदि कर्म का ही परिणाम है। लोग कर्म द्वारा स्वर्गसुख भी प्राप्त करते हैं। केवल आत्मज्ञान की प्राप्ति में कर्म सहायक मात्र है, कारण नहीं। क्योंकि गुरुमुख से जो आत्मतत्त्व का उपदेश निकलता है वह मुख रूप कर्मेंद्रिय-जनित शब्द है। वह शब्द कर्ण रूप ज्ञानेंद्रिय में आ लगता हैं तो ज्ञान की ही उत्पत्ति होती है। उसी श्रावण ज्ञान के अनुसार मन भी मनन करता है तदनंतर मन में ही निदिध्यासन रूप एकतान-प्रवाह होने से आत्मज्ञान दृढ़ हो जाता है। अध्ययन भी मुख रूप कर्मेंद्रिय से ही होता है, उसका शब्द भी ज्ञानेंद्रिय कर्ण में पहुँचता है और वहाँ से मन निदिध्यासन रूप ज्ञान-प्रवाह में पड़ने से आत्मज्ञान परिपक्व होता है। ऐसे स्थलों में कर्म अविनाभूत कारण नहीं है, क्योंकि गुरुमुख या अध्ययन के विना भी आत्मज्ञान हो सकता है। आदिम युग में जब शास्त्र नहीं था और न तो बताने वाले गुरु ही थे, उस समय ऋषिलोग अपने भीतर डूब कर समाधि-अवस्था में आत्मा का यथार्थ निर्विकार स्वरूप जान गये थे।

मिट्टी घट का कारण है, परंतु जो गदहा मिट्टी ढोकर लाया था वह घट का कारण नहीं है, क्योंकि उसके बिना घोड़े के द्वारा मिट्टी लाकर भी घट बनाया जा सकता है। जिसके विना जो नहीं बन सकता वही उसका अविनाभूत कारण है। जैसे—घट के लिए मिट्टी, वस्त्र के लिए सूत तथा कुंडल के लिए सुवर्ण आदि। इसी प्रकार श्रवण या मनन रूप ज्ञान ही निदिध्यासन के अनंतर आत्मसाक्षात्कार का कारण है।

इस आत्मज्ञान के द्वारा किसी वस्तु की अवाप्ति या प्राप्ति नहीं होती। पहले आत्मा के निर्विकार स्वरूप का ज्ञान नहीं था। आत्मज्ञान उत्पन्न होने पर वह अज्ञान दूर हो जाता है। आत्मा का स्वरूप त्रिकाल में एकरूप ही रहता है। वृत्ति-ज्ञान तो केवल उसकी पहचान करा देता है। दूसरी बात यह है कि किसी वस्तु की प्राप्ति होने से उसका वियोग होना भी अवश्यंभावी है। क्योंकि प्राप्ति का जन्म हुआ, इस कारण उसकी मृत्यु भी होगी (जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः—गीता २।२७) ।

गले में हार के रहते हुए भी कदाचित् किसी ने अज्ञान के कारण हार खो गया समझकर सारा मकान ढूँढ़ डाला और उस बहुमूल्य वस्तु के सहसा खो जाने के कारण उसे दुःख भी सहना पड़ा। उस समय कोई अन्य व्यक्ति आकर यदि उसके गले में ही उस लटकते हुए हार को दिखा दे तो वह आनंदित हो जाता है और दुःख भी दूर चला जाता है। यहाँ हार की प्राप्ति नहीं कही जायगी, वह तो प्राप्त ही था। अज्ञान के कारण ही वह दुःख भोग रहा था। ज्ञान होने से उसका दुःख मिट गया। इसी प्रकार आत्मा भी सभी जीवों को नित्य प्राप्त है। उसका ज्ञान न रहने के कारण लोग कष्ट भोगते रहते हैं। परंतु जब ज्ञान के द्वारा अज्ञान दूर हो जाता है तो सारे दुःख भी मिट जाते हैं (आत्मा तु सततं प्राप्तोऽप्राप्तवद् अविद्यया—आत्मबोध ४३) ।

अवाप्य (वि०) प्राप्त करने योग्य, अवाप्तव्य ।

अवाय (वि०) नीचे जाने वाला, अधोगमन करने वाला ।

अवारः (पुं), अवारम् (न०) निकटवर्ती नदी-तट ।

अवारपारः (पुं०) समुद्र, सागर ।

अवारपारीण (वि०) समुद्र से संबंध रखने वाला, समुद्री ।

अवारित (वि०) न रोका हुआ, अबाधित ।

अवारीण (वि०) नदी-पार करने वाला ।

अवार्य (वि०) नदी-तट के निकट होने वाला, न रोकने योग्य, बाधा पहुँचाने के अयोग्य ।

अवार्यक्रतु (वि०) अदमनीय शक्ति का ।

अवावटः (पुं०) ऐसी स्त्री का पुत्र जो उस स्त्री की जाति के किसी पुरुष से उत्पन्न हुआ हो ।

अवावन् (वि०) चोरी करने वाला, चुरा कर ले जाने वाला ।

अवासस् (वि०) विना वस्त्र का, वस्त्रविहीन, नग्न, नंगा ।

अवास्तव (वि०) अयथार्थ, जो असली न हो, नकली, निराधार, अयौक्तिक।

अवास्तु (वि०) बिना गृह या मकान वाला, गृहहीन।

अवाहन (वि०) जिसके पास यान या सवारी न हो, गाड़ी में न चलने वाला।

अविः (स्त्री०) भेड़, पर्वत, पहाड़, सूर्य, वायु, हवा, कंबल, शाल, दीवाल, चूहा, रजस्वला स्त्री।

अविकः (पुं०) भेड़, मेष।

अविकच (वि०) बंद, मुँदा हुआ, जिसका मुँह न खुला हो, अविकसित (पुष्प)।

अविकटः (पुं०) भेड़ों का झुंड या समूह।

अविकटोरणः (पुं०) एक प्रकार का राजकर जिसमें भेड़ें दी जाती थीं।

अविकत्थन् (वि०) शेखी न करने वाला।

अविकत्थयत् (वि०) गर्वपूर्वक न बोलने वाला।

अविकम् (न०) हीरा, हीरक।

अविकम्पः (वि०) कंपन-रहित, स्थिर, अचल, अविकंपित। कंपन छोटी वस्तुओं में ही होता है। जो वस्तु जिस स्थान में हैं, कंपन होने के लिए उसके दसों ओर स्थान का रहना आवश्यक है। जो वस्तु सर्वव्यापक है, उसके कंपन होने का स्थान ही नहीं है। इसी कारण वह कंपन-रहित है। न्याय-मत में, आकाश, काल, दिक् और आत्मा सर्वव्यापक होने के कारण अकंपित हैं। सांख्य-मत में, प्रकृति और पुरुष अकंपित हैं। वेदांत-मत में एक सर्वव्यापक ब्रह्म ही अकंपित है।

प्रकृति सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों की समष्टि है। इनमें रजोगुण क्रियाशील है। परंतु सांख्य-मतानुसार सर्वव्यापक होने के कारण उसमें चलनात्मिका क्रिया नहीं हो सकती और न कंपन ही हो सकता है। परंतु एक घड़े में दूध बंद कर देने से उसमें गमन न होने पर भी जैसे भीतर ही भीतर परिणाम होते-होते वह दही बन जाता है, उसी प्रकार रजोगुण की वृद्धि होने से प्रकृति में परिणाम होते-होते इस स्थूल-सूक्ष्म सृष्ठि का अविर्भाव हुआ है। इस मत में प्रकृति के भीतर कंपन नहीं माना गया हैं।

वेदांत-मत में, सर्वव्यापक चेतन ब्रह्म के अणुमात्र स्थान में मायाशक्ति मानो क्षणभर के लिए आँख खोलती है, दूसरे क्षण में सृष्टि की कल्पना और तीसरे क्षण में संसार-प्रपंच का प्रलय हो जाता है और माया भी स्वाधार ब्रह्म में लुप्त हो जाती है। इस मत में भी कंपन नहीं माना गया है। लौकिक दृष्टि से माया की प्रथम कल्पना आकाश है। आकाश ससीम है। उसमें 'शब्द'-गुण प्रथम कंपन के रूप में उत्पन्न हुआ है। इसी को प्रणव या ओंकार-ध्वनि कहते हैं। परब्रह्म के साथ निकट संबंध होने के कारण इस प्रथम शब्द ओंकार उनका वाचक शब्द है (तस्य वाचकः प्रणवः— योगसूत्र १।२७)। इस ओंकार का अवलंबन करके तत्त्वज्ञ पुरुष ब्रह्म में पहुँचते हैं। इस कारण इसे श्रेष्ठ आलंबन कहा है (ओमित्येतत्··· एतदालम्बनं श्रेष्ठं एतदालम्बनं परम्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते—कठोपनिषद् १।२।१७)।

आकाश का शब्द बहुत ही सूक्ष्म है। वह कान से नहीं सुनाई पड़ता। योगी ऋतंभरा प्रज्ञा के द्वारा अपने अंतःकरण में ही उस ओंकारनाद का श्रवण करते हैं और उसी में तल्लीन होकर आत्मस्वरूप का अपरोक्ष रूप से अनुभव करते हैं।

इसी आकाश के भीतर से आजकल के वैज्ञानिक रेडियो-यन्त्र द्वारा शब्दतरंग संचारित कर दूर-दूर के स्थानों के यंत्रों में उसकी प्रतिध्वनि उत्पन्न कर रहे हैं। आकाश में कुछ भी स्थूलता न रहने के कारण वह शब्दतरंग अपनी गति के रास्ते में किसी वस्तु से बाधा-प्राप्त नहीं होती। इस कारण यंत्र के द्वारा शब्दतरंग आकाश में उत्पन्न होते ही शत-शत योजन दूर स्थित उसी प्रकार के यंत्र में उसी क्षण प्रतिध्वनित होती है। बल्कि उत्पादक यंत्र के दस-बीस हाथ दूर पर बैठा हुआ मनुष्य वह शब्द एक दो क्षणों के बाद ही सुनता है, क्योंकि उसके कान और उस यंत्र के बीच के स्थान में वायु है, जो आकाश से कुछ स्थूल है। उस यंत्र के सामने बैठे हुए व्यक्ति के मुख से जो सुनाई पड़ने योग्य शब्द श्रोता के कानों में आ लगता है, वह वायु में धक्के खाते-खाते उसके कान तक पहुँचने में एक-दो क्षणों का समय अवश्य लेता है। बिजली की चमक उसी क्षण आँखों में आ लगती है। इस कारण चमकते ही उसका प्रकाश तुरंत दिखाई पड़ता है, क्योंकि वायु प्रकाश की गति को नहीं रोक सकती। परंतु बिजली की

कड़क वायु के स्तरों में धक्के खाते खाते आने में दस-वीस क्षणों का समय लगता है

इसी प्रकार अग्नि के जलने से भुगु-भुगु ध्वनि, जल के चलने से कल-कल ध्वनि, मिट्टी, पत्थर आदि की टक्कर से कड़कड़ शब्द भी वायु-तरंगों के भीतर से कुछ क्षणों के वाद ही कान में पहुँचते हैं।

आकाश से वायु का स्थान अल्प है। उससे तेज का स्थान और कम है, उससे जल का स्थान और भी अल्प है तथा पृथ्वी का स्थान सबसे कम है (सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया, तत्रैकदेशगम् वियत् तत्राप्येकदेशगतो वायु प्रकल्पितः—पंचदशी २।७८)। इस प्रकार छोटा अर्थात् सीमाबद्ध होने से ही इनमें शब्द-कंपन होता है।

अनुकंपन का उदाहरण स्थिर वायु से देते हैं। किसी घड़े में बत्ती जला रखने से उस घड़े के भीतर वायु में कंपन न होने के कारण उसकी शिखा में भी कम्पन स्थूल दृष्टि से नहीं प्रतीत होता (यथार्थ में सीमाबद्ध वस्तु होने के कारण उसमें भी सूक्ष्म कंपन है)। इसी प्रकार दीपशिखा के साथ योगी के संयत चित्त की तुलना दी जाती है (यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः—गीता ६।१९)। इसी अवस्था को चित्तवृत्तिनिरोध कहते हैं (योगः चित्तवृत्तिनिरोधः—योगसूत्र १।२)। इस प्रकार का अविकंप योग ही योगी के लिए उपयुक्त है (एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः। सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः—गीता १०।७)।

अविकर्षः (पुं०) वियोग का अभाव, अभिन्नता।

अविकल (वि०) जिसमें किसी प्रकार का हेर-फेर या परिवर्तन न हुआ हो, ज्यों का त्यों, समूचा, समस्त, पूर्ण।

अविकल्प (वि०) अपरिवर्तनशील, विकल्प-रहित, निःसंदिग्ध, निश्चित, अंतिम।

अविकल्पः (पुं०) परिवर्तनशीलता का अभाव, हेर-फेर न होना।

अविकल्पम् (अव्य०) विना हिचकिचाहट के।

अविकल्पित (वि०) असंदिग्ध, निश्चित, निस्संदेह।

अविका (स्त्री०) भेड़, भेड़ी।

अविकार (वि०) जिसमें कोई विकार न हो, परिवर्तन के अयोग्य।

अविकारः (पुं०) अपरिवर्तनशीलता।

अविकारवत् (वि०) परिवर्तन के अयोग्य, विश्वास के योग्य, विश्वसनीय।

अविकार्य (वि०) जिसमें विकार या परिवर्तन न होता हो (आत्मा या ब्रह्म ही यथार्थ में अविकारी है, उसके अतिरिक्त सभी वस्तुएँ विकारी हैं)।

अविकार्यः (पुं०) विकार या परिवर्तन रहित वस्तु, आत्मा, ब्रह्म (अविकार्योऽयमुच्यते—गीता २।२५); मोक्ष, जो आत्मा का स्वरूप है (ब्रह्मभावश्च मोक्षः। तस्माद् न संस्कार्योऽपि मोक्षः—वेदान्तसूत्र शांकरभाष्य १।१।४)। जिसमें विकार होता है वह नाश को प्राप्त होता है। आत्मा या ब्रह्म अविकार्य है, इस कारण वह अविनश्वर है। जिसका विनाश नहीं है उसका आदि या जन्म भी नहीं है और जिसका जन्म है उसका नाश या मृत्यु अवश्य है (जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः—गीता २।२७)। ऐसी वस्तु से संसार प्रकट नहीं हो सकता। उसके जन्म के पूर्व जो विद्यमान था उसी आद्यंतविहीन अविकारी आत्मा से ही विकारी संसार प्रकट हो सकता है।

अविकृत (वि०) जो परिवर्तित न हुआ हो, जो कृत्रिम उपायों द्वारा परिवर्तित न हो, अनिर्मित।

अविकृताङ्ग (वि०) जो उन्नत अवस्था को प्राप्त न हुआ हो, जो बढ़े हुए अंगों वाला न हो (गर्भ)।

अविकृतिः (स्त्री०) परिवर्तन का अभाव, विकार का अभाव, सांख्य दर्शन में प्रकृति, जो संसार का कारण मानी जाती है (मूलप्रकृतिरविकृतिः–सांख्यकारिका)।

अविक्रम (वि०) शक्तिहीन, दुर्बल।

अविक्रिय (वि०) अपरिवर्तनीय, किसी प्रकार का परिवर्तन न दिखाने वाला, विलकुल साधारण।

अविक्रियम् (न०) ब्रह्म, जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता।

अविक्रियात्मक (वि०) जिसका स्वभाव परिवर्तनशील न हो।

अविक्रीत (वि०) जो न वेचा गया हो, जिसका विक्रय न हुआ हो।

अविक्रेय (वि०) जो वेचा न जा सके, विक्री के अयोग्य।

अविक्लव (वि०) जो घबराया हुआ न हो, अव्यग्र, जो अस्थिर न हो ।

अविक्लिन्नाक्ष (वि०) जिसके नेत्रों में जल न हो ।

अविक्षय (वि०) जो क्षत न हुआ हो, जो नष्ट न हुआ हो, जो घायल न हुआ हो, जो कम न हुआ हो, संपूर्ण ।

अविक्षिय (वि०) बाँटने के अयोग्य, विमक्त करने के अयोग्य, अविभाज्य ।

अविक्षुब्ध (वि०) जो क्षुब्ध न हुआ हो, जिसे बाधा न पहुँचाया गया हो ।

अविखण्डित (वि०) शांत, स्थिर ।

अविगर्हित (वि०) जिसकी भर्त्सना या निंदा न की गई हो ।

अविगलित (वि०) अविध्वंसी, अनंत, विपुल ।

अविगान (वि०) बिना विरोध का, बिना कलह का ।

अविगुण (वि०) जो अधूरा न हो, जो खराब अवस्था में न हो, स्वाभाविक ।

अविग्रह (वि०) देहरहित, अदैहिक ; युद्ध-शून्य ।

अविग्रहः (पुं०) ब्रह्म, परब्रह्म, व्याकरण का नित्य-समास ।

अविघात (वि०) बिना बाधा का, बिना रोक-टोक का ।

अविघ्न (वि०) बाधा-रहित, विघ्न-रहित ।

अविघ्नित (वि०) बाधा न पहुँचाया हुआ, शांत, स्थिर ।

अविचक्षण (वि०) जो चतुर न हो, मूर्ख, मूढ़ ।

अविचल (वि०) जो गतिशील न हो, स्थिर, दृढ़ ।

अविचलित (वि०) जो चलायमान न हुआ हो, स्थिर, संयत ।

अविचलेन्द्रिय (वि०) जिसकी इंद्रियाँ चलायमान न हों, आत्मसंयमी ।

अविचार (वि०) विचारहीन, नासमझ, निर्बुद्धि ।

अविचारः (पुं०) अविवेकता, निर्णय का अभाव, नासमझी, मूर्खता ।

अविचारणम् (न०) हिचकिचाहट का अभाव, विचारहीनता (अतीताननुसन्धानं भविष्यदविचारयन्) ।

अविचारणीय (वि०) जी विचार के योग्य न हो ।

अविचारित (वि०) बिना विचारा हुआ, जिसके संबंध में सोच-विचार न किया गया हो ।

अविचारितनिर्णयः (पुं०) बिना सोच-विचार के किया हुआ निर्णय :या निश्चय, पक्षपातपूर्ण सम्मति या सलाह ।

अविचारिन् (वि०) विचार न करने वाला, असावधान, अविवेकी ।

अविचार्य (वि०) बिना सोचा-विचारा हुआ ।

अविचालित (वि०) जो चलायमान न हुआ हो, न हिला हुआ, अकंपित ।

अविचालिन् (वि०) दूर से न गिरने वाला ।

अविचाल्य (वि०) अपने स्थान से हटने या चलायमान होने के अयोग्य ।

अविचिकित्सत् (वि०) संदेह न रखने वाला, संशय न करने वाला ।

अविचिकित्सा (स्त्री०) निश्चयता का अभाव ।

अविचिन्तनम् (न०) न सोचना, सोच-विचार न करना ।

अविचिन्तितृ (पुं) वह जो चिंता या सोच-विचार न करता हो ।

अविचिन्त्य (वि०) चिंतन करने के अयोग्य, समझने के अयोग्य, जो बोधगम्य न हो ।

अविचृत्य (वि०) शिथिल न किया हुआ, ढीला न किया हुआ ।

अविचेतन (वि०) न समझने योग्य, अज्ञात ।

अविचेतस् (वि०) जो बुद्धिमान न हो, नासमझ, मूर्ख ।

अविच्छिन्दन् (वि०) एक दूसरे से अलग या पृथक् न होने वाला ।

अविच्छिन्न (वि०) अविराम, सतत, लगातार, अखंड ।

अविच्युत (वि०) क्षय न होने वाला, नष्ट न होने वाला ।

अविजातीय (वि०) समान जाति या वर्ग का, एक ही प्रकार का ।

अविजानत् (वि०) न जानने वाला, न समझने वाला, मूर्ख, अज्ञानी ।

अविज्ञ (वि०) जो विज्ञ या चतुर न हो, मूर्ख ।

अविज्ञात (वि०) न जाना हुआ, अज्ञात, अस्पष्ट, संदेहजनक, जिसे सूचना न मिली हो।

अविज्ञातृ (वि०) न जानने वाला, जो न जानता हो।

अविज्ञान (वि०) जिसे कोई सूचना न मिली हो।

अविज्ञानम् (अव्य०) न जानते हुए।

अविज्ञेय (वि०) अज्ञेय, ज्ञानागोचर, इंद्रिय और मन से जानने के आयोग्य। संसार का विकास होने के पूर्व 'एकमेवाद्वितीयं सत्' या ब्रह्म का ही अस्तित्व था जो अज्ञात, अलक्ष्य, अप्रतर्क्य तथा अविज्ञेय है (आसीदिदं तमोभूतं अप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः—मनु० १।५। यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म तं विद्धि नेदं यदिदमुपासते—केनोप० १।५)। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण—ये पाँच इंद्रियां, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, ग्रन्धादि विषय मन को ला देती है वह उन्हीं को जनता है, स्वयं सुखदुःखादि का अनुभव भी कर सकता है। मन जड़ पंचभूतों से उत्पन्न भौतिक वस्तु है। सत्त्वगुण से उत्पन्न होने के कारण वह स्वच्छ है, इस लिए उसमें सर्वव्यापक सच्चिदानंद आत्मा का प्रतिबिंब पड़ता है। इसीसे दर्पणस्थ सूर्य-प्रतिबिंब के समान उसमें प्रकाश करने की कुछ शक्ति आ जाती है। दर्पणस्थ प्रतिबिंबित सूर्य का प्रकाश अंधकार में स्थित वस्तुओं को प्रकाशित कर सकता है परंतु जिसके प्रकाश से वह प्रकाशित है उस सूर्य को वह प्रकाशित नहीं कर सकता, बल्कि उधर देखते ही वह कुंठित, अभिभूत तथा लुप्त हो जाता है वैसे ही नित्य चेतन आत्मा का प्रकाश प्रतिबिंब रूप से पाकर मन संसार की वस्तुओं को प्रकाशित तो करता है परंतु आत्मा की ओर अभिमुखी होते ही वह अभिभूत तथा लुप्त हो जाता है (स्वयंप्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते—पञ्च० ७।९२) इसी कारण आत्मा अविज्ञेय है।

सांसारिक सभी वस्तुएँ चित्तवृत्ति रूप ज्ञान के विषय हैं, केवल आत्मा में चित्तवृत्ति नहीं पहुँच सकती। आत्मा मायाकल्पित समस्त सृष्टि का द्रष्टा या विज्ञाता है (विज्ञातारमरे केन विजानीयात्—बृहदारण्यक ४।५।१५)। आत्मा स्वयंप्रकाश और उसकी शक्ति से कल्पित संसार अंधकारमय जड़ है। दोनों का स्वभाव पृथक्-पृथक् है (युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः विषयविषयिणोस्तमप्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोः—ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य भूमिका)। युष्मत् शब्द का अर्थ 'तुम', अस्मत् शब्द का अर्थ 'मैं' है। युस्मत् विषय और अस्मत् विषयी है। ये तम और प्रकाश के समान विरोधी हैं। 'युष्मत्' शब्द से अज्ञानात्मक कारण-शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर से लेकर समस्त ब्रह्मांड तक का ग्रहण होता है। और 'अस्मत्' शब्द से केवल आत्मा लक्षित होता है। ऐसी स्थिति में जिस प्रकार अंधकार प्रकाश को प्रकाशित नहीं कर सकता, उसी प्रकार मायिक मन आत्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता।

चित्तवृत्ति रूप ज्ञान जब किसी वस्तु को देखता है, तो चित्तवृत्ति उस वस्तु के रूप में परिणत हो जाती है जिससे उस वस्तु से संबंधित अज्ञान दूर हो जाता है। परंतु वह वस्तु और मन दोनों ही जड़ हैं। अंधकार घर में किसी मिट्टी के बर्तन पर एक बार, दो बार या दस बार मिट्टी का लेप लगाने पर भी वह दिखाई नहीं पड़ेगा। उसे देखने के लिए बत्ती जलाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार किसी विषय को जानने के लिए चित्तवृत्ति सहस्रों बार उस विषय के रूप में परिणत ही क्यों न हो जाय, परंतु वह विषय प्रकाशित नहीं हो सकता। चित्तवृत्ति में चेतन आत्मा का प्रतिबिंब है उसी से विषय प्रकाशित होता है।

यह आत्मा चराचर सब भूतों के भीतर-बाहर परिपूर्ण है और यही चर और अचर समस्त ब्रह्मांडात्मक है। बहुत सूक्ष्म होने के कारण वह अविज्ञेय है तथा अतिसमीप और दूर पर स्थित यही आत्मा सदा विराजमान है (बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्—गीता १३।१५)।

अविडीनम् (न०) पक्षियों की सीधी उड़ान।

अवित (वि०) रक्षित, रक्षा किया हुआ।

अवितथ (वि०) जो असत् न हो, सत्य, कार्य में परिणत किया हुआ।

अवितथक्रिय (वि०) जिसका कार्य व्यर्थ या निष्फल न हो।

अवितथम् (अव्य०) सचाई से, सत्यता से।

अवितर्कित (वि०) जो पहले से सोचा या विचारा न गया हो।

अवितारिन् (वि०) स्थायी, नित्य, टिकाऊ।